

महाप्रभु-श्रीमद्-वल्लभाचार्यचरण

प्रकटितः

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

शास्त्रार्थप्रकरण
सर्वनिर्णयप्रकरण
साधनदीपिका

भक्तिवर्त्मवर्तिविघ्नध्वान्तविदारकभगवद्वदनानलावतार
महाप्रभु-श्रीमद्-वल्लभाचार्यचरण-प्रकटितः

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

(सप्रकाशः)



शास्त्रार्थ–सर्वनिर्णय–रूप–प्रकरण–द्वयोपेतः



विविध व्याख्या विभूषितः

च

प्रथमो भागः

महाप्रभुज्येष्ठात्मज-गोस्वामिश्रीगोपीनाथ-प्रभुचरण-
विरचित-साधनदीपिकारूप-परिशिष्टोपेतः च



प्रकाशक :

श्रीवल्लभविद्यापीठ - श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव कॉओपरेटिव सोसायटी
पूना बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९९९
द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०३९

मुद्रक :

वी. वरदराजन
एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिंटर्स
५०५ तारदेव, आर्थर रोड,
बम्बई, ४०० ०३४.

आमुख

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ।।

तत्त्वार्थदीपनिबन्धके प्रारंभमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण अपने अन्य अनेक ग्रन्थोंको प्रकट करनेका उल्लेख करते हैं। ऐसा अन्य किसी भी ग्रन्थ-में उल्लिखित न होनेसे कई विद्वानोंकी धारणा है कि यह निबन्ध महाप्रभुकी प्रथम कृति है। कुछ अन्य विद्वानोंकी धारणा है कि इस निबन्धमें उपदिष्ट सिद्धान्त एवम् साधना मर्यादामार्गीय हैं, जबकि षोडशग्रन्थोंमें उपदिष्ट-सिद्धान्त एवम् साधना पुष्टिमार्गीय हैं। कुछ अन्य अन्वेषकोंने तो यह भी प्रस्तावित किया है कि निबन्ध-लेखनकालमें महाप्रभुके मनमें स्वतंत्र पुष्टिमार्ग सम्प्रदायके प्रवर्तनकी न तो कोई स्पष्ट योजना थी और न कल्पना ही !

श्रीयोगिगोपेश्वरजीके (अणुभाष्यप्रकाश रश्मि २।३।५० गत) वचनसे उल्लिखित धारणाओंको और भी पोषण मिलता है। रश्मिकारके अनुसार महाप्रभुविरचित साहित्यको अधोनिर्दिष्ट चार वर्गोंमें विभाजित किया जा सकता है :

(१) आधिभौतिक ग्रन्थ = ब्रह्मसूत्राणुभाष्य
(२) आध्यात्मिक ग्रन्थ = तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
(३) आधिदैविक ग्रन्थ = सुबोधिनी
(४) निर्गुण ग्रन्थ = षोडश ग्रन्थ

इस वर्गीकरणका आधार, रश्मिकारके अनुसार, इन ग्रन्थोंकी इतिश्री में महाप्रभुद्वारा अपनाया गया शैलीभेद है। यथा कहीं महाप्रभु स्वयम्को 'वेदव्यासमतवर्तिवल्लभाचार्य' तो कहीं 'विष्णुस्वामिमतवर्तिवल्लभाचार्य' तो कहीं 'लक्ष्मणभट्टात्मजवल्लभदीक्षित' तो कहीं केवल 'श्रीवल्लभाचार्य' ही कहते हैं।

इस धारणाके अनुसार, अर्थात् श्रीयोगिगोपेश्वरजीके मतमें, तत्त्वार्थदीपनिवन्धमें महाप्रभुका निजमत नहीं वर्णित हुआ है। किन्तु श्रीयज्ञनारायण भट्टसे लेकर श्रीलक्ष्मणभट्ट पर्यन्त कुलपरंपरागत श्रीविष्णुस्वामिसंप्रदायकी मान्यता ही यहाँ निरूपित हुई है। और अतएव वे इस निवन्ध ग्रन्थको महाप्रभुविरचित आध्यात्मिक साहित्यकी कोटीमें रखना चाहते हैं।

रश्मिकारके इस वर्गीकरणके वारेमें अनेक प्रश्न उठते हैं।

यथा—

(१) उन ग्रन्थोंकी कौनसी कोटी मानी जाये, जिनमें इन चारोंमेंसे एक भी तरहकी इतिश्रीके वजाय, कोई पांचवी तरहकी ही इतिश्री महाप्रभुने लिखी है? उदाहरणतया—"इतिश्री-भागवतसार-समुच्चये वैश्वानरोक्तं पुरुषोत्तमनाम्नां सहस्रं सम्पूर्णम्"।

(२) उन ग्रन्थोंको किस कोटीमें रखना चाहिये कि जिनमें षोडशग्रन्थके जैसा कुछ भी नहीं है फिर भी इतिश्रीमें महाप्रभु केवल स्वनामका ही प्रयोग करते हैं? उदाहरणतया "इति श्रीमद्-वल्लभाचार्य-विरचिताः पूर्वमीमांसाकारिकाः सम्पूर्णा"। अथवा "इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचितं पत्रावलम्बनं सम्पूर्णम्"।

(३) निवन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणकी कारिकाओंकी इतिश्रीमें हम "श्रीकृष्ण-व्यास-विष्णुस्वामिमतानुवर्ति - श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते शास्त्रार्थकथनं प्रथमं प्रकरणम्" यह शब्दावली पाते हैं। फिर भी इन्हीं कारिकाओंके व्याख्यानरूपेण लिखे गये प्रकाशकी इतिश्रीकी शब्दावली यों हैं—"इति श्रीतत्त्वदीपनिवन्धटीकायां श्रीवल्लभाचार्यकृतायां प्रथमं प्रकरणम्"। और इस तरह यह सर्वथा असमंजस हो जाता है कि मूल तो विष्णुस्वामिमतानुसारी हो और व्याख्या वाल्लभ-मतानुसारी! यदि इस विरोधाभासका परिहार हमें करना हो तो एक ही उपाय है कि स्वयम् महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणको ही श्रीविष्णुस्वामिमतानुसारी मानकर इस व्यर्थ भेदको ही समाप्त कर दिया जाये।

जिस सुबोधिनी (३।३२।३७) के वचनमें, भेदवादमूलक तामस, राजस तथा सात्विक भेदसे भक्तिके तीन प्रकार क्रमश: श्रीविष्णुस्वामी श्रीमध्वाचार्य तथा श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित हैं, ऐसा कह कर स्वप्रतिपादित प्रकारको महाप्रभुने निर्गुणा भक्ति कहा है, वहाँ भी चारों ही प्रकार भगवदभिप्रेत हैं, यह "एवं चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादित:" कह कर सुस्पष्ट कर दिया है। इस पंक्ती और इसके तुरंत वाद आती "अभिसन्धाय यो हिंसामित्यादिभि: वैराग्यार्थं कालस्यापि अव्यक्तगते: स्वरूपम् उक्तम्" के बीच एक पूर्णविराम चिन्ह, या तो मुद्रणदोषवशात् अथवा पूर्वकालमें ही कभी अनुलिपिकारोंके प्रमादवशात्, छूट गया है ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। क्योंकि अन्यथा शास्त्रार्थप्रकरणमें उपदिष्ट भक्तिका मूल भी हिंसा दम्भ, मात्सर्य आदि दुर्गुणोंके अभिसन्धानमें खोजना पड़ेगा! तव तो महाप्रभुका 'स्वयम्‌को 'विष्णुस्वामिमतानुवर्ती' कहना, न केवल यहीं अपितु अन्यत्र भी उज्जयिनी आदि तीर्थपुरोहितोंको स्वहस्ताक्षरमें दिये गये वृत्तिपत्रोंमें भी, आत्मनन्दाका प्रकार मानना पड़ेगा! अत: रासपञ्चाध्यायीमें अनेकत्र गोपीजनोंमेंसे किसी एक गोपिकाके भावको तामस, राजस या सात्त्विक; एवम् अन्य गोपिकाके भावको निर्गुण दिखलाते समय महाप्रभुका तात्पर्य जैसे निन्दाका नहीं किन्तु भावकी विलक्षण चमत्कृतिके बारेमें होता है– विविधतया प्रशंसा करनेमें होता है–ऐसे ही यहाँ भी स्वीकारना चाहिये।

निष्कर्षरूपेण यह स्वीकारना ही पड़ता है कि महाप्रभु विष्णुस्वामिसंप्रदायके कुलपरंपरागत अनुवर्ती होनेपर भी (दृष्टव्य सुबोधिनी प्रकाश १।१।१) कुछ अधिक और भी प्रकार पुष्टिभक्तिमार्गका कहना चाहते हैं, अपनी मर्यादामार्गीय विष्णुस्वामिमतानुवर्तिताके त्यागके विना ही। अस्तु।

(४) सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंमें वहुधा तामस, राजस, सात्त्विक एवम् निर्गुण ऐसे चार वर्गोंका तो उल्लेख मिलता है, परन्तु आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविक की तुलनामें चतुर्थ वर्गको 'निर्गुण' कहना इन तीन वर्गोंको 'सगुण' (दृष्टव्य सर्वनि. ११९) कहनेमें फलित होता है। और शुद्धाद्वैतवादकी चोखटमें श्रीकृष्णरूप अधिदेवको सगुण या सात्त्विक कहना सिद्धान्तसंगत नहीं होता।

शुद्धसत्त्वप्रधान मायासे कल्पित व्यवहार या प्रतिभास होनेसे अथवा उपासनार्थ-कल्पित होनेसे, केवलाद्वैतवादमें तो सरलतासे श्रीकृष्णरूप अधिदेवको भी सगुणताके स्तरपर पटका जा सकता है। महाप्रभुके मतमें, परन्तु, यह सर्वथा असंभव है। एतदर्थ अधोनिर्दिष्ट उद्धरण मननीय होंगे—

(क) सद् अधिभूतं चिद् अध्यात्मं आनन्दो अधिदैवम् इति......देहो अधिभूतं जीवो अध्यात्मा ईशोन्तर्यामी अधिदैवः तत्रैव विद्यमानोपि अनभिमानित्वात् ब्रह्मेति एकत्रैव त्रिप्रकारेण वर्तत इति प्रकारान् गणयति—अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदाः....."
(सर्वनिर्णयप्रकाश १२०–१२१)।

(ख) यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् यथा देवी तथा कृष्णः
(सिद्धान्तमुक्तावली ९)।

(ग) स एव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो नहि गुणाभिमानिनो ये हि तदंशाः सगुणाः स्मृताः कर्ता स्वतन्त्र एव स्यात् सगुणत्वे विरुद्धयते
(शास्त्रार्थप्रकरणकारिका ७७)।

वाल्लभ ग्रन्थोंमें सन्दर्भभेद एवम् विवक्षाभेद वशात् 'सगुण' शब्दके दो अर्थ मिलते हैं। प्रथम दिव्यगुणसाहित्य और द्वितीय प्राकृतगुणसाहित्य यही-वात 'निर्गुण' शब्द पर भी लागू होती है। अतएव 'निर्गुण' का एक अर्थ होता है प्राकृतगुणराहित्य। ऐसी स्थितिमें भागवतमें वर्णित कृष्णलीला या अन्य भी भगवल्लीलाओं को, जव तक प्राकृतगुणयुक्त परमात्माकी लीला न मानी जाये, तव तक उनकी व्याख्यार्थ प्रवृत्त हुई सुबोधिनीको सात्त्विक कैसे कहा जा सकता है? प्रतीत होता है कि इसी असमंजसताको दूर करनेके लिये 'सात्त्विक' न कह कर 'आधिदैविक' कह दिया गया है। परन्तु सुबोधिनीसे षोडशग्रन्थोंका वैलक्षण्य यदि निर्गुणताका हो तो सुबोधिनीको सगुण आधिदैविक हठात् मानना ही पड़ेगा!

(५) श्रीविष्णुस्वामिमतके अनुवर्तनसे आध्यात्मिकता तथा श्रीवेदव्यासके अनुवर्तनसे ग्रन्थमें आधिभौतिकता आती हो तो सुस्पष्टतया हम

देख सकते हैं कि निवन्धकारिकाकी इतिश्रीमें महाप्रभुन स्वयम्को श्रीवेदव्यास और श्रीविष्णुस्वामी दोनोंका ही अनुवर्ती वताया है। अतः यहाँ आधिभौतिकता एवम् आध्यात्मिकता का सांकर्य भी मानना पड़ेगा। जहाँ तक पूर्वपक्षनिराकरण एवम् स्वसिद्धान्तोपदेश के भेदका प्रश्न है तो वह तो भाष्य और निवन्ध दोनोंमें ही उपलब्ध होता है।

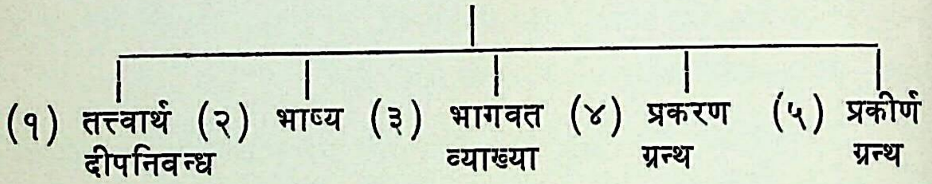
इस तरहके अन्य भी अनेक असमाधेय प्रश्न इस वर्गीकरणमें उत्थित होते हैं, अतः श्रीयोगिगोपेश्वरजीके विधानका वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो पाता है।

इतिश्री-लेखनकी इन विभिन्न शैलियोंके कारण, कौनसे ग्रन्थका लेखनारंभ महाप्रभुकी किस वयोवस्थामें हुआ है, इतना-सा संकेत तो सामान्यतया प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इससे अधिक अन्य जो वातें यहाँ खोजी गयी हैं उनका महाप्रभु-विरचित ग्रन्थोंकी आन्तरिक सुसंगति एवम् सर्वग्राही दृष्टिकोण के साथ कोई तालमेल बैठता नहीं है। यह तो साफ-साफ झलकता हैं तथा प्रमाणित भी है कि निवन्धकारिकाओंका लेखनारंभ सुबोधिनी तथा अनेक षोडशग्रन्थों के लेखनसे पूर्व हुआ है। इसी तरह निवन्धप्रकाशका लेखन यदि सुबोधिनी आदिके वादमें न भी सही तो कमसे कम साथ-साथ तो हुआ होना ही चाहिये।

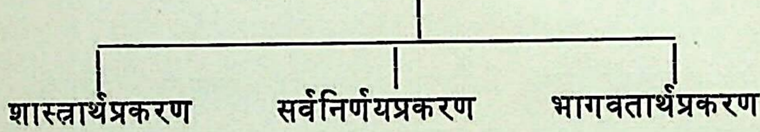
एसी स्थितिमें महाप्रभुके दृष्टिकोणमें वयोवस्थाके साथ परिवर्तन हुआ, अर्थात् पहले आप केवल मर्यादामार्गीय उपदेश ही देते थे और वादमें पुष्टिमार्गीय; अथवा एक किसी ग्रन्थमें आपने केवल मर्यादामार्गीय सिद्धान्त एवम् साधना तथा अन्य ग्रन्थमें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त एवम् साधना का उपदेश दिया है, ऐसा सिद्धान्तभेद खोजना महाप्रभुके व्यापक शुद्धाद्वैतवादका आंशिक प्रत्याख्यान ही है। इस विषयकी विस्तारपूर्वक चर्चा षोडशग्रन्थकी हमारी विस्तृत भूमिकामें हुयी हैं, जिसक प्रकाशित होनेपर वहाँ देखा जा सकगा।

ऐसे कृत्रिम किसी भी विभाजनके वजाय अतएव महाप्रभुविरचित साहित्यका एक सहज वर्गीकरण हम यों देना चाहेंगे--

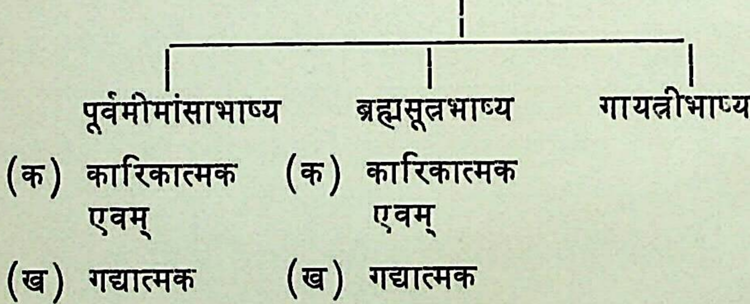
महाप्रभुविरचितसाहित्य



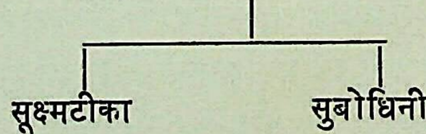
(१) तत्त्वार्थदीपनिवन्ध



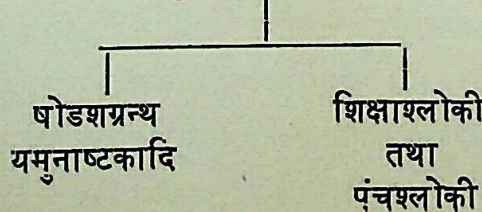
(२) भाष्य

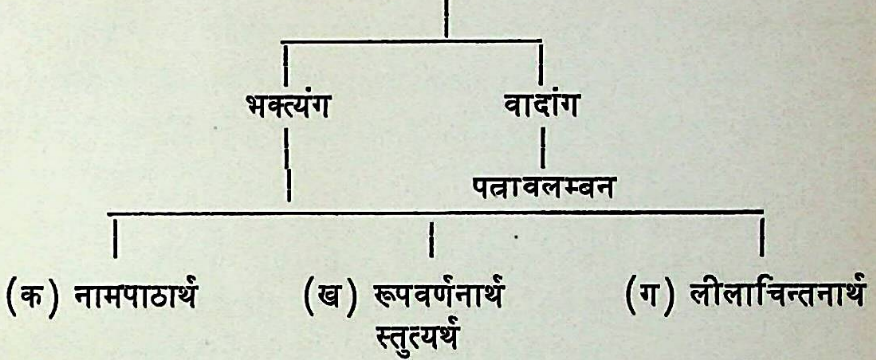


(३) भागवतव्याख्या



(४) प्रकरणग्रन्थ





(क) पुरुषोत्तमसहस्रनाम त्रिविधनामावली तथा कृष्णप्रेमामृत (!)

(ख) परिवृढाष्टक मधुराष्टक नन्दकुमाराष्टक गिरिराजधार्यष्टक श्रीकृष्णाष्टक गोपीजनवल्लभाष्टक आदि।

(ग) दशमस्कन्धानुक्रमणिका।

इनके अलावा सुदर्शनकवच तथा भगवत्पीठिका ग्रन्थ भी माने जाते हैं। परन्तु उनका महाप्रभुविरचित होना न तो सिद्धान्तसंगत लगता है और न वे सर्वमान्य ही हैं।

ग्रन्थोंके पूर्वोक्त विभाजनका आधार स्थूलरूपसे "आचार्यवाचः प्रणमामि भाष्यनिवन्धसुबोधिनीस्था इतराश्च यास्ता" यह गोस्वामिश्री पुरुषोत्तमजीकी उक्ति है।

इस तरह महाप्रभुविरचित ग्रन्थोंकी तालिकाके वाद अव इन सभी ग्रन्थोंमें क्या-कैसी एकवाक्यता है यह दिखलानेका हम प्रयास करना चाहेंगे। गो. श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणकी "साकारब्रह्मवादैकस्थापको" (सर्वोत्तमस्तोत्र ८) उक्तिके आधारपर महाप्रभुके मतका अभीष्टतम अभिधान 'साकार-ब्रह्मवाद' ही हम मान कर चलते हैं। शुद्धाद्वैतवाद, क्योंकि संभव है कि, स्वयम् महाप्रभुद्वारा निर्धारित अभिधान न भी हो। 'साकारब्रह्मवाद' शब्दमें 'साकार' विशेषण है जिसका अभिप्राय, अमायिक-अप्राकृत दिव्य आनन्दमय आकारवाले श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमात्मा भगवान हैं, इस अर्थमें हैं। 'ब्रह्म'

विशेष्य है जिसका अभिप्राय है इस जगतका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण आत्मरमणशील केवल ब्रह्म ही है। अन्य माया प्रकृति परमाणु काल कर्म स्वभाव अभाव आदि कोई भी पदार्थ ब्रह्मभिन्नतया जगतकी उत्पत्ति स्थिति या लय में निमित्तकारण उपादानकारण अथवा प्रयोजन बन नहीं सकते।

महाप्रभु कहते हैं—

अखण्डं कृष्णवत् सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्
आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रीयते हरतीश्वरः ।
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ।।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामतिः ।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् ।।

(सर्वनि. कारि. १२२–१२४)

इस साकारब्रह्मवादके कारण महाप्रभुका कृष्णभक्तिपर सर्वाधिक उपदेश-भार है। इस साकारब्रह्मवादपर अवलम्बित होनेके कारण ही महाप्रभुके मतमें पुष्टिभक्तिमें कभी महात्म्यज्ञान अनिवार्य है तो कभी नहीं भी। सुबोधिनी (१०।२६।१३) में यह आता है कि भगवत्प्राकटच ज्ञान या भक्ति के चरम विकास होनेपर जैसे होता है, वैसे ही कभी स्वेच्छया भी भगवान प्रकट हो जाते हैं। जब स्वेच्छया भगवान प्रकट हो जाते हैं तब भगवत्प्राकटच-हेतुभूत ज्ञान या भक्ति रूप उपाय अकिंचित्कर हो जाते हैं। परन्तु वर्षा ऋतुमें घरकी छतपर ही जल बरसता रहता है एतावता कूप नदी या सरोवर को अनुपयोगी नहीं माना जा सकता ! इसी तरह स्वेच्छया प्राकटचके अलावा ज्ञान-भक्तिकी भी अनुपयोगिता मानी नहीं जा सकती है।

इसके अलावा यहीं शास्त्रार्थप्रकरण (प्रकाश ४१-४२) में महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण भी दिया है कि भक्तिके दो अंश हैं प्रथम माहात्म्यज्ञान तथा द्वितीय सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह। देवादिविषयिणी रतिको 'भाव' कहा जाता है, देवत्व माहात्म्य है और रति प्रकट होती है उस देवको जब हम अपनी

आत्माके रूपमें जाने या मानने लग जायें तव। अतएव शास्त्रोंमें जगत्कर्ता जगदाधार अन्तर्यामी फलदाता आदि जो भी ब्रह्मके माहात्म्य दिखलाये गये हैं, उनका अन्तिम प्रयोजन परमात्माके माहात्म्यज्ञापनद्वारा हम जीवात्माओं-में परमात्माके प्रति सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहको उद्बुद्ध करना ही है। वेदके पूर्वकाण्डमें वर्णित कर्ममार्गका भी मुख्य प्रयोजन चित्तशुद्धिद्वारा माहात्म्य-ज्ञानप्राकट्य ही है। इस तरह कर्मसे ज्ञान और ज्ञानसे भक्तिके प्राकटचक्रम-में पूर्वोत्तरकाण्डकी ही नहीं अपितु अन्य भी अनेक शास्त्रोंकी एकवाक्यता प्राप्त हो जाती है। यह मुख्य कल्प है परन्तु अधिकारभेदवश इसमें अनेक विकल्प एवम् अनुकल्प संभव हैं। तदनुसार मार्गभेद साधनभेद एवम् फलभेद भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें वर्णित हुवे हैं।

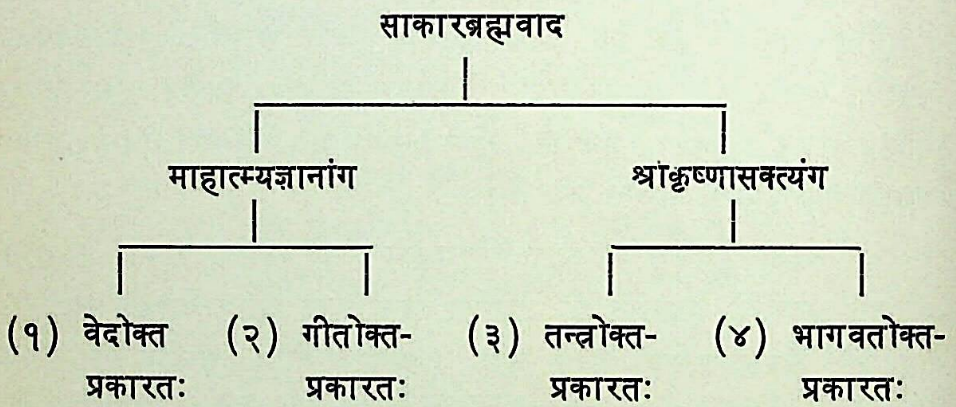
यह तथ्य है कि पुष्टिमार्ग-सम्प्रदायके आचार्यके रूपमें महाप्रभु अन्यान्य मार्गोंके अनुष्ठानोंका उपदेश देकर अपने अनुयाईयोंको साधना-वाहुल्यसे दिग्भ्रान्त नहीं करना चाहते। अतएव स्पष्ट शब्दोंमें भक्तिकी तुलनामें अन्य सभी साधनोंको गौण ही मानते हैं। फिर भी जवतक देहा-भिमान वना रहता है तव तक उन अभिमानोंको लक्ष्यमें रख कर वेदादि शास्त्रोंद्वारा अनिवार्यतया विहित किसी भी धर्म (चाहे वह कर्म ज्ञान भक्ति प्रपत्ति रूप हो अथवा वर्णाश्रमाचारवृत्तिव्रतप्रायश्चित्तादिरूप हो) के त्याग-की छूट भी नहीं देते। एतदर्थ अधोनिर्दिष्ट वचन मननीय होगा—

जव तक यह देह (या देहाभिमान) है तव तक वर्णाश्रमधर्म ही हमारेलिये स्वधर्म है। भगवद्धर्म भी तब या तो हमारेलिये विधर्म रूप है या परधर्मरूप है। जब देहाभिमान शिथिल होने लगे तव भगवद्दास्य ही हमारेलिये स्वधर्मकी कोटीमें आ जायेगा और अन्य सभी वर्णाश्रमादि धर्म भी तव हमारे लिये परधर्म वन जायेंगे (सुबो. ३।२८।२).

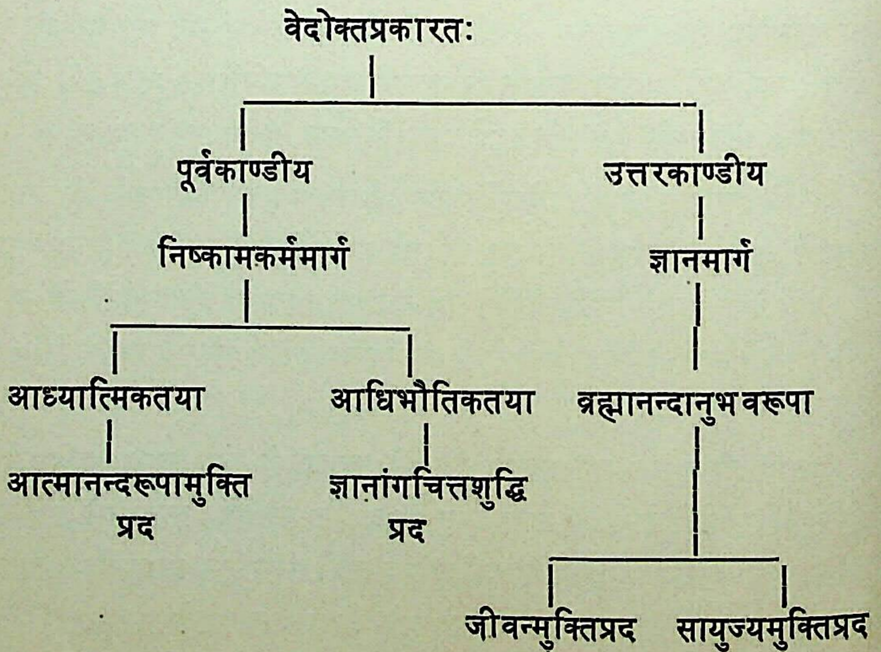
साथ ही साथ महाप्रभुका यह भी कहना है कि वर्णाश्रमादिधर्म तत्तद् अधिकारियोंकेलिये ही हैं; जवकि भक्ति-प्रपत्ति सर्वाधिकारक धर्म हैं। वर्तमान कलियुगके कारण स्वाध्याय शौच तप आदिसे रहित साधकोंकी अनेकविध आध्यात्मिक दुरवस्थाओंको देखते हुवे सिद्धान्ततः सर्वथा मान्य होनेपर भी

वर्णाश्रमाचारादि धर्मोंके यथाविधि अनुष्ठानको महाप्रभु अशक्यप्राय मानते हैं। अतः व्यवहारमें भक्ति-प्रपत्तिको ही एकमात्र अवशिष्ट विकल्प मानते हैं (दृष्टव्य शास्त्रार्थ प्रक. कारि. १५-२१ तथा सर्वनिर्णयकारि. १८५-२१९)।

इन सारी बातोंको लक्ष्यमें रखकर यदि महाप्रभुके सैद्धान्तिक चिन्तनपर आधारित साधनोपदेशकी तालिका बनाना चाहें तो वह कुछ ऐसी होगी—



(१) **द्विजाधिकारक**



(२) सर्वाधिकारक

गीतोक्तप्रकारतः
|
प्रपत्तिमार्ग
|
पापनाश
|
सायुज्यरूपामुक्तिप्रद

(३) चतुर्वर्णाधिकारक

पाञ्चरात्रतन्त्रोक्तप्रकारतः
|
मर्यादाभक्ति
|
पापनाश
|
सायुज्यादिचतुर्विधमुक्तिप्रद

(४) सर्वाधिकारक

भागवतोक्तप्रकारतः

प्रमाणवलतः (भक्तिवशभगवत्प्राकटचरूपा)
|
मिश्रपुष्टि
- (क) पुष्टिपुष्टि
- (ख) मर्यादापुष्टि
- (ग) प्रवाहपुष्टि

|
भजनानन्द
- अलौकिकसामर्थ्यप्रद
- सायुज्यप्रद
- वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेहप्रद

प्रमेयवलतः (भगवत्प्राकटचवशभक्तिप्राकटचरूपा)
|
शुद्धपुष्टि
|
भजनानन्द
- प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिप्रद
- लीलोपयोगि सायुज्यप्रद
- वैकुण्ठादिषु नित्यलीलोपयोगिदेहप्रद

पिश्रुपुष्टिके त्रिविध प्रकारोंका ही वर्णन यहां शास्त्रार्थप्रकरणके उपसंहारमें तथा पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थमें समझाया गया है। उनकी परस्पर संवादिता-एकवाक्यताका मनन करनेकेलिये वहांसे कुछ वचन हम उद्धृत करना चाहेंगे-

(क) पुष्टिपुष्टि

एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः॥

(शास्त्रार्थ प्र. कारि. १०१)

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये।
पुष्टचा विमिश्रा सर्वज्ञाः............... ॥

(पुष्टिप्रवाहमर्यादा १४-१५)

(ख) मर्यादापुष्टि

शास्त्रार्थज्ञानभावेपि प्रेम्णा भजने मध्यमः
प्रेमाभावे मध्यमः स्यात्................ ॥

(शास्त्रार्थ प्र. प्रका. १०२)

मर्यादया गुणज्ञास्ते......................

(पुष्टिप्रवाहमर्यादा १६)

(ग) प्रवाहपुष्टि

उभयोरभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं
धर्मत्वं वा न तु भक्तिमार्गः॥
तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य भविष्यति योगयोगे तथा प्रेम....

(शास्त्रार्थ प्र. प्रकाश १०२-१०३)

प्रवाहेण क्रियारताः...........

(पुष्टिप्रवाहमर्यादा १५)

महाप्रभुके सभी ग्रन्थोंमें यही साकारब्रह्मवाद स्वयम् ब्रह्मकी तरह ही व्याप्त है। कहीं समास-शैलीमें तो कहीं व्यासशैलीमें, कहीं शब्दशः तो कहीं

तात्पर्यंशः और कहीं प्रतिपाद्य-विषयत्वेन तो कहीं अन्यत्र प्रतिपादित विषयके निष्कर्षत्वेन यही साकारब्रह्मवाद निरूपित हुआ है। इसमें कहीं कोई विसंगति या सैद्धान्तिक भिन्नता दृष्टिगत नहीं होती।

महाप्रभुके उपदेशमें तथाकथित पुष्टिमर्यादाभेद कितना मनगढंत है यह जानना हो तो अधोलिखित वचन सर्वथा मननीय है—

भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहित-ज्ञानसहिताया एव तिरोधाननाशकत्वम् उक्तं भवति। एषा भक्तिः माहात्म्यज्ञानपूर्वक-परमस्नेहरूपा। तथा भूता सती भगवत्परिचर्यायुक्ता भवेत्। स्वतः पुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः 'स्वतन्त्रा' इत्युच्यते। अयमर्थः स्वाश्रमाचारसहित-ब्रह्मानुभवसहित-माहात्म्यज्ञानपूर्वक-स्नेहो ब्रह्मभावं करोति। तादृश्चेत् परिचर्यासहितो भवेत् तदा सा परिचर्या आनन्दरूपा सती त्रयोदशगुणा भवेत्। तदा फलरूपायां तस्यां स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिवन्धकमिति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचाराः त्यक्तव्याः, यथा ब्रह्मभावंगतस्य, अन्यथा कर्तव्या इति निष्कर्षः, एवं फलप्रकरणे तां सामान्यतो निरूप्य विशेषतो निरूपणाभावे हेतुमाह दुर्लभेति न सोच्यते इति। सन्ति ब्रह्मभावंप्राप्ता, नतु एतादृशा भक्ता इति
(सर्वनि प्रका. १९६)

जिसे 'शुद्धपुष्टिभक्ति' कहा जाता है और जिसे 'पुष्टिपुष्टिभक्ति' कहा जाता है वे दोनों अपनी प्रारंभिक अवस्थाओंकी दृष्टिसे भिन्न हैं। फलितावस्थामें किन्तु पुष्टिपुष्टिभक्ति शुद्धपुष्टिभक्तिरूपा ही वन जाती है। अतः दोनों ही "शुद्धा स्वतन्त्रा च दुर्लभा" हैं।

प्रारंभिक साधनदशामें यथाधिकार शास्त्रतः प्राप्त एवम् विहित कृत्योंकी पुष्टिमार्गमें भी अपरिहार्यता है ही मर्यादामार्गकी तरह। फलानुभवदशामें तो न केवल पुष्टिमार्गमें ही अपितु मर्यादामार्गमें भी विधिवन्धन शिथिल होते-होते स्वतः टूट जाते हैं।

हां इतना तो निश्चित ही है कि पुष्टिमार्गमें सेवा मुख्य है पूजा नहीं। अतः कवल मन्त्रयुक्त पूजामें तत्पर होनेस काम नही चलेगा (सर्व नि.प्रका. २३७)।

परन्तु एतावता कौन नहीं जानता कि सर्वथा पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें ही धूप दीप आरार्तिक घंटानाद शंखनाद पञ्चामृतस्नापन ज्येष्ठाभिषेक रथदोला-पवित्रारक्षादिका अधिवासन श्रौताचमन प्राणायाम देशकालसंकीर्तन-पूर्वक संकल्प आदि अनेक समन्त्रक पूजाविधियां समाविष्ट हैं हीं। मुख्य तो सेवा ही है। वर्णाश्रमाचारादि तथा शास्त्रविहितोपचारादि सभी कृत्य सेवाके अंगत्वेन अनुष्ठेय है अंगित्वेन नहीं। वेदके पूर्वोत्तरकाण्डमें वर्णित कर्मज्ञान भी भक्तिके अंगत्वेन उपादेय हैं। स्वान्त्र्येण नही। अन्यथा कर्ममार्ग या ज्ञानमार्ग का अन्याश्रय हो जायेगा। यह अंगभाव भी शास्त्रतः तत्तद् वर्ण या आश्रम में स्थित अधिकारियोंकी कृष्णभक्तिके लिये ही है। अन्यथा वर्णाश्रमवाह्य अधिकारियों द्वारा की जाती कृष्णसेवामें शास्त्रविहित वर्णाश्रमाचारादिको अपरिहार्य अंग नहीं माना गया है, अप्राप्त होने से। वर्णाश्रमके भेदभाव बिना कृष्णभक्ति का अधिकार तो मनुष्यमात्रको है ही (दृष्टव्य सर्वनि. प्रका. १८५-२२६)।

मायावादियोंको अभिप्रेत शाब्दापरोक्षज्ञानवाद महाप्रभुको सर्वथा अप्रामाणिक (दृष्टव्य:शास्त्रार्थं प्र. ६१–६४) लगता होनेसे कोई भी पुष्टिमार्गानुयायी यह नहीं कह सकता कि संप्रदायकी आत्मसमर्पण-दीक्षामें देहाध्यास-निवर्तक उपदेश प्राप्त हो जानेसे केवल दीक्षागत शब्दोंसे ही देहाध्यास निवृत्त हो जायेगा। अन्यथा दीक्षा लेनेके बाद सेवा–स्मरणादिरूप भक्तिमार्गीय उपाय भी निरर्थक ही ठहरेंगे!

अतः महाप्रभुकी वयोवस्थाके भेदवश अथवा विभिन्नाधिकारक ग्रन्थोंके भेदवश ही महाप्रभुके शुद्धाद्वैतवादी दृष्टिकोणमें विहित-अविहितके बीच किसी भी तरहके आत्यन्तिक द्वैतको खडे करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

एतावता यह सिद्ध हुआ कि तत्त्वार्थदीपनिवन्ध भी महाप्रभुके पुष्टिमार्गीय अनुयाईयोंकेलिये ही लिखा गया ग्रन्थ है!

बृहदारण्यकोपनिषद (२।४।५) में आत्मदर्शनके उपायरूप श्रवण मनन और निदिध्यासन का विधान किया गया है। तदनुसार महाप्रभु

श्रीवल्लभाचार्यचरणके दर्शनकी आत्माका साक्षात्कार करना हो तो हम भी यह निःसंकोच कह सकते हैं कि शास्त्रार्थप्रकरणका श्रवण सर्वनिर्णयप्रकरण-का मनन एवम् भागवतार्थप्रकरणका निदिध्यासन अत्यावश्यक उपाय हैं।

अनधिकारी अध्येता जब, इस प्रकरणत्रयीके भलीभाँति अध्ययन किये विना, सीधी छलांग सुबोधिनीपर लगाते हैं तो वाल्लभ सिद्धान्तका ज्ञान उनका विकलांग ही होता है। अस्तु।

श्रीयुत हरिशंकर ओंकारजी शास्त्रीजी द्वारा संपादित-संशोधित निबन्ध-के प्रस्तुत दोनों प्रकरण वि. सं. १९९९ में प्रकाशित हुए थे, जेठानन्द आसनमल ट्रस्टद्वारा। यह हमारा संस्करण उसी संस्करणका ऑफसेट प्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रितरूप है। एतदर्थ हम सम्पादक–प्रकाशकके प्रति हृदयसे अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

यद्यपि इस १९९९ वाले संस्करणसे पूर्व भी निबन्धके तीनेक संस्करण प्रकाशित हुए थे किन्तु उन सभीमें यह स्पृहणीयतर संस्करण है अनेक दृष्टियों से। कहीं-कहीं कुछ भयंकर त्रुटियाँ भी हैं फिर भी यह संस्करण अनेक बातों-में श्रेष्ठ होनेसे इसका ही हमने चयन किया है पुनर्मुद्रणार्थ। शास्त्रीजीने अपने संस्करणको गुर्जर-आंग्लभाषामें आमुख-अनुवाद-टिप्पणी आदि अनेक रूपों-से सुसज्जित किया था जिन्हें हम ने छोड दिया है।

कुछ मित्रगणोंका आक्षेप रहता ही है कि आधुनिक विधिसे सम्पादित तथा अनुदित किये विना केवल मूलमात्र ग्रन्थोंका प्रकाशन आज निरूपयोगी है!

हम अपनी ओरसे केवल यही स्पष्टीकरण देना चाहेंगे कि जब यह ग्रन्थ सर्वविध अनुवादोंसे सुसज्ज था तब कितने लोग इससे लाभान्वित हुए थे? दुसरी बात यह है कि सम्प्रदायमें निष्ठाविहीन आयातित विद्वत्ता (इम्पोर्टेड स्कोलरशिप) द्वारा इन ग्रन्थोंके आधुनिक विधिसे सम्पादनसंशोधनके ब्राह्म-कल्पकी समाप्तिकी प्रतीक्षामें कब तक इन ग्रन्थोंके पुनःप्रकाशनको रोके रखना उचित होगा! तीसरी बात यह है कि हमारा उद्देश्य न तो अकादमिक है और न साधारण जनोपयोगिताका ही है। इस पुनःप्रकाशनमें हमारा

उद्देश्य केवल यही है ध्रुव तथा उपलब्ध सुविधाओंके रहते प्रकाशित ग्रन्थ विलुप्त नहीं हो जाने चाहिये, अध्रुव तथा अनुपलब्ध सुविधावाले आदर्श संस्करणके मोहवश! अतएव न हम उन ग्रन्थप्रकाशन-न्यासनिधियोंकी उपयोगितापर प्रश्नचिन्ह लगाते है, जिनपर वृथा अनुवादकी मांग करनेवाले वणिक्वृत्तिके लोग अहिकुण्डलवत् जमकर बैठ गये हैं। और न हम अपने इस संस्करणकी अनुवादरहिततापर लगे प्रश्नचिन्हका समाधान देना आवश्यक समझते हैं।

हाँ समाप्तिसे पूर्व एक सूचना और देनी वाकी है कि समादरणीय श्रीशास्त्रीजीके संस्करणमें पृष्ठशः विषयानुक्रमणिका नहीं दी गयी थी जिसे हमने यहाँ नूतनतया समाविष्ट किया है। इस विषयानुक्रमणिकामें हमने इन दोनों प्रकरणोंके प्रारूप (सिनॉप्सिस) को भी यथामति स्पष्ट करनेका प्रयास किया है, सच्चे जिज्ञासुओंके मार्गदर्शन हेतु। इसके अलावा सर्वनिर्णयोपदिष्ट भक्तिसाधनाका सुविशद निरूपण करनेवाली, महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज गोस्वामिश्रीगोपीनाथप्रभुचरणद्वारा विरचित, साधनदीपिकाको भी हमने यहां परिशिष्टके रूपमें नूतनतया संनिविष्ट किया है।

इस प्रकाशनमें हमारे सहयोगी मित्र श्रीसुरेश उपाध्याय तथा प्रेसके मेनेजर श्री वरदराजन के प्रति भी हम अपनी कृतज्ञताका संगोपन कर नहीं पाते हैं। इस ग्रन्थका प्रकाशन हमारे पितृचरण गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराजद्वारा स्थापित न्यासद्वारा हुआ है।

अन्तमें—

श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा ॥
पदवाक्यप्रमाणपथिषु पदविन्यासविवेकवर्जितं माम्।
अनयत सकरावलम्बं तस्मै नुतिरस्तु धर्मदेवाय ॥

आश्विन कृष्णा द्वितीया वि. सं. २०२९ **गोस्वामी श्याम मनोहर**

तत्त्वार्थदीपनिबन्धे

शास्त्रार्थप्रकरणस्य

विषयानुक्रमणिका

(१) उपोद्घात-प्रकरणे कारिकाः १–२२ (२) सत्प्रकरणे कारिकाः २३–५२ (३) चित्प्रकरणे कारिकाः ५३–६४ (४) ब्रह्म-आनन्द-प्रकरणे कारिकाः ६५–७७ (५) परमतनिराकरणे कारिकाः ७८–९४ (६) उपसंहारेः कारिकाः ९५–१०८.

विषयः पृष्ठानि

विषयः पृष्ठानि

।। इति शास्त्रार्थप्रकरणविषयानुक्रमणिका ।।

तत्त्वार्थदीपनिबन्धे

सर्वनिर्णयप्रकरणस्य

विषयानुक्रमणिका

(१) प्रमाणप्रकरणे कारिकाः १–८३ (२) प्रमेयप्रकरण कारिकाः ८४–१८४ (३) फलसाधनप्रकरणे कारिकाः १८४–३२५ (४) ग्रन्थोपसंहारे कारिकाः ३२६–३२९

विषयः पृष्ठानि

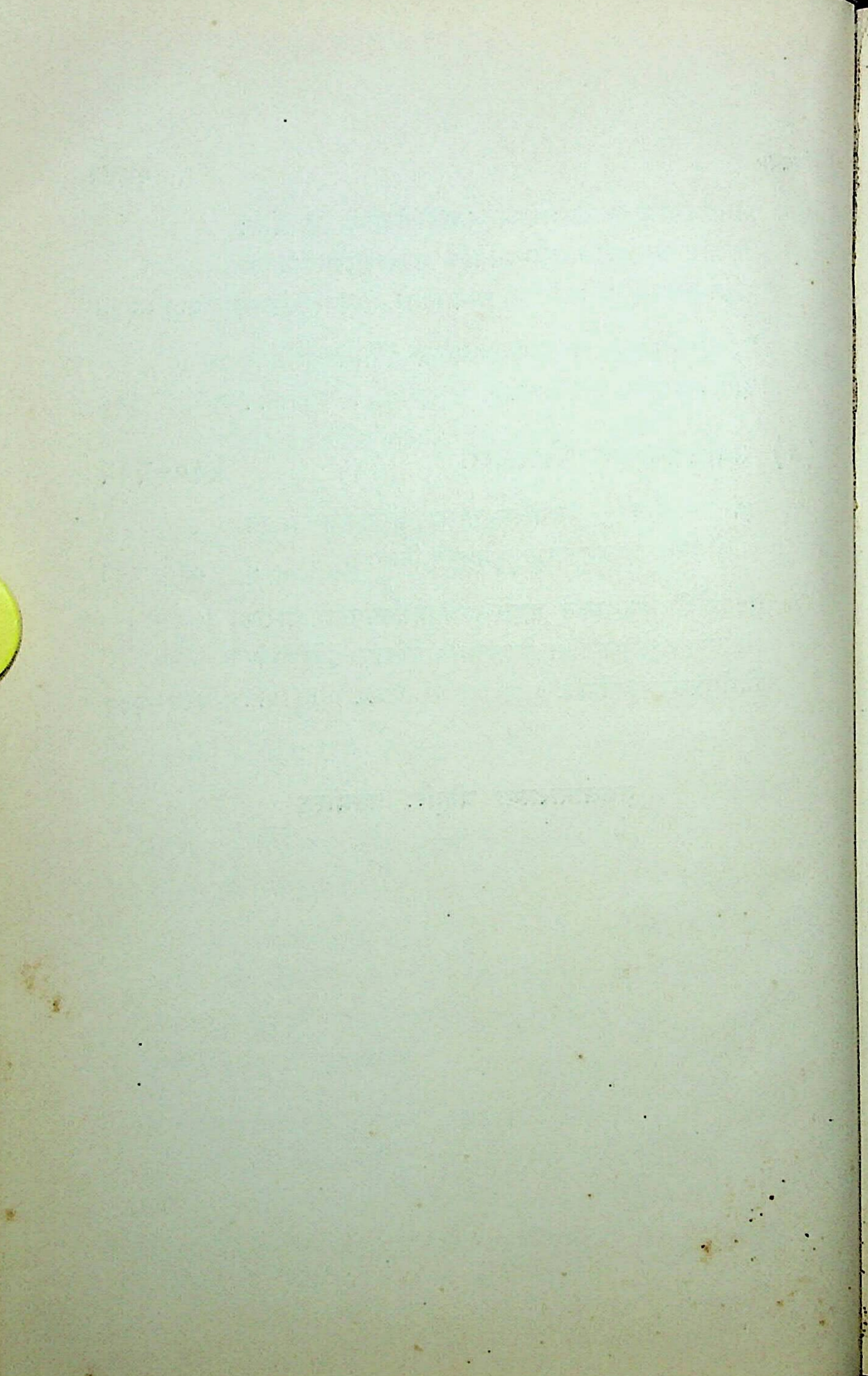
विषयः पृष्ठानि

विषयः पृष्ठानि

विषयः | **पृष्ठानि**

विषयः पृष्ठानि

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोस्तु



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धस्य

प्रस्तावना

विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः

(मुद्रालेखः)

आश्चर्य्याणां निधानं, धनमधनवतां, भागधेयं यदूनां,
साधूनां कल्पवृक्षं, निरुपधिभजनस्येष्टसिद्धिं शरण्यम् ।
तात्पर्यं व्यासवाचां, श्रुतिनिचयलसद्वादसिद्धान्तसारं
तत्त्वं सच्छास्त्रबोध्यं, नुतिततिभिरहं संश्रये राधिकेशम् ॥
कल्याणं वो विधत्तां विबुधजनलसन्मौलिमाणिक्यमुक्ता-
गारुत्मतपद्मरागस्फुरितपदनखच्छोभमानाच्छकान्तिः ।
राधारागारुणाढ्यस्फुरदधररसास्वादलोलाक्षिपक्ष्म-
च्छायामायाविलीनद्युतिनिकरजनान्मोहयन् राधिकेशः ॥
अदीदृशद्यो हरिभक्तिमार्गं व्यचीकसद्दैवहृदब्जकोशम् ।
अरीरचद्भाष्यमुखांश्च ग्रन्थान्पायात्स वो वल्लभभास्करोऽयम् ॥

प्रकृतग्रन्थग्रन्थकृत्स्वरूपं तत्प्रकाशनं च

अथेदमपि किञ्चित्प्रस्तूयते पुस्तकप्रकाशकानां परम्पराप्राप्तपरिपाटीमनुसृत्य, विपश्चिदपश्चिमानां ब्रह्मविद्याविचारैकप्रवणचेतसां सचेतसां विदुषां पुरस्तात्, यत्; श्रीमच्छ्रुतिसिद्धान्तावयवनिचय-कमलाकामुकान्तःकरणरूपधृतावतारैः, शब्दैकप्रमाणसमधिगम्य–श्रीमद्यशोदोत्सङ्गलालित–गोपव-धूटीजनहृदयान्तर्वर्ति–परमतत्त्वाराधनैकप्रयोजनपुरस्कृतवेदान्तभाष्याद्यनेकग्रन्थाविर्भावविलसितान-न्यजनसाधारणप्राप्तश्रीमज्जगद्गुरुमहाप्रभुपदवीकैः, श्रीमद्वल्लभार्य्यदेशिकेन्द्रैः प्रदर्शितः सप्रकाशस्त-त्त्वार्थदीपः, भारतमार्तण्डसम्पादितसत्स्नेहभाजनेन, पण्डितपुरन्दरैर्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमैः कृतेनाव-रणभङ्गेन, श्रीमद्बालकृष्णभट्ट(लल्लूभट्ट)कृतया योजनया च चकासते जगतीतले । देदीप्यते दीपेनानेन,श्रीमच्छ्रुतिसीमन्तिनीसीमन्तसिन्दूरारुणपदपङ्कजं यशोदायशोवर्धनं वन्दारुजनाभिवन्दित-वृन्दावनैकभागधेयं श्रीकृष्णाख्यं परमतत्त्वम्, विद्योतते च तस्य तत्त्वतापादकं परमर्षिपराशरशरी-रोद्भूतव्यासमनःसमाधिरूपं समाधिदशासादितभाषात्रयात्मकं मुख्यतः समाधिभाषाख्यं भागवतम्,

द्योतयति च तस्यापि तत्त्वतया शुद्धाद्वैतसिद्धान्तरत्नराजिराजितं प्रमेयजातम्। सोऽयं तत्त्वार्थदीपः कल्याणाय भूयाद्भक्तजनानामिति श्रीमत्कल्याणरायकृतया टिप्पण्याऽऽलोकितः सकलस्यापि लोकस्यालोक एवेत्याकलये। स चायं मुम्बा–कोटा–काशी–राजनगर–नडियादादिपत्तनेभ्यः प्रकाशितः पञ्चषैरावर्त्तनैर्नयनपथमानीतः श्रीमद्बल्लवीवल्लभवल्लभसर्वस्वया पुष्टिमार्गानुगामिन्या वैष्णवजनतया, तथापि नातिविद्योतितं स्वान्तं वल्लवीरमणवल्लभस्यापि विद्वज्जनरमणस्य देवकीनन्दनस्य तनुजनुषो वल्लभकुलवल्लभस्य तुरीयतुरीयान्तपीठाधिष्ठितपादपल्लवस्य गोस्वामिनो वल्लभलालमहाराजस्य। अथ कदाचित्, तदादेशवशवर्तिनो मम, सकलनन्दनन्दितस्य श्रीदेवकीनन्दनस्यानन्दैकहेतोः श्रीमदानन्दाद्रेरुपकण्ठगतं कमनीयं कामवनं गतवतः श्रीमद्गोकुलेन्दुदर्शनेन सम्प्राप्तसकलकामस्य, सकलसाहित्यसमुपबृंहिततत्त्वार्थदीपप्रकाशनरूपं मनोरथमिममपूरयन् चतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वराः श्रीमद्गोस्वामिवल्लभलालमहाराजाः। मित्रवरपण्डितश्रीजगन्नाथशास्त्रिसङ्गृहीतं निखिलमपि साहित्यं सत्वरमेव समासादितं महाराजानुकम्पया, समारब्धं च मुद्रणं मुम्बायां "गुजरातीन्यूस"मुद्रणालये। श्रीमद्वैष्णवपरिषन्मन्त्रिणा साम्प्रदायिकग्रन्थप्रकाशनपरम्पराप्राप्तयशस्केन मूलचन्द्रतेलीवालाख्यप्राड्विवाकेन पण्डितपुरन्दराणां गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमानां श्रीहस्ताक्षराङ्कितस्य "आवरणभङ्गस्य" पुस्तकं (शास्त्रिचिमनलालद्वारा तेन सम्प्राप्तं श्रीगोकुलाधीशपुस्तकालयस्थं) पुस्तकं प्रदाय तदनुरोधेन तस्य मम च पुस्तकं संशोधितम्; भाण्डारकरसंस्थापितपुरातत्त्वगवेषणमन्दिरादपि (Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona) तदनुमोदनेन समासादितं पुस्तकत्रितयं, कामवनतश्च गोस्वामिश्रीवल्लभलालमहाराजानुकम्पया "श्रीमद्गोकुलनाथजी"–"रघुनाथजी"–"यदुनाथजी"ति प्रभुचरणतनुजानां त्रयाणामपि नामभिरङ्कितं तेषां पठनकाले स्थितं चैकमिति पुस्तकानां साहाय्येन सम्वृत्तं शोधनं राजनगरतः। अथ गच्छता कालेन श्रीचतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वराणां कतिपयैः कार्यकैरः समं सञ्जाते विरोधे, अवशिष्टमीमांसाध्ययनार्थं पुनरपि काशीं प्रस्थिते मयि "गुजरातीन्यूसमुद्रणालय"श्च ऋणापनोदनासामर्थ्येन संरुद्ध इति कृत्वाऽवरुद्धं तन्मुद्रणं षट्पञ्चाशत्पृष्ठपरिमितेनैव मुद्रणेनेति। सम्वृत्ता कथेयं द्वादशवार्षिकी। दिवं प्रयातो मूलचन्द्रस्तेलीवालावाकीलश्च। "उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी"ति त्रिकालाबाधितामेवार्यभवभूतिसूक्तिं ममालम्बनं विधाय "तावत्कोकिल विरसान् दिवसान् यापय वनान्तरे निवसन्, यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति" इति पण्डितराजस्य च कोकिलान्योक्तिं हृदि कृत्वा पूज्यपादानां श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणवंशाम्भोनिधिरत्नानां शुद्धाद्वैतकेसरि–सर्वतन्त्रस्वतन्त्रादिबिरुदावलिसमलङ्कृतानां ममाश्रयकल्पवृक्षाणां नित्यलीलाप्रवेशोत्तरं यापिताः कतिपयहायनात्मका दिवसाः।

अथ दैवात्, अवरङ्गाबादं गतस्य मे यजमानस्य वैद्यनटवरलालप्रभृतेर्निदेशेन मोहमयीमासादितस्य मम पुनरपि रङ्गभूप्रवेशोऽयं समभवदित्यत्र नात्याश्चर्यावसरः, अनेकरङ्गरञ्जितस्य नटवरवपुषो मे हृदयसर्वस्वस्य लीलाश्चर्यचर्यायाम्। सोऽयमहं निरस्तसमस्तशङ्काकण्टकाकीर्णं वेदार्थभागवततत्त्वार्थदर्शनदीपं सप्रकाशं सावरणभङ्गं सयोजनाकं सटिप्पणं सत्स्नेहभाजनसहितं

"तत्त्वार्थदीपं" स्थापयामि विपश्चित्प्रवराणां करतलेषु, सम्वत्सरात्प्रागेव मोहमयीं समागतानां तेषामेव चतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वराणां गोस्वामिश्रीवल्लभलालमहाराजानामाज्ञया ।

हन्त ! को नु खलु समर्थो दैवमन्यथयितुम् ? मानवो भवेद्विश्वमपि परिवर्तयितुं समर्थः, विश्वामित्रो भवेत्सृष्टिमपि नूतनां रचयितुं समर्थः, अगस्त्योऽपि भवेत्सागरमपि पातुं समर्थः; परं, नास्ति कालस्य प्रतिक्रियेति व्याससिद्धान्तः । अन्यथा च पुरुषश्चिन्तयति अन्यथा च भवति दैवमिति । श्रीमच्चतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वरा वल्लभलालगोस्वामिनोऽपि स्वावतारकार्यमेतावतैव समाप्य नित्यलीलां प्रविष्टाः प्रकाशनात्प्रागेवास्य "तत्त्वदीपस्य" । अस्ति दैवमेवात्र कारणम् । अथवा, कोऽत्र खलु निर्बन्धः ? यतः, व्रजवनीवनितावलीलीलालास्यकौतुकप्रदर्शितचन्द्रसरोवररमणस्थलीसर्वस्वस्य श्रीमद्गोकुलेशस्य, रासरासेशरासेश्वरीसरणहेतुकस्यालिन्दभूषणायितस्य "कदम्बखण्डी"-विहरणैकचित्तस्य नारायणब्रह्मचारिसमर्पितोष्णपायसदग्धाधरतया प्रदर्शितसुकुमारतातिशयस्य श्रीगोकुलचन्द्रस्य, अष्टभुजधारिणश्च सेवाप्रवणचित्तानां गोस्वामिनामेतेषां लीलाप्रवेशो हि न कादाचित्कः । पाञ्चभौतिकविग्रहत्यागो हि वर्तते आसुरव्यामोहलीलारूप एव । भवतु । तथ्यमेवेदं यदिदं प्रकाशनं प्रोत्साहकानामेतेषां पाञ्चभौतिकविग्रहत्यागानन्तरमेवेति ।

स चायं तत्त्वार्थदीपः, विविधविद्याविभवानां परमाश्चर्यचर्याणां सकलशास्त्रपारावारपारङ्गमानां प्रज्ञावतां शुद्धाद्वैतसिद्धान्तप्रासादप्रवेशाय प्रथमं पदं सोपानसन्ततेः । कृतिरियं सकलसुरासुरानीकप्रमुखावलीविरचितनतिततिविद्योतितामितविभवश्रीमन्नन्दनन्दनचरणपरिचरणसम्प्राप्तनिःशेषामरसङ्घसंस्पर्धितानेकविद्यास्थानविश्रामकल्पवृक्षाणां, विविधविधिविबोधितविधानानुरोधिसन्ध्यात्रयानुबन्धिमेध्यसंशोधितप्राज्यसान्नाय्यपशुपुरोडाशहवनसम्वर्ध्यमानसामिधेनीसमुपधीयमानेन्धनसमिद्धवैतानवैश्वानरप्रोद्धतसुगन्धधारावलीढधरातलाधिरूढनिखिलश्रुतिसमुदायलीलाललितवपुषां, सकलाङ्गकलापसामग्रीसचिवाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासपशुसोमाख्यपञ्चविधयागशरीरसंरक्षणसम्वर्धनानुरूपसम्पादितसोमयागशतसङ्ख्याकानां लक्ष्मणभट्टमहाभागानां तनुजतया ख्यातनामधेयानां, वैश्वानरावताराणां पूज्यपादानां श्रीमद्वल्लभाचार्याणां विराजते, मूर्धन्यमणितया श्रीमद्भागवतार्थदीपस्तत्त्वार्थदीपः ।

अस्य कालनिर्णयः

कः, कदा, क्व, जन्म, मूर्तिं च लेभे ? केन, कदा, कुत्र, को वा निर्मितो ग्रन्थ इतीयं रीतिर्हूणाभिजनानाम् । वयं च कालस्य भगवच्चेष्टारूपतां मन्यमाना न प्रायशस्तन्निर्णयाय प्रयतामहे । यतः, प्रामाणिकं निखिलमपि वाङ्मयं शब्दब्रह्मत्वेनोपास्महे । यदि भवेन्मातृकोत्पन्नपदवाक्यादिकालनिर्णयस्तर्हि शक्येत वेदान्तविचारोत्पत्तिकालमपि निर्णेतुम् । तथापि वर्तते चेत्कुतूहलं पाश्चात्यशिक्षादीक्षादीक्षितानां हूणभाषाभूषाप्राप्तधीविभवानां तत्रैव परिसमाप्तसकलपुरुषार्थानां; तर्हि श्रावयिष्यामि तदपि वः, स्वविचारपरम्पराप्राप्तप्रणाड्या, न च हूणाभिजनपरम्पराप्राप्तप्रणाड्या, न वा साङ्कर्येण; श्रुतिस्मृतिषु दोषश्रुतेः । श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितवपुषां श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणानां ग्रन्थेषु चरमोऽयं ग्रन्थस्तत्त्वार्थदीपनिबन्धाख्यस्तत्प्रकाशश्चेति पुरातत्त्वगवेषणाय बद्धपरिकराणां (बद्धकण्ठचीवराणां नेकटाईबद्धानां) पाश्चात्यभाषाप्राप्तधीखण्डानां कतिपयानां मतम् ।

वस्तुतस्तु "अपञ्चीकृतरूपं हि सूत्रमात्रं हरिः स्वयम् । सुषुम्णामार्गतो व्यक्तः शब्दब्रह्म प्रकाशते" (स. नि. १५०) इतिश्रीमदाचार्यचरणोक्तेर्नामप्रपञ्चस्यापि नित्यत्वाद्वेदाख्यप्रमेयस्वीकाराच्च वेदमूलकस्य सर्वस्यापि वाङ्मयस्य नित्यतायां, नायं प्रथमोऽयं द्वितीय इत्यादिप्रकारः । व्यवहारश्चेत् ? "व्यवहारः सन्निपातो गुणानां स च लौकिकः" इत्युक्तेः सन्निपातकार्यस्य प्रामाणिकतानादरात् । न च शास्त्रीये कार्ये नामलीलात्मके तदादरो वेदैकमूलेषु सम्प्रदायेषु । रूपप्रपञ्चे हि भगवान्पञ्चात्मकः; कालः, कर्म, स्वभावश्च; माया, भगवांश्चेति । तथा नामप्रपञ्चे नापेक्ष्यते, किन्तु सूत्रमात्रमत्र कारणम् । आसन्यरूपो भगवान् नामप्रपञ्चे हेतुः । यस्याविर्भावः सुषुम्णामार्गत एव । अत एव तस्य व्यक्तस्याप्यव्यक्तत्वं शब्दब्रह्मरूपेणोररीकुर्वते समेऽपि वेदमूलकसम्प्रदायप्रवर्तकाचार्या व्यासजैमिनिप्रभृतयः । पदवाक्यादिरूपाश्च तस्यैव शब्दब्रह्मणोंऽशाः । "पञ्चाशद्वर्णरूपश्च सूक्ष्मो नित्यो निरन्तरः । सर्वतोऽन्तोऽनन्तरूपो बहुरूपः स्वभेदतः" इत्यादिश्रीमद्वल्लभार्यवाणेः । एवं च शब्दब्रह्मरूपतया प्रादुर्भूतायामाचार्यवाण्यां कालनिर्णयो न कस्यचिदप्यास्तिकस्य शोभते ।

यत्तु, शब्दोऽनित्यः, उत्पत्तिविनाशप्रतीतेः । नापि वर्णरूपो नित्यः, उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार इति प्रतीतेः । नच सोऽयं गकार इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञाबलेन तस्य नित्यत्वं शङ्कनीयम्, तदेवौषधमित्यादौ साजात्यमादाय प्रत्यभिज्ञावदत्रापि वक्तुं शक्यत्वात् । न चात्र विनिगमकाभावः, उत्पत्तिविनाशप्रतीत्योरेव मानत्वात्; तादृक्प्रतीतिभ्यां विना प्रत्यभिज्ञानादर्शनात् । अत एवैतयोः प्रत्यभिज्ञाबाध्यत्वं भ्रान्तित्वं निरस्तम् । एतयोः प्रत्यभिज्ञाबाध्यत्वकल्पनापेक्षया प्रत्यभिज्ञाया एवैतद्बाध्यत्वकल्पनायां लाघवाच्च । तस्मादनित्य एव शब्द इति नैयायिकाः प्राहुः । तत्र गुरुमतानुयिबिनः व्योमैकगुणत्वेन, भाट्टाश्च निःस्पर्शद्रव्यत्वेन नित्यत्वं शब्दमात्रस्यानुमाय सोऽयं गकार इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञान्यथानुपपत्त्या तस्याप्रयोजकत्वं निरस्यन्ति । एवञ्च, तया पूर्वापरकालीनगकारयोरभेदसिद्धावर्थबलात्तेषां नित्यत्वम् । न च गकाराद्युत्पत्तिनाशप्रतीती प्रत्यभिज्ञाया बाधिके, तयोः परम्परया गकारादिव्यञ्जकवाय्वाद्युत्पत्तिनाशविषयत्वात् । नच प्रतीत्योः साक्षाद्गकारादिगतत्वेनैवानुव्यवसायान्नैवमिति वाच्यम्, तस्य भ्रमत्वात्, प्रत्यभिज्ञया तद्बाधात् । नच गत्वादिजातिगतमेव नित्यत्वं स्वाश्रयसमवायरूपेण परम्परासम्बन्धेन गकारे भासत इति प्रत्यभिज्ञाया एव साक्षात्त्वांशे भ्रमत्वमस्तु, यद्यपि विनिगमनाविरहस्तथापि नाशोत्पत्तिविषयस्य प्रतीतिद्वयस्य भ्रमत्वकल्पनापेक्षया प्रत्यभिज्ञामात्रस्य तथात्वकल्पने लाघवादिति वाच्यम्, अभिव्यञ्जकवाय्वाद्युत्पत्तिविनाशस्योभयवादिसम्मतत्वात्, तावतैव निर्वाहे नानावर्णोत्पत्तिनाशकल्पनस्यात्यन्तगुरुत्वेन वैपरीत्यात्, व्यक्तिभेदग्रस्तत्वेन गत्वादौ जातित्वस्याशक्यवचनत्वाच्च । नापि प्रत्यभिज्ञया आकृतिविषयत्वं शक्यवचनम्, व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानाद्द्विर्गोशब्द उच्चारित इति प्रतीतेः, द्वौ गोशब्दाविति प्रत्ययाभावाच्चेति शारीरकभाष्येऽपि व्यवस्थापनात् । नच परस्परविरुद्धानां तारत्वमन्दत्वादीनामेकत्र वक्तुमशक्यत्वात्तार–तारतर–मन्द–मन्दतरादिरूपविलक्षणप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, वर्णव्यञ्जकध्वनीनां नानात्वात् । तत्तद्गततारत्वादेरेव तदा तदा तत्र भानादुपपत्तेः । वायुव्यञ्जकत्वपक्षे तु वायुना

यथाऽभिव्यज्यते तथा प्रतीयते, घटादिनाऽऽकाशवदिति तेषामेकव्यक्तिगतत्वेनाङ्गीकारेण विरोधस्यैवाभावाच्छङ्काया एवानुदयाच्च । नच ध्वनिषु तारत्वादिदर्शनाद्वर्णे च द्रव्यत्वपृथ्वीत्वयोरिव तेषां व्याप्यव्यापकभावाभावेन साङ्कर्यात्, तारत्वादीनां जातित्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, तेषामखण्डोपाधित्वोपगमेनेष्टापत्तेः । नचैवं सति ताराचारतरोऽन्य इति प्रतीतिर्न स्यादिति वाच्यम्, तादृशप्रतीतौ मानाभावात् । शिखी विनष्ट इतिवत् तत्तद्विशेषणपुरस्कारेण प्रतीत्युपपत्तेश्च । न च वर्णानां नित्यत्वे, एकसाक्षात्कारकाले अपरसाक्षात्कारापत्तिः सर्वेषां श्रोत्रसमवायस्य तुल्यत्वादिति वाच्यम्, तत्र तद्व्यञ्जकविजातीयवायुसंयोगाभावात् तदनापत्तेः, भवन्मतेऽप्युत्पादकत्वेन तस्यावश्यकत्वात् । न च विजातीयवायुसंयोगस्य कार्यतावच्छेदके कत्वविषयप्रत्यक्षत्वयोर्विनिगमनाविरहेण गौरवात् कत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे तदभावेन लाघवाच्छब्दानित्यत्वमेव ज्याय इति वाच्यम्, विप्रतिपत्तौ विनिगमनाविरहस्य दुर्वारत्वात् । विषयतासम्बन्धेन कत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकताया वक्तुं शक्यत्वाच्च । न च कत्वादेरखण्डोपाधित्वाङ्गीकारात्, जातीतरधर्मस्य च किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नस्यैवावच्छेदकत्वनियमादत्रापि किञ्चिद्धर्मविशिष्टस्यैव तस्य कार्यतावच्छेदकताया वक्तव्यत्वात् पुनर्गौरवापात इति वाच्यम्, तादृशनियमे मानाभावात् । प्रामाणिकत्वेऽप्यवच्छेदकगौरवापेक्षया नानाशब्दतदुत्पत्तिनाशानां शब्दस्य नाशं प्रति विशिष्यहेतुतायाश्च कल्पनासु भूयस्त्वेन शब्दानित्यत्वस्य कदर्यत्वात् । न च शब्दवृत्तित्वविशिष्टप्रतियोगितया नाश्यं प्रति विषयतया श्रावणत्वेन नाशकत्वमिति ध्वनिनाशस्थले क्लृप्तानुगतनाश्यनाशकभावादेव वर्णस्यापि नाशोपपत्तेर्न हेतुतान्तरकल्पनगौरवमिति वाच्यम्, अश्रूयमाणशब्दे व्यभिचारेणास्य कदर्यत्वात्, ध्वनिनित्यत्वाभ्युपगमेनोक्तनाश्यनाशकभावे मानाभावाच्च । यत्तु, शाब्दबोधं प्रति पदज्ञानं कारणम्, पदं च घोत्तरटादिरूपम् । तच्च स्वाधिकरणध्वंसाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणत्वे सति स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वरूपाव्यवहितोत्तरत्वघटितमिति वर्णनित्यत्वपक्षे न सम्भवति, सर्वेषामेव क्षणानां वर्णाधिकरणत्वात्, स्वस्वपूर्वक्षणानादाय स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणत्वेनाव्यवहितोत्तरत्वस्याप्रवेशात् । न च भवन्मतेऽपि सर्वेषां क्षणानां स्वपूर्वोत्पन्नघत्वावच्छिन्नयत्किञ्चिद्धाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वादेतदसम्भव इति वाच्यम्; अस्मन्मते तद्धत्त्वादिना निवेशेन दोषाभावादिति, तन्न; वर्णनित्यत्वपक्षेऽपि घज्ञानोत्तरज्ञानविषयत्वं तत्त्वमित्युक्तदोषाभावात् । न चाधिकज्ञानाभावप्रवेशे गौरवमिति वाच्यम्, यथा भवन्मते तत्तद्व्यक्तित्वेनैव वर्णनिवेशो, न तु घत्वादिना, असम्भवात्; तथास्मन्मतेऽपि घज्ञानादीनां तत्तद्व्यक्तित्वेनैव निवेशतः साम्येन लाघवानपायात् । अतः पुनःपुनरुत्पत्तिनाशादिकल्पनापेक्षया वर्णनित्यत्वमेव ज्याय इति । अन्ये तु, वर्णो नित्यो ध्वन्यन्यशब्दत्वात् स्फोटवदित्यनुमानं प्रयुञ्जते । वैयाकरणास्तु स्फोटाख्यमतिरिक्तं शब्दमङ्गीकृत्य तस्यैव नित्यत्वमाहुः । तदेतदन्ये न क्षमन्ते । यथोक्तमुपवर्षमतानुसारेण शारीरकभाष्ये वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः सम्भवात् स्फोटकल्पनाऽनर्थिकेति । शाबरभाष्येऽपि तथा । उचितं चैतत्; वर्णस्फोटस्थले वर्णेनैवार्थप्रतीतेः, पदादिस्फोटस्थले पूर्ववर्णगोचरसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भव्यङ्ग्यस्फोटकल्पनापेक्षया तादृशवर्णे-

नैवार्थप्रतीत्यङ्गीकारस्य लघुत्वात्, प्रत्यक्षानुरोधित्वाच्च। अनेकेषां वर्णानामेकबुद्धिविषयत्वं च पङ्क्तिवनसेनादिदृष्टान्तेन तत्रैव व्युत्पादितम्। एवञ्च, क्रमविशेषविशिष्टा वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयाः पदं स्युरिति तत्तत्पदव्यवस्थया वृद्धव्यवहारादिना तत्तत्पदेभ्यस्तत्तत्पदावबोध इति च। आचार्यैस्तु न स्फोटो दूषितो न वा प्रसाधितः। दशमस्कन्धे गुणप्रकरणे वसुदेवस्तुतौ "दिशः खं स्फोट आश्रयः" इत्यत्रोक्तत्वेनानुमत एव। अयं च वैयाकरणाद्भिन्नः; वाग्व्यञ्जकत्वेन वर्णाद्यव्यङ्ग्यत्वात्, अस्य शास्त्रस्य कल्पनाशास्त्रत्वाभावेन शब्दैकशरणत्वात्, सिद्धे वर्णनित्यत्वे इन्द्रियदेवतावत् तस्याप्यादरणौचित्याद्वृत्तिनिरोधे तस्य प्रत्यक्षीभावाच्चेति। सिद्धान्ते त्वेतावान् विशेषः, रूपसृष्टिमध्यपातिनो ध्वनेर्घटादिवच्चिरकालस्थायित्वात् तस्य वायुनाऽन्यत्र नयनमेव। तच्च प्रस्थानरत्नाकरे पण्डितपुरन्दरैः श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैः सूपपादितं व्याख्यातं च मया तस्य किरणावल्याख्यटीकायाम्; विस्तरभिया तन्नोट्टङ्कितमत्र। वर्णस्य तु कण्ठताल्वादिस्थानाभिघातजन्यो वायुः स्वबलानुसारेण व्यञ्जनं करोति। ततो व्यापकं वर्णं व्यञ्जयन्नेव बहिर्वायूढो गच्छति; श्रवणं तु ध्वनिवदेव, तत्र वर्णस्य पुरोदीरितरीत्या नित्यत्वे सिद्धे प्रत्यभिज्ञाया वर्णाभिव्यञ्जकानन्तर्यसापेक्षतया तादृशप्रतीत्याऽऽनन्तर्यानपेक्षित्वेऽपि अभिव्यञ्जकप्रतीतेः। सामग्र्यन्तरेण स्थूलरूपतिरोधानादानन्तर्ये तदपेक्षाभिमानात्। तत्क्षणप्रज्वालितदीपनाशोत्तरं सोऽयं सर्प इति प्रत्यभिज्ञानवदव्यवहितोत्तरत्वलक्षणे ध्वंसस्थले तिरोभावपदेनाभिलापः कार्य इति। शेषं त्वनुगुणमेव।

प्रकृतमनुसरामः, श्रीमदाचार्यचरणोदितस्य शास्त्रस्य वेदमूलकत्वाच्छ्रीमदाचार्यस्य च भगवन्मुखावतारत्वात्तदुदीरितस्यापि नित्यत्वाद्वेदरूपत्वाच्च, नामसृष्टेः कालादिकारणत्वाभावाच्चेति न तत्कालनिर्णयः शक्यः। किन्तु, अपेक्षावशादध्ययनाध्यापनादिषु प्रवेशनरीत्या व्युत्पित्सुजनबुद्धेर्ग्रहणधारणशक्तिं च निरीक्ष्य कञ्चन ग्रन्थं प्रागेवाध्यापयामः कञ्चन च पश्चात् सावित्राग्नेयादिवेदभागस्य व्रतानुरूपस्येवात्र पौर्वापर्याभावात्; व्युत्पित्सूनामधिकारेणैव तन्निर्णयात्। अध्ययनाध्यापनप्रयुक्तेषु वेद—वेदाङ्ग—उपाङ्गादि—क्रमस्तु परम्परया प्रचलित एव। पूर्वकाण्डानुबन्धिनो ग्रन्थान् पूर्वकाण्डविचारावसरे, उत्तरकाण्डानुबन्धिनश्चोत्तरकाण्डविचारावसरे पाठयामः। येन शब्दब्रह्मोपास्तिर्यथाधिकारं भवेदिति। स एव हि क्रमो नामलीलायाम्। यथाधिकारं नामलीलाविज्ञाने सञ्जाते सत्सङ्गेन गुरुकृपया च स्वरूपासक्तिरिति। अथवा यथाधिकारं स्वरूपानुरक्तिर्नामानुरक्तिः, उभयं वा। अतो ये केचन अक्षरराशिरूपमेव ग्रन्थमिमं पश्यन्ति, न ते पुष्टिमार्गीया वैदिका वा। प्रागुक्तविधया भगवद्रूपत्वेनैव शब्दस्य वेदरूपस्यावगतेः। अस्ति चात्र परम्परा श्रीसुबोधिन्यादिग्रन्थानां भगवद्रूपतयाऽऽचार्यरूपतया वा सेवनमिति। समादृते च कालनिर्णयप्रयत्ने, कृतकत्वात् मनुष्यदोषसम्भावनायां सर्वत्र दोषबुद्धेरवतरणाच्च श्रीमदाचार्यवचसां वेदपुराणादिवत्पूज्यताभङ्गप्रसक्तेश्च। "पुराणं वेदवत्पूर्वसिद्ध"मित्याचार्यचरणोक्त्या सर्वज्ञानां भगवदवताराणां यावन्ति वचांसि, तावन्ति तत्तदानुपूर्व्या पूर्वसिद्धान्येव। अन्यथा आचार्याणां नित्यसार्वज्ञ्यभङ्गापत्तेः। अथाचार्येष्वपि तत्तच्छ्रुतिव्याख्यानेषु मतभेदोऽनपहरणीय एवेति चेद्ब्रूमः? तत्तदधिकारभेदात्, अवतारकार्यादिवदिति

गृहाण । ननु तत्तद्ग्रन्थेषु—"इत्युक्तं प्राक् अमुकग्रन्थे" "इत्यभिधास्ये अमुकव्याख्याने" "इदं व्याख्यायेदं व्याख्यास्यते" इत्यादिप्रकारेण लेखदर्शनात्कालनिर्णयस्त्वनिच्छतोऽप्यापतेदेवेति चेत्, तत्रापेक्षादिवशाद्भगवदवतारादिनित्यत्ववदेव व्यवस्थोचिता । ननु तत्तद्ग्रन्थाविर्भावकाल एव निर्णेष्यत इति चेत्, तदपि न; आविर्भावतिरोभावयोर्नित्यत्वात्, तत्राप्यपेक्षाकृततत्तदधिकाराधिकृतनियमादेव व्यवस्थेति दिक् ।

ननु तथापि प्रहिलतया, भगवद्भक्तैः सूरदासादिभिः १५३५ मिते वैक्रमाब्दे श्रीमदाचार्यचरणानां प्रादुर्भावो जेगीयते यथा, तथा तदुक्तवचसामपि तदनुरोधेन कालनिर्णयो नाशक्यवचन इति चेद्ब्रवीषि ? तर्हि धिङ्मूढ ! नैतावदपि विजानासि, यत्तेषामेवाचार्यचरणसाक्षात्कारादिसमयः स इति । अन्यथा द्वापरान्ते समुद्भूतस्य "अथ काल उपावृत्ते" इत्यादिभागवतोक्तेर्भगवत्कालस्यापि तथात्वापत्तेर्लीलानित्यत्ववादः, सततं बालभावादिना सेवा, सततं तेषु तेषु निकुञ्जेषु भगवतो तद्भक्तानां च विहरणमित्यादिकं सर्वमपि विरुद्धमापद्येत । तत्र स्वरूपलीलानित्यताया स्वीकृतत्वादिति चेदत्रापि नामलीलानित्यताया अपि तथा । ननु सुबोधिन्यां तथा स्वीक्रियते, किन्तु निबन्धादेस्तु केवलप्रमाणरूपतया वादिनिराकरणायैव तदुपयोगाच्च नाङ्गीक्रियते भगवद्रूपत्वमिति चेद्ब्रूषे, तर्हि श्रीहरिरायचरणोदीरितेषु वच्चकेषु तवाप्यन्तर्भावं मन्यस्व । निबन्धस्य श्रीभागवतरहस्याववोधनतयैव श्रीमदाचार्यचरणैरभिहितत्वात्, सप्तधार्थस्यैकार्थतयाऽविरोधेन विज्ञाने निबन्धस्याप्यभ्यर्हितत्वाच्च, "निबन्धेऽस्ति चतुष्टयमि"ति निबन्धस्यार्थचतुष्टयरूपत्वाच्च, शास्त्रार्थसर्वनिर्णययोर्भागवतार्थोपकारकत्वाच्च, "सर्वोद्धारप्रयत्नात्मे"त्यारभ्य "तस्यापि तत्त्वं येने"त्युक्त्वा "अग्निश्चकारे"ति श्रीमदाचार्यचरणोदीरितवाक्येभ्यः श्रीकृष्णस्य सर्वोद्धारप्रयत्नात्मसिद्ध्यर्थं भगवानेव व्यासरूपेण भागवतं जगाद, भागवतमपि 'सर्वेषां सुखदायकम्' यथा संसिध्येत्तदर्थं श्रीमदग्निस्तत्त्वार्थदीपं चकार, 'तच्चापि येन संसिध्येत्' तदर्थं प्रकाशश्चेति । एवंच भगवान्—भागवतं—भागवतार्थश्चेति सर्वस्यापि भगवद्रूपता कण्ठरवेणाभिहिता श्रीमदाचार्यचरणैः ।

अत्रेदं तत्त्वम्—आवरणभङ्गे, 'अत्राग्निपदेन वाक्पतिरूपतया सामर्थ्यं प्रथमसुबोधिनीस्थप्रतिज्ञावाक्योक्तं स्वावतारप्रयोजनं च सूचित'मिति श्रीपुरुषोत्तमचरणाः[1] । युक्तं चैतत् "वाचां वह्निर्मुखं क्षेत्र"मित्यादिवचनेभ्यः । नामान्तराणि हित्वा अगिगतावित्यतो निष्पन्नाग्निशब्दस्योपादानाच्च । तस्माद्व्यासवदवतरणम् । अत्र योजनायां 'श्रीकृष्णश्रीभागवतयोराविर्भावोऽवतारानवतारदशाभेदेन भक्तोद्धारार्थः, श्रीभागवतार्थबोधनाय तत्त्वार्थदीपाविर्भावस्तत्त्वार्थदीपार्थबोधाय व्याख्याग्रन्थ इति सर्वेषामाविर्भावप्रयोजनमि'ति लालूभट्टाः । तथा च परम्परया जीवोद्धारोऽस्य फलम् । यथा भगवता व्यासपादा आज्ञापितास्तथाऽहमपीत्याज्ञारूपा च सङ्गतिरिति । एवं च भागवतार्थत्वादेव भगवद्रूपत्वान्नास्य कालनिर्णय आवश्यकः ।

अथैतिह्ये कृतमतित्वादेव तदर्थं प्रयत्यते "श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयमि"ति तृतीयप्रमाणपरिगणितत्वादैतिह्यस्येति चेत्, भावनिष्पन्नं प्रमाणशब्दमादाय भगवत इव

---

१. श्रीमदाचार्यचरणः ।

तस्यापि दशविधलीलारूपस्य समर्थितत्वात्तृतीयसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यचरणैः श्रीमत्पण्डित-पुरन्दरैः पुरुषोत्तमचरणैश्च प्रस्थानरत्नाकरेऽपीति दिक् । अथ प्रमेयरूपतामापद्यैतिह्येन तथा साधयितुं प्रवृत्तिश्चेच्छृणु, प्रमेयस्य भगवद्रूपतया श्रुत्यैव तदवबोधे तृतीयप्रमाणस्याकिञ्चित्करत्वात् । ऐतिह्येन शब्दस्याबाधाच्चेति । तथा हि—"आचार्यवान् पुरुषो वेद", "आचार्याद्देवाधीता विद्या साधिष्ठं प्रापयति", "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः", "आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्, न मर्त्यबुद्ध्या सूयेत सर्वदेवमयो गुरुः", "आचार्यो भगवान् विष्णुः", "मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात्परशिवो गुरुः" "विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रहे"त्यादिभिः परःशतैः श्रुतिभागवतागमादिवचनैः, श्रुतिरहस्येऽपि आचार्यस्य साक्षाद्भगवद्रूपत्वे सिद्धे, श्रीमदाचार्यचरणैश्च प्रतिपदं स्वावतारप्रयोजनभगवदाज्ञाश्रुतिमूलकत्वाद्यभिहिते, ऐतिह्येन तद्वचसां प्रामाण्यनिर्णयस्यानावश्यकत्वात् । यदि तव हूणाभिजनपरम्पराप्राप्तश्रद्धया प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्णये ऐतिह्याश्रयणे मनीषा चेत्, अनार्योऽयं प्रयासः । यतो हूणाभिजनानां सर्वत्रापि परिवर्तनप्रयत्नवतामैतिह्यमेवावलम्बनम् । तन्मते श्रुतेरपि प्रामाण्यस्यैतिह्यावलम्बित्वात्, ऐतिह्येन श्रुतिबाधाच्च । मनुनाऽयं धर्मोऽनेन प्रकारेणोक्तो याज्ञवल्क्येन च प्रकारान्तरेणेति मनुसमयानुष्ठितस्य याज्ञवल्क्यसमये परिवर्तनमेवमधुनाऽपि नूतनस्मृतिप्रणयनेन धर्मः परिवर्तनीय इत्यादि कुत्सितेन प्रयत्नेनानार्याणामेव पन्थानमनुसरसि । अस्य मतस्यापि समीक्षाऽन्यत्र कृता, बहुभिर्विद्वद्भिस्तत्खण्डनं च निपुणतया कृतमेव । आचार्यचरणैरपि स्मृतिप्रामाण्यप्रकरणे स्वमतं प्रतिपादितम् । मयाऽपि सर्वनिर्णयप्रस्तावनायां प्रतिपिपादयिषत्वात् ।

अथ, भवदुक्तवचनान्यपि परीक्ष्यन्ते—चकारान्मीमांसाद्वयभाष्यं, प्रकरणानि, भागवतटीका च गृहीता" इति प्रकाशवाक्येन श्रीमदाचार्यचरणप्रोक्तग्रन्थेषु चरमोऽयं ग्रन्थ इति नु भवतामभिमतम्? नैतद्विचारचारु, तथाहि—"मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः" इत्यनेन शास्त्रस्य, उपास्यस्य, सरणस्य, कर्तव्यस्य च भगवत्कृतनिर्धारं स्वयं ज्ञात्वा, लोकज्ञापनार्थं शास्त्रं कथयन्तो भगवत्पूज्यपादा वागधीशाः, शास्त्रार्थादिप्रकरणत्रयकथनं प्रतिजानते, तथैव मीमांसाद्वयभाष्यादिरूपणमपि । अत्रायमभिसन्धिः—शब्दैकप्रमाणे सम्प्रदायेऽस्मिन् वेद एव प्रमाणम् । तदर्थश्च, गीता—पूर्वोत्तरमीमांसा—श्रीमद्भागवताद्यविरोधेनैवावगन्तव्यः । तत्रापि भगवन्मार्गे श्रीमद्भागवतमेव निर्णायकम् । श्रीमद्भागवतं च भगवत्स्वरूपाभिन्नमिति "सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह । तथात्वं येन संसिध्येत्तदर्थं व्यास उक्तवान्" इत्यादिवाक्यैः सिद्धान्तिम् । श्रीमद्भागवतमेव वेदार्थः । तदेव व्याख्यातुं प्रवृत्ताः श्रीमद्भगवत्पूज्यपादाः श्रीवल्लभाचार्याः । "श्रीभागवतमत्यन्तं सर्वेषां सुखदायकम्[1] । तस्यापि तत्त्वं येनैव सिध्येदिति विचार्य हि । अग्निश्चकार[2] तत्त्वार्थदीपं भागवते महत्" इत्युक्तेः । श्रीमद्भागवतव्याख्याने स्वोक्तप्रकारेण प्रवेशाय तत्त्वार्थदीपनिबन्धः । तत्र यथा ग्रन्थान्तर्भूतशास्त्रार्थादिप्रकरणत्रयमुपकारकं तथैव ग्रन्थबहिर्भूतानि मीमांसाभाष्यद्वयभागव-

१. सुखदायकत्वम् । २. वैश्वानरावतारः श्रीवल्लभाचार्यः ।

तट्टीकादिव्याख्यानान्यप्युपकारकाण्येवेति । तथा च निखिलेनापि वाङ्मयेन, श्रीकृष्णस्य सर्वोद्धारप्रयत्नात्मत्वमेव निगद्यते, तत्र प्रमाणं च भागवतं सर्वेषां सुखदायकम्—प्रमाण—प्रमेय—साधन—फलैरिति, तदेतन्निखिलमपि मयाऽस्मिना भगवदाज्ञानुरोधिना तत्त्वार्थदीपमुखेन व्याक्रियत इति निगूढाशयः । एवं च मीमांसाद्वितयभाष्येण भागवतार्थावबोध उपक्रियते, स्वोक्तप्रकारेण निखिलार्थावगमे च तत्त्वदीपनिबन्ध उपकारकः । तथा च क्रमोपनिबन्धने सात्त्विकत्व—भगवद्भक्तत्व—मुक्त्यधिकारित्व—भवान्तसम्भवत्वादिगुणगरिष्ठेऽधिकारिणि, पुष्टिमार्गावबुबुधिषायां सञ्जातायां सत्यां प्रपत्तिपूर्वकं गुरुशरणं प्राप्तस्य, उपनयनेन वेदव्रतान्यनुष्ठाय वेदवेदाङ्गादिपुरःसरं पूर्वोत्तरकाण्डविचारान्तं समधीतसकलाध्येयकलापस्य, तत्त्वार्थदीपनिबन्धोपदेशः । एवं च प्राथमिकत्वं चरमत्वं चास्य यथाधिकारं यथापेक्षं स्वोपदेष्टुर्गुरोरभिमतमेवोररीकरणीयम् । ननु अस्माभिर्नाध्ययनक्रमेण नवोपदेशक्रमेण प्रथमत्वं चरमत्वं वा निर्णीयते, प्रत्युत श्रीवल्लभाचार्याणां ग्रन्थविरचनक्रमेणेति चेत्, अज्ञोऽसि; अनार्याणां विल्सन्—एल्फिन्स्टन्—प्रभृतीनामविद्यामयमनोनिर्माणयन्त्रालयेषु—विद्यालयेषु, यन्त्रितस्य शिक्षितस्य ते मतिभ्रंश एवायम्—अपौरुषेयेषु शास्त्रेषु अध्ययनक्रमस्यैवाङ्गीकारात्, विरचनकल्पनाया अनादरणीयत्वाच्च । उपनीतस्य त्रैवर्णिकस्य वेदव्रतानुष्ठानपूर्वकमधीयानस्यैव निर्मलचित्ततया अपौरुषेयशास्त्रेषु समादरः, न तु वर्णपरिभ्रष्टस्य हूणभाषावेशाचाराबलब्धवर्णस्य त्वादृशस्य, नलिकाजलस्य क्वथनेन भगवत्सेवोपयोगितां ब्रुवाणस्य च ते । ननु ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवगतदोषनिवर्तनश्रवणान्ममापि गदाधरगुलाबदासादिदृष्टान्तानुरोधादुपनयनादिना विनैवाधिकारसिद्धेरिति चेत्, तदपि न रमणीयम्; वर्णधर्मजातिधर्माद्यबाधात्, श्रीमत्प्रभुचरणैर्गवाक्षादिद्वारा त्वदभिमतवैष्णवानां दर्शननियमनवर्णनात्, गदाधरगुलाबदासयोः साक्षादङ्गीकारादेश्च दर्शनात्, तयोरपि पङ्क्तिबाधकत्वापनोदनाभावात्साक्षाच्छुत्यादिविचारणायामनर्हत्वदर्शनाच्चेत्यलमप्रकृतविचारणयाऽनया ।

प्रकृतमनुसरामः, सम्प्रदायानुगश्चाध्ययनक्रमः, प्रथमं निबन्धाध्ययनम्, ततः प्रकरणग्रन्थानाम्, तदनन्तरं विद्वन्मण्डनस्य, तदनन्तरं भाष्यस्य, तदनन्तरं च श्रीसुबोधिन्याः । परमत्रापि शिष्यबुद्धिरेव कारणम् । यथा कश्चन षोडशग्रन्थानधीत्य निबन्धमध्येति ततो भाष्यं ततश्च वादग्रन्थान् । परमिदं हि सर्वथा निर्विवादम्, यत् निबन्धभाष्ययोरध्ययनानन्तरमेव सुबोधिनीप्रवेश इति । एवं च अध्ययनविधिप्राप्तं वेदाध्ययनं समाप्य विचारशास्त्रेणासम्भावनाविपरीतभावनानिवृत्तिपूर्वकं प्रमेयमधिगत्य, प्रकरणैः, अवान्तरोपकारकैश्च ग्रन्थैः प्रक्रियां चाधिगम्य, साधनफलयोरधिगमाय श्रीभागवतारम्भ इति । इदं निखिलमपि गुरूपसत्तिपूर्वकाध्ययनक्रमेणैव सम्भवति । ननु मार्गोपदेशिकामात्रज्ञानेन कृतार्थतां मन्वानस्य यौरोपीयभाषाभूषापाण्डित्येन लब्धसकलपाविण्यस्य । अयमस्मात्पुरातनः, अयं चाधुनिकः, इदं मौलिकम्, इदं च प्रक्षिप्तम्, इदं वास्तविकम्, इदं च परिवर्तनार्हमित्यादि तेषामेव शोभते, ये हि ग्रन्थग्रन्थिविश्लेषणे क्लान्तधियः । सम्यगेवोक्तमभियुक्तेन—अब्धिर्लङ्घित एवेत्यादि ।

निश्चप्रचमेवेदं यदत्रभवन्तो भगवत्पूज्यपादाः श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः श्रीभागवतव्याख्यान एव

प्रवृत्ताः, तस्यैव वेदरहस्यार्थत्वादिति । अयमभिसन्धिः "श्रीभागवतरूपं च" इत्यत्र चकारेणैव स्फोरितः । भवत्वयं तत्त्वार्थदीपनिबन्धः प्रथमो वा चरमो वा माध्यमिको वा, परमिदं सुनिश्चितमेव, यत्, तदवबोधादृते सुबोधिनीसिद्धान्तावगमो गगनकुसुमसदृश एवेति । लोकवेदातीतत्वमस्य सम्प्रदायस्य स्वीकुर्वद्भिः "अतीत"शब्दस्वारस्यमुज्झित्वा लोकं च क्रोडीकृत्य वेदातिक्रम एवाद्रियत इति । तेन वर्णाश्रमविरोधः, वणिक्पाचिते पाके ब्राह्मणवंशसमुद्भवस्यापि भोजनम्, विंशतिवर्षवयस्कानामपि कुमारीणामविवाहः, "पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः" इत्यत्र "पुत्रे वेचलरे रतिः" मास्टरे—डाक्टरे -बारिस्टरे इत्येवमादिव्यवहारः प्रचलति; कृतेऽपि केनचन वर्णाश्रमादिसमर्थने, स च गोस्वामिवंशसमुद्भवो वा स्यात्, पण्डितो वा, तेन पुष्टिमार्गो न ज्ञायत इत्यादयः प्रलापाः प्रकाश्यन्ते वर्तमानपत्रादिषु । अयं हि कलेरेव प्रतापः ।

ग्रन्थनामधेयं तत्प्रामाण्यं च

वस्तुतस्तु, तत्त्वार्थदीपनिबन्धोऽयं शुद्धाद्वैतब्रह्मवादमन्दिरे दीप इवोपकरोति, प्रकाशश्च प्रकाशयति प्रमेयजातम्, आवरणभङ्गोऽपि निरावरणं करोति प्रमेयमात्रम् । तेन करतलामलकवत्परमतत्त्वं प्रादर्शि पूज्यपादैरित्यविवादम् । मनुष्यकृतितया नास्य प्रामाण्यमपि तु भगवद्वाणितया, वेदमूलकतयैवेत्यसकृदवोचाम । भागवतार्थप्रकटनायैवाचार्यावतारः, यथा भागवतावतारणाय व्यासपादानाम् । तदेव "अग्निश्चकार" "अर्थं तस्य विवेचितुं न हि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पतेरन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः । दत्त्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यत्सादतोऽहं मुदा गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम्" इत्यादिना प्रकटीकृतम् । भगवदाज्ञयैव वागभिष्ठात्र्या देवतया व्याख्यायते भागवतम् । तदपि व्यासो यथा भगवल्लीलां समाधावनुभूय सन्देशवदक्षरशोऽनुवदति, तथैव पूज्यपादा अपि तदर्थमाविर्भावयन्ति श्रुतिसूत्रादिसमुपबृंहणेन । अतो वेदादिप्रमाणवदक्षरमात्रमपि नान्यथा श्रीमदाचार्यचरणोक्तिषु । भागवते परमतभाषाया लौकिकभाषायाश्च प्रसङ्गवशेनोक्तिस्तथैव भगवत्पूज्यपादानामुक्तिषु परमतनिरासादिकं सिद्धान्तस्फोरणायान्यथाज्ञानविपरीतज्ञानादिनिरसनायैवेति च प्रथमस्कन्धसुबोधिनीभाष्यादिपरिशीलनपटीयसां विपश्चिदपश्चिमानां नास्ति तिरोहितम् । अतोऽनादिसिद्धानां वेदानामिव प्रामाण्यं भगवत्पूज्यपादानामुक्तीनामपि, भगवन्मार्गनिष्ठानां वैष्णवानामस्माकम् । तत्रापि यथा तापाच्छेदान्निकषाच्च यथा सुवर्णं परीक्ष्यते, तथैव श्रीमदाचार्यचरणोक्तानां वाक्यानां वेदमूलकत्वाद्व्यासजैमिन्यादिप्रदर्शितेनैव पथा वेदार्थविचारकत्वाद्वेदार्थरूपश्रीमद्भागवतानुवादकत्वाच्च प्रामाण्यं लेशतोऽपि न तिरोहितम् ।

शास्त्रार्थो गीतार्थः

सन्ति चात्र तत्त्वार्थदीपनिबन्धे (१) शास्त्रार्थः, (२) सर्वनिर्णयः, (३) भागवतार्थश्चेति त्रीणि प्रकरणानि । शास्त्रार्थ एव गीतार्थः । वक्ष्यते चात्रैव शास्त्रार्थप्रकरणस्य गीतार्थेन समन्वयः । यद्यपि भागवतार्थप्रकरणमिव आनुपूर्वीविचारो गीतायाः, तत्तत्प्रकरणविचारो वा, शास्त्रार्थप्रकरणे न दृश्यते, तथापि गीतासङ्क्षेपतया तदर्थस्तु विचारित एव । गीतोक्तानां प्रमेयानां

प्रायः सर्वेषामेव विचारः सामञ्जस्येन सामस्त्येन च शास्त्रार्थप्रकरणे वर्तत एवेति । किञ्च, "एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्", "इत्याकलय्य सततं शास्त्रार्थः सर्वनिर्णयः । श्रीभागवतरूपं च त्रयं वच्मि यथाक्रमम्" इति वाक्यद्वयेनात्र शास्त्रार्थशब्देन गीतार्थस्यैवोक्तत्वात् । अत्र "एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्" इति वाक्योक्तशास्त्रशब्देनैव शास्त्रार्थो गीतार्थ इत्यभिहितम् । वस्तुतस्तु शास्त्रशब्दः शाब्दप्रमाणबोधक एव । अनधिगतार्थगन्तृतया शाब्दस्य प्रमाणस्य शास्त्रशब्देनाभिधानात् । यत्तु "यच्छास्ति वः क्लेशरिपूनशेषान् सन्त्रायते दुर्गतितो भवाच्चे"ति शास्त्रशब्दनिरुक्त्या शासनात्त्राणगुणाच्च शासनत्वशक्ततावच्छेदकतया प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपप्रभुसम्मितवचनरूपत्वमेव शास्त्रत्वमिति नागार्जुनोक्तलक्षणमिदं तन्मतेऽव्याप्तमितरमते चातिव्याप्तम्, तन्मते वैधाध्ययनाभावादध्ययनेन पुण्यप्राप्त्यभावादितरमते च तत्सत्त्वात्, तथापि नैतदस्ति विशेषतोऽर्थतो विरुद्धमाचार्यमतात् । तथा चाहुर्भट्टपादाः—

"प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥" इति (श्लो. वा.)
"चोदना चोपदेशश्च शास्त्रमेवेत्युदाहृतम्" इति च (श्लो. वा.)

एवं च प्रवृत्तिनिवृत्तिविधायकं तदुपदेशकं च शास्त्रमेव । अथवा शाब्दज्ञानविषयत्वं शास्त्रलक्षणम् । अत एव "शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्" इति पुराविदां वाचः । तथाच पूर्वकाण्डे प्रवृत्तिनिवृत्ती बोध्येते, उत्तरकाण्डे च सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वकं परमानन्दावाप्तिरुपदिश्यते । शास्तीति राजाज्ञावत्तदतिक्रमेऽपराधः । इह श्रीकृष्णाख्यपरमतत्त्वविज्ञाने गीताशास्त्रं प्रमाणम् । गीतार्थः शास्त्रार्थः । यद्यपि शास्त्रार्थप्रकरणेन गीतां व्याख्यातुं न प्रवर्तन्ते श्रीमदाचार्यचरणाः, तथापि गीतोदितानां प्रायः सर्वेषामपि विषयाणां सत्—चित्—अन्तर्यामीति विभागत्रयेण अवान्तरप्रकरणत्रयेण सर्वोऽपि गीतार्थः शास्त्रार्थप्रकरणे सङ्गृहीत एव । अत्र शास्त्रार्थप्रकरणे गीतोक्ता विषयास्त्विमे—

विषयः	श्लोकः
१ जडस्वरूपप्रतिपादनम्	२३
२ अविद्यास्वरूपम्	२४
३ व्यापकमपि ब्रह्म सविशेषम्	२५
४ जडजीवयोर्विस्फुलिङ्गन्यायेन ब्रह्मांशता	२८
५ जडजीवान्तर्यामिणः	३०
६ विद्याऽविद्ययोर्मायाकृतित्वेऽपि भगवच्छक्तिता	३१
७ अविद्यायाः पञ्च पर्वाणि, जीवन्मुक्तस्वरूपं च	३३
८ ब्रह्मभावाल्लयः	३५
९ ब्रह्मभावप्रकारः	३६
१० नानाविधसृष्टिप्रकाराः	३७
११ मायासृष्टिः	३८

एवमस्मिन् शास्त्रार्थप्रकरणे प्रायः सर्वेषामपि गीतोक्तविवेच्यविषयाणां भवति समावेशः। साङ्ख्योक्ततत्त्वानां लक्षणादिपुरःसरं विवेचना चेति, योगः, अक्षरम्, कालः, कर्म, स्वभावः, इत्यादीनि तन्त्रान्तरेण सम्बद्धानीति, तेषां विचारः सर्वनिर्णयप्रकरणे।

यद्यपि गीतार्थ एव शास्त्रार्थः, तथाप्ययं स्वतन्त्र एव निबन्धः। नतु व्याख्याग्रन्थः; अतः शास्त्रार्थप्रकरणे प्रतिपादितः सिद्धान्तः वेदवाक्यैः, रामायणैः, पञ्चरात्रैः, अन्यैश्च शास्त्रवचनैरेव निर्णीतः। तथाचोक्तं शास्त्रार्थप्रकरणसमाप्तौ—

"अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्वसूत्रैर्निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव" ॥

एवं च शास्त्रार्थे गीतार्थस्फोरणादेव शास्त्रार्थ एव गीतार्थः; तथापि रामायणभारतपाञ्चरात्रादिना निर्णीतार्थत्वादेवेदं न गीतार्थप्रकरणमपि तु शास्त्रार्थप्रकरणम् । अथवा भागवतार्थप्रकटनाय तत्त्वदीपाविर्भावः, अतो भागवतमेव शास्त्रमिति । तस्य च येन विचारपरिकरेण निर्णीतोऽर्थः, स एव प्रधानतया यस्मिन् प्रकरणे, तदेव शास्त्रार्थप्रकरणमित्यवगन्तव्यम् । अत्रेदमवधेयम्—गीतार्थव्याजेन वेदरामायणभारतपञ्चरात्रशास्त्राण्यन्यानि साधकबाधकतयोपलभ्यमानानि शास्त्रवचांसि तत्त्वसूत्रैः—तत्त्वसूत्रानुसारेण विचारेण—निर्णीयते शास्त्रार्थ प्रकरण इति । एवं च निखिलस्यापि शास्त्रस्यार्थः शास्त्रार्थप्रकरणे सङ्गृहीतः, अतः शास्त्रार्थप्रकरणमिति युक्तिसङ्गतमेव प्रकरणाभिधानम् । अतः सर्वाण्यपि सच्छास्त्राणि निबन्धेनानेन निर्णीयन्ते । तदेतत्सर्वनिर्णये स्फुटमेव ।

प्रमाण—प्रमेयनिर्णयः

भगवतः श्रीकृष्णस्य प्रमाणबलमाश्रित्य शास्त्रार्थो निर्णीतः, प्रमेयबलमाश्रित्य सर्वनिर्णयप्रकरणं विरचितमिति स्वमुखनलिनेनैव प्राहुः श्रीमदाचार्यचरणाः । प्रमाणप्रमेयशब्दौ शास्त्रीयौ विशिष्टमेवार्थं बोधयतः । प्रमाणशब्दः प्रमायाः—ज्ञानस्य—करणतां,प्रमेयशब्दश्च प्रमाणसिद्धमर्थं च द्योतयतः । यत्तु; केचन निर्बन्धद्योतकतया प्रमाणशब्दमनिर्बन्धद्योतकतया च प्रमेयशब्दमुपयुञ्जन्ति, अनिर्बन्धत्वमेव प्रमेयत्वमिति सम्प्रदायेऽस्मिन् परिभाषन्ते च, तत्सम्प्रदायस्वारस्याज्ञानविजृम्भितमेव । प्रमाणरूपश्च भगवान् भावव्युत्पन्नेन प्रमाणशब्देन दशविधलीलाविशिष्टः, करणव्युत्पन्नेन लीलापरिकररूपतयेति ज्ञेयम् । एवमेव प्रमेयमपि तादृगेवेति न तिरोहितं प्रमेयरत्नाकर—प्राभञ्जन—मारुतशक्ति—भाष्य—सुबोधिनीविदाम् । कानिचनेतस्ततो विप्रकीर्णानि वचनामृतानि—शास्त्रवाक्यानि वा सङ्गृह्य महदिति—पदवाच्यैः, "उद्भिदा यजेत पशुकामः" इत्यत्र "वृक्ष करीने होम (यजन) करे" इत्यादिप्रकारेण स्वस्य अव्युत्पन्नत्वं प्रदर्शयता चामोदात्मना प्रमाण—प्रमेयादिशास्त्रीयानां पदानां निरुक्तिर्न ज्ञायेतेत्यत्र नाश्चर्यावसरः । परमेतदग्राह्यमेव सद्भिः, यतः स्वरूपसेवायामनार्याचारभूषाभाषादिसंसर्गेणाशुचित्वमेवमेव शास्त्रविचाररूपनामसेवायामपि "नायज्ञियां वाचं वदेत्" "म्लेच्छो ह वै यदपशब्दः" इत्यादिश्रुतिवाक्येन महाभाष्यकारवाक्येन च प्रत्यवायदर्शनादशुचित्वमेव । अतो नित्याशौचिनां वाक्येष्वनादर एवेति शम् । प्रकृते, प्रमाणं नाम शास्त्रम्, प्रमेयं च शास्त्रबोधितं तत्त्वमिति शुद्धाद्वैतसिद्धान्ते सर्वथाऽविरुद्ध एवार्थः । परमत्रायं विशेषस्तन्त्रान्तरात्—प्रमाणप्रमेयशब्दावुभावपि भगवत्स्वरूपावबोधकाविति । भावव्युत्पत्त्या प्रमितिरेव प्रमाणमित्यर्थो यदा गृह्यते तदा प्रमितिरूपा सम्विद्वा चितिशक्तिर्वा भगवत्स्वरूपं दशविधलीलाविशिष्टं शाब्दमर्यादया । यदायमर्थो ग्राह्यस्तदा "साक्षात्कारि प्रमाणम्" इति लक्षणेन साक्षात्कारित्वरूपो भगवान् प्रमाणपदशक्ततावच्छेदकतया गृह्यते । तादृशप्रमाणजन्या हानोपादानापेक्षादिबुद्धिस्तत्फलम् । एवमेव प्रमेयशब्दो भगवत्सामर्थ्यबोधक इति सङ्क्षेपः । विस्तरस्तु प्रस्थानरत्नाकरे मत्कृतकिरणावल्यां द्रष्टव्यः । इहाप्यग्रे प्रसङ्गोचितो विचारः प्रामाण्यनिर्णये भविष्यतीति । एवमेव प्रमेयविवेचनं "प्रमेयं हरिरेवैकम्" इत्यादिवाक्यस्वारस्ये सर्वनिर्णये मयैव वक्ष्यते ।

तत्त्वार्थदीपनिबन्धस्यैतावानेव भागो वैष्णवैरादर्तव्यः, अन्यस्तु केवलं वादिनिग्रहार्थः, अतो न स भागः प्रमाणतामर्हतीति व्याख्यानेषु (लेक्चरपदवाच्येषु न तु ग्रन्थग्रन्थिविवेचनरूपेषु)

वदन्तः, कृत्या च तथैवाचरन्तः केचन मान्या धन्या इत्याद्युपाधिभाजो विचरन्ति सम्प्रदाये-ऽप्यस्मिन् । ते हि दयानन्दादिमतेषु यथा वेदप्रामाण्यं स्वीकृत्यापि वेदोदितं न मन्यन्ते, तथैव श्रीमदाचरणानामुपदेशं मत्वाऽपि तत्सिद्धान्तान् ज्ञानतोऽज्ञानतो वा (ज्ञात्वापि पाश्चात्यशिक्षाव-शात्, अज्ञात्वा तु शास्त्रमर्मज्ञानाक्षमत्वात्) तिरस्कुर्वन्ति । पक्षपातरहितेन चेतसा विचार्यते चेत्, निबन्धे प्रतिपादितस्य भगवन्मार्गस्याधिकारी भगवदनुगृहीतात्पुष्टिमार्गीयान्महाभाग्यवतो वैष्णवादतिरिक्तो नास्त्येवेति तत्र कथं लेशतो ग्राह्यत्वं लेशतश्चाग्राह्यत्वम्? वस्तुतस्तु सर्वोऽपि निबन्धो भगवदाज्ञादिवदेव, वेदादिवदेव, प्रमाणमिति तत्र ग्राह्यांशत्वाग्राह्यांशत्वादिविवेचनमासुर-भावपरिचायकमेव आचार्यवाक्याश्रद्धादिहेतोः । परमत्र पक्षपातदन्दशूकदष्टमतिरेवाक्षिसत्त्वेऽपि न पश्यतीत्यदोषः । यश्च वस्तुतत्त्वं न पश्यति तस्य सञ्जाते ब्रह्मसम्बन्धे दुःसङ्गादिप्रतिबन्धक-तया बाहिर्मुख्यं केन वार्येत? अथवा भगवदिच्छैव प्रतिबन्धिका । अन्यथा दिवानिशं सुबो-धिनीविचारमग्नानामाचार्यवाणीं विनाऽन्यवाणीतः सुदूरं स्थितवतामपि महामहामान्यानां निब-न्धोक्तवर्णाश्रमादिव्यवस्थादिषु हेयत्वबुद्धिर्नोदेयादेव । वस्तुतत्त्वमिदं सर्वनिर्णये स्मृतिप्रकरणे भक्तिप्रकरणे च विस्तरशो वक्ष्यत एव । एतर्हि यदत्र मया उचितमनुचितं वोक्तं वक्ष्यते च तदेतन्निखिलमपि परीक्ष्य ग्राह्यम्—

तापाच्छेदाच्च निकषात्सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं स्वबुद्ध्या न तु गौरवात् ॥

इति साञ्जलिबन्धं सनिर्बन्धं च प्रार्थ्यन्ते विवेकशालिनः पण्डिताः, यतो विजयन्ते श्रीमदा-चार्यचरणवाचः,

"विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः" इति ।

अनुबन्धचतुष्टयम्

प्रकृतमनुसरामः—नमो भगवत इति मङ्गलेन सविशेषनिर्विशेषलक्षणं रसात्मकं श्रीकृष्णस्व-रूपं श्रीभागवतात्मकं प्रतिपाद्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुकूलमनुबन्धचतुष्टयं च वैयासदर्शनाविरोधेन प्रदर्शि-तमेव; तथा हि—नमो योगेन जाताया भगवत इति चतुर्थ्याः स्वाहायोगेन जाताया अग्नय इत्यादि चतुर्थ्या इवोपपदविभक्तित्वेऽपि अग्नय इदं न ममेत्यादित्यागानुरोधेन यथा तत्र तादर्थ्यमर्थ आद्रि-यते, तथा च, "भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया", "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इत्यादिवाक्यानुरोधेन तादर्थ्यमर्थो ग्राह्यः । तेन भगवतः फलत्वबोधनात्प्रयोजनमुक्तम् । तेन तत्प्राप्तीच्छुः "सात्त्विका भगवद्भक्ता" इत्यादि—वक्ष्यमाणलक्षणलक्षितोऽधिकारीत्यपि लभ्यत एव । भगवतीत्यादिना (प्रकाशे) नमनकृतेः सिद्धान्तत्वप्रतिपादनात्फलरूपः साधनरूपश्च भगवत्तद्भक्त्यात्मा विषयः सिद्धः । एतेन प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धोऽपि सिध्यति । एतत्सर्वमपि मूले टीकासु च सुस्पष्टमेव । वैयासदर्शनानुरोधेन वेदात्मा श्रीकृष्णः प्रमाणरूपः, परमकाष्ठापन्नो रसात्मकः श्रीकृष्ण एव प्रमे-यम्, तच्छरणगमनमेव प्रपत्तिरूपं साधनम्, फलात्मा रसरूपः श्रीकृष्ण एव फलमिति । तथा च श्रीकृष्णस्यैव प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपत्वस्फोरणाच्छुद्धाद्वैतसिद्धान्तः श्रीमदाचार्यचरणैः प्रदर्शितः ।

प्रामाण्यविचारः

अत्र प्रमाणं शब्द एव न तु प्रत्यक्षादीनि। ननु अलौकिकस्यापि रसात्मकस्य श्रीकृष्णस्य भवदभिमतसिद्धान्तानुरोधेन सानुभवे प्रत्यक्षं भवत्येवेति कथं प्रत्याक्षादीनामावरणभङ्गे भ्रान्तत्वं प्रतिपाद्य शब्दैकप्रमाणगम्यत्वं प्रतिपाद्यत इति चेत्, न; भक्तानुभवस्य प्रमेयकक्षारूढत्वात्, लौकिकप्रत्यक्षाद्यविषयत्वेन तस्य सर्ववादिसम्मतत्वाच्च। ननु प्रमाणविवेचनात्पूर्वं प्रमाणलक्षणनिर्णय आवश्यक इति चेत्, अनधिगतार्थगन्तृत्वमेव प्रमाणत्वमिति गृहाण। अथवा प्रमितिः प्रमाणमिति भावव्युत्पत्त्येति पूर्वमेवावोचाम। प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणमिति नैयायिकलक्षणमपि नास्ति विरुद्धं करणव्युत्पत्त्या। तदेव भगवता गोतमेन महर्षिणा सूत्रितं "तद्वति तत्प्रकारत्वरूपप्रकर्षविशिष्टज्ञानकरणत्वमिति। परमत्रेदं रहस्यम्—गोतमोक्तं लक्षणमिदं निरवयवे निर्विशेषे केवले आनन्दमात्रकरपादादिमति श्रीकृष्णाख्ये प्रमये न समन्वेति, यतः, आनन्दाकारस्य प्रकारता—विशेष्यताशून्यतया निर्विशेषत्वपरतया शुद्धाद्वैतब्रह्मवादे प्रतिपादनम्, करणव्युत्पन्नप्रमाणपदप्रतिपत्तावपि तत्करणस्य देवतारूपत्वादलौकिकत्वमनाकारतयाऽऽनन्दाकारत्वमेव। न्यायमते च तथाऽभावादिति निपुणमेतत्प्रपञ्चितं पण्डितपुरन्दरैः श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैः। मयापीह वक्ष्यते मतान्तरोपन्यासोत्तरम्। तथा च प्रमाणाधीना प्रवृत्तिः, लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिरित्यादिन्यायेन तत्त्वार्थदीपनिबोधोक्तशास्त्रार्थसमालोचनात्प्राक् प्रमाणलक्षणपरीक्षणमेवावश्यकम्। वयं तु प्रमाणलक्षणं "अबाधितज्ञानम्" "बाधयोग्यव्यतिरिक्तज्ञानं" वा प्रमाणमिति भावव्युत्पत्त्या, "अबाधितज्ञानजनकत्वम्", "बाधयोग्यव्यतिरिक्तज्ञानजनकत्वं" वा प्रमाणमिति च करणव्युत्पत्त्या ब्रूमः। श्रद्दधामो वयं, यत्, नास्तिक्यनिरसनपूर्वकं साङ्ख्यन्यायवैशेषिकादीनां स्वप्रतिपाद्यप्रमेयप्रदर्शनपुरःसरं परमार्थतो वेदान्तवाक्यविचारपर्यवसायित्वमेवेति, अन्यथा शिष्टाग्राह्यत्वमेव प्रसज्जेत। तेन बृहदारण्यकप्रोक्तनिःश्वसितश्रुतौ न्यायवैशेषिकयोः कण्ठरवेण स्वीकारो दुष्परिहरणीयः। कणादादीनामार्षत्वं चापि। तेन सर्वेषामपि शास्त्राणां धर्म—ब्रह्मविचारोपकारकत्वमेति विभावनीयम्। एवं च प्रमाणलक्षणविचारेऽपि तद्विचार आक्षिप्यते मया। तथा चेत्थं प्रमाणलक्षणानि—

अत्र[1] सौगताः—सम्यक्ज्ञानं प्रमाणम्। ज्ञाने सम्यक्ता चाविसम्वादकता। तथा च न्यायबिन्दुटीकायां धर्मोत्तराचार्येणोक्तम्—'अविसम्वादकं ज्ञानं सम्यक्ज्ञानम्' इति। (न्या. बि. ३) अविसम्वादकता चार्थप्रापकता। यत् ज्ञानं प्रदर्शितमर्थं प्रापयति तदविसम्वादकम्। उच्यते च लोके पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् पुरुषोऽविसम्वादक इति। यस्तु मरीचिकादौ जलभ्रमः स न प्रदर्शितमर्थं प्रापयति। जलादिप्रत्यक्षं तु प्रापयति प्रदर्शितमर्थम्। ननु कथं प्रापयति ज्ञानमर्थम्? उच्यते। प्रवर्तयत् प्रापयति। ज्ञानं हि प्रदर्शयदर्थं प्रदर्शितेऽर्थे प्रवर्तयति पुरुषम्। प्रवृत्तश्च प्राप्नोति तमर्थम्। नन्वनियतमेतत् प्रदर्शितमर्थं प्रापयतीति, प्रवृत्तिर्हि न प्रमाणतन्त्रा, अपि तु पुरुषतन्त्रा, तद्दृष्टेऽप्यर्थे न प्रवर्तेतापि, प्रवृत्तोऽप्यन्तरायोपहतेरर्थस्यैव वा अपायान्न प्राप्नोत्यर्थम्।

१ सौगतार्हतयोर्लक्षणमीमांसा विद्वद्वराणां एम्बार–श्रीकृष्णमाचार्याणां पुस्तकादुद्धृतेति तेषामहमधमर्णः।

तदर्थप्रापकत्वमव्याप्तम् । नैतत् । अर्थप्रापकत्वमर्थप्रापणशक्तिमत्त्वलक्षणमेवात्र विवक्षितम् । न त्वर्थप्राप्त्युपधायकत्वलक्षणम् । आह च कमलशीलस्तत्त्वसङ्ग्रहटीकायाम्—'अविसम्वादित्वं चार्थक्रियासमर्थार्थप्रापणशक्तिमत्त्वम्, नतु प्रापणमेवे'ति । साच शक्तिस्तत्प्रदर्शकतैव । प्रदर्शिते चार्थक्रियासमर्थेऽर्थे पुरुषश्चेत्प्रवर्तेत अन्तरायैर्वा नोपहन्येत प्राप्नोत्येव प्रदर्शितमर्थम् । यदि पुरुषः स्वयमनिच्छन् न प्रवर्तेत, प्रवृत्तो वा उपहन्येतान्तरायैः, कः प्रमाणस्यावगुणः ? प्रमाणकार्यं तु परिनिष्पन्नमेव । येन अर्थक्रियासमर्थोऽर्थः प्रकाशितः । आह च धर्मोत्तराचार्यः—'अधिगते चार्थे प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः, तथाच सत्यार्थाधिगमात्, समाप्तः प्रमाणव्यापारः' इति । (न्या. वि.२)

ननु कामलोपहतनयनः शङ्खं पीतं पश्यन् प्रवृत्तः प्राप्नोत्येवार्थं शङ्खम् । तदर्थप्रापकत्वलक्षणमविसम्वादित्वं प्रमाणलक्षणं पीतशङ्खादिभ्रमेऽतिप्रसक्तम् । नैतत् । श्वेतस्तु प्राप्तः, दृष्टस्तु पीतः, प्रापणयोग्यता चार्थप्रकाशकतया प्रोक्ता, न ह्यन्यार्थावभासोऽन्यार्थप्रापणे योग्यः । ननु पीतो वर्णोऽन्यः श्वेतो वर्णश्चान्यः शङ्खस्तु संस्थानलक्षणः स एव । तदर्थदर्शकतालक्षणमर्थप्रापणयोग्यत्वमस्त्येव तत्रापि । नैतत् । नहि वर्णादन्यः संस्थानविशेषः शङ्खो नाम । ननु अध्यवसितादन्य एव श्वेतः शङ्खः अथाप्यर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वमस्त्येव तत्र । किं ततः । यथाप्रतिभासं यथाऽध्यवसायं वाऽविसम्वादकस्यैव ज्ञानस्य प्रामाण्यम् । अवभासोऽध्यवसायो वा पीतस्यैव । उक्तं च कमलशीलेन तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिकायाम् 'प्रामाण्यं हि भवत् द्वाभ्यामाकाराभ्यां भवति, यथाप्रतिभासमविसम्वादात्, यथाध्यवसायं वा, तत्रेह न यथाप्रतिभासमविसम्वादः, पीतस्य प्रतिभासनात्, तस्य यथाभूतस्याप्राप्तेः, नापि यथाध्यवसायमविसम्वादः, पीतस्यैव विशिष्टार्थक्रियाकारित्वेनाध्यवसायात्, नच तद्रूपार्थक्रियाप्राप्तिरस्ति, नचानध्यवसितार्थाविसम्वादेनापि प्रामाण्यम्, अतिप्रसङ्गात् । केशादिज्ञानेऽप्यनध्यवसितालोकादिप्राप्तेः' इति । (तत्त्व. प. ३९५) तत्त्वसङ्ग्रहे चेदमुक्तम्—'न वर्णव्यतिरिक्तं च संस्थानमुपपद्यते । भासमानस्य वर्णस्य न च सम्वाद इष्यते' इति (तत्त्व. प. ३९५) ।

केचित्तु—पीतः शङ्ख इति भ्रमोऽपि प्रमाणमेव, अविसम्वादात्, अत एवाचार्यदिङ्नागः प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्येवाह, नाभ्रान्तमित्यपि, इत्याहुः । तदिदमाचार्यहार्दानभिज्ञताविलसितम् । तथाहि—यद्यपि कल्पनापोढमित्येतावदेवाहाचार्यः, अथापि प्रमाणविशेषः प्रकृत इति अविसम्वादीति तु प्राप्तमेव । अत एव केशोण्डूकादिभ्रमव्यावृत्तिः । पीतशङ्खभ्रमस्तु यथाऽध्यवसायं न प्रापयतीति नाविसम्वादकः । एवं तस्य प्रमाणताव्यावृत्तेः पृथगभ्रान्तग्रहणं न कृतम् । यैस्तु—अभ्रान्तग्रहणं क्रियते तैस्तु तदेव मानसामान्यलक्षणानुगतमविसम्वादित्वं ज्ञाप्यते ।

अयमाशयः—

यद्यप्याचार्यदिङ्नागो नाभ्रान्तपदमग्रहीत् ।
परैर्विप्रतिपन्नांशे दत्तदृष्टिर्विशेषतः ॥
तावता पीतशङ्खादिभ्रमे प्रत्यक्षता यदि ।
मता तेनेति कल्प्येत भ्रमे सर्वत्र कल्प्यताम् ॥

प्रामाण्यं दूरतोऽपास्तं विसम्वादितयेति चेत्।
पीतशङ्खभ्रमेऽप्येष विचारः प्रविधीयताम्॥

सयूथ्यानामिह भ्रान्तिं धर्मकीर्तिः प्रतिक्षिपन्।
व्यक्तमभ्रान्तमित्याह न भावो भिद्यतेऽनयोः॥

यद्भ्रान्तं तद्विसम्वादि विपर्यस्तावभासनात्।
पीतशङ्खभ्रमे तस्मात्प्रामाण्यं न प्रसज्यते॥

आचार्यहार्दानभिज्ञतामेषां शान्तरक्षितः सूचयति—'यद्याकारमनादृत्य प्रामाण्यं च प्रकल्प्यते। अर्थक्रियाऽविसम्वादात्तद्रूपो ह्यर्थनिश्चयः॥ इत्यादि गदितं सर्वं कथं न व्याहतं भवेत्। वासना-पाकहेतूत्थस्तस्मात्सम्वादसम्भवः।' इति। (तत्त्व. प. ३९५) व्याख्यातं च कमलशीलेन 'न ह्यर्थक्रियाऽविसम्वादित्वमात्रेणाकारमनपेक्ष्य प्रामाण्यं कल्पनीयम्, विषयाकारस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। + + + यथा यथाह्यर्थस्याकारः शुभ्रादित्वेन सन्निविशते तद्रूपः स विषयः प्रमीयते इत्यादिक-माचार्यीयवचनं विरुध्यते इति दर्शयति' इति। (तत्त्व. प. ३९५)

नन्वन्यदेवावभास्यते अन्यदेव प्राप्यते, क्षणिकत्वात् सर्वेषाम्। सत्यम्। अथापि सन्तानै-क्यात् नानुपपत्तिः। उक्तं च न्यायबिन्दुटीकायाम्—'विभेदाध्यवसायाच्च सन्तानगतमेकत्वं द्रष्ट-व्यम्' इति।

इदं च बोध्यम्—सरूपेषु (एकार्थेषु) ज्ञानेषु प्रथमज्ञानस्यैव प्रामाण्यम् नोत्तरोत्तरज्ञानानाम्। नन्वर्थक्रियासमर्थार्थप्रदर्शकत्वं प्रथमस्यैवोत्तरस्याप्यविशिष्टम्। सत्यम्। तथाऽपि नापूर्वोऽर्थः प्रदर्श्यतेऽनेन, प्रदर्शित एव तु प्रदर्श्यते, तदनुपकारकं प्रेक्षावतः प्रवृत्तौ द्वितीयादिज्ञानम्। उक्तं च धर्मोत्तराचार्येण 'अत एवानधिगतविषयं प्रमाणम्, येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः, तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः, तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम्' इति (न्या. बि. ४)। आह च मोक्षाकरगुप्तः 'सम्यक्ज्ञानमपूर्वगोचरं प्रमाणमिति'। आह च कमलशीलः पञ्जिकायाम्—'यत् गृहीतग्राहि न तत्प्रमाण'मिति। (तत्त्व. प. ३८८)

इदं च प्रमाणलक्षणं नातिव्याप्तं नवाऽव्याप्तम्। विपर्यय इव संशयः क्वचित्कञ्चित्प्रवर्तयन्नपि न प्रापयति यथावभासम्, भावाभावोभयात्मा हि संशयेनावभासते, न चार्थस्वरूपं तादृशं घटेत, यत् प्राप्तुं शक्यं स्यात्। प्रत्यक्षं यत् स्वलक्षणग्राहि कल्पनारहितमभ्रान्तं तदर्थक्रियासम-र्थमर्थमवभासयत् प्रवृत्तिमापाद्य प्रवर्तमानं पुरुषं प्रापयत्यर्थम्। यच्चानुमानं सविकल्पकं तत्तु लिङ्गाव्यभिचारितया नियतमर्थमवभासयत् प्रापयति यथाध्यवसायमर्थम्। आभ्यामितरत्तु न प्रमाणम्। अतत्स्वभावं हि तत्।

अतत्स्वभावतामेषामिमां सौगतसम्मताम्।
व्यक्तं निरूपयिष्यामस्तत्तन्मानविचिन्तने॥

ननु का कल्पना?, किं वा ज्ञानं तद्रहितम्? उच्यते। नामजात्यादयो हि विकल्पाः, तैर्या कल्पना, देवदत्तो यज्ञदत्त इति गौरश्व इति च, सा कल्पनोच्यते। तथाविधकल्पनासहितं सविकल्पकम्, तद्रहितमत एव निर्विकल्पकं प्रत्यक्षम्।

अयमाशयः—

नार्थं व्यवहितं तावदवभासयितुं क्षमम् ।
किन्तु सन्निहितं वस्तु तच्च मान्यत् स्वलक्षणात् ॥
नामादयो विकल्पा ये ननु व्यवहितास्तु ते ।
तत्प्रत्यक्षं निर्विकल्पं नामाद्यनवभासकम् ॥

तदिदं प्रत्यक्षं कल्पनारहितमेवोत्पद्यते । तथाचोक्तं प्रमाणसमुच्चये—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्' (प्रमा. ८ प.) । अस्य च वृत्तिग्रन्थः—'कल्पनाऽत्र कीदृशी चेदाह—नामजात्यादियोजना, यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थं उच्यते डित्थ इति, जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति, गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति, क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति, द्रव्यशब्देन द्रव्येषु दण्डी विषाणी'ति इति [प्रमा. स. १२] अनूदितं चैतत् कमलशीलेन पञ्जिकायाम् । तथाच सामान्याविषयकं केवलं स्वलक्षणमात्रविषयकं निर्विकल्पकं ज्ञानमेव प्रत्यक्षमिति निर्गलितम् । तथाचोक्तम् तत्रैव प्रमाणसमुच्चये—'धर्मिणोऽनेकरूपस्येन्द्रियात् बोधो न सम्भवेत् । स्वसम्वेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः' इति (प्रमा. स. प. १५) । उक्तंच तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिकायां शब्दार्थपरीक्षायाम्—विकल्पज्ञानगोचरः सामान्यमेवेष्यते, असाधारणस्त्वर्थः सर्वविकल्पानामगोचरः । यथोक्तम्—'स्वसम्वेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः' इति । इति (तत्त्व. २९३) अनूद्यते चायमेवार्थः सम्मतितर्कप्रकरणटीकायामभयदेवसूरिणा—'अथ संहृतसकलविकल्पावस्थायां पुरोवर्तिवस्तुनिर्भासि विशदमक्षप्रभवं ज्ञानमविकल्पकं सम्वेद्यत एव । तथा चाध्यक्षसिद्ध एव ज्ञानानां कल्पनाविरह इति नात्र प्रमाणान्तरान्वेषणमुपयोगि । तदुक्तम्—प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति । संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं वीक्षते साऽक्षजा मतिः' इति (सम्मति. ५०३)। आहच शान्तरक्षितस्तत्त्वसङ्ग्रहे—प्रत्यक्षं कल्पनापोढं वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम् । अन्यत्रासक्तमनसाऽप्यक्षैर्नीलादिवेदनात्' इति । (तत्त्वसं. ३७४)

अथ चेत् प्रत्यक्षं निर्विकल्पकं कथमस्य व्यवहाराङ्गता । न ह्यनिर्देश्यमवभासयत् प्रवृत्तये निवृत्तये वा प्रभवति । अध्यवसायाद्धि तत्सम्भवः । सच सविकल्पक एव । यत्तु प्रवृत्तये निवृत्तये वा न प्रभवति, न तदन्विष्यते प्रेक्षावद्भिः । तथाचाव्यासमर्थप्रापणयोग्यत्वं प्रत्यक्षे । नैतत् । सविकल्पोत्पादनद्वारा भवत्यस्य प्रामाण्यम् । तथाचोक्तं शान्तरक्षितेन—'अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् । निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥' (तत्त्वसं. ३९०) इति । व्याख्यातं च कमलशीलेम—'अविकल्पमपि निश्चयहेतुत्त्वेन व्यवहाराङ्गं भवति । तथाहि—प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि सजातीयविजातीयव्यावृत्तमनलादिकमर्थं तदाकारनिर्भासोत्पत्तितः परिच्छिददुत्पद्यते, तच्च व्यवस्थितवस्तुग्राहित्वात् विजातीयव्यावृत्तवस्त्वाकारानुगतत्वाच्च तत्रैव वस्तुनि विधिप्रतिषेधावाविर्भावयति—अनलोऽयं नासौ कुसुमस्तबक इति' (तत्त्वसं. ३९०) दृश्यविकल्पयोरनन्यताध्यवसायाच्च भवति प्रवृत्तिः । अत एव सविकल्पकस्य गृहीतग्राहितया अन-

धिगतार्थावलम्बित्वाभावेन न प्रामाण्यप्रसञ्जनावसरः। उक्तं च तत्रैव तेन—'तयोश्च विकल्पयोः पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धादविसम्वादित्वेऽपि न प्रामाण्यमिष्टम्, दृश्यविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनधिगतवस्त्वधिगमाभावात्' इति (तत्त्वसं. ३९०)।

सुधियां विविधा वादाः सन्ति प्रत्यक्षलक्षणे।
न हि तेषामवसरो मानसामान्यलक्षणे॥
किन्तु लक्ष्यप्रसङ्गेन प्रत्यक्षमिदमीरितम्।
अथोक्तस्य प्रमाणस्य फलचिन्ता विरच्यते॥

अथ मितिमेव मानमाचक्षाणैर्मानफलं किमिति वक्तव्यम्। अर्थक्रियासमर्थार्थावभासिका मितिरेव हि मानम्। अर्थावभासलक्षणं फलं च न ततोऽन्यत्। मितिश्चार्थावभासस्वरूपैव। न च स्वयमेव मानं मितिश्च भवितुमर्हति, न हि स्वस्य स्वयं साधनं स्यात्। नैवम्। नात्र फलफलिभावो जन्यजनकभावनिबन्धनः। अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावनिबन्धनः। यदस्य विषयसारूप्यं तदस्य प्रमाणताव्यवस्थापकम्। यदस्य विषयसम्वेदनरूपत्वं तत्फलत्वव्यवस्थापकम्। यत् ज्ञानं यदर्थसरूपं भवति, तदेव तत्सम्वेदनरूपं भवति। तत्सारूप्याच्चत्प्रतीतता। न च तत्सारूप्यादपरं तत्प्रतीततायां नियामकम्। चक्षुरादि हि नीलपीतादिसाधारणम्। तदनुपहतः फलफलिभावः। उक्तं च न्यायबिन्दुटीकायाम्—'न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः, येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात्, अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित्प्रमाणफलं न विरुध्यते। व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य, व्यवस्थाप्यं च नीलसम्वेदनरूपम् (न्याय. १९) इति।

आह च शान्तरक्षितः—'विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा, प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यताऽपि वा'। इति। (तत्त्व. पृ. ३९८) तथा अनुपदम्—'छेदने खदिरप्राप्ते पलाशेन छिदा यथा। तथैव परशोर्लोके छिदया सह नैकता।' इति कुमारिलचोद्यमाशङ्क्य 'न, व्यवस्थाश्रयत्वेन साध्यसाधनसंस्थितिः।' (तत्त्व. पृ. ३९९) इति व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावनिबन्धनं फलफलिभावमाह। विषयाधिगतिः फलम् सारूप्यं प्रमाणमिति बाह्यार्थसद्भावपक्षाश्रयणेन। स्वसम्वित्तिः फलं योग्यता प्रमाणमिति बाह्यार्थानभ्युपगमपक्षाश्रयणेन। व्याख्यातं च कमलशीलेन—'बाह्येऽर्थे प्रमेये विषयाधिगमः प्रमाणफलम्, सारूप्यं तु प्रमाणम्, ज्ञानात्मनि तु प्रमेये स्वसम्वित्तिः फलम्, योग्यता प्रमाणम्। येन तदेवात्मानं वेदयते न घटादय इति योग्यतया करणभूतयैवात्मप्रकाशकं लक्ष्यते ज्ञानमिति योग्यतायाः स्वसम्वेदने प्रामाण्यम्। तदुक्तम्—तत्राप्यनुभयात्मत्वात्ते योग्याः स्वात्मसम्विदः। इति सा योग्यता मानमात्मा मेयः फलं सम्वित्॥ इति' इति। (तत्त्व. पृ. ३९८) तथा चैतत् सिद्धम्—एकस्यैव ज्ञानस्य सारूप्यं योग्यतां वाऽपेक्ष्य भवति प्रमाणमिति व्यवहारः। विषयसम्वित्तिं स्वसम्वित्तिं वाऽपेक्ष्य फलमिति व्यवहारः। इति। प्रमाणफलभेदव्यवहार आपेक्षिकतया औपचारिक इति तु सिद्धम्। आह चानुपदं शान्तरक्षितः—'अत उत्प्रेक्षितो भेदो विद्यते धनुरादिवत्' इति। (तत्त्व. पृ. ३९९) व्याख्यातं

च कमलशीलेन--'धनुर्विध्यति धनुषा विध्यति धनुषो निःसृत्य शरो विध्यतीति यथैकस्य धनुषः कर्तृत्वादयः कल्पिता न विरुध्यन्ते तथेहापीति ।' प्रमाणफलभेदस्यौपचारिकत्वमाचार्यश्चाह--'सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत् ।' इति । (प्रमा. प. २१) अनूदितं चैतद्वचनमभयदेवसूरिणा सम्मतितर्कटीकायाम्--"अथ सव्यापारप्रतीततामुपादाय फलस्यैव प्रमाणतोपचारः, उक्तं च--'सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत्' तथा--'सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि' । इति (संम. प. ५२९) । अयमाशयः--अर्थक्रियार्थं हि प्रमाणमन्वेषते प्रेक्षावान्, तत् तत्र प्रवर्तकतयैव प्रामाण्यं वक्तव्यम्, प्रवर्तकता च ज्ञानस्य तत्तदर्थावभासकतैव, तथा च नीलसम्वेदनं नीले प्रवर्तकं पीतसम्वेदनं पीते । एवं च सति सम्वेदनस्य विषयभेदेन भेदमनवधृत्य न प्रवर्तेत नियमेन । इदं नीलसम्वेदनमिदं पीतसम्वेदनमिति च भेदावधारणं नीलपीतादिसारूप्याद्भवति, यत् ज्ञानं यत्सरूपं तत्तत्सम्वेदनरूपम् इति व्यवस्थितेः । तथा च प्राप्तं विषयसम्वित्तिः फलं विषयसारूप्यं प्रामाण्यमिति । तस्मात् फलसाधनव्यवस्था व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावनिबन्धनैव नोत्पाद्योत्पादकभावनिबन्धना । व्याख्यातश्चायमर्थः कमलशीलेन--'नीलास्पदं वेदनं न पीतस्येति विषयावगतिव्यवस्थाया अर्थसारूप्यमेव निबन्धनं नान्यदिति व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन साध्यसाधनव्यवस्था नोत्पाद्योत्पादकभावेन इति (तत्त्व. प. ३९८) ।

मानतत्फलरूपत्वमेकस्यामेव सम्विदि ।
सिद्धमापेक्षिकं तावत् व्यवस्थैकनिबन्धनम् ॥

सम्यगर्थनिर्णयस्य प्रमाणतां वदन्त आर्हताः प्रमाणतत्फलभेदव्यवस्थांशे सौगतैः सहांशतः सौहार्दमाश्रयन्ते नाम । तथा च प्रमाणमीमांसासूत्रम्--फलमर्थप्रकाशः ॥ १-१-३५ ॥ कर्मस्था क्रिया ॥ १-१-३६ ॥ कर्तृस्था प्रमाणम् ॥ १-१-३७ ॥ तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥ १-१-३८ ॥ वृत्तिश्चेयम्--प्रमाणस्येति वर्तते । प्रमाणस्य फलमर्थप्रकाशोऽर्थसम्वेदनम् । अर्थार्थी हि सर्वः प्रमातेत्यर्थसम्वेदनमेव फलं युक्तम् । नन्वेवं प्रमाणमेव फलत्वेनोक्तं स्यात् । ओमिति चेत् । तर्हि प्रमाणफलयोरभेदः स्यात् । ततः किं स्यात् । प्रमाणफलयोरैक्ये सदसत्पक्षभावी दोषः स्यात् । नासतः करणत्वं न सतः फलत्वम् । सत्यमस्त्ययं दोषो जन्मनि । न व्यवस्थायाम् । यदाहुः--'नासतो हेतुता नापि सतो हेतोः फलात्मता । इति जन्मनि दोषः स्यात् व्यवस्था तु न दोषभाक् ॥' इति ॥ ३५ ॥ व्यवस्थामेव दर्शयति--कर्मोन्मुखो ज्ञानव्यापारः फलम् ॥ ३६ ॥ प्रमाणं किमित्याह--कर्तृव्यापारमुल्लिखन् बोधः प्रमाणम् ॥ ३७ ॥ कथमस्य प्रमाणत्वम् । करणं हि तत् । साधकतमं च करणमुच्यते । अव्यवहितफलं तदित्याह--कर्तृस्थायां प्रमाणरूपायां क्रियायां सत्यामर्थप्रकाशस्य फलस्य सिद्धेर्व्यवस्थापनात् । एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदः । व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावात्तु भेदः' इति वस्तुमात्रस्य भेदाभेदस्वभावतां वदतामियं प्रमाणफलयोर्भेदाभेदात्मता नोपहतये । सिद्धसेनदिवाकरविरचिते न्यायावतारे तु--'प्रमाणस्य फलं साक्षात् अज्ञानविनिवर्तनम्' इति (न्याया. प. ६३) अज्ञानविनिवर्तनस्य साक्षात्प्रमाणफलत्वमुक्तम् । व्याख्यातं च सिद्धर्षिगणिना--'द्विविधं हि प्रमाणफलम्, साक्षादसाक्षाच्च, अन-

न्तरं व्यवहितं च, तत्र साक्षात् अज्ञानम् अनध्यवसायः प्रमेयापरिच्छित्तिः तस्य विनिवर्तनम्—विशेषेण प्रलयापादनम् प्रमाणस्य फलम्। अज्ञानोद्दलनद्वारेण तस्य प्रवृत्तेः। इति। इदमप्याह्यव्यवहितं फलं हेमचन्द्राचार्यः। तथा च सूत्रम्—'अज्ञाननिवृत्तिर्वा' इति। (१-१-३९) वृत्तिश्चास्य तस्यैवेयम्—'अव्यवहितमेव फलान्तरमाह—प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वं वीक्षिते विषये यदज्ञानं तस्य निवृत्तिः फलमित्यन्ये' इति।

अत्र नः प्रतिभातीदं सुन्दरं सूत्रकृन्मतम्।
प्रमाणत्वं फलत्वं च यन्मितावेव साधितम्॥
मितेरन्यत्र यन्मानफलत्वप्रतिपादनम्।
तदाशङ्कितुराशङ्का बीजमुल्लङ्घ्य शोभते॥
प्रमाणमितिशब्दोऽयं करणार्थल्युडन्तकः।
प्रमाया ननु भावस्य व्यनक्ति फलतां स्फुटम्॥
प्रमायाश्चेत्प्रमाणत्वं तत्फलं स्यात्कथं प्रमा।
एवमाशङ्कमानस्य न साक्षादिदमुत्तरम्॥
इदं फलं प्रमाणस्य यदज्ञानविनाशनम्।
इति क्वचित्प्रमाभिन्ने तत्फलत्वोपवर्णनम्॥
न हि निष्फलताशङ्का प्रमाणे सम्प्रवर्तते।
अन्ततः को न जानाति हानादानादि तत्फलम्।

दूषयन्तः सौगतानां तदेतन्मानलक्षणम्।
प्रमाणमार्हताः प्राहुः सम्यगर्थविनिर्णयम्॥
यो दृष्टस्तत्र तैर्दोषः स च पश्चात् प्रकाश्यते।
इदानीं तन्मतं मानलक्षणं तु विचार्यते॥

प्रमाणं च सम्यगर्थनिर्णयः। तथाच सूत्रम्—'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्' इति। (प्र. मी. १. १. १.) 'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्'। (न्याया. प. १०) इति च न्यायावतारकारः। प्रमाणस्वरूपे प्रमाणलक्षणे च भवति विप्रतिपत्तिः—तत्र ज्ञानादन्यद्भवति प्रमाणमिति, ज्ञानं प्रमाणं भवदपि तदन्यावभास्येवेति, स्वावभास्येव, न तु स्वान्यावभासीति, अर्थात्मना ज्ञानमेवावभासते, न तु ज्ञानादितरः कश्चिदर्थः। एवं विविधं वदन्ति वादिनः, तान् व्यवच्छिन्दन्नाह स्वपरावभासि ज्ञानमिति। ज्ञानमेव प्रमाणम्, न तु ज्ञानादन्यत्, तदपि न परैकावभासं किन्तु स्वावभासि, न केवलं स्वावभासि किन्तु परावभासि च, तदेवम्भूतं ज्ञानं बाधवर्जितं प्रमाणम्। बाधवर्जितं ज्ञानमित्येतावत्तु लक्षणशरीरम्, ज्ञायते निर्णीयतेऽर्थ इति ज्ञानं निर्णयः। इदमेवाह सूत्रकारः—'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्' इति। बाधवर्जितत्वेन च सम्यक्त्वम्। कल्पनापोढस्यैव प्रत्यक्षप्रमाणतां वदन्तः सौगता निर्णयस्याध्यवसायात्मकस्य सविकल्पकतया प्रमाणसामान्यस्य निर्णयात्मकतां

न सहन्ते। तदभिमतं प्रत्यक्षप्रमाणमनेन व्यावर्त्यते प्रमाणं निर्णयात्मकमेवेति। विपर्ययः प्रमाणं माभूदिति सम्यक्त्वं निर्णयविशेषणम्। योऽयं विशेषानुल्लेखी अनध्यवसायः दूरान्धकारादिवशादसाधारणधर्मावमर्शरहितः प्रत्ययोऽनिश्चयात्मकः स प्रमाणं माभूदिति अर्थनिर्णय इति निर्णयग्रहणम्। यच्च परैः प्रत्यक्षतयाऽभ्युपगतमविकल्पकं तदप्यनध्यवसायलक्षणमेवेति निर्णयग्रहणेन व्यावर्तितम्। इतश्च संशयो व्यावृत्तः। आह च सूत्रकारः प्रमाणलक्षणेन व्यावृत्तानां संशयानध्यवसायविपर्ययाणां लक्षणं सूत्रकारः—'अनुभयत्रोभयकोटिसंस्पर्शी प्रत्ययः संशयः' 'विशेषानुल्लेखनमनध्यवसायः' 'अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः'। (प्र. मी १–१–५, १–१–६, १–१–७)

अर्थनिर्णये किं सम्यक्त्वम्, ननूक्तमबाधितत्वमिति। तच्च किंरूपम्। ननु व्याख्यातं न्यायावतारटीकायाम्, 'विपरीतार्थोपस्थापकप्रमाणप्रवृत्तिरहितम्', इति (न्याया. प. १०) सत्यम्। प्रमाणलक्षणे प्रमाणप्रवेशेनात्माश्रय आपतेत्। ननु प्रमाणपदस्थाने निर्णयपदं योज्यताम्। नैतत्। प्रबलभ्रमेण जातु प्रमाणस्याप्युपरोधेनाव्याप्त्यापातात्। उच्यते अर्थाव्यभिचरितत्वमेव तु तत्। भ्रमो हि स्वावभासेन अर्थेन व्यभिचरति, अतस्मिंस्तद्ग्रहणात्। प्रमाणं तु न तथा तद्धि अर्थेन स्वावभासेन नियतम्।

ननु गृहीतग्राह्यपि निर्णयः सम्यगर्थनिर्णय एवेति तदपि प्रमाणं स्यात्। इष्टमेवैतत्। धारावगाहिज्ञाने पूर्वोत्तरयोरविशेषात्। न हि ग्राह्यांशे लेशतोऽप्यस्ति विशेषः। अबाधितत्वमुभयोः समम्। अथापि परस्याप्रामाण्यं चेत् पूर्वस्यैव किं न स्यात् गृहीष्यमाणग्राहित्वात्, न च गृहीतग्राहकत्वं प्रामाण्योपमर्दकम्, किन्तु बाधितत्वम्। न चोत्तरस्य बाधः। तथाच सूत्रम्—'गृहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्'। इति (प्र. मी. १–१–४) नन्वयमेव विशेषः प्रथमस्य यदपूर्वं गृह्णातीति। अपूर्वत्वेऽपि पूर्वोत्तरयोरर्थपरिच्छित्तिरविशिष्टेत्युक्तमेव। ननु प्रवर्तकत्वाप्रवर्तकत्वाभ्यां पूर्वोत्तरयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये। नैतत्। ज्ञानस्य प्रवर्तकता चार्थपरिच्छेदकतैव। नापरा। सा चाविशिष्टैवोत्तरस्मिन्नपि। नन्वधिगतार्थाधिगतिरनर्था। ततः किम्। प्रेक्षावत्त्वं हीयेत। न ह्यधिगतार्थाधिगतये प्रमाणमपेक्षेत प्रेक्षावान्। नन्वेतत् प्रमातुर्दूषणम्, अधिगतेऽप्यर्थे यदि पुनः प्रमाणमपेक्षेत पुरुषः। अनधिगतमर्थमवगच्छन्नपि यदि पुरुषो न प्रवर्तेत साऽर्थाधिगतिर्व्यर्थैवेति अनधिगतमर्थमवगमयदपि प्रमाणं माभूत्। तत् अर्थाधिगतेरफलत्वेऽपि अर्थमवगमयत् कृतकृत्यं सत् प्रमाणमेव भवति। तथा चोत्तरोत्तरज्ञानानामप्यधिगतार्थग्राहिणां प्रामाण्यमनपोह्यम्। ननु अधिगतमेवार्थं प्रकाशयितुं किमिति प्रमाणं प्रवर्तत इति नायमाक्षेपः। अपर्यनुयोज्यं ह्यक्षादि। सामग्र्याः स्वभावो हि कार्यजननम्। न वा पुरुषः स्वस्य प्रेक्षावत्त्वं संरक्षितुं अधिगतमेवार्थं ग्राहयति, विफलमिति चक्षुर्निमीलयति। उक्तं च न्यायमञ्जर्याम्—'नच प्रयोजनानुवर्त्ति प्रमाणं भवति। कस्य चैष पर्यनुयोगः। न प्रमाणस्य अचेतनत्वात्। पुंसस्तु सन्निहिते विषये करणे च सम्भवन्ति ज्ञानानीति सोऽपि किमनुयोज्यताम् 'किमक्षिणी निमील्य नास्से, कस्माद्दृष्टं विषयं पश्यसी'ति। प्रमाणस्य तु न किञ्चिद्वाध्यं पश्यामः। येन

तदप्रमाणमिति व्यवस्थापयामः ।' इति । (न्या. मं. २२) किञ्च संवादज्ञानस्य अधिगतार्थगन्तृत्वेऽपि प्रामाण्यमस्त्येव । अप्रमाणत्वे तेन सम्वादेन पूर्वज्ञाने प्रामाण्याध्यवसायः कथं स्यात् । न च गृहीतग्राहिणः सर्वस्य सर्वथा पुरुषं प्रत्यकिञ्चित्करतां । अनुकूलं वस्तु पुनः पुनः पश्यतः पुनः पुनरुदयच्चाक्षुषमविशिष्टमेवाधिगतमर्थं प्रदर्शयदपि प्रीतिप्रकर्षाय प्रभवतीति नाकिञ्चित्करं तत् । तत् पुरुषं प्रत्यकिञ्चित्करत्वादप्रामाण्यमित्यप्यनुचितम् । तथा च न्यायमञ्जर्याम्–'न च सर्वात्मना वैफल्यम् । हेये अहिकण्टकवृकमकरविषधरादौ विषये पुनः पुनरुपलभ्यमाने मनःसन्तापात् सत्वरं तदपहानाय प्रवृत्तिः, उपादेयेऽपि चन्दनघनसारहारमहिलादौ पुनः पुनः परिदृश्यमाने प्रीत्यतिशयः स्वसम्वेद्य एव भवती'ति । उक्तं च स्याद्वादरत्नाकरे—'पुनः पुनः प्रमाणानां प्रवृत्तौ विषयेष्विह । सर्वथा नास्ति वैयर्थ्यं फलस्याप्युपलम्भनात् ॥ तथाहि हालाहलजिह्मगादौ हेये मुहुर्वस्तुनि वीक्ष्यमाणे । स कोऽपि तापः स्फुरति प्रकामं न गोचरं यो वचसामुपैति । प्रेयस्विनीपार्वणशीतरोचिर्मयूरमाणिक्यमुखे त्वजस्रम् । आदेयवस्तुन्यवलोक्यमाने सम्प्राप्यते प्रीतिरसः स कोऽपि ॥' इति ।

इदमत्र ब्रूमः–अर्थक्रियासु प्रवर्तमाना अनवगततत्तत्समर्थार्थास्तदर्थाधिगतये तदर्थावभासकं प्रतीक्षन्ते । न त्वधिगतार्थाः, अकिञ्चित्करं हि तेषां तत् । अथ यत्तथाविधमर्थमवभासयदपनीय तदज्ञानमुपकरोति तस्मै पुंसे तत् तं प्रमातारमपेक्ष्य तस्मिन्नर्थे प्रमाणम् । यत्तु न किञ्चिदप्युपकरोति न तदर्थावभासकमपि प्रमाणव्यवहारपदमधिगच्छति । इदमेव तु प्रमाणतः सम्पाद्यं फलमर्थानवगतिविधूननम् । प्रमाणादर्थावधारणात् पूर्वं या तदर्थानवगतिरज्ञानलक्षणा सा हि विनाश्यते प्रमाणेन तदर्थावधारणलक्षणेन, अधिगतार्थावभासकैस्तु न तत्फलमापाद्यते । अज्ञानस्यैवाभावात् । तत् अकिञ्चित्करतया तदप्रमाणमुच्यते । ननु–सति तु विनाशयेदेव । असति तस्मिन्नर्थावभासकस्य कोऽवगुणः । असत्यपि फले पुनः पुनरुद्भवतीत्ययमेवावगुणः प्रमातुरनपेक्षितत्वात् । अत एव प्रमाणमिति न मुख्यस्तत्र व्यवहारः । व्यवहारानुगुणमेव तु लक्षणं वक्तव्यमिति व्यवहारशरणा अनधिगतार्थावभासकं प्रमाणलक्षणमामनन्ति ।

> निश्चित्य व्यवहारेण वस्तु लक्षणमुच्यते ।
> व्यवहाराननुगुणं वस्तु तन्नैव लक्षणम् ॥
> स्मृतेः सत्यपि याथार्थ्ये स्मृतौ तत्करणेऽपि वा ।
> प्रमाणत्वव्यवहृतिमपश्यन्तस्तु केचन ॥
> आहुर्यथार्थानुभवसाधनस्य तु मानताम् ।

लोकव्यवहारं शरणमभ्युपगच्छतां कस्तत्र प्रविरोधः । ईदृश एव लोकव्यवहारो नेदृश इति कथं वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । अयं व्यवहारो मुख्यः, अयं नेति प्रवदतां पुरतः स्थापयितुं दुःशकम् । ननु किं सौगता अज्ञाननिवारणं प्रमाणकार्यं स्वीकुर्वन्ति ? न तन्मतेनेदं ब्रूमः । स्वीकुर्वन्तु मा वा । विवक्षितमेतावत् । अधिगतार्थाधिगन्तृव्यावृत्तं प्रमाणलक्षणं परिष्कुर्वद्भिरधिगतार्थावभासकस्यालक्ष्यत्वे लोकव्यवहारः शरणमाश्रीयते । अधिगतार्थकं लोको न व्यवहरति

प्रमाणमिति, अनधिगतार्थकमेव तु इदं प्रमाणमिति । एवम्विधस्य प्रमाणाप्रमाणव्यवहारस्य मूलं प्रकाशितार्थप्रकाशस्य अकिञ्चित्करत्वम् । प्रमातुरनपेक्षितं हि तत्प्रकाशनम् इति । अकिञ्चित्करतामेव द्रढयद्भिः स्वातन्त्र्येणेदमभिहितमस्माभिः—प्रमाणफलमज्ञाननिवारणं नानेन भवतीति । अज्ञाननिवारणस्य प्रमाणफलता सम्प्रतिपन्ना नामान्येषाम् । यच्च पुनः पुनर्दर्शनं प्रीत्यादिफलकं दृष्टमिति कथमकिञ्चित्करता कथं वा तस्य प्रामाण्यप्रतिषेध इति । सत्यं प्रीतिप्रकर्षः फलमस्ति । प्रियत्वाध्यवसायविशिष्टरूपदर्शनस्य तत् फलम्, न तु प्रमाणत्वविशिष्टस्य । तन्न तत् प्रमाणफलम् । यश्च प्रतिकूलेषु पुनः पुनर्दर्शनाच्चापातिशयो भवतीति तदपि प्रतिकूलत्वाध्यवसायविशिष्टतद्दर्शनादेवेति न तदपि प्रमाणफलम् । इति ।

वस्तुतस्तु न निस्तारो न्यायमूलात्तु दूषणात् ।
ततो भीतः श्रयति चेत् व्यवहारं स दूष्यते ॥

अथ प्रकृतमनुसरामः । यद्येवं स्मृतेरपि सम्यगर्थनिर्णयतया प्रमाणता । सत्यम् । परोक्षे प्रमाणे हि तदन्तर्भूतम् ।

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मानमवस्थितम् ।
परोक्षं स्यादविशदं तच्च स्मृत्यादिपञ्चकम् ॥

तथा च सूत्रम्—'स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः' इति । (प्रमा. मी. १-२-२)
तस्य परोक्षस्य विधयः—प्रकाराः पञ्च, ते च स्मृत्यादयः ।

केचिदाहुर्न प्रमाणं स्मृतिः साऽनर्थजा यतः ।
अर्थसत्तामपेक्षा यदसदर्थावलम्बिनी ॥
गृहीतग्राहिविज्ञानप्रामाण्यपरिरक्षिणाम् ।
अविसम्वादतौल्येऽपि स्मृतौ कोऽयं दुराग्रहः ॥
यथाऽनुभूतमेवार्थं या प्रकाशयति स्मृतिः ।
साऽपि स्मृतिर्न प्रमाणमपराद्धं किमेनया ॥
अस्याः प्रामाण्यहरणे दृश्यते हन्त कौशलम् ॥
अतीतानागतग्राहिशाब्दज्ञानानुमानयोः ।
वृष्टिमद्देशसम्बद्धां नदीं ग्राह्यां ब्रवीति यः ।
ज्ञाने प्रमात्वानुमितौ धर्मिणं कं स पश्यति ॥
व्यतीतमेव तत् ज्ञानं प्रमात्वानुमितिक्षणे ।
अर्थसत्तानपेक्षस्य प्रमात्वं वार्यते कुतः ॥
अर्थसत्तानपेक्षत्वं प्रमात्वे बाधकं नहि ।
अक्षार्थसन्निकर्षोत्थप्रमायां सा ह्यपेक्ष्यते ॥
असत्यर्थे सन्निकर्षः प्रमाहेतुर्न सिध्यति ।
अर्थसत्तानपेक्षत्वं भ्रमत्वे न प्रयोजकम् ॥

किन्तु भ्रमत्वं ज्ञानानामन्यथाऽर्थावभासनात् ।
कार्यकारणभावश्च वर्तते न प्रमार्थयोः ॥
विशेषणं विशेष्यं चेत्यर्थौ द्वौ भवतो ननु ।
तत्र द्वयोर्वा पूर्वस्य परस्यान्यतरस्य वा ॥
प्रमायां हेतुता नाद्यो व्यतीताभ्यनुमानतः ।
न द्वितीयश्चात एव तृतीयोऽपि न युज्यते ॥
व्यतीतेऽपि हि विज्ञाने प्रमात्वस्यानुमानतः ।
अयमस्मात्पर इति द्वयोरेव व्यतीतयोः ॥
परत्वमपरत्वं च पण्डितैरनुमीयते ।
नातो युक्तश्चतुर्थोऽपि नाप्रामाण्यमतः स्मृतेः ॥

वाचस्पतिमिश्रास्तु प्राहुः—

ननु शब्दार्थसम्बन्धो लोकाधीनावधारणः ।
लोके प्रमाव्यवहृतिः स्मृतौ नैव प्रवर्तते ॥
तत्र स्मृतिः प्रमा नापि प्रमाणं तस्य साधनम् । इति ।
आर्हतैः सौगतैश्चापि सुधीभिर्यदुदीरितम् ।
प्रमाणलक्षणं तावत् सङ्क्षिप्येदमनूदितम् ॥

एवं वर्तन्ते मतमतान्तराणि परस्परविसंवादीन्यनेकानि । लोकव्यवहारवन्तः केचित् प्रत्यक्षमेव प्रमाणमिति मन्यन्ते, केचित्तु सानुमानं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वेन मन्यन्ते, अन्ये तु प्रत्यक्षानुमानोपमानागमादीनि । तान्यन्यानि च मतमतान्तराणि विस्तरभिया नात्रोद्ध्रियन्ते । शास्त्रबोधिततत्त्वावगमे परमपुरुषार्थरूपे भगवद्रूपप्रमेये सर्वसङ्गपरित्यागपूर्वकं भगवच्चरणसेवनमेव मुख्यं साधनं नान्यत्तथाभवितुमर्हतीति

"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥"
"नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीयाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥"

इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रामाण्योपबृंहितभगवदुक्तिशतैः प्रतिपादितमित्यत्र न कस्यापि सन्देहावसरः । स चायमेव विषयः श्रीमद्भगवद्गीता–रामायण–महाभारत–पञ्चरात्रोदितान्यनुसृत्य स्वतन्त्रतयैवास्मिन्ग्रन्थे सम्यक्प्रतिपादितो वर्वर्ति श्रीमदाचार्यचरणैः ।

समुदितग्रन्थेष्वपि विज्ञानसंवलिताऽकृत्रिमभगवद्भक्तिरेव निःश्रेयसापादिकेत्युक्तम्—

"न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं
तमो गुहायां च विशुद्धमाविशत् ।

यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा
मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥"

"ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र-
मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वप्रसङ्गः ।
कैवल्यसंमतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात् ॥" इति,

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गमः ॥" इति,

"तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं तत्त्वे प्रसीदति ॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥"

"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयन्ति ते ॥" इत्यादिना ।

समुदितविषयमनुसृत्यैव श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैः—

"वैराग्यज्ञानयोगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा ।
एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥"

"इन्द्रियाणां देवतात्वभावनाप्रापणे तथा ।
गोविन्दासन्यसेवातः प्रापणं नान्यतो भवेत् ॥"

"एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः ।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः ॥" इति,

"तपो वैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति ।
योगयोगे तथा प्रेम स्तुतिमात्रं ततोऽन्यथा ॥" इत्युदितम् ।

प्रकरणोपसंहारेऽपि स्पष्टीकृतमेतत्—

'अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै
रामायणैः सहितभारत-पञ्चरात्रैः ।

अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रै-
निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव ॥' इत्यादिना ।

तदिदं तत्त्वार्थदीपनिबन्धस्य प्रथमं शास्त्रार्थप्रकरणमावरणभङ्गटिप्पणीयोजनादिभिः समलङ्कृतं सिन्धुदेशोद्भवानां लोहाणाज्ञातीयेषु मार्तण्डायमानानां गोलोकवासिनां श्रेष्ठिनारायणदासानां तत्सोदराणां श्रेष्ठिजेठानन्दमहाभागानां च संरक्षितद्रव्येण प्राकाश्यं नीयते तद्विश्वस्तमहाभागैः ।

तच्चैतत्प्रासंगिकतया सुसंगतमिति च मत्वा त्वेतद्विषयकं किमप्यैतिह्यमत्र दीयते—पुरा किल सिन्धुदेशे नगरठठ्ठानामनगरे परमवैष्णवस्य गण्ढामल्लमहाभागस्य प्रथिततरं कुलमासीत् । यत्र समुत्पन्नाविमौ सुगृहीतनामधेयौ नारायणदासजेठानन्दनामानौ भ्रातरौ । एतर्ह्यपि तत्प्रदेशे गण्ढामल्लस्य कुलं पावित्र्ये प्रतिष्ठायां च धुरीणत्वमापादयत्प्रसिद्धमेव । सोऽयं गण्ढामल्लो नारायणदासजेठानन्दयोः पितामह आसीत् ।

श्रेष्ठिवरनारायणदास—जेठानन्दयोर्जनक आसनमल्लो भगवत्परिचर्यया यापितवान्निखिलमपि जीवनम् । गण्ढामल्लो हि 'मीरो'सञ्ज्ञकस्य कस्यचन राज्ञः प्रधानसचिवो बभूव । गण्ढामल्लस्यैश्वर्यं यशश्च सिन्धुप्रदेशेऽनन्यजनसाधारणतया प्रथिततरमिति जनश्रुतिः । प्रजाश्चैतस्य प्रेमातिशयेन न्यायपरायणबुद्ध्या च तद्वशवर्तिन्य एवाभूवन् । सोऽयं गण्ढामल्लो सुगुणालङ्करणो दृढप्रतिज्ञः कृतिमांश्च बभूव । सिन्धुप्रान्ते यथा सम्प्रति, स्वभावतः क्रूराणां यवनानां प्राबल्यं नयनपथमवतरति, तथैव प्रागपि तत्रैतादृशी स्थितिरासीदेव, तथापि गण्ढामल्लः कृतिकुशलतया न केवलं स्वमानं ररक्ष, अपि तु सततं दत्तचित्त एवासीत् हिन्दूनां मानरक्षणाय । अथ गच्छति काले कदाचित् महम्मदीयानामनुचितव्यवहारेण क्षणादेव तत्याज सचिवपदं धर्मप्राणतया । आसनमल्लस्य पितृव्य आसुमल्लोऽप्युदारचरिततया ख्यातकीर्तिर्गुप्तदाने च कृतमतिर्बभूव ।

स चायमासुमल्लो वाणिज्येन द्रव्यसम्पादनाय "अरब"देशं जगाम । यत्र मौक्तिकरत्नादीनां व्यापारे प्रचुरतरं धनमार्जिजत् । येन, कुलस्यास्य प्रतिष्ठा लोकोत्तरतामवाप्य नगरठठ्ठानगरे नगरश्रेष्ठितामवाप । अथ कदाचित्, महम्मदीयानामाधिक्येन प्रायः सर्वेऽपि स्रोतसस्तेषामेव स्वत्वतया बभूवुः । यत्र प्रतिघटं हिन्दूभ्य एकं ताम्रखण्डं कररूपेण ते जगृहुः । महम्मदीयानां त्रासेन वित्रस्ताः प्रजाः श्रेष्ठिवरस्यासुमल्लस्य समीपमाजग्मुर्निवेदयामासुश्चाततायिनां महम्मदीयानां कष्टकथाम् । अथ निशम्य वृत्तान्तजातमिमं आसुमल्लेन श्रेष्ठिना "विधनी"कुटुम्बोत्पन्नात्परशुरामात् प्रभूतां भूमिं क्रीत्वा तत्रैकं सरश्चखान । तच्च सरः सम्प्रति 'नानाबाग" इत्यभिख्यया प्रथितं वरीवर्ति ।

दैवदुर्विलासविलसिता नारायणदासस्य भगिनी बाल्य एव वयसि वैधव्यकष्टमाससाद । या हि भगवच्चरणसेवया वयसो द्विचत्वारिंशद्वत्सरान् यापयित्वा भगवच्चरणान्तिकं जगाम । नारायणदासस्य भ्राता वल्लभदासोऽपि कदाचित् समुद्रमार्गेण स्वदेशं प्रत्यागच्छन् झञ्झावातात्प्रादिनोद्वेलिते रत्नाकरे निमग्नश्चतुर्विंशतिवर्षवयस्क एव । त्रिविक्रमदासोऽपि भगवच्चरणपङ्कजमवाप,

तत्पत्नी च गोकुलेऽधिवसन्ती स्वदेहं परित्यज्य प्रभुचरणान्तिकं जगाम। सम्प्रति विद्यते केवलं जेठानन्दस्यैव भार्या गं. स्व. गोमतीबाईसञ्ज्ञका, या हि विश्वस्तेष्वन्यतमतया भर्तुरिच्छामक्षरशः समनुसृत्य धार्मिकं कार्यं चालयति।

यदा हि श्रेष्ठिवरो नारायणदासो मुम्बापुरीमाजगाम तदा प्रतिमासमष्टौ रूप्यकाणि भाटकं प्रदाय भूलेश्वरसमीपे श्रीलालबावामन्दिरे एकस्मिन्कोष्ठे स्थितः। बाल्यादारभ्य चपलबुद्धिरयं नारायणदासो मुक्तानां हीरकादिरत्नानां च व्यापारे बद्धदृष्टिः स्वकलाकौशल्येन प्रचुरं धनमर्जयामास। साधारणजनसदृशजीवनः कुशलतयाऽल्पव्ययेन धर्ममर्यादया च यापितवान् जीवनम्। अस्य पुष्टिमार्गे समभवन्महती श्रद्धा। अस्य मुलतानीज्ञातीयेषु नान्यजनसुलभं ममत्वमासीत्। १९६४ वैक्रमाब्दे यदा रूप्यकाणां महर्घता संवृत्ता तदा नारायणदासेनानेन मुलतानीयानां यादृशी सेवा विहिता, तादृशी न कोऽपि कुर्यादेव व्यापारैकचित्तः। अयं हि नारायणदासो मुलतानीयानां ज्ञातिषु स्वकीयासामान्यगुणैः सम्प्राप्तसम्मानो धुरीणश्च बभूव। यदाऽयं मुम्बापुरीमायातो, मुक्तानां हीरकादिरत्नानां च व्यापारे पदमर्पयत्, तदारभ्यैवास्य समानव्यवसायि–श्रेष्ठिवरमाणेकचन्दपानाचन्दस्य कुटुम्बेन कौटुम्बिकेन सौहार्देन समादरः सम्बद्धः, यद्यप्ययं पुष्टिमार्गीयो वैष्णवः, माणेकचन्दस्य कौटुम्बिका दिगम्बरजैनमतानुयायिनश्चासन्, तथापि, धर्मधुरीणानामुदारचरितानामेतेषां नासीद्धर्मविरुद्धतया सौहार्दविरोधः। स चायं सम्बन्धः स्वविश्वस्तेषु 'ताराचन्द नवलचन्द'महाभागं विश्वस्तेष्वध्यक्षतया स्वीकार्यैव जगतीतले प्रसिद्धिं प्रापितः। महान्यायालयेनापि स्वीकृता तदध्यक्षता। स चायं श्रेष्ठिताराचन्दमहाभागो दिगम्बरजैनसम्प्रदाये दृढमतिः प्रथितकीर्तिश्चापि पुष्टिमार्गीयेषु नारायणदासनिर्दिष्टेषु कार्येषु दक्षतया प्रबन्धं विरच्य शिक्षापत्रादिग्रन्थानां प्रकाशनमकरोत्। हन्त! सोऽपि दिवं प्रयातः प्रकाशनात्प्रागेवास्य ग्रन्थस्य।

जलबुद्बुदवत्क्षणभङ्गुरस्य देहस्य नश्वरतामधिगम्य स्वजीवनकाल एव श्रेष्ठिप्रवरेणानेन धीमतामग्रेसरेण नारायणदासेन स्वबुद्धिसामर्थ्येन समुपार्जितं द्रव्यं पुण्यकार्येषु योजितम्। तद्यथा—

१. १९७० तमे वैक्रमाब्दे ठट्ठाख्ये नगरे स्वजन्मदेशे वृद्धानां, पङ्गूनां, महम्मदीयानां च त्रासेन संरक्षितानां गवां रक्षणाय तन्नगरस्य पांजरापोलस्य स्थायिकोशमध्ये प्रभूतं द्रव्यमर्पितम्।

२. व्रजमण्डले उद्धवकुण्डक्षेत्रे चैका गोशाला स्थापिता या हि साम्प्रतमपि विश्वस्तैश्चाल्यते।

३. नगरठट्ठानगरे स्वभ्रातुश्चिरस्मरणार्थं त्रिविक्रमदासनाम्ना धर्मार्थमौषधालयश्च स्थापितः, यत्रैक आयुर्वेदाचार्य आयुर्वेदरीत्या चिकित्सां करोति, यत्र जातिभेदो धर्मभेदो वा न गण्यते, परं हिन्दुर्वा भवेत् महम्मदीयो यः कोऽपि वा भवेत्, तेभ्यः सर्वेभ्यो निःशुल्कमौषधं वितीर्यते। विगतवत्सरे ७१५१२ रुग्णानां निःशुल्कं चिकित्साऽभूत् ठट्ठानगरे। येषु ४०९९९ हिन्दूजातीयाः, ३०५१४ महम्मदीयाश्चासन्।

४. पुष्टिमार्गस्य प्रचाराय लक्षमितं द्रव्यं पृथगेव संरक्षितम्, येन पुस्तकप्रकाशनं, कराचीनगरे पुस्तकालयश्च प्रचलति।

५. व्रजमण्डले स्थितानां पुण्यसरसां रक्षणाय, यत्र जलाशयस्याभावस्तत्र नूतनजलाशयनिर्माणाय च लक्षपरिमितं द्रव्यं स्थापितम् ।

६. नगरठठ्ठाख्यनगरे माध्यमिकशिक्षाप्रचाराय हाइस्कूलसञ्ज्ञया पाठशाला लक्षमितेन द्रव्येण प्रचलति, यस्माच्छात्रेभ्यो मुम्वय्यामपि छात्रवृत्तिः प्रदीयते ।

७. स्वसेव्यभगवत्स्वरूपस्य मन्दिरनिर्माणाय तत्सेवाप्रबन्धाय च लक्षमितं द्रव्यं रक्षितम् । उद्धवकुण्डस्थितायां गोशालायां शतद्वयाधिका गावः पाल्यन्ते । नगरठठ्ठास्थे औषधालये प्रायो विंशतिसहस्राधिकाणां रुग्णानां निःशुल्कं चिकित्सा भवति प्रतिवर्षम् । एतच्छात्रवृत्तिं गृहीत्वा माध्यमिकं शिक्षणं समाप्य बी. ए., इंजिनियर, इत्यादिपरिक्षासु समुत्तीर्णाः स्वस्वकार्येषु परमोच्चपदारूढा ह्यभवन् बहवश्छात्राः । कराचीनगरे पञ्चविंशतिसहस्रमितेन द्रव्येण पुष्टिमार्गीयपुस्तकालयार्थमेको महालयो निर्मितः, यत्रास्ति दशसहस्राधिकानां ग्रन्थानां सङ्ग्रहः, प्रतिवर्षं पञ्चशतपुस्तकानि च वर्धन्त एव । प्रकाशनकार्यमपि प्रचलति यतोऽयं ग्रन्थः प्रकाश्यते, शिक्षापत्रम्, वृत्रासुरचतुःश्लोकी, भागवताध्यायार्थः, सहस्रीभावना, पुष्टिमार्गोपदेशिका, कीर्तनसङ्ग्रहश्चैते ग्रन्थाः प्रकाशिताः; वल्लभकुलस्य वंशचरितमपि मुद्यते, इतः परं भगवद्गीता रसिकरञ्जन्यादिटीकात्रयसमुपबृंहिता, व्याससूत्रसाहित्यं, प्राभञ्जनो मारुतशक्त्या समेतः, भक्तिमार्तण्ड इत्यादयो ग्रन्थाः प्रकाशमेष्यन्ति ।

एतस्य पृथगेव संरक्षिताद्द्रव्यात्सहस्रं प्रतिवार्षिकं ठठ्ठानगरे भाटियासूतिकागृहाय प्रदीयते, यत्र पूर्वं केवलं भाटियाज्ञातीयानामेव सूतिकानामुपचारोऽभवत्, तत्र सहायेनानेन सर्वासामपि हिन्दूसूतिकानां चिकित्सा भवति ।

ठठ्ठानगरे रात्रिशालायै प्रतिवर्षं शतद्वयं साहाय्यं दीयते ।

मुम्बायां वनिताविश्रामस्य विद्यार्थिनीभ्यः प्रतिमासं चत्वारिंशद्रूप्यकाणि प्रदीयन्ते, प्रतिवर्षं चतुःसहस्रमुद्राश्छात्रवृत्तौ प्रदीयन्ते मुम्बायां ठठ्ठानगरे कराचीनगरे च ।

नगरठठ्ठापुरि प्रतिवर्षं "हेण्डर्सन ब्लाइंड रिलीफ एसोसियेशन" द्वारा यदा नेत्ररोगचिकित्सकः समागच्छति, तदा नेत्ररोगोपचाराय ७५१ रूप्यकाणि व्ययीकृत्य नेत्ररोगिणां साहाय्यं प्रदीयते । नेत्ररोगचिकित्सार्थमपि तत्र गृहं निर्मितम् । यत्र सदाकालं नेत्रचिकित्सा भवेत् ।

एवमस्य नारायणदासस्य पृथग्रक्षितेन द्रव्येण बहूनि लोकोपकारकाणि कार्याणि विश्वस्तैः कुशलतया सम्पाद्यन्ते ।

व्रजमण्डले जलाशयानां जीर्णोद्धाराय प्रयत्यत इति प्रागेवावादि । तत्राद्यदिनं यावत् (१) मधुवनकुण्ड—(२) पतितपावनकुण्ड—(३) करनावरकुण्ड—(४) कल्लोलकुण्ड—(५) गोमुखकुण्ड—(६) गोविन्दकुण्ड—(७) गङ्गाकुण्ड—(८) ग्वालपोखर—(९) शीवीपोखर—(१०) विलछुकुण्ड—(११) हरिहरकुण्ड—(१२) कृष्णकुण्ड—(१३)

गोविन्दकुण्ड–(१४) चन्द्रसरोवर–(१५) हरिहरकुण्ड–(१६) क्षीरसागर (१७) विमलकुण्डगोघट्ट–प्रभृतीनां पुण्यजलाशयानां जीर्णोद्धारकार्यं सम्पन्नम्, प्रचलत्येवान्यदपि जीर्णोद्धारकार्यम् । चतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वराणां गो. श्रीवल्लभलालजीमहाराजानां मनीषया कामवने विमलकुण्डे खननं प्रचलति, कृतेऽपि प्रभूते व्यये यथोचितः समूहो जलस्य नाद्यावधि निर्गतः, किञ्च, आशास्यते भूरिजलं प्राप्स्यत इति, बोरिंगाख्ययन्त्रेण च खन्यते पुनरपि । परमत्र जलौघमिमं साक्षात्कर्तुं श्रीवल्लभलालजीमहाराजा न विराजन्ते, यतस्ते प्रागेव लीलां प्रविष्टा इति चेखिद्यते चेतः ।

कराचीनगरस्थपुस्तकालये ४२००० सङ्ख्यापरिमितैर्जनैर्निःशुल्कं धार्मिकानां नैतिकानां च ग्रन्थानां वाचनं कृतमिति प्रहर्षास्पदम् । पुस्तकालयश्चायं लोकाभिरुचिकरः सम्पन्नः, दैनंदिनं चास्य प्रगतिः प्रवर्धत एव । यत्र प्रो० पं० धर्मदत्तजेटलीमहाभागानां निरीक्षणं, तदनुरोधेनैव क्रेयपुस्तकादिनिर्वाचनं च भवति । आनन्दाश्रम-चौखम्बा-मैसूर-काश्मीर-बडौदा-प्रभृतिषु ग्रन्थमालासु प्रकाशितानां प्रायः सर्वेषामेवास्ति तत्र सङ्ग्रहः । विश्वस्तानां प्रो. जेटलीमहाभागानां च पुस्तकालयनिरीक्षकाणां, यावत्प्राप्यं संस्कृतसाहित्यं क्रीत्वा तत्र सङ्ग्राह्यमिति वर्तते मनीषा । मन्ये पञ्चषैरेव वत्सरैः पूर्णतामेष्यति तेषां मनोरथः । सिन्धुप्रदेशेऽपि भविष्यत्ययं पुस्तकालय आदर्शरूपः संस्कृतसाहित्यसेवकानां कृते ।

श्रेष्ठिनारायणदासजेठानन्दयोः पृथक्संरक्षितेन द्रव्येण मुम्बापुर्यां वालुकेश्वरसन्निधौ बाणगङ्गायामेकमारोग्यभवनमपि निर्मितं विश्वस्तैः, यस्मिन् स्वल्पेनैव भाटकेन मासत्रयावध्यधिवसन्त्यारोग्याकाङ्क्षिणो जनाः । तदिदमपि भवनं महान्यायालयानुज्ञयैव निर्मितम् ।

नारायणदासस्य पत्नी तस्य जीवनकाले अनपत्यतयैव दिवं प्रयाता; तथापि नारायणदासेन कनीयांसं जेठानन्दनामकभ्रातरमेव पुत्रभावेन पश्यता, द्वितीयोद्वाहाय मनसापि न विचारितम् । अयं सुगृहीतनामधेयो नारायणदासः १९८४ मिते वैक्रमाब्दे श्रावणकृष्ण ७ म्यां दिवं प्रययौ ।

कनीयसा जेठानन्देन भ्रातुः प्रयाणोत्तरं नारायणदासस्य सर्वोऽपि व्यवहारः, तेन निर्दिष्टानि धर्मकार्याणि च सादरं सबहुमानं च सम्पादितानि । परं दैवगत्या सोऽपि १९८५ तमे वैक्रमाब्देऽनपत्य एव भ्रातरमनु दिवं प्रययौ । तेनापि स्वजीवनकाल एव पत्न्यै यथोचितं द्रव्यं प्रदायावशिष्टोऽपि द्रव्यसङ्ग्रहो भ्रात्रा समारब्धेष्वेव लोकहितावहकार्येषु नियोजितः, यस्य विश्वासलेखो राजनियमानुसारेण कृत एव । महान्यायालयेनापि मानित एवेति ।

वर्तन्ते चोदारचरिता विश्वस्ताश्चात्र श्रीमती गं. भा. गोमतीबाई-जेठानंद,—श्रेष्ठिवर–परशोत्तमदास-व्रिजमोहनदास,—गोरधनदास-वीशनदास,—गोरधनदास-तुलसीदास,—गोरधनदास-नारायणदास,—द्वारकादास-जेठानन्दप्रमुखाः ।

एतेषां महामनसां विश्वस्तानां स्वकार्यदक्षतयाऽन्तरायपरम्परामुल्लंघ्य यथावत् सम्पन्नमिदं

कार्यम् । पूर्वोक्तविश्वस्तमहाशयानां व्यवस्थापकमहाभागानां चाविरतश्रमपरम्परया सत्परामर्शेन चाखिलः प्रबन्धोऽयं सामीचीन्येन प्रचलतीत्येतस्य सुरुचिरमिदं प्रतीकम् । यस्य कृते सर्वे चैते महाभागाः सर्वथा धन्यवादास्पदाः ।

एवमेतेषां श्रेष्ठिप्रवराणां धनेनेदमावरणभङ्गटिप्पणीयोजनादिसंवलितं तत्त्वार्थदीपनिबन्धस्य प्रथमं शास्त्रार्थप्रकरणं प्रकाशमायातीति प्रमोदास्पदम् ।

ग्रंन्थस्यास्य कृतेऽपि सूक्ष्मेक्षिकया संशोधने दृष्टिदोषसंभवाऽक्षरयोजकसंभवा वाऽशुद्धयो यत्र–कुत्रापि चेद् विदुषां दृक्पथमापतेयुस्तर्हि

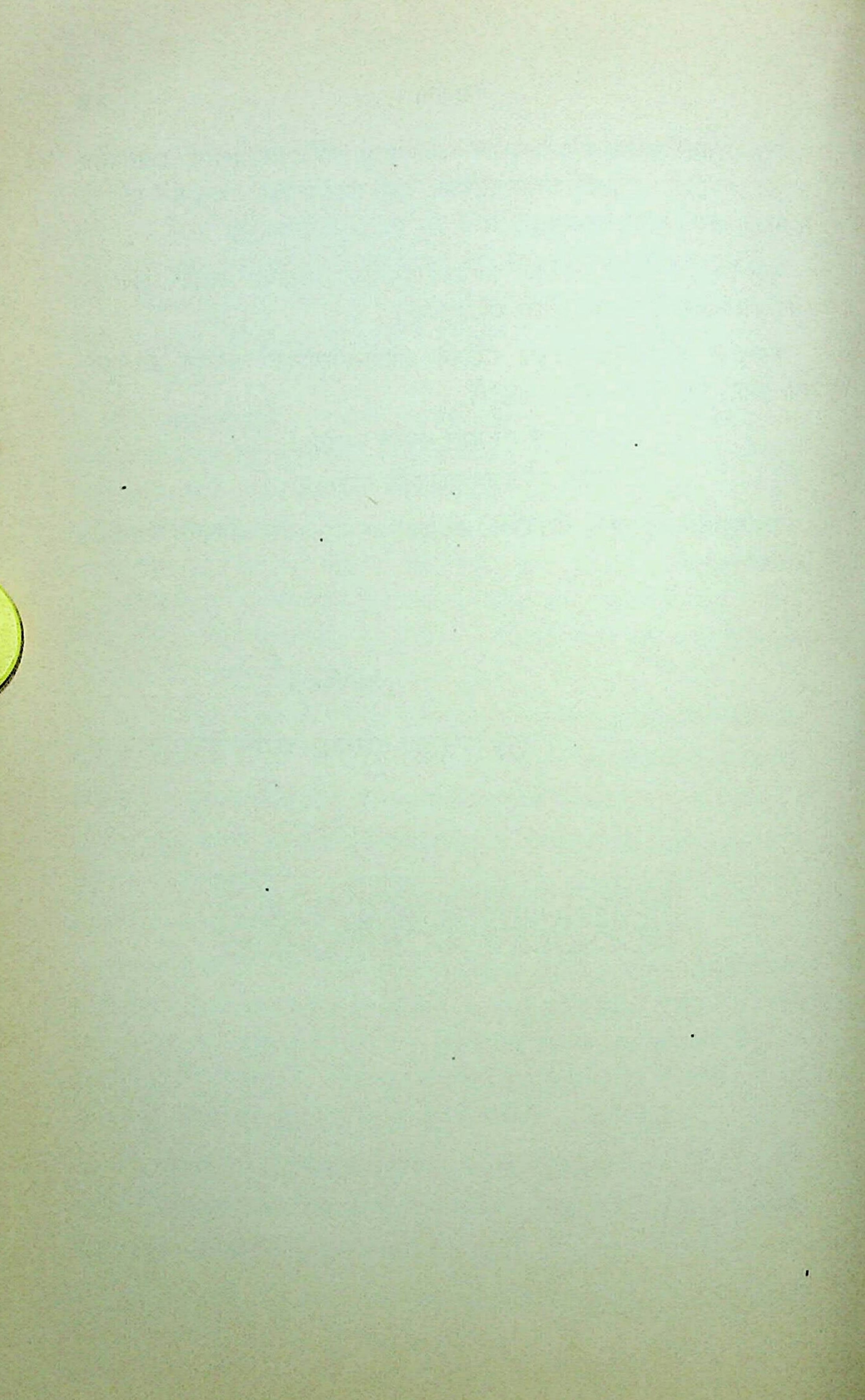
'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनः ॥'

इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्य स्खलनैकशीलत्वं मानवीयज्ञानस्य परिभावयन्तश्चाभियुक्ताः क्षम्येरन्निति विश्वस्यते—

सुधीजनविधेयेन

शुक्लोपनाम्ना हरिशङ्करशास्त्रिणेति शिवम् ।





॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



तत्त्वार्थदीपनिबन्धे

प्रथमं शास्त्रार्थप्रकरणम् ।

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे ।
रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः ॥ १ ॥
सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः ।
भवान्तसम्भवा दैवात्तेषामर्थे निरूप्यते ॥ २ ॥
भगवच्छास्त्रमाज्ञाय विचार्य च पुनः पुनः ।
यदुक्तं हरिणा पश्चात्सन्देहविनिवृत्तये ॥ ३ ॥
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।
मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ ४ ॥
इत्याकलय्य सततं शास्त्रार्थः सर्वनिर्णयः ।
श्रीभागवतरूपं च त्रयं वच्मि यथामति ॥ ५ ॥
वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।
त्रितये त्रितयं वाच्यं क्रमेणैव मयाऽत्र हि ॥ ६ ॥
वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥ ७ ॥
उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् ।
अविरुद्धं तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा ।
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन ॥ ८ ॥
अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदतः ।
विरुद्धांशपरित्यागात्प्रमाणं सर्वमेव हि ॥ ९ ॥
द्वापरादौ तु धर्मस्य द्विपरत्वाद्वयं प्रमा ।
विरुद्धवचनानां च निर्णयानां तथैव च ॥ १० ॥

यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे ।
अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते ॥ ११ ॥
सूर्यादिरूपधृग् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानाङ्गमीर्यते ।
पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिस्तथा ॥ १२ ॥
भजनं सर्वरूपेषु फलसिद्ध्यै तथापि तु ।
आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया ॥ १३ ॥
निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा साऽन्यसेवया ।
ज्ञानेऽपि सात्त्विकी मुक्तिर्जीवन्मुक्तिरथापि वा ॥
ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः ॥ १४ ॥
बुद्धावतारे त्वधुना हरौ तद्वशगाः सुराः ।
नानामतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनम् ॥
यथाकथञ्चित्कृष्णस्य भजनं वारयन्ति हि ॥ १५ ॥
अयमेव महामोहो हीदमेव प्रतारणम् ।
यत्कृष्णं न भजेत् प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरः कृती ।
तेषां कर्मवशानां हि भव एव फलिष्यति ॥ १६ ॥
ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत् ।
कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा चित्तं प्रसीदति ।
भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति ॥ १७ ॥
निष्ठाभावे फलं तस्मान्नास्त्येवेति विनिश्चयः ।
निष्ठा च साधनैरेव न मनोरथवार्तया ॥ १८ ॥
स्वाधिकारानुसारेण मार्गस्त्रेधा फलाय हि ।
अधुना स्वाधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ ।
कृष्णश्चेत् सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय हि ॥ १९ ॥
सर्वेषां वेदवाक्यानां भगवद्वचसामपि ।
श्रौतोऽर्थो ह्ययमेव स्यादन्यः कल्प्यो मतान्तरैः ॥ २० ॥
कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि ।
ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः ॥ २१ ॥
एतन्मतमविज्ञाय सात्त्विका अपि वै हरिम् ।
मतान्तरैर्न सेवन्ते तदर्थं ह्येष उद्यमः ॥ २२ ॥
प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत् ।
तच्छक्त्याऽविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते ॥ २३ ॥
संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित् ।

कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः ॥
पञ्चपर्वा त्वविद्या हि जीवगा मायया कृता ॥ २४ ॥
आकाशवद् व्यापकं हि ब्रह्म मायांशवेष्टितम् ।
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥ २५ ॥
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत् ॥ २६ ॥
बहु स्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत् सती ।
तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः ॥ २७ ॥
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया ।
विस्फुलिङ्गा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि ॥ २८ ॥
आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ।
सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता ॥ २९ ॥
अत एव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपतः ।
जडो जीवोऽन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः ॥ ३० ॥
विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते ।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता ॥ ३१ ॥
स्वरूपाज्ञानमेकं हि पर्व देहेन्द्रियासवः ।
अन्तःकरणमेषां हि चतुर्धाऽध्यास उच्यते ॥ ३२ ॥
पञ्चपर्वा त्वविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिम् ।
विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति ॥ ३३ ॥
देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति हि ।
तथापि न प्रलीयन्ते जीवन्मुक्तगताः स्फुटम् ॥ ३४ ॥
आसन्यस्य हरेर्वापि सेवया देवभावतः ।
इन्द्रियाणां तथा स्वस्मिन् ब्रह्मभावाल्लयो भवेत् ॥ ३५ ॥
आनन्दांशप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति ।
सायुज्यं वान्यथा तस्मिन्नुभयं हरिसेवया ॥
एवं कदाचिद् भगवान् साक्षात् सर्वं करोत्यजः ॥ ३६ ॥
कदाचित् पुरुषद्वारा कदाचित् पुनरन्यथा ।
कदाचित् सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः ॥ ३७ ॥
महेन्द्रजालवत् सर्वं कदाचिन्माययाऽसृजत् ।
तदा ज्ञानादयः सर्वे वार्तामात्रं न वस्तुतः ॥ ३८ ॥

वियदादि जगत् सृष्ट्वा तदाविश्य द्विरूपतः ।
जीवान्तर्यामिभेदेन क्रीडति स्म हरिः क्वचित् ॥ ३९ ॥
अचिन्त्यानन्तशक्तेस्तद् यदेतदुपपद्यते ।
अत एव श्रुतौ भेदाः सृष्टेरुक्ता ह्यनेकधा ॥ ४० ॥
यथाकथञ्चिन्माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते ।
भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं तत्त्वमस्यादिकं तथा ॥ ४१ ॥
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥ ४२ ॥
पञ्चात्मकः स भगवान् द्विषडात्मकोऽभूत्
पञ्चद्वयीशतसहस्रपरामितश्च ।
एकः समोऽप्यखिलदोषसमुज्झितोऽपि
सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि बहूपमोऽभूत् ॥ ४३ ॥
निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः ।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा ॥ ४४ ॥
तस्य ज्ञानाद्धि कैवल्यमविद्याविनिवृत्तितः ।
वैराग्यं साङ्ख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे ॥ ४५ ॥
पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेत् ॥
सत्त्वसृष्टिप्रवृत्तानां देवानां मुक्तियोग्यता ॥ ४६ ॥
तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित् कस्यचिद् भवेत् ॥
कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः ॥ ४७ ॥
सेवकं कृपया कृष्णः कदाचिन्मोचयेत् क्वचित् ।
तन्मूलत्वात् स्तुतिस्तस्य क्षेत्रस्य विनिरूप्यते ॥ ४८ ॥
तस्मात् सर्वं परित्यज्य दृढविश्वासतो हरिम् ।
भजेत श्रवणादिभ्यो यद्विद्यातो विमुच्यते ॥ ४९ ॥
ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा ।
सङ्घातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः ॥ ५० ॥
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि ।
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते ॥ ५१ ॥

मोहार्थशास्त्रकलिलं यदा बुद्धेर्विभिद्यते ।
तदा भागवते शास्त्रे विश्वासस्तेन सत्फलम् ॥ ५२ ॥
जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान् ।
व्यापकत्वश्रुतिस्त्वस्य भगवत्त्वेन युज्यते ॥ ५३ ॥
आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः ।
प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत् ॥ ५४ ॥
प्रकाशकं तच्चैतन्यं तेजोवत्तेन भासते ।
न प्राकृतेन्द्रियैर्ग्राह्यं न प्रकाश्यं च केनचित् ।
योगेन भगवद्दृष्ट्या दिव्यया वा प्रकाशते ॥ ५५ ॥ ५६ ॥
आभासप्रतिबिम्बत्वमेवं तस्य न चान्यथा ।
आनन्दांशतिरोधानात् तत्तद्धर्मत्वेन भासते ॥ ५७ ॥
मायाजवनिकाच्छन्नं नान्यथा प्रतिबिम्बते ।
तत्र वृत्तेर्द्वा सुपर्णाश्रुतेरपि विरुध्यते ।
गुहां प्रविष्टावित्युक्तेर्भगवद्वचनादपि ॥ ५८ ॥
जीवहानिस्तदा मुक्तिर्जीवन्मुक्तिर्विरुध्यते ।
लिङ्गस्य विद्यमानत्वादविद्यायां ततोऽपि हि ॥ ५९ ॥
अधिष्ठातुर्विनष्टत्वान्न देहः स्पन्दितुं क्षमः ।
प्रारब्धमात्रशेषत्वे सुषुप्तस्येव न व्रजेत् ॥ ६० ॥
तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य शोधितस्यापि युक्तितः ।
न विद्याजनने शक्तिरन्यार्थं तच्च कीर्तितम् ॥ ६१ ॥
ब्रह्मणः सर्वरूपत्वमवयुज्य निरूपितम् ।
अलौकिकं तत्प्रमेयं न युक्त्या प्रतिपद्यते ॥ ६२ ॥
तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः ।
विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित् सत्ययुगे पुमान् ॥ ६३ ॥
सर्वज्ञत्वं च तस्येष्टं लिङ्गं तेजोऽप्यलौकिकम् ।
तत्प्राप्तावपि नो मुक्तिर्जाग्रत्स्वप्नवदुद्भवः ।
अविद्याविद्ययोस्तस्माद् भजनं सर्वथा मतम् ॥ ६४ ॥
सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम् ।
सर्वशक्ति स्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम् ॥ ६५ ॥
सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम् ।
सत्यादिगुणसाहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकैः सदा ॥ ६६ ॥

सर्वाधारं वश्यमायमानन्दाकारमुत्तमम् ।
प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम् ॥ ६७ ॥
जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम् ।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम् ॥ ६८ ॥
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद्यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ६९ ॥
यः सर्वत्रैव सन्तिष्ठन्नन्तरः संस्पृशेन्न तत् ।
शरीरं तं न वेदेत्थं योऽनुविश्य प्रकाशते ।
सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत् ॥ ७० ॥
अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च ।
विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम् ॥ ७१ ॥
आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः ।
इन्द्रियाणां तु सामर्थ्यादृदृश्यं स्वेच्छया तु तत् ॥ ७२ ॥
आनन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्य फलनं यदा ।
तदा मरकतश्याममाविर्भावे प्रकाशते ॥ ७३ ॥
चतुर्युगेषु च तथा नानारूपवदेव तत् ।
उपाधिकालरूपं हि तादृशं प्रतिबिम्बते ॥ ७४ ॥
अथवा शून्यवद् गाढं व्योमवद् ब्रह्म तादृशम् ।
प्रकाशते लोकदृष्ट्या नान्यथा दृक् स्पृशेत् परम् ॥ ७५ ॥
आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि विद्यते ।
पक्षान्तरेऽपि कर्म स्यान्नियतं तत् पुनर्बृहत् ॥ ७६ ॥
स एव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो न हि ।
गुणाभिमानिनो ये हि तदंशाः सगुणाः स्मृताः ।
कर्ता स्वतन्त्र एव स्यात् सगुणत्वे विरुध्यते ॥ ७७ ॥
केचिदत्रातिविमलप्रज्ञाः श्रौतार्थबाधनम् ।
कृत्वा जगत्कारणतां दूषयन्ति परे हरौ ॥ ७८ ॥
अनाद्यविद्यया बद्धं ब्रह्म तत् किल कारणम् ।
स्वाविद्यया संसरति मुक्तिः कल्पितवाक्यतः ॥ ७९ ॥
एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम् ।
उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः ।
कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतस्तमः ॥ ८० ॥

ज्ञाननाश्यत्वसिद्ध्यर्थं यदेतद्धि निरूपितम्।
तदन्यथैव संसिद्धं विद्याविद्यानिरूपणैः॥ ८१॥
यन्मायिकत्वकथनं पुराणेषु प्रदृश्यते।
तदैन्द्रजालपक्षेण मतान्तरमिति ध्रुवम्।
नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचित्॥ ८२॥
वाचारम्भणवाक्यानि तदनन्यत्वबोधनात्।
न मिथ्यात्वाय कल्पन्ते जगतो व्यासगौरवात्॥ ८३॥
ज्ञानार्थमर्थवादश्चेच्छ्रुतिः सृष्ट्यादिरूपिणी।
अनङ्गीकरणाद्युक्तं विधिमाहात्म्ययोर्न तत्॥ ८४॥
अपवादार्थमेवैतदारोपो वस्तुतो न हि।
दृढप्रतीतिसिद्ध्यर्थमिति चेत् तन्न युज्यते॥ ८५॥
मुख्यार्थबाधनं नास्ति कार्यदर्शनतः श्रुतेः।
ऐन्द्रजालिकपक्षेऽपि तत्कर्तृत्वं नटे यथा॥ ८६॥
मुक्तिस्तदातिनष्टा स्यात् स्वप्नदृष्टगजेष्विव।
मायादीनां च कर्तृत्वं श्रुतिसूत्रैर्विबाध्यते॥ ८७॥
अकर्तृत्वञ्च यत् तस्य माहात्म्यज्ञापनाय हि।
विरुद्धधर्मबोधाय न युक्त्यैकस्य वारणम्॥ ८८॥
मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते।
तस्मादविद्यामात्रत्वकथनं मोहनाय हि॥ ८९॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥ ९०॥
अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा।
ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः॥ ९१॥
भिन्नत्वं नैव युज्येत ब्रह्मोपादानतः क्वचित्।
वाचारम्भणमात्रत्वाद् भेदः केनोपजायते॥ ९२॥
साङ्ख्यो बहुविधः प्रोक्तस्तत्रैकः सत्प्रमाणकः।
अष्टाविंशतितत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः॥ ९३॥
अन्ये सूत्रे निषिद्ध्यन्ते योगोऽप्येकः सदाहृतः।
यस्मिन् ध्यानं भगवतो निर्बीजेऽप्यात्मबोधकः॥ ९४॥
वैराग्यज्ञानयोगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा।
एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ९५॥

ज्ञाने लयप्रकारा हि जगतो बहुधोरिताः ।
मनसः शुद्धिसिद्ध्यर्थमेकः साङ्ख्यानुलोमतः ॥ ९६ ॥
इन्द्रियाणां देवतात्वभावनाप्रापणे तथा ।
गोविन्दासन्यसेवातः प्रापणं नान्यथा भवेत् ॥ ९७ ॥
अद्वयात्मदृढज्ञानाद् वैराग्यं गृहमोचकम् ।
वागादिविलयाः सर्वे तदर्थं मनआदिषु ॥ ९८ ॥
भावनामात्रतो भाव्या न हि सर्वात्मना लयः ।
मनोमात्रत्वकथनं तदर्थं जगतः क्वचित् ॥ ९९ ॥

भक्तिमार्गानुसारेण मतान्तरगता नराः ।
भजन्ति बोधयन्त्येवमविरुद्धं न बाध्यते ।
नैकान्तिकं फलं तेषां विरुद्धाचरणात् क्वचित् ॥ १०० ॥

एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः ।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः ॥ १०१ ॥
प्रेमाभावे मध्यमः स्याज्ज्ञानाभावे तथादिमः ।
उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत् ॥ १०२ ॥
तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति ।
योगयोगे तथा प्रेम स्तुतिमात्रं ततोऽन्यथा ॥ १०३ ॥

अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै-
रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः ।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रै-
र्निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव ॥ १०४ ॥

इति श्रीकृष्णव्यासविष्णुस्वामिमतवर्तिश्रीवल्लभदीक्षितविरचिते
शास्त्रार्थकथनं प्रथमं प्रकरणम् ॥ १ ॥


समाप्तं शास्त्रार्थप्रकरणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।



तत्त्वार्थदीपनिबन्धे

द्वितीयं सर्वनिर्णयप्रकरणम् ।



पञ्चात्मकं द्विरूपं च साधनैर्बहुरूपकम् ।
स्वानन्ददायकं कृष्णं ब्रह्मरूपं परं स्तुमः ॥ १ ॥
अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा ।
चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः ॥ २ ॥
तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत् ।
प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं तु वैकृतम् ॥ ३ ॥
ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुर्मोक्षः क्रमाद् भवेत् ।
अन्यथा स्वर्गसौख्यं तु द्विरूपं तत् क्रमाद्भवेत् ॥ ४ ॥
वाक्यशेषात्त्वात्मसुखं प्रसिद्धेर्लोक उच्यते ।
यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥ ५ ॥
स्पर्द्धासूयादिदुःखानि स्वर्गिणां स्युः सदा ध्रुवम् ।
प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वान्न ध्रुवोपरि तद्गतिः ॥ ६ ॥
न च स्वर्गादिलोकेषु वाक्यशेषोक्तमीर्यते ।
अत आत्मसुखं वाक्ये वाच्यं तत् सत्त्वतो भवेत् ।
शुद्धे सत्त्वगुणोद्भेदः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥ ७ ॥
अतस्तदेव हि फलं कामाभावेऽपि सिद्ध्यति ।
यागादेर्भगवद्रूपात्कामितं फलति स्फुटम् ॥ ८ ॥
श्लिष्टप्रयोगाद्वेदस्य परोक्षकथनं मतम् ।
बालानुशासनार्थाय रोचनार्थं तथा वचः ॥ ९ ॥
पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानाप्नोति निश्चयः ।
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ॥ १० ॥

अक्षरत्वं सर्वलोकाख्यमात्मरूपं न चान्यथा ।
नित्ये स्वर्गफलं नान्यत् पश्वादिर्विकृतौ फलम् ॥ ११ ॥
रूपं तदेव विकृतेः किञ्चित् साधनमन्यथा ।
विकृताद्धि हरेः किञ्चिद्विकृतं फलमीर्यते ॥ १२ ॥
नित्यकर्मप्रसिद्ध्यर्थं काम्यादीनां विधिः श्रुतौ ।
पशुपुत्राद्यभावे तु न नित्यं कर्म सिद्ध्यति ॥ १३ ॥
अङ्गेऽपि तत्फलं नित्ये ज्ञानादिभिरुदीर्यते ।
यथाकथञ्चिन्नित्यस्य सिद्धिर्वेदेन बोध्यते ॥ १४ ॥
ध्यानादिभिर्यथा मूर्त्तेरभिव्यक्तिः परात्मनः ।
आधानादिक्रियातोऽपि व्यक्तिर्यज्ञस्वरूपिणः ॥ १५ ॥
दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतम् ।
मोक्षः कामस्तयोरङ्गं धर्मो ह्यर्थेन साधितः ॥ १६ ॥
साधनं च फलं चैव हरिर्वेदे निरूप्यते ।
तदभिव्यक्तितः सर्वं पुरुषार्थस्वरूपतः ॥ १७ ॥
रूपप्रपञ्चकरणादासक्तस्वांशवारणे ।
श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव सः ॥ १८ ॥
इति नित्यः श्रुतेरर्थः सात्त्विकानां प्रकाशते ।
उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः ॥ १९ ॥
सर्वे वेदविदो जाताः स्वभावगुणभेदतः ।
तेषां प्रकृतिवैचित्र्याच्छ्रुत्यर्थो बहुधोदितः ॥ २० ॥
भावस्याज्ञानतः कर्ममात्रं केचिद् वदन्ति हि ।
लोकप्रतीतं स्वीकृत्य कदाचिद्भगवान् वदेत् ॥ २१ ॥
फलं तु सर्वमेवात्र तदंशत्वाद्भविष्यति ।
अतः कामनिषेधो हि क्वचिद्भगवतोदितः ॥ २२ ॥
यथोक्ते ह्यपुनर्जन्म ह्यन्यथा पुनरुद्भवः ।
तदर्चिरादिधूमादिमार्गद्वयमुदीरितम् ।
वैराग्यार्थं तदप्युक्तं पञ्चाग्निख्यापने श्रुतौ ॥ २३ ॥
बहु प्रकारमेकं हि कर्मवेदे प्रकाश्यते ।
भगवन्मूर्त्तितासिद्ध्यै ते सर्वे पूर्वजैर्धृताः ॥ २४ ॥
अल्पज्ञत्वादाधुनिकाः पाठज्ञानाक्षमा द्विजाः ।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥ २५ ॥
द्वापरान्ते हरिर्व्यासस्तदर्थं प्रथमं पृथक् ।

चातुर्होत्रविभागेन व्यस्तवान् वेदरूपतः ।
शाखाभेदास्तु तच्छिष्यैस्तेनैव प्रेरितैः कृताः ॥ २६ ॥
प्रकारभेदे पूर्वं तु विकल्पो ह्यैच्छिको मतः ।
अधुना नियतः शाखाभेदात्तत्तदधीतिषु ॥ २७ ॥
कर्मवद् ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः ।
तेषां भिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीति हि ।
कर्मशाखागताश्चक्रे निर्णयः पृथगेव हि ॥ २८ ॥
असन्दिग्धोऽपि वेदार्थः स्थूणाखननवत् कृतः ।
मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम् ॥ २९ ॥
जैमिनिः कर्मतत्त्वज्ञो निर्णयं पूर्व उक्तवान् ।
व्यासः स्वयं हि सर्वज्ञ उत्तरे निर्णयं जगौ ॥ ३० ॥
उभयोर्हि परिज्ञाने सर्ववेदार्थनिर्णयः ।
निर्णयो बहुभिर्नष्टः पश्चाद् वक्ष्ये तयोर्गतिम् ॥ ३१ ॥
पुरुषो विहितः षोढा करौ पादौ शिरोऽन्तरम् ।
शिरो ब्रह्म हरिः पूर्वं यज्ञः पञ्चविधः स्वयम् ।
अनन्तमूर्तिर्भगवांस्तेन शाखास्तथा कृताः ॥ ३२ ॥
स्मृतिर्बहुविधा प्रोक्ता वेदाचारविभेदतः ।
ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणं स्मृतिरुच्यते ॥ ३३ ॥
तदाचाराल्लोकतश्च न्यायान्नित्यानुमेयतः ।
प्रवृत्तिर्जीविका लोके व्यवहारो विशुद्धता ॥ ३४ ॥
सम्वादे चान्यशेषत्वान्न स्मृत्यर्थं स्पृशेच्छ्रुतिः ।
गृहादिरिव देहस्य धर्मस्योपकृतिः स्मृतिः ।
उभयोः समवाये तु धर्मः पुष्टो, न चाऽन्यथा ॥ ३५ ॥
गर्भाधानादिसंस्काराः सन्ध्योपास्त्यादिकं तथा ।
नित्यश्राद्धादिकर्माणि पाकयज्ञादिकं तथा ॥ ३६ ॥
प्रायश्चित्तमिति ह्येष पञ्चधा कर्मसङ्ग्रहः ।
नित्यानुमेयवेदस्तु मूलं पञ्चविधस्य हि ॥ ३७ ॥
व्रततीर्थादिकं काम्यं नित्यवद् बोध्यते क्वचित् ।
पूर्वाचारेण सम्प्राप्तं पुराणं मूलमस्य हि ॥ ३८ ॥
कृष्यादिजीविकाशास्त्रं पूर्वर्ष्याचारतः प्रमा ।
करदण्डादिशास्त्रस्य मूलं युक्तिः पुराविदाम् ॥ ३९ ॥

शुद्धिं केचित् पृथक् प्राहुः संस्कारः कस्यचिन्मतः ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मविभेदतः ॥ ४० ॥
षोढा शुद्धिः स्मृता साऽपि द्विधा ह्यन्योन्यतः स्वतः ।
सर्वशेषेयमाख्याता श्रुत्यर्थेऽपि विशेषतः ।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मो ह्यन्यथा भवेत् ॥ ४१ ॥
कल्पसूत्रेषु वेदत्वं स्मृतित्वं च प्रतीयते ।
अर्थतः कर्तृतश्चापि वेदत्वं पाठतः स्मृतिः ॥ ४२ ॥
सौकर्यार्थं कृतिस्तस्य सङ्कलीकृत्य वर्णनात् ।
तेनापि क्रियमाणस्तु धर्मः श्रौतो भवेद् ध्रुवम् ॥ ४३ ॥
इष्ट्यौपासनकर्माणि न श्रौतानि कथञ्चन ।
भेदाद्वैजात्यतश्चापि काल एकस्तयोः परम् ॥ ४४ ॥
कालबाधान्न कर्तव्यं स्मार्तं श्रौतो बली यतः ।
पश्चाद्वा गौणकालेऽपि कर्तव्यमिति केचन ॥ ४५ ॥
स्मार्तमात्रस्य करणादाभासो ब्राह्मणो भवेत् ।
स्वर्गाभासाद्यपि फलं श्रौतमात्रेऽपि चाखिलम् ॥ ४६ ॥
ब्रह्मप्रकरणं स्मार्तं कल्पसूत्रवदेव हि ।
पुराणमूलकं वाऽपि ह्याश्रमाचारतोदितम् ॥ ४७ ॥
पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत् ।
सर्वोपकरणानीव धर्मस्य नरगेहयोः ॥ ४८ ॥
तदज्ञाने सर्वमौढ्यं तेन तद् हृदयं स्मृतम् ।
भावयुक्तस्य धर्मस्य प्रमितौ तत् प्रयुज्यते ॥ ४९ ॥
सर्वसृष्टिपदार्थानां याथार्थ्यज्ञापनं ततः ।
शाखाविभागवत्तस्य विभागः सोऽन्यनेकधा ॥ ५० ॥
शतं कल्पास्ततोऽप्यन्ये सन्ति कृष्णेन निर्मिताः ।
सत्त्वेन रजसा वाऽपि तमसा वाऽप्यनेकधा ॥ ५१ ॥
नाना सृष्टिप्रकारा हि नाना धर्मा ह्यनेकधा ।
सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्त्ता तेषु तथोदितः ॥ ५२ ॥
सात्त्विकेषु तु कल्पेषु तत्प्रकारपुराणतः ।
आचारान्मुक्तिमाप्नोति भवस्त्वन्येषु केवलः ।
धर्महीनस्तत्सहितो राजसेषु सुखं ततः ॥ ५३ ॥
अपेक्षितं तु सर्वत्र सर्वोक्तं गृह्यते क्वचित् ।
इदानीं त्रिविधा जीवास्तेन त्रितयमीर्यते ॥ ५४ ॥

प्रवृत्त्यर्थं तु सर्वत्र मुक्तिः फलमुदीर्यते ।
तदवस्थापरित्यागाद्वचनं सत्यमेव हि ॥ ५५ ॥
चतुर्युगे तु व्यासानां नानात्वात् स्वस्वकालजम् ।
वृत्तान्तमाहुर्नान्यस्य कल्पान्तास्तेन कीर्तिताः ॥ ५६ ॥
सर्वनिर्द्धारणार्थाय व्यासो भारतमुक्तवान् ।
एकं कल्पमुपाश्रित्य स्त्रीशूद्राणां हिते रतः ॥ ५७ ॥
धर्मनिर्द्धारणं तत्र सर्वेषां समुदाहृतम् ।
प्रत्यब्दं वृक्षवत् कल्पा भुवनद्रुमरूपिणः ॥ ५८ ॥
अन्यकल्पोक्तरीत्याऽपि कथितो भगवान् स्वयम् ।
कल्पेऽस्मिन् सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णस्तु सर्वतः ।
सर्वतत्त्वं सर्वगूढं प्रसङ्गादाह पाण्डवे ॥ ५९ ॥
शुकवत्तद् व्यासगीतं सत्त्वेनास्यावतारतः ।
ईशवाक्यं तु तस्यापि दुर्बोधं भजनादृते ॥ ६० ॥
जीवा एव हि सर्वत्र व्यासाः साम्प्रतमेव हि ।
स्वयं भूत्वा हरिः कृष्णः स्वांशं व्यासं चकार सः ।
स्वज्ञापनाय भक्तानां पदप्राप्त्यै ततः परम् ॥ ६१ ॥
सत्त्वस्य व्यवधानत्वादात्मज्ञानात्तु योगतः ।
व्यासकार्यं समस्तं च कृतवानधिकं तथा ।
अनिर्वृतिस्ततो जाता तेन भागवतं कृतम् ॥ ६२ ॥
सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतयोदितः ।
ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः ॥ ६३ ॥
स इदानीं तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः ।
तद्व्यासत्वाद्भागवतं पूर्वं भगवतोदितम् ॥ ६४ ॥
विश्वासार्थं पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकम् ।
प्रतिपाद्येशलीलायाः पुराणार्थं त्वतः पुनः ॥ ६५ ॥
सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थं वेदत्वं तस्य नोक्तवान् ।
वेदकर्तृवचस्त्वाद्धि सतां सर्वं भविष्यति ॥ ६६ ॥
स्वस्यान्यस्य च निर्वाहं वेदः कर्तुं न हि क्षमः ।
अत्यन्तमलिना लोकास्ततो भागवतं कृतम् ।
एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात् ॥ ६७ ॥
कालादिधर्महेतूनामभावात् साम्प्रतं कलौ ।
वेदस्मृतिपुराणानामर्थाः सर्वे हि बाधिताः ॥ ६८ ॥

कालादिसाधनापेक्षारहितः सर्वतोऽधिकः ।
फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः ॥ ६९ ॥
योगसाङ्ख्ये तु ये मुख्ये तयोः सत्त्वे प्रयोजनम् ।
ज्ञानदुर्बलवादानां न मनोरथवार्तया ।
सिद्धिं यान्ति नरा दुष्टा व्यामोहस्तु ततः फलम् ॥ ७० ॥
ग्रन्थान् पुराणवाक्यानि वेदरूपेण च क्वचित् ।
कृत्वा वृथा वेषधराः कृष्णं नोपासते परे ॥ ७१ ॥
षडङ्गानि तथा वेदे वेदरक्षाफलानि हि ।
स्वरूपतोऽर्थतश्चैव ह्यनुष्ठानात् त्रिधा हि तत् ॥ ७२ ॥
शिक्षा छन्दः स्वरूपे तु निरुक्तं व्याकृतिस्तथा ।
अर्थे ज्योतिस्तथा कल्पो ह्यनुष्ठाने प्रयोजकः ।
विशेषतो हीदमुक्तं सर्वं सर्वत्र चैव हि ॥ ७३ ॥
ये धातुशब्दा यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः ।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित् ॥ ७४ ॥
साक्षाद्धर्मप्रतीतेस्तु कल्पः स्मृतिषु चिन्तितः ।
दर्शादिकालनिर्द्धारो ज्योतिःशास्त्रफलं स्मृतम् ॥ ७५ ॥
पदनिर्वचनाद्वेदे निघण्टुविवृतावपि ।
निरुक्तस्याङ्गता प्रोक्ता तथाऽल्पस्तस्य सञ्चरः ॥ ७६ ॥
व्याकृतिः पाणिनीयं हि प्रातिशाख्यं तु शब्दगम् ।
आदिमत्त्वाल्लक्षणानां नाङ्गत्वं पूर्वचोदितम् ॥ ७७ ॥
अनिङ्ग्यादि प्रातिशाख्ये विशेदू व्याकरणे तु तत् ।
छन्दसः पाठहेतुत्वं शब्दज्ञानोपयोगतः ॥ ७८ ॥
आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्याद्रक्षा च धनुषो भवेत् ।
उद्वेगहानिर्गान्धर्वे स्थापत्यं च सुगादिषु ॥ ७९ ॥
काव्यादीनामसत्यत्वान्नोपयोगः कथञ्चन ।
धर्मे कर्तुः क्वचित् कीर्तिर्नैपुण्यं पाठतः क्वचित् ॥ ८० ॥
रामायणमनन्तं हि पुराणमिव सन्मतम् ।
व्यासः पूर्वमनेकोक्तो वाल्मीकिः साम्प्रतं किल ।
समाधिभाषया प्राह प्रमाणं सर्वथैव तत् ॥ ८१ ॥
वाशिष्ठादेस्तु सम्वादात् प्रामाण्यं नान्यथा क्वचित् ।
न्यायस्तु नीतिशास्त्रं हि तर्को मीमांसया युतः ॥ ८२ ॥
मोहार्थान्यन्यशास्त्राणि बुद्धे कृष्णे तदिच्छया ।

देवांशैः कल्पितान्येव तदुक्तं सर्वथा मृषा ॥ ८३ ॥
प्रमेयं हरिरेवैकः सगुणो निर्गुणश्च सः ।
गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयश्च सः ॥ ८४ ॥
बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते ।
कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः ॥ ८५ ॥
अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतः ।
भगवत्त्वं यतस्तेषां तस्मात्तत्त्वानि तानि तु ॥ ८६ ॥
अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् कारणत्वं न चान्यथा ।
कारणत्वं न चैवास्ति चिदानन्दांशयोः स्वतः ॥ ८७ ॥
आनन्त्यमेव भेदानां तयोः कार्ये तथैव च ।
अतस्तेषां तु ये भेदा नोक्तास्ते हि विशेषतः ॥ ८८ ॥
स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रियाज्ञानविभेदतः ।
विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरेः ॥ ८९ ॥
विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च ।
केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्मः प्रवेशतः ॥ ९० ॥
तस्यैवोद्भूतरूपत्वात् क्रियाज्ञाने अपि स्वतः ।
अविकार्ये विकार्ये तु ह्यध्रुवे कार्यवन्मते ॥ ९१ ॥
वेदवाच्ये तु ये रूपे तदभिव्यक्तितः फलम् ।
अनुष्ठानाद् गुरोर्वापि लौकिके लौकिकं फलम् ।
प्रेमसेवात एव स्याद्विशिष्टव्यक्तिरुत्तमा ॥ ९२ ॥
कार्यभेदविभेदान् हि कल्पयित्वा विभागशः ।
वृथा शास्त्रप्रवृत्तिर्हि यस्मात् कार्यमतिर्वृथा ॥ ९३ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव पुरुषः प्रकृतिर्महान् ।
अहङ्कारः पञ्चमात्रा शब्दस्पर्शाकृती रसः ॥ ९४ ॥
गन्धो भूतानि पञ्चैव खं वायुर्ज्योतिरप्क्षितिः ।
क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दोर्मेण्ढ्राङ्घ्रिपायवः ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा मनः षडिति भेदतः ॥ ९५ ॥
आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविकः ।
अतो हि देवतावर्ग इन्द्रियेभ्यो न भिद्यते ॥ ९६ ॥
माया तु गुणरूपा हि कालस्तु भगवान् परः ।
सूत्रं महांस्तथा प्राणो बुद्धिश्चाहमभेदतः ॥ ९७ ॥
प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा ।

यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते ॥ ९८ ॥
आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि ।
मुख्यजीवस्ततः प्रोक्तः सृष्टीच्छावशगो हरिः ॥ ९९ ॥
इच्छामात्रात्तिरोभावस्तस्यायमुपचर्यते ।
ब्रह्मकूटस्थाऽव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरम् ॥ १०० ॥
सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन्नण्डानि कोटिशः ।
मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः ॥ १०१ ॥
प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः ।
अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्य हि ॥ १०२ ॥
हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वं परमात्मनः ।
तदुपासनया ज्ञानात् परमात्मत्वमस्य हि ॥ १०३ ॥
ज्ञानमार्गे त्वेतदेव सेव्यं कृष्णस्ततोऽधिकः ।
रूपान्तरं तु तस्यैव सर्वसामर्थ्यसंयुतम् ॥ १०४ ॥
चिदानन्दतिरोभावस्तदनुद्गम एव च ।
ईषत्सत्त्वांशप्राकट्यं बहिरन्तस्तु सर्वतः ॥ १०५ ॥
चिदानन्दावपि तथा स कालः सकलोद्भवः ।
क्रियाशक्तिप्रधानत्वान्नित्यगः सकलाश्रयः ॥ १०६ ॥
विकृतावेव तच्छक्तिः सर्वोत्पत्त्यन्तभावनः ।
ऐश्वर्यं भगवद्दत्तं तत्रैव प्रतितिष्ठति ॥ १०७ ॥
अत एवेश्वरः प्रोक्तः सर्वान्तर उदीरितः ।
आसुरादिमते तस्मान्नान्यः सेव्यः कथञ्चन ॥ १०८ ॥
मुख्याधिकारी कृष्णस्य प्रभुवत् फलसाधकः ।
सूर्यगत्या तु तद्भेदाः सूर्यस्तस्याधिभौतिकम् ।
आध्यात्मिकं तु तद्भेदाः क्वचिदिच्छाऽपि भेदिका ॥ १०९ ॥
विधिषेधप्रकारेण यः क्रियाशक्तिरुद्गतः ।
तत्कर्म प्रकटं तावद् यावत् फलसमापनम् ॥ ११० ॥
तदेकं भगवद्रूपं साधारण्येन सर्वगम् ।
अग्रपश्चाद्भावभेदा द्विधा प्रकटमुच्यते ॥ १११ ॥
सृष्टौ साधारणं तद्धि स्वांशेन प्रकटं यथा ।
कालवत् सकलं रूपमङ्गं तद्वशगं तथा ॥ ११२ ॥
इच्छामात्रप्रकटनं सर्वथा तत् तिरोहितम् ।
सर्ववस्त्वाश्रितं पश्चात् स्वभावोऽयं हरेस्तनुः ॥ ११३ ॥

वस्तूद्गमतिरोभावैस्तथा सत्त्वादिभिः पुनः ।
परिणामस्तु तत्कार्यं सर्वानुभवसाक्षिकम् ॥ ११४ ॥
सामान्यतो विशेषेण न प्रकाशः कदाचन ।
एवं कालस्तथा कर्म स्वभावो हरिरेव सः ॥ ११५ ॥
अतस्तदुद्गमः शास्त्रे न कदाचिदुदाहृतः ।
सर्वसाधारणत्वेन न तत्तत्त्वं तदेव तत् ॥ ११६ ॥
अभावः कारणं चात्र ध्वंसश्चापि तदुच्यते ।
कार्यादिशब्दवत् तस्मिन् सापेक्षा वृत्तिरेतयोः ।
अपृथग्विद्यमानत्वान्न धर्मैरधिको गणः ॥ ११७ ॥
आनन्त्येऽपि हि कार्याणां गणभेदो द्विधा मतः ।
समष्टिव्यष्टिभेदेन केवले जडजीवता ॥ ११८ ॥
सर्वेषां त्रिगुणत्वाद्धि त्रयो भेदाः पृथङ्मताः ।
आधिदैविकमध्यात्ममधिभूतमिति स्मृताः ॥ ११९ ॥
सच्चिदानन्दरूपेण देहजीवेशरूपिणः ।
व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः ॥ १२० ॥
अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथा परे ।
स्वभावकर्मकालाश्च रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा ॥ १२१ ॥
अविद्या प्रकृतिर्माया निद्रा चिन्तेन्द्रजालता ।
महत्तत्त्वं ब्रह्मरूपमस्मच्चित्तं तथैव ॥ १२२ ॥
अहङ्कारो रुद्ररूपमहङ्कारोऽस्मदादिषु ।
मनश्चन्द्रशरीरं च मनोऽस्माकं तथैव च ॥ १२३ ॥
चक्षुः सूर्यशरीरं च चक्षुरस्माकमेव च ।
मूलेन्द्रियाणि ब्रह्माण्डं देवदेहास्तथैव च ॥ १२४ ॥
अस्मदिन्द्रियवर्गश्च रूपत्रयमुदीरितम् ।
चन्द्रश्चन्द्राभिमानी च मनःप्रेरक एव नः ॥ १२५ ॥
सूर्यो मण्डलमानी च चक्षुःप्रेरक एव नः ।
एवं सर्वत्र तद्भेदाः स्वयमूह्या विभागशः ॥ १२६ ॥
तन्मात्राणि च भूतानां गुणाः कार्यगतास्तथा ।
महाभूतान्यावरणं मध्यभूतानि च क्रमात् ॥ १२७ ॥
अहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतीनां पुनस्तथा ।
मूलमावरणं चैव ब्रह्मान्तःकरणं तथा ॥ १२८ ॥
अन्येऽप्यवान्तरा भेदाः शतशः सन्ति सर्वशः ।

लोकपालास्तु ते त्वत्र स्वर्गस्थस्तु पुरन्दरः ॥ १२९ ॥
दशदिक्षु तु ते त्वत्र मध्यस्थस्तु पुरन्दरः ।
तादृशैरपरैर्देवैः प्रतिमन्वन्तरं पृथक् ॥ १३० ॥
लोकपालास्तथा भिन्नाः स्थानैः सह विभागशः ।
लोकालोके मानसे च मेरोर्मूर्ध्नि तथैव च ॥ १३१ ॥
ब्रह्मणोऽपि तथा सत्ये विराड्जीवस्तु भोगभुक् ।
गुणावतारस्त्वन्यः स्यादेवमन्यत्र सर्वशः ॥ १३२ ॥
कैलासादिविभेदश्च तथा वैकुण्ठवासिनः ।
कृत्रिमं च ध्रुवस्थानं श्वेतद्वीपं तथैव च ।
एवमेकप्रकारेण गुणतस्त्रिविधं मतम् ॥ १३३ ॥
सूर्यश्चक्षुस्तथा रूपं गोलकं चेति वा भिदा ।
बुद्धिः खानि तथा मात्राः क्वचिदेवं भिदात्रयम् ॥ १३४ ॥
भगवद्व्यतिरिक्तानां घटादीनां यथोद्भवः ।
व्यवहारे तथा ज्ञानक्रिययोरपि निश्चयः ॥ १३५ ॥
न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचन ।
अविद्यायास्तथा बुद्धेर्न शुद्धत्वं कदाचन ॥ १३६ ॥
बुद्धेर्वृत्तिः स्थितिर्नाम गुणतः सा त्रिधा मता ।
अतो जागरणादीनि जीवस्तद्व्यवगो यतः ॥ १३७ ॥
सुखदुःखसमुत्पत्तिर्नित्या ब्रह्मसुखात् पृथक् ।
अन्धन्तमःप्रवेशाच्च ह्रीच्छादीनां च सर्वशः ॥ १३८ ॥
मनोधर्माश्च ये चान्ये भगवत्सङ्गवर्जिताः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते घटादिरिव नान्यथा ॥ १३९ ॥
आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः ।
भक्त्या त्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद्धरौ सदा ॥ १४० ॥
सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः ।
वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः ॥ १४१ ॥
मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम् ।
मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तदा ।
तिरोभावस्तथैव स्याद् रूपान्तरविभेदतः ॥ १४२ ॥
वृद्धिर्विपरिणामश्च तथाऽपक्षय एव च ।
पूर्वरूपतिरोभावो द्वितीयस्यादिमस्तथा ॥ १४३ ॥
उभावेकीकृतौ लोके वृद्ध्यादिभिरुदीरितौ ।

परिमाणाधिक्यतश्च वैजात्यान्न्यूनभावतः ॥ १४४ ॥
मनश्चान्नमयं वेदे तदस्माकमथापि वा ।
पोषितत्वात्तदन्नेन तद्रूपेणोपवर्ण्यते ॥ १४५ ॥
एवं सृष्टिप्रभेदेषु कल्पेषु च तथैव च ।
प्रकारभेदा दोषाय न भवन्ति तदिच्छया ॥ १४६ ॥
इन्द्रियाणां प्रमाणत्वं सत्त्वयोगान्न चान्यथा ।
सत्त्वस्य तारतम्येन याथार्थ्यं वस्तुनः स्फुरेत् ।
अतः प्रमाणगणना लोकेषु न विचार्यते ॥ १४७ ॥
व्यवहारः सन्निपातो गुणानां स च लौकिकः ।
शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्धः प्राणिमात्रस्य सर्वतः ॥ १४८ ॥
तस्य त्रिविधरूपत्वान्नाममात्रेण सा प्रमा ।
तस्माद्वेदादिरेवात्र प्रमाणं तच्च कीर्तितम् ॥ १४९ ॥
अपञ्चीकृतरूपं हि सूत्रमात्रं हरिः स्वयम् ।
सुषुम्णामार्गतो व्यक्तः शब्दब्रह्म प्रकाशते ॥ १५० ॥
पञ्चाशद्वर्णरूपश्च सूक्ष्मो नित्यो निरन्तरः ।
सर्वतोऽन्तोऽनन्तरूपो बहुरूपः स्वभेदतः ॥ १५१ ॥
वर्णः पदं तथा वाक्यं तस्य नामत्रयं मतम् ।
द्वयं चाविकृतं लोके वेदे सर्वं स्वयं हरिः ॥ १५२ ॥
वर्णाः पदानि सर्वाणि भगवद्वाचकत्वतः ।
सर्वार्थाण्येव सर्वत्र व्यवहृत्यै तथापि तु ।
शक्तिसङ्कोचतो लोके विशेषव्यापकानि वै ॥ १५३ ॥
तत्र व्याकरणादीनां व्यवस्थापकता मता ।
देशे देशे तथाचारो भाषाभेदैरनेकधा ॥ १५४ ॥
अनन्तमूर्तयो वर्णाः पदे तेनार्थवाचकाः ।
केवलाः कोशतो ज्ञेया वाचकाः पदतोऽथवा ॥ १५५ ॥
पदं न वाचकं वाक्ये साहश्यात् स्मारकं परम् ।
विशिष्टं वाक्यमेवात्र वाक्यार्थस्य च वाचकम् ॥ १५६ ॥
पदान्तरप्रवेशेन विशिष्टे वाच्यवाचके ।
पदवद्वाक्यभेदश्च वाक्यार्थश्चापि भिद्यते ॥ १५७ ॥
अवान्तराणां वाक्यानां स्मारकत्वं तथा परे ।
वाक्यमेकं हरिश्चैको वेदवाक्यार्थरूपधृक् ॥ १५८ ॥
अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च ।

अयोऽपि वैदिका भिन्ना नानाधर्मयुतास्तथा ॥ १५९ ॥
सादृश्येऽपि न वेदत्वं तादृग्वाक्ये ततोऽन्यतः ।
अधिकारिविभेदेन धर्माधर्मौ तथा मतेः ॥ १६० ॥
प्रत्येकं पूर्णता वाक्ये शाखाभेदेषु सर्वतः ।
दर्शादिषु तदङ्गेषु मन्त्रमात्रे तथैव च ।
हरिस्तत्तत्स्वरूपेण तस्मात्सर्वत्र वाचकः ॥ १६१ ॥
पुराणे च ततोऽन्यत्र वाक्यार्थौ बुद्धिकल्पितः ।
पदानामानुपूर्वी तु तत्र कल्प्या ह्यनेकधा ॥ १६२ ॥
सर्वप्रतीतिनाशे तु तन्नाश उपचर्यते ।
तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेर्न दूषणमिहाण्वपि ॥ १६३ ॥
अद्यापि तानि जायन्ते घटवज्ज्ञानतः स्थितिः ।
विप्रलिप्सादिमूलत्वादप्रामाण्यं च लौकिके ॥ १६४ ॥
अप्रामाण्येऽपि प्रामाण्यं कर्तृविश्वासतः क्वचित् ।
अतो वेदाद्यसम्वादी नार्थो ग्राह्यः कथञ्चन ॥ १६५ ॥
वेदे सर्वत्र नाधिक्यं वाक्ये न न्यूनताऽपि वा ।
अतो न वाक्यभेदः स्याल्लोके तत्रैव दूषणम् ॥ १६६ ॥
भूतसूक्ष्मो ध्वनिर्वर्णो नामसृष्टौ निरूप्यते ।
प्रकृतिप्रत्ययो लोके व्युत्पत्त्यर्थं निरूपितौ ॥ १६७ ॥
नैतावता कृत्रिमत्वं शब्दे वक्तुं हि शक्यते ।
प्रपञ्चभेदात् तत्त्वानामाधिक्यं वर्णतो न हि ॥ १३८ ॥
संस्कारमात्रविलयादथ वा तद्विलीनता ।
तदभावाद्वासुदेवे तच्छब्देषु न लीनता ॥ १६९ ॥
अस्मदादिमुखेनापि क्रीडार्थं सर्वतो हरिः ।
शब्दभेदं वितनुते रूपेष्विव विनिश्चयः ॥ १७० ॥
वाक्यार्थयोग्यावयवैर्वाक्यं सर्वत्र सम्मतम् ।
आकाङ्क्षा योग्यताऽऽसत्तिः पदे तस्मादुदीरिता ॥ १७१ ॥
मृदा घोटकनिर्माणे न शृङ्गकरणं मतम् ।
तथा युक्तार्थबोधाय नाऽऽकाङ्क्षारहितं पदम् ॥ १७२ ॥
अर्थद्वारा पदे धर्मा लोकदृष्ट्यैव कल्पिताः ।
तस्माद्वाक्यं सर्वमेव सा यतो विश्वतोमुखी ॥ १७३ ॥
पदद्वयं सुप्तिङन्तं ताभ्यां चलति वाक्पतिः ।
पदानि बहुशः सन्ति सुप्तिङ्मध्यविभेदतः ॥ १७४ ॥

तन्त्राऽसकारवालादि ते भिन्ना अंशतः परे ।
तदुदाहरणे श्लेषस्तत्र योगादिकल्पना ॥ १७५ ॥
फलार्थं लक्षणा प्रोक्ता गौणी चाप्युपचारतः ।
प्राकट्येषत्तिरोधावतिरोधानैर्हरिर्विभौ ॥ १७६ ॥
प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य, न विध्यर्थस्य कर्हिचित् ।
कार्यतादिपरिज्ञानमुत्पाद्यैष प्रवर्तयेत् ॥ १७७ ॥
अनिष्टमिष्टं साध्यं वा नासाध्यं किञ्चिदस्ति हि ।
तथापि यतते कश्चित् क्वचिदेव हरीच्छया ॥ १७८ ॥
मिथ्याप्रलोभनं वेदे न क्वचित् कर्हिचिद्भवेत् ।
तथैव कर्मविज्ञानं धर्मस्तेनैव नान्यथा ॥ १७९ ॥
साधनानि स्वरूपं च सर्वस्याह श्रुतिः फलम् ।
न प्रवर्तयितुं शक्तास्तथा चेन्नरको न हि ॥ १८० ॥
लोकेऽपि राजदण्डादेरन्यथाविषयो न हि ।
प्रेरको भगवानात्मा स्वात्मना दोषवर्जितः ॥ १८१ ॥
न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिँस्तारतम्यं न चैव हि ।
अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत्तु निरूपितम् ॥ १८२ ॥
आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥ १८३ ॥
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति ।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् ॥ १८४ ॥
वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः ।
तथैव विधिवत् कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता ।
आचारो वृत्तिहीनश्चेदर्द्धं फलति नाखिलम् ॥ १८५ ॥
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च लङ्घनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ १८६ ॥
शिलोञ्छवृत्त्या सन्तुष्टः श्रौतं कर्माखिलं चरेत् ।
तपःस्वाध्यायनिरतो ह्यग्निहोत्रादिपञ्चकम् ॥ १८७ ॥
स्मार्तं कृताकृतं तस्य सर्वं जानन् हरिं यथा ।
क्रमेण मुक्तिमाप्नोति ब्रह्मलोकं परं गतः ॥ १८८ ॥
एतस्य तारतम्येन मानुषानन्दतो द्विजः ।
अक्षरानन्दपर्यन्तमानन्दान् विन्दते क्रमात् ॥ १८९ ॥

उपास्त्यानन्दपर्यन्तं पुनर्जन्म मपेक्षकम् ।
तत्तद्रूपेण लोकेषु भोगान् भुक्त्वा तथाविधान् ॥ १९० ॥
एकाश्रमेण वा तिष्ठेद्विशेद्वा समनन्तरम् ।
आयुर्भागक्रमेणैव चतुष्टयमथापि वा ॥ १९१ ॥
त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि तत् ।
शास्त्रेऽपि भगवानाह दण्डस्यैकस्य धारणम् ।
प्रतिपत्तिरियं सर्वा देहस्य ज्ञानिनो भवेत् ॥ १९२ ॥
आद्यन्तयोस्तु भिक्षाऽन्नं द्वितीये तु शिलोञ्छनम् ।
तृतीये वन्यभेदाः स्युर्भिक्षायामपि संयमः ॥ १९३ ॥
गुरुसेवा कर्मकृतिस्तपः पर्यटनं क्रमात् ।
स्वाध्यायेन तथा कृत्या तपसा मानसा मखाः ।
अत्यावश्यकमेतद्धि चतुर्णां तत्पृथक् पृथक् ॥ १९४ ॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ १९५ ॥
उत्तरोत्तरधर्मेषु निष्ठायामधिकं फलम् ।
तस्य चेत् परमा भक्तिस्तिरोधानं भविष्यति ।
भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते ॥ १९६ ॥
अयं हि सर्वकल्पानामुत्तमः परिकीर्तितः ।
त्रिषु स्वाश्रमधर्मेषु प्रथमे वा प्रतिष्ठितः ॥ १९७ ॥
न्यासे सर्वपरित्यागी नष्टाहम्ममताभिदः ।
योगमुत्तममास्थाय लोकातीतो बहिर्दृशिः ॥ १९८ ॥
असम्प्रज्ञातयोगेक्षो देहत्यागे विमुच्यते ।
तादृशस्य बलाद्वापि देहत्यागो विमुक्तिदः ॥ १९९ ॥
सम्प्रज्ञातसमाधिस्थः साङ्ख्येनात्मविभिन्नदृक् ।
विकृतं प्रकृतेः कार्यं मायेति त्यक्तविग्रहः ॥ २०० ॥
एवं योगं च साङ्ख्यं च समास्थापयति कृती ।
योगेन त्यक्तदेहश्चेत्क्रमान्मुक्तिं स विन्दति ॥ २०१ ॥
ब्रह्मलोकप्रवृत्तानां या गतिस्तस्य सा भवेत् ।
भक्ताधिकारिणां मुक्तिरन्यथा प्रकृतौ लयः ॥ २०२ ॥
पुनः सृष्टौ तथैश्वर्यं कर्मिणां पुनरागतिः ।
आसन्योपासकानां तु ब्रह्मणा सह मुक्तता ॥ २०३ ॥
अभक्ते पुनरावृत्तिर्योगनिष्ठां गतस्य तु ।

ऐश्वर्यादि हरेर्भक्तो भित्त्वाण्डं प्रविशेद्धरिम् ॥ २०४ ॥
केवलेन हि साङ्ख्येन विविक्ताध्यात्मसंस्थितिः ।
नैव किञ्चित् करोमीति दृढबुद्धिरसक्तधीः ।
अन्तेऽप्येवं सदा ध्यायन्नविघातो विमुच्यते ॥ २०५ ॥
केवलेनापि योगेन दग्धकर्ममलाशयः ।
योगवीर्येण जितदृग् लिङ्गं भित्त्वा तथा भवेत् ॥ २०६ ॥
योगसाङ्ख्ये धर्महीने विमार्गपरिपोषिते ।
नरकायैव भवतः पश्चात्किञ्चित्सुखं भवेत् ॥ २०७ ॥
ज्ञानाङ्गे चित्तरोधे च तौ प्रमाणं न सर्वथा ।
पदार्थतत्त्वनिर्द्धारे न प्रमाणं कथञ्चन ॥ २०८ ॥
फलांशे तु प्रमत्तस्य शास्त्रमात्रपरस्य हि ।
नरकस्त्वन्यथाभावात्तेन मूले विनिन्दितौ ॥ २०९ ॥
फलांशे तु स्तुतौ कृष्णवाक्ये भागवतेऽपि च ।
तदन्येषां मतानां तु सर्वथा व्यर्थता मता ।
न तैरिष्टेन युज्येत मिथ्यार्थाऽभिनिवेशतः ।
तस्माद्वेदोक्तमार्गेषु न स्वल्पोऽपि पतेद्बुधः ।
अतः स एव सद्धर्मैः सेव्यो वर्णिभिरादरात् ॥ २१० ॥
धर्ममार्गं परित्यज्य छलेनाधर्मवर्तिनः ।
पतन्ति नरके घोरे पाषण्डमतवर्तनात् ॥ २११ ॥
अधुना तु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः ।
स्वाध्यायादिक्रियाहीनास्तथाऽऽचारपराङ्मुखाः ॥ २१२ ॥
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते ।
विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता जिह्वोपस्थपरायणाः ॥ २१३ ॥
व्रात्यप्रायाः स्वतो दुष्टास्तत्र धर्मः कथं भवेत् ।
षड्भिः सम्पद्यते धर्मस्ते दुर्लभतराः कलौ ॥ २१४ ॥
अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत्सदा ।
श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित्तरिष्यति ॥ २१५ ॥
अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात् तथा ।
नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते ॥ २१६ ॥
पूर्वसंस्कारतस्तत्र भजन्मुच्येत जन्मभिः ।
अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् संसारे न भवेत्तदा ।
एतावन्मात्रताऽप्यस्ति मार्गेऽस्मिन्मुरवैरिणः ॥ २१७ ॥

सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे ।
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम् ॥ २१८ ॥
एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः ।
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा ॥ २१९ ॥
विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम् ।
तत्साधनं नवविधा भक्तिस्तत्प्रतिपादिका ॥ २२० ॥
गीता सङ्क्षेपतस्तस्या वक्ता स्वयमभूद्धरिः ।
तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम् ।
व्यासः समाधिना सर्वमाह कृष्णोक्तमादितः ॥ २२१ ॥
मार्गोऽयं सर्वमार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः ।
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः ॥ २२२ ॥
वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु ।
क्रियमाणे न धर्मः स्यादतस्तस्मान्न मोचनम् ॥ २२३ ॥
बुद्धिमानादरं तस्मिँश्छले साध्येऽपि दुःखतः ।
त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत् ॥ २२४ ॥
विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुध्यते ।
कल्पितैरेव बाधः स्यादवोचाम प्रमाणताम् ॥ २२५ ॥
सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि ।
तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि ।
कृपायुक्तस्य तु यथा सिध्येत् कारणमुच्यते ॥ २२६ ॥
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात् ॥ २२७ ॥
तदभावे स्वयं वाऽपि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम् ॥ २२८ ॥
साकारव्यापकत्वाच्च मन्त्रस्यापि विधानतः ।
श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः ॥ २२९ ॥
यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि ।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम् ॥ २३० ॥
भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् ।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत् ।
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः ॥ २३१ ॥

सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेक यासं हरौ नयेत् ।
पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतमादरात् ॥ २३२ ॥
सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनात् ।
वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत् ॥ २३३ ॥
एतद्देहावसाने तु कृतार्थः स्यान्न संशयः ।
इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा ॥ २३४ ॥
सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनः स्थिरम् ।
दृढविश्वासतो युक्त्या यथा सिद्ध्येत्तथाऽऽचरेत् ।
वृथालापक्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजेत् ॥ २३५ ॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेद्ध्रुवम् ॥ २३६ ॥
स्वयं परिचरेद्भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः ।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत् ॥ २३७ ॥
स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् ।
इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम् ॥ २३८ ॥
एतद्विरोधि यत् किञ्चित्तत्तु शीघ्रं परित्यजेत् ।
धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन् ॥ २३९ ॥
यथा यथा हरिः कृष्णो मनस्याविशते निजे ।
तथा तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धते ॥ २४० ॥
कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना ।
अहङ्कारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत् ॥ २४१ ॥
सर्वथा तद्गुणालापं नामोच्चारणमेव वा ।
सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निःस्पृहस्ततः ॥ २४२ ॥
साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात् ।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः ॥ २४३ ॥
शङ्खचक्रादिकं धार्यं मृदा पूजाङ्गमेव तत् ।
तुलसीकाष्ठजा माला तिलकं लिङ्गमेव तत् ॥ २४४ ॥
एकादश्युपवासादि कर्तव्यं वेधवर्जितम् ।
तथा कृष्णाष्टमी चापि सप्तमी वेधवर्जिता ।
अन्यान्यपि तथा कुर्यादुत्सवो यत्र वै हरेः ॥ २४५ ॥
एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम् ।

अन्येषां सम्भवेत्तु स्याद्यतेः पर्यटनं वरम् ॥ २४६ ॥
विक्षेपादथवा शक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचित् ।
अत्याग्रहप्रवेशो वा परपीडादिसम्भवे ।
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा ॥ २४७ ॥
यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः ।
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दिनान्नाधिकस्य हि ॥ २४८ ॥
हतत्रपः पठेन्नित्यं नामानि च कृतानि च ।
एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत्कृष्णतत्परः ॥ २४९ ॥
देहपातनपर्यन्तमव्यग्रात्मा सदागतिः ।
उत्तमोत्तममेतद्धि पूर्वमुत्तममीरितम् ॥ २५० ॥
गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।
कृष्णार्थं तन्नियुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः ॥ २५१ ॥
धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।
कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः ॥ २५२ ॥
अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतमादरात् ।
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम् ॥ २५३ ॥
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
तदभावे यथैव स्यात्तथा निर्वाहमाचरेत् ।
त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णमवाप्नुयात् ॥ २५४ ॥
जगन्नाथे विठ्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा ।
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात्तत्र तिष्ठेत तत्परः ॥ २५५ ॥
एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गतिसाधनसंयुतम् ।
कर्ममार्गे प्रवक्ष्यामि भ्रान्तानां बहुशः फलम् ॥ २५६ ॥
अयथाज्ञानतः कर्म कुर्वाणास्त्रिविधा मताः ।
सात्त्विकादिविभेदेन कर्म चाऽपि त्रिधा भवेत् ॥ २५७ ॥
सात्त्विकः सात्त्विकं कर्म यथाश्रुतिपरः कृती ।
स्वर्गलोकस्तस्य सिद्ध्येद्विमानस्त्रीभिरावृतः ॥ २५८ ॥
पुण्यस्य तु तिरोधाने पतत्यर्वाक्छिरास्ततः ।
पुण्यशेषं समादाय समीचीनेषु जायते ॥ २५९ ॥
राजसं कर्म कुर्वाणो मेर्वादिसुखभाग् भवेत् ।
तामसं कर्म कुर्वाणः पाताले सुखभाग् यथा ॥ २६० ॥

राजसः सात्त्विकं कुर्वन् दैत्यसर्गेषु जायते ।
राजसं कर्म कुर्वाणश्चन्द्रलोके सुखी भवेत् ॥ २६१ ॥
वृष्टिद्वाराऽन्नरूपः सन् रेतोयोनिषु जायते ।
तामसं कर्म कुर्वाणो यक्षलोके सुखी भवेत् ॥ २६२ ॥
तामसः सात्त्विकं कुर्वन् पितृलोके महीयते ।
राजसं कर्म कुर्वाणो भूतादिसुखमाप्नुयात् ।
तामसं कर्म कुर्वाणः सर्पादिसुखभुग् भवेत् ॥ २६३ ॥
सर्वेषां पुनरावृत्तिस्तथा कर्म पुनर्भवः ।
एवं त्रयीधर्मपरा गतागतमवाप्नुयुः ॥ २६४ ॥
तत्तद्देवोपासकानामाजन्मोपासने फलम् ।
तत्तत्सायुज्यरूपादि वेदोक्तानामनेकधा ।
पौराणिकानां च तथा निषिद्धेतरभावतः ॥ २६५ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ २६६ ॥
विहितानेककर्तॄणां देहान्ते यदुपासनम् ।
तत्सायुज्यादिसिद्धिः स्यात्तत्पोषोऽन्यस्य वै फलम् ॥ २६७ ॥
कर्मणां गहना रीतिर्ब्रह्मणापि न बुध्यते ।
ईश्वरत्वात्तदिच्छायाः प्रधानत्वादनेकधा ।
तदुद्रेकोऽवसाने स्यात् कृपाक्रोधविभेदतः ॥ २६८ ॥
कृपयाऽधमतां प्राप्य भक्तं वै मोचयेत् क्वचित् ।
अनियुक्ततपस्यानां पीडया क्रोधतः क्वचित् ।
हीनभावं नयत्येष दुष्टं वा मोचयेत् क्वचित् ॥ २६९ ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ २७० ॥
अतश्च सुतरामेव कर्ममार्गो दुरत्ययः ।
अतोऽपि भजनं कार्यं भजनेन हि तादृशम् ॥ २७१ ॥
अन्योन्यनाशकत्वं च कर्मणां भवति क्वचित् ।
कर्ममार्गे फलं तस्मान्न निरूप्यं हि सर्वथा ॥ २७२ ॥
जायस्वेति म्रियस्वेति तृतीयो यदुदाहृतः ।
प्रकीर्णकानां सर्वेषां तत्फलं परिकीर्तितम् ॥ २७३ ॥
ईश्वरालम्बनं योगो जनयित्वा तु तादृशम् ।

बहुजन्मविपाकेन भक्तिं जनयति ध्रुवम् ॥ २७४ ॥
साङ्ख्येऽपि भगवच्चित्ते फलमेतन्न चान्यथा ।
समर्पणात् कर्मणां च भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥ २७५ ॥
योगेन तु निषिद्धेन यदि देहः प्रसिद्ध्यति ।
तदा कल्पान्तपर्यन्तं भावनातस्तु सत्फलम् ।
अन्यथा नरके पातो हठभूमौ तु संस्थितिः ॥ २७६ ॥
छलयोगस्तथा साङ्ख्यं शाक्तो मार्गोऽभिधीयते ।
सिद्धान्ताश्च तथा कौला लोकातीतविभेदतः ॥ २७७ ॥
साङ्ख्ये भेदद्वयं तत्र द्वितीयेऽनुग्रहादिकम् ।
आद्ये लोकस्य सन्मानमन्ते तुल्यं तमस्तयोः ॥ २७८ ॥
लोके व्यामोहकं शास्त्रं सप्तानां बोधकः शिवः ।
कलौ जनिष्यमाणानामसुराणां क्षयाय हि ॥ २७९ ॥
वामाः शाक्ताश्च योगे तु प्रकटाप्रकटे भिदा ।
प्रकृतिस्तत्र संराध्या साध्यो योगश्च तुष्टये ॥ २८० ॥
शैवश्च वैष्णवश्चैव उपास्ये भेदकद्वयम् ।
कर्मासक्तास्तु ये तत्र वैदिकाः समुदाहृताः ॥ २८१ ॥
सप्तापि सर्वथा त्याज्या भगवन्मार्गवर्तिभिः ।
बौद्धाश्चतुर्विधाः पूर्वमन्तरानन्तरमार्गिणः ॥ २८२ ॥
तेषां बृहस्पतिमुखाः कर्तारो हरिरद्य तु ।
कृष्णसङ्गोपनार्थाय स्वयमेव जगाद ह ॥ २८३ ॥
वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि ।
ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः ॥ २८४ ॥
सर्वेषां नरके वासस्तमोऽर्वाक्प्रतिपादके ।
नरकात् पुनरावृत्तौ नानायोनिषु सम्भवः ॥ २८५ ॥
आनन्दस्य तिरोभावः सर्वथा दुःखमुच्यते ।
तस्य स्थानं तु सर्वत्र यमलोको विशेषतः ॥ २८६ ॥
शुद्धं तमो दुःखरूपं सहजासुरसंश्रयम् ।
सर्वत्र नरकश्चैव तमश्चेति त्रिधा तु तत् ॥ २८७ ॥
सर्वत्र स्वर्गलोकश्च वासुदेवस्त्रिधा सुखम् ।
सुखधर्मस्तथेच्छा स्यात् किञ्चिदुद्गम एव सः ॥ २८८ ॥
सर्वथा ह्युद्गमः कामो धर्मिणस्तु सुखं स्मृतम् ।

द्वेषक्रोधस्तथा दुःखं पूर्ववद् दुःखधर्मतः ॥ २८९ ॥
लोभोऽतिकिञ्चिदुद्भेदो धर्मयोः सुखदुःखयोः ।
मोहस्तु द्विविधः प्रोक्तो धर्मवत् सुखदुःखयोः ॥ २९० ॥
मदे सुखसमुद्भेदो मात्सर्येऽन्यस्य केवलः ।
अन्येषां सर्वधर्माणां तद्धर्मोद्गम एव च ॥ २९१ ॥
विपाकः कर्मणां येषां प्राग्देहविनिपाततः ।
प्राप्तस्तानीह भुज्यन्ते ततोऽन्यानि भवान्तरे ॥ २९२ ॥
एते सर्वे विशेषेण जीवसन्निधिमात्रतः ।
स्फुरन्त्यन्यस्याभिमानाज्जीवो दुःखी निगद्यते ॥ २९३ ॥
अग्रपश्चाद्भावतश्च कर्मणा स्फुरितो हरिः ।
अग्रोद्गमानुद्गमनैः सुखदुःखे तनोति हि ॥ २९४ ॥
ज्ञाने यर्हि मनोराज्यं शोकस्तेनापि नो भवेत् ।
त्रिविधं दुःखमेतद्धि भवत्येव न संशयः ॥ २९५ ॥
सर्वाध्यासनिवृत्तौ हि सर्वथा न भवेद्यथा ।
सा च विद्योदये सा च न शब्दात् सुविचारितात् ॥ २९६ ॥
मर्यादाभङ्ग एव स्यात् प्रमाणानां तथा सति ।
गजानुमानं नैवं स्यात् साङ्कर्यं वा तथा भवेत् ॥ २९७ ॥
दशमस्त्वमसीत्यादौ देहादिविषयत्वतः ।
शब्दस्य साहचर्येण चक्षुषैव भवेन्मतिः ।
स्मारकत्वमतो वाक्ये सङ्ख्याज्ञानं पुरा यतः ॥ २९८ ॥
अध्यासस्यानिवृत्तत्वान्न विविक्तात्मदर्शनम् ।
मनसा शक्यते कर्तुं नान्यथा सर्वदा भवेत् ॥ २९९ ॥
प्रत्यक्षेणापि विज्ञानं मायया ज्ञानकाशया ।
स्वप्नप्रबोधरीत्या हि किमु शाब्दं निवारयेत् ।
सर्वज्ञत्वं सर्वभावज्ञानं चापाततः फलम् ॥ ३०० ॥
सर्वो न ब्रह्म सर्वं तु वामदेवस्तथा जगौ ।
अवयुत्या गर्भवासी सूर्याद्यनुवदन्मुहुः ॥ ३०१ ॥
ज्ञानदुर्बलवाक्यत्वात् पाषण्डवचनं मतम् ।
सत्ये युगेऽतिमहतां भवत्येतन्न चान्यथा ॥ ३०२ ॥
स्वप्नो जागरणं चैव यथा ह्यन्योन्यवैरिणौ ।
विद्याविद्ये तथा स्यातां न तु सर्वात्मना लयः ॥ ३०३ ॥

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत् ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ३०४ ॥
एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह हि ।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा ।
विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः ॥ ३०५ ॥
न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन् कृष्णमनामयम् ।
न मुक्तः सर्वथा यस्माद् गोप्यो गावस्तथाऽभवम् ॥ ३०६ ॥
आपाततस्तु सर्वेषामुपायत्वं मयोदितम् ।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत् ॥ ३०७ ॥
यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥ ३०८ ॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥ ३०९ ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम् ॥ ३१० ॥
इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयमुक्तवान् ।
आत्मानं हि स्वयं वेद तस्मादन्यवचो मृषा ॥ ३११ ॥
कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः ।
उदासीनतयोद्भेदान्न हि सर्वात्मना फलम् ॥ ३१२ ॥
भक्त्यावत्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः ।
आत्मानं च ततो दद्यात् सुखे का परिदेवना ॥ ३१३ ॥
सहनं खननं गङ्गातीरस्थितिवदेव तत् ।
साङ्ख्यो योगस्तथा भक्तिस्तत्र प्रेमातिसौख्यदम् ॥ ३१४ ॥
पिता चरेद्यथा बाले सुखं भक्ते तथा हरिः ।
प्रेम्णैव सर्वतोऽत्यर्थं गोपीनां कामदो यतः ॥ ३१५ ॥
अच्छिद्रसेवनाच्चैव निष्कामत्वात् स्वयोग्यतः ।
द्रष्टुं शक्यो हरिः सर्वैर्नान्यथा तु कथञ्चन ॥ ३१६ ॥
दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येनकेनचित् ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥ ३१७ ॥

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।

त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाऽम्बुजम् ॥ ३१८ ॥
अन्तर्बहिःसाधनयोः स्वरूपं परिकीर्तितम् ।
प्रकारश्चाप्ययं प्रोक्तो दर्शनेनान्यथा तु तत् ॥ ३१९ ॥
सर्वापेक्षापरित्यागात् पौरुषस्य सभाजनम् ।
आसक्त्या भगवद्भक्तैः परं दर्शनसाधनम् ॥ ३२० ॥
कपिलादिर्महायोगी पूर्वं येनोपलब्धवान् ।
तं प्रकारमिहोवाच पाक्षिकं तद्धि साधनम् ॥ ३२१ ॥
राजवत् कुत्रचित् कृष्णः कस्यचित् केनचित् फलम् ।
ददाति तावता नित्यं सर्वत्रेति न निश्चयः ॥ ३२२ ॥
प्रेम्णा सेवा तु सर्वत्र सेव्यवश्यत्वसाधनम् ।
किञ्चिद्भक्तियुतश्चेत् स्याद्योगादिः साधनं क्वचित् ॥ ३२३ ॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं जानन् कर्म चाऽपि तथाऽऽचरन् ।
पञ्चकर्मविधानेन षोढाऽपि प्रकटः सदा ।
निर्बन्धेन फलत्येष न च भक्त्या यथा तथा ॥ ३२४ ॥
कणादादिमुनिश्रेष्ठाः शुक्रमोहितबुद्धयः ।
वृथाशास्त्रकलापं हि जगुस्तेन न चान्यथा ॥ ३२५ ॥
प्रेम्णोऽन्यत् साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत् ।
श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम् ॥ ३२६ ॥
अधिकारमभिप्रायं ज्ञात्वा भक्तमुखेन हि ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण कृष्णे प्रेम भवेद् ध्रुवम् ॥ ३२७ ॥
विरक्तो विपरीतादिभावनारहितः सुहृत् ।
लीलामात्रश्रुतौ तस्य भवेत् प्रेमाऽखिले किमु ॥ ३२८ ॥
श्रीभागवततत्त्वार्थमतो वक्ष्ये सुनिश्चितम् ।
यज्ज्ञानात् परमा प्रीतिः कृष्णं शीघ्रं फलिष्यति ॥ ३२९ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिते श्रीभागवततत्त्वदीपे सर्वनिर्णयकथनं
नाम द्वितीयं प्रकरणम् ॥

समाप्तं सर्वनिर्णयप्रकरणम् ।



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

सप्रकाशस्तत्त्वार्थदीपनिबन्धः ।

आवरणभङ्गटिप्पणीयोजनादिसमेतः ।

प्रथमं शास्त्रार्थप्रकरणम् ।

आवरणभङ्गः ।

वन्दे श्रीवल्लभाचार्यानपारकरुणान्वितान् ।
स्वीयानां तत्त्वदीपेन स्वान्तध्वान्तनिवारकान् ॥ १ ॥
नन्दसूनुपदसौख्यदं नवं दुःखसङ्घदलनातिवैभवम् ।
श्रीमदङ्घ्रिपदपङ्कजासवं भावयामि सततं नमामि च ॥ २ ॥
श्रीमद्वल्लभनन्दनपदपाथोजन्मरेणवस्ते मे ।
सन्तु कृपामधुभरिता दन्तुरमन्तुक्षमादक्षाः ॥ ३ ॥
श्रीपरिवृढपदपङ्कजरैणवमेणीदृशा जुष्टम् ।
कुङ्कुमपङ्कमनारतमाप्तुमहं कामये दास्ये ॥ ४ ॥
श्रीकृष्णसम्वीतसुवर्णवर्णाऽम्बराभिधानोऽस्य कृपां दधानः ।
विवेचयन्नाशयमत्र तत्त्वदीपप्रकाशाऽऽवरणं भनज्मि ॥ ५ ॥

योजना ।

उन्नूतेषु घनेषु हर्षितहृदः केलीकृतः केकिनो
दृष्ट्वा चारुचमत्कृतिं च तडितां श्लिष्टा द्विरेफैर्लताः ।
सानन्दं मुरलीं निजाधरसुधासम्पूरितां वादयन्
रक्तोष्णीषधरो वने गिरिधरः प्राणेश्वरो नृत्यति ॥ १ ॥
वन्दे गोवर्द्धनाधीशं श्रुत्युक्तरसरूपिणम् ।
नमामि श्रीमदाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् ॥ २ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

लीलागोवर्द्धनोद्धारपालितस्वव्रजप्रियम् ।
बालं मुकुन्दं स्वाचार्यान् प्रभून् सर्वगुरून् भजे ॥ १ ॥
सुखात्सर्वार्थलाभार्थं टिप्पणं सरलं लघु ।
कुर्वे स्वाचार्यकृपया प्राचां वाचां विचारणैः ॥ २ ॥

---

१ पद्यमिदं ख. पुस्तके नास्ति ।

सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह ।
तथात्वं येन संसिध्येत्तदर्थं व्यास उक्तवान् ॥ १ ॥

आवरणभङ्गः ।

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणाः सात्त्विकानुद्दिधीर्षवः प्रेक्षावतां प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं ग्रन्थस्य फलसम्बन्धं सोपोद्धातं निरूपयन्तस्तत्त्वदीपविवरणं प्रतिजानते —

सर्वोद्धारप्रयत्नात्मेत्यादिभिस्त्रिभिः । सर्वोद्धाराय प्रयत्नो यस्य, सर्वस्योद्धारो यस्मात् तादृशः **प्रयत्नो** व्यापारविशेषो यस्य, अतति व्याप्नोतीत्यात्मा । पूर्वोक्तश्चासावात्मा च सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा । तादृशप्रयत्न आत्मनि यस्येति गड्वादिसमासो वा । तादृशः कृष्णः पुरुषोत्तमः सदानन्द एव नापरः । एवं प्रतिज्ञाय तथात्वे गमकमाहुः **प्रादुर्बभूव** हेति । यदि नोद्दिधीर्षेदीदृशः

योजना ।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः स्वकृतश्रीभागवततत्त्वार्थदीपं व्याचिख्यासवो व्याख्येयग्रन्थव्याख्याग्रन्थयोः प्रयोजनमाहुः—**सर्वोद्धारे**त्यारभ्य **व्याख्यानं तन्निरूप्यत** इत्यन्तेन । **कृष्णः प्रादुर्बभूव**

सत्स्नेहभाजनम् ।

तथा विभज्यते मूलं सतां स्नेहो यथा भवेत् ।
वादिक्षोदस्त्वावरणभङ्गादेरेव सिध्यति ॥ ३ ॥
द्रष्टुं दीपप्रकाशे चेद्वाञ्छयाऽर्थांस्तमोनुदि ।
सत्स्नेहभाजनं तर्हि पुरः कुरुत पण्डिताः ॥ ४ ॥

अथ श्रीमदाचार्यपादा दैवोद्धारं वेदादिसारभूतश्रीभागवतमार्गेण कर्तुं तत्प्रकाशं तत्त्वार्थदीपं प्रकाशयिष्यन्तो भगवत्प्रादुर्भावश्रीभागवतयोः स्वग्रन्थस्य च प्रयोजनं वदन्तो व्याख्यानं प्रतिजानते **सर्वोद्धारे**ति त्रिभिः । सात्त्विकादिभेदेन त्रिविधानपि जीवानुद्धर्तुं भगवत्प्रादुर्भाव इति तृतीयप्रकरणे सेत्स्यति । अतः सर्वोद्धाराय प्रयत्नो यस्येति सर्वोद्धारप्रयत्नः । इदं पुष्टिस्थार्थम् । सर्वेषामुद्धारो यस्मात्तादृशप्रयत्नो यस्येति वा । इदं राजसार्थम् । अतति व्याप्नोतीत्यात्मा पूर्वोक्तश्चासावात्मेति कर्मधारयः । तादृशः प्रयत्न आत्मनि यस्येति गडुकण्ठादिवत्समासो वा । इदं सात्त्विकार्थम् । एवं सर्वजीवोद्धर्ता तु कृष्णः । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति तापनीयश्रुत्या सदानन्दरूपः पुरुषोत्तम एवास्ति, नापरः । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात् । सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्ण इति भिन्नं वाक्यम् । 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गे'त्यत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्यप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति । 'वृक्षः प्लक्षः, अस्तीति गम्यते' इति महाभाष्यानुरोधादस्तीति शेषेण योज्यमित्यावरणभङ्गाशयः । श्रीलालूभट्टास्तु पूर्वार्द्धमेकं वाक्यं मन्यन्ते । तस्य तथात्वे गमकमाहुः **प्रादुर्बभूव** हेति । भगवान् सृष्टिकालोत्पादितया गुणमय्या मायया महता शैवलेन जलमिवाच्छन्नो न दृश्यते । 'नाहं प्रकाशः

आवरणभङ्गः ।

सन् न प्रादुर्भवेत् । 'को ह्येवान्या'दिति श्रुतेः सर्वजीवनाय हृदये वर्तमानत्वात् । नच 'यदा यदा ही'ति गीतावाक्याद्धर्मादिरक्षार्थं प्रादुर्भावः शङ्क्यः । तथा सत्यंशेनावतरेत् । 'आत्मानं सृजामि' 'युगे युगे सम्भवामी'ति कथनात् । एवं सत्यपि यः पूर्णस्य तावन्मात्रां मायां दूरीकृत्य दर्शनगोचरीभावः सोऽग्निवदेव । 'स्वशान्तरूपेष्वि'तितृतीयस्कन्धे विदुरं प्रत्युद्धववाक्यात् । तत्र चानुकम्पाया एव हेतुत्वकथनात् प्रादुर्भावस्तथात्वस्यैव गमक इत्यर्थः । ननु यद्येवं स्यान्न तिरोभवेदतो नेदं गमकमिति चेत् तत्राहुः तथात्वमित्यादि । तथाच काँश्चिद्रूपेणोद्धृत्येतरान्नाम्नोद्धरिष्यन् व्यासरूपेण श्रीभागवतमुक्तवान्, तच्च दर्शनसाधनत्वादेव सर्वेषामत्यन्तं सुखदम् । अत इदानीं तिरोभावेऽपि भगवत्त्वेन प्रादुर्भावात् तथात्वं न व्यभिचरतीत्यर्थः ॥ १ ॥

योजना ।

ह्येति । मूलरूपप्राकट्यं तु सर्वोद्धारार्थम् । "नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप । अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः" इति । "तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः" इत्यादिवाक्याच्च । कृष्णावतारे हि प्रद्युम्नानिरुद्धसङ्कर्षणवासुदेवव्यूहैः सहितस्य पुरुषोत्तमस्य प्राकट्यम् । तत्र वंशे सम्बन्धिकार्यधर्मरक्षणभूभारहरणमुक्तिदानानि यथाक्रमं प्रद्युम्नादिव्यूहकार्याणि । भक्तोद्धारस्तु मूलरूपसाध्य इति तदर्थं कृष्णो मूलरूपः पुरुषोत्तमः प्रकटीभूत इति भावः ॥ १ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

सर्वस्य योगमायासमावृतः' इति गीतावाक्यात् । श्रीभागवतेऽपि 'मायाजवनिकाच्छन्न'मिति कथनाच्च । यथा च यावतो भागाच्छैवालमपसार्येत तावानेव जलभागोऽवलोक्येत, तथा यावतीं मायामपसारयति तावतैव परमसुन्दरेण रूपेणाभिव्यजते । एवमेकदेशितया व्यापकदृष्ट्या तत्रांशत्वव्यवहारोऽपि । इदं च 'तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णो'रित्यादिस्थले सुबोधिन्यां स्फुटम् । तस्य स्वतन्त्रस्यापि स्वेच्छया लोकव्यवहार्यता 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्' इत्यत्र निर्णीता । अयं पूर्णप्रादुर्भावः । अंशाद्यवतारास्तु 'सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्ति'रित्यादिमानसिद्धं सत्त्वाख्यं स्वधर्ममधिष्ठाय तत्रांशादिप्रवेशेन भगवता क्रियन्त इति भाष्ये गुणोपसंहारपादे समर्थितम् । अतः प्रादुर्भावस्तथात्वस्यैव गमकः । अन्यथा स्वतन्त्र आप्तकामः किमिति लोकव्यवहार्यो भवेत् । धर्मरक्षासाधुपरित्राणादिकस्य त्वंशद्वारापि सम्भवात् । इयांस्तु विशेषो यदा पूर्णप्रादुर्भावस्तदा लाघवाद्धर्मरक्षाद्यवतारकार्यमपि स एव तत्तद्व्यूहविशिष्टः करोति, उद्धारं तु स्वरूपेणैवेति । तस्य तस्य भक्तस्य हृदये प्रादुर्भावस्तु तस्य तस्यैव हिताय, न तु सर्वोद्धारायेति तद्व्यावर्तनार्थं 'ह' पदम् । ह स्पष्टं सर्वेषां दर्शनादियोग्यः प्रादुर्बभूवेत्यर्थः । निर्गुणपरब्रह्मणो व्यापकस्यैकदेशे

---

१ अचिन्त्यस्येति खपुस्तक पाठः । २ जन्मप्रकरणे । ३ ब्रह्मसूत्रे ।

सत्स्नेहभाजनम् ।

तावन्मात्रमायादूरीकरणेन प्रादुर्भावबोधनायात्रात्मपदम् । आत्मशब्दश्च तादृशार्थकतया 'गौणश्चे-न्नात्मशब्दात्' इत्यत्र सिद्धः । एतदेव प्रादुर्भावप्रयोजनं प्रथमस्कन्धे कुन्तीस्तुतौ 'तथा परमहंसाना मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगवितानार्थं कथ'मित्युक्तम् । अग्रेऽपि 'केचिदाहुरजं जात'-मित्यादिना मतान्तराण्युक्त्वा 'भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः । श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन' इति, भवक्लिष्टानामुद्धरणं सर्वान्त उक्तम् । तदेव 'शृण्वन्ति गायन्ती'-त्यादिना सिद्धान्तितम् । तृतीयस्कन्धेऽप्युद्धवेन 'स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्व-नुकम्पितात्मा । परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाऽग्नि'रिति । अत्रा-प्युपमानात्प्रादुर्भावोऽनुकम्पायास्तत्र हेतुत्वं चोक्तम् । एवं 'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप । अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः' इत्याद्यनुसन्धेयम् । केनोपनिषत्तृतीयखण्डेऽप्ये-वमेव देवानुग्रहार्थं प्रादुर्भावः श्रावितः 'तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव' इत्यादिना । इमामेव श्रुतिमनुस-न्धायेह प्रादुर्बभूव हेत्युक्तम् । ननूद्धारार्थमेवाविर्भाव उद्धरणीयजीवानामद्यापि सत्त्वान्न तिरोभवेत्, अतो न तथेति शङ्कां वारयितुमाहुः तथात्वमिति । तथात्वं सर्वोद्धारप्रयत्नात्मत्वं येन प्रादुर्भावेण सम्यक्फलतः साधनतश्च सिध्येत्तदर्थमद्यापि प्रादुर्भावार्थम् । इदं क्रियाविशेषणम् । स सर्वोद्धारोऽर्थः प्रयोजनं यस्येति श्रीभागवतविशेषणं वा पूर्वोक्तः कृष्ण एव व्यासः सन् सर्वेषामत्यन्तं सुखदायकं श्रीभागवतमुक्तवान् । भक्तविशेषादिद्वारोद्धारे सर्वोद्धाररूपं फलं साक्षाद्भगवत्प्रयत्नरूपं साधनं च न निष्पद्यत इतीह सम्, पूर्वत्रात्मपदं च । 'कस्मै येन विभासित' इतिपद्ये व्यासरूपेण विभासनस्य कथनाद्व्यासः सन्निति । उक्तवान् प्रकाशितवान्न तु काव्यं कृतवान् । भागवतस्य नित्यत्वात् । तृतीयस्कन्धे 'यत्सूरयो भागवतं वदन्ती'त्युक्तेः । तत्रैवाष्टमाध्याये परम्परान्तरकथनाच्च । तेन 'लोक-स्याजानतो विद्वाँश्चक्रे सात्वतसंहितामि'त्यादौ करोतिरुच्चारणार्थः । 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' इत्यादौ तथा दर्शनात् । भगवत इदं स्वरूपं भगवता प्रोक्तं चेति भागवतम् । श्रीर्दश-रससम्पत्तिः शब्दरचनार्थशोभा च, तद्युक्तं भागवतं श्रीभागवतम् । शाकपार्थिवादिवत्समासः । श्रीमद्भागवते महामुनिकृते' इत्यत्र सुबोधिन्यां स्पष्टमिदम् । 'श्रीर्वेशरचना शोभां भारती सर-लद्रुमे । लक्ष्म्यां त्रिवर्गसम्पत्तिविधोपकरणेषु च । विभूतौ च मतौ च स्त्री' इति मेदिनी । यद्यपि वेदोऽपि भगवद्रूपस्तदुक्तस्तत्सुखदश्च, तथापि संस्कृतत्रैवर्णिकानामेव । इदं तु सर्वेषां मुक्तमुमुक्षुवि-षयिणां चतुर्णां वर्णानां च केवलार्थद्वारा तु ततो जघन्यानामपि सुखदमित्याविर्भावावश्यकता । अतः कालतो देशतश्च परिच्छेदः, तमतिक्रान्तमत्यन्तम् । नित्यनिरतिशयसुखदमित्यर्थः । गीता त्वतिसङ्क्षिप्ता स्वविस्तरभागवतद्वारैव सुखदा । एतेन 'दृष्टे सा पार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्' इति साङ्ख्याचार्योक्तन्यायादितरैरगतार्थता । इत्थं चावतारसमये रूपेणोद्धृत्यानवतारसमये नाम्नोद्धर्तु-मेतेन रूपेणाविरासे । रूपप्रादुर्भावोऽप्येतदुक्तमार्गेण भवत्येवेति न प्रागुक्तस्य बाधः । अत एव पाद्मे

श्रीभागवतमत्यन्तं सर्वेषां सुखदायकम् ।
तस्याऽपि तत्त्वं येनैव सिध्येदिति विचार्य हि ॥ २ ॥
अग्निश्चकार तत्त्वार्थदीपं भागवते महत् ।
तच्चापि येन संसिध्येद्व्याख्यानं तन्निरूप्यते ॥ ३ ॥

आवरणभङ्गः ।

ननु यद्येवं तर्हि तेनैव कार्यं सेत्स्यतीति व्यर्थोऽयमनुवाद इत्याकाङ्क्षायां स्वावतारप्रयोजनं स्वसामर्थ्यञ्च सूचयन्तो व्यासप्रयत्नसाफल्यायास्माकं प्रवृत्तिरिति, नानुवादो व्यर्थ इत्याहुः तस्यापीति ॥ २ ॥

महदिति । अच्प्रत्ययान्तो दीपशब्दोऽनियतलिङ्ग इत्येवमुक्तम् । क्रियाविशेषणं वा । एवञ्चात्राग्निपदेन वाक्पतिरूपतया सामर्थ्यं प्रथमसुबोधिनीस्थप्रतिज्ञावाक्योक्तं स्वावतारप्रयोजनं सूचितं ज्ञेयम् । नन्वस्त्वेवं, तथापि विवरणस्य किं प्रयोजनमत आहुः तच्चापीत्यादि । तथाच स्वप्रयत्नसाफल्यायैतदित्यर्थः । एवञ्च जीवोद्धारोऽस्य फलम्, आज्ञारूपा च सङ्गतिरिति परम्परया फलति ॥ ३ ॥

योजना ।

तथात्वं येनेत्यादि श्रीभागवतमित्यन्तम् । तथात्वमिति । सर्वोद्धारप्रयत्नात्मत्वमित्यर्थः । श्रीकृष्णः सर्वोद्धारं रूपेण कृतवान् । अनवतारदशायां तु श्रीभागवतेनैवेति श्रीभागवतं व्यासः कृतवानिति भावः । "कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह । कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः" इति वाक्यात् । तस्यापि तत्त्वमित्यादि तत्त्वार्थदीपमित्यन्तम् । तस्यापि श्रीभागवतस्य (अपि) तत्त्वम्—उद्धारकर्तृत्वं येन स्यात्तादृशं तत्त्वार्थदीपम्, अग्निश्चकार । श्रीभागवतं यथार्थतया ज्ञातं सदुद्धारकम् । यथार्थज्ञानं तु तत्त्वार्थदीपेन भवतीति तत्करणमित्यर्थः । स्वयमग्निरग्नेश्च दीपोत्पत्तिर्युक्तैवेति बोध्यम् ॥ २ ॥

तच्चापीति । तत्त्वार्थदीपत्वमित्यर्थः । एतावता श्रीकृष्णश्रीभागवतयोराविर्भावोऽवतारानवतारदशाभेदेन भक्तोद्धारार्थः । श्रीभागवतार्थबोधनाय तत्त्वार्थदीपाविर्भावस्तत्त्वार्थदीपार्थबोधाय व्याख्याग्रन्थ इति सर्वेषामाविर्भावप्रयोजनमित्युक्तं भवति ॥ ३ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

श्रीभागवतमाहात्म्ये 'श्रीभागवतरूपस्त्वं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि । गृहीतोऽसि मया नाथ मुक्त्यर्थं भवसागरे' इत्युक्तम् । स्कान्देऽपि तन्माहात्म्ये भगवत्परिग्रहादीनां पुरः श्रीमदुद्धवश्रावितश्रीभागवतद्वारा रूपप्रादुर्भाव उक्तः । श्रीभागवतेऽपि कृष्णद्युमणिनिम्लोचोत्तरमेतेन रूपेण निस्तारः 'कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह । कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः' इत्यादौ दर्शितः ॥ १ ॥

नन्वेवमपि भगवत्प्रयत्नः किमर्थ इत्याकाङ्क्षायां कलिबलादुत्तरोत्तरं मत्यादिमान्द्ये व्यासप्रयत्नसाफल्यार्थः स इत्याशयेनाहुः तस्येति । इतिशब्दो हेतौ । यतः श्रीभागवतं तथा, अतस्तद्

सत्स्नेहभाजनम् ।
हि निश्चयेन विचार्य । मूलेऽपि विचारं वक्ष्यन्ति 'विचार्य च पुनः पुन'रिति । एतेन विचार-पूर्वककृतत्वं ग्रन्थस्य प्रामाण्ये तत्त्वार्थदीपेत्यन्वर्थनामकत्वे च बीजं दर्शितम् ॥ २ ॥

तस्य श्रीभागवतस्य । अपिशब्दाद्वेदादेश्च । तत्त्वं तस्य भावः श्रीभागवतत्वं, प्रादुर्भावार्थत्वं सर्वोद्धारसुखदत्वं च येनैव सिध्येदेव तादृशम् भागवते विषये । महत् सर्ववेदान्तसारस्य सार-ग्राहकत्वात्पूज्यम् । अल्पत्वाभावाद्दोषवत्तयाऽनपलोप्यम् । तत्त्वार्थदीपमेतन्नामकं निर्गलितवास्तवा-भिधेयप्रयोजनयोः प्रकाशकं ग्रन्थम् । अग्निः श्रीकृष्णवदनरूपश्चकार । ज्ञानस्य स्वार्थत्वेऽपि निर्मा-णस्य लोकज्ञापनार्थत्वात्परस्मैपदम् । अवस्थादिपारोक्ष्याभिप्रायो लिट् । 'एतं करोति जयदेवकविः प्रबन्धम्' 'नागेशः कुरुते सुधीः' इत्यादौ प्रथमपुरुष इव । मृच्छकटिकादिषु 'चकारसर्वं किल शूद्रको नृपः' इत्यादिप्रयोगा अप्येवमेव सङ्गच्छन्ते । दीपशब्दस्य पुन्नपुंसकत्वान्महदिति क्लीबम् । अथवेदमुत्तरश्लोके व्याख्यानविशेषणतयाऽन्वेति । हिशब्दादग्नेर्दीपोत्पत्तिर्युक्तेत्यपि द्योत्यते । अर्कोऽपि गुहामहागृहादिषु सतमस्केषु पदार्थानप्रकाशयन्नग्निप्रविष्टस्वप्रभोत्पन्नदीपद्वारैव तान् दर्शयति । श्रीभागवतं हि तत्त्वतो ज्ञातमेव फलं दास्यतीति तथा ज्ञातुमशक्तानां हृदयेषु तत्त्वप्रका-शकस्यास्य न वैयर्थ्यम् । इह केचिदाधुनिकाः 'सिद्ध्ये'दित्यन्तो विचाराकार इति शाब्दक्रमा-नुरोधाद्भ्राम्यन्ति, तन्न; तथा सत्यनेनेत्येवोक्तं स्यात् । यच्छब्दोपादाने तु समानाधिकरणतच्छब्द-स्यापि विचाराकार एव प्रवेश आवश्यकः । अन्यथा वाक्यार्थापर्यवसायात् । तच्चेति । तत्त्वार्थदीपं चास्मद्विषयभूतं भागवतं वेदादिकं च येन सम्यगनायासतः सिद्ध्येत्, ज्ञायेत, अथवा तत्त्वार्थ-दीपत्वमपि येन सम्यगर्थसङ्गत्या सिद्ध्येत् तद्व्याख्यानं नैरन्तर्येण रूप्यते । धारणसौकर्याय कारि-कावद्धग्रन्थनिर्माणोत्तरमर्थसौलभ्यतः सम्यक् सिद्धये व्याख्यायत इति भावः । अत्रावरणभङ्गे 'अत्राग्निपदेन वाक्पतिरूपतया सामर्थ्ये प्रथमसुबोधिनीस्थप्रतिज्ञावाक्योक्तं स्वावतारप्रयोजनं च सूचित'मिति श्रीपुरुषोत्तमचरणाः । युक्तं चैतत्, 'वाचां वह्निर्मुखं क्षेत्र'मित्यादिवचनेभ्यः । नामान्तराणि हित्वा अगि गतावित्यतो निष्पन्नाग्निशब्दस्योपादानाच्च । तस्माद्व्यासवदवतरणम् । अत्र योजनायां 'श्रीकृष्णश्रीभागवतयोराविर्भावोऽवतारानवतारदशाभेदेन भक्तोद्धारार्थः, श्रीभागव-तार्थबोधनाय तत्त्वार्थदीपाविर्भावस्तत्त्वार्थदीपार्थबोधाय व्याख्याग्रन्थ इति सर्वेषामाविर्भावप्रयोजन'-मिति श्रीलालूभट्टाः । तथा च परम्परया जीवोद्धारोऽस्य फलम् । यथा भगवता श्रीव्यासपादा आज्ञापितास्तथाहमपीत्याज्ञारूपा च सङ्गतिः । श्रीकृष्णस्मरणरूपं वस्तुनिर्देशाख्यं मङ्गलम् । एतावता प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः समर्थिता भवति ॥ ३ ॥

एवं प्रतिज्ञाय व्याचक्षाणाः व्याचिख्यासितग्रन्थे शिष्यशिक्षार्थं श्रोतृवक्तृप्रभृतीनां प्रसङ्गतो मङ्गलसिद्ध्यर्थं च निबद्धे मङ्गले वेदादिनिर्णायकश्रीभागवतारम्भे तन्मूलभूतगायत्र्यर्थस्येव निर्णिनी-षितवेदाद्यर्थस्य सद्भावं बोधयन्तस्तदवतारयन्ति श्रीभागवतेति । तत्त्वार्थम् । निर्गलिताभिधेयं सप्रयोजनं प्रथममप्रकटं परार्थं प्रकटं करिष्यन् । शास्त्रार्थेति । शास्तीति शास्त्रं वेद इति द्वितीया-

श्रीभागवततत्त्वार्थं प्रकटीकरिष्यन् प्रथमं शास्त्रार्थोपनिबन्धनलक्षणं मङ्गलमाचरति—

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे ।

नम इति । भगवति जीवैर्नमनमेव कर्तव्यं, नाधिकं शक्यमिति सिद्धान्तः 'किमासनं ते गरुडासनाय किं भूषणं कौस्तुभभूषणाय । लक्ष्मीकलत्राय

टिप्पणी ।

यः स्त्रीयभावेन विलज्जितानां मोदं दधानो विविधैर्विलासैः ।
दुग्धादिचौर्यैरपि सर्वसिद्ध्यै श्रीगोकुलेशोऽस्तु स मे प्रसन्नः ॥ १ ॥
वन्दे श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जद्वयं लसत् ।
यतो विन्दे व्रजाधीशपादाम्बुजमयावहम् ॥ २ ॥

आवरणभङ्गः ।

एवं व्याख्यानस्यात्यावश्यकत्वमुपपाद्य व्याख्येयग्रन्थे शिष्यशिक्षायै निबद्धस्य मङ्गलस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुकूलत्वाय शास्त्रार्थसङ्ग्रहरूपत्वं बोधयन्तस्तद्बोधकं वाक्यमवतारयन्ति श्रीभागवतेत्यादि । अत्र श्रीभागवतार्थप्रकटीकरणार्थं प्रवृत्तत्वेऽपि श्रीभागवतार्थेत्यनुक्त्वा यच्छास्त्रपदमुक्तं, तेन वेदादिशास्त्रनिर्णायकत्वं श्रीभागवतस्य सूचितम् । उपनिबन्धनं सङ्क्षेपः ।

ननु कथमस्य शास्त्रार्थसङ्क्षेपरूपत्वमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति भगवतीत्यादि । नमनं प्रह्वीभावः । स च नमस्योत्कर्षस्वापकर्षबुद्धिपूर्वकः कायादिव्यापारविशेषः । सिद्धान्तो वेदादिनिष्कृष्टोऽर्थः । आदिपदेन 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजेत्' 'मुमुक्षुर्वै शरणमहम्प्रपद्ये' इत्यादिश्रुतीनां, 'नमस्कृत्य

योजना ।

भगवत इतीति ।

सत्स्नेहभाजनम् ।

धिकरणे शास्त्रयोनित्वविवरणे सिद्धम् । गीता च शास्त्रमिति श्रीजगन्नाथवाक्ये स्फुटिष्यति । षड्दर्शनशिरोमणौ चतुर्लक्षण्यां शास्त्रत्वं तु प्रसिद्धमेव । श्रीभागवतमपि शास्त्रम् । अत एव वक्ष्यन्ति 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे' इत्यादि । श्रीभागवततत्त्वार्थप्रकटने वेदादिनिर्णयः स्यादेवेति प्रथमं भागवतेत्युक्त्वा शास्त्रार्थस्योपनिबन्धनं सङ्क्षिप्य कथनं दर्शितम् । स्वापकर्षरूपत्वादमङ्गलतया सम्भाव्यस्य नमनस्य मङ्गल आदितो निर्देशे बीजमाहुः भगवतीत्यादिवाक्यैरित्यन्तम् । नमनं च प्रह्वीभावः । स च मत्तस्त्वमुत्कृष्टस्त्वत्तोऽहमपकृष्ट इति बुद्धिपूर्वकोऽष्टाङ्गव्यापारः । अष्टाङ्गानि तु 'उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा । पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते' इत्युक्तानि । एतदन्यतमस्य योग्यव्यापारोऽपि नमनमेव । 'किमासन'मितिवाक्यं मानसपूजास्थम् । भगवतीत्यादेरयं भावः—'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' इत्यादिस्मृत्या 'भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः । तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी'ति गारुडादि-

किमस्ति देयं वागीश किं ते वचनीयमस्ति' इत्यादिवाक्यैः परमकाष्ठापन्नं वस्तु नमस्यत्वेन निर्दिशति भगवत इति । पुरुषोत्तमायेत्यर्थः । तत्सिद्ध्ये लोकवेदप्रसिद्धिमाह तस्मा इति । मतभेदेन तस्याऽन्यथाकल्पनाव्यावृत्त्यर्थमाह कृष्णायेति । स एव परमकाष्ठापन्नः कदाचिज्जगदुद्धारार्थमखण्डःपूर्ण-

---

आवरणभङ्गः ।

हि वसीयांसमुपचरन्ती'ति श्रुतेः,'नमोऽस्तु ते देववर प्रसीदे'त्यादिस्मृतीनाञ्च सङ्ग्रहः । तथाचास्मिन् वाक्ये धनादिकृतानाङ्कैमर्थ्यकथनाद् , 'विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं न मन्यते स्वयमनुवर्तिनीं भवानि'-त्यत्र लक्ष्म्यनादरकथनाच्छ्रुतिष्वपि साधनान्तरकथनोत्तरं शरणोपदेशस्य बोधनेन प्रह्वीभाव एव तात्पर्यलाभाद् गीतायामपि प्रसादार्थं नमनस्यैवोक्तत्वाद्, 'अलङ्कारप्रियो विष्णुः' 'स्तुतिप्रियो विष्णु'-रित्यादिष्वपि, 'अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् । भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते' इत्यादिभगवद्वाक्यानुरोधेन, 'नमस्कृत्ये'ति श्रुत्या च प्रह्वीभावपूर्वकत्वस्यैवादरणीयत्वादयमेव वेदादिशास्त्रनिष्कृष्टोऽर्थ इत्यर्थः । वस्तुतस्त्वत्यन्तभक्तेष्वपि दैन्यादेव प्रसादोक्तेर्मानादिना तिरोभावोक्तश्च दैन्यस्यावश्यकत्वात् तत्प्रयुक्तं नमनमेव कर्तव्यत्वेनावशिष्यत इति सिद्धान्त इति भावः । नन्वस्त्वेवं, तथापि नमनस्य स्वापकर्षबुद्धिपूर्वकत्वात् कथं मङ्गलत्वमित्यत आहुः परमेत्यादि । तथा च ततः सर्वे एवापकृष्टा इति, स च नमनेन प्रसीदतीति तस्य मङ्गलत्वमित्यर्थः । ननु पुरुषोत्तमस्य परमकाष्ठापन्नत्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायामाहुः तत्सिद्ध्ये इत्यादि । तथात्वसिद्ध्ये लोकवेदप्रसिद्धिं प्रमाणत्वेनाहेत्यर्थः । तस्मा इति । 'यस्मात् क्षरमतीतोऽह'मिति गीतावाक्ये, सर्वभूत-

योजना ।

पुरुषोत्तममायेत्यर्थ इति । "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत" इति वाक्याद्भगवत्पदस्य परब्रह्मवाचकत्वात् । तदुक्तं गीतासु "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" इति । स एव परमकाष्ठापन्न इत्यारभ्य कृष्ण इत्युच्यत इत्यन्तम् "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति वाक्यात् । "कृषिर्भूवाचकः प्रोक्तो (शब्दो) णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति श्रुतेश्च । इयं श्रुतिर्गोपालतापिन्यारम्भे 'सच्चिदानन्दरूपाये'त्यस्य पूर्वं वर्तत इति

सत्स्नेहभाजनम् ।

भ्यश्च भगवत्प्राप्तिदर्शनादेः सेवैव मुख्यं साधनमिति सिध्यति । सा चासनभूषणनैवेद्याद्युपचारसाध्या' उपचाराश्चास्माकं सर्वे लौकिकाः, स्वाभाविकभगवदुपचारेभ्योऽत्यधमाश्च । यथाऽस्माभिः शक्यमासनं काष्ठादिमयम्, अन्ततो गत्वा मणिसुवर्णमयमपि दीयमानं छन्दोमयाद्धिरण्मयाद्गरुडादतिन्यूनमेव । अत्युत्तममपि नैवेद्यं श्रीलक्ष्मीकृतपाकात्तथा । अतो नैतैर्भगवत्तोषः सम्भाव्यते । नहि महाराजो जीर्णातिकठोरकम्बलं परिधापितः कोद्रवादिना भोजितश्च तुष्यति । किञ्च स भगवान् षड्गुणसम्पन्नः । सेवका जीवास्तु षड्गुणतिरोभावशालितया पराभिध्यानसूत्रे सिद्धाः । अतोऽपि न योग्यता । वस्तूनां सेवायोग्यत्वार्थमात्मनिवेदनेन ब्रह्मतासम्पादनेऽप्यभिमानस्त्यागादैन्यं त्वावश्य-

सत्स्नेहभाजनम् ।

कमेव । अदीनेन निवेदितमपि स्वतः सर्वेश्वर आप्तकामो नाङ्गीकुर्यात् । अतः सम्प्रदाये शरणागत्यनन्तरमेवात्मनिवेदनं क्रियते । निवेदनोत्तरमुपचाराणां स्वरूपयोग्यत्वेऽपि प्रत्यहसेवायां दैन्यसहकारोऽपेक्षित एव । सर्वोत्तमभक्तेष्वपि मानादिना तिरोधानस्य दैन्यादाविर्भावस्य च कथनात्, का कथाऽऽधुनिकानामज्ञानादात्मनिवेदनमात्रवताम् । अत एव गोपालतापनीये 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजेत्' श्वेताश्वतरे 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' एवमादिषु शरणागतेरेव मोक्षहेतुता श्रूयते । सा च प्रह्वीभावरूपैवेति स एव प्राथमिकं मुख्यं च साधनम् । तत्पूर्वका एव सेवोपचारा भगवन्तं प्रसादयन्ति । अत एव गीतायां 'नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते' इति तत्पूर्वकता सेवनस्योच्यते । 'नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद' इति प्रसादहेतुता च तस्य बोध्यते । तैत्तिरीये चतुर्थकाण्डे अश्वमेधप्रकरणे पठितयोरग्न्यधिरोहणमन्त्रयोर्मध्ये द्वितीयस्य 'नमस्ते हरसे' इति मन्त्रस्य ब्राह्मणं पञ्चमकाण्डे पठ्यते 'नमस्ते हरसे शोचिषे' इत्याह 'नमस्कृत्य हि वसीयांसमुपचरन्ति' इति । अत्र भाष्ये माधवः—'लोके हि योऽतिशयेन वसुमान् भवति, तं भृत्या आदौ नमस्कृत्य पश्चादुपचरन्ति, अतोऽग्नेरप्यत्र नमस्कारो युक्त' इति व्याचष्टे । एवं च भगवदुपचारेषु नमस्कारपूर्वकत्वं सुतरामेव लभ्यते । अतः प्राथमिकत्वावबोधनायारम्भ एव नमनं प्रयुक्तं प्रसादहेतुतया 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने' इति श्रीभागवतवाक्यात्सर्वलाभहेतुः परममङ्गलम् । श्रीमदाचार्या हि न केवलमत्रैवमादितः प्रयुञ्जते, अपि तु 'नमामि यमुनामहं' 'नत्वा हरिं सदानन्दम्' 'नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि' 'नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये' 'वन्दे श्रीकृष्णदेवम्' 'नमामि हृदये शेषे' एवमादिषु ग्रन्थान्तरेष्वपि प्रायेणादितः प्रयुञ्जते । आदौ प्रयोगाशयस्त्विह स्वयमुद्घाटितः । **कर्तव्यमिति** । अवश्यं कार्यम् आवश्यकार्थस्तव्यः । ननु किमन्यन्नैव कार्यमित्यत आहुः **नाधिकमिति** । तत्र हेतुः **किमासनमिति** । **देयमिति** सर्वत्रान्वेति । वागीषत्वात्तत्प्रेरितैव वाक् सर्वो वदतीति किं **वचनीयं** स्तोतव्यम् । केनोपनिषदि 'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति' इति प्रश्ने 'यद्वाचो ह वाचम्' इति श्रावणात् । आदिपदं प्रागुक्तादिवाक्यसङ्ग्रहार्थम् । तृतीयान्तस्य पूर्वत्र हेतुतयान्वयः । **सिद्धान्तः** शास्त्रतो निश्चितोर्थः । एतेन साधननिकर्ष उपनिबद्धः । प्रह्वीभावनिर्वाहकोत्कर्षापकर्षयोर्वास्तवत्वं बोधयन्तो निष्कृष्टं फलमाहुः **परमेत्यादि अर्थ** इत्यन्तम् । अयं भावः 'ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्मसत्यम् । प्रत्यक्प्रशान्तं भगवच्छब्दसञ्ज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ती'ति वाक्यात् निरस्तसाम्यातिशयं परवस्त्वेव वस्तुतो भगवच्छब्दवाच्यम् यद्यपि 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' इति वाक्यात्परब्रह्मादिशब्दवाच्यं तदेव, तथापि भागवतार्थो दिदर्शयिषित इति तन्नामनिर्वर्तकभगवच्छब्देनैव तदभिधेयं वस्तु निर्दिष्टम् । आद्यप्रकरणस्य गीतार्थत्वाच्च तत्प्रसिद्धपुरुषोत्तमपदेन विवृतम् । तदेव परमकाष्ठापन्नम् 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः' 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति कठश्वेताश्वतरादिषु श्रावणात् ।

आवरणभङ्गः ।

नियामकत्वेन लोके, पातञ्जलादिदर्शनेऽक्षरादुत्तमत्वेन, वेदे च पुरुषोत्तमत्वेन प्रथितत्वकथनाल्लोकवेदप्रसिद्धाय । तथाच परमकाष्ठापन्नत्वे लोकवेदौ मानमित्यर्थः । एतेन चरणेन प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुकूलमनुबन्धचतुष्टयं वैयासदर्शनानुसारिप्रमाणादिचतुष्टयञ्चोक्तम् । तथाहि, अत्र नमोयोगे जाताया भगवत इति चतुर्थ्याः, स्वाहायोगेन जाताया अग्नय इत्यादिचतुर्थ्या इवोपपदविभक्तित्वेऽपि,

सत्स्नेहभाजनम् ।

यद्यपि 'नमः स्वस्तिस्वधास्वाहे'त्यादिना जाता भगवत इति चतुर्थी उपपदविभक्तिः, तथापि 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी'तिन्यायात्तादर्थ्यमत्राद्रियते, अग्नय इदमित्यादित्यागवाक्य इव । तेन भगवानेव चरमं फलं परमकाष्ठापन्नत्वादिति फलति । प्रमाणमाहुः तत्सिद्धये इति । परमकाष्ठापन्नत्वसिद्धये प्रसिद्धार्थकतच्छब्देनासङ्कुचितां प्रसिद्धिं बोधयता लोकवेदप्रसिद्धिं प्रमाणतयाहेत्यर्थः । तथा च गीतावाक्यम् 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इति । यस्मात्क्षरं सर्वभूतसमूहमहमतिक्रम्य स्थितस्तन्नियामकः, अतो लोके जगति पातञ्जलाद्येकैकदेशिदर्शनेषु च तथा प्रथितः । एवमक्षराज्जगत्कूटस्थात्, अपिना क्षरत उत्तमः, अतो वेदे तथा प्रथितः । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' इति प्रागुक्ताभ्यां पुरुषाभ्यामुत्तमत्वात्पुरुषोत्तमोऽस्मीत्यर्थः । एवमव्याख्यानेऽर्थो न सङ्गच्छेत । प्रपञ्चातीतः परमेश्वर इति तु विश्वजनीनम् । न तथा कूटस्थादप्युत्तमत्वं लोके प्रसिद्धम्, अतो यथासङ्ख्यमेव प्रसिद्धिर्व्याख्येया । इयमेव प्रसिद्धिर्गायत्र्यारम्भे तच्छब्देनोच्यते सैव च तदर्थानुवादके श्रीभागवतारम्भश्लोके 'सत्यं पर'मिति पदाभ्यां व्यवारि । सात्र शास्त्रार्थसङ्क्षेपे गायत्रीस्थतच्छब्दमेवार्थानुकूलविभक्तिविपरिणामेनानूद्य समग्रा हि समग्राहि अक्षरात्परत्वं तु वेद एव 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः', 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' एवमादिवाक्यैर्मुण्डकादिषु प्रसाधितम् । क्षरात्परतोऽक्षरात्पर इत्यर्थः । अत्र तत्त्वविस्तरो मम वेदान्तचिन्तामणौ त्रयोदशप्रकरणे ज्ञेयः । अतो वेदास्तदनुकूलतया योजितं शास्त्रं च प्रमाणमिति निगर्वः । भगवच्छब्दतच्छब्दयोः साधारणत्वात् 'भगवांस्त्वेव मे ब्रवीदि'त्यादाविव गौणतां 'स्यमन्तभद्रो भगवा'नित्यादि मतभेदनैकैकांशस्याप्यश्वहस्तिन्यायेन परमत्वकल्पनां च व्यावर्तयितुमाहुः मतेति । तस्य भगवच्छब्दोक्तपरमकाष्ठापन्नस्य । अन्यथाकल्पनं मुख्ये गौणत्वकल्पनं गौण एकदेशे मुख्यत्वकल्पनं च व्यावर्तयितुमाहेत्यर्थः । कृष्ण इति स्पष्टनिर्देशे तु 'कृषिर्भूवाचकः' इतिश्रुत्या 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति स्मृत्या च सदानन्दाकारत्वान्न गौणत्वं, नामनिर्देशाच्च नान्यपरतया नयनं शक्यमिति भावः । नन्ववतारविशेष एव प्रसिद्धमिदमतः कथं परत्वमित्यत आहुः स एवेति । लोकवेदप्रसिद्धो मूलरूप एव परमकाष्ठापन्नत्वमत्यजन् गीतायाम् 'अतोऽस्मी'ति हेतुपूर्वकं कथनात् 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ती'ति कथनाच्च । कदाचित् रूपद्वारोद्धारकाले सर्वोद्धारार्थम् । एतेन हृदयादौ प्रादुर्भावो व्यावर्तितः । अखण्डः खण्डोंऽशस्तद्भिन्नः सत्त्वानधिष्ठितकेवलसदानन्दाकार इत्यर्थः । पूर्णः आप्तकामत्वाल्लौकिकोपभोगाकाङ्क्षारहितः । प्रथम एवकारोऽन्ययोगं व्यवच्छिनत्ति, द्वितीयस्त्वयोगम् ।

एव प्रादुर्भूतः कृष्ण इत्युच्यते । ननु पूर्वं साधनानि सिद्धान्येव सर्वत्र, तत्रानधिकारेण साधनाभावे भगवानप्यवतीर्य किं करिष्यतीत्याशङ्कायामाह अद्भुतकर्मण इति । भगवतोऽद्भुतकर्मत्वमग्रे व्युत्पाद्यम्, 'असाधनं साधनं करोती'त्यादि ।

आवरणभङ्गः ।

अमय इदं न ममेत्यादित्यागानुरोधेन यथा तत्र तादर्थ्यमर्थ आद्रियते, तथात्र, 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया', 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इत्यादिस्मृतिश्रुत्यनुरोधेन तादर्थ्यमर्थो ग्राह्यः । तेन भगवतः फलत्वबोधनात् प्रयोजनमुक्तम् । तेन तत्प्राप्तीच्छुरधिकारीत्यपि सिद्धम् । भगवतीत्यादिना नमनकृतेः सिद्धान्तत्वप्रतिपादनात् फलरूपः साधनरूपश्च भगवत्तद्भक्त्यात्मा विषय उक्तः । तावता प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धोऽपि सिद्ध इत्यनुबन्धचतुष्टयमत्र सिद्धम् । यद्यपीदं स्वयमेवाग्रे वक्ष्यन्ति, तथाप्येतस्य पद्यस्य शास्त्रार्थसङ्ग्रहरूपत्वान्मयात्रापि तद्बोधितमित्यदोषः । तथा प्रमेयसाधनफलान्यपि वैयासदर्शनाऽनुसारीणि सिद्धानि । तस्मा इत्यनेन वेदस्तदविरुद्धान्यन्यानि च प्रमाणानि सिद्धानि, इति प्रमाणादिचतुष्टयमपि सिद्धम् । अतः परं परीक्षारूपं प्रमेयमवशिष्यते । तत्पादत्रयेण बोधयन्ति मतेत्यादि । यद्यपि तत्तन्मते परमकाष्ठापन्नः परमेश्वर एवोच्यते, तदेव 'शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदा' इत्यारभ्य, 'किं बहुना कारवोऽपि यं विश्वकर्मेत्युपासत'इत्यन्तेन कुसुमाञ्जलिविवेक उदयनाचार्य्यैः सङ्गृह्योक्तम्, तथापि सर्वैरन्धहस्तिन्यायेनैकैकदेशमालम्ब्य स्वस्वाभिमतमुच्यते । वस्तुतस्तु 'त्वामेवान्ये शिवोक्तेने'ति 'शमूनङ्कुरुते विष्णु'रित्यादिभिश्च श्रुतिपुराणवाक्यैर्गीतोक्तपुरुषोत्तम एव परमकाष्ठापन्नत्वं निश्चाय्यत इति स एव तथेत्यर्थः । ननु कृष्णपदमवतारे प्रसिद्धं, गीतावाक्यं तु गौण्यापि युज्यत इति पूर्वोक्तं न युक्तमत आहुः स एवेत्यादि । यो गीतावाक्य उक्तः स एव हेतुपूर्वकङ्कथनात् कदाचिज्जगदुद्दिधीर्षति, तदा जगदुद्धारार्थमखण्डः स्वयमंशी पूर्ण आप्तकाम एवाग्निवत् प्रादुर्भूतः कृष्ण इत्यु-

सत्स्नेहभाजनम् ।

प्रादुर्भूतः एकदेशे मायामपसार्याग्न्यादिवद्व्यवहारविषयीभूतः । श्रुतिभागवतादिषु कृष्ण इत्युच्यते । कर्षति अयोग्यानपि स्वसामर्थ्यादुद्धरतीति यौगिकार्थोऽप्येतेन दर्शितः । 'कृषेर्वर्णे' बाहुलकादवर्णेऽपि नक् । तथा वर्णप्रतीतेरप्यानुकूल्यम् 'अथवा शून्यवद्गाढ'मित्यत्र वक्ष्यन्ति । एवमर्थककृष्णशब्दनिर्देशे पूर्णावतारानवतारोभयदशाविशिष्टं परवस्तु निर्दिष्टं भवतीति युक्तो निर्देश इति भावः । अंशावतारेष्वघटमानं पूर्णत्वज्ञापकं धर्मं वक्तुमवतारयन्ति नन्विति । सर्वत्रेत्युभयत्र मध्यमणिवदन्वेति । अपिशब्दो मुख्यतयोत्तरान्वयी । तथा च भगवदवतारात्पूर्वमपि सर्वत्र धर्मादिषु सर्वेषु पुरुषार्थेषु विषये तानि तानि साधनानि देशकालद्रव्यकर्त्रादीनि द्वितीयप्रकरणे सूचयिष्यमाणानि सिद्धान्येव, न तु साधनीयानि सन्ति । सर्वत्र तत्र सर्वेषु तेषु साधनेषु कालकृतशक्त्यादिह्रासादनधिकारे सदुर्लभमोक्षसाधनेषु सुतरामनधिकारेण श्रवणादीनामन्तरङ्गाणां त्यागादीनां बहिरङ्गाणां च साधनानामभावे षड्गुणसम्पन्नोऽप्यवतीर्योऽपि किं परहितं करिष्यतीत्यर्थः । साधनाभावेऽवतारोऽपि वैयर्थ्यादशक्यवचनः, किमुत प्रादुर्भाव इति भावः । अग्र इति । तृतीयप्रकरणे । असाधन-

रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः ॥ १ ॥

एवं साक्षाद्भगवत्त्वे हेतुमुक्त्वा तस्य लीलामाह रूपेति । रूपनामविभेदेन यः क्रीडति, रूपनामविभेदेन यो जगत्, रूपनामविभेदेन यतो जगदिति ।

टिप्पणी ।

रूपनामविभेदेनेति । व्यवहारतो भिन्नै रूपैर्नामभिरित्यर्थः । यद्वा विभेदो वैलक्षण्यम् । विलक्षणैस्तैर्जगति क्रीडतीत्यर्थः । जगदिति । अकर्मकधातुयोगे सप्तम्यर्थे द्वितीया । **निर्लेपत्वायेति** । प्रपञ्चस्येति शेषः । निर्लेपत्वममायिकत्वम् ॥ १ ॥

आवरणभङ्गः ।

च्यते । तथाच 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः' इति श्रुतौ यदुक्तं तदेव, 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनु'मित्यादिभिः 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मित्यादिभिश्च निर्द्धारितम् । तेनात्र सदानन्दाकारस्यैव बोधनात् स्वरूपधर्माणामपि, 'प्रकाशाश्रयवद्वे'तिन्यायेन तदभिन्नत्वाच्च 'स एव तथेति, न मतान्तरसिद्धः परमकाष्ठापन्न इत्यर्थः । एवं सत्यवतारे यः कृष्णपदप्रयोगः स तु गुणविशेषोपाधिकः । 'कृष्णवर्णं त्विषा कृष्ण'मित्यादाविव सारूप्यात् । पूर्णप्रादुर्भावेऽवतारकार्याणामपि दर्शनात् परं लोको भ्राम्यति । यथा, कृष्णं मत्वाऽर्भक'मित्यादि । अतो नाममात्रान्न भ्रमितव्यमिति भावः । एतन्निगमनाय परिचायकान्तरं वक्तुं पदान्तरमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । **अप्यवतीर्येति** । अवतीर्यापीत्यर्थः । तथाचोद्धारायावतारोऽपि न वक्तुं शक्यश्चेदाविर्भावस्तु दूरतरः, अतः पूर्णत्वकथनमनुपपन्नमिति शङ्काशयः । **अद्भुतेत्यादि** । तथाच, 'गोप्यः कामा'दित्यादिवाक्याद् यः कामक्रोधादिकमसाधनमपि साधनं स्वसम्बन्धेन कृतवाँस्तस्यासहायशूरत्वान्नोक्ताशङ्कावकाशः । न हीदमवतारे सम्भवति, 'यदा यदा ही'ति वाक्यात् । अतः पूर्ण एवेत्यर्थः । एतेन भगवच्छब्दविषयिणी गौणप्रयोगशङ्कापि परिहृता बोध्या । **एवमित्यादि** । उक्ते साक्षाद्भगवत्त्वेऽद्भुतकर्मत्वरूपं हेतुमुक्त्वा, जन्मादिसूत्रोक्तलक्षणाभावे, कथं साक्षाद्भगवत्त्वमित्याकाङ्क्षायां सृष्टिस्थितिप्रलयरूपां लीलामनायासेन क्रियमाणं कर्माहेत्यर्थः । **रूपनामविभेदेनेति** । रूपनाम्नोर्यो विभेदस्तस्मिंस्तस्मिन् रूपे तत्तन्नामनियमनेन

सत्स्नेहभाजनम् ।

मित्यादि । सप्तमस्कन्धे 'कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः । आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गता' इति नारदवाक्यात्, तत्रैव टीकायां संगृहीतात् 'गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः । सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो'रिति वचनात्, दशमे 'कामं क्रोधं भयं यो स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च । नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते' एवमादिवाक्येभ्यश्च कामक्रोधादिकमसाधनमपि स्वसम्बन्धेन साधनं कृतवान् करोति च । नहीदमवतारे घटते । अधर्माभ्युत्थानापातात् । तस्मादनधिकारिणोऽपि यथाकथञ्चित्सम्बन्धमात्रेणोद्धरन्पूर्ण एव । एवमित्यादि । साक्षादनारोपिते भगवत्त्वेऽद्भुतकर्मत्वरूपं हेतुमुक्त्वा 'जन्माद्यस्य यत' इति सूत्र-

अनेन क्रीडायां स्वातन्त्र्यमुक्तम् । निर्लेपत्वायाह एतादृशं जगद्यत इति । एवं ज्ञानेन मुच्यन्त इति सङ्क्षेपः ॥ १ ॥

आवरणभङ्गः ।

स्वस्मात् पृथक्करणम्, पक्षान्तरे ताभ्यां कृतं वैलक्षण्यं च, तेनेत्यर्थः । **अनेनेति** । यथेच्छमनेकधा सृष्टिकरणकथनेन । तथाच सूत्रोक्तलक्षणसत्त्वात् साक्षाद्भगवत्त्वं युक्तमित्यर्थः । ननु 'यः क्रीडति, यो जग'दित्येतावतैवाभिन्ननिमित्तोपादानतया स्वातन्त्र्यस्य सिद्धेः पुनर्हेतुतोल्लेखस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तं पक्षमवतारयन्ति **निर्लेपेत्यादि** । **एतादृशं**, भगवद्रूपम् । जगदिति साभिप्रायम् । तेनेदं गमनशीलं यतो भवति तादृशो भगवान् । तथाच भगवति षष्ठोऽपि गुणः पूर्ण एवेति ज्ञापनाय तथोक्तिः । एतेनान्तरा मायिकसृष्टिर्वा सङ्गृहीता ज्ञेया । तथाचैतादृशं नामरूपात्मकं जगद् **यतो** यत्सन्निधिवशात् तादृश इति स्वयं तद्धर्मरहितत्वान्निर्लेप इत्यर्थः । अत एव श्रुत्युक्तं सर्वपदं नानूदितं, किन्तु सर्वपदार्थं, 'तज्जला'निति लार्थैकदेशं चैकीकृत्य जगत्पदमत्रोक्तम् । तेन, 'यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षये'ति शास्त्रार्थ उक्तो ज्ञेयः । य इति पाठे तु, 'आत्मसृष्टेर्न वैषम्य'मिति न्यायेन भेदाभावाल्लेपाभावः । 'एतꣳ ह वा व न तपती'ति श्रुतौ 'स एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते' इति स्वाभेदज्ञानेनाऽपि लेपाभावश्रावणाच्च तथेति । निर्लेपकथनस्यापि प्रयोजनमाहुः **एवमित्यादि** । **मुच्यन्ते इति** । संसारान्मुच्यन्ते । 'न मां कर्माणी'ति

योजना ।

व्याख्यातारः । **अनेन क्रीडायां स्वातन्त्र्यमिति** । **अनेनेति** । यतो जगदिति पञ्चम्या हेतुत्वकथनेनेत्यर्थः । तथाच क्रीडासामग्रीभूतस्य जगतः स्वस्मादाविर्भावात्क्रीडायां न कस्याप्यपेक्षेति स्वातन्त्र्यं सिद्धमिति भावः । ननु क्रीडया जगति भगवत आसक्तिर्भवेत्तथासति "असङ्गोऽयं पुरुष" इत्यादिश्रुतिविरोध इत्याशङ्क्याहुः—**निर्लेपत्वायाहेति** । **एतादृशं जगद्य इति** । एतादृशं रूपनामविभेदेन स्वस्माज्जायमानं जगत् यः भगवानेवेत्यर्थः । तथाच जगतः स्वाभिन्नत्वान्नासङ्गत्वभङ्ग इति भावः । **एवं ज्ञानेन मुच्यन्त इति सङ्क्षेप इति** । नन्वेवं ज्ञानमात्रस्य मोक्षं

सत्स्नेहभाजनम् ।

कारोक्तलक्षणसङ्गमनेन भगवत्त्वं द्रढयितुं सृष्ट्यादिरूपां लीलामश्रमसाध्यं कर्माहेत्यर्थः । **रूपेत्यादि इतीत्यन्तम्** । इति लीलामाहेति पूर्वेणान्वयः । अत्र टिप्पण्यां '**रूपनामविभेदेनेति** । व्यवहारतो भिन्नै रूपैर्नामभिरित्यर्थः । यद्वा विभेदो वैलक्षण्यम् । विलक्षणैस्तैर्जगति क्रीडतीत्यर्थः । जगदिति अकर्मकधातुयोगे सप्तम्यर्थे द्वितीया' इति श्रीकल्याणरायाः । यः क्रीडतीति प्रथमवाक्यार्थेऽपि जगत्पदस्यायोजने सति कारिकायां जगत् क्रीडतीति वाक्यान्तरघटकजगत्पदस्य प्रागुपादानमरोचिष्णु स्यात्, अतः क्रीडतेरकर्मकतया जगद्रूपदेशस्य अकर्मकधातुभिर्योगे 'देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक' इति कर्मतया पूर्ववाक्येऽप्यन्वयस्तैर्व्याख्यातः । वस्तुतो

सत्स्नेहभाजनम् ।

नामरूपयोरपि भगवद्रूपत्वाद्व्यवहारतो भेदः परस्परवैलक्षण्यं च व्याख्यायि । अग्रे सृष्टिभेदेषु 'कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दन' इति नित्यलीलासर्गोऽपि वक्ष्यते । सोऽत्र 'यः क्रीडती'त्यनेन सङ्गृहीतः । इतरे सृष्टिभेदा यो जगदित्यनेन । अन्तरा सर्गश्च मुख्यतया तृतीयपक्षेण । आद्यपक्षे रूपनाम्नोर्यो विशिष्टो भेदस्तेन । अस्मिन् पक्षे नामरूपयोरेव नानात्वं, न तु स्वरूपे चिदानन्दादितिरोभावकृतं तारतम्यम् । अस्यापि प्रपञ्चविशेषत्वाट्टिप्पणोक्तरीत्या जगत्पदान्वयादेरपि न क्षतिः । द्वितीयपक्षे रूपेषु नाम्नां विभेदः । गजाश्वादिलक्षणे तत्तद्रूपे तत्तन्नामनियमनं, ताभ्यां कृतः स्वस्माद्विभेदश्च । तृतीयपक्षे ताभ्यामेव कृतं वैलक्षण्यम्, न तु स्वरूपस्य तत्रान्वयः । मायावादिनस्तु नामरूपयोर्मिथ्यात्वं मायिकत्वं च मन्यन्ते, यथाहुः—'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततः पर'मिति । सिद्धान्ते तु ते अपि सत्ये ब्रह्मरूपे च । बृहदारण्यकतृतीयप्रपाठकान्ते 'त्रयं वा एतन्नामरूपं कर्म' इत्युपक्रम्य 'नामरूपे सत्य'मिति श्रावणात् । श्वेतकेतुविद्यायां 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' इति व्याकरणेच्छा, तया तद्व्याकरणं च श्राव्यते । मायिकत्वे त्वभ्रान्तं ब्रह्म जीवभ्रमकल्पिते तेनैव पश्येदिति सर्वमसङ्गतं स्यात् । अधिकं तु मारुतशक्तौ द्रष्टव्यम् । तैत्तिरीयब्राह्मणे द्वितीयकाण्डे ('प्रजापतिः प्रजा असृजत, ताः सृष्टाः समश्लिष्यन्, ता रूपेणानुप्राविशत्, तस्मादाहुः रूपं वै प्रजापतिरिति, ता नाम्नाऽनुप्राविशत, तस्मादाहुः नाम वै प्रजापतिरिति' इति तयोर्ब्रह्मरूपतैव श्रूयते । प्रजापतिः परमात्मा समश्लिष्यन् रूपनामविभागाभावादेकरूपा अव्यवहार्या आसन् । परब्रह्मणो रूपांशेन नामांशेन च प्रवेशे व्यवहार्यता, तयोर्ब्रह्मरूपता चोक्ता । नामरूपविभेदः श्रुत्यन्तरेऽपि 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' इत्यादाववधेयः । ब्रह्मवल्ल्यां 'तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत' इति, पुरुषविधब्राह्मणे 'सहैतावानास' इति श्रावणाद् **यो जगद्** यः स्वयं जगद्रूपो भवतीति युक्तम् । **अनेनेति** । स्वयं स्वेच्छयाऽनेकधा सर्गकरणकथनेन । एवं सति स्थितिप्रलयावपि तदधीनौ सिध्यत इति सौत्रलक्षणसमन्वयः । ननु पक्षद्वयेनैव क्रमादभिन्ननिमित्तोपादानसिद्ध्या तृतीयस्य किं प्रयोजनमतस्तदाहुः **निर्लेपत्वायेति** । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन' इति चतुर्थी । तद्बोधयितुमाहेत्यर्थः । **एतादृशमिति** । तद्रूपं जगत्, गच्छतीति जगत् । 'पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्चे'ति निपातितः । यतः सर्वं गतिमद्भवति, तटस्थाद्यतः प्रवर्तत इत्यर्थः । क्षेत्रज्ञात्मना तत्प्रवेशोत्तरमेव विराज उत्थानस्मरणात् । स्वयमंशिभूतस्तु तटस्थ एवेति निर्लेपः । 'विष्टपं भुवनं जगदि'त्यमरः । 'जगत्स्याद्विष्टपे क्लीबं वायौ ना जङ्गमे त्रिष्वि'ति मेदिनि । अतः केवलयौगिकार्थोऽपि सङ्गत एव । अथवा 'पुरुष एवेदं सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुत्युक्तं सर्वपदं विहाय अन्तरा सर्गसङ्ग्रहायात्र जगत्पदमेवोक्तम् । तथा च **एतादृशं** वास्तवजगत्सदृशं वस्तुतो मायिकमस्त्यादिशून्य प्रातीतिककेवलनाम-

आवरणभङ्गः ।

वाक्यात् । तथाच पूर्वोक्तलीलाद्वयज्ञानेन भगवति माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेहः, तृतीयलीलाश्रवणेन स्वस्य संसारान्मुक्तिः, तेन च भक्तेर्दार्ढ्ये भगवत्प्राप्तिरिति सन्दर्भार्थः । एतेन पुष्टिमार्गीयमर्यादामार्गीययोः सात्त्विकयोः क्रमेण फलं भजनानन्दब्रह्मानन्दरूपं, तदुपयोगि वैराग्यञ्चासादेवेत्यपि सूचितम् । एवं भगवत इति प्रतिपाद्यत्वेन शास्त्रार्थमुक्त्वा, तस्मा इत्यनेनाद्यप्रकरणार्थरूपत्वम्, अद्भुतेत्यनेन द्वितीयप्रकरणार्थत्वमपि तत्त्वेनैवोक्त्वा, तस्यैव स्वतन्त्रत्वं निर्लेपत्वञ्च तृतीयप्रकरणार्थरूपं तथैवोक्तमिति, तादृशे च नमनमेव जीवानां शक्यमिति तज्ज्ञानेन च मुक्तिरिति सर्वोऽपि परीक्षारूपः शास्त्रार्थ एतावतैव पूरित इति प्रतिज्ञापूर्तिः । एतेन फलसम्बन्धबोधनेन जघन्यस्यापि प्रेक्षावतः प्रवृत्तिरुपपादिता । ये मुमुक्षवस्तेऽत्र प्रवर्त्स्यन्त इति ॥ १ ॥

योजना ।

प्रतिकारणत्वोक्तेर्मुक्तिमात्रस्य फलत्वोक्तेर्भक्तेर्मुक्तिकारणता न स्यात्, मुक्त्यधिकस्य भगवत्स्वरूपात्मकपुष्टिफलस्य फलत्वं च न स्यात्, इति चेत्, न; शास्त्रार्थप्रकरणप्रतिपादितप्रमेयस्य निर्धारार्थभागवतप्रकरणमित्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्तत्र भागवतप्रकरणे "शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे । एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते" इत्यस्य व्याख्याने भक्त्यर्थमेषा मुक्तिरपेक्ष्यत इत्युक्तत्वात् । अतोऽत्राप्युच्यमाना मुक्तिर्भक्त्यङ्गभूता सा ज्ञानेन साध्यते । भक्तिसाध्यं फलं तु भिन्नम् । तत्रापि मर्यादाभक्तिसाध्यम् सायुज्यादिपुष्टिभक्तिसाध्यं तु स्वतन्त्ररूपमिति विवेके न किञ्चिद्दूषणम् ॥ १ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

रूपात्मकं स्वप्नविवर्तादिरूपं जगद्यतो यत्सन्निधिवशाद्भवति, न तु स स्वयं तत्रान्वेति । यच्छब्दत्रयस्य तस्मा इति पूर्वेणान्वयः । न चैवं लोकवेदप्रसिद्ध्यर्थकत्वबाधः शङ्क्यः, गायत्रीतृतीयपादस्थयच्छब्दसमानाधिकरणस्याप्यारम्भस्थतच्छब्दस्य तथार्थवदत्राप्यबाधात् । अन्तरासर्गस्तु 'महेन्द्रजालवत्सर्व'मित्यत्र वक्ष्यते । स्वयं तु तद्धर्मैस्तत्कृतबन्धेन च रहितत्वान्निर्लेपः । अत्रावरणभङ्गे 'भगवति षष्ठोऽपि गुणः पूर्ण एवेति ज्ञापनाय तथोक्ति'रित्युक्तम् । तस्यायमाशयः, भगवत इति षड्गुणवत्ता प्रतिज्ञाता । ते च गुणाः 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा'इति विष्णुपुराणादिषूक्ताः । तत्र तस्मा इति सर्वतः परत्वाल्लोकवेदप्रसिद्धमैश्वर्यम् । कृष्णपदेन देवकृतमुक्तिविघ्नविफलीकरणपुरःसरसर्वोद्धरणसामर्थ्यात्प्रादुर्भावेऽप्यखण्डत्वादितश्च वीर्यम् । अद्भुतकर्मपदेन यशः । यः क्रीडतीति श्रीः । वेणुगीतसुबोधिन्यां 'श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदि' इत्युक्तेः । यो जगदिति सर्वोपादानत्वात्सर्वज्ञत्वम् । स्वसन्निधिमात्रेण जीवभोगार्थं नानासर्गनिर्माणेऽपि स्वस्य तत्सम्बन्धाभावाद्वैराग्यमिति । एवं चात्र तृतीयप्रकरणे दशमसुबोधिन्यां च विशेषतो गुणानां कथनात्तेऽप्यत्र शास्त्रार्थोपनिबन्धने सङ्गृहीता ज्ञेयाः । निर्लेपत्वं तु 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय । उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु' इत्येवमादौ सुप्रसिद्धम् । 'एतादृशं जगद्य इति' इति पाठे तु 'आत्मसृष्टैर्न वैप-

विस्तरेण वक्तुं प्रथमतोऽधिकारिणमाह—

आवरणभङ्गः ।

ननु मोक्षार्थं साङ्ख्यादीनि दर्शनानि सन्ति, तानि विहाय कस्य वाऽत्र प्रवृत्तिर्भविष्यति । अनार्षत्वेनासम्भावनाद्युत्थानात् । प्रमाणमूलकत्वेऽपि मतान्तरसाम्यस्फूर्तेश्चेत्याशङ्क्य, तन्निरासार्थं विस्तारस्यावश्यकत्वात् तत्रापि पूर्वमधिकारिणोऽत्यावश्यकत्वात् तं वक्तुमग्रिमश्लोकमवतारयन्ति **विस्तरेणेत्यादि** । तथाचानधिकारिणो हृदये सम्यगुक्तोऽप्यर्थो न स्थिरो भवतीति, यथा

योजना ।

विस्तरेण वक्तुं प्रथमतोऽधिकारिणमाहेति ।

सत्स्नेहभाजनम् ।

म्य'मिति वक्ष्यमाणन्यायेन भगवतो निर्लेपता । श्रीकल्याणरायास्त्विह निर्लेपत्व प्रपञ्चस्यामायिकत्वमिति मन्यन्ते । भगवतो निर्लेपत्वमित्यन्ये । तथा ज्ञानस्य फलमाहुः एवमिति । 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते । एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि'रिति भगवद्वाक्यात्तस्य निर्लेपतया ज्ञानेन मुमुक्षवः कर्माणि कुर्वाणा अपि कर्मतः संसारतश्च मुच्यन्त इत्यर्थः । अथवा शास्त्रार्थसङ्ग्रहोऽत्र यथा दर्शितस्तथा ज्ञानेन मुच्यन्त इत्यर्थः । इयं च मुक्तिर्भक्तेः परमफलस्य पूर्वदशारूपेति नाग्रिमग्रन्थविरोधः । एतावता प्रमेयं सङ्गृहीतमिति वैयासदर्शनानुसारि प्रमाणादिचतुष्टयं सिद्धम् । अत्रत्यं पूर्वार्द्धं दशमे 'नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे । अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः' इत्यक्रूरवचने किञ्चिद्भिन्नपाठमस्ति । प्रमाणत्वलाभाय विशिष्टमङ्गलसिद्धये च तदेवात्र यथोपयोगं भिन्नोत्तरार्द्धमुपनिबद्धम् । तत्राप्यनन्तपदेनान्यूनैर्बहुरूपैः क्रीडनम् । आदिभूतपदेन तस्यैव सर्वजगद्रूपत्वम्, कूटस्थपदेन सर्वस्य हेतुत्वं प्रवर्तकत्वम्, आत्मपदेन निर्लेपत्व स्वातन्त्र्यं चोक्तमिति तदप्यत्रोत्तरार्द्धेऽर्थतः सङ्गृहीतम् । एवमनेकश्रुतिस्मृतिसूत्रपुराणवचनानुकूल्यमिह बोध्यमिति दिक् ॥ १ ॥

द्वितीयकारिकामवतारयन्ति **विस्तरेणेत्यादि** । एतावतैव सर्वेषां बोधानुदयाद्विस्तरेण प्रमाणदर्शनपूर्वकमसम्भावनाविपरीतभावनानिवर्तकेन शब्दप्रपञ्चेन शास्त्रं वक्तुम् । अनधिकारिणां पुरतः सविस्तरमुक्तमपि कासरस्य पुरः सरसवल्लकीवादनसगन्धं सम्पद्यत इति वैयर्थ्यवारणायोपपादयिष्यमाणविषयज्ञानेऽधिकारिणं प्रथमत एवाहेत्यर्थः । यद्यपि प्रयोजनमप्यत्रोच्यते, तथापि कारिकायां प्राधान्येन प्रथमं त एवोक्ता इत्यवतरणे तेषामेव निर्देशः । अथवाऽधिकारिपदं प्रयोजनस्याप्युपलक्षकम् । 'सिद्धिः श्रोतृप्रवृत्तीनां सम्बन्धकथनाद्यतः । तस्मात्सर्वेषु शास्त्रेषु सम्बन्धः पूर्वमुच्यते । किमेवात्राभिधेयं स्यादिति पृष्टस्तु केनचित् । यदि न प्रोच्यते तस्मै फलशून्यं तु तद्भवेत् । सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् । यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते' इति गणेशदैवज्ञकृतायां मुहूर्ततत्त्वटीकायां तादृशप्रामाणिकव्याख्यान्तरेषु च धृतैर्वचनैरधिकारिण इव तस्याऽप्यवश्यकथनीयताया बोधनाद् व्यासचरणैः प्रथमाधिकरण एव ब्रह्मजिज्ञासापदेन, गीतायां चादावेव 'कुतस्त्वा कश्मल'मित्यत्रार्जुनपार्थादिपदैः, श्रीशुकैश्च स्वोक्त्यारम्भ एव

सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः ।

सात्त्विका इति । स्वभावप्रकृत्यपेक्षया अधिकं विहितमलौकिकं ये कुर्वन्ति ते

टिप्पणी ।

स्वभावेति । स्वस्य भावो धर्मः प्रकृतिस्तदपेक्षया । यद्वा स्वस्य भावो धर्मो ब्राह्मणत्वादिः प्रकृतिः सात्त्विक्यादिस्तदपेक्षयाऽधिकं तीर्थसेवनादिकमित्यर्थः ॥ २ ॥

आवरणभङ्गः ।

व्यासचरणैर्जिज्ञासापदेन, श्रीशुकैश्च भारतेति सम्बोधनेनाधिकारी शास्त्रारम्भ एवोक्तस्तथात्रापि

सत्स्नेहभाजनम् ।

'तस्माद्भारत सर्वात्मा' इति भारतपदेन चाधिकारी दर्शित इतीहापि प्रथमतस्तदुक्तिरुक्ता कारिकायाम् **अधिकारिण** इति । स्वरूपयोग्याः । **अर्थे** इति । 'चर्मणि द्वीपिन'मित्यादिवत्सप्तमी । तेषां प्रयोजननिमित्तं मोक्षपुरुषार्थनिमित्तं वेत्यर्थः । इह च श्रीभागवततत्त्वज्ञानद्वारा मोक्षफलाधिकारिण एवोच्यन्ते, न तु भजनाधिकारिणः । भगवद्भक्तपदेन भक्तेरधिकारिविशेषणतया निर्देशात् । भक्तौ तु भगवत्कृपापात्रमात्रस्याधिकारः । कृपापरिज्ञानं च भक्तिमार्गरुच्या । एतत्सर्वार्थनिर्णये भक्तिप्रकरणे सेत्स्यति । इह सात्त्विकपदेन सात्त्विकविशेषा एव भगवद्भक्तपदेन च तद्विशेषा एव विवक्ष्यन्त इत्याशयेन व्याचक्षते **स्वभावे**त्यादि । अत्र चित्तस्य सात्त्विकपरिणामरूपात्स्वभावाजन्या प्रकृष्टा या कृतिरित्यावरणभङ्गकाराः । 'स्वस्य भावो धर्मः प्रकृतिस्तदपेक्षया' । यद्वा 'स्वस्य भावो धर्मो ब्राह्मणत्वादिः, प्रकृतिः सात्त्विक्यादिस्तदपेक्षया अधिकं तीर्थसेवादिकमित्यर्थः' इति श्रीकल्याणरायाः । मम त्वेवं भाति । तृतीयस्कन्धे स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते' इत्यत्र सुबोधिन्यां 'स्वभावो जीवभेदनिमित्तः । जीवा ह्यनेकविधाः नानास्वभावाः । गुणा अपि भेदकाः अन्तःकरणस्वभावहेतवः । अन्यथा श्रुत्वा स्वभाववशादन्यथार्थं कल्पयति, तदनुसारिणश्च तथैव वर्तन्त' इत्युक्तम् । अत्र स्वभावादन्यथाकल्पको जीवः, तदनुसारिणश्च जीवानुसारिणोऽन्तःकरणेन्द्रियादय इति ज्ञेयम् । तेन 'त्रिविधा जीवसङ्घास्तु' इति सर्वार्थनिर्णये वक्ष्यमाणपञ्चरात्रवचनादिभिर्जीवानां नानात्वात्पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदादिष्वनेकत्र तन्नानात्वस्योपपादनाच्चात्र स्वभावो जीववैविध्यहेतुस्तन्निष्ठासाधारणधर्मो दैवाऽऽसुरत्वादिर्विवक्ष्यते। अन्तःकरणादिस्वभावहेतवो ये गुणा उक्तास्ते वा तज्जन्या अन्तःकरणादिपरिणामा वात्र प्रकृतिशब्देनाभिप्रेयन्ते । इमा एव प्रकृतयः श्रुतानां वेदादिवाचामन्यथार्थग्राहिका एकादश उक्ताः 'बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः । याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा । यथाप्रकृतिसर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि । एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम् । पारम्पर्येण केषाञ्चित्पाखण्डमतयोऽपरे' इत्यादिना । इमा एव च गीतायां 'राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' 'दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः' इत्यत्र भान्ति । तथा च जीवानां सात्त्विकानां यः स्वभावो या च सात्त्विकान्तःकरणादिप्रकृतिस्तज्जन्यं कर्म देवयजनादिकमेव सम्भवति 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादिस्मरणेभ्यः । तच्च प्रवृत्तं निवृत्तं वेत्युभयविधमपि सम्भवति । प्रकृते तूक्तस्वभावप्रकृतिजन्यकर्माऽपेक्षयाधिकं बहुलमुत्कृष्टं वा निवृत्तमिति यावत् । **विहितं** वेदादिभिः कर्तव्यतया चोदितम् । **अलौकिक**मेतल्लोकभवमात्र-

आवरणभङ्गः ।

तं विवेक्तुं पूर्वं तमाहेत्यर्थः । सात्त्विकाः क इत्याकाङ्क्षायां तेषां विवक्षितस्वरूपं विवृण्वन्ति स्वभावेत्यादि । स्वभावजा प्रकृष्टा कृति स्वभावप्रकृतिः । स्वभावः परिणामहेतुरग्रे वाच्यः । तत्कार्यश्चित्तपरिणामोऽपि 'गुणैः स्वाभाविकैर्बला'दित्यादौ स्वभावपदेनैवोच्यते । एवं सति प्रकृते चित्तस्य सात्त्विकपरिणामरूपो यः स्वभावस्तत्प्रयुक्ता या उत्तमा कृतिः, 'यजन्ते सात्त्विका देवा-नि'ति वाक्याद्देवयजनरूपा, तदपेक्षयाऽप्यधिकमुत्कृष्टमधिकं बहु वा यथा स्यात्तथा विहितमलौ-किकम्, 'कर्मनिर्हारमुद्दिश्ये'ति, 'सतां प्रसङ्गे'ति वाक्याद्युक्तं ये कुर्वन्ति त इत्यर्थः । एतेन बुद्धिमत्त्वरूपा स्वरूपयोग्यता निरूपिता । अनिषिद्धयोगादिपरा अपि योगार्थं तादृशा भवन्तीति

योजना ।

अस्मिन् ग्रन्थे वक्ष्यमाणस्य सिद्धान्तस्य ज्ञानेऽधिकारिणमाहेत्यर्थः । इह हि[1] सात्त्विका भगवद्भक्ता इत्यनेन वक्ष्यमाणस्वसिद्धान्तज्ञानेऽधिकारो निरूप्यते, न तु भक्तिमार्गा-धिकारः । भगवद्भक्ता इत्युक्त्या पूर्वमेव भक्तेः कथनात् । स्वमार्गीयपुष्टिभक्तौ तु भगवतः

सत्स्नेहभाजनम् ।

फलकमिन्नम्, ये कुर्वन्ति ते सात्त्विका विवक्षिता इत्यर्थः । जीवस्वभावो हि तत्तद्गुणस्यैव विशेषत उल्लासे हेतुः । 'गुणैः स्वाभाविकैर्बलात्' 'स्वभावप्रभवैर्गुणैः' इत्यादिवचोभ्यः । 'पुंसां भावो विभि-द्यते' इत्यादौ भावादिपदैः प्रसिद्धा प्रकृतिश्चान्तःकरणादिस्वभावरूपा गुणजन्या 'रजःसत्त्वतमो भुवः' इत्युक्तेः । अतो न पौनरुक्त्यम् । ब्राह्मणत्वादिरपि ब्राह्मण्यादिदेवतानां देहादौ प्रवेशात्प्रकृतिर्भाति । क्षत्रभावं विषयीकृत्य 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' इत्युक्तेः । जीवधर्मस्यात्यन्तरङ्गत्वात्प्राङ्निर्देशः । जीवेष्वपि प्रवेशसम्भवाद्ब्राह्मणत्वादिस्तद्धर्मोऽपीति तु श्रीकल्याणरायाशयो भाति । प्रकृतिपदस्य केवलयौगिकार्थादरे 'रूढिर्योगाद्बलीयसी' इति न्यायविरोधोऽप्येतावता परिहृतः । उक्त-व्याख्यानेऽप्यार्थिकी कृतिर्ग्राह्यैव, अतः स्वभावपदेनैव जीवादिधर्मान् सङ्गृह्य स्पष्टप्रतिपत्तये प्रकृष्टा कृतिरिति व्याख्यायि । अतो मदुक्तिस्तदुक्तिष्वेवान्तर्भवति । अत्रायुर्वर्धकादिगीतोक्त-सात्त्विकाहारापेक्षयाधिकं विहितं सत्त्वशोधकभगवत्प्रसादादिभोजनमेव कुर्वतामतिरिक्तमकुर्वता-मविवक्षितत्वबोधनायालौकिकमिति । दम्भाहङ्कारहीनमप्यशास्त्रविहितघोरतपश्चरणं विधिविरुद्ध-देवयजनरात्रिश्राद्धादिकं च व्यावर्तयितुं विहितमिति । स्वर्गाद्यभिलाषेण कृतं यजनादिकं विहितालौकिकमपि व्यवच्छेत्तुमधिकमिति । भगवत्तोषार्थमेव करणबोधनाय परस्मैपदं चोक्तम् । तेन पापपरिहारं भगवदर्पणं तदाज्ञापालनं वाऽनुसन्धाय लौकिकफलानि चाननुसन्धाय 'ब्रह्मार्पणमि'ति न्यायेन देवयजनादिकं महत्सेवापुण्यतीर्थनिषेवणादिकं च केवलं भगवत्प्रीतये कुर्वन्तः पापभीरवो विवक्ष्यन्ते । 'निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्' इत्यन्तैः, 'शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः । स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्' इति, 'सतां प्रसङ्गा-

1 हीति खपुस्तके नास्ति ।

सात्त्विकाः, तत्रापि भगवत्सेवकाः सेवापराः, तत्रापि ये निष्कामास्त एव मुक्तावधिकारिणः ।

आवरणभङ्गः ।

तेभ्यो व्यवच्छेत्तुं विशेषान्तरमाहुः **तत्रापीत्यादि** । **भगवत्सेवकाः**, न तु स्वरूपान्तरसेवकाः । **सेवापराः** । तनुजवित्तजसेवाकर्तारो वैष्णवा इत्यर्थः । तेन आयुष्मत्ताऽपि निरूपिता । तादृशाः शुद्धोपासका अपि भवन्तीति तेभ्योऽपि व्यवच्छेत्तुमाहुः **तत्रापीत्यादि** । **त एवेत्यादि** । 'यदा

योजना ।

कृपापात्रमधिकारी "कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्ध्येत्कारणमुच्यते" इति सर्वनिर्णये (सर्व. श्लो. २२४) वक्ष्यमाणत्वात् । कृपा हि तत्कार्यरूपया मार्गरुच्या ज्ञायते । "कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते" इति सर्वनिर्णये कथनात् । तथा च, पुष्टिमार्गरुचिमान्

सत्स्नेहभाजनम् ।

न्मम वीर्यसम्पदः' इत्यादिसन्दर्भेण, 'कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् । यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः' इत्येवमादिभिस्तथाऽवसीयात् । अनिषिद्धियोगपरा अपि निवृत्तं कर्म सेवन्ते तान् व्यावर्तयितुमुक्तं मूले भगवद्भक्ता इति पदं व्याचक्षते **तत्रापीति** । उक्तसात्त्विकेष्वपि । तत्र भगवत्पदकृत्यमाहुः **भगवत्सेवका इति** । एतेनाक्षरपर्यन्तोपासका व्यावर्तिताः, गुरुशास्त्रादितः । पुरुषोत्तमस्वरूपं ज्ञात्वा तमेव सेवमाना देवान्तराणि तस्यैव रूपाणि मत्वा सत्कुर्वन्तः 'गुहाशयायैव न देहमानिने' इति न्यायेन सर्वात्मना तमेव परिचरन्त इत्यर्थः । पूजकादिपदानि विहायोपात्तभक्तपदकृत्यमाहुः **सेवापरा इति** । एकादशस्कन्धोक्ता तनुजा वित्तजा सेवैव परं सर्वोत्तमकर्तव्यं येषां तथा । एवं चात्र भक्तपदं न मुख्यभक्तिमत्परम्, तेषां साधनानुपयोगात् । किन्तु 'भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः । तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी' इति गारुडाच्छ्रवणकीर्तनादिसाधनभक्तिमत्परम् । उक्तविधाः सुकृतिनो भक्ता अपि 'चतुर्विधा भजन्ते मा'मित्यत्र भगवता चतुर्विधा उक्तास्तत्रार्तार्थार्थिनावनिष्टनिवृत्तीष्टप्राप्तिकामौ व्यावर्तयितुमाहुः **तत्रापीति** । परस्य साधनभक्तिमत्स्वपि । **निष्कामाः** भगवद्व्यतिरिक्तैहिकामुत्रिककामनारहिताः । नन्वयमर्थः कारिकायां कथं लभ्यः अत आहुः **त एवेति** । मुक्तिपदं प्रकृते सायुज्यपरम् । इदमग्रे 'सेव्यः सायुज्यकाम्यया' इत्यादौ स्फुटीभविष्यति । एवकारः सकामानां मोक्षव्यावर्तकः । बृहदारण्यके 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति तेषामेव मुक्तिः श्रूयते । कठवल्लीष्वपि इदमेव पठ्यते । एकादशे

---

१ सर्वनिर्णये "विरुद्धकरणं नास्ति" इत्यस्यानुसन्धाने, तत्रैव कृपापरिज्ञानमिति प्रकाशे । तत्रैवावरणभङ्गे—अस्माभिरिति शेषः, अन्येषां तु मार्गरुचिपरिज्ञानं वेषवचनाचारैः । अथ भागवतं ब्रूतेत्यत्र तथासिद्धेरिति । एवंच वेषवचनाचारादेर्वञ्चकादावपि दर्शनात्तैरधिकारिनिर्णयो न भवतीति ध्येयम् । श्रीहरिरायचरणैर्दुःसङ्गविज्ञानादौ तथा निर्णीतत्वादिति दिक् । २ स्थिता इति पाठः ।

भवान्तसम्भवा दैवात्तेषामर्थे निरूप्यते ॥ २॥

तत्रापीश्वरेच्छया अन्तिमजन्मनि जाताः शरीरं गृहीतवन्तः ।

आवरणभङ्गः ।

सर्वे प्रलीयन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुतौ कामाभावस्य मुक्त्यधिकारित्वेनोक्तेस्तादृशाः । एतेन दोषाभाव उक्तः । तेन द्वितीयसुबोधिन्यां 'बुद्धिश्चायुश्च दोषाणामभावः कारणं यतः । यस्य नैते भविष्यन्ति तस्य नास्त्यधिकारिता' इत्युक्तोऽधिकारः, एवं प्रकारको विवक्षित इत्युक्तम् । एवङ्गुणसत्त्वेऽपि यदि भगवतो न शीघ्रमुद्दिधीर्षा, तदापि विलम्बो भवेदिति मूलकारणसत्तामाहुः **तत्रापी**त्यादि । 'एष उ एव साधु कर्म

योजना ।

पुष्टिमार्गेऽधिकारीति सिद्धम् । एतच्च मया प्रमेयरत्नार्णवे विवेचितम् । विशेषजिज्ञासायां ततोऽवधेयम् । **तेषामन्तिमत्वं यथा सिद्ध्यतीत्यादि** । ननु ये भगवदिच्छयाऽन्तिमजन्मनि जातास्तेषामन्तिमत्वं सिद्धमेव, किमुपायकथनेनेति चेत्, श्रूयताम्; येषां भगवदिच्छयाऽन्तिमं जन्म, तेषामपि साधनैरेवान्तिमजन्मत्वम्, भगवदिच्छाया एव तादृशत्वात्, फलमात्रस्य प्रायस्तत्तत्सा-

सत्स्नेहभाजनम् ।

'निष्किञ्चना अप्यनुरक्तचेतसः शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः । कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम,' तथा तत्रैव 'यदृच्छया मत्कथादौ' इत्यादिना, प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः । कामा हृदिस्था नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते' इत्यन्तेनैतत्सर्वं सप्रपञ्चं दर्शितम् सप्तमस्कन्धे दशमाध्याये आरम्भात्प्रभृति 'विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान् । तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते' इत्यन्तेनं भक्तावपि कामाभावावश्यकतोक्ता । पूर्वं तु कर्मणि कामाभावोऽधिकपदेनोक्तः, इह तु भक्तौ भगवतोऽपि तदतिरिक्तकामाभावो बोधित इति ध्येयम् । 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् । मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा' इति भगवदानुकूल्यमप्यावश्यकमुक्तम् । तदाहुः **तत्रापी**ति । मूले देवस्य स्वतन्त्रतया क्रीडादिकर्तुः पुरुषोत्तमस्येदं दैवम्, अर्थादिच्छा, प्रारब्धमपीच्छैकतन्त्रत्वादिच्छारूपमेव । तदभिप्रेत्याहुः **ईश्वरेच्छये**ति । मूले भवानां जन्मपरम्पराणामन्ते सम्भवो जन्म येषामिति, भवस्य संसारस्य अन्तो नाशो यस्मिंस्तादृशः **सम्भवः** सम्भवतीति सम्भवो देहो येषामिति चार्थो विवक्षितस्तदाहुः–**अन्तिमे**त्यादि । **शरीरमि**ति । व्यासचरणैस्तृतीयस्य प्रथमे 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' इत्यादिभिः 'योनेः शरीरम्' इत्यन्तै-

---

१ पुष्टिमार्गाधिकारीति गपुस्तके । २ एवंच, पुष्टिमार्गीयफलदित्सासमुद्भूतभगवत्कृपाजन्यपुष्टिमार्गविषयकरुचिमान् अधिकारीति ज्ञेयम् । तादृशरुच्युत्पत्तौ प्रकार उच्यते, तथाहि–दैवजीवेषु यं जीवं पुष्टिमार्गेऽङ्गीकर्तुं हरिर्वाञ्छति, तस्य प्रभुकृपया सत्सङ्गे सति, तत्कृपया परिचर्यादिना तत्प्रसङ्गाद्यथा सम्भवं श्रवणतनुजसेवनादिरूपभजनानुभवादेतन्मार्गे रुचिराविर्भवति । "एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते" इतिवाक्यात् । एतादृशरुचिमान् अधिकारी पुष्टिमार्गे । इति प्रमेयरत्नार्णवे । अधिकारिनिर्णये विवेचितम् । तत्र विशेषः, प्रथमकक्षापन्ना रुचिरित्यादिकम् । तदस्य ग्रन्थस्य प्रस्तावनायां द्रष्टव्यम् (सम्पादकः)

तेषां यथान्तिमत्वं सिद्ध्यति तथोपायो निरूप्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

आवरणभङ्गः ।

कारयति यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषती'ति श्रुतेर्येषां भगवानप्यनुकूलस्तादृशा इत्यर्थः । एवं सपरिकरमधिकारिणं निरूप्य तादृशां फलविलम्बाभावायाऽयमुद्यम इत्याहुः तेषामित्यादि। यथाऽन्तिमत्वमिति । 'लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमि'त्येकादशे अवधूतवाक्यात् तादृशे जन्मनि लब्धेऽपि, यथा भरतवदन्यासक्त्या विलम्बो न भवति तथेत्यर्थः । तथाच निष्कामकेवलवैष्णवाः सन्तो ये पापभीरवो भगवन्तं सेवन्ते, तेषामपि कर्णधाररूपगुर्वभावेन फलविलम्ब इति तदभावाय कादाचित्कान्यासक्तिनिवारणेन दार्ढ्यार्थमयमुपाय इति निष्कर्षः । इदमेव चाधिकारिस्वरूपं गीतायाम्, 'इदं ते नातपस्काये'त्यादिनाऽनुपदेश्यनिषेधमुखेनोक्तम् । एकादशे च, 'नैतत् त्वया दाम्भिकाये'त्यादिना, 'एतैर्दोषैर्विहीनाये'त्यादिना च । तेन च ब्रह्मजिज्ञासासूत्रेऽपीदृश एवाधिकारी मुख्यो मृग्यत इति ज्ञेयम् । तेन श्रुतावप्येवमेव फलिष्यति ॥ २ ॥

योजना ।

धनैरेव भगवता दीयमानत्वात्; अन्यथा सर्वत्र साधनानां वैयर्थ्यमेव स्यात्, अतः क्रीडावैचित्र्यार्थं[1] तत्तत्फलदानलीलायास्तत्तत्साधनैरेव चिकीर्षितत्वात्सर्वेषां साधनानामुपयोगः सर्वत्र । प्रकृते च भक्तजन्मनोऽन्तिमत्वसाधनार्थं तत्त्वदीपोक्तसाधनानामनुपयोग इति तन्निरूपणं युक्तमेव । प्रमेयबलं तु कादाचित्कमिति न तेन साधनानामनुपयोगः शङ्कनीयः । "सात्त्विका भगवद्भक्ता" इत्यस्य व्याख्याने[2] 'स्वभावप्रकृत्यपेक्षये'त्याद्युक्तम्, तन्न सात्त्विकानां लक्षणम्, अपि तु सात्त्विकानां मध्ये ये एतादृशाः सात्त्विकास्ते ग्राह्या इति तात्पर्यार्थः[3] । तथाच, मूले सात्त्विकपदेन सात्त्विकविशेषागृह्यन्त इति बोध्यम् । एवं भगवद्भक्तपदेनापि भक्तविशेषा ग्राह्याः । तदेव विवरणे उक्तम् तत्रापि निष्कामा इति ॥ २ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

निर्णीय दर्शितम् । छान्दोग्यबृहदारण्यकयोः पञ्चाग्निविद्यायां प्रसिद्धं मोक्षाधिकारिदेहम् । सूत्रोपस्थापनार्थैव सौत्रशरीरपदोपादानम् । अग्रिमदेहानुत्पादकतया मुख्यं विशरणमिहैवेति सूत्रेऽपि शरीरपदम् । तेन 'जाता' इत्यन्तेन प्रथमोऽर्थः, 'शरीरं गृहीतवन्त' इत्यनेन द्वितीयश्च स दर्शितः । अन्यथा जाता इत्यन्तेनैवालं स्यात् । सपरिकरमधिकारिणमुक्त्वा प्रकृते कर्तव्यमाहुः—तेषामिति । यथेति । भरतादिवत्कादाचित्कान्यासक्त्या विलम्बो यथा न स्यात्तथेत्यर्थः । न च शरीरस्येश्वरेच्छयान्तिमत्वे किं साधनैरिति शङ्क्यम् । अन्तिमत्वेऽपि सृष्ट्यारम्भे कृतस्वतपोऽनुरोधेन साधनद्वारैव फलानां भगवता दीयमानत्वात् । अन्यथा साधनाध्यायस्य द्वितीयादिपादत्रयं तत्तत्साधनबोधिकाः श्रुतयश्च वैयर्थ्यमापद्येरन् । परन्तु साधनतस्त्वरितं मुख्यफलसिद्धयेऽन्तिमजन्माऽपेक्षितम् । 'स एष साधो चरमो भवानासादितस्ते मदनुग्रहो यतः' इत्यादिवचोभ्यः । अनुग्रहबलं त्वनियम्यम् । तथोपाय इति । तेन सुगमप्रकारेणोपायः कर्मज्ञानभक्ति-

---

१ क्रीडावैचित्र्यार्थंतत्तत्फलेति घपुस्तके । २ व्याख्यानेऽपीत्यधिकं कपुस्तके । ३ तात्पर्यकमिति ख० पु० ।

वक्ता स्वस्य तादृशज्ञानप्राप्तौ प्रकारमाह—

भगवच्छास्त्रमाज्ञाय विचार्य च पुनः पुनः ।

आवरणभङ्गः ।

ननु सात्त्विकाः प्रेक्षावन्तः कथमेतावदुक्त्या प्रवर्त्स्यन्त इत्याकाङ्क्षायां स्वप्रवृत्तिवैयर्थ्यपरिजिहीर्षयोपोद्घातेन सर्वं सङ्क्षिप्य वक्ष्यन्तः प्रथममनाप्तत्वपरिहारायाग्रिममवतारयन्ति वक्तेत्यादि ।

सत्स्नेहभाजनम् ।

रूपं साधनम् । मूलस्यार्थपदादर्थलभ्यमिदम् । नैरन्तर्येण रूप्यते । एवं च 'भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा' 'तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् । शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्' 'लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन सन्दर्शितागमः' 'मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्' 'अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत्' 'गुरुकर्णधारम्' 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति' इत्यादिवचोभ्यो मुण्डके 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' सत्यकामब्राह्मणे 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' श्वेतकेतुविद्यायां 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च गुरुद्वारोपायकलनमावश्यकम् । श्रुतिगीतादिष्वीदृश एवाधिकारी मुख्यस्तत्तद्वचनैरावरणभङ्गोक्तदिशा निश्चीयते ॥ २ ॥

ननु स उपायो भवता कथं ज्ञात इत्याकाङ्क्षायां तृतीयकारिकामवतारयन्ति वक्तेत्यादि । अयं भावः—केषुचिन्मार्गेषु कदाचित्स्वयमबुधा अपि, वेदादितत्त्वज्ञानशुद्धभक्त्यादिरहिता अपि गुरुपदमारोहन्ति, ते च पातहेतव एव 'अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृतस्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः । त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सतामि'त्यादिवचोभ्यः । अतस्तत्त्वबुभुत्सापूरको वेदगीतासूत्रश्रीभागवततत्त्वसमीक्षणो भगवद्भक्तो दम्भादिदोषरहित एव गुरुः फलाय भवति । इदं सर्वार्थनिर्णये 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्य' इत्यत्र स्फुटीभविष्यति । अन्यथा 'उभावप्यकृतप्रज्ञावुभावप्यश्रुतागमौ । अहो मोहस्य माहात्म्यं तत्रैकः शिष्यतां गतः । विकर्षन्स्वयमन्धोऽन्धान्कूपादौ तैः समं पतेत् । तथा वक्ता हर्यभक्तो दुराचारी निरक्षरः' इत्यभियुक्तोक्तं फलेत् । एतदेवाभिप्रेत्य कठमुण्डकादौ 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' इत्याद्याम्नायते । अतः शास्त्रोक्तलक्षणवत्सु गृहमेधिष्वेव व्यासादिवदाचार्यभावो धर्मशास्त्रादिविचाराद्विशेषतो युक्तो भाति, न तु स्वधर्मविमुखेष्वबुधेषु यत्यादिषु । अधिकं तु मारुतशक्तौ सहस्राक्षप्रस्तावनाखण्डने सत्सिद्धान्तमार्तण्डादिषु च मया दर्शितमिति ततोऽवधेयम् । श्रीमदाचार्यचरणास्तु तत्रैव 'अनाद्यविद्योपहतात्मसम्विदः' इत्यादिना 'ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः' इत्यन्तेन दर्शितधर्मवन्तो भगवद्रूपाः सर्वथा निर्दोषाः सर्वैरेवाचार्यलक्षणैरुपेता गुरवः । एतदपि सर्वोत्तमस्तोत्रे 'सर्वलक्षणसम्पन्नः श्रीकृष्णज्ञानदो गुरुः' इत्यत्र व्याख्याने सूपपादितम् । तथापि प्रतारकाबुधगुरुवचस्स्विव पूर्वोक्ते प्रौढिवादत्वस्य भ्रमं वारयितुं वास्तवं तत्त्वनिश्चयप्रकारं वक्तुं प्रतिजानते वक्ता ग्रन्थादिरूपया व्यक्तवाचोपदेष्टाऽऽचार्यः । स्वस्यात्मनः । तादृशेति । अव्यभिचारेण मोक्षजनकानामुपायानां कथनानुकूलस्य प्रथमकारिकावि-

भगवच्छास्त्रमाज्ञायेति । अन्यथाऽनाप्तत्वं स्यात् । भगवच्छास्त्रं भागवतं, गीता,

योजना ।

भगवच्छास्त्रमाज्ञायेति । भगवच्छास्त्रं भागवतं गीता पञ्चरात्रं चेति[1], आज्ञाय यदपि हरिणोक्तम् "एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्" तदपि ज्ञात्वा ये सात्त्विका भगवद्भक्तास्तेषामर्थे निरूप्यते इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३–४ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

वरणे मुक्तिहेतुतयोक्तस्य च ज्ञानस्य प्राप्तौ प्रकर्षेण लाभे सम्बन्धे च प्रकारं इदमित्थं क्रमेण प्राप्तमित्येवंरूपमाहेत्यर्थः । प्रकारकथनस्य आवश्यकतां बोधयन्ति अन्यथेति । स्वानुभूतवास्तवप्रकारस्याकथने । अनाप्तत्वं अविश्वास्यत्वमसत्यत्वमसम्यत्वं च स्यादित्यर्थः । 'आप्तप्रत्ययितौ समौ' इत्यमरः । 'आप्तो लब्धे च सत्ये चाथाप्तिः सम्बन्धलाभयोः' इति हैमः । 'आप्तः सम्येवऽलब्धे चे'ति विश्वः । मूले भगवदित्यादि । भगवच्छास्त्रमासमन्ताज्ज्ञात्वा पुनः पुनर्विचार्य, तथा हरिणा सन्देहजनकशास्त्रोत्पत्त्यनन्तरं तज्जनितसन्देहानां यथा पुनरुद्भवो न स्यात्तथा प्रत्यक्षचमत्कारदर्शनाद्विशेषतो निवृत्तये यदुक्तं तदप्याज्ञाय विचार्य च तेषामर्थे निरूप्यत इति पूर्वेणान्वयः । अथवा 'त्रयं वच्मी'त्यग्रिमेण पञ्चमकारिकास्थेनान्वयः । व्याख्यायां भगवच्छास्त्रमिति । भगवत इति शेषषष्ठ्या समासः वक्तृवाच्यभावः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावश्च सम्बन्धः । भगवदुक्तं भगवत्प्रतिपादकं च शास्त्रमित्यर्थः । इदं गीतायाम् 'भगवद्गीतासूपनिषत्सु' इत्यादिव्यवहारात्स्फुटम् । उपनिषत्वात्तत्प्रतिपादकत्वम् । 'वेदाः श्रीकृष्णे'त्यत्र साक्षात्तद्वचनत्वं वक्ष्यते । भागवते तु भगवत इदमिति नामव्युत्पत्त्यैवोक्तसम्बन्धद्वयं लभ्यते, 'धर्मः प्रोज्झितकैतवः' 'श्रीमद्भागवतं पुराणममलम्' 'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा' 'इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे । स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम्' इत्यादिवचनकदम्बाच्च । पञ्चरात्रमपि भगवतैवोक्तम् । 'तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः । तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः' इत्युक्तेः, शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मेष्वतिप्रशस्तत्वाच्च । तदेतदाहुः गीतेत्यादिना । चकारात्तत्परिकरो महाभारतरामायणपुराणान्तरादिरूपः समुच्चीयते । एतदस्य प्रकरणस्यान्तिमश्लोकेऽपि स्फुटीभविष्यति । या तु क्वचित्स्मृतिषु पाञ्चरात्रिकाणां स्पर्शप्रतिषेधादिरूपा निन्दा, सा नारदपाञ्चरात्रव्यतिरिक्तपञ्चरात्रनिष्ठानामेव । न चात्र मानाभावः । उक्तश्रीभागवतवाक्यादेर्मानत्वात् । स्पष्टं चेदं तत्रापि प्रथमरात्रप्रथमाध्याये 'श्रूयतां पञ्चरात्रं च वेदसारममीप्सितम् । पञ्चसम्वादमिष्टं च भक्तानामभिवाञ्छितम् । प्राणाधिकं प्रियं शुद्धं परं ज्ञानामृतं शुभम् । पुरा कृष्णो हि गोलोके शतशृङ्गे च पर्वते' इत्यादिना साक्षाद्भगवत्कृतत्वमुक्त्वा "शम्भुश्च कथयामास स्वशिष्यं नारदं मुनिम् । नारदः कथयामास पुष्करे सूर्यपर्वणि । मां भक्तमनुरक्तं च पुण्याहे मुनिसंसदि । पञ्चरात्रमिदं शुद्धं भ्रमान्धध्वंसदीपकम् ॥ ४२ ॥ रात्रं च

[1] चेतीति नास्ति कखपुस्तकयोः ।

सत्स्नेहभाजनम् । ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविदं स्मृतम् । तेनेदं पञ्चरात्रं च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४४ ॥ ज्ञानं परमतत्त्वं च जन्ममृत्युजरापहम् । ततो मृत्युञ्जयः शम्भुः सम्प्राप कृष्णवक्त्रतः ॥४५॥ ज्ञानं द्वितीयं परमं मुमुक्षूणां च वाञ्छितम् । परं मुक्तिप्रदं शुद्धं यतो लीनं हरेः पदे ॥ ४६ ॥ ज्ञानं शुद्धं तृतीयं च मङ्गलं कृष्णभक्तिदम् । तदास्यदममीष्टं च यतो दास्यं लभेद्धरेः ॥ ४७ ॥ चतुर्थं यौगिकं ज्ञानं सर्वसिद्धिप्रदं परम् । सर्वस्वं योगिनां पुत्र सिद्धानां च सुखप्रदम् ॥४८॥ अणिमा लघिमा व्याप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्व च तथा कामावसायिता ॥ ४९ ॥ सार्वज्ञ्यं दूरश्रवणं परकायप्रवेशनम् । कायव्यूहं जीवदानं परजीवहरं परम् ॥५०॥ सर्गकर्तृत्वशिल्पं च सर्गसंहार-कारणम् । सिद्धं च षोडशविधं ज्ञानिनां च यतो भवेत् ॥ ५१ ॥ ज्ञानं च परमं प्रोक्तं तद्वै वैष-यिकं नृणाम् । यदीष्टदेवी माया सा परं सम्मोहकारणम् ॥५२॥ विषये बद्धचित्तं च सर्वमिन्द्रि-यसेवनम् । पोषणं स्वकुटुम्बानां स्वात्मनश्च निरन्तरम् ॥ ५३ ॥ प्रथमं सात्त्विकं ज्ञानं द्वितीयं च तदेव च ॥ नैर्गुण्यं च तृतीयं च ज्ञानं च सर्वतः परम् ॥ ५४ ॥ चतुर्थं च राजसिकं भक्तस्तन्नाभिवाञ्छति । पञ्चमं तामसं ज्ञानं विद्वांस्तन्नाधिवाञ्छति ॥ ५५ ॥ ज्ञानं पञ्चविधं प्रोक्तं पञ्चरात्रं विदुर्बुधाः । पञ्चरात्रं सप्तविधं ज्ञानिनां ज्ञानदं परम् ॥ ५६ ॥ ब्राह्मं शैवं च कौमारं वासिष्ठं कापिलं परम् । गौतमीयं नारदीयमिदं सप्तविधं स्मृतम् ॥ ५७ ॥ षट् पञ्चरात्रं वेदांश्च पुराणानि च सर्वशः । इतिहासं धर्मशास्त्रं शास्त्रं च सिद्धियोगजम् ॥ ५८ ॥ दृष्ट्वा सर्वं समा-लोक्य ज्ञानं सम्प्राप्य शङ्करात् । ज्ञानामृतं पञ्चरात्रं चकार नारदो मुनिः ॥ ५९ ॥ पुण्यं च पापविघ्नं च भक्तिदास्यप्रदं हरेः । सर्वस्वं वैष्णवानां च प्रियं प्राणाधिकं सुत ॥ ६० ॥ सारभूतं च सर्वेषां वेदानां परमाद्भुतम् । नारदीयं पञ्चरात्रं पुराणेषु सुदुर्लभम् ॥ ६१ ॥' इति । अत्र पञ्चरात्रशब्दार्थस्तस्य वेदानुयायित्वं तदतिरिक्तानि कापिलादिपञ्चरात्राणि च दर्शितानि । महा-भारतेऽपि शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मेषु पञ्चाशदधिकत्रिशततमाध्याये 'साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदा-रण्यकमेव च । ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह । किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने । प्रब्रूहि वै मया पृष्टः प्रवृत्तिं च यथाक्रमम्' । प्रवृत्तिं किं शास्त्रं केन प्रवर्त्तितमिति तेषां प्रभवम् । इति जनमेजयप्रश्ने 'जज्ञे बहुज्ञं परमत्युदारम्' इत्यादिना व्यासं नमस्कृत्य वदन् वैशम्पा-यनः प्राग् जन्मनि तस्य नारायणपुत्रत्वादिकमुक्त्वा 'साङ्ख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै, नानामतानि भिन्नानि प्रस्थानानि 'साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते । हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥ ६५ ॥ अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते । प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥ ६६ ॥' अपान्तरतमा अपि योगाचार्याः । 'उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः । उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥६७॥' पाशुपतं पञ्चाध्यायीरूपं शास्त्रम् । 'पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम् । सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते ॥ ६८ ॥ यथागमे यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः । न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते ॥६९॥' एतेषु साङ्ख्यादिषु ज्ञानेषु ज्ञप्तिसाधनदर्शनेषु यथागमं आगमं

पञ्चरात्रं चेति । तस्य सर्वतो ज्ञानम् । भगवत्कृपादिनेति शेषः । तथाऽप्यापाततः प्रतिपन्नं न प्रमाणमिति विचारमाह पुनः पुनर्निश्चयानन्तरमपि ।

सत्कोहभाजनम् ।

वेदं ज्ञानं तत्तदधिकृतजीवानुभवं चानतिक्रम्य नारायण एव निष्ठा परमतात्पर्यविषयोऽर्थ इत्यर्थः । तमसाभिभूतास्तु शास्त्रतात्पर्यमेवं न जानन्ति । 'तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः । निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति वचो मम ॥ ७० ॥' भिन्नशास्त्रकर्तारोऽनेकधा नारायणमेव तत्त्वतो वर्णयन्तीति मे मतमित्यर्थः । 'निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः । स संशयान् हेतुबला-न्नाध्यवस्यति माधवः ॥ ७१ ॥' श्रुत्यैकवाक्यतया परस्परैकवाक्यतया च निःसंशयेषु शास्त्रेषु हरिरस्ति, हेतुबलात्कुतर्कबलात् स संशयांस्तु नाधिवसति । 'पाञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप । एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै ॥ ७२ ॥ साङ्ख्यं च योगं च सनातने द्वे वेदाश्च सर्वे निखिलेन राजन् । सर्वैः समस्तैर्ऋषिभिर्निरुक्तो नारायणो विश्वमिदं पुराणम् ॥७३॥' पाञ्च-रात्रेति श्लोकद्वयं नारदपञ्चरात्रस्य वास्तवप्रशंसापरम् । सनातने अनादिपुरुषप्रयुक्तत्वाद्यथाविधे शैववैष्णवशास्त्रे । तस्माद्वेदाविरुद्धस्य पञ्चरात्रस्योपादेयत्वं भगवच्छास्त्रत्वं च निर्बाधम् । यद्यपि वेदा व्यासदर्शनं च भगवच्छास्त्रमेव, श्रीमदाचार्यैश्च तदपि सर्वं सर्वांशतो ज्ञात्वा विचारितं निश्चीयत एव, परैरपि तथा, तद्ग्रन्थदर्शनात्, तथापि विश्वासार्थमाधुनिकैर्यथा गीतादिकं स्वयमालोच्य सर्वथा तदनुसारित्वमाचार्यवाचि यथामति निश्चेतुं शक्यम्; तथा न वेदान्तसूत्राणि च स्वयमालोच्य, वेदानामानन्त्यात् बहुशाखानां लोपादलुप्तानामपि सर्वासां सर्वैरपाठात् कैश्चिदेवैकैकस्याः शब्दतो धारणेऽपि प्रायस्तेषां तदर्थाबोधात्, कथञ्चिदेकदेशार्थज्ञानेऽपि प्रकृतिवैचित्र्यमतभेदकृतवैविध्येन तत्र प्रमात्वानुव्यवसायाच्च, सूत्रेष्वपि बहुभिर्बहुधैव व्यालोडिततया सहसैव संशयापायस्याभावात्तत्र तदपायस्यापि गीतादिसम्वादसाध्यत्वाच्च । अतो वेदाद्यर्थस्यापि यतो निश्चयस्तत्त्रितयमेव शुद्ध-सात्त्विकप्रियैः प्रमाणभूतैराचार्यैरिह निर्दिष्टं मुख्यतया विचारितं च । यद्यथा विचारितं तदेव च तथोक्तं, न तु निश्चीयमानसर्वज्ञभावैरपि 'वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी'मित्यादि-वच्छ्लाघावादाः । अन्यथा साम्प्रतिकैः पण्डितम्मन्यैः पौराणिकग्रन्थतयाऽवगण्यमाने गीतादिक एव स्वपरिश्रमो नोक्तः स्यात् । 'इति'शब्दः प्रकारे । तेनैवम्प्रकाराणां चतुर्लक्षण्यादीनामपि भगवच्छा-स्त्रत्वं सर्वतो ज्ञानं विचारश्च बोध्यते । मूलस्थस्याङ्गोऽर्थमाहुः सर्वत इति । शब्दार्थानुष्ठानेषु भ्रम-संशयविरहितं ज्ञानमित्यर्थः । पत्रावलम्बने स्वाध्यायविधिवाक्यार्थे 'आ सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते । शब्दे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने तथाऽध्येयो हि वैदिकैरिति श्रीमदाचार्यैः स्वयमेव कथ-नादिहापि तथैवाशयोऽवसीयते । एतावत्कथनेऽपि गर्वसम्भावनां वारयन्ति भगवदिति । शेषकथ-नाद्भगवत्कृपादिना भगवच्छास्त्रमाम्नायेत्यादिर्मूलयोजना बोधिता । आदिपदाद्गुरुकृपादिकम् । तेन शास्त्राणां सम्प्रदायशुद्धागमत्वं ध्वनितम् । यद्यपि श्रीमदाचार्याः स्वयमीश्वरास्तथापि श्रीकृष्णवद्गुरु-शुश्रूषणम् । स्पष्टं चेदं सुबोधिनीतृतीयश्लोकादौ । इहापि वक्ष्यन्ति 'व्यासोऽस्माकं गुरुः' इति । समासावपि श्रीवेदव्यासविष्णुस्वामिमतवर्तित्वं स्वस्य वक्ष्यन्ति । 'दत्त्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुरि'त्यादि-

यदुक्तं हरिणा पश्चात्सन्देहविनिवृत्तये ॥ ३ ॥

ननु शतशोऽपि विचारितं जीवबुद्ध्याऽप्रमाणं कदाचिद्भवतीति तदर्थमाह यदुक्तमिति। हरिणा सर्वदुःखहर्त्रा श्रीजगन्नाथेन पुरुषोत्तमस्थितेन मोहकसर्वशास्त्रोत्पत्त्यनन्तरं यन्निर्धारकवाक्यमुक्तं, तदपि ज्ञात्वेति ॥ ३ ॥

आवरणभङ्गः।

पुरुषोत्तमस्थितेनेति। पुरुषोत्तमनामके क्षेत्रे स्थितेनेत्यर्थः। आख्यायिका तु पूर्वमुत्कलेश्वरसभायां सत्स्नेहभाजनम्।

कथनाद्भगवदाज्ञापीहादिपदेन सङ्गृह्यते। उक्तसर्वसङ्ग्रहायैव भगवदादीत्यनुक्त्वाऽन्त आदिपदमुक्तम्। ननु सरलग्रन्थेषु मुहुर्विचारो व्यर्थ इत्याशङ्कां वारयन्ति **तथापीति**। एवं च सरलेव भासमानापि भगवद्वाणी लघ्वी गुर्वर्थगह्वरा च भवति, अतः **तथापि**। औपरिष्टके तच्छब्दादिज्ञाने सत्यप्यापाततः प्रतिपन्नमुपरिष्टाज्ज्ञातं भगवच्छास्त्रं **प्रमाणं** तत्त्वप्रमितिकरणं न भवतीति हेतोरावश्यकं **विचारं** मननमाहेत्यर्थः। यथा उपरिष्टात्पतता नार्द्रोष्णीषादितया सन्तरणनिपुणनरेण नीरं स्पृश्यते तथा शास्त्रज्ञानमापाततः प्रतिपत्तिः, यथा च मीनादिना निमज्जननिपुणपुरुषेण वान्तर्विहृत्य सर्वतस्तदनुभूयते तथा तज्ज्ञानमातलप्रतिपत्तिः। इदमेव प्रतिपत्तिद्वयं मुरारिणा दर्शितम्—'देवीं वाचमुपासतेऽत्र बहवः सारं तु सारस्वतं जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः। अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किं त्वस्य गम्भीरतामापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः'इति। **निश्चयेति**। वेदसूत्रसम्वादेन गीतादेस्तत्सम्वादेन वेदादेश्चार्थनिश्चयानन्तरमपीत्यर्थः। तथा च पदवाक्यशक्तितात्पर्यनिर्धाररूपश्रवणसत्त्वेऽप्यूहापोहाभ्यां युक्तिभिः परिचिन्तनरूपमननमावश्यकमेव। तत्पौनःपुन्ये च निदिध्यासनं सिद्ध्यत्येव। तस्यावश्यकत्वमानन्दवल्ल्यां श्राव्यते—'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य'इति। विदुषः सम्पन्नश्रवणस्याप्यमन्वानस्य मननमकुर्वाणस्य तत्तु एव भयम्, पूर्वं द्वैतदर्शिनोऽज्ञस्य यद्भयं श्रावितं, तदेव तु भयं विदुषः शाब्दमात्रज्ञानवतो मननमन्तरा भवतीत्यर्थः। जीवविचारस्यानैकान्तिकतामाशङ्क्य लौकिकसम्वादेन निश्चयातिदार्ढ्यमाहुः **नन्विति**। 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः'इति जीवबुद्धेस्त्रिगुणतया यथा सत्त्वांशेन निश्चयस्तथा रजस्तमोभ्यां संशयविपर्यासादिकमपि सम्भवत्येव। अत एवाष्टादशाध्याये 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यादिना तस्यास्त्रैविध्यं स्मरति भगवान्। सात्त्विकज्ञानवतोऽपि कदाचित्सत्त्वोपमर्दं वक्ष्यन्ति 'जाग्रत्स्वप्नवदुद्भवः'इत्यत्र। अतो जीवबुद्ध्या शतकृत्वो विचारितमपि कदाचिदप्रमाणं भवति, किमुत द्विस्त्रिर्विचारितमित्यपिशब्दः। प्रायेण योग्यमननोत्तरमप्रमाणं नैव भवतीति कदाचिच्छब्दः। दैन्यवशाच्छ्रीमदाचार्याः ध्यानासमर्थजीवानामस्माकं 'सर्वदा स्वतः'इत्यादौ बहुत्र जीवभावं दर्शयन्ति। किञ्चान्येषां जीवनां बुद्ध्याप्यप्रमाणं भवति, ज्ञानमननादेरितरावेद्यत्वात्। अत एव जीवबुद्ध्येति मध्ये प्रयुक्तम्। मूले हरिशब्दमात्राज्जगन्नाथाख्यस्वरूपविशेषस्य कथं बोध इत्यतो व्याचक्षते **सर्वेति**। हरतीति हरिः। 'अच इः'। अविशेषात्सर्वेति लभ्यते। यो हि यन्नाथस्तस्य तद्दुःखहरणमावश्यकम्, सर्वदुःखहर्तुश्च जगन्नाथत्वमर्थादेव

तदेवाह—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।

एकं शास्त्रमिति । अत्राऽऽख्यायिका पारम्पर्यादेवाऽवगन्तव्या । देवकीपुत्रेण गीतं गीता । गीतायां भगवद्वाक्यान्येव शास्त्रमित्यर्थः । वेदानामपि तदुक्तप्रकारेणैवार्थ-

---

टिप्पणी ।

अत्रेति । आख्यायिका त्वीदृशी—मोहकशास्त्रोत्पत्त्यनन्तरमेकदा केनचित्पण्डितेन पुरुषोत्तम-क्षेत्र आगत्य भगवद्भजनादि सर्वं दूषयितुमारब्धम्, तदा विवदमानेषु पण्डितेषु निश्चयार्थं पृष्टो भगवान् 'एकं शास्त्रमि'ति श्लोकं लिखित्वा दत्तवानिति ॥ ४ ॥

आवरणभङ्गः ।

मायावादिब्रह्मवादिनौ विवदन्तौ सप्ताहं समानौ विवादे स्थितौ । तदा राज्ञा विज्ञापितो भग-वानिदं रात्रौ पत्रे लिखित्वा दत्तवान् । तदा मायावादिना कल्पितमिदमित्युक्तम् । तदा राज्ञाऽप-रेद्युवि रात्रौ पत्रे पुनः स्थापिते, 'यः पुमान् पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम् । यः पुमाञ्छ्री-हरिं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसमि'ति लिखित्वा दत्तम् । तदा राज्ञा सबिभीषिकं तन्माता पृष्टा सती, म्लेच्छाद्द्रावकादयमुत्पन्न इत्यवोचत् । ततः स स्वदेशाद्राज्ञा निःसारित इति तत्र प्रसिद्धा-दैतिह्यादवगन्तव्येत्यर्थः ॥ ३ ॥

तदुक्तप्रकारेणैवेति । "वेदविदेव चाहमि"ति वाक्याच्चेत्यर्थः ॥ ४ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

लभ्यत इति भावः । पुरुषोत्तमपदं तन्नामकक्षेत्रविशेषपरम् । मूलस्थपश्चात्पदस्यार्थमाहुः मोह-केति । सन्देहविनिवृत्तिसमभिव्याहारात्सन्देहोत्पादकानन्तर्यमेव तदर्थो लभ्यत इति युक्तमिदम् । मोहकशास्त्राणि तु 'बुद्धावतारे त्वधुना'इत्यादिना वक्ष्यन्ते । निर्धारोत्तरं सन्देहोत्पादकान्तरा-भावबोधनाय सर्वपदम् । 'सन्देहविनिवृत्तय'इत्यर्थतो व्याचक्षते निर्धारकवाक्यमिति । तदपि ज्ञात्वेति । अपिः समुच्चये । एवं च स्वनिश्चिततमेऽर्थे साक्षात्पुरुषोत्तमवाक्यसम्वादलाभात् 'बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः'इति कालिदासोक्तरीतिकमप्रत्ययत्वमपि निवृत्तमिति भावः ॥ ३ ॥

मूले तच्छ्रीजगन्नाथवाक्यमेवाक्षरशोऽनूद्यत इति बोधयन्तोऽवतारयन्ति तदेवाहेति । तत् निर्धारकवाक्यम् । नन्विदं साक्षाच्छ्रीजगन्नाथेन किमर्थं कं प्रति कोक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत्रेति । अत्र पूर्वकारिकोत्तरार्द्धोक्तार्थे । अत्रावरणभङ्गे "आख्यायिका तु पूर्वमुत्कलेश्वरसभायां मायावादि-ब्रह्मवादिनौ विवदन्तौ सप्ताहं समानौ विवादे स्थितौ । तदा राज्ञा विज्ञापितो भगवानिदं रात्रौ पत्रे लिखित्वा दत्तवान् । तदा मायावादिना कल्पितमिदमित्युक्तम् । तदा राज्ञापरेद्युवि रात्रौ पत्रे पुनः स्थापिते 'यः पुमान् पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम् । यः पुमान् श्रीहरिं द्वेष्टि तं विद्यादन्य-रेतस'मिति लिखित्वा दत्तम् । तदा राज्ञा सबिभीषिकं तन्माता पृष्टा सती म्लेच्छाद्द्रावकादयमुत्पन्न इत्यवोचत् । ततः स स्वदेशाद्राज्ञा निःसारित इति तत्र प्रसिद्धादैतिह्यादवगन्तव्येत्यर्थः" इति सा दर्शिता । अत्र तत्त्वप्रकाशस्य पारम्पर्यपदस्यार्थ ऐतिह्यादिति । तेन पारम्पर्यमात्रस्य कथं

निर्णयः । उपास्यनिर्धारमाह एको देव इति । मूलभूतोऽयमित्यर्थः ।

सत्स्नेहभाजनम् ।

प्रामाण्यमिति शङ्काऽपास्ता । 'स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टय'मिति तैत्तिरीयारण्यकश्रुतौ तत्सम्वादके 'श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टय'मिति श्रीभागवतवाक्ये च तस्यापि प्रामाण्याङ्गीकारात् । आख्यायिकायां परेद्यवीति परदिनार्थमव्ययम्, 'परे त्वह्नि परेद्यवि' इत्यमरः । श्रीजगन्नाथद्वितीयवाक्ये अन्यरेतसं जारजम् । अन्यरेतसमन्यजजम् । सविभीषिकम् अनृतवादे भयप्रदर्शनसहितं यथा स्यात्तथा । धावकाद्रजकाद् रञ्जकाद्वा । तत्त्वप्रकाशे पारम्पर्यादेवेत्येवकार आख्यायिकाया ग्रन्थेऽनुवादानावश्यकत्वद्योतनार्थः । अत्र मूले एकपदं मुख्यपरम् । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । श्रीकृष्णः साक्षान्मूलरूप एवेति ज्ञापनाय तद्वाचकं देवकीपुत्रपदमेव मूलरूपपर्यायतयोक्तम् । 'देवकी सर्वदेवता' 'देवक्यां देवरूपिण्या'मित्यादिवचोभिः सर्वदेवतारूपाया देवक्या रक्षकत्वबोधकपदेन तस्यैव सर्वदेवतोद्धारकत्वमपि बोध्यते । तेन युक्तं तस्यैव मुख्यदेवत्वादिकम् । पुत्रपदाद्रक्षकत्वं तु पुनाति पूयते वेति पुत्र इति व्युत्पत्तेः । पूञ् पवने 'पुवो ह्रस्वश्च' इति क्तः । यद्वा पुन्नरकात्त्रायते, 'सुपी'ति कः, 'पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा' इति स्मरणात् । पितरमिति मातुरप्युपलक्षणम् । किञ्च श्रुतिप्रसिद्धोऽयमवतार इति ज्ञापनायापि 'कृष्णाय देवकीपुत्राय' इति छान्दोग्यवाक्योक्तपदमेवानूद्यते । देवकीपुत्रो गीतोऽत्रेत्यादि समासभ्रमं वारयन्तो व्याचक्षते **देवकी**त्यादिना । एकादशस्कन्धादिकं विहाय गीताया एवोपस्थापनाय गीतपदमित्याशयेनाहुः **गीते**ति । एवं सति गीतेति द्व्यक्षरेण निर्वाहेऽपि गुरुभूतकथनस्याशयमाहुः **गीताया**मिति । एवकारो धृतराष्ट्रादिवचनव्यवच्छेदकः । गीतेत्युक्तौ त्वष्टादशाध्यायी सकला गृहीता स्यात् । तथा सति 'अपरं भवतो जन्म' इत्यादेरपि स्वार्थे प्रामाण्यं स्यात् । एवमुक्तौ तु श्रीकृष्णवाक्यानामेव वक्ष्यमाणाद्वेदादिसन्देहवारकत्वाच्छास्त्रत्वमिति भावः । ननु 'शास्त्रयोनित्वादि'त्यत्र वेदः शास्त्रमुच्यते, तेनैतद्वाक्यं विरुद्धमित्याशङ्क्याहुः **वेदाना**मिति । बहुवचनात्सर्वेषाम् । **तदुक्ते**ति । 'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' 'इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन' इत्यादिवचोभ्यो भगवद्गीतोक्तप्रकारेणैव सन्दिग्धानामर्थानामभिधेयानां प्रयोजनानां च निर्द्धार इत्यर्थः । यथा 'तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' 'अव्यक्तात्पुरुषः परः' इत्यादौ माया ब्रह्म वेत्यादि सन्देहे 'यदक्षरं वेदविदः' 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' इत्यादिनाऽभिधेयनिर्णयः । यथा वा 'स्वर्गकामः' इत्यादौ 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिना प्रयोजननिर्णयः एवं च यद्यपि वेदा अपि शास्त्रमेव, तथाप्याधुनिकानां मन्दानामन्तैर्दुर्ज्ञेयैस्तैः शासनस्याशक्यत्वादद्यत्वे वेदादिसर्वसन्देहवारकं सर्वोपकारकं तदेव मुख्यं शास्त्रमिति युक्तमिति भावः । सर्वशास्त्राणामत्रैवान्तर्भाव इत्यर्थकमेकपदम् । **उपास्ये**ति । वेदादाविन्द्रसूर्यादीनां बहूनामुपास्यानां प्रत्ययान्मतभेदेन तस्य तस्यैव परतादरणाच्च परतमोपास्यः क इत्याकाङ्क्षायां तन्निर्धारमाहेत्यर्थः । मूल एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः । तर्हि किमितरेषां देवत्वमेव प्रतिषिध्यत इति चेन्नेत्याशयेन व्याचक्षते **मूलभूतोऽय**मिति । 'चन्द्रमा

मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ ४ ॥

सर्वदा स्मरणार्थं साधनमाह मन्त्रोऽप्येक इति । कर्तव्यमाह तस्येति । न मनुष्यत्वेन ज्ञातव्य इत्याह देवेति । सेवैव कर्तव्या । शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

मनसो जातः' 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' इत्यादिश्रुतिभ्यः 'यो यो यां यां तनुं भक्तः' 'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'इत्यादिस्मृतिभ्यः 'देवा नारायणाङ्गजाः' इत्यादिपुराणवचोभ्यश्च एको यत्राशेषदेवानामन्तर्भावस्तादृशो मुख्यः सर्वात्मा देवः स एवेत्यर्थः । अतः कर्मस्विन्द्रादीनामाराधनेऽपि भगवतस्तत्तदवयवेष्वेव ते ते देवा भावनीयास्तेनापि स एवोपासितो भवति । स्पष्टं चेदं पञ्चमस्कन्धे नाभिभरतादियज्ञस्थले । मूले **मन्त्रोऽप्येक** इत्युक्त्या किं वैदिकमन्त्राणामपि तत्त्वं प्रतिषिध्यते, दीक्षादिमन्त्राणां नियतकालजप्यानामपि तत्त्वं च किं वार्यत इत्याशङ्कां परिहरन्ति **सर्वदेति** । मन्त्र्यत इति मन्त्रः । 'मन्त्रि गुप्तभाषणे'घञ् । अथवा मन्यते स्मर्यत इति मन्त्रः । मनोतेः 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्'इति ष्ट्रन तस्य कृष्णस्य नामान्येव एको मन्त्रः । तेन वेदेऽपि यथा द्रव्यदेवतास्मारको भागो मन्त्रस्तथा नामान्येवोच्चारितानि भगवतः सदा स्मारकाणि भवन्ति । भगवत्स्मरणार्थत्वेन वैदिकमन्त्राः, सर्वदेत्यनेन दीक्षादिमन्त्राश्च व्यावर्त्यन्त इति नोक्त शङ्कावकाशः । 'वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजोत्तमैः । तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः' इत्यादिवाक्योक्ततत्त्वबुद्धौ तु नामत्वाविशेषादन्तर्भावः । तथापि सर्वमनुष्याणां सर्वदा स्मरणार्हाणि साधारणान्येव । **नामानीति** । बहुवचनादविशेषात्सर्वेषां नाम्नां प्रत्येकं मन्त्रत्वम् । तेन यो यावन्त्युच्चारयितुं प्रभवेत्तस्य तावद्भिरेव फलं प्रत्यायितम् । विविधफलजनकनानामन्त्राणामैक्यैकीभावबोधनायैकपदम् । नाममाहात्म्यं नामकौमुदादिषु द्रष्टव्यम् । 'मन्त्रो वेदविशेषे स्याद्देवादीनां च साधने । गुह्यवादेऽपि च पुमान्'इति मेदिनी । एवं देवं तत्स्मारकमन्त्रं चोक्त्वा तत्र तद्द्वारा सर्वद्रव्याणां यथोचितं सम्बन्धः कार्य इति बोधकं तुर्यपादमवतारयन्ति कर्तव्यमाहेति । पूर्वमेव देवत्व उक्तेऽपि पुनर्देवपदोपादानस्य प्रयोजनमाहुः **न मनुष्यत्वेनेति** । अवतारे तथा भ्रमसम्भवादेतत् । तथा ज्ञाने तु 'अवजानन्ति मां मूढाः' इत्यादिस्मरणान्मोक्षो न स्यात् । दीव्यति स्वातन्त्र्येण क्रीडादि करोतीति देवः । पचादिषु पाठादच् । तस्मान्मनुष्यनाट्यं क्रीडयैव । एवं देवत्वबुद्धिपूर्विकैव नामोच्चारणसहकृता तत्र यथायोगं सर्वद्रव्यार्पणकृतिः सेवा, न तु केवलशारीरकृतिरिति भावः । 'स कर्ता सर्वपुण्यानाम्' 'स स्नातः सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दीक्षितः'इत्यादिवचोभ्योऽनयैव सर्वफललाभः, 'अकामः सर्वकामो वा'इत्यादिकथनाच्चेति, फलतः सर्वान्तर्भावबोधकमेकपदम् । नित्यनैमित्तिकानि श्रौतस्मार्तकर्माणि तु यथाशक्त्यवश्यं कर्तव्यान्येव, आवश्यकं लौकिकमपि कर्तव्यं भवति, तथापि 'कर्मनिर्हारमुद्दिश्य' 'सर्वलाभोपहरण'मित्याद्यनुरोधात्तत्सर्वं भगवत्सेवाबुद्ध्यैव कर्तव्यं, न तु स्वातन्त्र्येणेत्याशयेनाहुः **सेवैव कर्तव्येति** । मूलेऽपि क्रियते इति कर्म । 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' । पादैः क्रमात् प्रमाणप्रमेयसाधनफलानि सङ्गृह्य दर्शितानि । सेवाया अपि

एवं स्वयं ज्ञात्वा लोकज्ञापनार्थं शास्त्रं कथयन् बुद्धिसौकर्यार्थं प्रकरणत्रयमाह—

इत्याकलय्य सततं शास्त्रार्थः सर्वनिर्णयः ।

इत्याकलय्येति । सततमिति मध्ये विरोधिज्ञानाभावः । शास्त्रार्थो गीतार्थः ।

आवरणभङ्गः ।

नन्वयमर्थो महता प्रयासेन भवद्भिरेव बुद्धश्चेदितरेण कथं बोद्धव्य इत्याकाङ्क्षायामग्रिममवतारयन्ति एवमित्यादि । तथाचैवङ्कृते बुद्धिसौकर्यात् सुखेन सर्वैर्बोध्य इत्यर्थः । नन्वेकेनैव निर्वाहे त्रयाणां किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तद्वदिष्यन्तः पूर्वं द्वितीयप्रकरणार्थमाहुः सर्वस्येत्यादि । सर्वस्य ज्ञानादेर्मोक्षसाधनमार्गस्य ज्ञानादिरूपस्य प्रापञ्चिकादिपदार्थजातस्य वा योऽयं निर्णयः,

योजना ।

इत्याकलय्य सततमित्यस्य व्याख्याने सततमिति मध्ये विरोधिज्ञानाभाव इति । आकलनकथनयोर्मध्ये इत्यर्थः । भगवच्छास्त्रं गीता पञ्चरात्रं सर्वप्रकारेण ज्ञात्वा यावद्ग्रन्थानां निर्माणं कृतं तन्मध्ये विरोधिज्ञानं नोत्पन्नम् । यथाशास्त्रार्थमेव निरूपितमिति भावः ॥ ५ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

फलसाधनरूपतया द्वैविध्यात् । पादचतुष्टयस्यैकवाक्यतया निष्पन्नमर्थमाहुः शास्त्रमिति । अत्र शास्त्रमवगत्येति प्रथमपादस्य । सर्वमूलभूतत्वात्सर्वोत्तमत्वभावनपूर्वकस्मरणरूपं मनसा सेवनं द्वितीयपादस्य । स्मरणसिद्धये वाचा सेवा तृतीयपादस्य । कायेन सेवा चतुर्थपादस्य च निर्गलितोऽर्थः । कृष्ण इति तु श्लोकस्थदेवकीपुत्रपादस्यार्थः । 'कृष्णाय देवकीपुत्राय' इत्युक्तछान्दोग्यवाक्यस्मारणाय कृष्णपदम् ॥ ४ ॥

पञ्चमकारिकामवतारयन्ति एवमिति । अयं भावः—महता परिश्रमेण तत्त्वज्ञानसम्पादका अपि द्विविधाः । सात्त्विकाः प्रायः स्वयमेव अत्युत्तमाः । निर्गुणा भगवद्भक्तास्तु सर्वभूतहिते रता भवन्ति । तत्रापि श्रीमदाचार्याणां तु श्रीमद्व्यासचरणानामिव लोकोद्धारार्थमेव भगवदाज्ञयाऽवतारः प्रयत्नश्च सुबोधिनीप्रतिज्ञावाक्यादिस्थलेषु स्फुटः । अतः श्रीव्यासपादैर्यथा स्वयं महता श्रमेण सर्वमालोड्य नारदद्वारा प्राप्तेन भगवद्वाक्येन तत्सम्वादिना समाधौ पुनः सुनिश्चित्य स्वयं ज्ञात्वा लोकज्ञापनार्थं शास्त्रं प्रकटितमिति दर्शितं प्रथमस्कन्धसप्तमाध्याये 'लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्' इत्यन्तसन्दर्भेण । शास्त्रत्वबोधनाय संहितापदम् । तथात्रापि बोध्यम् । एवं तृतीयकारिकोक्तप्रकारेण स्वयं ज्ञात्वा लोकानामेतल्लोकसम्बन्धिनामालोकनकर्तॄणां प्रेक्षावतां ज्ञापनाय तज्ज्ञापनप्रयोजनकं वा शास्त्रं वेदादिमूलकतया तत्तत्त्वार्थानुशासकं ग्रन्थं कथयन् । फलस्य परगामित्वात्परस्मैपदम् । उपकारकेणापि मात्रादिना बुभुक्षितस्याऽप्यल्पमुखकण्ठस्य बालकस्यास्यैकहेलयाऽर्प्यमाणोऽखण्डलड्डुकादिकवलः प्रत्युतात्यन्तानर्थाय पर्यवस्यति, अतो यथा तत्र भक्षकशक्त्यानुकूल्येन विभज्याहारो दीयते क्षुत्तारतम्येन च सोऽल्पोऽधिको वा दीयते, तथात्र बुद्धेर्बोधस्य सुखेन सम्पादनार्थं ग्रहणधारणहेतोर्बुद्धेर्मतेः सौकर्यसिद्धये च प्रकरणत्रयमाह वक्तव्यत्वेन प्रतिजानातीत्यर्थः । कारिकायां 'इति' शब्दो 'नवेति विभाषा' इत्यादाविव स्वरूपव्यवस्थापको मध्यमणिव-

आवरणभङ्गः ।

इदमेवंरूपमेवम्भूतफलसाधनमिति निश्चयः, सपरिकरः स्वरूपनिश्चयो वा । प्रमाणादेरिति पाठे तु पञ्चमीयं, न तु सम्बन्धादिषष्ठी । 'प्रमाणेन प्रमेयेने'त्यत्रैषां सर्वनिर्णयकरणत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

सत्त्रोद्भाजनम् ।

तुभयत्रान्वेति । चशब्द इत्यर्थे समुच्चये च । एवं च निपातेनाभिधानात् 'विषवृक्षोऽपि सम्वर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इत्यादाविव शास्त्रार्थ इत्यादिप्र-थमा सङ्गच्छते । अन्यथा 'वच्मी'ति क्रियानुरोधाद्द्वितीया स्यात् । चशब्दस्येत्यर्थकत्वं 'कर्मणि च' इत्यादौ प्रसिद्धम् । अत एव कर्मणीत्युच्चार्य विहितषष्ठ्या एव समासनिषेधाच्छब्दानुशासनमि-त्यादिप्रयोगसिद्धिः । स्पष्टं चेदं पस्पशाह्निकविवरणेऽपि । ननु 'तेषामर्थे निरूप्यते' इति प्रागुक्त-त्वादिह 'त्रयं वच्मी'ति पुनरुक्तिरिति शङ्का तु 'बुद्धिसौकर्ये'त्यादिनावतरण एवापास्ता । तथा च पूर्वं मुक्त्युपायकथनप्रतिज्ञा, इह तु स्पष्टनिर्दिष्टविभागानां सहेतुकानां कथनप्रतिज्ञेति स्फुटो विशेषः । यथामतीत्यस्य भगवत्कृपादिना यथा स्वयं मनन तो ज्ञातं तथैव निरूप्यते, न त्वन्यथा ज्ञात्वाऽन्यथोच्यत इति यथा लोकानां बुद्धिसौकर्यं मननं च सुखेन सिद्ध्येत्तथैव विविच्योच्यत इति चार्थः । एवं च 'एकं शास्त्रमि'ति हरिणा यदुक्तं तदपि ज्ञात्वा एकं शास्त्रमिति लोकार्थप्र-कारेण भगवच्छास्त्रं सततं निरन्तरं मध्ये विरोधरूपविच्छेदरहितमाकलय्य तत्तत्त्वार्थं नवनीतपि-ण्डवत्सङ्कलय्य शास्त्रार्थः, सर्वनिर्णयः, श्रीभागवतरूपम् इति त्रयं चकारसमुच्चितश्रीभागवतटी-कादिकं च यथामति वच्मीत्यर्थः । तत्त्वप्रकाशे सततमित्यादि । सन्तन्यतेस्मेति सततं क्तः । 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' इति नलोपः । 'लुम्पेदवश्यम-कृत्ये तुंकाममनसोरपि । समो वा हिततततयोर्मांसस्य पचियुड्घञोः' इति वार्तिकाद्वैकल्पिको मलोपः । सम्यक् तत्त्वं च मध्ये विरोधिज्ञानराहित्यम् । विरोधिज्ञाने भ्रमसंशयौ । तौ चैकैकस्मिन् ग्रन्थे साद्यन्तैकवाक्यतायाः शास्त्राणां परस्परैकवाक्यतायाश्च विरोधिनौ । परमाप्तेषु वेदादिशास्त्रेषु स्वतो विरोधासम्भवात् । स्वरूपेणाकलनविरोधि विरोधप्रकारकं चायथार्थज्ञानमेव तत्रैकवाक्य-ताप्रतिबन्धकं भवति । तदभावे सत्येव 'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया । वाक्यानामेक-वाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते' इतिभट्टवार्तिकाद्युक्तदिशा सा स्यात् । अत एकवाक्यतापन्नभगव-च्छास्त्रतत्त्वार्थ एवात्र विभज्य कथ्यत इति सततपदार्थेन मध्य इत्यादिना बोधितं भवति । श्रीलाल्लुभट्टास्तु 'सततमिति विरोधिज्ञानाभाव इति । आकलनकथनयोर्मध्य इत्यर्थः । भगवच्छास्त्रं गीतां भागवतं पञ्चरात्रं सर्वप्रकारेण ज्ञात्वा यावद्ग्रन्थानां निर्माणं कृतं, तन्मध्ये विरोधिज्ञानं नोत्पन्नं यथाशास्त्रार्थमेव निरूपितमिति भावः' इति व्याचक्षते । तदप्यभीष्टमेव । शास्त्रार्थ इत्यादि । यद्यपि शास्त्रशब्दो वेदगीतोभयपरस्तथापि 'वेदानामपि तदुक्तप्रकारेणैवार्थनिर्णयः' इति प्रागुक्ततया गीतार्थत्वे वेदार्थतायाः स्वतः सिद्धेः 'एकं शास्त्रमि'ति प्रकृतवाक्यानुकूल्याच्च

श्रीभागवतरूपं च त्रयं वच्मि यथामति ॥ ५ ॥

सर्वस्याऽपि ज्ञानादेर्निर्णये द्वितीयः । असम्भावनाविपरीतभावनानिवृत्त्यर्थं द्वितीयं

आवरणभङ्गः ।

तथा सति प्रमाणादेः सकाशाद्यः सर्वस्य पूर्वोक्तरीतिको निर्णयः स द्वितीयस्यार्थ इत्यर्थः । प्रयोजनमाहुः असम्भावनेत्यादि । प्रकरणमुभयाकाङ्क्षाविशिष्टः शास्त्रैकदेशः । तथाच सात्त्विकानां

सत्स्नेहभाजनम् ।

गीतार्थं इत्येवोक्तम् । सर्वस्येत्यादि । अपिरेवकारार्थे । आदिपदं कर्मभक्तिमार्गयोः सङ्ग्राहकम् । 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित्' इति भगवद्वाक्यात्साक्षात्परम्परया वा मोक्षमार्गास्त्रय एव । सर्वस्य साधनफलसहितस्यैव ज्ञानादेर्निर्णयः । अस्येदं स्वरूपं साधनं फलं चेति प्रमाणतन्मूलकयुक्तिभ्यां निश्चयो द्वितीयो भाग इत्यर्थः । किञ्च सर्वेऽपि प्रापञ्चिकाः पदार्था इन्द्रियविषया एव । तानि च ज्ञानक्रियाभेदाद्द्विधा । अतो ज्ञानमिहेन्द्रियजन्यम् । आदिपदं क्रियायास्तदुभयविषयाणां च सङ्ग्राहकम्, तेन सर्वस्यैव प्रापञ्चिकवस्तुनः सूत्रन्यायेन निर्णयः । उत्पत्त्योपपत्त्या च ससाधनफलस्वरूपनिश्चयोऽपि द्वितीयस्य विषयः । प्रमाणादेरिति पाठे आदिपदात् प्रमेयसाधनफलानि, तेषां निर्णय उक्तविधः । तथाहि—तत्र 'अग्निहोत्रमि'त्यादिना वेदार्थं सङ्क्षेपेणोक्त्वा 'रूपप्रपञ्चे' इत्यादिना वेदं सशाखाभेदं 'स्मृतिर्बहुविधे'त्यादिना स्मृतीः, 'कल्पसूत्रेष्वि'त्यादिना कल्पान्, 'पुराणं वेदवदि'दित्यादिना पुराणं, 'एकं कल्प'मित्यादिना भारतं, कालादिनिरपेक्षफलदं श्रीभागवतं, गीतां, 'योगसाङ्ख्ये त्वि'त्यादिना सम्प्रति तयोरसाधकत्वं मोहशास्त्राणामप्रामाण्यं षडङ्गानामुपवेदानां चोपयोगं रामायणप्रामाण्यं चोक्त्वा प्रमाणनिर्णयः कृतः । 'प्रमेयं हरिरेवैकः' इत्यादिना सावान्तरभेदं प्रमेयं निरूप्य 'अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितमि'ति प्रमेयप्रकरणमुपसंहृतम् । 'वर्णाश्रमवतां धर्मः'इत्यादिना फलानि साधनानि च विविच्य प्रकरणद्वयेन त्रयाणामपि मार्गाणामुक्तानि । सर्वनिर्णयव्याख्यारम्भे 'प्रमाणेन प्रमेयेन फलतः साधनेन च । सर्वनिर्णयबोधाय द्वितीया प्रक्रियोच्यते' इत्यत्र प्रमाणेनेत्यादिस्तृतीया त्वित्थम्भूतलक्षणेऽपि शक्या वक्तुम् । प्रमाणादिनोपलक्षिता प्रक्रियेत्यर्थः । तथापि सरलतया तत्र प्रमाणादीनां करणतावगमात् प्रमाणादेरिति पञ्चमीमेवाश्रित्यावरणभङ्गे 'प्रमाणादेः सकाशाद्यः सर्वस्य पूर्वोक्तरीतिको निर्णयः'इति व्याख्यातो मुख्यः कल्पः । तत्र । निष्कर्षतो निरूप्यमाणात्प्रमाणात्सकाशादित्यर्थः । तेन सर्वार्थनिर्णय आचार्यचरणैः स्वयं दर्शितः प्रमाणाद्यवान्तरप्रकरणविभागो निर्बाधः । नन्वाद्यप्रकरणेऽपि 'वेदाः श्रीकृष्णे'त्यादिना सङ्क्षेपतः प्रमाणादिचतुष्टयस्य, 'बुद्धावतारे त्वि'त्यादिना मोहकशास्त्राणामसाधकतायाः, 'प्रपञ्चो भगवत्कार्यः' इत्यादिना जडस्वरूपस्य, सृष्ट्यादिप्रकाराणां च, 'जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि'इत्यादिना जीवस्वरूपस्य, 'सच्चिदानन्दरूपं तु'इत्यादिना ब्रह्मस्वरूपस्य असन्मतनिरासस्य च, 'साङ्ख्यो बहुविधः प्रोक्तः'इत्यादिना साङ्ख्ययोगादिसाधनानां लयादिप्रकाराणां च निरूपितत्वात्तेनैव निर्वाहे द्वितीयस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः असम्भावनेति । असत्त्वबुद्धिरसम्भावना ।

शास्त्रार्थस्य सङ्क्षेपरूपत्वाद्विस्तारार्थं भागवतरूपं तृतीयं प्रकरणम्, यत्र भागवतं रूप्यते । चकारान्मीमांसाद्वयभाष्यं, प्रकरणानि, भागवतटीका च गृहीता । त्रयमेतदुपदेशन्यायेन कथयामि ॥ ५ ॥

आवरणभङ्गः ।

नानाविधत्वात् प्रमाणपराणामाद्येन सिद्धिः, प्रमेयपराणां त्वर्थविचारेणाऽसम्भावनाद्युत्थानात्तदर्थं द्वितीयमित्यर्थः । शेषं स्फुटम् । ननु चकारेण ग्रन्थान्तरस्यापि समुच्चये त्रयं वच्मीति प्रतिज्ञायाः कथं सिद्धिरित्यत आहुः त्रयमेतदुपदेशन्यायेनेति । यथा निष्कृष्टः शास्त्रार्थो मन्त्रादौ स्वरूपेनोच्यते उपदेशार्थं तथेत्यर्थः । यद्वा, आवृत्त्येत्यर्थः । तथाच यथा श्वेतकेतुविद्यायां नवकृत्व उपदेशो नानाप्रकारैः सम्यग्बोधनार्थं, तथाऽत्रेति । मुख्यकल्पानां त्रिभिरेव चारितार्थ्यमिति त्रयाणामेव कण्ठतः कथनप्रतिज्ञेति ग्रन्थान्तरसङ्ग्रहेऽप्यदोष इत्यर्थः ॥ ५ ॥

सत्स्नेहभाजनम् ।

यथा ईश्वरो नास्तीत्यादिः । अन्यथासत्त्वबुद्धिर्विपरीतभावना । यथा सन्नपि स निर्विशेषोऽस्तीत्यादिः । प्रकरणं तु ग्रन्थस्य विभागविशेषः । 'सर्गो वर्गपरिच्छेदोपाद्धाताध्यायाङ्कसङ्ग्रहाः । उच्छ्वासः परिवर्तश्च पटलः काण्डमस्त्रियाम् । स्थानं प्रकरणं पर्वाह्निकं च ग्रन्थसन्धयः' इति त्रिकाण्डशेषे परिगणनात् । एकार्थप्रतिपादकग्रन्थांशोऽपि प्रकरणं कोशेष्विति तारानाथतर्कवाचस्पतिः । कथमित्याकाङ्क्षा प्रकरणमिति पार्थसारथिमिश्रः । यथोक्तं तेन 'श्रुतिर्द्वितीया क्षमता च लिङ्गं वाक्यं पदान्येव तु संहतानि । सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा स्थानं क्रमो योगबलं समाख्या' इति; पूर्वतन्त्रभाष्ये 'श्रुतिलिङ्गे'तिसूत्रे 'कर्तव्यस्य इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य वचनं प्रकरणम्'इति शवरस्वामी । तत्रैव पादे प्रकरणप्रामाण्यबोधकचतुर्थाधिकरणे 'वाक्यैकवाक्यतारूपं प्रकरण'मिति न्यायमालाविस्तरे माधवः । एवं मीमांसाग्रन्थान्तरेष्वपि द्रष्टव्यम् । तदेतत्सर्वमनुसन्धाय फलितं तत्स्वरूपमुक्तमावरणभङ्गे 'प्रकरणं उभयाकाङ्क्षाविशिष्टः शास्त्रैकदेशः'इति । क्रमेण शब्दार्थबलप्रधानानां सात्त्विकानां प्रकरणाभ्यां विशेषतः सिद्धिरिति भावः । शास्त्रार्थस्येत्यादि । लघुभक्तिशास्त्रं गीता, तदुक्तार्थस्यैव विस्तरणरूपं श्रीभागवतं बृहद्भक्तिशास्त्रम् अतस्तदर्थप्रतिपादकप्रकरणयोरपि सङ्क्षेपविस्तरभाव इति भावः । इदं च सर्वनिर्णये 'स इदानीं तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः । तद्व्यासत्वाद्भागवतं पूर्वं भगवतोदित'मित्यत्र विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम् । तत्साधनं नवविधा भक्तिस्तत्प्रतिपादिका । गीता सङ्क्षेपतस्तस्या वक्ता स्वयमभूद्धरिः । तद्विस्तारे भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम् । व्यासः समाधिना सर्वमाह कृष्णोक्तमादितः' इत्यत्र च स्फुटीभविष्यति । ननु स्वकृतप्रकरणस्य कथं भागवतरूपत्वमिति शङ्कावारणाय व्याचक्षते यत्रेति । 'रूपरूपकरणे'चुरादिः । बाहुलकादधिकरणे घञ् । यद्वा श्रीभागवतस्य रूपं शब्दो निरूपणमर्थभेदादावृत्तिश्च यत्रेति समासः । रूप्यत इति तु फलितार्थकथनम् । 'स्याद्रूपश्लोकशब्दयोः । पशावाकारे सौन्दर्ये नाणके नाटकादिके । ग्रन्थावृत्तौ स्वभावे चे'ति हैमः ।

परिभाषामाह—

वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।
त्रितये त्रितयं वाच्यं क्रमेणैव मयाऽत्र हि॥ ६॥

वेदान्तेति सार्द्धेन। निर्गलितवस्तुज्ञापकं लिङ्गं ब्रह्मेत्यादिपदं तत्र तत्र सिद्धं मयापि परमकाष्ठापन्नवस्तुबोधार्थं तत्तत्प्रकरणे वक्तव्यमित्यर्थः॥ ६॥

अस्मिन् शास्त्रे परिभाषामुक्त्वा प्रमाणमाह—

आवरणभङ्गः।

परिभाषामाहेति। एवं प्रकरणत्रयकथनं प्रतिज्ञाय बुद्धिसौकर्यार्थं परिभाषामाहेत्यर्थः॥६॥ अस्मिन्नित्यादि। एवं परिभाषामुक्त्वा व्यासदर्शनानुसारित्वात् प्रमाणप्रमेयसाधनफलभेदेन सर्वशास्त्रमग्रे वक्तुं तानि सङ्गृह्य वदिष्यन् प्रथमतः काल्पनिकत्वव्युदासाय प्रमाणमाहेत्यर्थः। ननु प्रत्यक्षादीनि विहाय वेदादीनामेव किमिति प्रमाणत्वेनादरः क्रियत इत्यत आहुः दोषात्। वेदस्य सर्वज्ञेश्वरवाक्यत्वेन पुराणेषु सूतोक्तिकथनवद् भाविनोऽप्यर्थस्य तथा कथनेऽप्य-

सत्स्नेहभाजनम्।

प्रथमानिर्देशादेव चास्येत्स्यर्थकत्वं सूचितमिति समुच्चयार्थत्वमेव स्फुटयन्ति चकारादिति। टीका चेति च समुच्चयार्थः। तेनायमपि मूलस्थचस्यार्थ इति द्योत्यते। समुच्चयमात्रस्यादरे तु मूले 'इति' शब्दोऽध्याहर्तव्यः। जैमिनीया द्वादशलक्षणी षोडशलक्षणी वा पूर्वमीमांसा। वैयासी चतुर्लक्षणी चोत्तरमीमांसा। यद्यपि कर्तृविषयभेदेन मीमांसयोर्भिन्नत्वाद्भाष्ये इति वक्तव्यम्, तथापि 'संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' इति बौधायनवृत्त्युक्तमैकशास्त्र्यमेवाश्रित्य मीमांसाद्वयं व्याख्यातमिति ज्ञापनाय भाष्यमित्येकवचनम्। ऐकशास्त्र्यादेव तयोः सार्वलौकिकः पूर्वोत्तरत्वव्यवहारश्चरणव्यूहादावुपाङ्गपरिगणन एकत्वं च। बौधायनोक्तं शारीरकं वैयासचतुरध्यायी। लक्षणान्यध्यायाः। प्रकरणानि षोडशग्रन्थादीनि। सिद्धान्तस्य तदेकदेशस्य वा प्रतिपादकः शास्त्रीयोऽल्पग्रन्थः प्रकरणमिति विद्वद्व्यवहारो वेदान्तसारवेदान्तपरिभाषादौ प्रसिद्धः। सूक्ष्मटीकासुबोधिन्योरुभयोः सङ्ग्रहार्थं श्रीभागवतटीकेत्युक्तम्। गृहीतेति लिङ्गवचनविपरिणामेन पूर्वत्रान्वेति। ग्रहणं समुच्चयः। एवं समुच्चये मूले त्रयपदोक्त्यसङ्गतिं परिहरन्ति त्रयमिति। उपदेशन्यायेनेति। अयं 'यथामति'पदस्यार्थो भाति। उपदेशार्थे मन्त्रादौ निष्कृष्टः शास्त्रार्थो यथा सङ्गृह्य कथ्यते तथा सर्वस्य भगवच्छास्त्रार्थस्य सङ्ग्रहरूपमाधुनिकाध्येतृबुद्ध्यनुकूलं त्रयं कथयामीत्यर्थः। मन्त्रेषु सङ्ग्रहस्तु यथा गायत्र्यां पादत्रयेण वेदत्रयस्य। गोपालविद्यायां भक्तिशास्त्रस्य। नृसिंहमन्त्रराजे ज्ञानकाण्डस्य।

---

१ टीकेयमेतावत्येवोपलब्धा।

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।

वेदा इति । शब्द एव प्रमाणम् । तत्राप्यलौकिकज्ञापकमेव । तत्स्वतःसिद्ध-प्रमाणभावं प्रमाणम् । वेदाः सर्वे एव काण्डद्वयस्थिता अर्थवादादिरूपा अपि ।

आवरणभङ्गः ।

शब्द एवेत्यादि । तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तत्वस्यापि दर्शनात् तेषु नैकान्तिकं प्रामाण्यम्, अतस्तानि विहायाऽऽप्तवाक्यत्वाद्वेदादय एवाद्रियन्त इत्यर्थः । ननु वेदादीनाञ्चेच्छब्दत्वेन प्रामाण्यम्, तर्हि लौकिकेऽपि तुल्यम्, प्रत्यक्षोपजीवकत्वात्, प्रमाणान्तरतौल्यञ्चेत्यत आहुः तत्रापीत्यादि । न ह्यस्माभिः शब्दत्वेन वेदानां प्रामाण्यमुच्यते, अपि त्वलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन । औत्पत्तिकसूत्रानुरोधात् । तथा सति यथा धर्मे सपरिकरे चोदनैव मानमेवमत्र वेदादिरेव मानमित्यतो, न तौल्यं, न वा प्रत्यक्षोपजीवकत्वम् । न हि वेदोदितो धर्मो वा, ब्रह्म वाऽन्येन प्रमातुं शक्यते । तयोस्तदेकवेद्यत्वस्यैव तन्मीमांसासिद्धत्वात् । ननु तथापि, 'ग्रावाणः प्लवन्ते, 'गावो वै सत्रमासते'त्याद्ययोग्यं कथं मानं स्यादित्यत आहुः तत्स्वत इत्यादि । तद् वेदादिकं स्वतः कादाचित्कायोग्यताज्ञानानपनोद्यप्रामाण्यात् स्वरूपादेव सिद्धः प्रमाणभावो यस्य तादृशमतः प्रमाणमेव । अयमर्थः, परतः प्रामाण्यवादे प्रवृत्तिसामर्थ्यादेव ज्ञानप्रामाण्यग्रहः, तस्याऽपि सामर्थ्यज्ञानस्य चाऽन्यतः, एवं सत्यनवस्थानिवृत्त्यै क्वचिद् विश्रामे वाच्ये अन्ततो गत्वा योगशुद्धाऽन्तःकरणस्यैव प्रमाणत्वं, शुद्धस्य सत्त्वस्यैव वा प्रमाणाऽनुग्राहकत्वं स्वीकृत्य तज्जन्यज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यं साधनीयम् । तत्र योगस्य सम्यक् सिद्धिः, सत्त्वस्य, शुद्धिश्च या, सा, श्रौतसाधनैरेव भवतीति, तत्र विश्वासं महतां वेद एव जनयतीति सर्वनिरपेक्षः स्वतःप्रमाणभूतो वेद एव । सत्त्वशोधकत्वाद्भगवद्वाक्यत्वात् तन्निःश्वसितरूपत्वाच्च । स्वतःप्रामाण्यवादिभिस्तु वेदस्य निरपेक्षमेव प्रामाण्यं स्वीक्रियते । औत्पत्तिकसूत्रे तथैव सिद्धत्वात् । तत्र च लोकानधिगतार्थगन्तृत्वरूपस्यैव प्रामाण्यस्य स्वीकारात् । एवं सति यद्वेदेष्वलौकिकार्थवेदकेष्वयोग्यताज्ञानं तज्ज्ञातृदोषादेव, न तु वेदाद्युक्तपदार्थेषु सास्ति । अत एव न वेदादिषु । एकत्र तदभावेऽप्यन्यत्र तदुपलब्धेः । अत एव सेतुबन्धादेर्ग्राव्णां प्लवनं सङ्गच्छते । एवमन्यत्राप्यनुसन्धेयम् । न तु तद्विरोधेन स्वयं प्रत्यक्षादिकमनुसृत्याऽन्यथा कल्पनीयमिति । तदेतदुक्तम् । अयञ्च सम्पूर्णायाः कारिकाया निष्कृष्टोऽर्थ उक्तः । अतः परं पदशो व्याकुर्वन्ति वेदा इति । बहुवचनस्यार्थमाहुः सर्वे एवेत्यादि । नन्वौत्पत्तिकसूत्रे तादृशं प्रामाण्यं विध्यंशस्यैव सिद्धम् । 'अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे' इत्यनेन विध्यर्थरूपे धर्मे एवाव्यतिरेकरूपयुक्तिबोधनात् । अतः कथं, सर्वे एवेत्युच्यत इत्यत आहुः अर्थवादादीति । आदिपदं मन्त्रादेः सङ्ग्रहाय । नन्वर्थवादानां स्वार्थे प्रामाण्याङ्गीकारे, 'ववरः प्रावाहणिरकामयते'-त्यादीनां भूतार्थवादानां स्वार्थ एव प्रामाण्यं वक्तव्यम् । तथा सति तस्य भागस्य ववराद्यनन्तरभावित्वेनानित्यत्वापात इति चेत्, न; धर्मवद्ब्रह्मविनोप्यर्थस्यार्वाचीनत्वबोधनाय भूतवत् कथनेऽप्यदोषाच्च । वस्तुतस्तु, वेदानां भगवल्लीलावेदकत्वेन तासाञ्च नित्यत्वेन, 'पुरुष एवेद१ँ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यमि'त्यादिश्रुतिभिस्तादृशव्यवहारकालेऽपि सर्वस्य पुरुषरूपतया नित्यत्वेन चादोषः ।

---

१ ज्ञातृत्वदोषादिति ख-ग-घ. पुस्तकेषु पाठः ।

स्मृतित्वेन कृष्णवाक्यानि वेदत्वेऽपि पृथगुक्तानि । व्याससूत्राणि । चकाराज्जैमिनिसूत्राणि च । एवकारेण व्याससूत्राविरोधेनैव तदङ्गीकरणम् । हिं शुक्तश्चायमर्थः, उपजीव्यत्वात् ।

टिप्पणी ।

स्मृतित्वेनेति । व्यासैः स्मरणाद्गीतायाः स्मृतित्वम् । कृष्णवाक्यानि वेदत्वस्मृतित्वाभ्यां

आवरणभङ्गः ।

अत एव जैमिनीयतर्कपादोपान्त्ये, 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्र'मिति सूत्रे शबरस्वामिनाऽपि व्याख्यातं, प्रवाहयतीति प्रवाहणिः, ववर इति शब्दानुकृतिस्तेन यो नित्योऽर्थस्तमेतौ वदिष्यत इति । इदञ्च द्वितीयपाद अर्थवादाधिकरणेऽपि, 'नान्तरिक्षे, न दिवी'त्यभागिप्रतिषेधस्य, ववर इत्याद्यनित्यसंयोगस्य च समाधानाय, 'अन्त्ययोर्यथोक्त'मिति सूत्रयता जैमिनिनाऽप्यङ्गीकृतम्, अतो नित्यार्थ एव विवादो, न तु भूतार्थवादानित्यत्व इति न किञ्चिदेतत् । व्याससूत्रेषु स्मृतेरपि प्रमाणत्वेनोपन्यासाद्विवक्षितां तामत्राहुः स्मृतित्वेनेति । वेदत्व इति । तेषु विद्यमानेऽपि वेदत्व इत्यर्थः । इदञ्च, 'स्मृतेश्चे'तिसूत्रस्य भाष्ये प्रपञ्चितम् । 'अर्जुनाधिकारमनुसृत्य भगवता स्मृतित्वेन रूपेणोक्तानीति' । ननु जैमिनिसूत्राणां वैयासवत् प्रामाण्याङ्गीकारेऽर्थवादस्य न स्वार्थे प्रामाण्यसिद्धिः । अर्थवादाधिकरणे तेषां विधेयस्तावकत्वेन प्रामाण्यमङ्गीकृत्य 'गुणवादस्तु,' 'रूपात् प्रायादि'त्यादिभिः सूत्रैः, 'सोऽरोदीत्' 'स आत्मनो वपामुदक्खिदत्,' 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वागि'त्यादिषु गौण्यङ्गीकृता या, सा, विरुद्धचेतेत्यत आहुः एवेत्यादि । ननु ऋषित्वे वैदिकत्वे चाऽविशिष्टे कथं व्यासे पक्षपात इत्यत आहुः शुक्त इत्यादि । तथाचातस्तदादर इति जैमिनीयं नाद्रियत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु'रितिसूत्रे क्रियातत्सम्बन्धिनोरन्यतरस्तुत्यर्थत्वेनार्थवादानां विध्येकवाक्यत्वं प्रतिज्ञाय, 'तुल्यञ्च साम्प्रदायिक'मित्यनेन तेषां प्रमादपाठत्वं निरस्य तदग्रिमे, 'अप्राप्ता चानुपपत्ति'रित्यादिना रोदनस्तैन्यादिप्रयोगाभावात् तेषां दृष्टशास्त्रविरुद्धत्वं परिहृत्य, 'सोऽरोदी'दित्यादिषु निन्दाशास्त्रेषु स्तुत्यभावात् कथमेतेषामेकवाक्यतेत्याकाङ्क्षायां 'गुणवादस्त्वि'ति पठ्यते । तथाचार्थवादमात्रे क्रियातत्सम्बन्ध्यन्यतरगुण एवोच्यते । उत्कर्षाधायकगुणवर्णनस्यैव स्तुतित्वात् । अतस्तेष्वपि, न हि निन्दान्यायेन गुणवाद एवेत्यर्थः । तत् कथमित्यपेक्षायां 'रूपात् प्राया'दित्यादीनि पठ्यन्ते । रूपाद् रजतस्याप्युत्पन्नत्वाद्रूपात्तन्निन्दया देयान्तरगुण एवोच्यते । तथा, 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वागि'त्यपि 'हिरण्यं हस्ते भवत्यथ गृह्णाती'त्येतद्विधिशेषत्वान्मनोवाचोर्निन्दया हिरण्यगुण एवोच्यते, ईदृशं हिरण्यं यदर्थं मनोवाचोरेवंरूपतेति । न चात्र गौणी । पारक्यवस्तुजिघृक्षाज्ञाने, मदीयमिदमित्यनृतवादे च स्तेनव्यपदेशस्य मनस्येव पर्यवसानात् । वाचोऽनृतवादित्वं प्रायद् बाहुल्यात् । एवं, 'स आत्मनो वपामुदक्खिददि'त्यत्रापि वपामुत्खिद्य होममात्रेण तूपराजभवनस्य स्वारसिकमेव प्रायत्वम् । वपापेक्षयाऽजस्य बहुलत्वात् । एवमेव, 'तस्मादग्निर्नक्तं ददृशे, तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृश' इत्यत्रापि धूमस्य दूरदर्शनमग्नेश्च भूयोदर्शनञ्च दिवा नक्तञ्चाभिप्रेयत इति

---

१ त्वेन, त्वे सत्यपि, इत्यपि पाठो दृश्यते ।

समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥ ७ ॥

आवरणभङ्गः ।

ददृश इत्यत्र वृत्तिसङ्कोच एव, न गौणी । तत्र हेतुश्चाग्निसूर्ययोः सूर्येऽग्नौ चार्चिर्द्वारा प्रवेश इति, न तत्रापि सा । अर्चिर्द्वारा प्रवेशमेवोपपादयितुमिदमुच्यते, न त्वग्निसूर्ययोरुत्क्रम्य गमनमुपपादयितुमतो, न दृष्टविरोधोऽपीति । 'अग्निर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति,' 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य इति प्रात'रिति मिश्रलिङ्गयोर्मन्त्रयोर्विधानस्याकाङ्क्षितत्वादुभयदेवतासन्निधानरूपो होमगुण उच्यत इति गुणवादत्वम् । एवं, 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वे'त्यत्रापि न दृष्टविरोधः ब्राह्मणत्वस्य देवताविशेषरूपतया जातित्वाभावेन दृष्टत्वाभावात्तत्सन्देहेनाऽज्ञानस्यौचित्यात् । ब्राह्मणस्य देवतात्वं द्वितीयस्कन्धे, 'ब्रह्माननं' इत्यस्य सुबोधिन्यां व्युत्पादितम् । अनुमेयत्वञ्च भारते आजगरे सिद्धम् । तदेव, स्त्र्यपराधात् तत्कर्तुश्च पुत्रदर्शनमित्यनेनोच्यते । पुत्रदर्शनं, न तु ब्राह्मणदर्शनमिति । 'जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते । सङ्करात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः । सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः' इत्यत्र साङ्कर्यस्य जातिबाधकस्योक्तत्वात् । 'यन्मे माता प्रममाद यच्चचारानुन्रतमि'त्यादिश्रुतेश्चेति । 'नचैतद् विद्म' इत्यादिकञ्च, 'प्रवरे प्रव्रीयमाणे देवाः पितरः पितरो देवा इति ब्रूयादि'त्यस्य विधेः शेषः । अब्राह्मणोऽपि प्रवरानुमन्त्रणेन ब्राह्मणो भवत्येवं तद्देवतासन्निधापकत्वरूपं प्रवरानुमन्त्रणगुणं वक्तीति गुणवादः । एवं, 'को हि तद्वेद यदमुष्मिंल्लोकेऽस्ति न वे'त्यादि 'दिक्ष्वतीकाशान् करोती'ति विधेः शेषः । तेन चैतल्लौकिकापेक्षया पारलौकिकफलस्य विप्रकर्षेणान्तरायबाहुल्येनाकालिकेप्सया तन्निन्द्यते । एवमन्यदपि द्रष्टव्यम् । अतो व्यासाविरोधेनैवं व्याख्येयमित्यर्थः ।

नन्वेवं सति गौणी सर्वत एवोच्छिद्येतेति तत्सिद्ध्यादिसूत्राणि विरुध्येरन्निति चेत्, न; तेषां मन्दमध्यमार्थत्वात् । अन्यथा सर्ववेदस्योत्प्रेक्षापरत्वापत्तेः । सर्वेषु गुणवाददर्शनात् । नच कल्पनोपदेशः सूत्रे व्यासचरणैरपि गौण्यादरणान्नैवमिति वाच्यम् । तस्य सूत्रस्य वादिबुद्ध्यनुसारित्वात् । साङ्ख्यस्य वैदिकत्वं निरसितुं तस्य कथनात् । अन्यथा सर्वत्र कल्पनोपदेशप्रसक्त्या 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादि'त्यादित्यादिसूत्रविप्लवापत्तेः । तस्मात् सर्वत्र वाच्यार्थ एव वेदे ग्राह्य इति निश्चयः । ननु, 'वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेषु न संशय' इति वैष्णवाद्, 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यती'ति ब्रह्माण्डप्रथमाध्यायाच्च, पुराणस्य

योजना ।

'समाधिभाषा व्यासस्ये'त्यस्य व्याख्याने । व्यासस्य समाधिभाषा भागवतमिति समाधिभाषेति पृथक् पदम् । समाधिभाषा नाम भागवतमित्यर्थः । मूले समाधिभाषाशब्देन भागवतमुच्यते । अत एव श्रीभागवतार्थप्रकरणे वक्ष्यन्ति 'तत्रोत्सर्गतः सर्वा समाधिभाषे'ति । अयमाशयः, श्रीभागवतेन सम्पूर्णेन यदुच्यते, तत्सर्वं प्रमेयं व्यासः समाधावुपलब्धवान् । 'अप-

व्यासस्य समाधिभाषा भगवतम्। तत्रापि यत्र लौकिकरीत्या वदति। यथा 'अथौषस्युपवृत्तायाम्' इत्यादि। नापि परमतरीत्या, 'श्रुतं द्वैपायनमुखात्' इत्यादि। यावत्समाधौ स्वयमनुभूय निरूपितं सा समाधिभाषा। एतच्चतुष्टयमेकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकमित्यर्थः ॥ ७ ॥

टिप्पणी।

प्रमाणगणनायां पृथगुक्तानीत्यर्थः। **एकवाक्यतापन्नमिति**। एकार्थबोधकमित्यर्थः ॥ ७ ॥

आवरणभङ्गः।

प्रमाणकोटावावश्यकत्वमित्याकाङ्क्षायां विवक्षितं तदाहुः **व्यासस्य समाधिपेति**। अत्र समाधिभाषापदेन व्यासपरितोषोत्तरं जातत्वेन, 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्रे'ति वाक्यार्थः स्मारितः। तेन पुराणान्तरेऽपि श्लिष्टप्रयोगत्वात् तदपेक्षयेदमुत्कृष्टमित्येतदादरणे बीजमति ज्ञापितम्। तत्रापि किञ्चिद्विशेषमाहुः **तत्रापीत्यादि**। तथाच लौकिमतान्तरभाषयोः समाधिभाषापोषकत्वमेव। निर्णायकत्वं तु समाधिभाषाया एव। सा च 'भक्तियोगेन मनसी'त्यादिसन्दर्भाद् भगवतः पूर्णत्वस्य, मायायास्तदुपाश्रितत्वस्य, तत्कृतजीवानर्थस्य, तदुपशामकभगवद्भक्तियोगस्य च यत्र यत्र प्रतिपादनं भवति तदुदाहरणिका पारिशेष्याज्ज्ञेया। तेन तयोरापाततो विरोधोऽपि न दोषायेत्यभिसन्धिः स्फुटति। तेन सिद्धमाहुः **एतदित्यादि** ॥ ७ ॥

योजना।

श्यत्पुरुषं पूर्णमि'ति वाक्यात्पुरुषोत्तमदर्शने सर्वपदार्थविषयकं यथावज्ज्ञानमभूत्, 'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती'ति श्रुतेः। तथा च पदार्थानां सर्वेषामेव बोधे जाते यत्प्रमाणं लोकरीतिसिद्धं यत्परमतसिद्धं तदपि समाधावनुभूतम्, पारलौकिकत्वेन परमतत्वेन। अतः समाधावनुभूतत्वात् सर्वस्यापि समाधिभाषात्वम्। तन्मध्ये लौकिकत्वेन परमंतत्वेन यस्यानुभावः स भागो यथाक्रमं लौकिकी भाषा परमतभाषा चोच्यते। एवं सर्वस्यापि श्रीभागवतस्य समाधिभाषात्वम्। तत्रापि 'भाषास्तु त्रिविधाः प्रोक्ता' इति व्यासवाक्याद्भागविशेषस्य विशेषतः समाधिभाषात्वमित्युभयमविरुद्धम्। इदं भाषात्रयमपि प्रमाणम्। यतो लौकिकीभाषायां परमतभाषायामपि मिथ्यार्थप्रतिपादनं नास्ति। तथा हि 'अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्नि'त्यादिलौकिकीभाषायां सत्यमेव प्रतिपादितम्। उषःकाले श्रीभगवन्महिषीभिर्भगवद्वियोगभीत्या कुक्कुटानामुपर्याक्रोशः कृत इति सत्यप्रतिपादनमेव। एवमेव परमतभाषायां 'श्रुतं द्वैपायनमुखान्नारदाद्देवलादपी'त्यादावपि यथार्थोक्तिरेवेति न प्रामाण्यहानिः। परं त्वबाधितानधिगतार्थगन्तृप्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं लौकिकीभाषायां परमतभाषायां च न सङ्गच्छते। तत्र लौकिकीभाषा लोकरीत्यैवाधिगम्यते। यथा 'स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितानि'त्यादौ स्त्रीणां परस्परं स्तनाघातप्रतिपादनं न मिथ्या, किन्तु लोके सिद्धमेव। एवमेव परमतभाषायां 'अक्रूरे प्रेषितेऽरिष्टान्यासन्वै द्वारकौकसा'मित्यादिरूपायामपि न मृषा प्रतिपादनम्। कयाचिद्भगवदिच्छयाऽक्रूरगमनानन्तरमरिष्टोद्भवो द्वारकायामासीत्, परं न तत्राक्रूरगमनस्य प्रयोज-

ननु चतुर्णां क्वोपयोगः, एकेनैव चरितार्थत्वाच्चेत्याशङ्क्याह—

उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् ।
अविरुद्धं तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा ।
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन ॥ ८ ॥

उत्तरमिति । उत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वस्य सन्देहवारकं प्रकर्षेण कीर्तितम् । यथा 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'इत्यत्र किं प्राकृतपाणिपादरहितं ब्रह्म, आहोस्वित्सामान्यनिषेध इति सन्देहे 'सर्वतः पाणिपादान्तम्'इत्यादि गीतावाक्यं निर्णायकम् । तथा गीतायां

आवरणभङ्गः ।

क्वेति । विषयस्यैकस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात् क्वेत्यर्थः । एकेनेति । मुख्येन वेदेनेत्यर्थः । चकारोऽन्यतमसमुच्चायकः । तथाच द्वाभ्यां वा चारितार्थ्यादिति भावः । उत्तरमित्यादि । अतश्चतुर्णामावश्यकत्वमित्यर्थः । प्रकर्षं विवृण्वन्ति यथेत्यादि । श्रौतक्रियाऽन्यथानुपपत्त्याऽप्राकृत-

योजना ।

कृता । 'इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् । मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शन'मिति श्रीशुकेन दूषितत्वात् । तथा च लौकिकीपरमतभाषयोर्मिथ्यात्वप्रतिपादनाभावेन प्रामाण्यसिद्धावपि अधिगतार्थबाधितार्थप्रतिपादनेन प्रमाणलक्षणाप्रवेशादप्रामाण्यमपि । अत एव वक्ष्यन्ति 'साक्षात्प्रतिपादितार्थे समाधिवन्न प्रमाणमिति ।' समाधिभाषायास्तु सत्यार्थोऽबाधितानधिगतार्थप्रतिपादकत्वेन सर्वप्रकारकं प्रामाण्यमिति भाषाद्वयात्समाधिभाषाया उत्कर्षः । ननु 'स्तनैः स्तनान्कुङ्कुमपङ्करूषिता'नित्यादौ लोकसिद्धपदार्थं निरूपणाल्लौकिकीभाषेत्युक्तम् । एवं 'बाहुप्रसारपरिम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातै'रित्यादौ पञ्चाध्याय्यां कुतो न लौकिकीभाषात्वमिति चेत् , न; साक्षाद्भगवता क्रियमाणाया लीलाया लोकानुसारित्वेऽप्यलौकिकस्वरूपत्वात् । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति न्यायात् । अतस्तन्निरूपणे लौकिकीभाषात्वाभावात् । एवमेव 'तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्णसरीसृपन्ताविं'त्यादिबाललीलायामपि न लौकिकीत्वम् । अत एव रिङ्गणस्याशयः सुबोधिन्यां विवृतः । 'जानुभ्यां गमनं विश्वोर्दैत्यानां मर्दनाय ही'त्यनेन । एवं सति या साक्षाद्भगवत्कर्तृका लीला, सा न लौकिकी, किन्त्वलौकिकी परमानन्दरूपेति निष्कर्षः । तन्निरूपणं समाधिभाषारूपमेव । 'अथोपस्पृश्युपवृत्ताया'मित्यत्र कुक्कुटशपनं महिषीभिः कृतं, न भगवत्कृतमिति तत्र लोकसिद्धत्वादस्ति लौकिकीत्वम् ॥ ७ ॥

'उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितमि'त्यस्य व्याख्याने सर्वतः पाणिपादान्तमि'ति गीतावाक्यं निर्णायकमिति । प्राकृतपाणिपादादीनामेव श्रुतौ निषेधो, न सामान्यत इति निर्णायकमित्यर्थः । अन्यथा सर्वतः पाणिपादान्तत्वं न सम्भवेदिति भगवद्गीतासु कथं वदेत्? अतः साकारं

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः', 'ममैवांशो जीवलोके'इत्यादिषु सन्देहे सूत्रैर्निर्णयः 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्'इत्यादिभिः। तथा 'जन्माद्यस्य यतः'इति सन्देहे 'अन्वयव्यतिरेकतः'इति भागवतेन निर्णयः। एतदविरोधेनैव मन्वादीनां प्रामाण्यमाह अविरुद्धमिति। वेदादिना अविरुद्धमेव मन्वादिकं प्रमाणम्। क्वचित्सम्वादः, क्वचिद्विरोध इत्युभयसम्भवे अप्रमाणमेवेत्याह एतद्विरुद्धमिति ॥ ८ ॥

आवरणभङ्गः।

करणानि शक्यवचनानीत्याद्यपक्षस्य, अलौकिकसामर्थ्येनैव क्रियोपपादयितुं शक्येति द्वितीयस्य च सिद्धिरिति सन्देहे गीतायां कण्ठतः करणोक्त्या आद्य उपष्टभ्यत इति तन्निर्णायकम्। एवं गीतायां शरीरे व्यापकत्वाऽचलत्वयोरंशत्वस्य चोक्त्या सन्देहे, सूत्रैरुत्क्रान्त्यादिक्रियाबोधकैरंशत्वनिर्णयः। एवं सूत्रेऽप्याहुः तथा जन्मादीत्यादि। अन्वयव्यतिरेकत इति। इदं श्रीभागवतवाक्यार्थसङ्ग्राहकं, न तु तत्प्रतीकम्। तथाच जन्मादिसूत्रं शबलस्य कार्यलक्षणमुत केवलस्य? कारणतापि, किं निमित्तत्वेन उपादानत्वेन वा? इति सन्देहे, 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदे'ति द्वितीयस्कन्धवाक्येन 'समन्वयेन व्यतिरेकतश्चे'त्येकादशवाक्येन च स इत्यर्थः। एवमेव पूर्वकाण्डेऽपि, किं कर्मण्येव श्रुतेस्तात्पर्यमुत नेति सन्देहे, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थे'ति, 'एतान्यपि तु कर्माणी'ति भगवद्वाक्यैर्निर्णय इति द्रष्टव्यम्। एवञ्चात्र चोदनालक्षणस्य धर्मस्यौपनिषदस्य ब्रह्मणश्च निर्णेष्यमाणत्वात्, तस्मिंश्च गीतादीनां सन्देहवारकत्वेनानुवादकत्वाभावान्न तल्लक्षणमप्रामाण्यमिति फलति। तदेतत् स्वतन्त्रताप्रतिविधानभाष्ये प्रपञ्चितमाचार्यैरिति ततोऽवधेयम्। नन्वेवं चतुर्णामेव प्रामाण्ये शेषाणां मन्वादिस्मृतीनां पुराणान्तराणाम् अङ्गादीनाञ्च का गतिरित्याकाङ्क्षायामग्रिमार्द्धमवतारयन्ति एतदित्यादि। अत्र मूले, एकस्तुरवधारणे, द्वितीयः शङ्कानिरासे, चोऽप्यर्थे। तथाच यदविरुद्धं तदपि मन्वादिकं प्रमाणम्। काल्पनिकव्याख्यानवशादन्यथा सत् प्रमाणं नेत्यर्थः। तदेतदाहुः वेदादिनेत्यादि। अस्मिन्नर्थे हेतुं वदन्तोऽग्रिममवतारयन्ति क्वचिदित्यादि। अत्र मूले, एतत्पदेन 'वेदाः श्रीकृष्णे'तिकारिकास्थचकारबोधितजैमिनिसूत्रसङ्ग्रहः। अतस्तदुक्तरीत्या विचारे मन्वादिसाङ्ख्यादीनां सम्वादे त्वनुवादलक्षणमप्रामाण्यम्, विरोधे तु वैसर्जनाधिकरणन्यायेन बाधितार्थत्वलक्षणमेवाप्रामाण्यम्। 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमान'मिति जैमिनीयसूत्रात्। अत्र सूत्रे हि विरोधे अनपेक्षस्य प्रामाण्यमुच्यते। सम्वादिनश्च मन्थरगामित्वादप्रामाण्यं स्फुटीक्रियते। तेन पूर्वोक्तं सूपपन्नमित्यर्थः। एवं सति अविरुद्धाऽसम्वाद्यंश एव प्रामाण्यमित्यर्थः फलति। किञ्च, मूले सर्वपदं शाक्यादिस्मृतिसङ्ग्राहकम्। एतेनैव प्रत्यक्षादीनामपि प्रामाण्यं व्याख्यातं ज्ञेयम्। अत्र हेतुर्द्वितीयप्रकरणे उपपादनीयः ॥ ८ ॥

योजना।

श्रुत्युक्ताऽप्राकृतस्वरूपाभिन्नकरचरणादियुक्तं ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानामभिप्रायः। अन्वयव्यतिरेकत इतीति। इतिशब्दः प्रकारे। इति प्रकारकेण भागवतेन निर्णय इत्यर्थः। तत्प्रकारकभागवतं तु

एवं पूर्णज्ञानोदयावधि यद्ग्राह्यं प्रमाणत्वेन तन्निरूप्य तदनन्तरं यत्प्रमाणं तदाह—

अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदतः ।
विरुद्धांशपरित्यागात्प्रमाणं सर्वमेव हि ॥ ९ ॥

अथवेति । वाङ्मात्रमेव प्रमाणम् । अर्थस्य भगवद्रूपत्वात् । तदेवाह सर्वरूपत्वादिति । रूपलीलावन्नामलीलाया विभेदानां वक्तव्यत्वान्नानाविधानि वाक्यानि प्रवृत्तानि । विरुद्धवाक्यत्वेनैवं परस्परं भासमानेष्वविरोधप्रकारमाह विरुद्धांशपरित्यागादिति । विरुद्धांशपरित्यागो द्वेधा वक्तव्यः । भगवत्सामर्थ्येनाऽलौकिकप्रकारेण, भगवतः सर्वरूपत्वेन वा । अतो युक्त एवाविरोधः ॥ ९ ॥

आवरणभङ्गः ।

ननु सर्वस्य भगवद्रूपतायाः प्रतिपिपादयिषितत्वात् सर्वेषामेव प्रामाण्यमुचितं, न तु सङ्कोच इत्यपेक्षायां पक्षान्तरमवतारयन्ति एवमित्यादि । वाङ्मात्रमित्यादि । तथाच सर्वत्र भगवत्स्फूर्तौ वाचकमात्रमोङ्कारविकृतित्वाद्ब्रह्मण्येव मानमिति तथेत्यर्थः । ननु तथापि यावन्न ज्ञानं चरमवृत्तिरूपं, तावद् व्यवहारोऽस्तीति तस्य कथं निर्वाह इत्यत आहुः रूपेत्यादि । तथाच सर्वस्य भगवद्रूपत्वेऽपि यथा प्रतिनियतेन कम्बुग्रीवादिमत्त्वसास्नादिमत्त्वादिना रूपेण रूपलीलावैलक्षण्यम्; तथा तत्तद्वर्णानुपूर्वीकत्वादिना रूपेण पदवाक्यभेदा वक्तव्या इति नामलीलावैलक्षण्यम् । अतस्तत्र सहजशक्तिसङ्कोचवदत्र वाचकशक्तिसङ्कोच इति लीलाभेदज्ञानेन तस्य निर्वाह इत्यर्थः । ननु भवत्वेवमविरुद्धवाक्यस्थले, तत्रापि यत्रैकमेव वस्तुपरं शिवविष्णुनिराकारादिरूपैर्बोध्यते, तत्र वाक्यानां परस्परविरुद्धत्वेन लीलाभेदज्ञानाभावात् कथं व्यवहारनिर्वाह इत्याशङ्कानिवृत्तये हेतुमवतारयन्ति विरुद्धेत्यादि । द्वेधा वक्तव्य इति । साधनाध्याये, अहिकुण्डलसूत्रे पूर्ववद्वेति सूत्रे

योजना ।

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत' इत्यस्ति । तथा च 'जन्माद्यस्य यत' इति सूत्रेण कारणतोक्तावपि किं निमित्तकारणं समवायि वेति संशये अन्वेतीत्यन्वयः समवायिकारणम्, इतरद् निमित्तकारणं चेत्युभयमङ्गीकार्यमिति भागवतेन निर्णयः सम्पन्नः । 'अविरुद्धं तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा । एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन' इति अस्य प्रमाणचतुष्टयस्य यदविरुद्धं तत्प्रमाणम् । नन्वेतदविरुद्धमनार्षवाक्यं चेत्तदा तस्य त्वप्रामाण्यमेव वाच्यमनार्षवाक्यत्वादित्याशङ्क्याहानेनार्षत्वं न दोषगुणप्रयोजकमपि तु वेदादिचतुष्टयाविरोधत्वे प्रयोजकमित्याहुः नान्यथेति । अन्यथा न अप्रमाणं नेत्यर्थः । तथा चानार्षमपि वाक्यं वेदाद्यविरुद्धं चेत्प्रमाणमेवेत्यर्थः । एवं वेदाद्यविरुद्धस्य प्रामाण्यमुक्त्वा एतद्विरुद्धस्यार्षवाक्यस्याप्यप्रामाण्यमित्याहुः—एतद्विरुद्धमित्यादिना । तथा चैतच्चतुष्टयविरुद्धस्यार्षवाक्यस्याप्यप्रामाण्यमेव । अत एव 'एतद्विरुद्धं यत्सर्वं'मित्यत्र सर्वपदमुक्तम्, कथञ्चनेत्यप्युक्तम् ॥ ८ ॥

---

१ यावत् । २ एवेति क्वचिन्नास्ति ।

उक्तमानचतुष्टयविरोधे मन्वादिस्मृतीनामप्रामाण्यमेवेत्युक्तम् तन्न युक्तम्, "यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्भेषजम्" इति श्रुतेर्मन्वादीनामुक्तमानविरोधेऽपि प्रामाण्यस्याऽवश्यं-वाच्यत्वादित्यत आह—

द्वापरादौ तु धर्मस्य द्विपरत्वाद्वयं प्रमा ।

द्वापरादौ त्विति । चोदनाविषयत्वेनाऽवश्यकर्तव्यताकत्वेनाऽभिमतोऽर्थोऽत्र धर्म-

---

आवरणभङ्गः ।

च सिद्धोऽत्राग्रे भगवत्सामर्थ्येत्यादिप्रकारेण प्रपञ्चनीयः । तथा सत्येकस्यैव, 'मल्लानामशनिरि'ति न्यायेन तं तं प्रति तथा भानाय तादृशानि वाक्यानि; रूपभेदेन वा तथा वाक्यानीति तथेत्यर्थः । तेन विद्वद्दशायां न प्रमाणसङ्कोचः । अविद्वद्दशायान्तु जीवबुद्धेः सदोषत्वेन तन्निरासार्थं सङ्कोच इतीदानीन्तु स उचित इति भावः ॥ ९ ॥

अत्राविद्वद्दशायां यदन्येषामप्रामाण्यमुक्तं तदाक्षिपन्ति प्रभवः **उक्तमानेत्यादि** । **अवश्यवाच्यत्वादिति** । इदं वाक्यं द्वितीयाष्टके 'मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यादि'ति विधाय तदग्रे स्तावकत्वेनास्ति । तत्र विकृतिरूपे सोमारौद्रे चरावतिदेशतः प्राप्तासु सामिधेनीषु मध्ये प्रक्षेप्तव्यौ द्वौ धाय्यसञ्ज्ञकौ मन्त्रौ, तौ मानवौ कर्तव्याविति तत्प्रशंसनार्थोऽर्थवादरूपस्यास्य स्वार्थे प्रामाण्याभावे मनुपराशरादिसत्ताबोधकानां मन्त्रेतिहासपुराणादीनामपि कथञ्चित् स्वार्थे अप्रामाण्यप्रसक्तौ मन्वादिसद्भावे प्रामाण्यं व्याहन्येत । तथासति तत्कृतस्मृतेरनुदयेऽयं विधिरपि कुण्ठो भवेत् । ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्, तं वसिष्ठः प्रत्यक्षमपश्यत् 'अत्रिरददौर्वाय प्रजां पुत्रकामाये'त्यादीनाञ्च बाधितार्थतैव स्यात् । भट्टवार्तिकेऽपि 'वैदिकैः सर्यमाणत्वात् तत्परिग्रहदार्ढ्यतः । सम्भाव्य वेदमूलत्वात् स्मृतीनां मानतोचिते'त्युक्तम् । उत्तरमीमांसायाञ्च देवताविग्रहाधिकरणे मानान्तरविरुद्धानामननुवादमन्त्रादीनां स्वार्थे प्रामाण्यं स्वीकृतम् । तेनार्थवादाधिकरणं विरुद्धानुवादयोः सावकाशमिति, 'यद्वै किञ्चे'ति वाक्यस्य विधिस्तावकत्वेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यमाचारमाधवे प्रतिपादितमिति सर्वसम्मतत्वेन तथात्वादित्यर्थः । समाधिं व्याकुर्वन्ति **चोदनेत्यादि** । अत्र चोदना-

योजना ।

'द्वापरादा'वित्यस्याभासे **उक्तमानचतुष्टयविरोध** इत्यारभ्य **अवश्यवाच्यत्वादित्यन्तम्** । 'यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्भेषजमि'तिश्रुतिबलाद्वेदादिप्रमाणचतुष्टयविरोधेऽपि मन्वादिस्मृतीनां प्रामाण्यमेवोचितम्, तत्कथमुक्तं वेदादिविरोधे मन्वादिवाक्यानामप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षिण आशयः । तत्र कस्मिंश्चिदंशे मन्वादिस्मृतीनां प्रामाण्यं, नैतावता सर्वत्र वेदादिविरोधेऽपि प्रामाण्यमपि तु वेदादिभिरविरुद्धस्यैव मन्वादिवाक्यस्य सर्वत्र प्रामाण्यम् । 'यद्वै किञ्चे'ति श्रुतिस्तु कस्मिँश्चिदंशेऽवकाशं प्राप्नोतीति पूर्वोक्तं सुस्थमेवेति सिद्धान्तिनामाशयः । अतः 'यद्वै किञ्चे'ति श्रुतिविरोधं प्रदर्श्य तन्न युक्तमिति पूर्वपक्षिणा यदुक्तं तस्य समाधानमाहुः—इत्यत आहेति ।

---

१ द्वयं वा क ।

विरुद्धवचनानां च निर्णयानां तथैव च ॥ १० ॥

शब्देनोच्यते तस्य द्वे श्रुतिस्मृती उभे अपि परे प्रमापिके यस्य तादृशत्वाद्द्वयं, श्रुतिस्त-त्सम्वादिन्यसम्वादिनी च मन्वादिस्मृतिश्चैतद्द्वयमपि प्रमा प्रमाणमित्यर्थः। यद्वा पूर्वोक्तधर्मस्योक्तरीत्या द्विपरत्वाच्छ्रुतिः सम्वादिन्यसम्वादिन्यपि स्मार्ते धर्मे कर्तव्य-ताज्ञानं प्रमेत्यर्थः। विरुद्धयोरविरोधख्यापनार्थं साम्प्रतं लौकिकं दृष्टान्तमाह विरुद्धवचनानामिति। यथा स्मृतिवाक्यानि परस्परं विरुद्धानि स्मृतिव्याख्यान-कारैरविरोधप्रकारेण निर्णीयन्ते, तथा निर्णयानामपि परस्परविरुद्धानां वैष्णवस्मार्ता-दिभेदेनाविरोध इत्यर्थः ॥ १० ॥

आवरणभङ्गः।

विषयत्वं काम्ये वायव्यपश्वादौ, अवश्यकर्तव्यताकत्वं लौकिके भोजनादौ, अभिमतार्थत्वं घटा-दावतिव्याप्नोतीति समुदितमुपात्तम्। काम्यधर्मव्युदासस्तु तस्य श्रुतितात्पर्यागोचरत्वात्। तदिदं सर्वनिर्णये व्युत्पादयिष्यन्ति। मूले प्रमाणशब्दस्य करणव्युत्पत्तिं दुर्घटां हृदि कृत्वा पक्षान्तर-माहुः यद्वेत्यादि। सम्वादिनीत्यादिपदद्वयं ससम्यन्तम्। कर्तव्यताज्ञानमिति। जायमानमिति शेषः। तथाच द्विविधयोरपि स्मृत्योः श्रुत्यविरुद्धत्वेन बाधितार्थत्वाभावादिदानीन्तनानाञ्च सर्व-श्रुत्यज्ञानात् स्मृतित एव कर्तव्यताज्ञानं जायत इति, ताभ्यां जायमानं ज्ञानद्वयमपि प्रमेत्यर्थः। अत्र धर्मे प्रामाण्यकथनेन ब्रह्मण्यप्रामाण्यं बोधितं प्रभुभिः। आचार्यै'र्द्वापरादी'ति कथनेन मात्स्ये स्मृतिप्रचारस्य द्वापरे कथितत्वात्ततः पूर्वं धर्मसन्देहाभावस्याप्युक्तप्रायत्वाद् द्वापरमारभ्यैव धर्मस्य द्वैपर्यं सारितम्। तथासति विरोधाभावस्तत्र वक्तव्य इत्याकाङ्क्षायामग्रिमार्द्धमवतारयन्ति विरुद्धयोरित्यादि। मूलन्तु पूर्वार्द्धाद्, द्वयं प्रमेत्याकृष्य यथापदं चाध्याहृत्य च योज्यम्। तथाच द्वापरादौ धर्मस्य द्विपरत्वाद् यथा विरुद्धवचनानां द्वयं प्रमा, च पुनस्तथैव निर्णयानां द्वयं प्रमेति। मात्स्यवाक्यानि तु पूर्वाध्याये, कृते तप एव, ततस्त्रेतायामृषीणां विश्वभुज इन्द्रस्य च विवाद उपरिचरवसुना निवारिते हिंसायज्ञप्रवृत्तिं त्रेतायामुक्त्वा तदग्रिम उक्तानि,–'आद्ये

योजना।

इति पूर्वपक्षे समाधानमाहेत्यर्थः। 'द्वापरादौ तु धर्मस्ये'त्यस्य व्याख्याने श्रुतिस्तत्सम्वादिन्यपि स्मार्तधर्मे इत्यादि। तथा च चोदनाविषयत्वेनावश्यकर्तव्यताकत्वेनाभिमतेऽर्थे धर्मशब्दवाच्ये श्रुतिर्मन्वादिस्मृतिश्चेत्युभयं प्रमाणमिति 'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषज'मिति श्रुतिः सावकाशा भवति। भगवत्स्वरूपादिविषये तु वेदादिचतुष्टयस्यैव प्रामाण्यम्, तदविरोधेनैव मन्वादिवाक्यानां प्रामाण्यमिति व्यवस्थापनान्न कश्चिद्दोषः। 'विरुद्धवचनानां च निर्णयानां तथैव चे'ति मूले। इह यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तथाशब्दप्रयोगाद्यथाशब्द आकलनीयः। तथा च विरुद्धवचनानां यथा द्वयं प्रमा, तथा निर्णयानां द्वयं प्रमेति पूर्वेणान्वयः। प्रमाशब्दः प्रमाणवाचको लक्षणयेति टीकायां व्याख्यातमेवास्ति। एतस्य श्लोकस्याभासे अविरोधख्यापनार्थं साम्प्रतं लौकिकदृष्टान्त-माहेति। ज्ञानोदये तु वाङ्मात्रस्यापि प्रामाण्यमित्युक्तम्। साम्प्रतं ज्ञानोदयाभावदशायां तु विरोधा-भावाय प्रकारोऽयमेवेति भावः। साम्प्रतमित्यस्य ज्ञानाभावदशायामित्यर्थो बोध्यः ॥ १० ॥

---

१ भावव्युत्पन्नकरणव्युत्पन्नश्च प्रमाणशब्दः प्रस्थानरत्नाकरे विशदतया विवेचितः, तन्त्ररहस्यादावपि। मयापि प्रस्थानरत्नाकरटीकायां किरणावल्यां निपुणं प्रपञ्चितं तत्तत एवावधेयम्।

अत्र प्रमाणचतुष्टये श्रुतिः सूत्राण्येका कोटिः, गीता, भागवतं चाऽपरा स्पष्टैव। तत्रोभयत्र प्रमेयभेदाभावे, द्वयनिरूपणार्थं भेदे विरोध इति कथमेकवाक्यतेत्याशङ्क्य द्वयं समर्थयितुमाह—

यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे।
अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते ॥ ११ ॥

यज्ञरूप इति। 'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः' इति श्रुतेर्ज्ञानक्रियोभययुतः सर्वेषामर्थः। तत्र क्रियायां प्रविष्टः क्रियारूपो यज्ञात्मा पूर्वकाण्डार्थः। ज्ञाने प्रविष्टो ज्ञानात्मा ब्रह्मरूप उत्तरकाण्डार्थः। तनुशब्दः साकारब्रह्मप्रतिपादनाय। परे उत्तरस्मिन् काण्डे। क्रिया, ज्ञानं च द्वयं प्रकटीकृत्य योऽवतीर्णः कृष्णः स श्रीभागवते विशिष्टो निरूप्यते, अतः खण्डशो निरूपणं वेदे, भागवते तु समुदायेन निरूप्य तस्य लीला अनेकविधा निरूप्यन्त इत्येकार्थत्वेऽपि पृथग्वचनं युक्तमित्यर्थः ॥ ११ ॥

टिप्पणी।

अत्रेति। श्रुत्यर्थमादाय सूत्रकरणाच्छ्रुतिसूत्राणामेककोटित्वम्; श्रीभागवतस्य गीताविस्तरत्वाद्गीताभागवतयोरेककोटित्वम्; चतुष्टयमेकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकमित्युक्तत्वादुभयकोट्योः प्रमेयभेदाभावे सिद्धे सति द्वयनिरूपणार्थं प्रमेयभेदेऽङ्गीक्रियमाणे कथं चतुर्णामेकार्थबोधकत्वं स्यादित्याशङ्क्य कोटिद्वयनिरूपणमेकार्थबोधकत्वं च समर्थयितुं धर्मधर्मिभेदेन विशिष्टनिरूपणमाहेत्यर्थः ॥ ११ ॥

आवरणभङ्गः।

कृते न धर्मोऽस्ति स त्रेतायां प्रवर्तितः। द्वापरे व्याकुलो भूत्वा प्रणश्यति कलौ पुनः। वर्णानां द्वापरे ध्वंसाद्विकीर्यन्ते तथा श्रमाः। द्वैधमुत्पद्यते चैव युगे तस्मिञ्छ्रुतौ स्मृतौ। द्विधा श्रुतिः स्मृतिश्चैव निश्चयो नाधिगम्यते। निश्चयाद्विगतानाञ्च धर्मतत्त्वं न विद्यते। धर्मतत्त्वे ह्यविज्ञाते मतिभेदश्च जायते। परस्परविभिन्नैस्तद्दृष्टीनां विभ्रमेण तु। अतो दृष्टिविभिन्नैस्तैः कृतं शास्त्रकुलं त्विदमि'ति। तेन 'कृते तु मानवा धर्मा' इत्यादेर्न विरोधः। पूर्वयुगे मनुसत्त्वेऽपि द्वैधाभावाद्धर्मनिश्चयेनैव श्रौतोपयोगाय प्रवृत्तेः ॥ १० ॥

एवमत्र सार्द्धचतुष्टयेन प्रमाणनिष्कर्षमुक्त्वा तेषु प्रमेयनानात्वादिनैकवाक्यता दुर्घटेति तामुपपादयिष्यन्तोऽभिधेयसम्बन्धप्रयोजनानि च ग्रन्थस्य तद्द्वारा वदिष्यन्तस्तामाक्षिप्य प्रमाणानामभिधेयं वक्तुमवतारयन्ति अत्रेत्यादि। **कोटिः** समुदायसङ्ख्या भागो वा। 'कोट्युत्कर्षाटनीसङ्ख्याऽस्त्रीष्वि'त्यनेकार्थात्, प्रमाणकोटिः, प्रमेयकोटिरिति व्यवहाराच्च। **स्पष्टैव**। धर्मधर्मिनिरूपणाभ्यां स्पष्टैव। **तत्रोभयत्र** कोटिद्वये। **प्रमेयभेदाभावे** धर्मरूपेण धर्मिरूपेण वा यथाकथञ्चिद् ब्रह्मण एव प्रतिपाद्यत्वात् तथाभावे। **द्वयनिरूपणार्थं भेदे** कोटिद्वयनिरूपणार्थमङ्गीकार्ये भेदे। **विरोधः**। अर्थैक्येऽपि परस्पराकाङ्क्षाराहित्येन वैय्यधिकरण्यमित्येकवाक्यता कथं सङ्गच्छत इत्याशङ्क्य। **द्वयम्**। कोटिद्वयत्वमेकवाक्यत्वञ्चेति द्वयम्। **समर्थयितुमाह**। तत्प्रमेयमाहेत्यर्थः'! **अर्थ इति**। अभिधेयः प्रयोजनं च। **प्रविष्ट इति**। क्रियायां लौकिक्यामभिव्यञ्जयत्वेन ज्ञाने च वृत्तिरूपे विषयत्वेन प्रविष्ट इत्यर्थः। इदं यथा तथा सर्वनिर्णये 'तस्यैवोद्भूतरूपत्वा'दित्यत्र वक्ष्यन्ति। श्रीभागवतपदं गीताया अप्युपलक्षकम्। **निरूप्यन्त इति**। सङ्क्षेपविस्तराभ्यां यथायथं निरूप्यन्त इत्यर्थः। **युक्तमिति**। प्रकारभेदाद् युक्तमित्यर्थः ॥ ११ ॥

वेदे पुराणे च क्वचिदन्यार्थप्रतिपादनमाशङ्क्य तेषामङ्गत्वमित्यभिप्रायेणाह—
सूर्यादिरूपधृग् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानाङ्गमीर्यते ।
पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिस्तथा ॥ १२ ॥

सूर्यादिरूपधृगिति । ब्रह्मकाण्डे ज्ञानसिद्ध्यर्थमुपासना निरूप्यन्ते । तच्चित्तशुद्धिद्वारैवेति केचित् । फलदानद्वारा माहात्म्यप्रतिपादनेन भक्तिद्वारेति सिद्धान्तः । तथा पुराणोक्तानां दुर्गागणपतिप्रभृतीनां विशिष्टशेषत्वमावरणदेवतात्वेन, तथाऽपि भिन्नार्थत्वमाशङ्क्य 'तत्तद्रूपो हरिस्तथे'त्युक्तम् । साधनरूपः फलरूपश्च स्वयमेवेत्येकवाक्यता ॥ १२ ॥

आवरणभङ्गः ।

वेद इत्यादि । तथाच, 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्, एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ती'तिश्रुतेः, 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता' इति गीतावाक्याच्च यद्यन्य उपास्यश्च तत्तद्रूपो हरिरेव यागशेषत्वेनोपासनाशेषत्वेन च निरूप्यते इत्यङ्गानामङ्गिसापेक्षत्वात्, 'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया । वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते' इत्यङ्गनिरूपकत्वेन तेषामेकवाक्यत्वं न दुर्घटमित्याशयेनाहेत्यर्थः । ननु भवत्वेवमेकवाक्यत्वं, तथापि तत्र नानादेवतानामुपासनानाञ्च निरूपणात् तेषां तृतीयकाण्डत्वमस्तु । जैमिनिना सङ्कर्षणकाण्डाख्यतन्मीमांसाप्रणयनाच्च । अथवा, उपासनानां मानसकर्मरूपत्वात् कर्मकाण्ड एव निवेशोऽस्तु, न तु ब्रह्मकाण्डे इत्याकाङ्क्षायां व्याकुर्वन्ति ब्रह्मेत्यादि । तथा च द्वितीयेऽवान्तरवाक्येषूपासनानां निरूपणान्न तृतीयत्वं पाशुपततन्त्रवत्पूर्वकाण्डानन्तर्गतत्वाच्च न तत्र निवेशः, किन्तु द्वितीय एव निरूपणात् तत्रैव निवेश इत्यर्थः । जैमिनिकृतभेदस्तु व्यासविरोध उपेक्षणीयः । एवं ज्ञानाङ्गत्वमुपासनानां साधयित्वाऽङ्गत्वे मतान्तरात् कञ्चिद्विशेषं वक्तुमाहुः तदित्यादि । तदिति अङ्गत्वम् । केचिदिति । मायावादिप्रभृतयः । एतेनैव पूर्वोत्तरकाण्डयोरप्यङ्गाङ्गिभावो व्याख्यातो ज्ञेयः । फलदानद्वारेत्यादि । उद्गीथादिसूर्याद्युपासनया तत्तत्प्रकरणोक्तं फलं तेन तेनोपास्येन दीयते । तेषाञ्च प्रतीकत्वेन तत्कृतफलदानान्मूलरूपमाहात्म्यमेव प्रतिपादितं भवति । ज्ञाते च माहात्म्ये तत्र भक्तिस्तया ज्ञानम् । 'भक्त्या मामभिजानाती'ति भगवद्वाक्यात् । तथाच भगवद्वाक्यानुसार्य्ययं सिद्धान्त इत्यर्थः । ननु भवत्वेवं वेदे, तथापि पुराणे तु नायं न्यायः सङ्गच्छते । तत्र प्रतिपाद्यदेवताया मुख्यत्वस्यैव प्रतीतेरित्यत आहुः तथेत्यादि । नन्वस्त्वेवं दुर्गादिस्थले, न तु शिवादिस्थलेऽपि तत्र तेषाञ्जगत्कर्तृत्वादिरूपब्रह्मलक्षणवत्त्वेनैव प्रतिपादनादित्याकाङ्क्षायां तदप्यस्माभिः समाहितमेवेत्याहुः तथापीत्यादि । तथाच विकृतिन्यायेन तत्र रूपान्तरप्रतिपादकत्वान्मुख्यप्रतिपादकशेषत्वमिति तत्रापि पूर्वोक्तमक्षतमित्यर्थः । सिद्धमाहुः साधनेत्यादि । तथाच 'अर्थैकत्वादेकं वाक्य'मित्यत्रैकार्थ्ये सति विभागे साकाङ्क्षत्वमिति लक्षणात् । प्रकृते चार्थप्रयोजनैक्याद् विभागे चाङ्गाङ्गिभावादिना साकाङ्क्षत्वात् सर्वेषामेकवाक्यतेत्यर्थः ॥ १२ ॥

१ भट्टवार्तिके ।

अत्राऽवान्तरनिर्णयं वक्तुं भक्तिमार्गे विशेषमाह—

भजनं सर्वरूपेषु फलसिद्ध्यै तथापि तु ।

भजनं सर्वरूपेष्विति । ज्ञानमार्गे न कोऽपि विशेषः क्वापि, सर्वस्यापि पूर्णब्रह्मत्वात् । वक्ष्यति च 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वम्' इति । भक्तिमार्गे तु न तथा । यथा भगवान् जगत्कृतवान्, तथा स्वार्थं भक्तिमार्गमपि पृथक् कृतवान् । विभूतिरूपेषु साधनानि फलानि च व्यवस्थया कृतानि, पूर्णफलदानं च स्वस्मिन् । अतो भजनं

आवरणभङ्गः ।

तत्रेत्यादि । ननु भवत्वेवमेकवाक्यता, तथापि सर्वपुराणेषु भगवत एव तत्तद्रूपेण प्रतिपादनात् साधनफलयोर्भक्तिमोक्षयोः सर्वत्र तौल्यमिति कथं श्रीभागवतस्यैव सन्देहवारकत्वमित्याकाङ्क्षायां तत्र प्रमेये अवान्तरयोः साधनफलयोर्निर्णयं वक्तुं भक्तिमार्गरूपे साधने भजनीयस्वरूपविचारेण फलतारतम्यमाहेत्यर्थः । नन्वेकादशस्कन्धे भगवता, 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचिद्' इत्यत्र पूर्वं ज्ञानमेवोक्तम् । श्रुतावपि 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती'ति ज्ञानमेवोच्यत इति ज्ञानमार्गस्य श्रौतत्वात् पूर्वं तत्तारतम्यं कुतो नोच्यत इत्यत आहुः ज्ञानमार्ग इत्यादि । क्वापीति । विषये फले चेत्यर्थः । तर्हि कर्ममार्गस्य वक्तव्यमित्याकाङ्क्षायां तस्योपकारकत्वादिनाऽमुख्यत्वात् तमनादृत्य भक्तिमार्ग एवाहुः भक्तिमार्ग इत्यादि । तुः पूर्वपक्षनिरासे । ज्ञानमार्गवदविशेषो नेत्यर्थः । तत्र हेतुः यथेत्यादि । तथेति । क्रीडार्थम् । स्वार्थमिति । स्वप्राप्त्यर्थम् । पृथगिति । प्रकारान्तरीयभक्तिमार्गाद् विलक्षणम् । स्वार्थं पृथकरणे किं गमकमित्यपेक्षायां 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता' इत्यादिना सूचितं गमकमाहुः विभूतीत्यादि । विभूतिरूपेषु गीतायामेकादशस्कन्धे चोक्तेषु । व्यवस्थया कृतानि । नियतानि

योजना ।

'भजनं सर्वरूपेष्वि'त्यत्र भक्तिमार्गे तु न तथेति । न सर्वस्य पूर्णब्रह्मत्वमपि तु कृष्णस्यैवेत्यर्थः । यद्यपि भगवतः सर्वत्रान्वयेन सर्वस्यैव ब्रह्मत्वं, परं न पूर्णब्रह्मता, यतो भगवान् सर्वरूपोऽपि सन् सर्वस्मादतिरिच्यते । 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदे'ति वाक्यात्, सुबोधिन्यां तथा व्याख्यानात् । सर्वोऽपि पदार्थो न सच्चिदानन्दरूपः, किन्तु जीवस्तिरोहितानन्दः जडस्तिरोहितचिदानन्दः, अक्षरं ब्रह्म प्रकटसच्चिदानन्दत्वेऽपि गणितानन्दम्, अतः परिपूर्णं ब्रह्म क्षराक्षरातीतं पुरुषोत्तमशब्दवाच्यं श्रीकृष्णमेव भजेदिति भक्तिमार्गसिद्धान्तः । विभूतिरूपेष्वित्यारभ्य पूर्णफलदानं च स्वस्मिन्नित्यन्तम् । विभूतिरूपाण्येकं फलं ददति, भगवांस्तु मूलरूपः सर्वफलदः । द्वितीयस्कन्धे 'ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पति'मित्यादिनैकैकदेवतानामेकैकफलदत्वमुक्त्वा 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुष पर'मित्यनेन सर्वफलदत्वस्य पुरुषोत्तमे प्रतिपादनात् । तथा चान्यदेवेषु तावन्मात्रसामर्थ्यादेकैकफलदत्वम् । तदपि कृष्णानुग्रहात् । 'लभते च ततः कामान्मयैव विहितानि'ति वाक्यात् ।

१ दातृत्वेति ङ. पु. २ ण्णदत्तम् ङ. ।

आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया ॥ १३ ॥

मूलरूप एव कर्तव्यम्, ततः किं स्यादित्याशङ्क्याह सायुज्यकाम्ययेति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यत्र यत्सायुज्यं मुख्यतया निरूपितं, तत्कामनायां सत्यां कृष्ण एव

आवरणभङ्गः ।

कृतानि । इदमेव च ब्राह्मे समाप्तिदशायां मायानुकीर्तनाध्याये व्यास आह अन्यदेवेषु या भक्तिः पुरुषस्येह जायते । कर्मणा मनसा वाचा तद्गतेनान्तरात्मना । तेन तस्य भवेद् भक्तिर्यजने मुनिसत्तमाः । स करोति ततो विप्रा भक्तिं चाग्नेः समाहितः । तुष्टे हुताशने तस्य भक्तिर्भवति भास्करे । पूजां करोति सततमादित्यस्य ततो द्विजाः । प्रसन्ने भास्करे तस्य भक्तिर्भवति तत्त्वतः । सेवां करोति विधिवत् स तु शम्भोः प्रयत्नतः । तुष्टे त्रिलोचने तस्य भक्तिर्भवति केशवे । सम्पूज्य तं जगन्नाथं वासुदेवाख्यमव्ययम् । ततो मुक्तिं च मुक्तिं च स प्राप्नोति द्विजोत्तमाः' इति भगवतो मूलरूपत्वञ्च गीतायां 'यस्मात् क्षरमतीतोऽहमि'ति, कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति प्रथमस्कन्धे च स्फुटम् । ब्रह्मवैवर्ते ब्रह्मखण्डे च द्वितीयाध्याये गोलोकं तस्य नित्यत्वञ्चोक्त्वा, तन्मध्ये ज्योतिर्योगिध्येयमुक्त्वा, 'तज्ज्योतिरन्तरे रूपमतीव सुमनोहरम् । नवीननीरदश्यामं रक्तपङ्कजलोचनम् । कोटिकन्दर्पलावण्यं लीलाधाम मनोहरम् । द्विभुजं मुरलीहस्तं सुस्मितं पीतवाससम्' इत्यादिना स्वरूपमुक्त्वा, 'प्रकृतेः परमीशानं निर्गुणं नित्यविग्रहम्' इत्यादिना सर्वदा स्वतन्त्रत्वादिकञ्चोक्त्वा, तृतीयाध्याये तस्मात् प्रकृतिविष्णुशिवब्रह्मधर्मसरस्वतीलक्ष्मीदुर्गासावित्र्याद्युत्पत्तिकथनेन सम्पूर्णे पुराणे च तत्तदुपाख्यानैः प्रसिद्धमेवोक्तम् । एवमेव गोपालतापनीये च प्रसिद्धमिति, न चोद्यावकाशः । इदं यथा, तथोपपादितं मया विद्वत्करभिन्दिपाले,

योजना ।

'सायुज्यकाम्यये'त्यस्य व्याख्याने यत्सायुज्यं मुख्यतयेति । 'सोऽश्नुते सर्वान् कामानि'त्युक्तं भगवता सह कामाशनरूपं सायुज्यं यदि वाञ्छितं, तदा कृष्णः सेव्यः । कृष्णसेवयैव तादृक्सायुज्यप्राप्तिर्भवतीति भावः । इदमेव सायुज्यं सेवाफलविवरणे पुष्टिसेवायाः फलत्वेनालौकिकसामर्थ्यशब्देनोक्तम् । एतदेव सायुज्यं भाष्ये नित्यलीला प्रवेशशब्देनोच्यते इति सर्वेषामेकवाक्यता ज्ञेया । सेवाफलविवरणे सेवोपयोगि देहसायुज्ये मर्यादासेवायाः फलत्वेनोक्तेः । एवं च सायुज्यं मर्यादापुष्टिफलभेदेन द्विविधं बोध्यम् । अत्रेदं विचार्यते—शुद्धाद्वैतवादोऽस्माकम्, अतो महादेवसूर्यदुर्गागणेशभजने च विशेषो न स्यादिति चेद्, न, फले तारतम्यात् । अतः सर्वत्र भगवता सहाभेदेऽपि मूलरूपस्य कृष्णस्यैव भजनं कार्यम् । अत एव श्रीमदाचार्यैरुक्तम्—"ज्ञानमार्गे न कोऽपि विशेषः क्वापि' वक्ष्यति च 'अखण्डं कृष्णवत्सर्व'मिति, भक्तिमार्गे तु न

१ सर्वनिर्णये । २ फलेति न ख. पु. । ३ अत्र सर्वत्र फलभेदेऽपीति ङ ।

सेव्यः । कृष्णपदेन च बहिर्भजनमेव मुख्यमिति निरूपितम् । 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इति तु ज्ञानमार्गे ॥ १३ ॥

आवरणभङ्गः ।

प्रहस्ते चातो विशेषजिज्ञासायां ततोऽवधेयम् । एवं साधननिष्कर्षमुक्त्वा फलनिष्कर्षं वक्तुं पदान्तरमवतारयन्ति तत इत्यादि । ननु सायुज्यं ब्रह्मैक्यं, तच्च ज्ञानेनापि प्राप्यत इति कृष्णभजने को विशेष इत्यपेक्षायां सायुज्यं विवृण्वन्ति ब्रह्मविदित्यादि । तथाच, यद्यपि सायुज्यपदमैक्ये प्रसिद्धं, तथाऽप्युक्तयजुर्व्याख्यानर्चि, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणे'ति ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगस्य परप्राप्तिपदार्थत्वेन विवृतत्वात् । सायुज्यपदं सह युनक्तीति सयुक्, तद्भावः सायुज्यमिति योग एव ग्राह्य इति तथेत्यर्थः । नन्वेवंसति साधनमपि तदेव ग्राह्यमित्यत आहुः कृष्णपदेनेति । आविर्भूते भगवति कृष्णे बहिर्भजनादेव तादृशफलसिद्धेः सर्वनिर्णायके, श्रीभागवते प्रतिपादितत्वाद् गोपालतापनीये च, 'रामस्य राममूर्ति'रित्यादिना मथुरास्था द्वादशमूर्तीरुपक्रम्य 'ता ये यजन्ति ते मृत्युं तरन्ति' 'मुक्तिं लभन्त' इत्यादिश्रावणाच्च तथेत्यर्थः । एवञ्च, भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते' इति वक्ष्यमाणत्वादलौकिकसामर्थ्यरूपं वरणमात्रसाध्यं मुख्यं तत्फलमनुक्त्वा, बालानुशासनन्यायेन सेवाफलं मध्यममत्रोक्तमिति ज्ञेयम् । नन्वेवं सति श्रुतिव्याकोप इत्यत आहुः यो वेदेत्यादि । तथाचात्र तन्मार्गानुसारि साधनं निरूप्यते, न तु भक्तिमार्गीयं साधनं निषिध्यते । गोपालतापनीयश्रुतौ च 'इति सकलं परं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवती'ति फलसम्बन्धः श्राव्यते । अतस्तथेत्यर्थः ॥ १३ ॥

योजना ।

तथेति" । अत एव 'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् । स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् । अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसा'मित्यनेन गीतासु भगवता 'यां यां तनु'मिति तनुशब्दोपादानेन तासां देवतानां स्वतनुत्वेन स्वाभेदं प्रतिपाद्य 'अन्तवत्तु फल'मित्युक्त्या नश्वरफलदातृत्वमवादि । अतः पशुपुत्रादिफलेप्सुभिर्देवतान्तरभजनं कार्यम् । अनश्वरभगवच्चरणारविन्दलाभेप्सुभिः कृष्णभजनमेव कार्यमिति भगवतोऽभिप्रायः । एतदेव श्रीमदाचार्यैर्निर्धार्योक्तम्—"भजनं सर्वरूपेषु फलसिद्ध्यै तथापि तु । आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यये"ति । इदं त्ववधेयम्—अस्मिन्मार्गे देवतान्तरोपासने दोषः, अनन्यत्वभङ्गप्रसङ्गात् । 'भजते मामनन्यभागि'ति भगवद्वाक्यात् । न चैवं नित्यनैमित्तिककर्मकरणे देवतानां

ननु सर्वत्रैव तत्तद्देवतासायुज्यं फलत्वेन श्रूयते, ततो विशेषः क इति चेत्तत्राह—

निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा साऽन्यसेवया ।

निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धीति । सायुज्यं मुक्तिः । निर्गुणे सायुज्ये निर्गुणा भवति, सगुणे सगुणा । भगवद्व्यतिरिक्ताः सर्वे एव कालपर्यन्तं सगुणाः । कालोऽपि गुणानुरोधीति सगुणप्रायः । अक्षरस्य प्रकारस्तु वक्तव्यः । 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' इति, 'तं भजन्निर्गुणो भवेत्' इति वाक्यात् कृष्णसायुज्यमेव निर्गुणा मुक्तिः । अक्षरज्ञानमार्ग-

---

आवरणभङ्गः ।

किञ्चिदाशङ्कन्ते नन्वित्यादि । श्रूयत इति । "एतासामेव देवतानाꣳसायुज्यꣳ सार्ष्टिताꣳ समानलोकतामाप्नोति य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छती"त्यादौ श्रूयत इत्यर्थः । ननु कालस्य तत्त्वकोटावनिवेशस्याग्रे व्यवस्थाप्यत्वात् कथं सगुणत्वमित्यत आहुः कालोऽपि गुणानुरोधीति । "गुणव्यतिकराकार" इत्यत्र तृतीयस्कन्धे तथात्वस्य स्फुटत्वात् तथेत्यर्थः । ननु मास्तु कालस्य तथात्वं, तथापि गुणानुरोधिनो निर्गुणस्याऽक्षरस्य ज्ञानादेव निर्गुणा मुक्तिर्भविष्यतीति चेत् तत्राहुः अक्षरस्येत्यादि । वक्तव्य इति । अनुपदं वक्तव्यः । तर्हि कृष्णभजने निर्गुणा मुक्तिरित्यत्र किं मानमत आहुः मन्निष्ठमित्यादि । वाक्यद्वयेन ज्ञानस्य भक्तस्य च यथायथं निर्गुणत्वमुक्तम् । तेन प्रारम्भे फलदशायाञ्च नैर्गुण्यं बोधितम्, अतस्तथेत्यर्थः । अतः परमक्षरस्य प्रकारं वक्तुं तस्य ज्ञानतुल्यतामाहुः अक्षरेत्यादि ।

योजना ।

वह्नीनां पूजनादिकं सम्भवत्येवेति कर्ममार्गस्त्यक्तव्य इति वाच्यम् । कर्ममार्गानुष्ठानेऽनन्यत्वभङ्गाभावात् । वेदोक्तकर्ममार्गे हि न कस्यापि देवस्य प्राधान्यमपि तु कर्मण एव । तथा च कर्मणि क्रियमाणे तदङ्गभूता देवाः पूज्यन्ते अङ्गीभूतं कर्म तु भगवद्रूपमेव । 'धर्मो यस्यां मदात्मकः' इति भगवद्वाक्यात् । 'देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः । देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः' इति दशमे याज्ञिकवाक्याच्च । अत एव भगवद्गीतासूक्तम्—'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च । कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्'िति । अतः कर्ममार्गे देवतान्तरप्राधान्याभावात् कर्माधिष्ठातुर्भगवत एवेज्यत्वात्कर्ममार्गो न त्यक्तव्यः, किन्तु गुणदोषविचारमकृत्वा केवलं स्वाम्याज्ञाप्राप्तत्वात्फलाशां विहाय नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानं कर्तव्यम् । तत्रापि कर्मणो भगवद्रूपत्वं बुद्ध्वा तत्र पूज्यमानानां देवतानां पुरुषोत्तमांशत्वं ज्ञात्वा कर्तव्यम् । पञ्चमस्कन्धे भरतयज्ञप्रसङ्गे 'स यजमानो यज्ञभागभुजो देवाँस्तान् पुरुषावयवेऽभ्यध्यायदि'तिवाक्यात् । तथा सति कर्ममार्गेऽनन्यताया अनिवारणाद्भक्तिमार्गे कर्मकरणं न बाधकम् । अत एव सर्वोत्तमे 'कर्ममार्गप्रवर्तकः' इत्याचार्यवर्याणां नामधेयम् । देवताप्रीत्युद्देशेन तत्तद्देवतायाः प्रधानभूताया मन्त्रजपादिकरणं तूपासनामार्गः । स च दोषावहः, अन्याश्रयरूपत्वात् । अत एव 'उपासनादिमार्गातिमुग्धमोहनिवारकः' इत्याचार्यवर्याणां नामेति दिक् ॥ १३ ॥

ज्ञानेऽपि सात्त्विकी मुक्तिर्जीवन्मुक्तिरथापि वा ॥

योरेकत्वाद्वयमेकेन समाहृतम् । ज्ञानेऽपि सात्त्विकी मुक्तिरिति । ज्ञानमार्गः सगुण एव, 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्' इति वाक्यात् । अत एव ज्ञानिनो भीताः संसाराद्विरक्ता भवन्ति । एवं ज्ञानमार्गे प्रवृत्तस्य सगुणत्वमुपपाद्य ज्ञानसम्पत्तियुक्तस्य न सगुणत्वमित्याशङ्क्याह जीवन्मुक्तिरथापि वेति । वेत्यनादरे । मुख्यपक्षे तु

आवरणभङ्गः ।

अक्षरं कूटस्थं, श्रवणादिभिस्तत्साक्षात्कारो ज्ञानमार्गस्तयोरेकत्वात् फलतोऽभेदाद् द्वयमक्षरं ज्ञानमार्गश्चैकेन ज्ञानप्रकारकथनेन समाहृतं सङ्गृहीतमित्यर्थः । तथाच ज्ञानमार्गे या मुक्तेर्व्यवस्था सैवाक्षरोपासनेऽपीत्यर्थः । तदुपपादयन्ति **ज्ञानमार्ग** इत्यादि । तथाच 'विद्या सात्त्विकी'ति 'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञान'मिति वाक्यात्, तादृशज्ञाने सति, "यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः" इति वाक्योक्तविरागे या मुक्तिः सा तथेत्यर्थः । अत्र गमकमप्याहुः **अत एवे**त्यादि । **भीता** इति । गुणानां परस्परोपमर्दकत्वेनेतरतः सत्त्वोपमर्दभीता इत्यर्थः । अन्यथा, "स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना" इतिवत् स्यादित्यर्थः । **ज्ञानसम्पत्तियुक्तस्ये**ति । जातविद्यस्य **जीवन्मुक्ति**रिति । 'असक्तबुद्धिः सर्वत्रे'त्यादिवाक्योक्तोऽध्यासाभावः । **अनादर** इति । जीवभावस्य विद्यमानत्वेन तस्य विद्याऽविद्यावशगत्वेन, तयोश्च परस्परोपमर्दकत्वेन सापायत्वाच्चरमवृत्तिपर्यन्तं गुणसत्त्वाच्चास्य पक्षस्य गौणत्वात् तथेत्यर्थः । तर्हि मुख्यपक्षे कुतो न सगुणत्वमित्याकाङ्क्षायां भक्तिमार्गप्रवेशात्तथेति वक्तुमाहुः **मुख्यपक्ष** इत्यादि । 'अक्षरधियामि'ति सूत्रे भगवत्कृपया तस्य गुणातीतभक्तौ प्रवेशस्य तदभावे च तदभावस्य विचारितत्वात् तथेत्यर्थः । तर्हि कथं भक्तिमार्गो-

योजना ।

जीवन्मुक्तिरथापि वेति मूले । जीवन्मुक्तिरपि सगुणेत्यर्थः । येषां ज्ञानिनां ब्रह्मभावे पर्यवसानं, ब्रह्मभावानन्तरं भक्तिर्नोत्पन्ना ते सगुणा इत्यर्थः । एतस्यैव विवरणं 'तदभावे केवलं जीवन्मुक्ता भवन्तीति सनकादितुल्याः सगुणा एवे'त्यनेन टीकायां कृतम् । ये पुनः प्राप्तब्रह्मभावाः सन्तो भजन्ति, ते तु निर्गुणा एव । तत्र नैर्गुण्यभक्तेरेव महिमा, न तु ज्ञानस्य । अन्यथा केवलज्ञानिनामपि नैर्गुण्यमुक्तं स्यात् । अतो भक्तियुक्तानामेव ज्ञानिनां नैर्गुण्यम्, केवलानां तु सात्त्विकत्वमेव 'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञान'मित्येकादशवाक्यात् । अत एवोक्तमत्रैव टीकायां 'तदभावे केवलं जीवन्मुक्ताः सनकादितुल्याः सगुणा एवे'ति । सर्वनिर्णयप्रकरणे अक्षरनिरूपणे 'तदुपासनया ज्ञानात्परमात्मत्वमस्य ही'त्यनेन यदक्षरोपासनया परमात्मत्वमुक्तं तदपि ये ज्ञानिनो ब्रह्मभावानन्तरं भक्तिं लभन्ते तानुद्दिश्योक्तमिति ज्ञेयम् । प्रायो ब्रह्मभावानन्तरं भक्तिर्भवत्येव । 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परामि'ति वाक्यात् । एतदभिसन्धायैवोक्तं श्रीकृष्णचन्द्रेण 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति । परन्तु भक्ताः सन्तः प्राप्नुवन्तीत्यभिप्रायज्ञापकं 'सर्वभूतहिते रताः'इति विशेषणम् । अतो भक्तिमार्गैकप्राप्यः पुरुषोत्तमो,

१ समाधत्ते. मू. पु. ।

ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः ॥ १४ ॥

'समासेनैव कौन्तेय' इति वाक्यसन्दर्भे ब्रह्मभावनानन्तरं भक्तिर्भवतीति गुणातीत एव प्रवेशः । 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इति वाक्यात् । तदभावे केवलं जीवन्मुक्ता भवन्तीति सनकादितुल्याः सगुणा एव । इममेव विशेषं वक्तुं भगवानाह 'सर्वभूतहिते रता' इति । अत एव शुकादीनां भक्तिमार्गोपदेशनद्वारा सर्वभूतहिताचरणम् । यस्तु पूर्वं ज्ञानमार्गे प्रवृत्तः प्राप्तज्ञानः कृष्णसेवार्थं यतते तन्निष्ठां परित्यज्य, स महानित्याह ज्ञानी चेद्भजते कृष्णमिति । यद्यपि ज्ञानमार्गेऽपि विषयो निर्गुणस्तथापि मार्गः सगुण इति भक्तिमार्गस्योत्कर्षः । क्रियाशक्तेरिन्द्रियाणां च वैफल्यं ज्ञानमार्गे । तस्माद्भक्तिमार्गानुसारेण कृष्ण एव सर्वेषां सेव्य इति निरूपितम् ॥ १४ ॥

आवरणभङ्गः ।

न्यूनत्वमित्यत आहुः तदभाव इत्यादि । तथाच 'ये त्वक्षरमि'त्यादिना फलप्राप्तिपर्यन्तं सगुणत्वात् तथेत्यर्थः । इममेव विशेषमिति । जीवन्मुक्तिपर्यन्तं सगुणत्वं, ततो भक्त्या निर्गुणत्वमित्येवं रूपं गौणमुख्ययोः केवलज्ञानिज्ञानिभक्तयोर्विशेषमित्यर्थः । परिचायकमाहुः अत एवेत्यादि । तेन सनकाद्यपेक्षया शुकादयो मुख्या ज्ञानिन इत्यर्थः । तेन फलितं वक्तुमग्रिममवतारयन्ति यस्त्वित्यादि । इदमपि तत्रैव सूत्रे फलभेदात् स्पष्टम् । तथाच श्रुतौ यज्ज्ञानस्योत्कर्षनिरूपणं तद्भक्त्युत्कर्षार्थमेवेत्यर्थः । अत्र सार्द्धचतुष्टये अयमर्थः सम्पद्यते । एकादशस्कन्धे, 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचिद्' इत्यादिना विरक्तकामितद्भिलक्षणानामर्थे यथायथं ज्ञानकर्मभक्तिप्रणयनकथनेऽप्युत्तरमीमांसायां कर्ममार्गस्य ज्ञानाद्यङ्गत्वसाधनादुत्कर्षौ द्वौ मार्गौ, तयोरन्ततः फलभेदाभावेऽपि ज्ञानस्य पूर्वकक्षात्वमेव । 'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' 'अथैतत्परमङ्गुह्य'मित्यादिवाक्यैर्भक्त्युत्कर्षप्रतिपादनेन, 'समासेनैव कौन्तेये'तिवाक्यसन्दर्भे ज्ञानपरमनिष्ठाकथनेन च सन्देहवारणात् । नचैषां नैर्वल्यम् मीमांसावत् सन्देहवारणार्थत्वेन तदभिन्नत्वादित्युक्तम् । एवं सति यदत्र प्रतिपाद्यते, स एवार्थश्चतुर्लक्षण्यामपि सिद्ध्यति । तत्र समन्वये सर्वशब्दैर्भगवानेवाभिधीयत इत्युक्त्वा, अविरोधे मतान्तरनिराकरणपूर्वकं सम्वादिनां शेषत्वं सर्वश्रुत्यविरोधञ्च सम्पाद्य साधनाध्याये आदित्यादिमतीनां माहात्म्यप्रतिपादनद्वारा भक्त्युत्पादनेनाङ्गत्वं भक्तिजनितसर्वात्मत्वस्फूर्तिरूपविद्याया मुख्यसाधनत्वञ्च प्रतिपाद्य फलाध्यायसमाप्तिचरणे स्वाभिन्ननित्यलीलाविशिष्टस्य भगवत एव फलत्वं प्रत्यपादीति भाष्ये सिद्धेः । नचोपासनायाश्चित्तशुद्धिहेतुत्वं शक्यवचनम् । तद्बोधकवाक्येषु नानायोजना ।

ज्ञानमार्गेण त्वक्षरमेव प्राप्यते । एवं सति शास्त्रार्थप्रकरणसर्वनिर्णयप्रकरणस्थवाक्यानामविरोधः सिद्ध्यति । इदमेव भाष्ये सिद्धान्तितम् । मूले 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' इति । 'चतुर्विधा भजन्ते मा'मिति सन्दर्भे 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत'मिति भगवद्वाक्यादिह ज्ञानिशब्देन ज्ञानी भक्तो, न तु केवलज्ञानी, प्रकरणात् । 'नास्त्यधिकः परः' इति । शास्त्र-

नन्वेवं सति कथं न सर्वे सेवन्त इत्याशङ्कायामाह—

बुद्धावतारे त्वधुना हरौ तद्वशगाः सुराः।
नानामतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनम्॥

बुद्धावतार इति। तुशब्दः शङ्कां वारयति। कलिकालः स्वभावतः सर्वोत्कृष्टः, स्वल्पसाधनेनापि महाफलप्रदः। अतो दैत्यव्यामोहार्थं भगवान् बुद्धोऽवतीर्णः सर्वप्रमाणमूलभूतं वेदं दूषितवान्। ततः पुराणादिमार्गदूषणार्थं तद्वशगाः सुरा अपि तथाऽनिषिद्धवेषमाश्रित्य ब्राह्मणानां बुद्धिनाशार्थं तेष्वेवाऽवतीर्य मोहनार्थं नानामतानि कुर्वन्ति, काणादन्यायमायावादादिरूपाणि। वाक्पेशलत्वान्मोहनरूपत्वम्। ननु

आवरणभङ्गः।

फलानां श्रूयमाणत्वेन तदनङ्गीकारे प्राप्तबाधाऽप्राप्तकल्पनयोः प्रसक्तेः, अतः 'फलमत उपपत्ते'रिति न्यायेन फलदातृत्वं तेनापि रूपेण भगवत एवेति माहात्म्यसिद्धौ तया प्रनाड्या भक्तिसिद्धेरेव तेष्वभिप्रेतत्वात्। एवं सति पूर्वकाण्ड इवात्रापि बालानुशासनन्यायेन रोचनार्थैव फलश्रुतिरिति दिक्। एवमेव श्रुतावपीत्यग्रे उपपादयिष्यते। तेन प्रकारेण सुबोधिनीभाष्यादीनामनयैव दिशैकवाक्यत्वं बोध्यमिति॥ १४॥

प्रकृतमनुसरामः। एवं साधनफलनिष्कर्षकथनमुखेनाङ्गाङ्गिभावं समर्थयित्वा एवमर्थानभिज्ञानां भ्रान्तत्वं बोधयितुमग्रिममवतारयन्ति नन्वित्यादि। नन्वसङ्गतमिदं, कलिनैव मोहसम्भवादित्यत आहुः तुशब्दः शङ्कामिति। कालकृतमोहशङ्कामित्यर्थः। तथाच यदि कलिनैव तथा स्याद् बुद्धावतारो न स्यादिति भावः। कुत एवमित्याकाङ्क्षायां कलेर्गुणमाहुः कलिकाल इत्यादि। 'कलेर्दोषनिधे'रित्यादि वाक्यात् तथेत्यर्थः। ननु धर्मस्थापनाय भगवानवतरतीति कथमयमवतार इत्यत आहुः अतो दैत्येत्यादि। तथाच, "वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हानि"ति वाक्यादत्रापि तथात्वमेवेत्यर्थः। तर्हि बौद्धास्तथा भवन्तु, न त्वन्येऽपीत्यत आहुः तत इत्यादि। काणादेत्यादि। तथोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे गुणत्रयविवरणाध्याये शिवेन, "शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम्। येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि। प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम्। मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः सम्प्रोक्तानि ततः परम्। कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्। गौतमेन तथा न्यायं साङ्ख्यं तु कपिलेन वै। धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम्। दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा। बौद्धशास्त्रमसत् प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम्। मायावादमसच्छास्त्रं

योजना।

विहितभक्तौ ज्ञानिभक्तात्परोऽधिको नास्ति। चतुर्षु एतस्यैव भगवता प्रशंसितत्वात्। पुष्टिभक्तस्तु ज्ञानिभक्तेभ्योऽधिक एव "भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा। भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा"इत्युद्धववाक्यात्। "नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनामात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह"इति श्रीशुकवाक्याच्च। अत एव सर्वनिर्णये वक्ष्यन्ति "भक्तिः शुद्धा स्वतन्त्रा च दुर्लभेति न सोच्यते" इति॥ १४॥

यथाकथञ्चित्कृष्णस्य भजनं वारयन्ति हि ॥ १५ ॥

तेषां शास्त्राणां मुक्तिः फलम्, तथैव तत्र तत्र प्रतीयते, तत्कथं मोहनफलमिति चेत्तत्राह–यथाकथञ्चिदिति । वैदिके मार्गे जागरूके पौराणिके च तेनैव मार्गेण स्वयम्भूपित्वं देवत्वं च प्राप्ताः किमित्यन्यथा वेदविरोधेन शास्त्रमवादिषुर्यदि मुक्तिरेव सम्पाद्या स्यात् । अतः सिद्धे राजमार्गेऽपि पुनः स्वयमतिक्लेशेन यच्छास्त्राणि कृतवन्तः, अतो ज्ञायते मोहार्थमेव शास्त्रकरणम् । नापि तथाकरणे भगवतो विसम्मतिः, भगवतैव तथा ज्ञापनात् ।"त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय । अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज । प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरु । इति वाराहवचनं ब्रह्माण्डोक्तं तथापरम् । अमोहाय गुणा विष्णोराकारश्चिच्छरीरता । निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि चोच्यते । एतद्विरुद्धं यत्सर्वं तन्मोहायेति निश्चयः । उक्तं

टिप्पणी ।

अमोहायेति । पुरुषोत्तमस्य गुणा ऐश्वर्यादयः, आकारश्चिदानन्दमयदेहः, एवं ज्ञानरूपं भगवद्भजनतारतम्यं स्यात्, तथा निर्दुष्टा जीवन्मुक्ताश्च भवन्ति, यद्भजनेन निर्दोषत्वम् । तस्य निर्दोषत्वे कः सन्देह इति भावः । उक्तमिति । शैव एव तु शिवेन समं हरिणा यदुक्तं तत्पश्चादुमायै हरः प्राह; इदं पाद्मपुराणे उक्तमित्यन्वयः ॥ १५ ॥

आवरणभङ्गः ।

प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते । मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा । अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयँल्लोकगर्हितम् । कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्रैव प्रतिपाद्यते । सर्वकर्मपरिभ्रष्टं विकर्मत्वं तदुच्यते । परेशजीवयोरैक्यं मयाऽत्र प्रतिपाद्यते । ब्रह्मणश्च परं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया । सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे । वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् । मयैव वक्ष्यते देवि जगतां नाशकारणात् । द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमपार्थतः । निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम् । शास्त्राणि चैवं गिरिजे तामसानि निबोध मे" इति । किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति ननु तेषामित्यादि । कुत्र भगवताऽऽज्ञप्तमित्याकाङ्क्षायां नानापुराणेषु तत्प्रसिद्धमिति हृदिकृत्याहुः । त्वञ्च रुद्रेत्यादि । इदं वचनं वाराहे प्रागितिहासे रुद्रगीतास्वस्ति । ननु स्वाऽप्रकाशकरणाऽऽज्ञापनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां पुराणान्तरात्तद्बीजमाहुः ब्रह्माण्डेत्यादि । अमोहायेति । वाक्यार्थस्तु, विष्णोर्भगवतो गुणा ऐश्वर्यादयः सत्यादयश्च अमोहाय, ब्रह्म निराकारं, साकारं वा, शिवादिरूपं वेत्यादिभ्रान्तिनिरासाय, सांसारिकमोहनिरासाय च । कथममोहायेत्याकाङ्क्षायामुदाहरणम्, आकार इत्यादि । निर्दोषत्वमित्यादि च । तथाच भगवतः प्रकाशत्वे काणादमायावादाद्युक्तप्रकारको मोहो न स्यादिति तथेत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः एतदित्यादि । नह्येवमाज्ञापनमेकस्मिन्नेव कल्पे, अपितु नानाकल्पेष्विति ज्ञापनायाहुः उक्तमित्यादि । च पुनः, हरिणा

पद्मपुराणे च शैव एव शिवेन तु । यदुक्तं हरिणा पश्चादुमायै प्राह तद्धरः । त्वामाराध्य तथा शम्भो ग्रहीष्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा", एतदभिसन्धायाह यथाकथञ्चित्कृष्णस्येति । ते ह्यलौकिकद्रष्टार एवं मायावादाद्यनुसारेण शास्त्रे कृते लोका भगवद्बहिर्मुखा भविष्यन्तीति तथा कृतवन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

ननु मुग्धाश्चेत्संसारेऽपि भ्रान्ता इव पशुपुत्रादिषु कथं न मुग्धा जायन्ते तत्राह—

अयमेव महामोहो हीदमेव प्रतारणम् ।
यत्कृष्णं न भजेत् प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरः कृती ।
तेषां कर्मवशानां हि भव एव फलिष्यति ॥ १६ ॥

अयमेव महामोह इति । न ह्यल्पार्थे तेषां प्रवृत्तिः । महामोहस्त्वयमेव यत्क्रियाज्ञानशक्तिसद्भावेऽपि कृष्णं न भजेत् । परप्रतारणं चैतदेव । यतस्तं महान्तं मन्वाना अभजन्तं दृष्ट्वा स्वयमपि न भजन्ते । प्राज्ञ इति ज्ञानशक्तिप्राबल्यम् । शास्त्राभ्यासपर इति मिथ्याज्ञानाभिनिवेशः । साधनसम्पत्तिर्वा । कृतीति क्रियासामर्थ्यम् । एवं शास्त्रकरणाद्बहवो विमुखा जाता इति निरूप्य, तथापि भगवत्सेवकोक्तप्रकारेण प्रवृत्ता इति सत्फलमेव भविष्यतीत्याशङ्कयाह तेषां कर्मवशानां हीति । नहि शास्त्रकर्तारो बलात्कञ्चन प्रवर्तयन्ति, नापि महान्त एत इति कश्चित्तत्र प्रवर्तते, किन्तु दुरदृष्टवशात्तदुक्तेऽर्थे श्रद्धा जायते । अन्यथा सर्वसम्मतं वेदं परित्यज्य तत्र कथं प्रवृत्ताः स्युः । अतः प्रारब्धवशादेव तत्र प्रवृत्ताः संसारमेव फलमाभूतसम्प्लवं प्राप्स्यन्ति । 'सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा' इति वाक्यात् । भगवद्विरोधाचरणे तु नरकेऽपि पातः । भवः संसारो दुःखात्मकः फलिष्यति ॥ १६ ॥

आवरणभङ्गः ।

यदुक्तं तत् पश्चादुमायै हरः प्राह । तत् पद्मपुराणे च, शैवे शिवोक्ते विष्णुसहस्रनामस्तवे शिवेनोक्तमिति सम्बन्धः । ईदृशी कथा वाराहे रुद्रगीतास्वप्यस्ति । तथाहि—विष्णुरुवाच "सर्वज्ञस्त्वं न सन्देहो ज्ञानराशिः सनातनः । देवानां च परः पूज्यः सर्वदा त्वं भविष्यसि । एवमुक्तः पुनर्वाक्यमुवाचोमापतिर्मुदा । अन्यं देहि वरं देव प्रसिद्धं सर्वजन्तुषु । मूर्तो भूत्वा भवानेव मामाराधय केशव । मां वहस्व च देवेश वरं मत्तो गृहाण च । येनाऽहं सर्वदेवेश पूज्यात् पूज्यतरो भवे" । विष्णुरुवाच "देवकार्यावतारेषु मनुष्यत्वमुपागतः । त्वामेवाराधयिष्यामि त्वं च मे वरदो भव । यत् त्वयोक्तं वहस्वेति देवदेव उमापते । सोऽहं वहामि त्वां देव मेघो भूत्वा शतं समाः" इति । ॥ १५ ॥

प्रकृतमनुसरामः । किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि । न ह्यल्पार्थ इति नाल्पमोहार्थे किन्तु महामोहार्थ इत्यर्थः । तत्र गमकमाहुः महामोह इत्यादि । मानन्तूक्तमेव । स्फुटमग्रे ॥ १६ ॥

ननु तानि शास्त्राणि ज्ञानप्रतिपादकानि, क्वचित्कर्मप्रतिपादकानि चिपश्च्चश्च क्वचिद्भक्तिप्रतिपादकानि च, कथं मोहप्रतिपादकानीत्याशङ्क्याह—

ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत् ।
कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा चित्तं प्रसीदति ।

ज्ञाननिष्ठेति सार्द्धेन । यत्तत्त्वमस्यादिवाक्योपदेशेनैवाऽपरोक्षं ज्ञानमुत्पद्यत इति ज्ञानदुर्बलान् व्यामोहयितुमुक्तवन्तः, तन्न ज्ञानम् । तथा सति सर्वज्ञता स्यात् । 'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितम्' इति कर्मणीव ज्ञानेऽपि निदर्शनानामुक्तत्वात् । यथा कारीर्यामश्वमूत्रणादिकम्, यथा वा दीर्घसत्रारम्भेऽपूपदाहः तथा ज्ञानेऽपि सर्वज्ञत्वम्, तेजोऽपि निदर्शनम्, तस्मान्नैतज्ज्ञानमिति ज्ञातव्यमित्येतदर्थमाह सर्वज्ञो हि यदा भवेदिति । नापि तदुक्तप्रकारेण कर्माणि फलं प्रयच्छति, यज-

टिप्पणी ।

यथा वा दीर्घसत्रारम्भ इति । अह्नां विधान्याम् "एकाष्टकायामपूपं चतुःशरावं पक्त्वा प्रातरेतेन कक्षमुपौषेद्यदि दहति पुण्यसमं भवति यदि न दहति पापसममेतेन ह स्म वा ऋषयः

आवरणभङ्गः ।

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति ननु तानीत्यादि । निदर्शनानामिति । "य एवं वेद प्रतितिष्ठती"त्यादीनां ग्रहणाय बहुवचनम् । अपूपदाह इति । "अह्नां विधान्यामेकाष्टकायामपूपं चतुःशरावं पक्त्वा प्रातरेतेन कक्षमुपौषेद् यदि दहति पुण्यसमं भवति यदि न दहति पापसममेतेन ह स्म वा ऋषय पुरा विज्ञानेन दीर्घसत्रमुपयन्ती"त्युक्तः स इत्यर्थः । श्रुत्यर्थस्तु, एकाष्टका नाम माघकृष्णाष्टमी । सा च "एषा वै सम्वत्सरपत्नी यदेकाष्टके"ति श्रुत्यन्तरे सम्वत्सरपुरुषपत्नीत्वेन श्रावणादह्नां प्रतिपदादितिथीनां विधानी प्रवर्तयित्री, यद्वा, गवामयने सम्वत्सरसत्रे यान्यहान्यनुष्ठेयानि कर्माणि तेषामियं प्रवर्तयित्री । "सम्वत्सराय दीक्षिष्यमाणा एकाष्टकां दीक्षेर"न्निति श्रुतेः । द्विप्रस्थः शरावः । तादृशशरावचतुष्टयपरिमितद्रव्यनिर्मितमपूपमेकाष्टकायां पक्त्वा तेन परेद्युः प्रातररण्ये कक्षं जीर्णतृणमुपौषेद् अपूपस्योपर्युल्मुकं प्रक्षिप्य तदुपरि कक्षं निक्षिप्य दहेदेवं कृते यद्यपूपाग्निः कृत्स्नं दहति तदा तत् करिष्यमाणं कर्म पुण्यसमं समग्रं भवतीति । शेषं स्पष्टम् । तस्मादिति । एतदुभयाभावादित्यर्थः । तर्हि तदुक्तरीत्या कर्माणि तु फलिष्यन्तीत्यत आहुः नापीत्यादि । तत्र हेतूनाहुः यजेत्यादि । यजधातुसम्बन्धिनो भगवत्पूजारूपस्यार्थस्य स्वरूपस्या-

योजना ।

'कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेये'त्यस्य व्याख्याने यजधातोर्भगवत्पूजार्थत्वेति । यजदेवपूजासङ्गतिकरणदानेष्विति शब्दशास्त्राद्देवपूजार्थकत्वम् । देवशब्देन भगवानेव । न हि यजधातुनिष्पन्नयागशब्दवाच्यत्वं भगवद्भिन्नदेवतान्तरपूजायां सम्भवति । 'वासुदेवपरा मखाः' इति श्रीभागवते ब्रह्मवाक्यात्, 'मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यह'मित्येकादशे भगवद्वाक्याच्च । 'ऋतुधर्म्मे-मध्य यन्मयः' इति दशमस्कन्धे याज्ञिकवाक्यात् । 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' इति, 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव चे'ति भगवद्गीतावाक्यात् । 'यज्ञो वै विष्णु'रिति श्रुतेर्भगवतो यज्ञात्मकत्वेन

भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति ॥ १७ ॥

धातोर्भगवत्पूजार्थस्य स्वरूपाज्ञानेन वृथाकरणात्, यज्ञादीनामनित्यत्वभावनाच्च, श्रुत्युक्तप्रकारेण पदार्थज्ञाननिराकरणाच्च । अतो यागादिकमपि कृत्वा लुब्धा एव भवन्ति, न चित्तशुद्धिं लभन्ते । तथा भक्तिमार्गमपि ज्ञानशेषतयोपदिशन्ति, ज्ञानपर्यन्तं च तत्करणमित्याहुः । भावनाकल्पितं स्वं विषयस्याऽऽहुः । अतो भगवदर्थं भगवान् सेव्यत इति न कृष्णस्तुष्यति यदि सा भक्तिर्भवेत्कृष्णस्तुष्येत् । 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' इति वाक्यात् । तस्मात्तदुक्तप्रकारो व्यर्थ इत्यर्थः ॥ १७ ॥

ननु मुख्यफलाभावे तदुक्तप्रकारेण गौणं फलं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

निष्ठाभावे फलं तस्मान्नास्त्येवेति विनिश्चयः ।
निष्ठा च साधनैरेव न मनोरथवार्तया ॥ १८ ॥

निष्ठाभाव इति । न हि महागृहारम्भे सामिकृते ततः किञ्चित्फलमस्ति । न वा नदीतरणार्थं प्रवृत्तो हस्तमात्रावशिष्टेऽपि निमग्नः पारगमनं फलं प्राप्नोति । नन्वनेनाग्रे निष्ठैव भविष्यतीति चेत्तत्राह निष्ठा च साधनैरेवेति । वेदोक्तैरेव, न तु प्रतिष्ठार्थं व्याख्यानमनोरथवार्तया ॥ १८ ॥

टिप्पणी ।

पुरा विज्ञानेन दीर्घसत्रमुपयन्ति" इति श्रुतेः । विषयस्येति । भक्तिविषयस्य स्वरूपस्येत्यर्थः ॥१७॥

आवरणभङ्गः ।

ज्ञानेन वृथा करणादित्यर्थः । अनित्यत्वभावनादिति । कर्मणां त्रिक्षणावस्थायित्वाङ्गीकारेण तथा भावनादित्यर्थः । श्रुत्युक्तेत्यादि । "वायुर्वै क्षेपिष्ठे"त्यादौ देवतां शीघ्रगामिनीं ज्ञात्वैव कर्म कार्यमित्येतदर्थमयमर्थवाद इति तदनङ्गीकारेण तथेत्यर्थः । एवमेव तदुक्तरीत्या भक्तिरप्यप्रयोजिकेति बोधयितुमाहुः । तथा भक्तिमार्गमित्यादि । विषयस्येति । भक्तिविषयस्य भगवत्स्वरूपस्येत्यर्थः । तस्मादिति । निदर्शनविरुद्धतया तेषां ज्ञानाद्याभासरूपत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

गौणं फलं भविष्यतीति । 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छती'ति वाक्यादात्मसुखं ज्ञानं, दुःखात्यन्ताभावश्च भविष्यतीत्यर्थः । अग्र इति । जन्मान्तरे ॥ १८ ॥

योजना ।

तत्रेज्यमानानामिन्द्रादिदेवानां भगवदङ्गत्वात्तत्पूजाऽपि भगवत्पूजैवेत्यर्थः । चतुर्थस्कन्धे दक्षयज्ञप्रसङ्गे भगवत्स्तुतौ ब्राह्मणवाक्ये 'त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशस्त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च । त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशु'रित्यनेन देवतारूपत्वं भगवत उक्तम् । अत एवैतादृशं स्वरूपं यागस्य ज्ञात्वा यदि कर्म कुर्यात्, तदा चित्तशुद्धिर्भवति । तदा यजधातोर्देवपूजार्थकस्य भगवत्पूजैवार्थ इत्यपि सिद्ध्यति । ये त्वेतादृशस्वरूपमज्ञात्वा मायावादिनो वान्येऽवजानन्ति, ते न चित्तशुद्धिं लभन्त इति युक्तमेव । श्रुत्युक्तप्रकारेणेत्यादि । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इत्याद्युपनिषदुक्तयज्ञपदार्थनिराकरणादित्यर्थः । तेषां मते हि सर्वस्याप्यज्ञानहेतुकत्वान्न ब्रह्मरूपत्वं कस्यापीति न तादृग्ज्ञानेन चित्तशुद्धिरिति भावः ॥ १७ ॥

स्वाधिकारानुसारेण मार्गस्त्रेधा फलाय हि।

ननु त्रितयं किञ्चित् किञ्चिदनुष्ठितं फलं साधयिष्यतीत्याशङ्क्याह—स्वाधिकारानुसारेणेति। मार्गगता एव ज्ञानादयः फलदाः यथा, गोदोहनादयः कर्मगता एव। तथा तत्तत्साधनादिसहिता एव ते ज्ञानादयः फलदाः। अन्यथा प्रकरणभेदेन तन्निरूपणं न स्यात्।

अधुना त्वधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ।
कृष्णश्चेत् सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय हि॥ १९॥

ततः किमत आह अधुनेति। कालवशादेवाधिकारा निवृत्ताः। न साधनैः कर्तुं शक्यन्ते। नन्वेवं सति मुख्यभक्तिमार्गेऽपि समः समाधिरिति चेत्, तत्राह कृष्णश्चेत् सेव्यत इति। अवतीर्णो भगवान् सर्वमुक्त्यर्थमिति प्रमेयबलेनैव फलिष्यतीति स्वाधिकाराभावेऽपि ततः फलं भविष्यतीत्यर्थः। चेदिति सेवायां दुर्लभत्वमुक्तम्। भक्त्या, न तु विहितत्वेन। कलिस्तस्येति। कालस्त्वनुगुण एवेत्यर्थः। "कलौ तद्धरिकीर्तनादि"ति वाक्यात्। अतोऽधिकारेणानधिकारेण वा कृष्णभजनं कर्तव्यमिति सिद्धम्॥१९॥

सर्वेषां वेदवाक्यानां भगवद्वचसामपि।
श्रौतोऽर्थो ह्ययमेव स्यादन्यः कल्प्यो मतान्तरैः॥ २०॥

अत्र सर्वेषां प्रमाणानामेकवाक्यतामाह सर्वेषामिति। श्रौतोऽभिधया निरूपितः। अन्यस्तत्तन्मतानुसारेणोक्तः कल्प्यो, न वाचनिकः॥ २०॥

कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि।
ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः॥ २१॥

नन्वत्र द्वयं निरुक्तं, वेदा भगवद्वाक्यानि च, तत्रैकेनैव शास्त्रार्थनिष्पत्तावन्यवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह कृष्णवाक्यानुसारेणेति। शास्त्रार्थं वेदार्थम्। भगवद्वाक्यानि वाक्यशेषरूपाणि सन्देहे निर्णायकानि, एवं वक्तारो भागवता भगवत्सम्बन्धिनो विद्वांसः। अनेन भक्ता इत्युक्तम्। त एव च शुद्धाः कर्मिणः। यथोक्तकर्मज्ञानात्। त एव च ज्ञानिनो ब्रह्मवादिनः। यथोक्तब्रह्मस्वीकारात्॥ २१॥

आवरणभङ्गः।

नन्वित्यादि। साङ्गादेव वैदिककर्मणः फलावश्यम्भावनियमाद् व्यङ्गतायां कल्याणकारित्वस्याप्यभावाच्च, सोऽपि नेत्यर्थः। तदेतदुक्तं, मार्गगता इति। विमार्गगास्तु ज्ञानाद्याभासा इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाहुः यथा गोदोहनादय इति। "चमसेनापः प्रणयेद् गोदोहनेन पशुकामस्ये"त्यादिश्रुत्युक्ता इत्यर्थः। तत्र गमकमाहुः अन्यथेत्यादि। तन्निरूपणमिति। ज्ञानकर्मभक्तीनां निरूपणम्॥

ततः किमिति। बुद्धावतार इत्यादिना फलाय हीत्यन्तेन किं सिद्धमित्यर्थः। कालेत्यादि। तथाच साधनान्तराणामसाधकत्वं सिद्धमित्यर्थः। भक्त्येति। स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपया। कलौ तद्धरीति वाक्ये कीर्तनं भक्त्यन्तराणामप्युपलक्षकम्॥ १९॥ २०॥

एवमेकवाक्यत्वं समर्थयित्वा पूर्वपूर्वसन्देहवारकत्वं समर्थयितुमग्रिममवतारयन्ति नन्वत्रेत्यादि। निर्णायकानीति। सन्दिग्धेषु वाक्यशेषादिति न्यायाद्, "इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चने"ति भगवद्वाक्यस्य च तथेत्यर्थः॥ २१॥

एतन्मतमविज्ञाय सात्त्विका अपि वै हरिम् ।
मतान्तरैर्न सेवन्ते तदर्थं ह्येष उद्यमः ॥ २२ ॥

नन्वेतदुभयं पूर्वमेव वर्तत इति किं भगवतो ग्रन्थकरणप्रयासेनेत्याशङ्क्याह एतन्मतमिति । मतं सिद्धान्तः । सात्त्विका इति । स्वरूपयोग्यता, अभजने येषां शास्त्रान्तरमेव प्रयोजकं, न तु स्वभावस्तेषां मतनिराकरणेन प्रवृत्तिः सम्पाद्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

एवं स्वप्रवृत्तिमुपपाद्य बाधकशास्त्राणां निवृत्त्यर्थं शास्त्रमारभते—

प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत् ।
तच्छक्त्याऽविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते ॥ २३ ॥

प्रपञ्च इति । प्रपञ्चमेव मिथ्येत्युक्त्वा शुद्धं भजनं वारयन्ति । तथाऽन्ये जीवं व्यापकमुक्त्वा । अत उभयनिराकरणार्थं जीवजडयोः स्वरूपमुच्यते । अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्तात्मा, नाप्यदृष्टादिद्वारा जातः,

---

टिप्पणी ।

विवर्तात्मेति । अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः, तत्स्वरूप[1] इत्यर्थः ॥ २३ ॥

आवरणभङ्गः ।

एवं सर्वं समर्थयित्वा पूर्वोक्तमुपोद्घातमुपसंहरन्तः किञ्चिदाशङ्क्य स्वप्रवृत्तिं समर्थयन्ति—नन्वित्यादि ॥ २२ ॥

एवं ग्रन्थस्य विषयसम्बन्धप्रयोजनान्युक्त्वा शास्त्रमारभमाणा उपोद्घातप्रयोजनमनुवदन्त आरभन्त एवं प्रवृत्तिमित्यादि । शास्त्रमिति । "एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः । समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः" इति भगवद्वाक्याद् ब्रह्मवादरूपम् । नन्विदं भक्तिप्रतिपादनार्थं, बाधकशास्त्राणां निवृत्त्यर्थञ्च शास्त्रमारब्धम् । तद्विहाय प्रथमतः प्रपञ्चस्वरूपं किमिति विचार्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः प्रपञ्चमेवेत्यादि । उच्यत इति । अत्र ब्रह्मवादे प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यतया जीवान्तर्यामिणो ब्रह्मांशतया च ब्रह्माभेदः साधनीयः । साधनान्तरापेक्षया भक्तेर्मुख्यत्वं, ब्रह्मणश्च साकारत्वं, तत्प्राकट्यस्यैव फलत्वञ्च साधनीयम् । तदर्थं मतान्तरं प्रथमतो निराकर्तव्यम् । तत्रापि प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमेकदेशिमत इति गृहप्रविष्टचौरवत् तन्निराकरणं ततोऽपि पूर्वं कर्तव्यमित्यतः प्रातिलोम्येनेयं कथनप्रतिज्ञा । विवक्षितं रूपं प्रतिपादयितुं पूर्वं मतान्तरसिद्धं निषेधन्ति न प्राकृत इत्यादि । तत्र प्राकृत इति साङ्ख्यपातञ्जलवैद्यकादिमतम् । परमाणुजन्य इति कणभक्षाक्षचरणजैमिनीयानाम् । विवर्तात्मेति मायावादिनाम् । उपादानं निषिध्य निमित्तं निषेधन्ति नाप्यदृष्टादिद्वारेति । आदिपदेन स्वभाववासनादयः । इदमपि यथासम्भवमुक्ता-

योजना ।

प्रपञ्चो भगवत्कार्य इत्यस्य विवरणे, अयं प्रपञ्चो न प्राकृत इत्यादि । न प्राकृतः

---

1 तत्स्वरूप इति पदं नास्ति ख-ग-पुस्तकयोः ।

नाप्यसतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः । तादृशोऽपि भगवद्रूपः । अन्यथा असतः सत्ता स्यात् । सा चाग्रे वैनाशिकप्रक्रियानिराकरणे

आवरणभङ्गः ।

नामनुक्तानाञ्च मते । तत्रापि स्वभावः साङ्ख्यानां, वासना मायावादिनाम्, अदृष्टं कणभक्षादीनाम्, असतः सत्ता वैनाशिकानाम् । सिद्धान्तेऽभिन्ननिमित्तोपादानमाहुः किन्त्वित्यादि ।

योजना ।

साङ्ख्यमत इव न प्रकृतिसमवायिकारणक इत्यर्थः । अयमितीदमा परिदृश्यमानः प्रपञ्चो निर्दिष्टः, तस्यैव सत्यत्वम् । अत एव "सर्वं पुरुष एवेदम्" इति श्रीमद्भागवतीयद्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां इदं परिदृश्यमानं जडात्मकं पुरुष एवेत्युक्तम् । तथा च जडस्वरूपस्य प्रपञ्चस्यैव सिद्धान्ते सत्यतोच्यते । अत एव अत्रैव 'प्रपञ्चो भगवत्कार्य' इत्यस्य व्याख्याने—'प्रपञ्चमेव मिथ्येत्युक्त्वा शुद्धं भजनं वारयन्ति, तथान्ये जीवं व्यापकमुक्त्वा, अत उभयनिराकरणार्थं जीवजडयोः स्वरूपमुच्यते, इति प्रतिज्ञावाक्ये जडपदेन परिदृश्यमान एव प्रपञ्च उक्तस्तस्यैव सत्यत्वमुक्तम् । केचित्तु, परिदृश्यमानः प्रपञ्चो मिथ्यैव, सच्चिदानन्दरूपः प्रपञ्चो भिन्न एव; स एव सत्य इत्याहुः; तन्न, अयं प्रपञ्चो न प्राकृत इत्यादिपरमतोपन्यासपूर्वकनिराकरणस्यानर्थक्यापत्तेः । साङ्ख्या एनं प्रपञ्चं प्राकृतं वदन्ति । नैयायिकाः परमाणुजन्यं वदन्ति । मायावादिनो विवर्तात्मानं वदन्ति । एवं मतभेदेन यमेनं प्रपञ्चं तत्तद्रीत्या वदन्ति, तमेनं प्रपञ्चं श्रीमदाचार्यवर्या परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यस्तादृशोऽपि भगवद्रूप इत्युक्तवन्तः । अतोऽयमेव प्रपञ्चो भगवदात्मक इति सिद्ध्यति । एतस्य मिथ्यात्वकथने तु प्रपञ्चमेव मिथ्येत्युक्त्वा शुद्धं भजनं वारयन्तीत्यादिफक्किकयोक्तो दोषः स्वमतेऽप्यापद्येत । यं प्रपञ्चं अन्ये प्राकृतादिरूपं वदन्ति तमेव प्रपञ्चं भगवदात्मकं श्रीमदाचार्याः कथयन्ति, न हि साङ्ख्यादयः । एतत्परिदृश्यमानातिरिक्तप्रपञ्चं प्राकृतादिरूपं वदन्ति । अत एतदतिरिक्तप्रपञ्चस्य सत्यत्वमेतस्य मिथ्यात्वमित्युक्तिस्तु नोपपद्यते । अत एव सिद्धान्तमुक्तावल्याम् "अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः । मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा" इत्यनेन नानामतेषु परिदृश्यमानं प्रपञ्चं मायिकत्वादियुक्तं वदन्ति, स तु न मायिकः, सगुणः, कार्यः, स्वतन्त्रो वा, अपि तु तदेव ब्रह्मैव एतत्प्रकारेण देवतिर्यङ्मनुष्यादिभूतभौतिकदेहरचनादिप्रकारेण आविर्भवतीति श्रुतेर्मतमित्यभिहितम् । अतोऽपि परिदृश्यमानस्यास्य सत्यत्वमेवाभिप्रेतमिति स्फुटति । एतस्य मिथ्यात्वाङ्गीकृतौ तु विवर्तमतदूषणानि व्यर्थानि स्युः, एतस्य स्वयमपि मृषात्वाङ्गीकारात् । एतदतिरिक्तप्रपञ्चस्यैव सत्यत्वाङ्गीकारे विवर्तमतस्वमतयोर्भिन्नविषयत्वाद्विरोधाभावेन दूषणवैयर्थ्यापत्तेश्च । व्यवह्रियमाणस्यास्य मृषात्वाङ्गीकृतौ वेदादिप्रमाणानामपि मृषात्वापातः । वागिन्द्रियेण गृह्यमाणत्वात् । भजनोपयोगिगङ्गाजलतुलसीमालासत्सङ्गगुर्वादिसकलपुरुषार्थभङ्गापत्तेश्च । अत एतस्य प्रपञ्चस्य सत्यत्वमेवाङ्गीकर्तव्यम् । "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्" इत्याद्युपनिषद्भ्यः । न च प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वस्वीकारे प्रपञ्चप्रलये ब्रह्मप्रलयापत्तिरिति वाच्यम्; प्रपञ्चतिरोभावाङ्गीकारेण सिद्धान्ते प्रलयानङ्गीकारात् । न च प्रपञ्चतिरोभावे

---

१ उपादानवादमाहुरिति च पाठः ।

निराकरिष्यते। वैदिकस्त्वेतावानेव सिद्धान्तः। वैष्णवानुसारेण किञ्चित् साधनमधिकमाह। माययाऽभवदिति। माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता। यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम्। तेन स्वसामर्थ्येनान्यानुपजीवनेन स्वात्मरूपं प्रपञ्चं कृतवानिति फलितम्। अत्र संसारप्रपञ्चयोर्भेदाज्ञानात् केचिन्मुग्धा भवन्ति। तन्मोहनिराकरणाय भेदं निरूपयति। अविद्ययेति। अविद्यापि

आवरणभङ्गः।

अग्र इति। सर्वनिर्णये, आविर्भावतिरोभावावित्यत्र। एतावानिति। सृष्टिप्रक्रियायां "सोऽकामयत, तदैक्षते"त्यादिभिरिच्छाया एव निमित्तत्वोक्त्या "सदेव सोम्येदं," "तदात्मानꣳ स्वयमकुरुते"त्यादौ ब्रह्मण एव कारणत्वोक्त्या तथेत्यर्थः। वैष्णवाणुसारेणेति। पञ्चरात्रश्रीभागवताद्यनुसारेणेत्यर्थः। ननु मायावादो नैव स्वीक्रियते चेत् कथं तस्याः कारणत्वोक्तिरिति शङ्कायां मतान्तराद् विवेक्तुं तस्या विवक्षितं स्वरूपमाहुः। माया हीत्यादि। फलितमिति। मायाङ्गीकारपक्षेऽपि करणरूपायास्तस्याः स्वरूपानतिरिक्तत्वादभिन्ननिमित्तोपादानत्वं फलितमित्यर्थः। ननु प्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादानकत्वमसङ्गतम्। एकादशस्कन्धे, "य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः" इत्युपक्रम्याऽग्रे, "मायामयं वेदे"ति कथनान्मायोपादानकत्वस्य शबलोपादानकत्वस्य वा सिद्धेरित्यत आहुः अत्रेत्यादि। ईदृशवाक्येषु, श्लिष्टप्रयोगेण तयोर्भेदाज्ञानात् संसारमिथ्यात्वं श्रुत्वा प्रपञ्चमपि मिथ्या जानन्ति। तदर्थं संसारप्रपञ्चयोः कारणभेदेन भेदं निरूपयतीत्यर्थः। तत्र पूर्वं मायाऽविद्ययोर्भेदबोधनाय पूर्वमविद्यास्वरूपमाहुः अविद्यापीत्यादि। तथाचास्मिन् वाक्ये

योजना।

ब्रह्मतिरोभावापत्तिरिति वाच्यम्; ब्रह्मप्रपञ्चयोर्भेदाभावेन प्रपञ्चरूपेण ब्रह्मण एव तिरोभावादिष्टापत्तेः। वैदिकस्त्वेतावानेव सिद्धान्त इति। एतावानेव मायासाधननिरपेक्षमेव परमकाष्ठापन्नं ब्रह्म स्वात्मभूतं जगत्करोतीति रूप एवेत्यर्थः। वैष्णवानुसारेणेत्यादि। विष्णुसम्बन्धिपुराणतन्त्राद्यनुसारेणेत्यर्थः। तत्र हि जगत्करणे मायाशक्तेरपेक्षाकथनात्। नन्वेवं सति वेदोक्तप्रमेयेण सह पुराणतन्त्राद्युक्तप्रमेयस्य विरोधात्केनोक्तं प्रमाणीकार्यमित्याशङ्क्य नात्र वेदेन सह पुराणतन्त्रादीनां विरोधः; किन्तु प्रकारभेदेनैक एव पदार्थो निरूप्यत इत्याहुर्माया हीत्यादिना। न हि पुराणतन्त्रादौ साधनत्वेनोक्ता माया वस्त्वन्तरम्, अपि तु भगवतः सर्वसामर्थ्यमेव मायाशब्दवाच्यम्, तेन सामर्थ्येन स्वात्मरूपं जगत्करोतीति वेदनिरूपितमेव प्रमेयं पुराणतन्त्रादिभिः प्रकारभेदेन वर्ण्यत इति न कोऽपि विरोधः। अत एव "स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया। सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः" इत्यस्य सुबोधिन्यामुक्तं घटितपूर्णपात्रभेदवद्वैदिकपौराणिकजगतोर्भेद इति, अलीकपक्षस्त्वप्रामाणिक इति चोक्तम्। इदमेवैकादशस्कन्धसुबोधिन्यां "सुवर्णजलवत्कार्ये प्रक्रियेयं पुराणगा" इति फक्किकयोक्तम्। अस्यार्थस्तु, सञ्चायकरीत्या प्रतिमानिर्माणार्थं सुवर्णजलं यथा निःक्षिप्यते तदेव सुवर्णं सञ्चायकसदृशप्रतिमाकारं भवति। तथा "सदसद्रूप-

तच्छक्तिः । मुख्यासु द्वादशशक्तिषु गणनात् । "श्रिया पुष्ट्या गिरे"ति वाक्यात् । एवं सति, "स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास"ेति श्रुतौ रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेणाविर्भावोक्तेर्वैचित्र्यं विना तदसम्भवो यतः, तस्माद्धेतोरस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीवस्य संसार उच्यते, न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, असत्त्वेनास्य गणनात् । अज्ञानं, भ्रमः, अदित्यादिशब्दा अहंममेतिरूपे संसार एव प्रवर्तन्ते, न तु प्रपञ्च इत्यर्थः । तस्य ब्रह्मात्मकत्वात् । इदमुक्तं भवति । वस्तुतस्तु "स वै नैव रेमे" इत्यादिश्रुतिभ्यो रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेणाविर्भावात्, तदन्तःपातिपुरुषरूपेण

आवरणभङ्गः ।

तयोर्भेदेन निर्देशादविद्या भिन्नैवेत्यर्थः । एतेन मायावादिप्रतिपन्नस्तयोरभेदपक्षो निराकृतः । एवं भेदं निरूप्य तस्याः कार्यं वक्तुं तत्प्रयोजकमाहुः । एवं सतीत्यादि । तस्मादिति । रमणार्थं वैचित्र्यस्यावश्यकत्वादित्यर्थः । अस्येत्यनेन तस्या मायाशक्तित्वं निवारितम् । ननु जायत इति । "यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा । स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः" इत्यादिषु मिथ्यात्वकथनात् तथेत्यर्थः । तदेवाहुः अभिमतीत्यादि । तथाच प्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादानकत्वं मायाकरणकत्वं, संसारस्य निरुपादानकत्वमविद्याकरणकत्वमिति कारणभेदाद्भेद इत्यर्थः । नन्वस्तु संसारस्याविद्यकत्वं, तथाप्येकादशस्कन्धादिषु देहं प्रकृत्य, "निर्मूला भाति चात्मनी"ति, प्रपञ्चं प्रकृत्य, "त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः" इति, विकारमुपक्रम्य, "आद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्य" इति कथनादज्ञानादिशब्दाः प्रपञ्चे प्रयुज्यन्ते तस्य का गतिरित्यत आहुः अज्ञानमित्यादि । एकादशाष्टाविंशे भगवता, "नैवात्मनो न देहस्य संसृतिः सुविविक्तयोः । अविवेकस्तयोर्योऽसाविह तस्यैव संसृतिरि"त्यादिना देहात्मानौ पृथगुक्त्वा तदविवेकस्यैव संसारकथनान्न देहः सः । तेनोक्तवाक्येष्वपि देहप्रपञ्चविकाराभिमानिनामेव भेदाभेदयोर्भानादभिमान एव ते प्रयोगा आभिमानिके पर्यवस्यन्ति, न तु प्रपञ्च इति ज्ञेयम् । तथा च, "य एष संसारतरुरि"त्यत्रापि, "द्वे अस्य बीजे" इत्यनेन साङ्ख्यप्रतिपन्नस्यैव प्रपञ्चस्य बोधनात्तस्यैव मायामयत्वमुच्यते । स तु भेदाश्रयणादन्तरासृष्टिरूप इत्यग्रे वक्ष्यते । न तु ब्रह्मकार्यरूपस्य तस्य तथात्वं तत्रोच्यत इति तत्र श्लिष्टप्रयोगाज्ज्ञानादेव लोकानां परं व्यामोहः । तस्माद्विवक्षितप्रपञ्चस्य संसारस्य च कारणभेदाद्भेद एवेत्यर्थः । एतस्यार्थस्य श्रौतत्वबोधनाय प्रभवस्तात्पर्यमस्याहुः इदमुक्तं भवतीत्यादिना । एवं सतीति । वैचित्र्ये सतीत्यर्थः । इदं यथा तथा विस्तरेण विद्वन्मण्डने, कृतप्रयत्नापेक्षस्त्विति सूत्रे भाष्ये, आनन्दमयाधिकरणे च प्रपञ्चितं प्रभुभिरिति ततोऽवधेयम् । प्रपञ्चस्य संसारस्य च भेदे प्रमाणमाहुः । प्रपञ्चेत्यादि । प्रपञ्चरूपेणाविर्भावमुक्त्वेति । प्रपञ्चकरणं समाप्येत्यर्थः । अत्र विषयवाक्यसन्दर्भार्थ एवं ज्ञेयः । तथाहि—

योजना ।

ये"ति वाक्यात्स्थूलसूक्ष्मकार्यरूपां मायां सञ्चायकरूपां कृत्वा भगवान् स्वात्मानमेव विश्वरूपं करोति, तत्र सञ्चायकरीत्या सुवर्णजलेन निर्मिता प्रतिमा यथा सुवर्णात्मिकैव न तु सञ्चायका-

तत्कृतसाधनरूपेणाविर्भूय तत्फलरूपेण चाविर्भवन् क्रीडति भगवान् । एवं सति, अहमेतत्कर्मकर्ता, एतज्जनितं फलं च मम, अहमेतस्य भोक्तेत्यादिज्ञानानि स्वस्य स्वक्रियायास्तत्फलस्य चाब्रह्मत्वेन ज्ञानाद् भ्रमरूपाणीति मन्तव्यम् । स चाहंताममतात्मकोऽविद्यया क्रियते । तत्त्वज्ञाने सत्युक्तरूपत्वज्ञानान्निवर्तते, न तु प्रपञ्चः । ब्रह्मात्मकत्वात् ।

ननु प्रपञ्चात्मकस्य घटादेर्दण्डमुद्गरात्मकेन तेन तिरोभाववत् तत्त्वज्ञानात्मकेन तेन संसारात्मकस्य तस्य तिरोभाव इत्यपि सुवचमतो नाविद्याहेतुकत्वमसत्त्वं वा संसारस्य वाच्यम् । प्रपञ्चमध्यपातित्वेन ब्रह्मात्मकत्वात् । नचैवं संसारस्य नित्यतापत्त्या मुक्त्युच्छेद इति वाच्यम् । यत्कालावच्छेदेन यस्मिन् पुरुषे संसाररूपेणाविर्भावस्तदवच्छेदेन संसारित्वं तस्योच्यते । मुक्तिरूपेणाविर्भावे तु मुक्तत्वमित्युपपत्तेः । यथा घटादिष्वामदशायां श्यामरूपेणाविर्भावे तथात्वव्यवहारः, पक्के रक्तत्वव्यवहारः, तद्रूपेणाविर्भावात् तथेति । न चाविद्यया बन्ध इति श्रुत्यादिप्रसिद्धेर्नैवमिति वाच्यम् । दण्डघटादिसमानयोगक्षेमत्वात् प्रसिद्धेः ।

एवं शुद्धो ब्रह्मवादः सिद्धो भवति सन्मते ।
अन्यस्याणोरपि प्राप्तौ मायापक्षो न किं भवेत् ॥

न भवेत् । श्रुतितो हि प्रपञ्चस्य ब्रह्मतोच्यते । तस्य नित्यत्वादाविर्भावतिरोभावा-

---

आवरणभङ्गः ।

"आत्मैवेदमग्र आसीदि"त्युपक्रम एवकारेण सृष्ट्यादावितरयोगव्यवच्छेदनादन्यं निरस्य ततः सृष्ट्युत्तरमपीतराभावं पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यदित्यनेनोक्त्वा तस्यात्मनोऽहंनामकत्वं व्युत्पाद्य सर्वपाप्मदाहकत्वेन तस्य पुरुषत्वमुक्त्वा तज्ज्ञानफलञ्चोक्त्वा सोऽबिभेदित्यनेनैकाकित्वधर्मेण भयोत्पत्तिमुक्त्वा, सहायमीक्षाञ्चक्र इत्यादिनाऽनन्यत्वज्ञानेन भयनिवृत्तिमुक्त्वाऽर्वाचीनानां द्वितीयाद्भयमद्वैतज्ञाननिवर्तनीयत्वायोक्त्वा, "स वै नैव रेम" इत्यारभ्य मनुष्यसृष्टिं ततः पूर्वरूपं तिरोधाप्य रूपान्तरैर्गवादिसृष्टिमुक्त्वा "सोऽवेदि"त्यादिना अनामरूपात्मनो नामरूपात्मकत्वेनाविर्भावः सृष्टिरित्याकारकं सृष्टिस्वरूपं ततस्तज्ज्ञानफलञ्चोक्त्वा, 'अथे'त्यादिना विसृष्टिं तज्ज्ञानफलं नामरूपसम्बन्धं चोक्त्वा तेन प्रपञ्चरूपेणाविर्भावमुपपादितवती । ततः स एष इह प्रविष्ट इत्यादिना आत्मनः सृष्टावन्तःप्रवेशं तदज्ञस्याकृत्स्नत्वं चोक्त्वा तेनाऽविद्यया संसारं प्रतिपादितवती । ततः "प्राणन्नेव प्राण" इत्यादिना सर्वकर्तृत्वं,तेन तन्नामकत्वं चोक्त्वा एकैकोपासकस्याकृत्स्नत्वमप्युक्त्वा, "आत्मेत्येवोपासीते"त्यारभ्य "नेहास्य प्रियं प्रमायुकम्भवती"त्यन्तेनात्मत्वेनोपासनायाः फलमात्मनः सर्वस्मात् प्रियत्वमीश्वरत्वेन सर्वभवनादिसामर्थ्यं प्रियत्वेनोपासनं तत्फलं चोक्त्वा, "तदाहुरि"त्यारभ्य, "आत्मा ह्येषां सम्भवती"त्यन्तेन ब्रह्मविद्यास्वरूपं तज्ज्ञातॄन् वामदेवान्तान् फलं चोक्त्वा, "अथ योऽन्यां देवतामि"त्यादिना ज्ञानवतोऽज्ञत्वं चोक्त्वा तेनाऽविद्याया अज्ञानरूपत्वमुक्तवती । ब्रह्मज्ञो देवैश्वर्यातिशायित्वाद्देवानां न प्रिय इति । ततोऽग्रे चतुर्वर्णसृष्टिं धर्मसृष्टिं

मुच्येते, तौ च विद्यमानस्यैव वस्तुनः सम्भवतो, नासतः । सतश्च नासत्त्वम् । तथाच संसारस्याविद्याहेतुकत्वमेव श्रुतिर्वदति, न प्रपञ्चवद् ब्रह्मरूपताम् । प्रपञ्चरूपेणाविर्भावमुक्त्वा यदविद्यया संसारमाह, विद्यया तदभावं चाह, अतः प्रपञ्चभिन्नत्वमवश्यमुररीकार्यम् । तथा सति, असत्त्वमेव सम्पद्यते संसारस्य । यच्चोक्तं दण्डमुद्गरघटादिसमानयोगक्षेमत्वमविद्याविद्याकृतबन्धमोक्षयोरिति । तत्राप्युच्यते । स्यादेवम्, यदि प्रपञ्चमध्यपातित्वं स्यात् संसारस्य । न चैवम् । कारणभेदात् । न हि यौक्तिकमिदं शास्त्रे, किन्तु श्रौतमित्यास्तिकैस्तथैव मन्तव्यमिति ॥ २३ ॥

अस्य स्वरूपं ज्ञानपर्यन्तमेव तिष्ठतीति वक्तुमाह—

संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित् ।
कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः ॥

संसारस्य लयो मुक्ताविति । उत्पत्तिप्रलययोर्भिन्नप्रकारत्वादुभयोर्भेदः । मुक्त्यर्थं प्रपञ्चविलयाभावे कदापि न विलयः स्यादित्याशङ्क्याह कृष्णस्यात्मरताविति । यदा स्वरतीच्छा, तदा प्रपञ्चस्वरूपं स्वस्मिन् विलाप्य रमते । नन्वेवं

टिप्पणी ।

उत्पत्तिप्रलययोरिति । प्रपञ्चसंसारयोरुत्पत्तिप्रलययोः प्रकारभेदात्प्रपञ्चसंसारयोर्भेद इत्यर्थः । नन्वेवमिति । प्रपञ्चस्य भगवति लये जीवन्मुक्तिप्रकार इव स्याज्जडमुक्तौ प्रयोजनाभावादिति भावः । तान् अंशानित्यर्थः ॥ २४ ॥

आवरणभङ्गः ।

ततः स्वलोकाज्ज्ञातुर्निन्दामात्मत्वेन लोकोपासनायाः फलमात्मनो लोकात्मकत्वं तज्ज्ञानफलं चोक्त्वा, "आत्मैवेदमग्र आसीदि"त्यनेनोपक्रमं सारयित्वा तस्य प्रजननाय कर्मकरणाय च जायावित्तकामनामिदानीन्तनस्य कामयितुरकृतस्त्वायानूद्य, मन एवेत्यारभ्य, य एवं वेदेत्यन्तेन ज्ञानात् कृत्स्नत्वमुक्तवती श्रुतिः । तेन विद्यया संसाराभाव उपसंहार उक्तः । तेन युक्त एव हेतुभेदात् प्रपञ्चसंसारयोर्भेद इति, न कोऽपि शङ्कालेशः ॥ २३ ॥

एवमुत्पत्तिप्रकारेण प्रपञ्चसंसारयोर्भेदमुक्त्वा लयप्रकारेणापि वक्तुमग्रिममवतारयन्ति अस्येत्यादि । मुक्ताविति । जीवनमुक्तौ । तथाच यदि भेदो न स्याद्देहोऽपि न तिष्ठेत् । उत्पत्तीत्यादि ॥ कारणस्य नाशकस्य च भेदात् तथेत्यर्थः । आहेति । प्रपञ्चस्य नाशकमाहेत्यर्थः । आत्मरतौ हेतुमाहुः । यदा स्वरतीच्छेति । "उदाप्लुतं विश्वमिदं यदासीद् यन्निद्रयाऽमीलितदृङ् न्यमीलयत् । अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतावनूह" इत्यादिना सा यदा तदेत्यर्थः । श्रुतौ सञ्जिहीर्षाया अस्फुटत्वादिदमेवमुक्तम् । नन्वेवं सतीत्यादि ।

योजना ।

त्मिका न वा वस्त्वन्तररूपा; तथा सञ्चायकस्थानापन्नया मायया साधनरूपया भगवन्निर्मितं जगदपि भगवद्रूपमेवेति ज्ञेयम् । तथा च घटितायाः प्रतिमायाः सुवर्णात्मकत्वमेवं सञ्चायकप्रतिमाया अपि सुवर्णात्मकत्वम् । प्रकारे भेदस्त्विष्ट एव । एवं विश्वस्मिन्नपीति बोध्यम् ॥ २३ ॥

संसारस्य लयो मुक्ताविति श्लोके । मुक्ताविति निमित्ते सप्तमी । अत एव मुक्त्यर्थं प्रपञ्च-

सति जीवब्रह्मणोर्मुक्तिप्रकार इव उक्त इति चेत् तत्राह सर्वसुखावह इति। जीवानां तदा सुखार्थं प्रलयं करोति। यथा रात्रिम्।

एवं भगवदिच्छां प्रपञ्चजननप्रलयकारणत्वेन निरूप्य जीवानामुत्पत्तिपूर्वकं मोक्षं निरूपयितुमाह

पञ्चपर्वा त्वविद्या हि जीवगा मायया कृता ॥ २४ ॥

पञ्चपर्वेति। जीवसंसारहेतुभूताऽविद्या पञ्चपर्वा, तेन सर्वांशनिराकृतेन निराकृता भविष्यतीति। तदर्थं भगवद्भजनं कर्तव्यमिति वक्तुं तां प्रथममुक्तवान्। जीवमेव गच्छति, न त्वंशान्तरम्। तस्या दुर्बलत्वायाह। मायया कृतेति।

आवरणभङ्गः।

स्वरतीच्छायां प्रपञ्चविलयेनाध्यासाभावे सति जीवब्रह्मणोः सम्बन्धान्मुक्तिप्रकार इव जीवानामुक्तः, स कथं युज्यत इत्याशङ्कायां प्रलयप्रयोजनमाहेत्यर्थः। यथारात्रिमिति। तथाच तदानीमध्यासाभिभव एव, न त्वभाव इत्ययं स्वाप्ययप्रकारो, न तु मुक्तेः प्रकार इति तदानीं संसारस्याभिभवः। प्रपञ्चस्य तु लय इति भावः॥ २४ ॥

एवं संसारप्रपञ्चयोर्भेदमुपपाद्य प्रपञ्चे तत्कारणे चाविद्याया अप्रभुत्व जीव एव च प्रभुत्वं मायावादनिरासाय समर्थनीयं तदर्थमग्रिममवतारयन्ति एवमित्यादि। आहेति। अविद्यायाः स्वरूपादिकमाहेत्यर्थः। मूले, पञ्चपर्वेत्यत्रान्नन्ताद् बहुव्रीहेर्डाप्। नन्वेवं सति सामर्थ्यमेव वक्तव्यं, पर्वकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः। जीवेत्यादि। तानिति। पर्वरूपानंशान्। पर्वणां स्वरूपमनुपदमेवाग्रे वक्तव्यम्। सामर्थ्यमाहुः जीवमित्यादि। "एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते। बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादिर्विद्यया च तथेतरः" इत्येकादशस्कन्धवाक्ये एवकारेणेतरव्यवच्छेदात् तथेत्यर्थः। एतेनैव ब्रह्मण्यपि तस्या असामर्थ्यं सिद्धमेव। तथापि तस्य कण्ठोक्तत्वं बोधयितुमाहुः। तस्या

योजना।

विलयाभाव इति टीकायामुक्तम्। सर्वसुखावह इत्यस्य व्याख्याने—जीवब्रह्मणोर्मुक्तिप्रकार इव उक्त इति। जीवमुक्तौ न प्रपञ्चविलयोऽपेक्ष्यते, किन्तु संसारस्य लयोऽपेक्ष्यत इति सिद्धान्तितम्; प्रपञ्चलयस्तु कृष्णस्यात्मरमणेच्छायामित्युक्तम्, एवं सति जीवमुक्त्यर्थं संसारलयो ब्रह्ममुक्त्यर्थं प्रपञ्चलय इत्यायातीति पूर्वपक्षिण आशयः। तत्र सर्वसुखावह इत्यनेन जीवानामेव हितार्थं प्रलयं करोति न तु स्वप्रयोजनाय, स्वस्य पूर्णकामत्वान्निर्दोषत्वान्नित्यमुक्तत्वाच्चेति न पूर्वोक्तब्रह्ममुक्तिप्रकार इति सिद्धान्तिनामाशयः। एवं भगवदिच्छां प्रपञ्चजननप्रलयकारणत्वेनेति। विवर्तमते मायाकारणप्रपञ्चस्य मायोपहितचैतन्यस्य कारणत्वोक्तावपि मायायामेव कारणत्वपर्यवसानात् प्रपञ्चप्रलयो ज्ञानेन। अस्मन्मते शुद्धस्य परब्रह्मण इच्छैव प्रपञ्चजननप्रलययोः कारणमिति भावः॥ २४ ॥

आकाशवद् व्यापकं हि ब्रह्म मायांशवेष्टितम् ।

जीवस्वरूपनिरूपणार्थं ब्रह्मणः सकाशाद् विस्फुलिङ्गादिवदुद्भवं वक्तुं कारणभूत-ब्रह्मस्वरूपमाह—आकाशवदिति द्वाभ्याम् । लोकदृष्ट्या दृष्टान्तः । ब्रह्मणो व्यापकत्वं, बृहत्त्वात् । अन्यथा ब्रह्मपदप्रयोगो नोपपद्यते । तत आत्मरमणानन्तरं तिरोहितमिव भवतीति मायया तादृशभावः । तेन वेष्टितं भवति ।

आवरणभङ्गः ।

इत्यादि । "विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते" इत्येकादशस्कन्धात् तथेत्यर्थः । तथाच, न यत्र मायेति वाक्याद् यत्र तज्जनकमायाया एवासामर्थ्यं, तत्र सा तु दूरापास्तेति भावः । एतेन मायाविद्ययोरभेद इति पक्षोऽविद्याया अनादित्वञ्च निरस्तम् । अतः परं विभागबन्धजीवानामनादित्वं निरसनीयम् । "जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागस्त्वनयोर्द्वयोः । अविद्या तत्कृतो बन्धः षडस्माकमनादयः" इति तत्समयस्य भ्रान्तत्वाय, तथेशस्य विशुद्धचिदभिन्नत्वञ्च बोधनीयम्, आकारस्यानाद्यविद्यकत्वाय, भजनसिद्ध्यर्थं जीवस्य व्यापकता च निरसनीया, तदर्थं वदन्ति जीवेत्यादि । विस्फुलिङ्गादिवदित्यत्रादिपदेनोक्ताः प्रकाराः सृष्टिप्रभेदकथने स्फुटीभविष्यन्ति । ननु, "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इति श्रुतेर्भगवत्साम्यस्यान्यत्राभावादाकाशदृष्टान्तो नोचित इत्याकाङ्क्षायामाहुः लोकदृष्टचेति । व्यापकत्वबोधनार्थमित्यर्थः । ननु "न तदश्नो"तीतिश्रुतेर्व्यापकत्वकथनं श्रुतिविरुद्धमित्याशङ्कायामाहुः बृहत्त्वादिति। तथाच "बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मे"ति श्रुतौ तदपि सिद्धमित्यदोष इत्यर्थः । नन्वेवं श्रुत्योर्विरोधे धर्मनिरूपिका बहिरङ्गत्वाद् बाध्यतामित्याकाङ्क्षायामाहुः अन्यथेत्यादि । तथाचैतस्या बाधे सर्वविप्लवापात इति तयोरबाधाय विरुद्धधर्माधारमेव तदङ्गीकार्यमिति भावः । ननु ब्रह्मत्वे व्यापकत्वं, तथा देशाभावाद् व्युच्चरणन्यायेन जीवोत्पत्तिर्वक्तुमशक्येत्याकाङ्क्षायां पूर्वं वैष्णवतन्त्रानुसारेणोपपत्तिमाहुः । तदित्यादि । तद्व्यापकत्वमात्मरमणानन्तरं सृष्टिप्रारम्भदशायां तिरोहितमिव

योजना ।

आकाशवद्व्यापकं हि ब्रह्म मायांशवेष्टितमित्यत्र, मायांशवेष्टितमिति । अंशैर्वेष्टितमिति तृतीयातत्पुरुषः । अंशास्तु ब्रह्मणो, न तु मायायाः । तथाच स्वांशैर्वेष्टितमित्यर्थः । मायया अंशवेष्टितं मायांशवेष्टितमिति समासः । इह मायाशब्दस्तृतीयान्तोंऽशवेष्टितशब्देन समस्यते; न तु मायाशब्दस्य अंशशब्देन समासः । एवं च ब्रह्मणोंऽशवेष्टितत्वे मायाया हेतुत्वम् । तच्च युक्तम् । माया हि भगवतः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्तिस्तया भगवान् स्वस्य व्यापकत्वमाच्छादयति, तदा व्यापकत्वरूपधर्मतिरोधाने परिच्छिन्नत्वरूपो ब्रह्मधर्म आविर्भवति, ततः परिच्छिन्नत्वरूपधर्माविर्भावे अंशैर्वेष्टितं ब्रह्म भवति । एवं सति व्यापकत्वमाच्छाद्य परिच्छिन्नत्वरूपधर्मप्राकट्यं सम्पाद्य अंशवेष्टितत्वं स्फोटयन्ती[1] माया अंशवेष्टितत्वे हेतुत्वेनोच्यते । अत एव मायया तादृशभाव इत्यनेन टीकायां मायाशब्दं[2] तृतीयान्तं व्याख्याय मायाया हेतुत्वं निरूपितम् । अंशवेष्टितत्वे मायाया हेतुत्वं पूर्वोक्तरीत्या ज्ञातव्यम् । टीकायां मायया तादृशभावस्तेन वेष्टितमिति फक्किकायां तादृशभाव इत्यस्य परिच्छिन्नभाव इत्यर्थः । तेन वेष्टितमिति तेनेति हेतौ तृतीया । तथाच तेन

१ स्फोरयन्तीत्यपि पाठः । २ माययातिशब्दमिति पाठो ढणपुस्तकयोः ।

तस्य स्वरूपमाह—

सर्वतःपाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥ २५ ॥

सर्वतःपाणिपादान्तमिति ॥ प्रमाणनिरूपणाय गीतावाक्यमुच्यते । सर्वत्र प्रदेशे

आवरणभङ्गः ।

भवति ब्रह्मविद्व्यतिरिक्ताऽगोचरत्वात् तथा भवतीति हेतोर्मायया सूक्ष्मप्रथमकार्यरूपया त्रिगुणात्मिकया शक्त्या कृतो यस्तादृशभावः परिच्छिन्नभावस्तेन कृत्वा वेष्टितमंशैर्व्याप्तं भवतीति प्रपञ्चकरणभूतायास्तस्याः प्राथमिक उपायोगोऽयमित्यर्थः । तथाच साधनाध्यायतृतीयपादीये पूर्ववद्वेत्यधिकरणे निर्द्धर्मकमेकमेव ब्रह्म पूर्वं धर्मरूपेण तदनु क्रियाप्रपञ्चादिरूपेणाविर्भवतीति व्यवस्थापनात् पूर्वमिच्छारूपेण ततो मायारूपेण भूत्वा तया व्यापकत्वं तिरोभाव्य देशं प्रकटीकृत्य माययांऽशांश्च परिच्छिद्य तैर्व्याप्तं तिष्ठतीति तद्धर्मात्मकस्य देशान्तरस्य सम्भवाज्जीवानां व्युच्चरणन्यायेनोत्पत्तिर्न दुर्वचेति भावः । न च मायासम्बन्धकथनात् परमतप्रवेशः शङ्कनीयः । "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्ते"त्यादिसूत्रैर्ब्रह्माभिन्नाया एव शक्तेः स्वीकारेण तदभिमतमायानङ्गीकारात् । एवं कारणत्वे योग्यता निरूपिता ॥ २५ ॥

गीतावाक्यमिति । यद्यपीदं श्वेताश्वतरोपनिषद्यपि वाक्यं किञ्चित्पाठभेदेनास्ति तथाप्य-

योजना ।

हेतुभूतेन परिच्छिन्नत्वरूपब्रह्मधर्मेण स्वांशैर्ब्रह्म वेष्टितं भवतीत्यर्थः सम्पद्यते । स च परिच्छिन्नभावो भगवद्धर्मो व्यापकत्वतिरोधानेन प्रकटीभवति, तदा स्वांशैर्वेष्टितं ब्रह्म स्फुरतीति परिच्छिन्नभावः स्वांशवेष्टितत्वे हेतुः । व्यापकत्वस्फूर्तौ तु नांशवेष्टितं भवेत् । अतो व्यापकत्वं मायया-ऽऽच्छाद्य परिच्छिन्नत्वं प्रादुर्भावयति भगवान् । तदा ब्रह्म स्वांशैर्भगवदिच्छया भगवतः सकाशान्निर्गमिष्यद्भिरणुरूपैर्जीवजडसञ्ज्ञां लप्स्यमानैर्वेष्टितं भवति । तथाच सिद्धमेतत्; इदं विश्वं सिसृक्षुर्भगवान् स्वसामर्थ्यरूपया मायया स्वव्यापकत्वमाच्छाद्य स्वकीयां परिच्छिन्नतां प्रकटीकृत्य स्वयमेव स्वस्यांशैर्वेष्टितं भवत्यतो न कुत्रापि परमतप्रवेश इति निर्दुष्टमखिलम् । इदमत्र ज्ञेयम्—अस्माकं सत्याद्वैतवादे सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वेन जीवजडान्तर्यामिरूपेण ब्रह्मैव वर्तते । एवं प्रदेशविशेषेणापि ब्रह्मैवाविर्भूय स्वयमेवांशरूपेण स्वस्मादेव निःसरतीति निःसरणोपादानं निःसरणाधिकरणं निःसरणकर्तृ च स्वयमेवेति व्यापकत्वेऽपि ततो निःसरणं नौपाधिकम्; किन्तु, यत्र प्रदेशे निःसरणं, यस्मान्निःसरणं येषां निःसरणं, तत्सर्वं ब्रह्मैव । "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा । स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः" इति श्रीभागवतवाक्यात् ॥ २५ ॥

सर्वतःपाणिपादान्तमित्यस्य व्याख्याने, सर्वत्र प्रदेशे पाणयः पादा अन्ताश्च यस्येति । इह सर्वत्र विद्यमानत्वमवयविनः साकारस्य पुरुषोत्तमस्य न तु भिन्नतयाऽवयवानाम् । पुरुषोत्तमस्य च सर्वत्र साकारस्यैव व्यापकत्वेन सर्वत्र प्रदेशे विद्यमानतया तदीयपाणिपादादीनां सर्वत्र प्रदेशे

पाणयः पादा अन्ता यस्य । गतिकृतिलक्षणे क्रिये सर्वत्र स्वेच्छया परिच्छेदावभानं चोक्तम् । सर्वतोऽक्षिशिरोमुखमिति ज्ञानप्राधान्यं भोगाश्च सर्वत्रोक्ताः ॥ २५ ॥

नामप्रपञ्चार्थमाह—

सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।

सर्वतःश्रुतिमल्लोक इति । सर्वतः शृणोतीत्यर्थः । एतादृशस्य परिच्छेदः सम्भविष्यतीत्यत आह—सर्वमावृत्य तिष्ठतीति । एते धर्माः प्रपञ्चोत्पत्त्यनन्तरमेव स्पष्टा भवन्ति, तथापि तेषां नित्यत्वख्यापनाय प्रथमतो वचनम् ।

सर्वत्र परिच्छेदस्य प्रयोजनमाह—

अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत् ॥ २६ ॥

बहु स्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत् सती ।

अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्मेति । अनन्तपदस्येममेवार्थं ज्ञापयितुं हिशब्दः । तर्हि खण्डशः स्यादित्याशङ्क्याह अविभक्तमिति । अनन्तमूर्तिष्वपि न परस्परं विभेदः ।

आवरणभङ्गः ।

सन्दिग्धत्वायेदमुक्तम् । प्रथमत इति । लोक इति कथनात् पूर्वमित्यर्थः । अनन्तपदस्येति । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति श्रुतिस्थस्य तस्येत्यर्थः । तथाच श्रुत्यन्तरं, "यदेकमव्यक्तमनन्तरूपमि"ति । अत्र मूले ब्रह्मपदेन, "सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"ति श्रुत्युक्तं सच्चिदानन्दरूपत्वं प्रकृतोपयोगाय बोधितं ज्ञेयम् । अविभक्तमित्यादि । "अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितमि"ति गीतावाक्यात् तथेत्यर्थः । एतेन श्रौते सिद्धान्ते स्वत एव विभक्तिमत्त्वेन देशस्यापि सत्त्वान्न तदर्थं मायापेक्षेति ज्ञापितम् । एवमत्र, उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्, प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वादित्यधिकरणद्वयोक्तरीत्या सिद्धं विरुद्धधर्माधारं स्वरूपं कारणत्वायोक्तम् । तेन मायाशबलस्य बुद्धौ प्रतिबिम्बितस्य निर्माणार्थं कायमधितिष्ठतः सर्वतःपाणिपादान्तत्वं वदन्तो मायावादिसाङ्ख्यपातञ्जलाद्या निरस्ता वेद्याः । गीतायां मोक्षार्थं ज्ञेयं परब्रह्मैव प्रस्तुत्य तत्स्वरूपप्रबोधनायैवास्य वाक्यस्य कथनात् । नच गीतायामेतदग्रे, "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितमि"ति कथनान्नैवमिति शङ्क्यम् । सर्वाणीन्द्रियाणि तद्ग्राह्या गुणाश्च तद्वद् ब्रह्मैवाभासते । अत एव सर्वेन्द्रियविवर्जितमित्यर्थस्य तत्र विवक्षितत्वादिति विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितत्वात् । एतेनैव श्वेताश्वतरमन्त्रोऽपि व्याख्यातो बोध्यः । गीतायाः सन्देहवारकत्वात् तत्रोपनिषदध्यायेऽपि मायादिपदाभावात् । आरम्भ एव "विश्वतश्चक्षुरि"ति मन्त्रकथनाच्चेति दिक् ।

योजना ।

विद्यमानत्वमुचितमेव । एवं सर्वत्र पाणिपादादीनां कथनं तु सर्वत्र विद्यमानस्य पुरुषोत्तमस्य साकारताप्रतिपादनायेति ज्ञेयम् । अन्यथा परमत इव धर्मिमात्रस्य निराकारस्य व्यापकत्वं स्यात् । अतः सर्वत्र पाणिपादादीनां कथनं पाणिपादादियुक्तस्य व्यापकताकथनार्थम् । पाणिपादादियुक्तं ब्रह्म सर्वत्र प्रदेशे विद्यते, इति सर्वतःपाणिपादान्तस्यार्थः । यत्तु, पुरुषोत्तमस्य सर्वेऽवयवा अन्योन्यं सन्तीत्याहुः, तन्न; कोटिकन्दर्पाधिकलावण्यस्य श्रीकृष्णचन्द्रस्य वैरूप्यापत्तेः । न च

केवलमिच्छया तावन्मात्रप्रकटनार्थं विभक्तिमत् । एतत्स्वरूपमुक्त्वा ततः सृष्टिं वक्तुं तदिच्छां कारणत्वेनाह—बहु स्यामिति । अनेकत्वमुचनीचत्वं च भावयामास । भावना तस्य सती विषयाऽव्यभिचारिणी ॥ २६ ॥

ततो यज्जातं तदाह—

तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः ॥ २७ ॥

तदिच्छामात्रत इति । तस्मादेव ब्रह्मभूताः । न तु योगबलेनाविर्भूताः । अंशाः

आवरणभङ्गः ।

एवमुपादानमुक्त्वा निमित्तं बोधयन्ति एतदित्यादि । अनेकत्वं "बहु स्यामि"त्यस्य, उच्चनीचत्वञ्च प्रजायेयेत्यस्याकारो बोध्यः । प्रकर्षेणोच्चनीचभावेन प्रादुर्भावोऽयमित्यर्थः । अन्यथैकेनैव चारितार्थ्याद् द्वितीयो मुधा स्यात् । पुरुषविधब्राह्मणादावेकस्यैवाकारस्य प्रकर्षेण जननस्य च श्रावणात्, सृष्टिनानाविधत्वस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । एतेन, वैदिकस्त्वेतावानेव सिद्धान्त इति पूर्वोक्ते प्रमाणं दर्शितम् ॥ २६ ॥

उपादानं निमित्तं चोक्त्वा ततः सृष्टिं बोधयन्ति तत इत्यादि । मात्रपदमदृष्टादीनां सहकार्यन्तराणां व्युदासाय । इच्छायाश्च निमित्तत्वमेव प्रथमसृष्टौ, न तु करणत्वमिति बोधनाय, तदिच्छामात्रत इति पञ्चमी । तस्मादिति । समवायिनो ब्रह्मणः । यद्यपि सिद्धान्ते समवायो नाति-

योजना ।

शब्दबलादेवमेवास्त्विति वाच्यम्, "त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं त्रैलोक्यलक्ष्म्यैकपदं वपुर्दधच्च । विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्" इत्यादिवचःसहस्रविरोधात् । तस्मात्सर्वत्र पाणिपादान्तमित्यत्र साकारब्रह्मण एव सर्वत्र प्रदेशे व्यापकत्वं विवक्षितमिति तस्य व्यापकत्वेन तदवयवानामपि तदुच्यते । न तु पृथक्तयाऽवयवानाम्, न वाऽवयवेष्ववयवानामन्योन्याधारत्वमिति दिक् । अन्यथा जन्मप्रकरणटिप्पण्यां नन्दालये प्रकटस्य द्विभुजपुरुषोत्तमस्य मथुरायां श्रीदेवकीकर्तृको"पसंहर विश्वात्मन्नि"ति चतुर्भुजोपसंहारप्रार्थनानन्तरं दर्शने सर्वतःपाणिपादान्तत्वं हेतुत्वेनोक्तं तद्विरुध्येत । तत्र हि नन्दगृहाविर्भूतस्य वसुदेवगृहे दर्शने व्यापकत्वं हेतुरिति प्रदर्शितम् । नन्दगृहे गेहप्रादुर्भूतस्यैव सर्वतःपाणिपादान्तत्वेन तदा सर्वमस्तीति वसुदेवगृहे प्रादुर्भाव इति ज्ञायत इत्यनेन । यदि सर्वतःपाणिपादान्तमित्यत्रावयवानां पाणिपादादीनां सर्वत्र व्यापकत्वं वा विवक्षितं स्यात्तदा नन्दगृहे प्रकटस्य मथुरायां दर्शने सर्वतःपाणिपादान्तत्वं हेतुत्वेन न वदेयुः । अतोऽस्मिन् गीतावाक्ये सर्वतःपाणिपादस्य साकारस्य पुरुषोत्तमस्य धर्मिणो व्यापकत्वं निरूपितमिति सिद्धान्तः । एवं सति परमसौन्दर्ये बाधकाभावात् । "यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ती"त्यादि शुकवाक्येषु निरूपितं लावण्यनिधित्वं सिद्धमिति गीताभागवतयोरविरोधेन स्वविवक्षितसिद्धिः । वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानीत्यस्य व्याख्याने एतच्चतुष्टयमेकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकमिति पूर्वं निर्धारितत्वात् ॥ २६ ॥

सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया ।

साकाराः सूक्ष्मपरिच्छेदाः । चेतनाश्चित्प्रधानाः । सर्वे असङ्ख्याताः । सृष्ट्यादौ प्रथमसृष्टौ । ततः साकारा भगवद्रूपा अपि उच्चनीचभावेच्छया निर्गता इति निराकारा जाताः ॥ २७ ॥

विस्फुलिङ्गा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि ॥ २८ ॥

आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ।

निर्गमने दृष्टान्तमाह विस्फुलिङ्गा इवाग्नेरिति । 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'ति श्रुतिः । एवं जीवोद्गममुक्त्वा जडोद्गममाह सदंशेनेति । सत्प्राधान्येन ।

आवरणभङ्गः ।

रिक्तस्तथापि तादात्म्यस्यैव नामान्तरं तदित्यदोषः । चित्प्रधाना इति । चिदेव प्रधानं स्वरूपं धर्मश्च येषां तादृशा इत्यर्थः । एतेन जीवेषु सदानन्दयोरप्राधान्येन धर्मरूपतया सत्ताऽपि बोधिता । एवमन्ययोरपि ज्ञेयम् । तदग्रे स्फुटीभविष्यति । निराकारत्वे प्रमाणत्वेन, "हन्त तिरोसानी"त्यादिश्रुतिरनुसन्धेया ॥ २७ ॥

यथाऽग्नेः क्षुद्रा इति । इयं श्रुतिर्बृहदारण्यके दृप्तबालाकिब्राह्मणसमाप्तावस्ति । तत्र च सुषुप्तिमुक्त्वा तत उत्थानदशायां व्युच्चरणं वक्तीति जीवादेव व्युच्चरणमिति कस्यचिच्छङ्का स्यात्, तन्निरासाय प्रोक्ता । अन्यथा, 'यथा प्रदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रवर्तन्ते तत्र चैवापियन्ति' इति मुण्डकस्थामेव वदेयुः । दृप्तबालाकिश्रुतेर्भगवत्परत्वं तु समन्वयचतुर्थपादे जगद्वाचित्वाधिकरणे व्यवस्थापितम् । ब्राह्मणारम्भे, ब्रह्म ते ब्रवाणीत्युपक्रमात् । मध्ये च, 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेत इति स्वपिति नाम भवती'ति कथनाच्च । ब्रह्मण आकाशशब्दवाच्यत्वं त्वाकाशस्तल्लिङ्गादित्यधिकरणे स्थापितम् । प्रकृते च स्वपितिनामभवनं यज्जीवस्योक्तं तद् ब्रह्मणि लयात् "स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते, सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवतीति"श्रुत्यन्तरात् । अतः स्वपितिनामभवनलिङ्गेनाकाशशब्दोऽत्रापि ब्रह्मवाचक एव, न त्वाध्यात्मिकाकाशवाचीति । तथा समाप्तौ च, "सर्व एवात्मनो व्युच्चरन्ती"ति श्रवणात् । न हि जीवाज्जीवान्तरोत्पत्तिः क्वचित् सिद्धा । नच स्वाप्निकजीवशरीराभिप्रायोऽयमात्मशब्दः । अश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । तानि च धिषणयोद्भास्यन्ते एव न तु व्युच्चार्यन्ते इति । "स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्", "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती"ति दृष्टान्तद्वयविरोधाच्च । "सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एवात्मान" इत्यादौ सर्वशब्दसङ्कोचापाताच्च । नापि दृष्टसृष्टिवादाभिप्रायेण । प्रत्यक्षविरोधाद् बाह्यमतप्रवेशप्रसक्तेश्च । किञ्च । एतच्छेत इत्युक्त्वा "ऊर्णनाभिस्तन्तुना यथा तथा स विज्ञानात्मा पुरुष उच्चरे"दित्युच्चरणमुक्त्वा पुरीततोऽपादानताव्यावृत्त्यर्थं यथाऽग्नेरिति दृष्टान्तपूर्वकमात्मनोऽपादानत्वं योग्यत्वायाह । अतोऽपि न जीवात् सृष्टिगन्धः । सुषुप्तिप्रसङ्गाच्चात्मरमणानन्तर्यमपि सार्यत इति तथेति दिक् । ननु, "बहु

अन्तर्याम्युद्गममाह **आनन्दांशस्वरूपेणेति** । यथा जीवानां नानात्वं तथान्तर्यामिणामपि । एकस्मिन् हृदये हंसरूपेणोभयप्रवेशात् । भेदस्तु जीवेऽपि नास्तीति न काप्यनुपपत्तिः ॥ २८ ॥

त्रैविध्ये हेतुमाह—

सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता ॥ २९ ॥

अत एव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपतः ।

सच्चिदानन्दरूपेष्विति । सति चिदानन्दधर्मयोस्तिरोभावः । चिति आनन्दस्य । आनन्दांशतिरोभावस्यापि ज्ञापकमाह **अत एव निराकाराविति** । भगवदाकारश्चतुर्भुजत्वादिराकारशब्देनोच्यते । लोपस्तिरोभावः ॥ २९ ॥

आवरणभङ्गः ।

स्यां प्रजायेये"तीत्यनन्तरं, "स तपोऽतप्यते"त्यादिना जगत्सृष्टिरेवोक्ता, न जीवसृष्टिरिति प्रकृते वीक्षानन्तरं, कथं जीवोद्गम उच्यत इति चेत्, न; "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि"त्यनेन सूचितत्वात् । अनुप्रवेशस्य जीवकरणकत्वात् । "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्ये"ति श्रुत्यन्तरादिति नानुपपत्तिः काचित् । एतेन विभागस्य सादित्वं बोधितं, जीवस्य च । 'गुहां प्रविष्टाविति श्रुत्यनुसारेणात्र श्रुतावात्मपदेनान्तर्याम्यप्युच्यत इत्याशयं बोधयन्ति । **अन्तर्याम्युद्गममाहेति** । ननु "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती"त्येकवचनादन्तर्यामिनानात्वमसङ्गतमित्यत आहुः **यथा जीवेत्यादि** । तथाच स्मृतिस्थसङ्ख्याया उद्देश्यगतत्वेन ग्रहैकत्ववदविवक्षितत्वाद् ब्रह्माभिप्रायकत्वाद्वा न विरोध इति भावः । एवमेवान्तर्यामिब्राह्मणेऽपि ज्ञेयम् । एकमेवाद्वितीयमिति श्रुत्यनुपपत्तिपरिहारायाहुः भेद इत्यादि । अत्र तत्तदंशाज्जीवाद्युद्गमकथनेन ततः पूर्वं सच्चिदानन्दानामपि पृथक्करणं सूचितम् । तद् द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां स्फुटम् ॥ २८ ॥

त्रैविध्य इत्यादि । सर्वेषां ब्रह्मांशत्वेऽविशिष्टे कुतस्त्रैविध्यमित्याकाङ्क्षायां त्रैविध्ये हेतुमाहेत्यर्थः । सच्चिदानन्दरूपेष्विति मूलमेवं योज्यम् । सच्चिदानन्दरूपेषु जडजीवान्तर्यामिषु पूर्वयोर्जडजीवयोर्मध्ये अन्यस्य पश्चाद्वर्तिनोंऽशस्य लीनतेति । तथाच सदंश उभयोश्चिदंशे आनन्दस्य लये, आनन्दरूपे च द्वयोः पूर्वयोरपि प्रकटत्वे सति स्वरूपवैजात्यात् त्रैविध्यमित्यर्थः । तज्ज्ञापयन्ति **सतीत्यादि** । **आनन्दस्येति** । धर्मरूपस्य तस्य । पूर्वं चित्प्रधाना इत्यनेन बोधितोऽन्ययोर्गुणभावोऽत्र धर्मपदोक्त्या स्फुटीकृतो बोध्यः । अत्र जीवेऽस्मीति प्रत्ययस्य केवलाविषयत्वेऽपि विशिष्टविषयकत्वात् तस्यानतिरिक्तत्वमभिप्रेत्य अन्तर्यामिणि च सच्चितोर्गुणीभावेऽपि प्रतीयमानत्वात् तदभिप्रेत्य लयाभावो बोध्यते, न तु प्राधान्येनेति, न समन्वयसूत्रभाष्यविरोधः । ननु सदंशे धर्मात्मकज्ञानमात्रस्य भवतु तिरोभावो, न त्वन्यदपि । विषयेष्वात्मनि च प्रियत्वस्य भानादित्यत आहुः **आनन्दांशेत्यादि** । **अत एवेति** । आनन्दलयादेवेत्यर्थः । तत्रापि ज्ञापकमाहुः **लोप इति** । तथाचाकारतिरोभावो यदि कारणान्तरजन्यः स्यात्, तदा आनन्दस्तु

एवं स्वरूपे वैजात्यमुक्त्वा नामतोऽपि वैजात्यमाह—

जडो जीवोऽन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः ॥ ३० ॥

जड इति। सर्वस्यापि भगवत्त्वे जडादिपदप्रयोगो व्यवहारः ॥ ३० ॥

एवं त्रैविध्यमुपपाद्य चिदंशानां जीवानां संसारप्रकारमाह—

विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता ॥ ३१ ॥

विद्याऽविद्ये इति। मोक्षोऽप्येकः सर्ग इति विद्याया अपि निरूपणम्। आत्मनः स्वरूपलाभो विद्यया, देहलाभोऽविद्ययेति। उभयोर्जीवधर्मत्वं व्यावर्तयति हरेः शक्ती इति। तेन भगवदिच्छयैव तयोराविर्भावतिरोभावयोर्हेतुत्वमित्युक्तम्। अनयो-

---

आवरणभङ्गः।

स्यादेवान्तर्यामिण इव। अतस्तदभावात् तथा निश्चीयते। न च प्रियत्वभानं बाधकमिति शङ्क्यम्। तस्यानन्दसत्तामात्रादप्युपपत्तेः। ज्ञानसत्तामात्रेण भातीति मानवत् ॥ २९ ॥

जडादीति। तत्तद्धर्मपूर्वकः परम्परासिद्धस्तत्तत्पदप्रयोग इत्यर्थः। तथाचात एव नामतो वैजात्यमिति भावः ॥ ३० ॥

यदर्थमेवं करणं तद् वदन्ति एवं त्रैविध्यमित्यादि। एवमिति। इच्छामात्रेण, न तु मायासम्बन्धेन। ननु संसारनिरूपणप्रस्तावे विद्यानिरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः मोक्ष इत्यादि। मोक्षस्य कथं सर्गत्वमित्यत आहुः आत्मन इत्यादि। जीवस्य चित्प्रधानेन स्वरूपेणावस्थानं स्वरूपलाभः। स विद्यया। अन्यथारूपत्वं देहलाभः। सोऽविद्यया। तदुभयमपि विचार्यमाणं सिसृक्षाकार्यमत मोक्षस्यापि सर्गत्वमित्यर्थः। इदं यथा तथा तृतीयस्कन्धनिबन्धे स्फुटम्। ननु मोक्षस्य सर्गत्वे देहलाभजनिकाया अविद्याया इव मोक्षजनिकाया विद्याया अपि जीवधर्मत्वं स्यात्। तथा सति तदुद्भवोऽपि प्रवाहादेव स्यादिति विद्यार्थं साधनप्रयासो व्यर्थः स्यादित्यत आहुः उभयोरित्यादि। तथाचाविद्योद्भवोऽपि न केवलं प्रवाहात्, किन्तु तथा भगवदिच्छयेति। विद्योद्भवोऽपि न तस्मात् किन्तु तथेच्छासाधनेभ्य एवेति न वैयर्थ्यमित्यर्थः। "एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत" इत्यादिश्रुतिरत्रानुसन्धेया। तेनेच्छायां प्रकारविशेषसत्त्वान्न दोष इति भावः। ननु भवत्वेवं तथापि निकृष्टया सहास्याः कथनं नोचितमित्याकाङ्क्षायां श्रुतावेकादशस्कन्धे चैतयोः सहनिरूपणप्रयोजनं स्मारयन्ति अनयोरित्यादि। तथाचैकनिवर्त्यत्वाय सर्वत्रैतयोः सहनिरूपणादत्रापि तथा निरूपणमित्यर्थः। ननु भक्त्या माया निवर्त्यताम्। वाचनि-

योजना।

विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती इति। मूले "विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्। बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते" इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्ये मायानिर्मितकथनेन जन्यत्वप्राप्त्या कथमुभयोर्भगवच्छक्तित्वमित्याशङ्क्य नात्र मायया मे विनिर्मित इत्युक्त्या माया-

मायाधीनत्वमाह माययैव विनिर्मिते इति । तेन, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इति वाक्याद् भक्तौ सत्यामविद्यादि निवर्तते विद्यापि । अन्यथा नित्यमुक्तता न स्यात् । ते उभे जीवरूपस्यैवांशस्य भवतः नान्यस्य जडांशस्यान्तर्यामिणो वा । जीवस्यैव दुःखितत्वमनीशत्वं च ॥ ३१ ॥

अविद्यायाः पञ्च पर्वाण्याह—

स्वरूपाज्ञानमेकं हि पर्व देहेन्द्रियासवः ।
अन्तःकरणमेषां हि चतुर्द्धाऽध्यास उच्यते ॥ ३२ ॥
पञ्चपर्वा त्वविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिम् ।

स्वरूपाज्ञानमिति । अन्तःकरणाध्यासः प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यासो देहाध्यासः स्वरूपविस्मरणं चेति पञ्च पर्वाणि । यस्यां सम्पूर्णायां जातायामन्यधर्मैर्बद्धो जन्ममरणे प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

आवरणभङ्गः ।

कत्वात् । विद्याऽविद्ययोस्तु तथात्वं न युक्तं प्रमाणाभावादित्यत आहुः अन्यथेत्यादि । भगवता हि जीवानां नित्यमुक्तत्वाय मायानिवृत्तिर्बोध्यते । अतस्तेनैवैतयोरपि तथात्वं निश्चीयत इति न प्रमाणाभाव इत्यर्थः । ननु ते उभे भगवच्छक्ती सर्वेषु जीवजडान्तर्यामिषु कुतो न प्रभवत इत्यत आहुः । ते इत्यादि । "एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते । बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः" इति वाक्यात् तथेत्यर्थः । जीवे तत्सम्बन्धस्य गमकं सार्वजनीनमाहुः जीवस्यैवेत्यादि । अनीशित्वमनङ्कुशत्वम् । 'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन' इति वाक्योक्तं मुक्ताभिमानित्वमित्यर्थः । सजातीयत्वेन दुःखित्वाद्यभावस्य सम्भवदुक्तिकत्वात् तन्निषेधायेदमुक्तम् । मूले, अपिना वा सुखित्वेशित्वरूपं विद्याकार्यं सङ्गृहीतं ज्ञेयम् ॥ ३१ ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतं संसारप्रकारं वक्तुं विवक्षितमविद्यापर्वस्वरूपं बोधयन्ति अविद्याया इत्यादि । अन्तःकरणाध्यास इत्यादि । अत्रायमर्थः । पातञ्जलभाष्ये, विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठमिति सूत्रं व्याकुर्वद्भिर्व्यासपादैः, "सैषा पञ्चपर्वा भवत्यविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा" इति । अत एव च संज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति । "एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्त" इत्युक्तम् । ततो द्वितीयपादे तानेव चित्तमलानुक्त्वा, अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषामितिसूत्रे प्रथमक्लेशस्य सर्वक्लेशोत्पत्तिस्थानत्वमुक्तम् । तेन तस्यैव मुख्यत्वम् । ततोऽ-

योजना ।

जन्यत्वमुच्यते, किन्तु मायाधीनत्वमित्याहुरनयोर्मायाधीनत्वमाहेत्यनेन । तथाच मायाकर्तृकमविद्याविद्याकर्मकनिर्माणं नाम मायाप्रेरितयोर्जीवान् प्रति बन्धकत्वकरणमित्यर्थो भवति । अत एव मम तनू इत्युक्त्या स्वशक्तित्वकथनेन तनुत्वं सङ्गच्छते । "विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्" इत्यनेन मुख्यासु द्वादशशक्तिषु गणना चात एव ॥ ३१ ॥

आवरणभङ्गः ।

भ्रिमसूत्रे, अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति तत्स्वरूपमुक्तम् । तद्भाष्ये चानित्यादिकं पृथिवीदेहादिरूपं, तत्र नित्यख्यात्यादिकं च व्याख्याय, एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलं क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य विपाकस्य चेत्युक्त्वा, अमित्रागोष्पदवद् वस्तु सतत्त्वं विज्ञेयमिति प्रतिज्ञाय, यथा नामित्रो मित्राभावो, न मित्रमात्रं, किन्तु तद्विरुद्धसम्पदित्यादिना विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति तत्स्वरूपं व्याख्यातम् । तत्र वाचस्पतिना मूलपदं व्याख्यानाया-वतारयता, दिङ्मोहालातचक्रादिविषयाऽनन्तपदा अविद्या तत् किमुच्यते चतुष्पदेत्याशङ्क्य, सन्तु नामान्या अप्यविद्याः, संसारबीजं तु चतुष्पदैवेति मूलपदस्य कृत्यमुक्तम् । तेनाविद्या अनेकाः । तथा श्रीधरीये, तमो नाम स्वरूपाप्रकाशः । मोहो देहाद्यहंबुद्धिः । महामोहो भोगेच्छा । तामिस्रस्तत्प्रतिघाते क्रोधः । अन्धतामिस्रस्तन्नाशेऽहमेव मृतोऽस्मीति बुद्धिः । तदेवोक्तं वैष्णवे—"तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तःकरणविभ्रमः । महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा । मरणं ह्यन्धतामिस्रस्तामिस्रः क्रोध उच्यते । अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः" इति विष्णुस्वामिना अज्ञानविपर्यासभेदभयशोका उक्ताः "स्वादृगुत्थविपर्यासभवभेदजभीशुचः । यन्मायया जुषन्नास्ते तमिमं नृहरिं नुमः" इत्येवं प्रथमस्य सप्तमे श्रीधरेण तत्कृतपद्यस्योक्तत्वात् । सुबोधिन्यां तृतीयस्कन्धे द्वादशाध्याये तु, "ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमि"त्यत्र मायाकार्यस्य भगवच्छ-क्तिरूपस्याज्ञानस्य पञ्चवृत्तिषु ज्ञानाभावोऽन्धतामिस्रम् । विषयेष्वेव मोहस्तामिस्रम् । देहोऽहमि-तिवत् स्वस्य विषयैक्यबुद्धिर्महामोहः । ममेति बुद्धिर्मोहः । तमस्त्वज्ञानं, कोऽहमिति न वेदेति व्याख्यातम् । विंशाध्याये तु, तामिस्रं भगवद्वैमुख्ये महाभोगेच्छा । अन्धतामिस्रं तादृशी भोगेच्छा । अज्ञानं तमः । पुत्रादिषु सकलेषु विकलेष्वहमेव विकलादिरिति बुद्धिर्मोहः । ततो देहाहङ्कारो महामोह इति व्याख्यातम् । एवं पञ्चशिखवृत्तौ साङ्ख्यसप्ततौ च, "भेदस्तमसो-ऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः । तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः" इति द्विषष्टिप्रकारेणोक्ताः । तेन तत्तदुक्तानि पर्वाण्यपि भिन्नानि । एकादशस्कन्धे तु भगवता, "विद्या-ऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते" इत्यनेन तयोः प्रत्येकमेकत्वमुक्तम् । एवं सति समष्टिरूपेण वनमितिवदैक्यम् । व्यष्टिरूपेण वृक्षा इतिव-न्नानात्वम् । तत्र समष्टिरूपा भगवच्छक्तिर्व्यष्टिरूपा जीवानामिति सिद्ध्यति । एवं सति पातञ्जले द्वितीयपादोक्तपर्वकत्वाद् वैष्णवादिपुराणेषु च चतुर्मुखसृष्टत्वाज्जीवशक्तिरूपैवोच्यते, न तु मायाजन्या सृष्टिपूर्वकालीना भगवच्छक्तिरूपेति निश्चीयते । अतस्तत्स्वरूपज्ञापनाय तत्पर्वाणि वाच्यानि । तत्र माया त्रिगुणेति तद्रजस्तमोभ्यामियं जातेति पूर्वकालीनाया मायाया नाध्यासः । अव्यक्तरूपत्वाच्च । किन्तु समकालीनानामुत्तरकालीनानामेव सः । मायातश्च महत उत्पत्तिः । ततोऽहमः । तौ चान्तःकरणरूपाविति पूर्वं तदध्यासः । अहम एव रूपान्तरं प्राण इति ततस्त-दध्यासः । ततो भूतानीति देहाध्यासः । देहस्य भौतिकत्वादिति । एवमध्यासे पूर्णे स्वरूपविस्म-रणमिति बोधयितुं मूलप्रातिलोम्येन व्याख्यातम् । स्वरूपं तु, "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न

अविद्यां निरूप्य विद्यां निरूपयति—

विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति ॥ ३३ ॥
देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति हि ।

विद्ययेति । निद्रावदविद्यापगमे न जीवस्य जन्ममरणे । तदा तस्मिञ्जन्मनि गृहीतानां देहादीनां विलयाभावमाह देहेन्द्रियासव इति । अध्यास एव गच्छति, न

आवरणभङ्गः ।

प्रतीयेत चात्मनि" इत्यत्र विपरीतज्ञानरूपं सिद्धमेवेति पर्वकथनेनैवोक्तं, न पृथगित्येवं बोध्यः । एवं सति पूर्वोक्तरूपयाऽविद्यया कृतः कर्तृत्वाद्यभिमानजनको जीवनिष्ठोऽन्तःकरणाभेदप्रत्ययोऽन्तःकरणाध्यासः । तादृशः प्राणाद्यभेदप्रत्ययः प्राणाद्यध्यासो यदा भवति तदा सा सम्पूर्णा भवति । तदा, अन्यधर्मैः कृशोऽहं पुष्टोऽहं काणोऽहं सुलोचनोऽहं क्षुधितस्तृप्तो जानामीत्यादिभिर्देहादिधर्मैर्व्याप्तो जन्ममरणे प्राप्नोति । "जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद । विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथौ । विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः । जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृति"रिति वाक्यात् तथा भवतीत्यर्थः । वाक्यार्थस्तु पुत्रादौ स्नेहमात्रेण न, किन्त्वभेदेन याऽऽत्मतया देहाभिमतिः सा जन्मेत्यर्थ इति पूर्वस्य, विषयाभिनिवेशेन विद्यमानदेहाहङ्कारेण कस्यचिद्धेतोः कस्मादपि कारणाद् आत्मानं न स्मरेत् सा अत्यन्तविस्मृतिर्मृत्युरित्युत्तरस्य । एवञ्च मूलाविद्याकृतो देहाध्यासादिबन्धस्तेन कृतो यो जन्ममरणादिपरम्पराजनको देहादिधर्माध्यासः स संसार इति फलति । एतेन बन्धस्यापि सादित्वं समर्थितम् । वाक्योक्तमनादिपदं तु त्रिदशाऽमरन्यायेनासदादिसाधारणसादित्वनिषेधपरम् । अन्यथा अविद्ययेति करणबोधकविभक्तिबाधप्रसङ्गादिति ॥ ३२ ॥

अविद्यामित्यादि । सकार्यां तां निरूप्य कार्यद्वारा विद्यां निरूपयतीत्यर्थः । ननु विद्यया मोक्ष एव भविष्यति चेत् कस्तर्हि भजनोपयोग इत्याकाङ्क्षायामविद्यानाशस्तया न सर्वथेति, मोक्षोऽपि न तथेति वक्तुमाहुः निद्रावदित्यादि । कार्यस्य सर्वथा नाशो हि समवायिनाशात् । प्रकृते च विद्यायाः सात्त्विकीत्वेन स्वजनकमायानाशकत्वाभावान्मायासत्त्वात् तत्र सूक्ष्मरूपेणाविद्यायाः सत्त्वे तस्या उपमर्द एव, न तु नाशः । तेन तत्कार्यस्यापि देहादिधर्माध्यासस्योपमर्द एवेति जन्ममरणाभावरूप एव मोक्षो, न तु विश्वमायानिवृत्तिरूपो मोक्षः । तथाच सहेतुकस्य सकार्यस्य बन्धस्योपमर्दरूपोऽभावो विद्याकृतमोक्ष इति फलति ॥ ३३ ॥

एतेनापि पूर्वोक्तं संसारप्रपञ्चयोर्लयप्रकारभेदं व्याकुर्वन्ति तदेत्यादि । तदेति अविद्यापगमे । अत्र देहेन्द्रियासूनां सर्वेषां निरध्यस्तत्वकथनादन्तःकरणस्य चाकथनादन्तःकरणं किञ्चिदध्यस्तं तिष्ठतीति ज्ञायते । पूर्वोक्तनिद्रादृष्टान्तेनाविद्यायाः स्वकारणभूतायां मायायामेवावस्थानमिति च । यथा हि जाग्रदवस्थोपमर्दिता निद्रा बुद्धिवृत्तिरूपत्वाद् बुद्धौ तिष्ठति तथेति । माया चात्र देहारम्भकधातुकारणभूता । तत्राविद्यास्थितौ तत्प्रत्यासन्नमन्तःकरणं किञ्चिदविद्या व्याप्नोतीति तस्यैव किञ्चिदध्यस्तत्वं, नेतरेषामिति हृदयम् ।

तथापि न प्रलीयन्ते जीवन्मुक्तगताः स्फुटम् ॥ ३४ ॥

स्वरूपम् । प्रपञ्चमध्यपातात् । अध्यासाभावे स्थितिर्न स्यादित्याशङ्क्याह तथापि न प्रलीयन्त इति । स्वबुद्ध्या लीनवत् प्रतिभानेऽपि न सर्वेषां बुद्ध्या तथा प्रतिभानम् ॥ ३४ ॥

देहादीनां स्थितौ सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन कदाचित् पुनरध्यासः स्यादतस्तेषां विलय-प्रकारमाह—

आसन्यस्य हरेर्वापि सेवया देवभावतः ।
इन्द्रियाणां तथा स्वस्मिन् ब्रह्मभावाल्लयो भवेत् ॥ ३५ ॥

आसन्यस्येति । आसन्यसेवायामिन्द्रियाणां देवतात्वमिति श्रुतिः, "स वाच-मेव प्रथमामत्यमुच्यत" इत्यादिः । हरेः सेवया सर्वमिति भगवच्छास्त्रम् ।

आवरणभङ्गः ।

तत्राशङ्का—अध्यासाभाव इत्यादि । देहाद्यध्यासाभावे तेषामत्यन्तविस्मरणादत्यन्तविस्मरण-स्यैव च मृत्युत्वाद्देहादिस्थितिर्न स्यादित्याशङ्क्य तदभावेऽपि तेषां स्थितिमाहेत्यर्थः । किमत्र मानमि-त्याकाङ्क्षायां मूलस्थं स्फुटपदं व्याकुर्वन्ति स्वबुद्ध्येत्यादि । तथाच यद्यध्यासात् स्थितिः स्याज्जीवन्मुक्ता एव न स्युः । तथा सति शास्त्रं प्रसिद्धिश्च विरुद्ध्येत । अतस्तदभावायाध्यासाभावेऽपि देहादि-स्थितिरङ्गीकार्या । तथा सति संसारनाशेऽपि प्रपञ्चस्थितेः संसारप्रपञ्चौ भिन्नावेव सिद्धाविति भावः । एवमत्र विद्यया अविद्याभिभव एव न तु सर्वथा नाश इत्युक्तम् ॥ ३४ ॥

तत्र प्रमाणं बोधयितुं तेषामविद्याभयं स्फुटीकुर्वन्ति देहादीनामित्यादिना । तथाच तेषां यदि भयं न स्यात् तदा आसन्यसेवादिकं न कुर्युरतस्तथेत्यर्थः । मूलयोजना तु, आसन्यस्य हरेर्वा सेवया इन्द्रियाणां देवभावतो देहादीनां लयो भवेत् । स्वस्य ब्रह्मभावादपि तथेति । उक्तप्रकारद्वयमध्ये प्रथमे प्रमाणमाहुः आसन्यसेवायामित्यादि । इयं च श्रुतिर्बृहदारण्यके उद्गीथब्राह्मणेऽस्ति । "स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् । सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत् । सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते" । एवमेवाग्रे, "अथ प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मन इति वर्तते" । तदत्र प्रतीकद्वयमेकीकृत्योक्तम् । अर्थस्तु, स वै प्रसिद्ध आसन्यः प्राणो वाचमेव प्रथ-माम् उद्गातृषु पूर्वामत्यवहत् । मृत्युमतीत्यावहत् । स्वं स्वरूपं प्रापितवान् । सा वाग् यदा यस्मिन् काले मृत्युमत्यमुच्यत मृत्युमतीत्य मुक्ता जाता तदा सोऽग्निरभवत् प्रसिद्धाग्निरूपा जाता । तर्हि पूर्वस्मात् को विशेष इत्यत आह । स पापान्निष्क्रान्तोऽयमग्निर्वाग्रूपः परेणासन्येन मृत्युमतिक्रा-न्तस्तीर्णमृत्युर्दीप्यते प्रकाशत इत्यर्थः । द्वितीये प्रमाणमाहुः हरेरित्यादिना । भगवच्छास्त्र-मिति "यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि । सर्वं योजना ।

आसन्यस्य हरेर्वापीत्यस्य व्याख्याने[1]—×—

---

[1] योजनाकारस्य मते आसन्यस्य—आनन्दांशप्रकाशाद्यीतयोः कारिकयोरेकमेव व्याख्यानं प्रतीयते । यतः प्रकाशकारैरानन्दशेतिकारिकायाः पूर्वार्धाद्ब्रह्मभवमाकृष्योत्तरार्धाच्च सायुज्यपदमाकृष्य आनन्देशेति प्रतीकं व्याख्यातम्, तत्रत्यं सायुज्यब्रह्मभावावितिपदं व्याकरोति श्रीबालकृष्णभट्टः ।

भगवतो मुखमग्निः। स्वस्य वागिन्द्रियमग्निश्चेद्भगवन्मुखत्वमापद्यते। एवं सर्वेषामाध्यात्मिकानामाधिदैविकत्वम्। तदा सङ्घातस्य लय इत्यर्थः। स्वस्य जीवभावे स्थिते कदाचित् सङ्घातान्तरं सम्पादयेदिति जीवस्य ब्रह्मभावमाह स्वस्मिन् ब्रह्मभावादिति॥ ३५॥

ब्रह्मभावप्रकारमाह—

आनन्दांशप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति।
सायुज्यं वान्यथा तस्मिन्नुभयं हरिसेवया॥

आनन्दांशेति। तिरोहितस्याविर्भावे ब्रह्मभावः। तथा जडेऽपि। तत्र भगवदिच्छैव केवला प्रयोजिका। अतस्तस्या अनियतत्वात् सायुज्यं वा भवति। अन्यथा

आवरणभङ्गः।

मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति" इत्येकादशे भगवद्वाक्यमित्यर्थः। अत्र ज्ञानसाध्यस्यापवर्गस्य भक्तिसाध्यत्वकथनात् प्रस्तुतार्थसिद्धिः। नन्विन्द्रियाणां भवतु देवतात्वं, तावता सङ्घातलयः कथं भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः **भगवत इत्यादि**। **सर्वेषामिति**। श्रुत्युक्तानां प्राणादीनाम्। तथाच तेषां देवत्वेन भगवदिन्द्रियरूपत्वे तैरेतच्छरीरं त्रिगुणात्मकं त्यज्यते। तदा देहप्राणयोर्वियोगे सङ्घातः पञ्चत्वमापद्यत इत्यर्थः। नन्वेवं सति आसन्यसेवयैव तथा भविष्यति किं भगवद्भजनेनेत्याशङ्कायां तदपाकरणाय नासन्यसेवामात्रेणैव चारितार्थ्यं, किन्त्वधिकमपि किञ्चिदपेक्षितमिति वदन्ति **स्वस्य जीवभावेत्यादि**। कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यधिकरण उपादानसूत्रे जीवस्योपादातृत्वं साधितम्। जीवश्च प्राणधारणसमर्थ इति स्वस्य जीवभावे विद्यमाने पुनस्तथा कुर्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं ब्रह्मभावमाहेत्यर्थः। **स्वस्येत्यादि**। ब्रह्मभावे सति मूलकारणे सङ्घातस्य लयो, न तु पञ्चत्वम्। स्वस्याप्यक्षरे लयो, न तु जीवत्वमतस्तदर्थं यतनीयमित्यर्थः॥ ३५॥

स ब्रह्मभावः कथमित्यत आहुः **ब्रह्मभावेत्यादि**। तस्य स्वरूपमाहुः **तिरोहितस्येत्यादि**। पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगादिति सूत्रे तिरोहितस्यैवानन्दस्याविर्भावः प्रतिपादितः। तस्मिंश्चाविर्भूते प्रकटसच्चिदानन्दतायां व्यापकत्वादिधर्माणामप्याविर्भावे ब्रह्मसाम्यं यन्निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति श्रुत्युक्तं, स एव ब्रह्मभाव इत्यर्थः। तथा सति तादृशजीवेन वह्न्ययोगोलकवद् व्याप्ते देहेऽपि चिदानन्दयोस्तदीययोराविर्भावः। तदा जडत्वस्य लयः। त्रिगुणात्मकत्वनिवृत्त्या ब्रह्मात्मकत्वम्। स्वस्य च भोक्तृभावनिवृत्त्या तथात्वमित्यर्थः। इदं यथा तथा प्रपञ्चितं साधनाध्याये, हानौ तूपायनेत्यधिकरणे प्रभुभिः। एवं भावश्च दुर्लभ इत्याहुः **तत्रेत्यादि**। ज्ञानित्वेन स्थापने इच्छायामेवैवं भाव इति तदभावे फलान्तरमाहुः **सायुज्यमिति**। अलककौस्तुभादिरूपेण स्वरूपेऽवस्थानम्। इदं चतुर्थस्कन्धस्थमोक्षप्रकरणादवगन्तव्यम्। वेत्यनेनाक्षरसायुज्यमेव कस्यचिद्द्यादित्यपि सूचितम्। तस्याप्यादित्सायां यद् भवति तदाहुः **अन्यथेत्यादि**। अन्यथेति। तदुभयादित्सयाऽऽनन्दांशप्रकाशाभावे। तथाच, "येऽन्येऽरविन्दाक्ष! विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्त-

एवं कदाचिद् भगवान् साक्षात् सर्वं करोत्यजः ॥ ३६ ॥

सङ्गाते गच्छेत् । सायुज्यब्रह्मभावौ हरिसेवयैव भवतो नान्यसेवया ॥ एवमेकप्रकारेण सृष्टिमुक्त्वोपसंहरति—एवं कदाचिदिति । साक्षात् सर्वोत्पत्तिप्रकारोऽयम् ॥ ३६ ॥

कदाचित् पुरुषद्वारा कदाचित् पुनरन्यथा ।

श्रुतौ नानाविधाः सृष्टिप्रकाराः साक्षात्परम्पराभेदेन । तत्र सर्वेषां सङ्ग्रहार्थं सृष्ट्य-

---

आवरणभङ्गः ।

भावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः" इति वाक्यात् तथेत्यर्थः । तस्मादासन्योपासनमपि त्यक्त्वा भगवानेव भजनीय इत्याशयेनाहुः सायुज्येत्यादि । "मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान् समतीत्य त्रीन् ब्रह्मभूयाय कल्पते" इति । "अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते" इति वाक्यादुभौ हरिसेवयैव भवतो, नान्यसेवया । आसन्योपासनाया"मेवꣳह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेदे"त्यनेन दुःखाभावमात्रस्यैव तत्र फलत्वेनोक्तत्वादासन्यस्याणुत्वादंशत्वाच्च तथेत्यर्थः । एवमेतावता सन्दर्भेण जीवस्य संसार एवाविद्ययेति स एव मिथ्या । स तु न भगवत्स्वरूपस्त्रिगुणात्मको वा । इच्छायां जीवजडादिव्युच्चरणे वैजात्ये व्यवहारे वा नाविद्यासम्बन्धगन्धोऽपीति न प्रपञ्चो मिथ्या । संसारस्य सर्वात्मना निवृत्तौ च न विद्यादेः सामर्थ्यं, किन्तु भक्तेरेव । तस्माद् भगवानेव तदर्थं सेव्य इति साधितम् । तदिदं तदा दृढीभवति यदा प्रकारान्तरं परमतोपष्टम्भकं न भवति । तत्तु न वक्तुं शक्यम् । सृष्टेर्नानाविधत्वेन तथापि सम्भवदुक्तिकत्वादिकाङ्क्षायां साधितपूर्वं समर्थयितुं सृष्ट्यन्तराणि वदिष्यन्तस्तेन श्रुतीनां पूर्वोक्तरीतिकमेकवाक्यत्वं च समर्थयिष्यन्तः पूर्वोक्तोपसंहारमाहुः **एवमेके**त्यादि । साक्षात्पदप्रयोजनमाहुः **साक्षा**दित्यादि । तेनेतरेष्वप्येवमेव व्युच्चरणं साक्षात्प्रकारेषु ज्ञेयमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

क्वचिदन्यथाप्यस्तीति वक्तुमाहुः **श्रुता**वित्यादि । तत्र साक्षात्प्रकारा यथा मुण्डके "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" इत्युपक्रम्य, "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" इति सृष्टिः । यथा चैतरेये "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदि"त्युपक्रम्य लोकानां लोकपालानां च सृष्टिः । यथा च महोपनिषदि "एको ह वै नारायण आसीदि"त्युपक्रम्य चतुर्दशपुरुषादीनां सृष्टिः । परम्पराप्रकारस्तु यथा छान्दोग्ये । "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि"त्युपक्रम्य तेजोऽबन्नसृष्टिः । तैत्तिरीये आत्मनः सकाशादाकाशादिक्रमेण सृष्टिश्च । तत्तात्पर्यमाहुः **तत्रे**ति । श्रुतौ पुराणतन्त्रादिनिरूपितरीतिसङ्ग्रहार्थमेवैवं निरूप्यत

योजना ।

सायुज्यब्रह्मभावाविति । "भक्त्या मामभिजानाती"त्यारभ्य "विशते तदनन्तरमि"ति वाक्याद्भक्तस्यैव सायुज्यम् । "मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पत" इति वाक्यात्सेवया ब्रह्मभावः ॥ ३५ ॥

कदाचित् सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः ॥ ३७ ॥

न्तराण्याह कदाचित् पुरुषद्वारेति । पुराणे पुरुषद्वारा सृष्टिः प्रसिद्धा । पुरुषादीनां द्वारत्वमेव । अन्यथा चतुर्मूर्तिप्रकारेण । स प्रकारः पञ्चरात्रे प्रसिद्धः ॥ एवं श्रुतिपुराणतन्त्रेषु सृष्टिमुक्त्वा "स आत्मानमेवावैदहं ब्रह्मास्मी"ति । तस्मात् सर्वमभवदित्यादिषु साक्षात् प्रपञ्चरूपता निरूपिता । तामाह । कदाचिदिति । इहेति । सृष्टिभेदेषु । जनार्दन इति । लीलार्थजीवानां क्लेशमसहमानः । अस्मिन् पक्षे नानन्दांशतिरोभावः ॥ ३७ ॥

महेन्द्रजालवत् सर्वं कदाचिन्माययाऽसृजत् ।
तदा ज्ञानादयः सर्वे वार्तामात्रं न वस्तुतः ॥ ३८ ॥

स्वप्नादिसृष्टिसङ्ग्रहार्थमाह महेन्द्रजालवत्सर्वमिति । मायया केवलया, न तु स्वयं तत्र प्रविष्टः । तत्सृष्टौ न कोऽपि पुरुषार्थ इत्याह तदा ज्ञानादय इति । सन्ति ज्ञानादयः, परं वार्तामात्रं, न तु फलसाधकाः ॥ ३८ ॥

आवरणभङ्गः ।

इति पुराणान्यप्याहेत्यर्थः । द्वारत्वमिति । "कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोऽक्षजः । पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् । ततोऽभवन्महत्तत्त्वम्" इति तृतीयस्कन्धादित्यर्थः । पञ्चरात्रे प्रसिद्ध इति । वासुदेवो भगवान् सर्वकारणं परमेश्वरस्तस्मादुत्पद्यते सङ्कर्षणाख्यो जीवस्तस्मात् प्रद्युम्नो मनस्तस्मादनिरुद्धोऽहङ्कार इत्येवं प्रसिद्ध इत्यर्थः पुरुषविधब्राह्मणोक्तं प्रकारं पुष्टिसृष्टिरूपं वक्तुमाहुः एवं श्रुतीत्यादि । इत्यादिष्विति । आदिपदेन, "तदात्मान१ँ स्वयमकुरुते"त्यादीनां श्रौतानाम्, "अहमेवासमेवाग्र" इत्यादीनां पौराणिकानामपि सङ्ग्रहः । जनार्दन इति । जनामविद्यामर्दयतीति तथा । तदाहुः लीलेत्यादि । स्वप्नादीत्यत्रादिपदेन, "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेते"त्यत्रोक्ता नृसिंहोत्तरतापनीयोक्ता च विषयतारूपा सृष्टिः सङ्गृह्यते । इयमेव चान्तरा सृष्टिरित्युच्यते । सा चाभासप्रतिबिम्बतमःप्रतिध्वनिदोषावरणमायागन्धर्वनगरादिभेदभिन्नाऽनेकविधा तेषु तेषु वाक्येषूच्यते । तत्र चतुर्विधा, ऋतेऽर्थमिति पद्य उक्ता । "न तं विदाथ य इमा जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरं भवती"ति श्रुतावन्यच्छब्देन, "न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे" इति वेदस्तुतावन्तरा विभातीत्यनेनोक्ता ज्ञेया ॥ ३७ ॥

नन्वेवं सति प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानेऽप्यदोष इत्यत आहुः तत्सृष्टावित्यादि । अयमर्थः ।

योजना ।

महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्माययाऽसृजत् इति मूले । तत्र "एवं कदाचिद्भगवान्" इत्यादिनोक्तासु सृष्टिषु यथा कल्पभेदस्तथा कस्मिंश्चित्कल्पे मायिक एव प्रपञ्चोऽस्तीत्याशङ्क्य नात्र कल्पभेदेन प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमुच्यते, अपि त्वयं प्रपञ्चः सर्वदैव सत्योऽस्ति । किन्तु स्वप्नादिसृष्टिर्मायिकीत्याशयेनाहुः स्वप्नादिसृष्टिसङ्ग्रहार्थमाहेति । इह षट्सु सृष्टिप्रकारेषु—"एवं कदाचि-

वैदिकीमपरामपि सृष्टिमाह—

वियदादि जगत् सृष्ट्वा तदाविश्य द्विरूपतः ।
जीवान्तर्यामिभेदेन क्रीडति स्म हरिः क्वचित् ॥ ३९ ॥

वियदादीति । आकाशं सृष्ट्वा तद्द्वारा वायुमित्यादि । अस्मिन्नपि पक्षे जडानां पूर्ववदेव व्यवस्था । जीवान्तर्यामिभेदे भिन्नं भिन्नं प्रकारमाह । तदाविश्येति । पूर्वकल्पेषु जीवान्तर्यामिणोः प्रवेशः । अस्मिन् कल्पे प्रविष्टस्य जीवान्तर्यामिभाव इति । एवं षड्भेदानुक्त्वा षड्गुणैर्भगवतो लीलेयमित्याह क्रीडति स्मेति ॥ ३९ ॥

एकः कथमनेकधा सृष्टिं करोतीत्याशङ्क्याह—

अचिन्त्यानन्तशक्तेस्तद् यदेतदुपपद्यते ।
अत एव श्रुतौ भेदाः सृष्टेरुक्ता ह्यनेकधा ॥ ४० ॥

अचिन्त्यानन्तशक्तेरिति । अचिन्त्या अनन्ताः शक्तयो यस्येति । यदेतत् सर्वं

आवरणभङ्गः ।

स्वप्नद्रष्टारः पुरुषाः पश्यन्तीति प्रतीतावपि न तेषां दर्शनं वास्तवं, न वा तज्जन्यफलभोगादिकं, न वा शरीरादिकम् । सर्वस्य मिथ्यारूपत्वात् । एवमिन्द्रजालादावपि । अतो यदा बाह्यस्य सर्वस्यैव तथात्वं तदा ज्ञानादीनां साधनानां तत्फलानां स्वर्गमोक्षादीनामपि तथात्वमिति तथा ज्ञाने स्वस्य स्वकृतसाधनस्य ज्ञानादेश्च तथात्वान्मोक्षाभाव एव दोष इत्यर्थः । तैत्तिरीयाणां ब्रह्मविद्प्रपाठके या क्रमसृष्टिरुक्ता तां वदन्ति वैदिकीमित्यादि । पूर्ववदेव व्यवस्थेति । "तदात्मान२ स्वयमकुरुते"त्यग्रे वक्ष्यमाणत्वाज्जडेष्वानन्दांशादेर्न तिरोभाव इत्यर्थः । तर्हि पुरुषविधब्राह्मणोक्तप्रकारादत्र को विशेष इत्याकाङ्क्षायामाहुः जीवेत्यादि । प्रविष्टस्येत्यादि । "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवदि"ति श्रुतेरित्यर्थः । षड्भेदकथनतात्पर्यमाहुः एवं षड्भेदानित्यादि । अत्र षड्गुणेष्वैश्वर्यादिभिः क्रमेण चतस्रः, पञ्चमी वैराग्येण, षष्ठी ज्ञानेनेति ज्ञेयम् । क्रीडति स्मेति । एतेनैव करणप्रयोजनमुक्तं ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥

अचिन्त्येत्यादि । "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति

योजना ।

भगवान्साक्षात्सर्वं करोत्यजः' इत्यनेनोक्तायाः सृष्टेः सकाशात्कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः' इत्यनेन कथितायां सृष्टौ साक्षात्त्वस्य समानत्वेऽपि करणभवनयोर्भेदः । तत्र हि 'करोत्यजः' इत्यनेन करणत्वोक्त्या कृत्यंशः कश्चिदवश्यं वक्तव्यः, स चानन्दचिदंशतिरोधानकृतिरूप इति तस्यां सृष्टौ अंशद्वयतिरोधानम् । द्वितीयसृष्टौ तु 'कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः' इत्यनेन भवनोक्त्या न कश्चित्कृत्यंश उक्त इति नास्यां सृष्टौ कस्याप्यंशस्य तिरोभावः । अतोऽस्यां सृष्टौ जीवा जडाश्च सच्चिदानन्दरूपा इति ज्ञेयम् । पूर्वसृष्टौ "आत्मान२ स्वयमकुरुत" इति श्रुत्युक्तः कृत्यंशो मूलम् । द्वितीयसृष्टौ तु तस्मात्सर्वमभवदिति भवनोक्तिर्बीजमिति विवेकः ॥ ३८ ॥

मुक्तं तदुपपद्यते। अस्मिन्नर्थे श्रुतेस्तात्पर्यमाह अत एवेति। श्रुतौ नानाप्रकरणेषु सृष्टिभेदाः सहस्रशो निरूपिताः ॥ ४० ॥

अनेकधा सृष्टिकथनस्य प्रयोजनमाह—

यथाकथञ्चिन्माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते।
भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं तत्त्वमस्यादिकं तथा ॥ ४१ ॥

यथाकथञ्चिदिति। वेदानां भगवन्माहात्म्यप्रतिपादकत्वं, बन्दिनस्तत्पराक्रमैरिति वाक्यात् तत्सृष्टिकथने भवतीति सृष्टिभेदा निरूप्यन्ते। वस्तुतस्तु, सृष्टिकर्तृत्वेऽपि न भगवतो माहात्म्यं, महाराजाधिराजस्य चलितुं ज्ञानमिव। तथापि लोकप्रतीतौ तन्माहात्म्यं भवतीति यथाकथञ्चिद् वर्ण्यते। माहात्म्यज्ञानस्योपयोगमाह। भजनस्यैव सिद्ध्यर्थमिति। भक्तिसिद्ध्यर्थम्। भक्तेरंशद्वयमिति द्वितीयमपि प्रतिपादयतीति तथा लक्ष्यत इत्यर्थः। द्वितीयांशमाह तत्त्वमस्यादिकं तथा, कथयति ॥ ४१ ॥

भक्तिस्वरूपमाह—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥ ४२ ॥

माहात्म्येति। स्नेहो भक्तिः। रतिर्देवादिविषयिणी भाव इत्यभिधीयते। रतिः स्नेहो, देवत्वं माहात्म्यं तदात्मत्वेन ज्ञाते भवति। तेन भजनार्थमेवात्मत्वेन तन्नि-

---

आवरणभङ्गः।

श्वेताश्वतरश्रुतेरित्यर्थः। अस्मिन्नर्थ इति। अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वाज्ञापनरूपेऽर्थे। अत एवेति। यदि भगवत्यचिन्त्यानन्तशक्तिमत्तां नाभिप्रेयान्नानाप्रकारेण सृष्टिं न वदेत्, एकेनापि प्रकारेणोपादानत्वादिसिद्धेरित्यर्थः। अनेकधेत्यादि। नन्वऽचिन्त्यानन्तशक्तिज्ञापनायानेकधा सृष्टिकथनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां प्रयोजनमाहेत्यर्थः। वेदानां माहात्म्यप्रतिपादकत्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायां ब्रह्मवित्सम्मतिपूर्वकं प्रमाणं वदन्तस्तदुपपादयन्ति वेदानामित्यादि। भक्तिसिद्ध्यर्थमिति। भक्तिप्रतिपादनार्थम्। तत्र गमकमाहुः भक्तेरंशद्वयमिति। किं तावतेत्याकाङ्क्षायामाहुः द्वितीयांशमित्यादि। लक्ष्यत इति। निश्चीयत इत्यर्थः। तथेत्यस्यैव विवरणं कथयतीति॥४०॥४१॥

भक्तिस्वरूपमाहेति। भक्तेः कावंशावित्याकाङ्क्षायां भक्तिस्वरूपमाहेत्यर्थः। "केवलेन हि भावेन" इत्यादौ भावपदेन भक्तिरेवाभिधीयत इत्याशयेन सम्मत्यन्तरमाहुः रतिरित्यादि। तेन सा परानुरक्तिरीश्वर इति शाण्डिल्यसूत्रोक्तमपि सङ्गृहीतं ज्ञेयम्। अस्त्वेवं, तथापि वाक्यं कथं कथयतीत्यत आहुः तदिति। निरुपधि प्रेमेत्यर्थः। ननु ब्रह्मज्ञानेन मुक्तिरिति विजज्ञावित्युपसंहारादत्रावसीयते। तैत्तिरीयके ब्रह्मवित्प्रपाठकेऽपि, य एवं वेदेत्युपसंहाराच्च। एवं सति साधनभूतज्ञानशेषाण्येव सर्वाणि वाक्यानीति प्रकरणादेवावगम्यत इति भक्त्यर्थत्वमेषां न युक्तमित्या-

रूपणं माहात्म्ये चोच्यते । अन्यथा वाक्यद्वयं ब्रह्मप्रकरणे व्यर्थं स्यात् । ब्रह्मस्वरूपज्ञानेनैव पुरुषार्थसिद्धेः । तच्छाब्दज्ञानमप्रयोजकम् । इदानीन्तनेषु व्यभिचारदर्शनात् । साक्षात्कारस्तु ब्रह्माधीनः । प्रसन्नं तदाविर्भवतीति लोकरीत्याऽवगम्यते । श्रुतिश्च पुरुषार्थपर्यवसानं कथयति । अतः स्वरूपज्ञानं विधाय तस्य पुरुषार्थत्वमुक्त्वा तदाविर्भाव एव फलं सिद्ध्यतीत्याविर्भावार्थं प्रेमसेवां निरूपयन्ती अवज्ञानादिदोषाभावाय

आवरणभङ्गः ।

काङ्क्षायामत्र बाधकं तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । यदि तथा स्यात् तदैकमात्मत्वबोधकमेवात्र वाक्यं स्यात् । तैत्तिरीयकेऽपि स्वरूपलक्षणमात्रं वदेन्न तु कार्यमपीति, न तथेत्यर्थः । तथाचोपक्रमोपसंहाररूपबाधकोपपत्तेश्च बलिष्ठत्वान्नात्र प्रकरणबलेन स्वरूपज्ञानशेषत्वं वक्तुं शक्यमिति भावः । ननु वाक्यद्वयानुरोधात् तादृङ्माहात्म्यविशिष्टात्मत्वेनैव रूपेण ब्रह्मज्ञाने पुरुषार्थसिद्धिरङ्गीकार्येत्याकाङ्क्षायां बाधकमत्राहुः तच्छब्देत्यादि । तदिति, पुरुषार्थसाधकत्वेन विवक्षितम् । ननु शब्दादपरोक्षमेव भविष्यतीति नैष दोष इत्यत आहुः साक्षात्कार इत्यादि । तथाच यदि शब्दादपरोक्षं स्यात् तदा, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति श्रुतिर्विरुद्ध्येत । इयं हि काठके वर्तते । तत्र तु, "मत्वा धीरो न शोचती"ति ज्ञानफलमुक्त्वा कथं तज्ज्ञानमित्याकाङ्क्षायां, "नायमात्मे"त्याद्युक्त्वा, अग्रे, "नाविरत" इत्यादिना दुराचारिप्रभृतीनां तदज्ञानमुक्त्वा, सदाचारिप्रभृतीनां ज्ञानं भविष्यतीति शङ्कानिरासाय, "यस्य ब्रह्म चे"ति मन्त्रे, "क इत्था वेद यत्र स" इत्यनेन ज्ञानदौर्लभ्यमेवोक्तवती । यदि शब्दादपरोक्षं स्यात् तथा न वदेदिति भावः । नन्वेवं सति भक्तिरप्यप्रयोजिकेति तुल्यो दोष इति चेत् तत्राहुः प्रसन्नमित्यादि । लोकरीत्येति । लोके हि लौकिकः प्रभुः

योजना ।

प्रसन्नं तदाविर्भवतीति लोकरीत्याऽवगम्यत इति । इह लोकशब्देन स्मृतिपुराणादि गृह्यते । तत्र हि "मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्" इत्यनेन प्रसादेनैव दर्शनमुक्तम्, अतस्तन्न्यायेन श्रुतावप्ययमेव भगवत्प्रसादो भगवदाविर्भावहेतुत्वेनाभिमत इति बोद्धव्यम् । **प्रेमसेवां निरूपयन्तीति** । इहेदं तत्त्वम्—उपनिषदां भगवत्प्रेमसेवायामेव तात्पर्यमिति बुद्ध्यते, यतोऽशद्वयं बहुधा प्रतिपाद्यते । आत्मत्वं जगज्जन्मादिकारणत्वं च । तत्रात्मत्वबोधनं निरुपाधिप्रेमोत्पत्तये । यतः सर्वेषां स्वात्मनि निरुपाधिप्रीतिविषयः "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती"ति श्रुतेः । "अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन्प्रेयसामपि । अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः" इति भगवद्वाक्येऽप्यात्मन एव निरुपाधिप्रीतिविषयत्वेनोक्तेश्च । "स तु आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति श्रुतौ आत्मशब्देन स्वरूपं गृह्यते । तथा च 'ते आत्मा' इत्यनेन ते स्वरूपमुक्तं भवति । तथा च स्वरूपे सर्वेषामेव निरुपाधि[1]प्रेमवत्त्वाद्भगवतस्तु स्वात्मत्वे स्वस्वरूपत्वात् । तत्र स्वात्मत्वेन बोधिते निरवद्यस्नेहो भगवति भवेदित्येतदर्थमात्मत्वेन निरूपणम् । जगत्कारणत्वादिनिरूपणं तु माहात्म्यप्रतिपादनार्थम् । एवं माहात्म्ये ज्ञाते सेवा भवेत्, आत्मत्वेन ज्ञाते स्नेहो भवेदिति प्रेमसेवासिद्धये एतदुभयोक्तिरिति श्रुत्यभिप्रायो निरुपाधिप्रेमलक्षणायां पुष्टिभक्तावे-

---

[1] निरुपधि इत्यपि क्वचित् पाठः ।

माहात्म्यं च, सुदृढस्नेहायात्मत्वं चाह । तत्त्वमसीत्यत्र शास्त्रपर्यवसानमग्रे निराकरिष्यते ॥ ४२ ॥

आवरणभङ्गः ।

प्रसन्नो दर्शनं ददाति, तथात्रापि भविष्यतीति प्रसादार्थं यतनीयम् । तत्र च भक्तिरेव साधनमिति न तौल्यमिति भावः । एवञ्च यथा श्रुत्यादितौल्ये सदाचाराद्धर्मनिर्णयस्तथाऽत्र लोकात् साधननिर्णयः । "तं त्वौपनिषद"मिति स्वरूपस्यैव तथात्वादिति । नच तथाप्यश्रौतत्वं प्रसादस्य शक्यशङ्कमिति वाच्यम् । "तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशमि"ति श्रुतौ प्रसादादेव दर्शनकथनात् । श्रुतिश्चेति । श्वेतकेतुविद्योत्तरं सनत्कुमारनारदसम्वादरूपा श्रुतिर्भूमरूपात्मज्ञानोत्तरं, "पश्यो न मृत्युं पश्यती"त्यादिना पुरुषार्थपर्यवसानं तमसः पारदर्शनात् कथयतीत्यर्थः । अत इति वाक्यद्वयसार्थक्यावश्यकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः चाहेति । इत्येव निश्चीयत इति शेषः । ननु श्वेतकेतुविद्यायां जीवब्रह्मणोरैक्यं प्रतिपाद्य तत्रैव शास्त्रं पर्यवस्यतीति नैवं वक्तुं युक्तमिति चेत् तत्राहुः तत्त्वमसीत्यादि । अग्र इति चित्प्रकरणे, सर्वनिर्णयसमाप्तौ चेत्यर्थः । एवमेवान्यत्रापि ज्ञेयम् । बोधनार्थं दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते । तथाहि । मुण्डकोपनिषदि तृतीयमुण्डके, "द्वा सुपर्णा"-वित्युपक्रम्य ततो द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां जीवस्य द्वितीयज्ञत्वे वीतशोकत्वं साम्योपायनं चोक्त्वा ततस्तस्य प्राणत्वं तज्ज्ञस्य ब्रह्मविच्छ्रेष्ठत्वं चोक्त्वा, "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मे"ति मन्त्रेणान्तःशरीरे सत्यादिलभ्यत्वं वदति । ततः कथं सत्येनान्तःशरीरे लभ्य इत्याकाङ्क्षायां द्वाभ्यां सत्यप्रशंसापूर्वकं, "पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायामि"त्यनेन तस्य पश्यन्नैकट्यं प्रतिपादयति । तेन पश्यतां सत्येनान्तर्लभ्य इति सिद्ध्यति । ततः पश्यत्त्वं हि दर्शन इति दर्शनमेव पूर्वं कथमित्याकाङ्क्षायां, "न चक्षुषा दृश्यते नापि वाचे"त्यनेन तपःकर्मादीनां दर्शनसाधनत्वं निषिध्याग्रे ज्ञानेन चेतसा ज्ञेयत्वं प्रतिपाद्य ज्ञानिनः शुद्धसत्त्वस्य माहात्म्यं, तदर्चनं, कामकामासकामयोर्निन्दाप्रशंसे चोक्त्वा, अग्रे, "नायमात्मा प्रवचनेने"ति मन्त्रेणेतरन्निषिध्य वरणे लभ्यत्वं, वृतस्यार्थे भगवत स्वतनुप्राकट्यं वदति । तत्र वरणं नामाऽऽत्मीयत्वेन स्वीकरणम् । तच्च भक्तेः पूर्वावस्थारूपमिति न तावता फलं सेत्स्यतीति मतान्तरे, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य" इत्यादिना तस्योत्तरावस्थारूपा या बलशब्दप्रतिपाद्या भक्तिस्तया लभ्यत्वं धामप्रवेष्टृत्वं चोक्तवती श्रुतिः । अग्रे च, "सम्प्राप्यैन"मित्यादिभिः प्राप्तात्मनां प्रशंसां, शाब्दनिश्चयवतां ब्रह्मणा सह मुक्तिं, परस्मिञ्जीवस्यैकीभावं, तत्प्रकारं, वदनं, फलं चोक्त्वा

योजना ।

वावगम्यते । अत एव द्वितीयस्कन्धे श्रीशुकेन श्रुत्यभिप्रायोऽयमेव निरूपितः । "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेदि"ति । अत इयमात्मरूपे भगवति निरुपधिस्नेहरूपा भक्तिः शुद्धपुष्टिभक्तिशब्दवाच्या व्रजसुन्दरीणामेवेति उद्धवस्तां विलोक्य तदीयभक्तिं निरुपधिकां तुष्टाव । "भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा । भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा" इति । अत एव ताभिर्भगवन्तं प्रति तादृगुत्तरदानवाक्येषु निरुपधिस्नेहात्मकभक्तिमन्तः सभाजिताः "कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्" इत्यनेन ॥ ४२ ॥

एवं कियतीनामेकवाक्यतामुक्त्वा सर्वासामेकवाक्यतां वक्तुं भगवतो रूपाणां सङ्ग्रहश्लोकावाह—

पञ्चात्मकः स भगवान् द्विषडात्मकोऽभूत्
पञ्चद्वयीशतसहस्रपरामितश्च ।

पञ्चात्मक इति । अग्निहोत्रादिपञ्चात्मकः । तत्साधनदेशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रात्मकः । त्रिविधमन्त्रब्राह्मणोपनिषदात्मकः । पञ्चप्राणरूपभूताद्यात्मकश्च । तेनैतावन्निरूपिकाणां श्रुतीनामेकवाक्यता सिद्ध्यति । अग्रेऽपि तथा । देहे प्रपञ्चात्मकः । ध्यानार्थं प्रादेशमात्रः । आश्रयार्थमङ्गुष्ठमात्रः । स्वामित्वार्थमक्षिस्थितः । फलार्थं सर्वदेहस्थित आनन्दमयो वैश्वानरः शिरसि प्रतिष्ठितः सर्वार्थ इति । तथा पञ्चकोशात्मकश्चोपासनार्थः । तावतापि सर्वासां नैकवाक्यतेत्यभिप्रेत्याह द्विषडात्मकोऽभूदिति ।

आवरणभङ्गः ।

ब्रह्मविद्योपदेशमधिकारिण उक्त्वोपसञ्जहार । तेन ज्ञाने सति सत्यादिनाऽन्तर्लभ्यो, ज्ञानं चानुग्रहस्य भक्तिरूपत्वे, तस्यां च सत्यामप्रमादादिभिर्धामप्रवेशो, नान्यथा । तस्माद् गुह्यमिदमधिकारिण एव देयमिति फलतीतीहापि काठकवदेव व्यवस्था । एवमेव मैत्रेयीब्राह्मणेऽपि, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" इत्यनेन स्वरूपज्ञानमावश्यकत्वेन विधाय, "आत्मनि वा अरे दृष्टे श्रुते" इत्यादिना तन्निष्ठालक्षणमुक्त्वा, अपरोक्षतावाऽऽविर्भाव इति तदर्थं मध्ये, "स यथार्द्रैधाग्नेरि"त्यादिना माहात्म्यं, ततो, "विज्ञातारमरे केन विजानीयादि"त्यन्तेनात्मत्वं चाह । तत, एतावदरे खल्वमृतत्वमित्युपसंहरति । तेनात्रापि भक्त्यर्थमेव स्फुटतीति दिङ्मात्रं प्रसङ्गात् प्रदर्शितम् । प्रकृतमनुसरामः । एवं कार्यादिनिरूपकाणामात्मनिरूपकाणां च भक्तावेव तात्पर्यमित्येवं प्रयोजनैक्याद् भगवानेवार्थ इत्यभिधेयैक्याच्च भगवद्भक्त्या एकवाक्यत्वप्रकारो निरूपितः ॥ ४२ ॥

अतः परमुपास्यादिनिरूपकाणां भक्तौ तात्पर्याभावे सर्वेषामेकवाक्यता न स्यात् । तथा सति प्रतिज्ञा हीयेतेत्यतस्तन्निवारणाय तेषां तं वदन्ति एवं कियतीनामित्यादि । त्रिविधमन्त्रेत्यत्र मन्त्राणां त्रैविध्यं ऋग्-यजुः-साममेदेन बोद्धव्यम् । भूतादीत्यादिपदेन मात्राग्न्यादयः सङ्ग्राह्याः । प्रादेशमात्र इति । यथा द्वितीयस्कन्धे "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् । चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति" इति, स्वरूपध्यानार्थं तथेत्यर्थः । अङ्गुष्ठमात्र इति । यथा काठके, "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट" इति । यथा वा तैत्तिरीये, "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः । ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वभुग्" इति । मनुष्यस्य धर्मरूपे हृद्यङ्गुष्ठे च शरीरस्थित्यर्थं तथेत्यर्थः । अक्षिस्थित इति । यथा छान्दोग्ये, उपकोसलविद्यायां, "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत" इत्युपक्रम्य, "वामनी भामनी"त्युक्तम् । तस्य कर्मफलनियामकत्वात्"चक्षुषश्चक्षु"रिति श्रुतेस्तन्नियामकत्वाच्च स्वामित्वमिति तदर्थं तथेत्यर्थः । आनन्दमय इति । यथा तैत्तिरीये, "अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इत्युक्त्वा, "एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामती"त्युक्तम् । "एष ह्येवानन्दयाती"ति च । सर्वदेहसुखं तत एवेति फलार्थं तथेत्यर्थः । वैश्वानर इति । यथा छान्दोग्ये, "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वा-

द्वादशपर्यात्मकः, मासात्मकः, पुरुषात्मकः, अहीनात्मकः, अभ्यात्मकश्चेति । अन्येऽपि द्वादशधा भिन्ना ज्ञातव्याः । ततोऽपि प्रकारान्तरमाह पञ्चद्वयीति । दिगात्मको देवात्मक इन्द्रियात्मको लीलात्मकः, तथान्ये ये दशात्मकाः स्वयमूह्या अवतारादयः । ततोऽप्यपूर्तिरित्यधिकमाह । शतसहस्रपरामितश्चेति । चत्वारो भेदा उत्तरोत्तरमधिका अमिता असङ्ख्याता विभूतिरूपाः सर्वे ज्ञातव्याः । एवं भगवतः सप्तधा रूपभेदा उक्ताः ।

एकः समोऽप्यखिलदोषसमुज्झितोऽपि
सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि बहूपमोऽभूत् ॥ ४३ ॥

तेषु भगवान् भिन्न इत्याशङ्क्याह एकः समोऽपीति । सर्वेषु रूपेष्वेक एव योगिवत् । प्रादेशाङ्गुष्ठादिमात्रेषु न्यूनाधिकभावमाशङ्क्याह समोऽपीति । क्वचिदन्यथाप्रतीतिमाशङ्क्याह अखिलदोषसमुज्झितोऽपीति । ऐश्वर्यादितारतम्यमाशङ्क्याह सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपीति । ऐश्वर्यादिगुणाः सर्वेषु रूपेषु पूर्णाः । तथा सति कथं वैलक्षण्यप्रतीतिस्तत्राह बहूपमोऽभूदिति । नरवत् प्रादेशवच्छान्तवत् क्रूरवदिति ॥ ४३ ॥

आवरणभङ्गः ।

नरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ती''ति । एतस्यं शिरसि प्रतिष्ठितत्वञ्च जाबालश्रुतावुक्तम् । ''य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठितः । सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित'' इति प्रश्ने, ''वरणायां नास्यां च प्रतिष्ठित'' इत्युक्ते वरणानास्योः स्वरूपमुक्त्वा तत्स्थानं भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिरित्युक्तम् । एतस्य सर्वार्थत्वं चोक्तच्छान्दोग्यश्रुतावेव स्फुटमिति तथेत्यर्थः । आनन्दमयकोशस्य पूर्वोक्ताद् भिन्नत्वं ज्ञापयितुमाहुः । **तथा पञ्चकोशे**त्यादि । ते च तैत्तिरीये विरजाहोम उक्ताः । आनन्दमयमात्मा मे शुद्ध्यन्तामिति शोधनलिङ्गात् तेषां कोशत्वम् । उपासनं चात्र पुरुषोत्तमत्वेन चिन्तनम् । एकस्मिन् देहेऽनेकरूपेण स्थितेर्वैयर्थ्यपरिहाराय तत्तद्रूपेण नियतमेव कार्यं भगवान् करोतीति ज्ञापनार्थं सर्वत्र प्रयोजननिर्देशः । **पुरुषात्मक** इति । ''द्वादशाङ्गो हि पुरुष'' इति श्रुतेः पुरुषस्य द्वादशात्मकत्वम् । **अभ्यात्मक** इति । अग्नीनां द्वादशत्वं क्वचित् प्रसिद्धम् । परामितश्चेत्यत्र परत्वं नियामकत्वम् । यत्किञ्चिन्नियामकताया बहुषु विद्यमानत्वात् । **असङ्ख्याता** इति । ''नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीना''मिति वाक्यादित्यर्थः । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेनाऽन्येऽपि प्रकारा ज्ञेयाः । **विभूतिरूपा** इति । **भेदा** इति शेषः, **योगिवदि**ति कायव्यूहविशिष्टयोगिवत् । तेन भेदेऽपि सामर्थ्यादेवाभेद इति मुक्तिरुक्ता । नन्वेवं सर्वत्र भगवद्रूपता न वक्तुमुचिता । दोषस्यापि तेषु दर्शनादिति हृदिकृत्याहुः **क्वचिदि**त्यादि । क्वचिज्जीवविशेषेषु, पञ्च पातकिनो, दुष्टचतुष्टयीत्यादौ दोषप्रतीतिमाशङ्क्य, ''ब्रह्मदाशा ब्रह्मेमे कितवा उते''ति श्रुतेर्दाशकितवादिष्विव तत्रापि दोषाभावमाहेत्यर्थः । अपिः सर्वत्र समुच्चयार्थोऽत्यन्तविरुद्धत्वेऽप्यविरोधबोधनाय । **सर्वत्रे**ति सर्वेषु रूपभेदेषु । **नरवदि**त्यादि । तथाच, ''समो मशकेन समो नागेन समः प्लुषिणा सम एभिस्त्रिभिर्लोकैरि''ति श्रुतौ नानोपमाकथनात् कार्यसृष्टेर्भिन्नो विलक्षणोऽविलक्षणश्चेति क्रीडार्थं तथा करणेऽपि दोषरहित एवेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः ।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा ॥ ४४ ॥

एवं विभूतिमुपपाद्य स्वरूपमुपपादयति निर्दोषेति । यादृशं मूलरूपं तादृशमेव सर्वमिति मन्तव्यम् । गुणाः शान्तिज्ञानादयः । ते लोके दोषसहिता दृष्टा महतोऽपि । यथा ज्ञानं क्वचित्, तत्र सङ्गवर्जितमिति । तथा तपः क्रोधसहितम् । तथा धर्मो दयारहितः । तथा न भगवति, किन्तु निर्दोषाः पूर्णा गुणा विग्रहरूपा यस्य । विग्रहपदेन परस्परविरुद्धा अपि लोकदृष्ट्या भासन्त इति ज्ञातव्यम् । गुणाधीनत्वमाशङ्क्याह आत्मतन्त्र इति । देहेन्द्रियादीनां कार्यत्वप्रतीतेर्लोकवद्देहेन्द्रियाणि भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह निश्चेतनात्मकेति । चकारात् तत्तद्धर्मैरपि हीनः । तर्हि कथमाकारप्रतीतिस्तत्राह आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरिति । आनन्दो ब्रह्मवादे आकारसमर्पकः । अत एव पुरुषेष्वपि सर्वान्तर आनन्दमयो निरूपितः । तद्वस्तु सर्वात्मकमिति वदन्नाह सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मेति । जीवजडान्तर्यामिषु सर्वत्रैव तदनुस्यूतं, कारणत्वादिति तस्य कारणता च निरूपिता ॥ ४४ ॥

आवरणभङ्गः ।

एवमित्यादि । एवं भगवद्विभूतिनिरूपकतया बह्वीनां श्रुतीनामेकवाक्यतानिरूपणार्थं विभूतिरूपमुपपाद्य, उपमेयतुल्यतायां तद्वद्दोषसम्भवात् तन्निरासाय स्वरूपमुपपादयतीत्यर्थः । ननु मूलरूपं तु पूर्वमुक्तमेवेति पुनः किमर्थं तदुपपादनमित्याकाङ्क्षायामाहुः यादृशमित्यादि । मन्तव्यमिति युक्तिभिरनुचिन्तनीयम् । तथाचैवं मननार्थं पुनरुपपादनमित्यर्थः । एतेन, पूर्वश्लोकोक्ताखिलेत्यादिविशेषणद्वयेनास्यार्थस्य सिद्धेर्निर्दोषेत्यादिकं पुनरुक्तं भवतीत्यपि निवारितं ज्ञेयम् । एतस्य तदुपपादनार्थत्वात् । अत एवेति एकदेशिमते अन्नमयमपेक्ष्यान्तराणां पुरुषत्वम् । सिद्धान्ते त्वानन्दमयमपेक्ष्योपरितनानां तथात्वम् । तस्मादेवेत्यर्थः । तदिति आनन्दमयम् । निरूपितेति "आकाश-

योजना ।

आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरित्यस्य व्याख्याने । आनन्दो ब्रह्मवादे आकारसमर्पक इति । मूलरूपस्यानन्दमयत्वात् तत्राकारसमर्पक आनन्द एव, "आनन्दरूपममृतं विभाती"ति "सच्चिदानन्दविग्रह"मित्यादिश्रुतेः । "अपाणिपादो जवनो ग्रहिता", "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र" इत्यादिश्रुतेराकारनिषेधात् । "सर्वेन्द्रियविवर्जितमि"ति गीतोपनिषद्वचश्च । "अपाणिपादमि"त्यादिश्रुत्याकारनिषेधात् "सच्चिदानन्दविग्रहमि"त्यादिश्रुतिशतैराकारप्रतिपादनादुभयाविरोधे विमृश्यमाने ब्रह्मण आनन्दाकारत्वं सिध्यति । सिद्धे आनन्दमयस्य साकारत्वे तस्य सर्वान्तरत्वादुपरि वर्तमानानां विज्ञानमयादीनामाकारत्वं भवति, अतः आनन्द एव सर्वेषां विज्ञानमयादीनामाकारसमर्पक इति ज्ञेयम् । तदेतदाहुः अत एव पुरुषेष्वपि सर्वान्तर आनन्दमयो निरूपित इति । जीवजडान्तर्यामिष्विति । अत्रान्तर्यामिपदेन प्रतिजीवं भिन्ना ये अन्तर्यामिणस्ते ग्राह्याः, न

एतन्निरूपणस्य प्रयोजनमाह—

तस्य ज्ञानाद्धि कैवल्यमविद्याविनिवृत्तितः ।

तस्य ज्ञानाद्धि कैवल्यमिति । गुणोपसंहारन्यायेन श्लोकद्वयोक्तधर्मसंयुक्तं ब्रह्म चेद् विजानीयात् तदा ब्रह्मविद् भवति । ततः कैवल्यं सङ्घातात् पृथग्भावं मोक्षं वा

आवरणभङ्गः ।

वद् व्यापकं ही"त्यनेनोक्ताप्यानन्दस्यानुसीवनेनाऽऽनन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चिता, साऽत्र चकारेणोक्तेत्यर्थः । तेन यावत्य आकारनिरूपिकाः श्रुतयस्ताः सर्वा नानाप्रकारकमाकारं निरूपयन्त्योऽप्येतादृशमेव प्रतिपादयन्तीत्येकवाक्यतेत्यर्थः । एतेनाखण्डब्रह्मवादस्वरूपमुक्तम् । इदं च दशमे भगवद्वसुदेवसंवादे स्फुटम् ॥ ४४ ॥

एतन्निरूपणस्येत्यादि । नन्वीदृशं स्वरूपं कारणमिति तत्रैव निरूपणमस्योचितम् । तेनाप्येकवाक्यत्वसिद्धेः । इहेदं कुतो निरूपितमित्याकाङ्क्षायामेतदाहेत्यर्थः । तथाच ज्ञानमार्गे मुक्तेः प्रनाडीं बोधयितुमत्रैव तन्निरूपणमित्यर्थः । तां वक्तुमाहुः **गुणोपे**त्यादि । गुणोपसंहारन्यायस्तु साधनाध्यायतृतीयपादे स्फुटः । तत्र च विद्यैकत्वं प्रतिपादितम् । तथाच केवलं निष्कलादिरूपेण यो जानाति स न ब्रह्मवित्, किन्तु प्रतीकविदेवेति न तस्य श्रुतिविवक्षितफलसिद्धिरिति ज्ञापनार्थं निरूपणमित्यर्थः । कैवल्यपदस्यैव विवरणं **सङ्घाते**त्यादि, **मोक्षं** वेति । भगवतः स्वतन्त्रेच्छत्वेन कस्यचित् साक्षान्मोक्षं ददाति, कस्यचित् सङ्घातात् पृथग्भावमेव ददाति ।

योजना ।

तु विराडन्तर्यामी नारायणः, तस्य पुरुषोत्तमरूपविशेषत्वात् । एतदभिसन्धायोक्तं **सर्वत्रैव तदनुस्यूतं कारणत्वादितीति** । इह पुरुषोत्तमस्य सर्वानुस्यूतत्वे उपपत्तिं कारणत्वादित्यनेनोक्ता । एवं सति जीवजडान्तर्यामिणां कार्यत्वं सिद्धम्, तच्च करणभूता ब्रह्मणः सकाशान्निर्गमनेन निरूप्यते । निर्गमनं च प्रतिजीवान्तर्यामिणामेव न तु विराडन्तर्यामिणः, अतः पूर्वोक्तैव व्यवस्था ॥४४॥

तस्य ज्ञानाद्धि कैवल्यमित्यस्य व्याख्याने । ततः कैवल्यं सङ्घातात् पृथग्भावमिति । अत्रेदं विचार्यते । ज्ञानेनैव मुक्तिर्भक्त्यैव वा, उभाभ्यां वेति । तत्र "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये"त्यत्र एवकारेण ज्ञानातिरिक्तसाधनव्यावृत्त्या भक्तेर्मुक्तिसाधकत्वमिति चेन्न, एवकारस्य तमिति द्वितीयान्तेनान्वयात् । तमेव परमात्मानमेव विदित्वा ज्ञात्वा मुक्तिं लभते । न त्वितरं जीवादिकं ज्ञात्वा मुक्तिप्राप्तिरित्यर्थः । तथा च परमात्मज्ञानेतरज्ञानस्य मोक्षकारणतां व्यावर्त्य तेन तु भक्तेर्मोक्षकारणताखण्ड्यत इति ज्ञेयम् । एवकारस्य विदित्वेत्यनेन सम्बन्धे ज्ञानेनैव मोक्षो नेतरसाधनेनेत्यर्थः स्यात् । इतरसाधनव्यावृत्तौ भक्तिरपि व्यावर्तेत । तत्तु न सम्भवति, अव्यवहितेन तमितिपदेनान्वयं विहायातिदूरस्थेन विदित्वेत्यनेनान्वयस्यानुचितत्वात् । "परं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति स विभजति सोऽमृतो भवति । चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेरि"ति गोपालतापनीयश्रुतिविरोधाच्च । न च "ज्ञानादेव हि कैवल्य"मित्यत्रैवकारेण ज्ञानेतरसाधनव्यावृत्त्या भक्तेरपि व्यावृत्तिरिति वाच्यम् । कैवल्यपदस्य यौगिकत्वाङ्गीकारेण सायुज्याद्यवाचकत्वात् । परमानन्दलक्षणमोक्षवाचकत्वात् । परमानन्दलक्षणमोक्षवाचक-

प्राप्नोति । तत्र दृष्टं द्वारमाह अविद्याविनिवृत्तित इति । पूर्वोक्तज्ञानमविद्यां निवर्तयन्मोक्षं साधयतीत्यर्थः । तज्ज्ञानपरोक्षरूपमिति ।

विद्यायाः पञ्च पर्वाणि तत्साधनान्याह—

वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे ॥ ४५ ॥

वैराग्यमिति । आदौ विषयवैतृष्ण्यम् । ततो नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वकः सर्वपरित्यागः । तत एकान्तेऽष्टाङ्गो योगः । ततो विचारपूर्वमालोचनं तपः, एकाग्रतया स्थितिर्वा । ततो निरन्तरभावनया परमं प्रेम ॥ ४५ ॥

आवरणभङ्गः ।

कैवल्यस्योभयथापि सिद्धेरित्यर्थः । तत्रेति मोक्षादिसाधने । मननादिविधीनां, "येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः", "भक्त्या मामभिजानाती"त्यादीनां विचारे, तादृशं ज्ञानं न केवलाच्छब्दान्न वा केवलैः साङ्ख्यदर्शनाद्युक्तैः साधनैः, किन्तु भक्त्यैवेति हृदि कृत्वाहुः तज्ज्ञानमित्यादि । "विद्यात्मनि भिदा बाध" इति ह्येकादशे भगवता विद्यालक्षणमुक्तम् । तच्च पूर्णाया इति ॥ तत्सम्पत्त्यर्थं पर्वाणि विवृण्वन्ति आदावित्यादि । विषयवैतृष्ण्यस्योत्तरेष्वनुसीवनेन तज्जनकत्वात् प्राथम्यम् । तप आलोचन इतिधात्वर्थविचारेणाहुः ततो विचारेत्यादि । कृच्छ्रादिनिवृत्त्यर्थं रूढिं सङ्कोच्याहुः एकाग्रेत्यादि । तापनीयश्रुतिविचारेणाहुः ततो निरन्तरेत्यादि ।

योजना ।

त्वाभावाच्च । इह केवलस्य भावः कैवल्यं सङ्घातात्पार्थक्यं निरध्यस्तया स्थितिस्तु ज्ञानेनैव भवति सायुज्यादि वा, परमानन्दलक्षणमोक्षप्राप्तिस्तु भक्त्या भवत्येवेति निष्कर्षः । अत एव "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति । तं पीठगं ये तु भजन्ति नित्यं तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषामि"ति "तापिन्याशाश्वती सिद्धि"रित्यनेन कृष्णभजनेन नित्यैव सिद्धिरुक्ता, सा तु नित्यलीलाप्रवेशरूपा ज्ञेया । सैव परमानन्दलक्षणा मुक्तिः, पुरुषोत्तमानन्दापेक्षया ब्रह्मानन्दस्य जघन्यत्वात् । अतो भक्तानां परमानन्दलक्षणा पुरुषोत्तमनित्यलीलाप्रवेशरूपा मुक्तिः, ज्ञानिनान्तु कैवल्यम् । तच्च योगरूढिभेदेन द्विविधम् । तदेतदाहुराभासेन सङ्घातात्पृथग्भावं मोक्षं वेत्यनेन । इह मोक्षपदेन सायुज्यादिकम् । तत्र ज्ञानादेव हि कैवल्यमित्यत्र यौगिकोऽर्थो ग्राह्यः । तथा च सङ्घातात्पार्थक्यमात्रं कैवल्यपदार्थः, स च ज्ञानैकसाध्यः । तावता श्रुत्यर्थ एवकारो लब्धाऽवकाशो भवति । भक्तौ तु कैवल्यं पृथक्कक्षा । दशमस्कन्धे यज्ञपत्नीनिरोधप्रसङ्गे "कैवल्याद्याशिषाम्पते"रिति वाक्ये कैवल्यस्य आद्यशब्देन पूर्वकक्षायां गणनात् । भक्तेः परमफलन्तु नित्यलीलाप्रवेशाख्यं परमानन्दरूपमिति दिक् । वैराग्यं साङ्ख्ययोगौ चेत्यस्य व्याख्याने । ततो निरन्तरभावनया परमं प्रेमेति । इह मोक्षदातृत्वोपाधिकं प्रेमोच्यते । न तु निरुपाधिकमिति ज्ञेयम् । "हरिं विशोदि"त्यनेन सायुज्यरूपफलस्योक्तत्वात् । सायुज्यस्य च मर्यादाभक्तिफलरूपत्वात् । पुष्टौ तु "दीयमानं न गृह्णन्ती"तिवाक्यात् सालोक्यादिमुक्तेर्नाकाङ्क्षा । अतोऽत्र सोपाधिकमेव प्रेमोच्यते । निरुपाधिकस्तु स्नेहः पुष्टिभक्तानां व्रजसुन्दरीप्रभृतीनामेव । मर्यादाभक्तौ प्रेम सोपाधिकमिति तृतीयाध्यायभाष्ये स्थितम् ॥ ४५ ॥

एवं साधनसम्पत्तौ पञ्चपर्वा विद्या सम्पद्यते। यया कृत्वा जातसाक्षात्कारस्तं प्रविशेदित्याह—

पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेत्॥
सत्त्वसृष्टिप्रवृत्तानां दैवानां मुक्तियोग्यता॥ ४६॥

यया विद्वान् हरिं विशेदिति। अत्र स्वरूपयोग्यतारूपमधिकारमाह सत्त्वेति। ये सात्त्विका दैव्यां सम्पदि जाता विष्ण्युपजीविनः सर्वदा तेषां मुक्तिर्भविष्यति नान्येषामिति ज्ञापितम्॥ ४६॥

अनेनैव प्रकारेण मुक्तिर्नान्येनेति वक्तुं देशादिषट्के तदङ्गे मुक्तिर्भाक्तेत्याह—

तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित् कस्यचिद् भवेत्॥
कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः॥ ४७॥

तीर्थादावपीति द्वाभ्याम्। काश्यादितीर्थेषु मुक्तिः प्रसिद्धा। तत्रान्ते "तारकं ब्रह्म व्याचष्टे" इत्यादिवाक्यैः शुद्धानां ब्रह्मोपदेश इत्यलौकिकोपदेशसाधकत्वं न व्यभिचरति। तदाह कदाचित् कस्यचिद् भवेदिति। सर्वेषामेवोपदेशोऽस्त्विति चेत्तत्राह। कृष्णप्रसादयुक्तस्येति। प्रसन्नो भगवांस्तद्द्वारा मोचयति, तीर्थादीनां

आवरणभङ्गः।

एतानि भगवच्छक्तिरूपायाः पर्वाणि। मोक्षशास्त्रेषु मुख्यतयैतेषामेव साधनत्वेनोपदेशात्। यत् पुनर्गीतायां ज्ञानप्रश्नोत्तरे, "अमानित्वमदम्भित्वमि"त्यादिविंशतीनां समुदायो ज्ञानमित्युक्तं, तज्जीवशक्तिरूपम्। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषाऽनुदर्शनादीनां तत्र प्रवेशेन तथाऽवसायात्। अतो न विरोधः। एतेषां पञ्चसु प्रवेशाद्वा। एतच्च साधनाध्यायतृतीयचतुर्थपादयोर्द्रष्टव्यम्। भक्तिश्चात्र मोक्षार्थं क्रियमाणत्वात् प्रावाहिकी, न तु स्वतन्त्रा निरुपधिप्रेमरूपा। अतः साक्षात्कारं जनयित्वोपक्षीयते। ततः साक्षात्कारेण भगवदिच्छानुरूपं कैवल्यं भवति। तदेतदुक्तं, यया कृत्वेत्यादिना। एतेनोपास्यनिरूपकाणां भजनीयज्ञापकत्वेन, वैराग्यादिनिरूपकाणां भक्तिहेतुनिरूपकत्वेन भक्तावेव तात्पर्यमित्येकवाक्यताप्रकारो बोधितः। अत्र स्वरूपेत्यादि। सापि मुक्तिर्न सर्वेषामिति बोधयितुमधिकारिनिरूपकाणामेकवाक्यताप्रकारं च बोधयितुं विद्यायां मुक्तौ वाऽधिकारमाहेत्यर्थः॥ ४५॥ ४६॥

ननु वृथेदमधिकारनिरूपणम्। तीर्थादिभिरनधिकारिणामपि मुक्तिसरणादित्याकाङ्क्षायामाहुः। अनेनेत्यादि। तदङ्ग इति विहिताङ्गे। भाक्तत्वं व्युत्पादयन्ति काश्यादीत्यादि। 'तत्रान्ते' इति वाक्यं न जाबालादिश्रुतिस्थम्। पाठभेदाद् घ्राणभ्रुवोः सन्धौ तत्स्थाननिर्देशाच्च। किन्तु पौराणमेव। तत्र यद्यप्युपदेश उच्यते, तथापि काशीमाहात्म्ये पापिनां भैरवीयातनाकथनात् तत्र देहान्ते तदैवोपदेशमुक्ती न सिद्ध्यतः। किन्तु पातकान्ते शुद्धौ यदा कदापि कस्यचिदेव, न तु सर्वेषामतो भाक्तेत्यर्थः। ननु भैरवीयातनादिवाक्यानुरोधात् कालसङ्कोचोऽस्तु, परमुपदेशव्यभिचाराभावादुपदेश्यः किमिति सङ्कोच्यत इत्याशयेन, सर्वेषामुपदेशोऽस्त्विति शङ्कायामुपदेश्यसङ्कोचे बीजं वक्तुमाहुः सर्वेषामित्यादि। तथाच यद्येवं न स्यात् तर्हि, 'यमेवैष' इत्यादिश्रुतिर्वि-

माहात्म्यार्थम् । यथाऽजामिलो नाम्ना । अतः प्रसादार्थं प्रेमान्तानि । कर्तव्यानि । ननु कदाचित् प्रेमरहितोऽपि तीर्थे सम्यक्प्रकारेण मुक्तिसूचकेन म्रियत इति चेत् तत्राह नान्यस्येति । तस्यापि पूर्वमेव साधनसम्पत्तिः सिद्धा, वासनावशात् परं प्राकृतत्वं भगवदिच्छया । तस्मान्न व्यभिचार इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

तर्हि तीर्थादेः कोपयोग इति चेत् तत्राह—

सेवकं कृपया कृष्णः कदाचिन्मोचयेत् क्वचित् ।
तन्मूलत्वात् स्तुतिस्तस्य क्षेत्रस्य विनिरूप्यते ॥ ४८ ॥

सेवकमिति । सेवकमेव पूर्वं तथाभूतं, तत्रापि कृपयैव, तत्रापि कृष्ण एव । कर्ता साधनं व्यापारश्चोक्तः । कालदेशावाह कदाचित् क्वचिदिति । अनेन कालस्यापि तत एव प्रशंसेति ज्ञापितम् । स्तुतानि तीर्थादीनि भगवदङ्गत्वाद् दैत्यकृतविघ्ननाशकानि भवन्तीति लोकप्रवृत्त्यर्थं मुक्तिसाधकानीत्युच्यन्ते । तत्र स्थित्वा शुद्धे काले साधनानि साधयेदिति ॥ ४८ ॥

अतः केवलतीर्थाद्याश्रयं परित्यज्य यथा भगवति स्नेहो भवति तथा यत्नं कुर्यादित्याह—

तस्मात् सर्वं परित्यज्य दृढविश्वासतो हरिम् ।
भजेत श्रवणादिभ्यो यद्विद्यातो विमुच्यते ॥ ४९ ॥

तस्मादिति । हरिभजनेऽपि कदाचिन्मोक्षो न भवेदित्याशङ्कां परित्यज्य दृढविश्वासं कृत्वा श्रवणादिभ्यो हेतुभ्यः श्रवणादिभिर्भजेत् । ततो विमुच्यत एवेति पुनरुक्तम् ॥ ४९ ॥

आवरणभङ्गः ।

रुद्ध्येत । साधनबोधकशास्त्रान्तराणां च वैयर्थ्यं स्यात् । प्रेतादिदर्शनं च तत्र न स्यात् । "पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति" इति च विरुद्ध्येत । मोचकसाधनान्तराकरणं च प्रसज्येतेत्यतोऽधिकारिनिरूपणं न मुधेत्यर्थः । सङ्कोचे व्यतिरेकव्यभिचारमाशङ्क्य समाधिं वक्तुमाहुः कदाचित् प्रेमेत्यादि । तथाच प्रत्यक्षस्य तात्कालिकार्थविषयत्वेन मूलानवगाहित्वान्न व्यभिचारः शक्यशङ्क इति भावः ॥ ४७ ॥

कृष्ण एवेति । "मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्", "वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः । एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्यय" इति वाक्येभ्यस्तथेत्यर्थः । व्यापारश्चोक्त इति । सेवारूपो व्यापारः सेवकपदेनोक्त इत्यर्थः । उपचारप्रकारमाहुः स्तुतानीत्यादि । तादृशानि भवन्तीत्यतः स्तुतानीत्यन्वयः । तेन प्रशंसानिबन्धना तत्र गौणीत्यर्थः । स्तुतिप्रयोजनमाहुः तत्र स्थित्वेत्यादि ॥ ४८ ॥

एवमेतदुपपादनप्रयोजनमाहुः अत इत्यादि । अत्र दृढविश्वासं प्रति श्रौतस्य श्रवणादित्रयस्य, भजनं प्रति भगवच्छास्त्रीयस्य तन्नवकस्य साधनत्वं बोध्यम् । तत इति विद्यात इत्यस्येदं विवरणम् । तथाच पूर्वमविद्यायाः सर्वात्मना निवृत्तिर्द्वारतयोक्ता । इह तु विद्यानिवृत्तिरप्यभिप्रेयत

इदानीं कैमुतिकन्यायेन प्रेमभक्तेः फलमाह—

ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा ।
सङ्घातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः ॥ ५० ॥
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि ।
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते ॥ ५१ ॥

ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामिति द्वाभ्याम् । साधनं भक्तिर्मोक्षः साध्यः । तथापि साधनदशैवोत्तमा । तत्र हेतुः । यो हि मुच्यते स सङ्घातं परित्यज्य ब्रह्मणि लीयते । ब्रह्मभावं वा प्राप्नोति । तस्य स्वरूपानन्दः, स्वरूपेण वाऽऽनन्दानुभवः । स्वतन्त्र-

---

आवरणभङ्गः ।

इति पुनः कथनमुभयनिवृत्तौ मोक्षज्ञापनार्थमित्यर्थः । पूर्वं विद्याया उपादेयत्वविचारेण भजनं कर्तव्यमित्युक्तम्, इह तु निवर्त्यत्वविचारेणेति विशेषोऽपि ज्ञेयः ॥ ४९ ॥

यद्यनयापि प्रनाड्या मुक्तिस्तर्हि स्वतन्त्रभक्तौ को विशेषः ? इत्याकाङ्क्षायां विशेषं वक्तुमग्रिमग्रन्थमवतारयन्ति इदानीमित्यादि, प्रेमभक्तेरिति । स्वतन्त्रभक्तेः साधनदशैवोत्तमेति ।

योजना ।

इदानीं कैमुतिकन्यायेन प्रेमभक्तेः फलमाहेति । ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां इति श्लोकद्वयेन । यत्र ब्रह्मानन्दप्रवेशलक्षणान्मर्यादामार्गीयभक्तिफलाद्ब्रह्मभावलक्षणान्मर्यादाभक्त्यवान्तरफलाच्च पुष्टिमार्गीयभक्त्यवान्तरफलरूपस्य भगवत्कृपासहितगृहाश्रमस्य वैशिष्ट्यमुक्तम्, तत्र पुष्टिमार्गीयभक्तिफलरूपायाः स्वतन्त्रप्रेमभक्तेः फलस्य भगवता सह कामाशनस्य नित्यलीलान्तःपातरूपफलस्य वैशिष्ट्यं किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायः । साधनं भक्तिरिति । स्वतन्त्रपुष्टिभजनफलप्रेमभक्तिरित्यर्थः । मोक्षसाध्य इति । मर्यादाभजनस्येत्यर्थः । इह यस्यैव यत्साधनं तस्मादेव फलात् तस्यैव साधनोत्कर्षो न प्रतिपाद्यते । किन्तु अन्यस्य साधनं अन्यस्य फलाद्विशिष्टमिति प्रतिपाद्यते । दृश्यते हि लोकेऽपि कस्यचिन्महाराजाधिराजस्य अमात्यः कस्माच्चिदन्यस्माद्भूपालाद्विशिष्टो भवत्यैश्वर्यपराक्रमादौ, तं विलोक्य ब्रुवन्ति लोका अद्भुतम्मन्यमाना अहो अमात्योऽयं भूपतेर्विशिष्ट इति । तत्र हि यथाऽन्यदीयोऽमात्योऽन्यस्मान्नरपतेः स्वस्य वैशिष्ट्यं प्रदर्शयन् चास्य स्वामिना कैमुतिकन्यायेन तस्माद्राज्ञो वैशिष्ट्यं प्रकाशयति, एवमिह पुष्टिमार्गीयायाः साधनभक्तिमर्यादामार्गीयफलान्मोक्षरूपादात्मैकसुखानुभवरूपात्सर्वेन्द्रियादिसहितात्मास्वाद्यफलकारणीभूतायाः स्वस्या वैशिष्ट्यं दीपयन्ती स्वफलस्य वैशिष्ट्यं कैमुतिकन्यायेन बोधयतीत्यर्थः । तदेतदाहुः तथापि साधनदशैवोत्तमेति । स्वतन्त्रपुष्टिभक्तेः साधनदशामर्यादामार्गफलरूपान्मोक्षादुत्कृष्टेत्यर्थः । मूले भक्तानान्तु विशेषत इति । स्वतन्त्रपुष्टिभक्तिमतामित्यर्थः । भक्तानां सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि विशेषतः इति सुखप्रमा इत्यन्वयः । एवं "ब्रह्मानन्दे प्रविष्टाना"मित्यनेन मर्यादाभजनस्य फलमुक्त्वा "भक्तानां तु विशेषत" इत्यनेन पुष्टिभक्तेः फलदशोक्ता । पुष्टिभक्तिफलमुत्तमम् । मर्यादाभजनफलहीनमित्युभयोस्तारतम्यं प्रदर्शितम् ।

भक्तानां तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियैस्तथाऽन्तःकरणैः स्वरूपेण चाऽऽनन्दानुभवः । अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृहाश्रम एव विशिष्यते ॥ ५० ॥ ५१ ॥

नन्वेवं सति साधनफलयोरुत्कृष्टत्वात् कथञ्च सर्वोऽपि न भक्तिमार्गे प्रविशतीति चेत् तत्राह—

मोहार्थशास्त्रकलिलं यदा बुद्धेर्विभिद्यते ।
तदा भागवते शास्त्रे विश्वासस्तेन सत्फलम् ॥ ५२ ॥

मोहार्थशास्त्रकलिलमिति । शास्त्राणि यानि भगवच्छास्त्रव्यतिरिक्तानि मोहार्थानि तान्येव कलौ मानमर्हन्ति । अतस्तेषां दर्शनेन बुद्धौ कलिलमुत्पद्यते । तच्चेद् विभिद्यते भगवत्कृपया तदैव भागवते शास्त्रे विश्वासः । एतदुक्तं सर्वथा सत्यमिति । ततस्तदनुसारेण प्रवृत्तः सत्यं फलं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

आवरणभङ्गः ।

स्वतन्त्रभक्तिसाजात्याद् । यत्र मर्यादामार्गीयसाधनदशैव मर्यादामार्गीयफलदशात उत्तमा, तत्र पुष्टिमार्गीयस्वतन्त्रभक्तेः फले स्वरूपे चाधिक्यं किं वाच्यमिति भावः । तदेव विवृण्वन्ति तत्र हेतुरित्यादिना । ब्रह्मणीति, अक्षरे पुरुषोत्तमे वा ॥ ५० ॥ ५१ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि । भक्तिमार्गे इति स्वतन्त्रभक्तिमार्गे । सत्फलमिति । सतां सदंशानामिन्द्रियान्तःकरणानां फलमानन्दाविर्भावरूपमित्यर्थः । एवमेकत्रिंशद्भिः पद्यैः प्रपञ्चमिथ्यात्वेन प्रपञ्चमध्यपातिभगवद्भजनं मिथ्यात्वान्न शुद्धमिति वदन्तः प्रत्याख्याताः । "नमो भगवते तस्मै" इति श्लोके नमनोपलक्षिताया भक्तेः शास्त्रतात्पर्यगोचरत्वं चैकेन प्रकारेण निरूपितम् ॥ ५२ ॥

योजना ।

अत एवैतस्य व्याख्याने स्वतन्त्रभक्तानां गोपिकादितुल्यानामित्यनेन व्रजभक्ता उदाहृताः । ते तु फलदशोदाहरणरूपाः, एवं ब्रह्मानन्देत्यारभ्य सार्धश्लोकेन पुष्टिभक्तिफलमर्यादाभजनफलयोस्तारतम्यमुक्त्वाऽर्धश्लोकेन मर्यादाभजनावान्तरफलरूपब्रह्मभावपुष्टिभजनावान्तरफलरूपभगवत्कृपासहितगृहाश्रमयोस्तारतम्यमाहुः ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यत इति । अत्रेदं ज्ञेयम् । मर्यादाभक्त्यवान्तरफले जीवन्मुक्तिरूपे त्वत्परमफलसादृश्यमात्मैकभोग्यसुखावाप्तिरूपमस्ति, एवं पुष्टिभक्त्यवान्तरफले भगवत्कृपासहितगृहाश्रमे तत्परमफलरूपसर्वेन्द्रियसहितात्मभोग्यसुखावाप्तिरूपसादृश्यमस्ति । अतः पुष्टिभक्त्यवान्तरफलं मर्यादाभक्त्यवान्तरफलाज्जीवन्मुक्तिरूपाद्विशिष्यत इति यदुक्तं तदुचितं मे । इति शास्त्रार्थप्रकरणे योजनायां सप्रकरणम् ॥ ५० ॥

एवं सत्प्रकरणमुक्त्वा चित्प्रकरणमाह—

जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान् ।

जीवस्त्विति । तुशब्दः प्रकरणभेदकः । जीवस्यादौ परिमाणमुच्यते । आराग्रमात्र इति । "आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट" इति श्रुतेः । व्रीहेरग्रभाग आरः । नन्वेतावांश्चेत् कथं सर्वदेहव्यापिचैतन्योपलम्भस्तत्राह । गन्धवद् व्यतिरेकवानिति । विशेषेणातिरिच्यत इति व्यतिरेको द्रव्यापेक्षयाधिकदेशः । यथा गन्धः पुष्पापेक्षयाऽधिकदेशं व्याप्नोति, तथा चैतन्यगुणः सर्वदेहव्यापीत्यर्थः । गन्धवतः कमलादेरिव वा स्थूलगुणयुक्तः । न तु तदन्यथानुपपत्त्या तावत्परिमाणः ।

आवरणभङ्गः ।

अतः परं जीवव्यापकत्वेन ये भजनं निराकुर्वन्ति तान् प्रतिवक्तुं सार्धद्वादशभिश्चित्प्रकरणमारभन्ते एवमित्यादि । एवमिति श्रुतिपुराणोक्तप्रकारेण । तेन नश्वरत्वादियुक्त्या यन्मिथ्यात्वमुच्यते तत्प्रस्तावशादग्रे दूषणीयमिति सूचितम् । जीवस्येत्यादि । स्वरूपस्योत्पत्तेश्च पूर्वं निरूपितत्वादधुना धर्मा एव तस्य वाच्या इति पूर्वं मतान्तरदूषणाय परिमाणमुच्यत इत्यर्थः । आराग्रमात्रश्रुतिः श्वेताश्वतरोपनिषत्पञ्चमाध्यायेऽस्ति । "अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः । बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट" इति । अत्र बुद्धिगुणेनाङ्गुष्ठमात्रत्वं, स्वगुणेनाराग्रमात्रत्वमुक्तम् । तेन तथेत्यर्थः । अत्र बाधकमाशङ्क्याहुः नन्वित्यारभ्य—इत्यर्थ इत्यन्तम् । तथाचोक्तश्रुत्यग्रिमश्रुतौ "वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य तु । भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते" इत्यानन्त्यकल्पनं सामर्थ्यमुक्तम् । तदेव च, "व्यतिरेको गन्धवदि"ति सूत्रे व्यासचरणैर्विवृतमतस्तादृशचैतन्यगुणाङ्गीकारान्न दोष इति भावः । न च व्यतिरेकशब्दोऽभावे प्रसिद्ध इति कथमेवं व्याख्यातमिति वाच्यम् । सूत्रापेक्षया प्रसिद्धेर्जघन्यत्वादिति । वतौ कृते गन्धतुल्यत्वं जीवे आयाति । जीवस्यैवात्र प्रकृतत्वान्न तु चैतन्यगुण इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः । गन्धवत इत्यादि । इदं चार्थकथनमात्रं, न तु विग्रहः । तथाच विशेषेणातिरेकोऽधिकदेशवृत्तित्वं यदीयगुणस्यासौ व्यतिरेकः । गन्धवानिव व्यतिरेकवान् गन्धवद्व्यतिरेकवानित्यर्थः । एतेन द्वितीयोऽपि धर्म उक्तः । स च स्वयञ्ज्योतिष्ट्वे स्फुटो भवति । मतान्तरं दूषयितुमाहुः । न त्वित्यादि । तावत्परिमाण इति । क्षपणकादयः सकलशरीरगतचैतन्योपलम्भान्यथानुपपत्त्या शारीरात्मानं देहपरिमाणकमङ्गीकुर्वन्ति । तन्न । उक्तरीत्या तदुपलम्भोपपत्तौ तस्या युक्तेः कदर्यत्वात् । मध्यमपरिमाणत्वे अनित्यतापत्तेः । न चानित्यत्वं शक्यवचनम् । जातमात्रस्य बालस्य क्षुधातः स्तनपानादौ प्रवृत्तिदर्शनात् । तस्याश्च पूर्वानुभूतक्षुन्निवृत्तिकारणभूतानुभवजन्यस्मृतिमन्तरेणानुपपत्त्या तस्यात्मनः पूर्वापरजन्मीयशरीरावच्छिन्नस्यैक्ये सिद्धे तेन चानादित्वेऽनादिभावत्वेन च ध्वंसाप्रतियोगित्वे नित्यत्वस्य सिद्धत्वात् । एवमेव प्रेतादिभिरपि पूर्वजन्मकथाकथनादपि तत्सिद्धेः । तथैव शरीराणां नानात्वात् तत्र सर्वत्रापि पर्यायेणात्मप्रवेशात् सङ्कोचविकासशालिपरिमाणवत्त्वापि न साधीयसी । उक्तदोषापादकत्वात् ।

आवरणभङ्गः।

नापि नानापरिमाणवत्त्वा। एकस्य लोके नानापरिमाणादर्शनात्। शरीरवदङ्गीकारे सावयवत्वापत्ते-रनिवार्यत्वात्। तथा सति तद्वदेवानित्यताया अप्यापत्तेश्च। तदेतदुक्तम्। न तु तदन्य-थानुपपत्त्या तावत्परिमाण इति। नैयायिकादयस्तु पूर्वोक्तयुक्तिभिः परिमाणान्तरं निरस्य व्यापकत्वमङ्गीकुर्वन्तो युक्त्यन्तरमप्याहुः। तथाहि। देशान्तरे यद् द्रव्यमसद्भोगयोगायोत्पद्यते, तत्रासदहष्टं कारणत्वेन वक्तव्यम्। अत उत्पत्तिदेशे अदृष्टवदात्मसंयोगः कारणं वर्तते। अतो विभुत्वसिद्धिः। किञ्च, आत्मनोऽणुत्वे ज्ञानेच्छादीनामतीन्द्रियत्वापत्तिः, अणुगुणानामतीन्द्रियत्वनि-यमात्। अणूनामप्रत्यक्षत्वादहमिति प्रत्यक्षापलापप्रसङ्गाच्च। किञ्च, मनसोऽप्यणुत्वेन तद्द्वयसंयोगे द्रव्यान्तरारम्भप्रसङ्गः। इन्द्रियमनःसंयोगदशायामात्ममनःसंयोगविघटनेन ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गश्चातो व्यापको जीव इत्याहुः। तदविचारचारु। प्रत्यात्मनियतभोगानुपपत्त्यादिदूषणग्रासात्। तथाहि सर्वेषां विभुत्वेन सकलमूर्तद्रव्यसंयोगितया सकलेन्द्रियमनःशरीरादिसंयोगः सर्वेषामवश्यं वाच्यः। तथा सति सर्वेषामेव सर्वभोगे बाधकाभावात् प्रत्यात्मनियतभोगानुपपत्तिः। न च विभु-विशेषगुणानामसमवायिकारणप्रादेशिकत्वनियमाद् यद्देशावच्छेदेनात्ममनःसंयोगस्तद्देशावच्छेदेनैव भोग इति व्यापकत्वेऽपि न भोगनियमानुपपत्तिरिति वाच्यम्। अप्रयोजकत्वात्। एकेनाम्रफलभक्षणे मुखावच्छेदेनाम्रं भक्षयामीतिवद् देवदत्तशरीरावच्छेदेनाऽहं भुञ्ज इति प्रत्येकं सर्वेषामनुभवापत्तेर-निवार्यत्वात्। "पादे मे सुखं शिरसि मे वेदनेतिवत्" "देवदत्तशरीरे मे सुखम्, यज्ञदत्तशरीरे मे दुः-खमि"ति ज्ञानापत्तेश्च। एकस्यात्मनः सर्वत्र सत्त्वेन तत्तन्मनःसंयोगादिदेशे जातानां ज्ञानानामेतत्सम-वेतत्वात्। तेन तेन मनसा तत्तदनुव्यवसाये बाधकाभावात् सर्वेषामेव सर्वज्ञतापत्तेश्च। न चेष्टापत्तिः। मानाभावात्। एकात्मवादप्रसञ्जकत्वेन सिद्धान्तहानिप्रसङ्गाच्च। यदि च किञ्चिददृष्टादिकं प्रतिब-न्धकत्वेन कल्पयित्वा स्वशरीरमात्रावच्छेदेन भोगोऽङ्गीक्रियते तदा देहपरिमाणात्मापत्तेर्दुर्वारत्वाद् व्यापकत्वनित्यते दत्ततिलाञ्जली स्याताम्। अतस्तयोर्निर्वाहाय शरीरान्तरावच्छिन्नोऽपि भोगोऽस्या-ऽवश्यमङ्गीकार्यः। तथाच सति प्रत्यक्षविरोधः, सर्वेषां सर्वज्ञतापत्तिस्त्रैलोक्यसङ्करापत्तिश्च स्यादित्यु-भयतःपाशा रज्जुः। किञ्च, देवदत्तशरीरावच्छेदेनाम्रे भक्षिते यज्ञदत्तशरीरावच्छिन्नस्य तस्याऽहमाम्रं भक्षितवानिति स्मरणापत्तिः सुतरां दुर्वारव। अनुभवस्मरणयोरेकप्रदेशावच्छेद्यत्वनियमाभावात्। नेत्राभ्यामद्राक्षं कराभ्यामस्पृशमित्यादिस्मरणानां स्वजनकानुभवदेशं नेत्रादिरूपमनादृत्यैव हृदये जा-यमानत्वात्। यमद्राक्षं तमन्तः स्मरामीत्यनुव्यवसायात्। नाप्यनुभवस्मरणयोरेकशरीरावच्छेद्यत्व-नियमः। तस्याप्यसाम्प्रतत्वात्। पूर्वजन्मीयानुभवजन्यस्य स्मरणस्य पूर्वशरीरमनादृत्यैव शरीरान्तरे-ऽप्येकात्मवृत्तित्वमात्रेणैवाङ्गीकारात्। अथ तत्रातिवाहिकस्यैव सत्त्वान्नास्ति नियमभङ्ग इति चेन्न। प्रयागे मृतस्येन्द्रप्रस्थादौ जातस्य जातिस्मरस्य, अन्यत्र मृतस्य झुंझे प्रेतभावेन वसतश्च प्राग्जन्म-सम्बन्धिमित्रकलत्रादिदर्शनादिना यत् प्राग्जन्मस्मरणं तदनुपपत्तेः। आतिवाहिकावच्छिन्नस्य तस्यात्मप्रदेशस्य इन्द्रप्रस्थे झुंझे चाभावात्। आत्मनस्तं प्रदेशमनादृत्य आतिवाहिकाऽवच्छिन्ने यस्मिन् कस्मिंश्चित् प्रदेशे स्मरणाङ्गीकारे स्मरणस्यातिवाहिकसमवेतत्वापत्तिः। आत्मसमवेतत्वगमकस्य बलीय-सोऽनुपपद्यमानत्वात्। किञ्च, अदृष्टस्यापि तथात्वापत्तिः। अन्यथा भूमौ कृतेन यज्ञादिना सर्वस्मिन्ना-

आवरणभङ्गः ।

त्मन्यदृष्टोत्पत्तावातिवाहिकान्तरेण स्वर्गादिभोगो निराबाधो जीवतामपि स्यात् । न चातिवाहिकदौर्लभ्यम् । मुक्तजीवातिवाहिकानां बहूनां विद्यमानत्वात् । द्विधात्रिधाच्छिन्नगोधाशरीरचाञ्चल्यादौ प्रयत्नवदात्मसंयोगस्यावश्यकत्वेन तत्र च गोधाशरीरनिष्ठमनःसंयोगकल्पनवदत्राप्यातिवाहिकान्तरसम्बन्धस्य शक्यवचनत्वात् । न चातिवाहिकस्याऽनित्यत्वादस्ति दौर्लभ्यमिति वाच्यम् । तथापि देवाद्यातिवाहिकेनादृष्टाकृष्टातिवाहिकान्तरेण च भोगापत्तेरनिवार्यत्वात् । किञ्च, अदृष्टनियमस्यानुपपत्तिः । अदृष्टस्य कर्मनियम्यत्वेन प्रयत्नस्य चात्ममनःसंयोगनियम्यत्वेन संयोगस्य च सर्वेषामात्मनां सर्वेषां मनःसु सत्त्वात् तयैव प्रनाड्या सर्वेष्वेव सर्वादृष्टानां सुवचत्वात् । न च विलक्षणमनःसंयोगादिना दोषः परिहर्तुं शक्यः । कारणवैलक्षण्यमन्तरेण मनःसंयोगवैलक्षण्यस्याशक्यवचनत्वात् । अथ कार्यैकोन्नेयं तद्वैलक्षण्यमिति चेत् अस्तु । तथा, तथापि नाकस्मिकमिति कारणं तु वाच्यमेव । तत्रान्यस्य वक्तुमशक्यत्वादीश्वरेच्छैव चेद्वैलक्षण्यहेतुत्वेनाद्रियते, तदैक एव भुङ्क्तां, नान्ये, अनेन कर्मणाऽस्यैवादृष्टमुत्पद्यतां नान्यस्येत्येवमीश्वरेच्छयैव व्यापकात्मनां भोगनियमनवद् देशान्तरस्थमयमनेन प्रकारेण भुङ्क्तामित्येवमण्वात्मवादेऽपि भोगनिर्वाहसिद्धौ देशान्तरेऽदृष्टवदात्मसंयोगाङ्गीकारेण व्यापकत्वसाधनं जघन्यमेव । किञ्च, व्यापकत्वे जीवानामीश्वरनियम्यत्वं न स्यात् । महत्त्वेन नित्यत्वेन चाभिमानसम्भवात् । चेतनत्वादिना तौल्यप्रतिसन्धानेन भगवति सर्वोत्कृष्टत्वाचनङ्गीकारस्यापि सम्भवाच्च । अतस्तन्निर्वाहायाप्यणुत्वमेव जीवस्याङ्गीकार्यम् । सकलशरीरव्यापिचैतन्योपलम्भस्तु चैतन्यस्य विसर्पिगुणत्वाङ्गीकारादप्युपपन्नः । न च विसर्पिगुणत्वमेवासिद्धमिति वाच्यम् । तस्य प्रस्थानरत्नाकरे गन्धनिरूपण उपपादितत्वाद्, भाष्ये विद्वन्मण्डने चोपपादितत्वाच्च । नन्वात्मनामणुत्वे सुखाद्यप्रत्यक्षापत्तिः । गुणप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति महत्त्वसामानाधिकरण्यस्य तन्त्रत्वात् । अन्यथा परमाणुरूपादेरपि प्रत्यक्षं स्यादिति चेन्न । योग्यताया एव तन्त्रत्वात् । अन्यथा व्यापकात्मवादेऽप्यदृष्टादिप्रत्यक्षापत्तिर्दुर्वारैव स्यात् । महत्त्वसामानाधिकरण्यस्य सत्त्वात् । न च परमाणुरूपादिप्रत्यक्षापत्तिः । अनुद्भूतत्वेनायोग्यत्वात् । वस्तुतस्तु जन्यसुखादीनां नात्मधर्मत्वम् । कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवेति श्रुताविति शब्देन सर्वेषां तादृशां सङ्ग्रहात् । अतो योग्यताया एव तन्त्रत्वमिति निश्चयः । एतेनैवाणुगुणानामतीन्द्रियत्वनियमोऽप्यपास्त एव । न चाहमिति प्रत्यक्षानुपपत्तिः । तस्य देहादिसंवलितविषयत्वात् । स्थूलत्वादिसामानाधिकरण्यभानेन तस्य भ्रमरूपत्वाच्च । अशरीरस्यायोगिनस्तथा प्रत्यक्षे मानाभावात् । योगिनस्तु योगजधर्मप्रत्यासत्त्याऽलौकिकप्रत्यक्षस्यातीन्द्रियविषयत्वेनाणुत्वाबाधकत्वात् । "अनागतमतीतञ्च वर्तमानमतीन्द्रियम् । विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिन" इति श्रीभागवतवाक्यात् । नाप्यण्वोरात्ममनसोः संयोगे द्रव्यान्तरारम्भप्रसङ्गः । विजातीयत्वात् । अणुद्वयसंयोगेन द्रव्यारम्भपक्षस्य श्रुतिविरुद्धत्वेनानादरणीयत्वाच्च । नापि ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः । आत्मा मनसा संयुज्यते इत्यस्याः प्रक्रियाया अनङ्गीकारात् । किन्तु, "अधिष्ठानं तथा कर्ता" इति वाक्याद्दैवेनान्तर्यामिणा जीवेन च मनोऽधिष्ठानात् सहायेन तत्तत्कार्ये मनः प्रेर्यते, तेन

वैदिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था । नाप्यवान्तरपरिमाणेऽप्यनित्यता भवति । यथा भगवतः प्रादेशमात्रस्य अङ्गुष्ठपर्वमात्रस्य हंसाकृतिस्तथा आराग्रमात्र एव हंसाकृतिः ।

ननु "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरि"ति वाक्याद् व्यापको भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

व्यापकत्वश्रुतिस्त्वस्य भगवत्त्वेन युज्यते ॥ ५३ ॥

व्यापकत्वश्रुतिस्त्वस्येति । भगवदावेशे भगवद्धर्मा व्यापकत्वादयस्तत्र श्रूयन्ते । न तु जीवो व्यापकः ॥ ५३ ॥

ननु वेदे, "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती"ति वाक्यादाराग्रमात्रत्वं न वास्तवमिति चेत् तत्राह—

आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः ।
प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत् ॥ ५४ ॥

आनन्दांशाभिव्यक्ताविति । ब्रह्मत्वेऽपि नाधिकपरिमाणता वक्तव्या ।

आवरणभङ्गः ।

चेन्द्रियं प्रेर्यते, तदिन्द्रियदेवता च तत्रानुकूलीभवति, तदा बहिर्विषयसन्निकर्षाज्ज्ञानोत्पत्तिरित्येवं प्रस्थानरत्नाकरे वक्ष्यमाणया प्रक्रियया सुखेन तदुत्पत्तिसम्भवात् । अणुत्वबोधकश्रुतीनां दुर्ज्ञेयताभिप्रायकत्वं तु, "वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य तु । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" इत्यादिश्वेताश्वतरश्रुतौ विशेषनिर्देशादेव निरस्तम् । अन्यथा, "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य" इतिवदणुत्वमात्रं वदेन्न तु साम्यं प्रदर्शयेत् । उत्क्रान्तिचरणविरोधादपि तथा । न च लिङ्गशरीरक्रियामादायात्मनि क्रियोपचर्यत इति वाच्यम् । इन्द्रियाणां लिङ्गान्तःपातित्वात् । "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती"त्यादिश्रुतौ जीवोत्क्रमणोत्तरं प्राणचक्षुराद्युत्क्रमणकथनविरोधस्य दुष्परिहरत्वात् । इत्यण्वात्मवादः । प्रकृतमनुसरामः । एवं यौक्तिकं दूषयित्वा अलौकिके प्रमेये श्रुत्युक्तमेवादरणीयमित्याशयेनाहुः वैदिक इत्यादि । अत एव व्यासचरणैः शब्दानुरोधेनैव सर्वत्र निर्णयः क्रियत इति तथेत्यर्थः । नन्वाराग्रपरिमाणमप्यवान्तरपरिमाणमेवेत्यनित्यत्वापत्तिर्दुर्वारेत्यत आहुः नापीत्यादि । तथाचायं यौक्तिकशास्त्र एव दोषो, न श्रौत इति भावः । ननु, "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशद्" इति पुरुप्रवेशाय हंसरूपकथनात् पुरां च नानाविधत्वेन स्वल्पासु तासु कथमङ्गुष्ठमात्रस्य प्रवेश इति नेदं युक्तमित्यत आहुः-आराग्रेत्यादि । नन्वित्यादि । भवत्वेवमणुत्वं, तथापि "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" इत्यादिश्रुतिषु व्यापकत्वस्यापि श्रवणाच्छ्रुत्योर्विरोधे गीतया निर्णय उचित इत्याशयेनाऽऽशङ्कयाहेत्यर्थः । नन्वेवं युक्तमेव चेद् व्यापकत्वं, तदाऽणुत्वसाधनमनर्थकमेवेत्यत आहुः भगवदित्यादि । तथाच यथाऽयोगोलकस्य दाहकत्वेऽपि, नाऽयोरूपेण तथात्वम् एवं जीवरूपेणास्य न व्यापकत्वमतो नाणुत्वसाधनंव्यर्थमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

आनन्दांशेत्यादि । तथाच ज्ञाने सति श्रुत्या ब्रह्मत्वं तत्र बोध्यते । तच्चानन्दांशाभिव्यक्तौ भवतीति तस्यैवायं धर्मो, न चिदंशस्येति, नाणुत्वस्यावास्तवत्वं शक्यशङ्कमित्यर्थः । नन्वेवं व्यापकत्वे तद्विरुद्धस्याणुत्वस्यापायादवास्तवत्वमेव सिद्ध्यतीति घटकुट्यां प्रभातमिति चेत् तत्राहुः ब्रह्मत्वेऽपीत्यादि । अत इति । आनन्दांशधर्मस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य तदाभिव्यक्त-

अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति । यथा कृष्णो यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदाधारो भवति । तथा जीवस्याप्यानन्दांशश्चेदभिव्यक्तस्तदा तस्मिन् ब्रह्माण्डकोटयो भवन्ति । अत एव परिच्छेदेऽपि व्यापकत्वसिद्धेर्न तदनुरोधेनाधिकपरिमाणत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याह । परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तदिति । अलौकिकेषु धर्मेषु प्रमाणमेवानुसर्तव्यं, न तु लौकिकी युक्तिः । अतो व्यापकत्वेऽपि नाराग्रमात्रत्वं, दोषाय ॥ ५४ ॥

धर्मान्तरमाह—

प्रकाशकं तच्चैतन्यं तेजोवत्तेन भासते ।
न प्राकृतेन्द्रियैर्ग्राह्यं न प्रकाश्यं च केनचित् ।
योगेन भगवद्दृष्ट्या दिव्यया वा प्रकाशते ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

प्रकाशकं तच्चैतन्यमिति । प्रकाशकं तत्तद्रूपं, तस्य चैतन्यगुणो वा, तेन तेजोवद् भासते । ततो ज्योतिःप्रयोगः । वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिरिरिति । यथा, चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिरिरिति । नैतावता तेजःप्रकृतित्वम् । तेजसोऽपि ब्रह्मप्रकृतित्वादेव तथात्वम् । अत एव न रूपवत्त्वादिकमाशङ्कनीयम् । लोकप्रमाणागोचरत्वं धर्ममाह । न प्राकृतेन्द्रियैर्ग्राह्यमिति । रूपाद्यभावात् सन्नि-

---

आवरणभङ्गः ।

त्वात् तदनुरोधेनेति । ब्रह्मत्वकथनानुरोधेन तस्य तदिति । तत् परस्परविरुद्धं धर्मद्वयं तस्य ब्रह्मण इति ब्रह्मत्वे उभयं वास्तवमित्यर्थः । ननु लोकविरुद्धमेतदिति चेत् तत्राहुः अलौकिकेष्वित्यादि । एवमेको धर्मो विचारितः ॥ ५४ ॥

अतः परं जीवस्य प्रकाशकत्वदर्शनाद्वक्ष्यमाणमाक्यानुरोधाच्च तेजस्त्वं ये मन्वते तान् दूषयितुं प्रकाशकत्वं विचारयन्ति धर्मान्तरेत्यादि । प्रकाशकं तच्चैतन्यमित्यत्र प्रथमपक्षे, तदिति भिन्नं पदम् । चैतन्यपदस्य, तेजोवदित्यनेनान्वयः । द्वितीयपक्षे समस्तम् । शेषं स्फुटम् । नन्वस्त्वेवं, तथापि पक्षद्वयं किमित्युच्यत इत्याकाङ्क्षायां स्वयंज्योतिष्ट्वश्रुत्या, गुणाद्वालोकवदिति सूत्राच्च पक्षद्वयं सम्भवतीति व्याख्यानमुखेन तदाहुः प्रकाशकमित्यादि । तथाच प्रकाशकत्वाज्ज्योतिःपदवाच्यत्वाच्च तेजःप्रकृतित्वं नेत्यर्थः । तत्र सन्देहनिवृत्त्यर्थं तत्र प्रमाणमाहुः तेजसोऽपीत्यादि । "तमेव भान्त"मिति श्रुतेरित्यर्थः । ननु प्रकाशकत्वेन भास्वररूपवत्त्वेन व्याप्तिदर्शनात् तत्रापि तदापत्त्या तेजस्त्वं दुर्वारमिति चेत् तत्राहुः अत एवेत्यादि । श्रुतिविरोधादेव तथा नाशङ्कनीयमित्यर्थः । लोकेत्यादि । ननु युक्तिविरोधे कथं केवलं श्रौतमादरणीयमित्याशङ्कायां युक्तिं हृदि कृत्वा लोकप्रमाणागोचरत्वं धर्ममाहेत्यर्थः । तथाच यदि तस्य रूपवत्त्वं स्याल्लौकिकेन्द्रियग्राह्यत्वं स्यात् । रूपवत्त्वेन लौकिकेन्द्रियग्राह्यत्वेन व्याप्तेः । अतोऽत्र तदभावादलौकिके श्रौतमेवादरणीयमित्यर्थः । ननु कथं लौकिकेन्द्रियाग्राह्यत्वमित्यत आहुः रूपेत्यादि । तथाच यदि तदुभयं स्यात् प्रत्यक्षं

कर्षाभावाच्च । "यं न स्पृशन्ति न विदु"रिति वाक्यात् । नापि केनचित् प्रकाश्यम् । यथा सूर्येण प्रकाशितो घटश्चक्षुषापि गृह्यते, न तथेन्द्रियग्रहणार्थं किञ्चित् प्रकाशकमस्तीत्यर्थः । ननु तर्हि, "पश्यतां सर्वलोकाना"मित्यादि कथमुपपद्येतेति चेत्, तत्राह योगेनेति । त्रेधा तद्दर्शनम् । योगेन साधितं मनः पश्यति । दृष्टिस्तु या भगवन्तं पश्यति, दिव्या ज्ञानदृष्टिश्च या तया । नान्यथा तद्दर्शनमित्यर्थः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

आवरणभङ्गः ।

स्यात् । तदभावात्, "पराञ्चि खानी"ति श्रुतेश्च तथेत्यर्थः । आदिपदं स्पर्शरसगन्धशब्दसङ्ग्राहकम् । सन्निकर्षाभावे स्मृतिरूपमपि मानमाहुः यं नेत्यादि । "यं न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः । अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत् तं नतोऽस्म्यहम्" इति षष्ठस्कन्धे नारदोपदेशे भगवतो मनआदिस्पर्शनिषेधाज्जीवस्यापि सजातीयत्वेन ब्रह्मगुणसारत्वात् तत्रापि संयोगाख्यस्पर्शविशेषस्याभावात् सन्निकर्षाभाव इत्यर्थः । एवञ्च जीवे परिमाणं सङ्ख्या पृथक्त्वं दैशिकपरत्वापरत्वे परिवर्तनादिक्रिया प्राणधारणप्रयत्नः स्वप्ने प्रकाशकत्वं लौकिकेन्द्रियाग्राह्यत्वं सत्ता विसर्पिचैतन्यं चेति गुणा भगवदिच्छया सृष्टौ भवन्ति । मोक्षे त्वानन्दाभिव्यक्तौ व्यापकत्वमपि प्रादुर्भवति । परममुक्तौ भगवता ऐक्ये प्रयत्नान्ताः षड् निवर्तन्त इति बोध्यम् । संयोगस्य तु स्पर्शेऽन्तर्भावो द्वितीयस्कन्धे "वस्तुनो लघुकाठिन्य"मित्यस्य सुबोधिन्यामुपपादितः । स च प्रस्थानरत्नाकरे तत्त्वविवेके प्रदर्शितोऽस्माभिरिति ततो बोध्यः । एतेन, आत्ममनःसंयोगोऽहमिति प्रत्यग्वित्तिजनकत्वेन यो वैशेषिकादिभिरङ्गीक्रियते सोऽपि श्रुतिस्मृतिविरोधाद् अहमिति लौकिकप्रत्यग्वित्तौ देहस्य तत्संवलितस्य भावेन तस्य विविक्तात्मविषयभावाच्च न विविक्तात्मबोधकः । तस्य तथात्वाङ्गीकारे योगादिसाधनवैयर्थ्यापत्तेरनुभवविरोधाच्चेति बोधितम् । अतः परं, केचन बाह्या ज्ञानरूपस्य प्रकाशस्य मदशक्तिवत् परमाणुपुञ्जधर्मत्वं स्वीकुर्वन्ति, तद् दूषयितुमाहुः नापीत्यादि । अयमर्थः । ज्ञानं यस्य धर्मः स पुञ्जो बाह्यश्चेन्मृतशरीरेऽपि ज्ञानमुपलभ्येत । अत आन्तरो वाच्यः । सोऽपि केशाणुकन्यायेन दृश्यश्चेद् यदाकदाचित् प्रकाश्योऽपि स्यात् । तथा सति तत्प्रसिद्धिरपि स्यात् । यतो नैवम्, अतो न तथेति । अतो ज्ञानधर्मा इतराप्रकाश्य आत्मा अतिरिक्त एव, न तु परमाणुपुञ्ज इति । तर्हीति । योग्यतासन्निकर्षसंस्कारकाभावेन लौकिकप्रमाणागोचरत्वे त्रेधेत्यादि । अत्रैवं बोध्यम् । ब्रह्मवादे प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वेन सच्चिदानन्दात्मकत्वं, तथा "घ्राणं च गन्ध" इत्यादिवाक्यानुरोधात् सजातीयग्राहकत्वं च नियतम् । एवं सति लौकिकेन्द्रियैर्यल्लौकिकं गृह्यते तत् सदंशेन सदंशस्य ग्रहणम् । तस्य बाह्यत्वात् । यत्र पुनर्योग्यस्य सतः स्पार्शनादिसम्भवेऽपि न चाक्षुषं, यथा "अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपेषु सत्स्वपि" इत्यादौ, तत्र मायया दोषान्तरेण वा विषयावरणे अन्यस्य प्रतिबिम्बादर्शनमापतति, चक्षुरावरणे स्वस्यान्यदर्शनमापततीत्युभयोपपत्त्यर्थं ज्ञानांशस्यावरणमङ्गीकार्यम् । तथा सति चक्षुषि ज्ञानांशः किञ्चिदावृत इति ज्ञानात्मकं प्रतिबिम्बं शिरोभागेन गृह्णाति । यथा सदात्मकस्यैषत्तिरोभावे तैमिरिकस्तद्वत् । सदंशोऽस्तीति तदानीमपि सदात्मकं वस्त्वन्तरं गृह्णातीत्येवं ज्ञानचक्षुःसिद्धिः । एवमानन्दरूपं चक्षुरानन्दांशं गृह्णातीत्यपि

एवं स्वमते जीवस्वरूपमुक्त्वा, "एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्" इति वाक्याद् ब्रह्मप्रतिबिम्बो ब्रह्माभासो वा जीव इति कश्चिन्मन्यते, तन्मतंनिराकरणायाह—

आभासप्रतिबिम्बत्वमेवं तस्य न चान्यथा।
आनन्दांशतिरोधानात् तत्तद्वृत्तेन भासते ॥ ५७ ॥

आभासप्रतिबिम्बत्वमिति। यद्यपि तद्वाक्यं ब्रह्मवाक्यम्। तेनैकं ब्रह्मैव नानारूपं चन्द्रवद् दृष्टान्तेनोच्यते। एकस्य नानात्वमेव दृष्टान्तार्थो, न प्रतिबिम्बत्वम्।

आवरणभङ्गः।

बोध्यम्। एवं सति प्रकृते योगेन साधितं मनो यदा भवति तस्य ज्ञानांश उत्कृष्यत इति तादृशं मनः पश्यति। परमन्तरेव। एवं मां सर्वे पश्यन्त्विति भगवदिच्छया यदा दृष्टेर्ज्ञानांश उत्कृष्यते, भक्त्या वा आनन्दांशस्तदा सा दृष्टिर्भगवन्तं पश्यतीति तादृशी जीवमपि पश्यति। आनन्दांशप्राकट्ये ज्ञानस्यापि प्राकट्यात्। एवमेव दिव्यापि। उक्तवाक्ये सर्वलोकपदेन देवादय एवोच्यन्ते। वृत्रवधे दिव्यदृष्टीनां तेषामेव सन्निधानात्। चैद्यवधे तु मनुष्या अपि। भगवद्द्रष्टृत्वात्। दृष्ट्या दर्शनं बहिर्ज्ञेयम्। एवं दर्शनसाधनकथनेन पूर्वोक्तं ब्रह्मांशत्वं दृढीकृतम् ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

अतः परं परमतं दूषयन्ति **एवमित्यादिना**। कश्चिदिति मायावादी। **आहेति**। तद्वाक्याशयमाहेत्यर्थः। ननूक्तवाक्यस्य प्रकरणावरुद्धत्वेन जीवबोधकत्वान्मतान्तरीयप्रतिबिम्बरूपत्वं कुतो नाङ्गीक्रियत इत्याकाङ्क्षायां बलिष्ठोपपत्तिबलेन जीवाबोधकत्वाद्, ग्रहिलतया तथाङ्गीकारेऽपि दूषणान्तरग्रासाच्च नाङ्गीक्रियत इत्याशयेनाहुः **यद्यपीत्यादि**। यद्यपि तद्वाक्यं जीवप्रकरणावरुद्धं, तथापि तद् ब्रह्मवाक्यमित्यर्थः। तत्र हेतुः **तेनेत्यादि**। तथाच यदि श्रुतिर्जीवस्य तादृशप्रतिबिम्बरूपत्वमभिप्रेयान्मुखमेव दृष्टान्तीकुर्यान्न तु चन्द्रमतस्तथेत्यर्थः। कथमेवं विनिगम्यत इति चेदुच्यते। इदं वाक्यं ब्रह्मबिन्दूपनिषदि वर्तते। तत्र च, "मनो हि द्विविधं प्रोक्तमि"त्युपक्रम्य शुद्धमनसः स्वरूपं, शुद्धे मनसि ब्रह्मसम्पत्तिरूपं फलं चोक्त्वा तादृशमनःसिद्ध्यर्थं स्वस्य ब्रह्मात्मभावनारूपं साधनमुपदिशन्ती श्रुतिः "स्वरेण सन्धयेद् योगमि"त्यादिमन्त्रत्रयेण ज्ञेयब्रह्मस्वरूपमुक्त्वा तद्विरुद्धधर्मवतो ज्ञातुः कथमुक्तरूपब्रह्मणाऽभेदो भावयितुं शक्य इत्याकाङ्क्षायां, "न निरोधो न चोत्पत्ति"रिति मन्त्रेण ज्ञातुर्विरुद्धधर्माध्यास निवार्यत्वायोक्त्वा, "एक एवात्मा मन्तव्य" इति मन्त्रेण ज्ञातुः स्वरूपं जन्माद्यभावायोक्त्वा विरुद्धधर्माभावेऽस्तु साजात्यं, न त्वभेद इत्यभेदभावना न युक्तेति शङ्कायां जीवस्य तदभिन्नत्वाय ब्रह्मस्वरूपं वदति। "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" इति। दशधेत्यपि क्वचित् पाठः। अर्थस्तु, एक एव भूतात्मा परमेश्वरो भूते भूते प्रतिशरीरं व्यवस्थितो विशेषाकारेण अंशेनाऽवस्थितः सन्नेकधा बहुधा चैव दृश्यते। एकस्यानेकधावस्थाने दर्शने च दृष्टान्तमाह **जलचन्द्रवदिति**। यथा जले चन्द्रमा अंशुरूपेण अंशेन स्थित एकधा चन्द्ररूपेण, बहुधा अनेकसंख्याकम्पादिविशिष्टरूपेण च दृश्यते। तथाच नानात्वदर्शनेऽप्यंशांशिनोरभेदात् साजात्याच्च ब्रह्माभेदभावना

प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीरित्यत्रापि तथा । रूपस्पर्शादियुक्तस्य द्रव्यस्य रूपमात्रोपलम्भः प्रतिबिम्बः । क्रियायाश्च । न तु धर्मस्पर्शौ वा । तथा सति जलेन्दुस्तं प्रक्षिप्य तं स्पृशेत् । तत्र स्वाधारस्वभावानुविधायित्वे सति संमुखस्थितार्थानु-

टिप्पणी ।

पूर्ववदिति । मायासृष्टिभिन्नपूर्वसृष्टावित्यर्थः । प्रतिमुखस्येति । यथा एकधेति श्लोके एकस्य नानात्वं दृष्टान्तार्थः; न प्रतिबिम्बत्वम्; तथाच सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्ये भगवति कृतं जीवे

आवरणभङ्गः ।

जीवस्य युक्तेत्यर्थः । एवं सति अत्रैकस्य नानात्वमेव दृष्टान्तार्थः सिद्ध्यति । किञ्चैतन्मन्त्रोत्तरमन्त्रे जीवस्य च नभोपमत्वमुक्तम् । तदपि प्रतिबिम्बरूपतायां न सङ्गच्छेत । तस्यालीकत्वात् । न चावच्छिन्नवादस्य तन्मन्त्रे सिद्धेरंशत्वकथनमप्यसङ्गतमिति वाच्यम् । तस्मिन् मन्त्रे जीवस्य स्थानत्रयातीततायां ब्रह्मभावापन्नतामात्रपरामर्षात् । पूर्वमन्त्रेण तथा निश्चयात् । अन्यथा विरोधापातात् । प्रदेशत्वादरणे श्रुत्यन्तरविरोधादीनामग्रे वाच्यत्वात् । अतोऽत्र ब्रह्मण एकस्य नानात्वमेव दृष्टान्तार्थ इति निश्चयः । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् । तदेतदुक्तम्, एकस्य नानात्वमेव दृष्टान्तार्थो न प्रतिबिम्बत्वमिति । नन्वस्त्वंशप्रवेशस्तथापि तत्र मण्डलकलङ्कादेरप्रवेशात् प्रातीतिकानां तेषां त्वलीकतैवेति सैव दृष्टान्तार्थोऽस्त्विति चेत् । सुबुद्धिरसि !! तावतापीदानीमायुष्मता युक्त्या व्यवस्थाप्यमानानां व्यापकत्वादीनां केषाञ्चिद्धर्माणामेव तथात्वं सेत्स्यति, न तु जीवस्वरूपस्यापीत्यनुसंधत्स्व । एतेनैव "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्नि"ति स्मृतिरत एव चोपमा सूर्यकादिवदिति सूत्रं च व्याख्यातप्रायं ज्ञेयम् ।

नन्विदमसङ्गतम्, श्रीभागवते मुखदृष्टान्तस्याप्युक्तत्वात् । पुराणस्य श्रुत्यर्थनिर्णायकत्वेन तदनुसृत्यैव श्रुतितात्पर्यकथनस्यौचित्यादिति चेत् तत्राहुः प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीरित्यत्रापि तथेति । अत्रापि मुखश्रियः प्रतिमुखश्रीप्रयोजकत्वमुच्यते इति न जीवस्य पराभिमतप्रतिबिम्बत्वमत्राप्यर्थ इत्यर्थः । तर्हि प्रतिबिम्बः को वेत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपमाहुः रूपेत्यादि, रूपमात्रोपलम्भ इति । रूपांशस्य ज्ञानम् । चकारः सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसमुच्चायकः । तथा चोक्तविधधर्मिसम्बन्धि यद्दर्पणादिसम्बन्धेन रूपक्रियासङ्ख्यादिज्ञानं, स प्रतिबिम्बः । तेन पदार्थान्तररूपमायिकज्ञानात्मा सिद्ध्यति, न त्वध्यासात्मा । स्वमुखस्यादृष्टत्वेन तत्प्रतिबिम्बेऽध्यासलक्षणाऽसमन्वयादित्यर्थः । ननु किमत्र विनिगमकं, येनैवमुच्यते । वस्तुतस्तत्पदार्थोऽयं दूषणप्रयासः, प्रतिबिम्बपदार्थस्यैवाभावात् । दर्पणादिसन्निकर्षेण परावृत्तनयनकिरणस्य स्वमुखदर्शनमात्रेण दर्पणादौ प्रतिबिम्बाभिमानात् । अन्यथा तमसि निलीनोऽपि प्रतिबिम्बेत । एवन्तु सहकार्यभावादेव चाक्षुषत्वाभावः । न च परावृत्तौ मानाभावः । कार्यस्यैव मानत्वात् । दर्पणादिभिस्तेजः परावृत्तेः सार्वजनीनत्वेन प्रकृतेऽपि बाधकाभावाच्चेत्याशङ्कायां प्रतिबिम्बस्यातिरिक्तत्वसाधनाय प्रभवस्तं लक्षयन्ति स्वाधारेत्यादि । अत्र स्व इति विवक्षितः । स्वभाव इति धर्मः । अनुविधायित्वमिति समानधर्मत्वम् । सम्मुख इति, अनुविधानानुकूलो देशः । तथाच स्वः प्रति-

विधायित्वेन प्रतीतियोग्यो हि प्रतिबिम्बः । स चेतरविलक्षणः । अतः प्रतिबिम्बरूपमेकं भगवतः स्वतन्त्रमिति मन्तव्यम् । तत्रापि मानाद्यभावात् तदर्थं प्रयत्नाकरणात् । अत

टिप्पणी ।

फलतीति बिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तेनोच्यते, न तु जीवस्य प्रतिबिम्बत्वमित्यर्थः । तत्रापीति । प्रतिबिम्बरूपे नियतपरिमाणाद्यभावात्प्रयत्नाजन्यत्वाच्च भगवतः स्वतन्त्रं नित्यं रूपं दर्पणादिसामग्र्या दृश्यत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

आवरणभङ्गः ।

बिम्बस्तदाधारो दर्पणजलादिस्तत्स्वभावः स्वच्छत्वमालिन्यादिस्तदनुविधायित्वे सति सम्मुखस्थितो योऽर्थो मुखसूर्यादिस्तदनुविधायित्वेन प्रतीतियोग्यो यः स प्रतिबिम्ब इत्यर्थः । अस्ति चैवंरूपत्वं मुखसूर्यादिप्रतिबिम्ब इति लक्षणसमन्वयः । अत्र प्रथमदलमात्रं स्फटिके, द्वितीयं च चित्रादावतिव्याप्नोतीति दलद्वयमावश्यकम् । एवमपि स्फटिकप्रतिमायामतिव्याप्तिरिति तद्वारणाय तृतीयं दलं, समभिव्याहारात् तेनैव रूपेण प्रतीतियोग्यत्वमित्यर्थकम् । स्वपदरहितसर्वदलोक्तौ चाश्वत्थाभासेऽतिव्याप्तिरिति तद्वारणाय तदावश्यकमेव । स्वाधारस्वभावानुविधायित्वेनैव प्रतीतियोग्यत्वं स्वसम्भवग्रस्तमेव । द्वितीयदलोक्तरूपताया अपि सत्त्वात् । तादृशत्वे सत्येव प्रतीतियोग्यत्वं च स्फटिकेऽतिव्याप्तम् । स्वाधारभूतावयवस्वभावानुविधायित्वस्य तत्रापि सत्त्वात् । प्रतीयमानत्वं चाप्रतीतप्रतिबिम्बेऽव्याप्तम् । अतः सर्वं सुष्ठु । न च स्वपदेनात्माश्रयः शङ्क्यः । प्रतिबिम्बस्य प्रत्यक्षतो गृह्यमाणत्वात् । साम्मुख्यञ्चात्रानुविधानानुकूलदेशत्वमेव, न तु पुरोवर्तित्वम् । असम्मुखादिक्कानामपि प्रतिबिम्बदर्शनात् । यत्तु स्फटिकप्रतिमादिवारणायार्थपदं यावत्त्वेन विशेषणीयमिति कश्चित् । तन्न । प्रतिबिम्बविशेषे अव्याप्तेः । एकस्मिन् यावदनुविधायित्वस्यादर्शनात् । प्रतिबिम्बबहुत्वप्रतीतिबाधापत्तेश्च । प्रतीतियोग्यपदमाकाशवारणायेत्यपि तथा । वेदान्तसिद्धान्ते तस्य तथात्वाङ्गीकारात्, परोक्षप्रतीतियोग्यतायाः सर्वतन्त्रसिद्धेन पुनर्विशेषणान्तराकाङ्क्षापाताच्च । तस्मादस्मदुक्तरीतिरेव साधीयसीति बोध्यम् । एवं लक्षणं निश्चित्य तेन सिद्धं तत्स्वभावमाहुः । स चेतरविलक्षण इति । चोऽप्यर्थे । स प्रतिबिम्ब इतरस्मात् सत्यसृष्टिरूपाद् घटादेर्मिथ्यासृष्टिरूपादाभासादेश्च विलक्षणो विरुद्धस्वभाव इत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः अत इत्यादि । तथाच स्वभाववैलक्षण्येन पदार्थान्तरत्वसिद्धेश्चक्षुःपरावृत्त्यङ्गीकारोऽभिमानमात्रमेवेति भावः । अत एवादर्शद्वयस्य परस्पराभिमुख्ये साभासयोरादर्शयोरनवस्थादर्शनं, दर्पणोपरि मुद्रिकादेः स्थापने तद्द्वयदर्शनम्, असंमुखदिक्कानां चादर्शे दर्शनं युज्यते । तमसि तिष्ठतः प्रतिबिम्बाभावस्तु तमसः पदार्थान्तरत्वात् तेन तदावरणादेवोपपन्नः । अत एव तादृशस्थले तमस एव प्रतिबिम्बो, न पुरुषादेरिति सर्वजनीना प्रसिद्धिः । एवं सत्युष्णस्पर्शमण्डलाद्यनुभवचक्षुःप्रतिघातैः सौरादितेजो दर्पणादौ प्रविशति प्रतिबिम्बते, परावर्तते च । तेजोऽतिरिक्तं तु स्पर्शाद्यननुभवात् प्रतिबिम्बत एवेति मन्तव्यम् । तेन निष्प्रत्यूहा प्रतिबिम्बसिद्धिरिति चक्षुःपरावृत्तिपक्षो न साधुरिति दिक् । एवमतिरेकं साधयित्वा भगवद्रूपत्वं साधयन्ति तत्रापीत्यादि । तत्र भगवद्रूपे, अपिशब्दात् प्रतिबिम्बे च

एव "समो मशकेन समो नागेने"ति श्रुतेः सर्वानुविधायकत्वमपि सङ्गच्छते । अतो मूलसेकः शाखायामपि गच्छतीतिवत् प्रतिबिम्बेऽपि तथा भानमस्तीत्येतावन्मात्रमभिप्रेत्योच्यते । आभासत्वं प्रतिबिम्बत्वं, न तु मुख्याभासवत् तस्यालीकं स्वरूपमित्यर्थः । "यदस्ति यन्नास्ती"ति वाक्याद् भगवतः सर्वं रूपमुपपद्यते, न त्वन्यस्येति भावः । यथा महाराजस्य सर्वरूपं सर्वा च कृतिर्न दोषाय । आभासप्रतिबिम्बत्वे प्रयोजकं रूपमाह **आनन्दांशतिरोधानादिति** । जीवरूपं तत् । एतत्तिरोधानाज्जीवत्वं भासते । तेन आनन्दांशेनाविर्भूतेन युक्तं यत् तद्वद् ब्रह्मवदवभासते इत्यर्थः । अंशद्वयस्य विद्यमानत्वात् । सदंशस्फूर्तावाभासत्वम् । उभयोः स्फूर्तौ प्रतिबिम्बत्वम् ।

आवरणभङ्गः ।

नियतपरिमाणसङ्ख्ययोरभावात् । आधारे मानार्थं परिमाणार्थं योगिवत् प्रयत्नाकरणात् सङ्कोचविकासक्रियानाचरणात् प्रतिबिम्बो भगवद्रूपमेवेत्यर्थः । तथाच भगवतो रूपान्तरं यथा नियतपरिमाणसंख्यारहितं, यथा च तन्महदपि स्वल्पाधारे प्रयत्नं विनैव भाति तथा प्रतिबिम्बोऽपीत्ययमपि रूपान्तरमेवेति भावः । एतदुपष्टम्भार्थं युक्त्यन्तरमाहुः **अत एवेत्यादि** । नियतपरिमाणाद्यभावेन भगवद्रूपत्वादेवैतच्छ्रुत्युक्तं भगवतः सर्वानुविधायित्वं प्रतिबिम्बेऽपि सङ्गच्छत इत्यर्थः । एवं प्रतिबिम्बस्य स्वरूपादिकं निर्णीय, प्रतिमुखस्येति वाक्यसङ्गमनायाहुः **अत इत्यादि** । अतो भगवद्रूपत्वाद्धेतोर्मूलसेकन्यायेन बिम्बे कृतम् अलङ्कारादिकं प्रतिबिम्बे प्राप्नोतीति प्रतिबिम्बेऽपि बिम्बतुल्यतया भानमस्तीत्येतावन्मात्रमभिप्रेत्य, प्रतिमुखस्येत्यत्र, "आभास एव चे"ति सूत्रे च तथात्वमुच्यते, न तु मुख्याभासवन्मुखतुल्याभासवज्जीवस्यालीकं स्वरूपमभिप्रेत्योच्यत इत्यर्थः । मुख्येत्यत्र मुखमिव मुख्य इतीवार्थे "शाखादिभ्यो य" इत्यनेन जातो यप्रत्ययो ज्ञेयः । ननु भवतु जीवस्य सत्यत्वं, तथापि "तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तम" इति द्वितीयस्कन्धवाक्ये प्रतिबिम्बस्य तु मायिकत्वं व्यवस्थापितमिति कथं तादृशस्य भगवद्रूपत्वं शक्यवचनमित्यत आहुः **यदस्तीत्यादि** । "भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च । नद्यः समुद्राश्च स एव विष्णुर्यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य"इति विष्णुपुराणे असतोऽपि भगवद्रूपत्वकथनात् तादृशत्वेऽपि भगवद्रूपत्वमबाधमिति तथेत्यर्थः । नन्वेवं सति ब्रह्मस्वरूपे मायिकत्वदोषः प्रसज्यत इत्याशङ्कायामभ्युपगम्य दृष्टान्तेन समादधते **यथेत्यादि** । तथाच यत्र लोकेऽपीयं व्यवस्था तत्र ब्रह्मणि सकलजगन्नियन्तरि कुत्र दोषस्य सम्भावनापीति भावः । न चैवं सति जीवस्यापि मायिकरूपेणैव भगवद्रूपत्वमस्त्विति शङ्कनीयम् । पूर्वोक्तश्रौतदृष्टान्तव्याकोपात् । "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा" इति श्रुत्युक्तदोषप्रसक्तेश्चेति दिक् । ननु यदि ब्रह्मरूपतैव जीवस्य तर्हि सूत्रादावाभासादिरूपत्वं कुत उच्यत इत्यत आहुः **आभासेत्यादि** । सिद्धमाहुः **सदंशस्फूर्तावित्यादि** । ताश्च स्फूर्तयो गौरोऽहमस्मीति देहविशिष्टो व्यतिरिक्तो वा चेतनोऽहमिति ब्रह्माहमित्याधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकरूपेण ज्ञेयाः । तथाचैतादृशप्रतीतिविषयं तत्प्रयोजकं रूपान्तरमभिप्रेत्य तथोच्यते, न त्वलीकत्व-

त्रितयस्फूर्तौ ब्रह्मत्वमिति निर्णयः, न तु लौकिकाभासत्वम् । तथा सति अलीकता स्यात् ॥ ५७ ॥

अतो मायावादिव्यतिरिक्तास्तं तथा मन्यन्त इति मिथ्यावादं युक्तिबाधितमेव दूषयति—

मायाजवनिकाच्छन्नं नान्यथा प्रतिबिम्बते ।
तत्र वृत्तेर्द्वा सुपर्णाश्रुतेरपि विरुद्ध्यते ।
गुहां प्रविष्टावित्युक्तेर्भगवद्वचनादपि ॥ ५८ ॥

मायाजवनिकाच्छन्नमिति । अवश्यं प्रतिबिम्बसिद्ध्यर्थं व्यवधानं कल्पनीयम् । तन्मायादिकमेव भवतीति मायाजवनिकाच्छन्नं न प्रतिबिम्बते । यथा तिरस्करिण्यां

आवरणभङ्गः ।

मभिप्रेत्येत्यत आभासप्रतिबिम्बब्रह्मरूपत्वबोधकानां सर्वेषां वाक्यानां न कथमपि विरोध इति भावः । एवं स्वमतं स्थापयित्वा मतान्तरीयप्रतिबिम्बपक्षे दूषणान्तराणि वक्तुमवश्यदूष्यत्वे हेतुं वदन्त आहुः न त्वित्यादि ॥ ५७ ॥

अत अलीकत्वे पुरुषार्थासिद्धेर्मिथ्यावादं जीवमिथ्यावादं युक्तिबाधितत्वाद् दूषयतीत्यर्थः । युक्तिबाधितमिति हेतुगर्भं विशेषणम् । दूषणमाहुः मायेत्यादि । अत्र तन्मतप्रसिद्धाः षट्पक्षाः । अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसम्बन्धिनी माया । तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः । तस्या एव परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेष्वावरणविक्षेपशक्तिमदविद्याभिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीव इत्येकं मतम् । त्रिगुणात्मिकाया मूलप्रकृतेर्माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीतिश्रुतिसिद्धं रूपद्वयम् । तत्र रजस्तमोनभिभूतशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः । तदभिभूतमलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्या, तस्यां चित्प्रतिबिम्बो जीव इत्यपरम् । विक्षेपशक्तिप्राधान्येन मायाशब्दितायां मूलप्रकृतावेव चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः । आवरणशक्तिप्राधान्येन अविद्यादिशब्दितायां तस्यामेव चित्प्रतिबिम्बो जीव इति तृतीयम् । अविद्यायां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः । अन्तःकरणे चित्प्रतिबिम्बो जीव इति तुरीयम् । घटाकाशजलाकाशमहाकाशमेघाकाशवत् कूटस्थजीवब्रह्मेश्वरभेदेन चैतन्यचातुर्विध्यवादिनान्तु ब्रह्माश्रितमायातमसि स्थितासु सर्वप्राणिनां धीवासनासु प्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः । स्थूलसूक्ष्मदेहावच्छिन्नचैतन्यस्थिते मायाकल्पितेऽन्तःकरणे प्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति पञ्चमम् । एवं प्रतिबिम्बेश्वरवादिनां पञ्च पक्षाः । षष्ठे बिम्बेश्वरवादिमते तु जीवोपाधिनाऽन्तःकरणादिनाऽवच्छिन्नं चैतन्यमीश्वरो बिम्बभूतः । अज्ञाने तत्प्रतिबिम्बो जीवः । तत्राप्यज्ञानपरिणामभूतमन्तःकरणं जीवस्य विशेषाभिव्यक्तिस्थानम् इत्याहुः । एवमेतान् षट् पक्षान् अन्यांश्च मनसि निधायैकहेलया दूषयितुं दूषणं व्युत्पादयन्ति अवश्यमित्यादि । अयमर्थः । येन ह्यावरणविक्षेपशक्तिरहितायामीश्वराख्यः प्रतिबिम्बः स्वीकृतस्तन्मते ईश्वरासिद्धिः । अतिस्वच्छायां प्रतिबिम्बासम्भवात् । स्फटिकादौ तथा निश्चयात् । अथ किञ्चिद्दूरतो मलिनशक्तिसम्बन्धेन वक्रितोपनेत्रादिष्विवोपपाद्यते तदापि सृष्टेः पूर्वमाकाशादेरनुत्पन्नत्वात्कारणेऽप्यन्तःसत्त्वेन बहिरवकाशासत्त्वाद् व्यवधानाभावादसम्भवः ।

विद्यमानायां पुरुषो न प्रतिविम्बते । दूषणान्तरमाह तत्र वृत्तेरिति । यो यत्र वर्तते स तत्र न प्रतिविम्बते । उपरि स्थित एव भ्रान्त्या प्रतीत आकाशः प्रति-

आवरणभङ्गः ।

अथ अहिलतया बहिरवकाशोऽभ्युपगम्यते, तदेश्वरस्य चितश्च प्रादेशिकत्वापत्तिव्यापकत्वहानिरा-काशसम्भवश्रुतिविरोधश्च । योऽप्यावरणादिशक्तिमत्सु तत्प्रदेशेषु जीवाख्यः प्रतिबिम्बः सोऽप्याव-रणशक्तेरान्तरालिकत्वे दुरुपपादः । अनान्तरालिकत्वे तु तदसंसर्गाज्जीवस्याज्ञत्वानुभवो दुरुपपाद इति न भूतप्रकृतेरुपाधित्वं साधीय इति प्रथमपक्षोऽनादरणीयः । अत एव न मायाऽविद्ययोः । तथाहि । उभयोर्मायाऽविद्ययोर्व्यापकत्वे रजस्तमोऽनभिभूतत्वाभिभूतत्वयोः सार्वत्रिकत्वेन मायाविद्याविवेकासम्भवात् प्रतिबिम्बयोरप्यविवेकेन जीवेश्वरविभागस्य दुरुपपादत्वम् । अव्या-पकत्वे जीवेश्वरयोर्व्यापकताहानिप्रसङ्गश्च । अथ मायाया व्यापकत्वं, बहिः सर्वतः स्वच्छत्वमवि-द्यायाश्च तदन्तःस्थाया मलिनस्वच्छत्वमुपगम्यते, तदापि व्यापके प्रतिबिम्बादर्शनादीश्वरो दुरु-पपादः । बहिष्ठायाश्चितो मायांशरजस्तमोभ्यामविद्याव्यवधाने तत्प्रतिबिम्बासम्भवाज्जीवोऽपि तथा । निकटचितस्तु नैकट्यादेव तदसम्भव इति तथा । किञ्चिद्दूरत्वावकाशादिकल्पने तु पूर्वोक्तदूष-णापत्तिरिति द्वितीयोऽप्यसङ्गतः । एत एव तृतीयपक्षेऽपि दोषा ज्ञेयाः । तुरीयस्तु सर्वनिर्णये "अविद्यायास्तथा बुद्धेर्न शुद्धत्वं कथञ्चन" इत्यत्र दूष्यत्वान्नेह प्रपञ्चयते । यथासम्भवं पूर्वोक्त-दूषणसंसर्गाच्च । पञ्चमपक्षे आकाशदृष्टान्तेन यद्यपि चैतन्यस्य द्विगुणीकृत्य वृत्तिरुक्ता, तथापि दृष्टान्तानुरोधादुपाध्यसंसृष्टस्यैव प्रतिबिम्बादान्तरालिकमायातमसो घनावयवादिमत्त्वेन धीवासनाव्य-वधायकत्वादीश्वरासम्भवः । विरलावयवादिरूपताङ्गीकारे च हेतोरनिर्वाच्यत्वं, स्वभाववादा-पत्तिर्वा । प्रतिबिम्बसिद्धौ तादृक्स्वभावसिद्धिः । तत्सिद्धौ च प्रतिबिम्बसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः । एवमन्तःकरणस्यापि मायाव्यतिरेकेणास्थितेः पूर्वोक्ता एव दोषाः । ये च मायायां चित्प्रतिबिम्ब-मीश्वरं परिकल्प्याविद्यायां मलिनसत्त्वायां तादृशेऽन्तःकरणे वा ईश्वरप्रतिबिम्बं जीवं कल्पयन्ति, तेषामपि मते मायाया व्यवधायकत्वादीश्वरद्वारकः प्रतिबिम्बो दुरुपपादः । यदि च मायाया बहिः सर्वतः स्वच्छत्वं, तदाप्यस्वच्छांशस्य तदन्तःकरणाविद्ययोश्च तद्व्याप्यत्वात् स एव दोषः । यदि च मायाशुद्धसत्त्वान्तरशुद्धसत्त्वमविद्याद्यङ्गीकृत्य रजस्तमसी तदन्तरङ्गीक्रियेते, तदा त्वतिस्वच्छा-यामित्यादिनोक्ता एव दोषाः । षष्ठे बिम्बेश्वरवादे तु जीवोपाध्यवच्छिन्नस्येश्वरस्योपाधिसंसृष्टत्वाद-न्तरालाभावेनैव प्रतिबिम्बासम्भवः । ईश्वरस्य बिम्बत्वासम्भवश्च । तदेतदुक्तं मूले, अन्यथा न प्रतिबिम्बत इति । एतदेव विवृण्वन्ति दूषणान्तरमाहेति । हेतुं विवृण्वन्ति यो यत्रेत्यादि । वर्तत इति । व्याप्य वर्तते । ननु व्याप्यवृत्तित्वं नाप्रतिबिम्बप्रयोजकम् । आकाशप्रतिबिम्बस्य जलादौ दर्शनादिति चेत् तत्राहुः उपरीत्यादि । तथाच तत्रापि जलानन्तर्ग-तोऽसंसृष्ट एव प्रदेशः प्रतिबिम्बत इति नेश्वरस्य बिम्बत्वसिद्धिरित्यर्थः । भ्रान्त्या प्रतीत इति प्र-तिबिम्बस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वनियम्यताबोधनार्थम् । तेनादृश्यादिश्रुतिविरुद्धतया ब्रह्मप्रतीतेरशक्यवचनत्वात् प्रदेशभेदाङ्गीकारेऽपि दोषतादवस्थ्यं सूचितम् । ननु योग्यत्वं न प्रतिबिम्बनियामकं, विभक्ता-

बिम्बते । वस्तुतस्तु प्रभामण्डलस्यैव रूपतः प्रतिबिम्बः । तथा भ्रान्त्या प्रतीतनील-रूपस्यापि गन्धर्वनगरवद्वस्तुसामर्थ्यात् तथा प्रतीतिः । सर्वथा दर्पणरेखावत् तत्र विद्यमानं न प्रतिबिम्बते । दूषणान्तरमाह द्वा सुपर्णाश्रुतेरिति तयोरन्यः पिप्पलं

आवरणभङ्गः ।

ङ्गुलिद्वयमाध्यमिकावकाशस्यायोग्यस्यापि प्रतिबिम्बदर्शनादिति चेत् तत्राहुः **वस्तुत** इत्यादि । **रूपत** इति । चक्षुर्योग्यस्येत्यर्थः । तथाच यदि चक्षुर्ग्राह्यत्वं नियामकं न स्याद् वायुरपि प्रति-बिम्बेत । न च तत्रादृष्टं प्रतिबन्धकमिति वाच्यम् । अयोग्यत्वेनैव सिद्धौ तत्कल्पनस्य गुरुत्वाद-प्रामाणिकत्वाच्च । तथापि दृष्टसामग्र्यपेक्षणाच्च । अन्यथा कार्यमात्रस्यादृष्टेन सिद्धेः सौकर्याद्दण्डा-दिषु घटादिकारणताभङ्गप्रसङ्गश्च । तस्मात् सुष्ठूक्तं प्रभामण्डलस्यैव प्रतिबिम्ब इति । न च व्याख्ये-यग्रन्थे रूपवत्पदाच्चक्षुर्ग्राह्यत्वस्य प्रतिबिम्बप्रयोजकत्वकथनं विरुद्धमिति शङ्क्यम् । "गुणाद्वा लोक-वदि"ति सूत्रे प्रभाया गुणत्वेन व्यवस्थापनादत्र रूपवत्पदेन चक्षुर्योग्यत्वस्यैवाभिप्रेतत्वात् । एवञ्च विभक्ताङ्गुलिद्वयाद्यन्तरालेऽपि प्रभामण्डलस्य सत्त्वात् तस्यैव प्रतिबिम्बः । तद्बाहुल्यादिनैव चावकाशबाहुल्यादिप्रतीतिरिति । अन्यथा तु पूर्वोक्तरीतिकनियम्यनियामकभावबलादाकाशस्यापि चाक्षुषत्वापत्तिः । तत्रापीष्टापत्तिश्चेत् तद्दृष्टान्तेन ब्रह्मण्यपि तथात्वापत्त्या, "पराञ्चि खानी"तिश्रुति-विरोधो भवत्सिद्धान्तहानिश्चेति भावः । ननु योग्यत्वस्य प्रतिबिम्बनियामकत्वे आकाशनैल्यप्रति-बिम्बो न स्यात् । आकाशस्य नीरूपत्वेन भ्रान्तप्रतिपन्नस्य तस्यासत्त्वात् । असत्त्वे च योग्यताया अप्यशक्यवचनत्वादिति चेत् तत्राहुः **तथे**त्यादि । यथोपरिस्थिताकाशो वस्तुसामर्थ्येन नीलरूपतया भ्रान्त्या प्रतीतस्तथा आकाशाख्यवस्तुनः स्वभावाद् भ्रान्तिविषयस्य नीलरूपस्यापि गन्धर्वनगरवत् प्रतिबिम्बितत्वप्रतीतिः । तथाच यथा चक्षुर्योग्यत्वं प्रतिबिम्बे नियामकमेवं वस्तुस्वभाव आकाशस्य चक्षुर्योग्यत्वे नियामकः । तेन योग्यत्वाद् बिम्बप्रतिबिम्बयोरुभयोरपि वस्तुसामर्थ्यात् प्रतीतिरविरुद्धा । इदं यथा तथा प्रस्थानरत्नाकरे प्रपञ्चितमस्माभिः । किञ्च, त्वन्मतेऽपि नैल्यस्य खपुष्पवत् सर्वथा नासत्त्वं, किन्तु मायिकत्वमिति तादृशस्थलेऽनिर्वचनीयख्यातिमवलम्बमानस्य तवापि वस्तुस्वभाव एव गतिरिति । तदेतदुक्तं, **गन्धर्वनगरव**दिति । अत एषा प्रतीतिर्मतद्वयेऽपि तुल्येति नानया अयोग्य-प्रतिबिम्बसिद्धिरिति भावः । एवञ्च स्वेच्छया सामर्थ्येन दृग्गोचरे ब्रह्मणि योग्यतायां तत्प्रतिबिम्बेऽ-प्यदोषः । तथाप्ययोग्यतादशायां परमतरीत्या तु स न युज्यते इत्याशयोऽप्यत्र बोध्यत इति, न कोऽपि चोद्यावसर इति दिक् । नन्वस्त्वेवं, तथाप्यव्याप्यवृत्तित्वं न प्रतिबिम्बाभावप्रयोजकम् । व्याप्यवर्तिनः प्रभामण्डलस्यापि प्रतिबिम्बदर्शनादिति चेत् तत्राहुः **सर्वथे**त्यादि । तथाच तत्संयुक्ता-तिरिक्तस्यैव प्रभामण्डलस्य तत्र प्रतिबिम्ब इति पूर्वोक्तं साध्वेवेत्यर्थः । न च संयोगस्यैवाप्रतिबिम्ब-प्रयोजकत्वं, न सम्बन्धान्तरस्येति वाच्यम् । लिखितरेखावदुत्कीर्णनिर्मितरेखयोरपि तद्देशावच्छेदेन प्रतिबिम्बादर्शनात् । न च ब्रह्माविद्ययोर्व्यापकत्वाङ्गीकारान्न तयोः संयोगादिः सम्बन्धः, किन्तु स्वरूपाख्यः । तस्य च वृत्तिनियामकत्वाङ्गीकारे पूर्वोक्तदोषो न सञ्चरिष्यतीति वाच्यम् । स्फटि-कादिघटावच्छिन्नाकाशस्यापि प्रतिबिम्बापत्तेः । त्वयापि प्रतिबिम्बाभासवादौ विहायावच्छिन्नवादा-ङ्गीकाराच्च । यदि ताभ्यां तवाभीप्सितं स्यान्न तृतीयो वादस्त्वयाऽऽश्रीयते । तदेतदुक्तं, **सर्वथे**त्या-

स्वाद्वत्तीति वाक्यात् । प्रतिबिम्बस्य क्रिया, बिम्बस्य च तूष्णीम्भावो विरुद्ध्यते । प्रतिबिम्बक्रियाया बिम्बाधीनत्वादेकत्रास्थितेश्च । श्रुत्या च तथा बोध्यत इति प्रतिबिम्बकल्पना श्रुतिविरुद्धा । न्यायविरोधमाह गुहां प्रविष्टाविति । गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । स्मृतिविरोधमाह भगवद्वचनादपीति । "ममैवांशो जीवलोक" इति, "उत्क्रामन्तं स्थितं वापी"ति च ॥ ५८ ॥

एवं प्रमाणैर्बाधित्वा युक्तिभिर्बाध्यते—

जीवहानिस्तदा मुक्तिर्जीवन्मुक्तिर्विरुद्ध्यते ।

जीवहानिरिति द्वाभ्याम् । प्रतिबिम्बपक्षे जीवहानिर्मुक्तिः स्यात् । आत्महान-

---

आवरणभङ्गः ।

दिना । एवञ्च चक्षुर्योग्यमव्याप्यवृत्ति च प्रतिबिम्बते, तद्विरुद्धं न प्रतिबिम्बत इति सिद्धम् । नन्वस्तु वस्तुस्वभावादेव प्रतिबिम्ब इत्याशङ्कायामाहुः दूषणेत्यादि । विरुद्ध्यत इति । प्रतिबिम्बकल्पनायां विरुद्ध्यत इत्यर्थः । तत्र हेतुः प्रतिबिम्बेत्यादि । अस्थितेश्चेति चकारेण द्विशब्दादिविरोधः समुच्चीयते । नन्वयं दोषः स्वभाववादाभ्युपगमादेव निरस्त इति चेत्, तत्राहुः श्रुत्या च तथा बोध्यत इति । एकत्रोभयस्थितिर्विरुद्धधर्मवत्त्वञ्च बोध्यते, न तु प्रतिबिम्बोऽतस्तथेत्यर्थः । ननु नात्रैकत्र स्थितिबोधनम् । समानवृक्षे देशभेदस्यापि शक्यवचनत्वादित्यत आहुः न्यायेत्यादि । तथाच न्यायेन देशैक्यनिश्चयान्न तथेत्यर्थः । ननु, "गुहां प्रविष्टा"वित्यस्य विषयवाक्ये जीवस्य छायात्वमुक्तम् । छाया च प्रतिबिम्बकल्पैव । अतस्तथोच्यत इति चेत्, तत्राहुः स्मृतीत्यादि । तथाच स्मृतावंशत्वकथनान्न्यायविषयवाक्येऽपि छायापदेन कान्तिरूपतैवाभिप्रेयते । भोगलिङ्गाच्च । अन्यथा श्रुतिस्मृतिन्यायेषु लक्षणाप्रसक्त्या दोषप्रसक्तेश्च । ननूपाध्यवच्छिन्नत्वमादायांशत्वं स्मृतावुच्यतेऽतो न विरोध इति चेत्, तत्राहुः उत्क्रामन्तमित्यादि । अंशत्वाभावे क्रियोक्तिर्विरुद्ध्यत इत्यर्थः । न चोपाधिक्रियामादाय जीवक्रियाप्यौपचारिक्येवोच्यत इति वाच्यम् । "तमुत्क्रामन्त"मिति श्रुतावुपाधिक्रियायाः पाश्चात्यत्वोक्तेरत्रापि तथैव विवक्षितत्वेन पौरस्त्यक्रियाया औपाधिकत्वस्याशक्यवचनत्वात् । प्राणाद्यतिरिक्तस्य क्रियावदुपाधेरदर्शनात् । विशेषस्त्वविरोधाध्यायभाष्याद् बोध्यः । किञ्च, अवच्छिन्नवादः प्रतिबिम्बवादश्च द्वावप्यसङ्गतौ । "अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः" इति श्रुतौ जीवस्य सङ्कल्पाहङ्कारयोगकथनात् । अवच्छेद्ये प्रतिबिम्बे चोपाधियुक्तत्वाप्रयोगात् । न हि घटयुक्तो घटाकाशो, दर्पणयुक्तः प्रतिबिम्ब इति क्वापि प्रयोगः । किञ्च, जीव इत्यादिनामान्तरदर्शनादप्यवच्छिन्नवादो न युक्तः । घटावच्छिन्नाकाशे नामान्तरादर्शनात् । न च प्राची दिगित्यादिव्यवहारदर्शनान्नैवमिति वाच्यम् । दिशां बहुत्वेन प्राच्यादिनाम्नां देशावच्छेद्यत्वाभावात् । "दिशः श्रोत्रादि"त्यादिश्रुतेः । विशेषतस्तु विद्वन्मण्डने अविद्योपाधिपक्षो दूषित एवेत्युपरम्यते ॥ ५८ ॥

एवं पूर्वोक्तवेदादिचतुष्टयैकवाक्यतया शास्त्रार्थविचारे जीवस्य मतान्तराभिमतप्रतिबिम्बरूपता यथा बाधिता, तथा परमतप्रसिद्धयुक्तिभिरपि बाधितेत्याशयेनाहुः एवमित्यादि स्पष्टम् ।

मपुरुषार्थ इति मोक्षस्यापुरुषार्थत्वमापद्येत। अलीकता वा असुरब्रह्मविद्यायां स्थापिता। दूषणान्तरमाह जीवन्मुक्तिर्विरुध्यते इति। तत्र हेतुः—

लिङ्गस्य विद्यमानत्वादविद्यायां ततोऽपि हि ॥ ५९ ॥

लिङ्गस्य विद्यमानत्वादिति। क्व प्रतिबिम्बते इति वक्तव्यम्। अन्तःकरणे, अविद्यायां वा। उभयोरशुद्धत्वात् तत्प्रतिबिम्ब एव नोपपद्यते। अस्तु वा, तथापि लिङ्गपक्षे उपाधेर्विद्यमानत्वात् संसार एव, तदभावे परममुक्तिरेव। न तु कथञ्चिज्जीवन्मुक्तिरित्यर्थः। ततोऽप्यविद्यायां प्रतिबिम्बो विरुध्यत इत्याह **अविद्यायामिति** ॥ ५९ ॥

अथ जीवन्मुक्तो मुक्त एवेति चेत्, तत्राह—

अधिष्ठातुर्विनष्टत्वान्न देहः स्पन्दितुं क्षमः।
प्रारब्धमात्रशेषत्वे सुषुप्तस्येव न व्रजेत् ॥ ६० ॥

अधिष्ठातुर्विनष्टत्वादिति। देहः स्पन्दितुं चलितुं न समर्थः स्यात्। "दैवादुपेतमथ दैववशादपेतम्" इति न्यायेन चलतीति चेत्, तत्राह **प्रारब्धमात्रशेषत्व इति।** तत्राधिष्ठाता वर्तत एव, परं नानुसन्धत्ते। प्रारब्धं देहविद्यमानतामेव सम्पादयति, नाधिकं भोजनादिकार्यम्। सुषुप्तौ तथोपलम्भात्। तस्माज्जीवो नाभासो, न वा प्रतिबिम्बः ॥ ६० ॥

आवरणभङ्गः।

अपुरुषार्थत्वमिति। एतेन जीवस्येश्वरप्रतिबिम्बत्वेन ब्रह्मप्रतिबिम्बप्रतिबिम्बत्वे मुक्तावपि तस्य प्रतिबिम्बत्वमेव स्यान्न तु ब्रह्मत्वम्। उत्पत्तिप्रलययोरेकाधिकरणत्वनियमात्। तथाच, "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती"तिश्रुतिविरोध इत्यपि क्रोडीकृतं ज्ञेयम्। **असुरब्रह्मविद्यायामिति।** वाह्यप्रतिपन्नायां तस्यामित्यर्थः। एवं द्विविधप्रतिबिम्बपक्षे परममुक्तेर्दुष्टत्वमुक्त्वा तथैव जीवन्मुक्तावपि दोषमुद्घाटयन्ति **दूषणान्तरेत्यादि। लिङ्गपक्षे इति।** लिङ्गशरीरेऽन्तःकरणस्यैव प्राधान्यादन्तःकरणपक्ष इत्यर्थः। **विरुध्यत इति।** अपरोक्षज्ञानवत्त्वेन प्रतिबिम्बाधारभूताविद्याया निवृत्तत्वेन प्रतिबिम्बस्य जीवस्याभावापत्त्या विरुद्धयत इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

शुको मुक्तो, वामदेवो मुक्त इति प्रवादमात्रमित्यङ्गीकुर्वतां मतं हृदि कृत्वा तद्दूषणायाहुः **अथेत्यादि।** तथाच श्रुत्याद्यवधीर्य तथाङ्गीकारेऽपि न सिद्धिरिति भावः। किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति **दैवादित्यादि।** चलतीति प्रारब्धवशाच्चलेति। तत्रेति उक्तवाक्योक्ते सिद्धदेहे। अस्त्वननुसन्धानं, को दोष इत्यत आहुः **प्रारब्धमित्यादि।** सिद्धमाहुः **तस्मादित्यादि।** सिद्धान्ते तु जीवस्यांशत्वेनाविद्याधीनस्थितिकत्वाभावात् सुखेन सिद्धिः। अविद्याया निद्रावत् कारणात्मनाऽवस्थानं बोध्यम्। तेन न काप्यनुपपत्तिः। एवञ्च पूर्वोक्तसन्दर्भे तर्कोऽनुमानं च परमतबाधकं निःसरति। तथाहि। ब्रह्म यदि प्रतिबिम्बप्रयोजकं स्याच्चक्षुर्ग्राह्यमव्यापकं च स्यात्। यदि तथा स्याच्छ्रुतिस्तथा वदेदिति। ब्रह्म प्रतिबिम्बप्रयोजकं न भवति, चक्षुरग्राह्यत्वाद्, व्यापकत्वाच्च। यदेवं तदेवम्। कालवत्।

ननु जीवब्रह्मणोरैक्यान्यथानुपपत्त्या तत्त्वमसीत्यादिवाक्यानुरोधेन बिम्बप्रतिबिम्ब-योरैक्यं युक्तमिति तथात्वं कल्प्यत इत्याशङ्कां तिरस्कुर्वन् "तत्त्वमसी"ति वाक्यं न महावाक्यमित्याह—

तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य शोधितस्यापि युक्तितः ।
न विद्याजनने शक्तिरन्यार्थं तच्च कीर्तितम् ॥ ६१ ॥

तत्त्वमसीति । इदं वाक्यं श्वेतकेतूपाख्याने वर्तते । तत्रोपक्रमे, "अपि वा तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवती"त्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम् । तदेकमेव चेत् सर्वं तदोपपद्यते । यथा सुवर्णखण्डाः सुवर्णकार्यं च सर्वं सुवर्णमिति सुवर्णज्ञाने तज्ज्ञानं भवति । तदर्थं "सदेव सोम्ये"त्यारभ्य निरूपितम् । "ऐतदात्म्यमिदं सर्व"मिति जडस्य सर्वस्यापि तदात्मकत्वमुक्तम् । जडगतदोषाश्च तत्र परिहृताः । तत्

आवरणभङ्गः ।

यन्नैवं तन्नैवम् । घटादिवत् । यदि चाभ्यामाकाशदृष्टान्तेन योग्यता साध्यते, तथापि हेत्वोः साधारणत्वाद् योग्यत्वायोग्यत्वयोरुभयोरप्यसिद्धिः । यदि च हेत्वन्तरेण, तदापि पूर्वोक्तश्रुत्यादीनामेव प्रतिपक्षत्वादसिद्धिः । एवं जीवधर्मविचारेणापि ज्ञेयम् । जीवो यदि ब्रह्मप्रतिबिम्बः स्याद् ब्रह्मानुविधायी स्यात् । यदि तथा स्याद्, "द्वा सुपर्णा"श्रुतिस्तथा वदेदननुविधायित्वं न वदेद्वा । यतो नैवमतो नैवम् । जीवो न ब्रह्मप्रतिबिम्बः । ब्रह्माननुविधायित्वात् । घटादिवदिति दिङ्मात्रमुक्तम् । एवमन्यदप्यूह्यम् । एवञ्च देहेन्द्रियाद्यभिमानित्वं, प्राणधारणप्रयत्नवत्त्वं वा जीवत्वमिति कार्यलक्षणं, चित्प्रधानभगवदंशत्वञ्च स्वरूपलक्षणं जीवस्य सिद्ध्यति ॥ ६० ॥

एवं श्रुत्यादिभिस्तदनुसारियुक्तिभिश्च निरस्तेऽपि प्रतिबिम्बवादे पुनरपि श्रुतार्थापत्त्या प्रत्यवतिष्ठन्तं प्रत्याहुः ननु जीवेत्यादि । न महावाक्यमिति । विद्याजनकं हि वाक्यं भगवता महावाक्यत्वेनोच्यते । इदं तु न विद्याजननशक्तमतो न महावाक्यमित्यर्थः । कुतोऽस्याशक्तिरित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति इदं वाक्यमित्यादिना, तदिति । एकविज्ञाने सर्वविज्ञानम् । तत्र दृष्टान्तः यथेत्यादि । तदर्थमिति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानार्थम् । निरूपितमिति । ब्रह्मणः सर्वकारणत्वं, कार्यस्य वाचारम्भणमात्रत्वेन भेदानापादकत्वात् कारणानन्यत्वं, दुर्ज्ञेयस्य ब्रह्मणो नानादृष्टान्तैः कार्यज्ञाप्यत्वञ्च निरूपितम् । तथाच प्रतिज्ञातस्य तावताऽपूर्तेः प्रपाठकस्य महावाक्यत्वमुचितं, न त्वेतस्येत्यर्थः । नन्वस्त्वेवं, तथापि तन्निष्कृष्टार्थस्यानेनोक्तेरस्तु महावाक्यत्वं, को दोष इत्याकाङ्क्षायां वाक्यं विवृण्वन्ति ऐतदात्म्यमित्यादि । तदात्मकत्वमुक्तमिति । दृष्टान्तवाक्ये जडस्योक्तेऽपि तदात्मकत्वे दार्ढ्यार्थं दार्ष्टान्तिकवाक्ये पुनरप्युक्तमित्यर्थः । ननु जडस्य विनाशित्वादिदर्शनात् कथं तदात्मकत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः जडगतदोषाश्च तत्र परिहृता इति । जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यतीति षड् भावविकाराः सत्यत्वकथनेन सर्वदा सत्त्वाबोधनादेतेषां स्वरूपान्तरज्ञापनेन प्रपञ्चे परिहृता इत्यर्थः । तच्च स्वरूपान्तरं सर्वनिर्णये, "पूर्वरूपतिरोभाव" इत्यादिना विवेचनीयम् । ननु भवत्वेवं, तथापि सर्वस्यैव तथात्मकत्वं कथमि-

सत्यमिति । पूर्वोत्तरयोर्जडजीवयोः सदात्मकत्वे मध्ये हेतुमाह स आत्मेति । एवं जडस्य तदात्मकत्वमुक्त्वा जीवस्याप्याह तत्त्वमसीति । उपदेशश्चायम् । "आवृत्तिरसकृदुपदेशादि"ति ब्रह्मसूत्रात् । अतः सम्पूर्णं महावाक्यमुपदेशः । तत्र यथा, "ऐतदात्म्यमि"त्यत्र न भागत्यागलक्षणा सदंशे तथोत्तरत्रापि चिदंशेऽवगन्तव्यम् । नापि श्वेतकेतुरवतारः । पूर्वं स्तब्धत्वादिदोषकीर्तनात्, विरोधाच्च । अतो ब्रह्मवाक्यत्वात् तदेकदेशस्तत्त्वमसीति जीवब्रह्मणोरैक्यं न बोधयति । वाक्यभेदप्रसङ्गादुपक्रमविरोधाच्च । केचिदष्टपदानि महावाक्यमित्याहुः । तदपि तथा ।

टिप्पणी ।

उपक्रमेति । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपक्रान्तत्वाद्ब्रह्मणो जीवाभेदमात्रबोधने तन्न सिद्ध्येदिति भावः । केचिदारभ्य तथेत्यन्ते । "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इत्येतस्य महावाक्यत्वे पूर्वोक्तदूषणद्वयं स्यादित्यर्थः ॥ ६१ ॥

आवरणभङ्गः ।

त्याकाङ्क्षायां हेतुं वदतीत्याहुः **पूर्वोत्तरयोरिति । स आत्मेति** । स परमेश्वर आत्मा सर्वस्य स्वरूपभूतो यथा सुवर्णं शकलकुण्डलादीनाम् । तथाच सर्वस्य तदात्मकत्वात् सर्वं सत्यमिति ज्ञापनार्थमिदं मध्ये उक्तमन्यथात्र न वदेदिति भावः । **जीवस्याप्याहेति** । तदात्मकत्वं जडवदेवाहेत्यर्थः । तथाच यथैतदात्म्यमेतदात्मनो भावस्तथा तत्त्वं तस्य भावस्त्वं भवसि । असीति मध्यमपुरुषेणैव त्वम्पदलाभात् तत्त्वमित्येकं पदम् । तेन जीवस्य तदात्मकत्वैवांशत्वेन रूपेण बोध्यते । यथा जडस्य तत्कार्यत्वेन रूपेण । पदभेदपक्षेऽपि तथा । न च भागत्यागलक्षणा । धर्मतिरोधानस्य भगवदिच्छया जातत्वादिति । तथाच यदि प्रतिबिम्बत्वमभिप्रेयाद् न त्वमसीत्येव वदेत् । यद्यवच्छिन्नमभिप्रेयात् तदिति पदं न वदेत् । स आत्मा त्वमसीत्येतावतैवार्थसिद्धेः अतस्तत्त्वपदात तत्पदाद्वा पूर्वोक्त एवार्थः सदंशवैलक्षण्येन विवक्षित इति भावः । एवं वाक्यार्थमुक्त्वा तत्त्वमसीत्येतावन्मात्रे महावाक्यत्वाभावं बोधयन्ति **उपदेश** इत्यादि । **अयमिति** पञ्चदशपदात्मकः । सिद्धमाहुः **अत** इत्यादि । अत इति प्रकारान्तरव्याख्याने वैयर्थ्यादिदूषणग्रासेनोक्तार्थस्यैवाभिप्रेतत्वादित्यर्थः । माध्वास्त्वद्वैतश्रुतीनामवतारपरत्वं स्वीकृत्य प्रस्तुतवाक्यं श्वेतकेतोरवतारत्वेन योजयन्ति । तन्मतेऽप्यस्वरसं दर्शयन्ति । **नापीत्यादि** तत्र हेतुः **स्तब्धत्वादीत्यादि** । आदिपदेनानूचानमानित्वमज्ञानं च सङ्गृहीतं ज्ञेयम् । एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतं पुनः परिहरन्ति **अत** इत्यादि । उक्तयुक्तिभ्योऽस्य सम्पूर्णस्य ब्रह्मवाक्यत्वमित्यर्थः । **वाक्यभेदप्रसङ्गादिति** । एकांशस्याभेदबोधकत्वमन्यस्य जडब्रह्मणोर्भेदबोधकत्वमित्येवं विभागे साकाङ्क्षत्वाभावेन तत्प्रसङ्गत्वादित्यर्थः । नन्वंशद्वयेऽपि प्रकारभेदेन ब्रह्माभेद एव बोध्यते, अतो न वाक्यभेद इत्यत आहुः **उपक्रमविरोधादिति** । उपक्रमे, सन्मूला इति मूलपदेन समवायित्वस्य बोधनमिति तद्विरोधादित्यर्थः । शाङ्करभाष्यमतमाहुः **केचिदष्टपदानीति** । तत् सत्यमित्यारभ्याष्टेत्यर्थः । दूषयन्ति **तदपि तथेति** ।

---

१ केचिदारभ्येति उपक्रमेति च प्रतीकयोर्व्यत्ययः केषुचन पुस्तकेषु ।

अतत्त्वमसीति छेदस्तु न वैदिकानां सम्मतः । अतो नास्य विद्याजनने शक्तिः । अन्यार्थकीर्तनात् ॥ ६१ ॥

तदेवाह—

ब्रह्मणः सर्वरूपत्वमवयुज्य निरूपितम् ।
अलौकिकं तत्प्रमेयं न युक्त्या प्रतिपद्यते ॥ ६२ ॥

ब्रह्मणः सर्वरूपत्वमिति । अवयुज्य जडजीवौ पृथक्कृत्य । सर्वं ब्रह्मेति वक्तुं जीवस्य ब्रह्मता निरूपिता । नन्वस्तु वाक्यभेदः तथा सत्येतावन्मात्रं जीवस्य ब्रह्मतां बोधयति । तच्च साक्षादनुपपन्नं सद् भागत्यागलक्षणया अखण्डमेव वाक्यार्थं बोधयतीति चेत्, साधु बुद्धिमतां वकबन्धप्रयासो वृत्तः । उपदेशफलमायुष्मतां किं वृत्तमित्यनुसन्धेयम् । ब्रह्मभावेनाऽधिकधर्माभावात् । देहादिभेदबोधनेनापि दोषनिराकरणसम्भवाच्च । ततो व्यर्थः प्रकरणभेदमप्यङ्गीकृत्य महावाक्यत्वेनोपदेशप्रयासः । तर्हि श्रुतिः कथमुपदिशतीति चेत् तत्राह । अलौकिकं तत्प्रमेयमिति । लौकिकं हि

टिप्पणी ।

[1]देहेति । जीवात्मनो देहादितो भेदबोधनेनापि शोकादिनिराकरणसम्भवादित्यर्थः ॥ ६२ ॥

आवरणभङ्गः ।

पूर्वोक्तदोषग्रासान्न जीवब्रह्मैक्यबोधकमित्यर्थः । माध्वैकदेशिमतं दूषयन्ति अतत्त्वेत्यादि । सिद्धमाहुः अत इत्यादि । मतान्तरीयव्याख्यानानामनुपपन्नत्वादस्य वाक्यस्याभेदज्ञानजनने शक्तिर्न सम्भवदुक्तिकेत्यर्थः । तर्हि किमर्थमिदमुच्यत इत्याहुः अन्यार्थेत्यादि । विवृण्वन्ति ॥ ६१ ॥

तदेवाहेत्यादिना । तथा जीवजडयोः परस्परविलक्षणत्वं बोधयितुं जीवजडौ पृथङ्निर्दिश्य परस्परविलक्षणमपि तदुभयं ब्रह्माभिन्नमिति वक्तुं जीवस्य पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मता निरूपिता । अतस्तद्वाक्यस्य ब्रह्मणः सर्वरूपत्वे पर्यवसानं, न तु जीवब्रह्मैक्यमात्रे, नापि जीवस्य ब्रह्मनियम्यत्वादौ । अतो नैतदनुरोधेनापि प्रतिबिम्बवादसिद्धिरित्यर्थः । वाक्यभेदस्यादूषकत्वाङ्गीकारेण पुनः प्रत्यवतिष्ठते नन्वित्यादि । भागत्यागलक्षणयेति । तत्पदार्थगतसर्वकर्तृत्वादेस्त्वंपदार्थगतदुःखित्वादेश्च त्यागेन तत्त्वपदार्थयोश्चिद्रूपत्वेनैक्यलक्षणया । अखण्डमिति । संसर्गानवगाहियथार्थज्ञानात्मकम् । तदुक्तम् "संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् । उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता" इति । तदिदं दूषयितुमुपालभन्ते साध्वित्यादि । किं वृत्तमिति शब्दादपरोक्षं मन्वानानां सर्वापरोक्षज्ञानं फलं प्रतिज्ञानुरोधाद् वाच्यं, ब्रह्मापरोक्षज्ञानं वा वाच्यम् । तस्याभावात् किं वृत्तमित्युपालम्भः । ननु संसार एव दोषरूप इति, तन्निवृत्तिरेव फलमिति चेत, तत्राहुः देहादीत्यादि । तथाच साङ्ख्यादिस्मृत्यैव गतार्थत्वमित्यर्थः । इष्टापत्तौ दूषणमाहुः तत इत्यादि । उपदिशतीति अभेदमुपदिशति । तथाचाभेदोपदेशानुरोधात् तावन्मात्रमेव जीवस्य ब्रह्मतां बोधयतीत्यङ्गीकार्यमित्यर्थः । तत्राहेत्यादि । तादृश्यामाशङ्कायां श्रौतं बोधनप्रकारं वक्तुं लौकिक-

---

[1] प्रतीकमिदं विशेषतः छ. पुस्तके ।

लोकयुक्त्याऽवगम्यते । ब्रह्म तु वैदिकम् । वेदप्रतिपादितार्थबोधो न शब्दसाधारणविद्यया भवति ॥ ६२ ॥

किन्त्वन्यत् साधनमस्तीत्याह—

तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः ।
विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित् सत्ययुगे पुमान् ॥ ६३ ॥

तपसेति । तपः पूर्वाङ्गम् । वेदयुक्तिः सहकारिणी । भगवत्प्रसादो मुख्यं कारणम् । क्वचिद् देशविशेषे । सत्ययुगे काले । पञ्चाङ्गसम्पत्तौ वाक्यार्थबोधो भवति । अन्यथा, "कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"त्युपाख्याने कथमुपदेशमात्रेणैव बोधः । कथमिदानीन्तनानां न बोधः ? ॥ ६३ ॥

इदानीन्तनानामपि बोध इति चेत्, तत्राह—

सर्वज्ञत्वं च तस्येष्टं लिङ्गं तेजोऽप्यलौकिकम् ।
तत्प्राप्तावपि नो मुक्तिर्जाग्रत्स्वप्नवदुद्भवः ।
अविद्याविद्ययोस्तस्माद् भजनं सर्वथा मतम् ॥ ६४ ॥

सर्वज्ञत्वञ्चेति । स्वार्थं सर्वज्ञत्वं लिङ्गम् । परार्थमलौकिकं तेज इति । ननु तथापि वाक्यार्थज्ञान एवेश्वरप्रसादादेर्भक्तेश्चोपयोग उक्त इति चेत्, तत्राह तत्प्राप्तावपि नो मुक्तिरिति । उपनिषद्भिर्महावाक्यार्थविद्याप्राप्तावपि ब्रह्मभावः सायुज्यं वा न तस्य । दृष्टान्तेन तथाभावस्य कालपरिच्छेदात् । यथा जागरणस्वप्नौ परस्परोप-

---

आवरणभङ्गः ।

युक्तेरप्रयोजकत्वमाहेत्यर्थः । नेत्यादि । तथाच लौकिकी त्वदुक्ता युक्तिरप्रयोजिकेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

तपः पूर्वाङ्गमिति । छान्दोग्यतैत्तिरीयादिषु, पञ्चदशाहानि माऽऽशीः, "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्वे"त्यादिभ्यः श्रुतिभ्यस्तथेत्यर्थः । वेदयुक्तिरिति । श्वेतकेतूपाख्यानादिगोचरा "न्यग्रोधफलमाहरे"त्यादिना निरूपितेत्यर्थः । मुख्यं कारणमिति । "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः", "तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः", "धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्" इत्यादिश्रुतिभ्यस्तथेत्यर्थः । पुराणमनुसृत्य द्वयमन्यदप्याहुः । क्वचिदित्यादि । सत्ययुगपदं समीचीनकालोपलक्षकमित्याशयेनाहुः । काल इति । एतत्कारणपञ्चकमन्वानं तर्कमाहुः अन्यथेत्यादिना । तथाच ब्रह्मोपदिशन्ती श्रुतिर्न केवलयुक्त्योपदिशति, किन्तु श्रुत्यन्तरोक्तांस्तपआदीनपि सङ्गृह्णाना सती तदुपदिशतीत्यर्थः । किञ्च, मन्दाधिकारी त्वयाऽप्यङ्गीक्रियते । तस्य च मन्दत्वनिर्वाहायैतदन्यतमाऽभावस्तत्र त्वयाऽप्यवश्यमभ्युपेय इति स्वयुक्तिशोधितवाक्यश्रवणमात्रेण न फलसिद्धिरिति भावः । उरुक्लेशपदेनेन्द्रप्रजापतिसंवादादिप्रसिद्धमेकाधिकशतवर्षब्रह्मचर्यादि लक्ष्यत इति ज्ञेयम् । इदानीमित्यादिर्ग्रन्थः स्फुटः ॥ ६३ ॥

उपयोग उक्त इति । तथाचाभेदबुद्धिरूपायां विद्यायामेव शास्त्रपर्यवसानं, न भक्ताविति शङ्कार्थः । तथाभावस्येति । विद्यावत्त्वस्येत्यर्थः । दृष्टान्तं विवृण्वन्ति यथेत्यादि । "जातस्य

मर्दनेनाविर्भवतस्तिरोभवतश्च, तथैव विद्याऽविद्ये । अतो विद्योपमर्दनेनाविद्या पुनराविर्भविष्यतीति व्यर्थ एव प्रयासः । तस्मात् स्वतन्त्रभक्त्यर्थं सायुज्यार्थं च सर्वथा भजनं मतम् ॥ ६४ ॥

एवं जीवप्रकरणं समाप्य ब्रह्मप्रकरणमाह—

सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।
सर्वशक्ति स्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम् ॥ ६५ ॥

सच्चिदानन्दरूपमिति । ब्रह्मेति धर्मिनिर्देशः परब्रह्मवाचकः । ब्रह्मपदार्थमाह ।

आवरणभङ्गः ।

हि ध्रुवो मृत्युरि"ति वाक्याज्जन्यभावस्य नश्वरत्वान्नष्टस्य चोत्पत्तिमत्त्वाच्चरमवृत्तिनाशे अविद्योत्पत्तेः सम्भवदुक्तिकत्वात् । "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते" इति गौडवार्तिके प्रबोधोत्पत्त्यङ्गीकारात् तन्नाशे अविद्यायाः पुनरुत्थानं शक्यवचनमतस्तन्निवारणाय भजनं सर्वथा मृग्यमित्यर्थः । नच भजनस्यापि जन्यत्वाद् दोषतादवस्थ्यं शङ्क्यम् । "मायामेतां तरन्ति ते" इत्यनेन कारणनिवृत्तिबोधनात् । अत एव मायाया अपि न पुनरुत्थानमतो न शङ्कालेश इति दिक् । एवं, नमनोपलक्षिताया भक्तेरावश्यकत्वं प्रकारान्तरेणापि दृढीकृतम् । एवं चित्प्रकरणे जीवस्वरूपविचारेणापि भजनं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥ ६४ ॥

अतः परं भजनीयस्वरूपविचारेण तद् वक्तुं ब्रह्मप्रकरणमारभन्ते एवमिति। सच्चिदानन्दरूपमिति । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति, "सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"ति च श्रौताल्लक्षणादित्यर्थः । तेन सच्चिदानन्दातिरिक्तपदार्थाभावाद् ब्रह्माद्वैतं फलिष्यतीति सर्वश्रुतिसमन्वयाय पूर्वमेव स्वरूपलक्षणमुक्तम् । मूले, तुशब्देनैतदाभासेन च प्रकरणव्यवच्छेदाच्छारीरमात्रतापि व्युदस्ता । तदेव स्फुटमाहुः ब्रह्मेत्यादिना । तादृश एव शारीरोऽस्तु, "अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमय" इत्यादिश्रुतेरित्याशङ्कायां शारीराद् वैधर्म्यं वदन्ति ब्रह्मपदार्थमाहेत्यादि । तथाच जीवाणुत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात्तद्विरुद्धेन व्यापकत्वेन वक्ष्यमाणधर्मान्तरैश्च शारीरमात्ररूपो नेत्यर्थः । एवञ्च स्वरूपलक्षणादपि भेदः । ब्रह्म हि प्रकटसच्चिदानन्दम् । शारीरस्तु तिरोहितानन्दः । एवं तिरोहितचिदानन्दाज्जडादपि ज्ञेयः। गुणोपसंहारन्यायेनेति । उपसंहारो नियमनं, तेषु तेषु वाक्येषूक्तानां गुणानामेकस्मिन् ब्रह्मणि नियमनं, सङ्कोच इति यावत्, स गुणोपसंहार इति तेन न्यायेनेत्यर्थः । अयं न्यायः साधनाध्यायतृतीयपादे सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे सिद्ध्यति । तत्र हि वेदान्तवाक्येषु परस्परविरुद्धनानाधर्मप्रतिपादनाद् ब्रह्मानेकत्वप्राप्तावुपासनावाक्यानां यथाकथञ्चिद् ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वे पूर्वमन्यथाज्ञानजनकत्वेन ब्रह्मविद्यात्वहानिप्रसङ्गाद्, "योऽन्यथा सन्तमि"ति श्रुतावन्यथाज्ञानस्य पापजनकत्वेनोपासनाभिश्चित्तशुद्ध्यभावप्रसङ्गाच्च सर्ववेदान्तगोचरत्वमेकस्य ब्रह्मणः प्रतिज्ञाय सर्वेषां धर्माणां ब्रह्मण्युपसंहारो विचारितः । सर्वेऽपि धर्मा एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि सन्तीति । तथाच तेन

व्यापकमिति गुणोपसंहारन्यायेन । "अविनाशी वा रे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मेति श्रुतेस्तदव्ययम् । "यः सर्वज्ञः सर्वशक्ति"रिति श्रुतेः सर्वशक्ति । निर्धर्मकत्वे सर्वेषामनुपास्योऽप्राप्योऽफलश्च स्यात् । अत एव स्वतन्त्रः । यो हि निरवधिज्ञानक्रियाश-

---

आवरणभङ्गः ।

न्यायेन, बृहत्त्वाद्, बृहणत्वाच्च ब्रह्म इत्यभिधीयते "बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणा" इत्यादिश्रुत्यन्तरादलौकिकसर्वगुणयुक्तमित्यर्थः । एतदेव विवृण्वन्ति अविनाशीत्यादिना । व्यापकपदस्यैश्वर्यबोधकत्वमनुपदमेव व्युत्पाद्यम् । वीर्यबोधनायाहुः अविनाशीत्यादि । अनुच्छित्तिधर्मेति । न उच्छित्तिर्येषां तेऽनुच्छित्तयस्तादृशा धर्मा यस्यासौ तथा । न तूच्छित्तिधर्मणो भिन्न इत्यर्थो युक्तः । अविनाशिपदेनैव सिद्धेरेतद्वैयर्थ्यस्य दुरुपपादत्वात् । नाप्यनुच्छित्तिलक्षणधर्मवानित्यपि । उक्तदोषात् । एकदेश्यभिमतसर्वधर्मराहित्यासिद्धेश्च । श्रौतत्वादिना तन्मात्रानुज्ञायामन्यत्रापि तौल्याच्च । अतः पूर्वोक्त एवार्थः । वीर्यस्थानापन्नधर्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः । न चेयं श्रुतिरात्मनस्तु कामायेत्याद्युपक्रमानुरोधाज्जीवप्रकरणस्थेति तद्धर्मनित्यतामेव गमयिष्यतीति वाच्यम् । तल्लिङ्गाधिकरणे सन्दिग्धप्रकरणगतस्याप्याकाशशब्दस्य ब्रह्मपरताया लिङ्गबलेन व्यवस्थापितत्वादिहाप्युपसंहारे, एतावदरे खल्वमृतत्वमित्यमृतत्वलक्षणब्रह्मलिङ्गेन ब्रह्मपरत्वस्यैव सिद्धेः । लिङ्गसन्देहेऽपि, जीवमुख्यप्राणलिङ्गसूत्रे जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वेन ब्रह्मधर्मवत्तायाः स्थापितत्वेन सर्वश्रुत्येकवाक्यत्वाय च ब्रह्मपरत्वस्यैव मन्तव्यत्वाच्च । तथोक्तं तल्लिङ्गाधिकरणभाष्ये, यावन्मुख्यपरत्वं सम्भवति तावन्न कस्यापि वेदान्तस्यापरब्रह्मपरत्वमिति मर्यादेति । अतो न चोद्यावसरः । यज्ञो बोधयन्ति य इत्यादि । नन्वेवंरूपता न ब्रह्मणि सम्भवति, निर्धर्मकत्वादिति चेत्, तत्राहुः निर्धर्मकेत्यादि । अनुपास्य इति । "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानं वैश्वानरमुपास्त" इत्यादिपूपासनावाक्येषु, "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप" इत्यादिधर्मोपदेशपूर्वकमेव ता उच्यन्त इति धर्माभावेऽनुपास्यत्वे समन्वयाध्यायोऽपि विरुद्धयेतेति भावः । अप्राप्य इति । "ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्यादौ प्राप्यत्वमुक्त्वा तद्व्याख्यानभूतायाम् ऋचि, "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते"त्यत्र सार्वज्ञ्यमुक्तम् । धर्माभावे चेयमपि विरुद्ध्येतेति भावः । अफल इति । न विद्यते फलं यस्मादित्यफलः । तथा सति, सर्वस्येशान इति श्रुतिः, "फलमत उपपत्ते"रितिन्यायश्च विरुद्धयेतेति भावः । अत एवेति । उक्तश्रुतेरेवेत्यर्थः । तदुपपादयन्ति यो हीत्यादिना । अत्र, निरवधीत्यादिना ब्रह्मणः कर्तृत्वं लक्षणमपि बोधितं ज्ञेयम् । किञ्च "तमेव भान्तमनुभाती"ति श्रुतेः स्वरूपेणैव सर्वावभासकत्वात्, "स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व" इतिवाक्यात् सर्वधीवृत्तिभिरपि सकलज्ञानाच्च सर्वज्ञत्वं द्विगुणीकृत्य ज्ञेयम् । तथाचार्थादेव स्वातन्त्र्यसिद्धिरिति भावः । एवं स्वतन्त्रसर्वज्ञपदाभ्यां श्रीज्ञानं चोक्तम् । श्रुतिस्तु मुण्डकस्था । क्वचित्तु सर्वविदिति पाठः । तथा सति, "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इति श्वेताश्वतरश्रुत्या प्रस्तुतार्थ-

क्रियुक्तः स स्वतन्त्रो भवति । चकारात्, "सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" इति श्रुतेः सर्वं वशे समानयति । गुणवर्जितं प्राकृतगुणरहितम् । एवं षड् धर्मा निरूपिताः ॥ ६५ ॥

तत्र व्यापकत्वं नाम देशाद्यपरिच्छिन्नत्वम् । तद् वस्तुपरिच्छेदे नोपपद्यत इति त्रितयपरिच्छेदाभावायाह—

सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम् ।

सजातीयेति । सजातीया जीवाः, विजातीया जडाः, स्वगता अन्तर्यामिणः । त्रिष्वपि भगवाननुस्यूतस्त्रिरूपश्च भवतीति तैर्निरूपितं द्वैतं भेदस्तद्वर्जितम् । अत्र बुद्धिरवतारेष्विव कर्तव्या ।

टिप्पणी ।

अत्रेति । जीवादिषु अंशकलादाविव बुद्धिः कार्या, न पूर्णपुरुषोत्तमबुद्धिरित्यर्थः ॥ ६६ ॥

आवरणभङ्गः ।

सिद्धिरिति चोद्यानवकाश एव । स्वातन्त्र्यं श्रुत्यापि साधयन्ति, चकारादित्यादिना त्रैराग्यमाहुः । प्राकृतेत्यादि । "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इति श्रुतौ देवत्वाद्युक्तिपूर्वकं निर्गुणत्वस्योक्तत्वेन नैसर्गिकभिन्नानामेव पारिशेष्यान्निषेधः प्राप्नोतीति तादृशगुणासङ्गाद्विरागीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

एवमारम्भश्लोकोक्तं लोकवेदप्रसिद्धत्वं भगवत्त्वञ्च निरूप्यैश्वर्यज्ञापनाय व्यापकपदतात्पर्यमाहुः तत्रेत्यादि । आदिपदेन कालवस्तुनोः सङ्ग्रहः । तेन सकलमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं वा तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं वा लक्षणमिह नाभिप्रेतमिति भावः । तदिति उक्तविधं व्यापकत्वम् । त्रितयेति । जीवजडान्तर्यामीत्यर्थः । जीवानां सजातीयत्वं तु, "यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपा" इति मुण्डकश्रुतौ सरूपपदाच्चेतनत्वनित्यत्वादिना सारूप्यात् । जडानां विजातीयत्वं च जडत्वानित्यत्वादिना । अन्तर्यामिणां स्वगतत्वञ्च प्रकटसच्चिदानन्दरूपत्वेऽपि परिच्छिन्नत्वप्रतिनियतकार्यकर्तृत्वादिना ज्ञेयम् । सजातीयद्वैतं च खण्डमुण्डगोव्यक्त्योरिव, विजातीयद्वैतञ्च घटपटयोरिव, स्वगतद्वैतञ्च तरुकुसुमयोरिव ज्ञेयम् । कुसुमेषु तरोरनुसीवनेऽपि कुसुमरूपत्वाभावात् । सच्चिदानन्दरूपे भगवति त्रितयनिरूपितद्वैतराहित्यं तु, चिद्रूपेण जीवे, सद्रूपेण जडे, प्रकटानन्दरूपेणान्तर्यामिणीत्येवं त्रिष्वप्यनुस्यूतत्वात्, कार्यदशायाञ्च, "आत्मा वा इद२ सर्वं", "पुरुष एवेद२ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमि"ति, "अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः", "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरि"ति, "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्यादिश्रुतिभिस्तदनुसारिभिर्न्यायैर्बोधितात् त्रिरूपत्वाच्च ज्ञेयम् । एवं व्यापकपदोक्तमैश्वर्यं बोधितम्, तेन फलितमुपदिशन्ति अत्रेत्यादि । मतान्तरचोद्यं त्वग्रे निरसनीयम् । एवञ्च, "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किञ्चन", "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति", "य इह नानेव पश्यति", "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते", "अथ तस्य भयं भवति", "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते", "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्यादिश्रुतयः समर्थिता ज्ञेयाः । एवं श्रौतं प्रमेयं क्रोडीकृत्य वैष्णवतन्त्रस्यापि

एवं भगवत्त्वमुपपाद्य तत्रोक्तान् गुणानाह—

सत्यादिगुणसाहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकैः सदा ॥ ६६ ॥

सत्यादिगुणसाहस्रैरिति। "सत्यं शौचं दया क्षान्ति"रित्यादिश्लोके सत्यादयो गुणा निरूपिताः। ते चौत्पत्तिकाः। सदा सृष्टिप्रलयादावपि ॥ ६६ ॥

पुनः श्रुत्युक्तान् गुणानुपसंहरति पूर्वोक्तानां वैदिकत्वाय—

सर्वाधारं वश्यमायमानन्दाकारमुत्तमम्।
प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम् ॥ ६७ ॥

सर्वाधारमिति। "सेतुर्विधरणमि"ति श्रुतेः। गीतायां मायासम्बन्धस्योक्तत्वा-

---

आवरणभङ्गः।

यदंशे अविरोधः स्फुटस्तमंशं सङ्गृहीतुमाहुः एवमित्यादि। सत्यं शौचमिति। प्रथमस्कन्धे पद्यानि धरित्र्या धर्मं प्रत्युक्तानि। "सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्। शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्। ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः। स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च। प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः। गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः। एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः। प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स कर्हिचिद्" इति। सत्यं यथार्थभाषणं, शौचं शुद्धत्वं, दया परदुःखासहनं, क्षान्तिः क्रोधप्राप्तौ चित्तसंयमनं, त्यागोऽर्थिषु मुक्तहस्तता, सन्तोषोऽलम्बुद्धिः, आर्जवम् अवक्रता, शमो मनोनैश्चल्यं, दमो बाह्येन्द्रियनैश्चल्यं, तपः स्वधर्मः, साम्यम् अरिमित्राद्यभावः, तितिक्षा परापराधसहनम्, उपरतिर्लभ्रप्राप्तावौदासीन्यं, श्रुतं शास्त्रविचारः, ज्ञानम् आत्मविषयं, विरक्तिर्वितृष्णता, ऐश्वर्यं नियन्तृत्वं, शौर्यं सङ्ग्रामोत्साहः, तेजः प्रभावः, बलं दक्षत्वं, स्मृतिः कर्तव्यार्थानुसन्धानं, स्वातन्त्र्यम् अपराधीनता, कौशलं क्रियानिपुणता, कान्तिः सौन्दर्यं, धैर्यम् अव्याकुलता, मार्दवं चित्ताऽकाठिन्यं, प्रागल्भ्यं प्रतिभातिशयः, प्रश्रयो विनयः, शीलं सुस्वभावः, सहओजोबलानि मनइन्द्रियशरीराणां पाटवानि, भगो भोगास्पन्दत्वं, गाम्भीर्यम् अक्षोभ्यत्वं, स्थैर्यम् अचाञ्चल्यम्, आस्तिक्यं श्रद्धा, कीर्तिर्यशः, सम्यक्त्वेन रूपेण वर्णनयोग्यं गुणक्रियादिपौष्कल्यमित्यर्थः। मानः पूज्यत्वम्, अनहङ्कृतिर्गर्वाभावः। अन्ये ब्रह्मण्यत्वभक्तवत्सलत्वादयः औत्पत्तिका इति। अवतारेऽपि सहैवाविर्भूता, न तु जन्या इत्यर्थः। एतेन कृष्णत्वमपि प्रकाशितम्। एतदेव स्फुटीकुर्वन्ति सदेत्यादिना ॥ ६६ ॥

"सेतुर्विधरण" इति श्रुतिर्बृहदारण्यके, "स यत्राय९ शारीर" इति ब्राह्मणसमाप्तावस्ति। "स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च, स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्, एष भूताधिपतिरेष लोकेश्वर एष लोकपालः स सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाये"ति। एतस्य सर्वाधारत्वस्य ब्रह्मधर्मत्वञ्च दहराधिकरणे, "धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धे"रिति सूत्रे प्रपञ्चितम्। एवं धर्मान्निश्चित्य, "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। दैवी ह्येषा गुणमयी मम माये"तिगीतावाक्यात् किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति गीतायामित्यादि। तथाच, न हि सम्बन्धमात्रेण तथात्वं शक्यवचनम्। न हि पाशी पाशाधीनो

न्मायाधीनो भवेदित्याशङ्क्याह वश्यमायमिति । साकारतामाह आनन्दाकारमिति । उत्तमम्, अक्षरादपि । यद्यपि कारणधर्मा एव कार्ये भवन्ति, तथापि कार्यगतत्वेनान्यथा प्रतीतिस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह प्रापञ्चिकपदार्थानामिति ॥ ६७ ॥

एवं स्वधर्मरूपधर्मानुक्त्वा कार्यमाह—

जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम् ।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम् ॥ ६८ ॥

जगतः समवायि स्यादिति । सर्वस्यापि जगतः कार्यरूपस्य च ब्रह्मैव समवायिकारणम् । एतस्मिन्नेवोतप्रोतं गार्गीब्राह्मणे प्रसिद्धम् । तदेव निमित्तकारणम् ।

आवरणभङ्गः ।

भवति । न वा मेघावृतः सूर्यो मेघाधीनो भवति । पर्जन्यस्य सूर्यानतिरिक्तत्वात् । यामिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षतीत्यत्र तथा निश्चयात् । एवं मायाया अपि भगवद्रूपत्वात् तदधीनत्वमेव, न तु भगवतो मायाधीनत्वमित्यर्थः । मायाया भगवद्रूपत्वं त्वेकादशे, तन्मायाफलरूपेण इत्यत्रोक्तम् । शक्तिशक्तिमतोरभेदाच्च तथा । एवं पारतन्त्र्ये परिहृतेऽपि सम्बन्धस्याङ्गीकृतत्वान्मायिकाकारशङ्का स्यात्, तद्वारणाय "विश्वतश्चक्षुरि"त्यादिश्रुत्युक्ताकारस्वरूपं निश्चेतुमाहुः साकारतामाहेति । आनन्दाकारमिति । छान्दोग्ये सनत्कुमारनारदसंवादे भूम्नः सुखरूपत्वं निश्चित्य तदुत्तरमेव दहरविद्यायामिन्द्रप्रजापतिसंवादे च, "एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प" इति वाक्ये शोकजिघत्सापिपासानां शारीरधर्मत्वेन प्रसिद्धानां निषेधेन तद्रहितशरीरसिद्धेर्मुण्डके च, "आनन्दरूपममृतं यद्विभाती"ति, नृसिंहोत्तरतापनीये चानन्दरूपः सर्वाधिष्ठानः सन्मात्र इति कथनादप्यानन्दाकारस्यैव सिद्धेरिति तथेत्यर्थः । उत्तममिति । "स उत्तमः पुरुष" इति छन्दोगश्रुतेः, "अक्षरादपि चोत्तम" इति गीतायाश्चेत्यर्थः । एतेन पूर्वोक्तं कृष्णत्वं दृढीकृतम् । ननु पूर्वं त्रितयपरिच्छेदरहितत्वं ब्रह्मणि साधितं, तथा सति जगतो ब्रह्माभिन्नत्वं सिद्धम् । तेन प्रापञ्चिका जडत्वादयोऽपि ब्रह्मणि प्रसज्जेरन्नित्याशङ्कां हृदि कृत्वा आहुः यद्यपीत्यादि । समादधते तथापीति । अन्यथा प्रतीतेरिति । क्रीडेच्छया आत्मानन्दे तिरोधापिते धर्मा अनेजत्त्वादयो जडत्वादिरूपेण प्रतीयन्त इति कारणरूपे जडत्वादिरूपेण तान् व्यावर्तयितुमाहेत्यर्थः । इदमेव च, दृश्यते त्वित्यधिकरणे साधितम् ॥ ६७ ॥

रूपनामविभेदेन यो जगदिति पूर्वोक्तं निगमयितुं समन्वयेक्षत्यधिकरणाभ्यां सिद्धमर्थमाहुः जगत इत्यादिना । गार्गीब्राह्मण इति । "स होवाच यदूर्ध्वं दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चे"ति प्रश्ने गार्ग्या कृते, तदनूद्य, "आकाश एव तदोतं च प्रोतं चे"त्युत्तरे, "कस्मिन् वा आकाश ओतश्च प्रोतश्चे"ति पुनः प्रश्ने, "एतद्वै तदक्षरं गार्गी"त्यादिना अक्षरस्वरूपमुक्त्वा प्रशासितृत्वादिकं चोक्त्वा, "एतद्वै तदक्षरं गार्गि यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्चे"तिरूपं इत्यर्थः । ओतप्रोतता च तन्तुपटन्यायेन समवायितां गमयति । तेन स्वाभिन्नकार्यजनकत्वमुपादानत्वं सिद्ध्यति । समवायश्च

चकारात् कर्तृ च। तस्य प्रपञ्चनिर्माणे हेतुमाह कदाचिद् रमत इति। यदा स्वस्मिन् रमते तदा प्रपञ्चमुपसंहरति। यदा प्रपञ्चे रमते तदा प्रपञ्चं विस्तारयति। प्रपञ्चभावो भगवत्येव लीनः प्रकटीभवतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

कार्यादिभावः कश्चिदन्य इत्याशङ्क्य ब्रह्मस्वरूपमाह—

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ६९ ॥

यत्र येनेति। सर्वविभक्तीनां प्रकारस्य च भगवानेवार्थः। प्रकृतिपुरुषौ कालश्च स एव ॥ ६९ ॥

आवरणभङ्गः।

तादात्म्यमेव, न तु पदार्थान्तरम्। तदुपपादितं भाष्ये। एवञ्च, प्रकृतिश्च "प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि"त्यादिसूत्राणि सविषयवाक्यान्यप्यत्र प्रमाणत्वेन ज्ञेयानि। निमित्तत्वञ्च, "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादिषु। कर्तृत्वं च, "स आत्मान१ स्वयमकुरुत स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि"रित्यादिषु प्रसिद्धम्। तेनाऽभिन्ननिमित्तोपादानवादः, कर्तृत्वं च सिद्धान्तेऽङ्गीकृतम्। तत्रेयमाशङ्कोत्तिष्ठते। कर्तृत्वं हि कार्योत्पादनात्। कार्यञ्च जगत् किं प्रकृतिवत् परार्थं भगवान्निर्मिमीते ? स्वार्थं वा ?। नाद्यः। उक्तविधस्येश्वरस्य परार्थमेतावत् प्रयासे प्रयोजनाभावात् पाचकवदनीश्वरतापादकत्वाच्च। न द्वितीयः। आत्मकामत्वात्मारामत्वादिश्रुतिविरोधाद्, ब्रह्मण्यसम्भावितत्वात्। अतो जीवस्यापि निमित्तत्वं वाच्यमेवेत्याशङ्कामपाकर्तुमाहुः तस्येत्यादि। हेतुमिति। उदाहृतमित्यादिवाक्यात्, "तस्मादेकाकी न रमत" इति श्रुतेश्च क्रीडेच्छारूपं प्रयोजकमित्यर्थः। यत्तु गौडवार्तिके, "भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे" इत्येवं प्रयोजनं विकल्प्य, "देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा" इति सिद्धान्त उक्तः। तत्रापि क्रीडाकरणमेव स्वभावो वक्तव्यः। अन्यथा, "स द्वितीयमैच्छदि"ति, "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते" इत्यादिश्रुतिस्मृतीनां विरोधप्रसक्तेः। न चाप्तकामश्रुतिविरोधः। विरुद्धधर्माश्रयत्वेन तदभावात्। स्पृहाया अभिध्यारूपत्वेन, लौकिकतुल्यस्पृहाया अभावाच्च। सृष्टेरपि लीलात्वेन, "लोकवत्तु लीलाकैवल्य"मिति सूत्रे तस्या भगवदभिन्नत्वस्य सूत्रकृतैवाङ्गीकरणाच्च। यत्तु "परमार्थचिन्तकानां सृष्टौ नादर" इति शङ्कराचार्यैरुक्तम्। तदापातरम्यमेव। शुकादीनां तत्रादरदर्शनात्। श्रीभागवते तदुक्तिभिरेव तथा निर्णयात्। अतः क्रीडेच्छायाः प्रयोजकत्वं युक्तमेव। यदेत्यादि। एतेन, रूपनामविभेदेन यः क्रीडतीत्येतदुपपादितम्। अग्रेऽपीदमेव प्रपञ्चयिष्यते ॥ ६८ ॥

नन्वत्र सत्कार्यवादे बोधिते सति भेदवादापत्तिरिति शङ्कामुत्थाप्य सिद्धान्तेन समादधते कार्यादीत्यादि। आदिपदेनाधारत्वकारणत्वादिकं ज्ञेयम्। व्याख्येयपद्योक्तः कश्चिदन्यो जन्यत्वाद् ब्रह्मव्यतिरिक्त इत्याशङ्क्य तत्समाधानाय साधनद्वितीयपाद उभयव्यपदेशसूत्रे, प्रकाशाश्रयसूत्रे च सिद्धमखण्डब्रह्मवादस्वरूपमाहेत्यर्थः यत्र येनेति। इदं वाक्यं दशमस्कन्धीयद्व्यशीतितमाध्यायेऽस्ति। यथेत्यस्य विवरणं, प्रकारस्येति। प्रधानपुरुषेश्वर इत्यस्य विवरणं, प्रकृतिपुरुषौ कालश्चेति। तेनैवं श्रुतिस्मृतिन्यायैः प्रमितत्वात् 'सर्वं ब्रह्मैव केवलमि'ति न भेदगन्ध इत्यर्थः ॥६९॥

एवं पूर्वस्थितिमुक्त्वा पश्चात्स्थितिमाह—

यः सर्वत्रैव संतिष्ठन्नन्तरः संस्पृशेन्न तत्।
शरीरं तं न वेदेत्थं योऽनुविश्य प्रकाशते।
सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्॥ ७०॥

यः सर्वत्रैवेति। सर्वेष्वेव पदार्थेषु कार्येषु स्वयं तिष्ठँस्तान्यन्तरयति स्वमध्ये स्थापयतीत्यर्थः। तथा स्वयम् आधाराधेयभावं प्राप्नुवन्नपि तन्न स्पृशति। तर्ह्यज्ञानेन तथा भवतीति चेन्नेत्याह शरीरमिति। तत् सर्वमेव शरीरत्वेन मन्यते। तस्य च ज्ञापकं भवति सर्वं, तथापि न स्पृशति। तर्हि शरीरमेव भगवन्तमानन्दनिधित्वात् स्पृशेदिति चेत् तत्राह, शरीरं कर्तृ न ब्रह्म वेदेति। इत्थमनुना प्रकारेण योऽनुविश्य प्रकाशते। "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्यादिश्रुतेः। श्रुत्यादिभेदेषु नानाप्रकारेण प्रतिपादितत्वादन्योऽन्यविरोधान्न किञ्चित् प्रमाणं ब्रह्मणि भविष्यतीत्याशङ्क्याह सर्ववादानवसरमिति। वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानामेकवाक्यता निरूपिता। सर्वभवनसामर्थ्येन, विरुद्धधर्माश्रयत्वात्।

आवरणभङ्गः।

नन्विदमिदानीन्तनव्यवहारविरुद्धत्वात् कथमभ्युपगन्तुं शक्यते। न च स्मृत्येति वाच्यम्। प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य दुर्बलत्वात्। अत उपचार एव तत्रोचितः। तस्मान्नाऽयं वादः साधीयानित्याशङ्कामपाकुर्वन्त आहुः एवमित्यादि। पूर्वस्थितिमिति सृष्ट्यनारम्भकालीनस्थितिम्। पश्चात्स्थितिमिति सृष्टिकालीनस्थितिम्। सृष्टिश्च स्वस्य सर्वात्मकत्वं तिरोधाप्य अनामरूपस्य, "बहु स्यां प्रजायेयेती"च्छया नामरूपात्मकत्वेनाविर्भावः। तथाऽऽविर्भूय तत्तद्रूपे तत्तन्नामनियमनं वा। "सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते" इति श्रुतेः। कार्येष्विति। "द्वा सुपर्णा"श्रुतेरित्यर्थः। न स्पृशतीति। "अगन्धमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः। "ये हि संस्पर्शजा भोगा" इत्यादौ संयोगस्यापि स्पर्शशब्दवाच्यत्वस्य प्रसिद्धत्वादत्र तस्यापि सङ्ग्रहः। संयोगस्य तथात्वं च द्वितीयस्कन्धे, "वस्तुनो लघुकाठिन्यमि"त्यस्य सुबोधिन्यां व्युत्पादितम्। शरीरमिति। अन्तर्यामिब्राह्मणादित्यर्थः। अनुविश्येति। तदनुप्रविश्य "सच्च त्यच्चाभवदि"ति श्रुतेः। प्रकाशत इति अभिचाकशीति, 'तमेव भान्तमि'त्यादिश्रुतेरित्यर्थः। इत्यादिश्रुतेरित्यत्र आदिपदेनैवंविधा अन्या अपि सङ्गृहीता ज्ञेयाः। तथा सृष्टिकाले भगवतश्चिदचिद्वस्तुशरीरत्वेनान्तर्यामितया स्थितिरित्यर्थः। एतेन विशिष्टाद्वैतवादोऽप्येकदेश इति ज्ञापितम्। अतः परं बाह्यादिमतीयामाशङ्कामुत्थाप्य परिहरन्ति श्रुत्यादिभेदेष्वित्यादि। वस्तुत इति। वस्तुस्वभावादित्यर्थः। तत्र प्रकारमाहुः सर्वभवनेत्यादि। 'न स्थानतोऽपी'त्युभयलिङ्गाधिकरणे सिद्धान्तैकदेशिमताभ्यां प्रकारद्वयेन सर्वश्रुत्यविरोधः प्रदर्शितः। व्यासस्य वेदस्थापनार्थं प्रवृत्तत्वाद् वेदे यथाऽक्षरमात्रस्यापि बाधो न भवति तदर्थमुभयरूपता व्यासपादैरङ्गीकृता। तत्र धर्माणां

नैवंवादिनां वाक्यानि तत्तदंशवाक्यपराणि भवितुमर्हन्ति। तेषां तथाहृदयाभावात्। अतः सर्वे वादाः स्वभ्रान्तिपरिकल्पितत्वेन वस्तुस्पर्शाभावादनवसरपराहता एव। अस्तु वादिनां हृदयं यथा तथा, वाक्यानां सरस्वतीरूपत्वात् कथं नैकवाक्यतेत्याशङ्क्याह नानावादानुरोधि तदिति। एकैको वादो ब्रह्मण एकैकधर्मप्रतिपादकैकैकवाक्यशेष इति भगवांस्तान् सर्वानेवानुसरति ॥ ७० ॥

टिप्पणी।

नैवंवादिनामिति। ब्रह्मणस्तत्तदंशबोधकवाक्यार्थप्रतिपादकानि वादिनां वाक्यानि, एवं भवितुं सर्वधर्मविशिष्टधर्मिणं बोधयितुं नार्हन्तीत्यर्थः ॥ ७० ॥

आवरणभङ्गः।

स्वरूपनिर्वाहार्थं ब्रह्मणः सकाशाद् वैलक्षण्यमङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथा श्रुतिबाधः स्यात्। तदङ्गीकारे "चैकमेवाद्वितीयमि"ति श्रुतिर्बाध्येतेत्युभयसामञ्जस्यार्थं ब्रह्म निर्धर्मकमेव पूर्वं स्वधर्मरूपेण, तदनु क्रियादिरूपेण वाऽऽविर्भवतीति सर्वभवनसामर्थ्येन विरोधपरिहार एकदेशिमते। एतदेव, "पूर्ववद्वा, विप्रतिषेधाच्चे"ति सूत्रद्वयेनाचार्येणानुज्ञातम्। सिद्धान्ते तु, उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत्, प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वादिति सूत्राभ्यां विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् विरोधः परिहृतः। तेनात्र प्रकारद्वयमुक्तं ज्ञेयम्। अतः प्रकारभेदेन प्रतिपादनेऽपि सर्वेषामेव प्रामाण्यम्। वादिनः परं तथा न जानन्ति, बाह्यत्वादतस्तदुक्तमेवाप्रमाणमित्यर्थः। नन्वेकैकश्रुत्यनुगतत्वं वादिनामस्तीति कथं सर्ववादानवसरत्वमित्यत आहुः नैवमित्यादि। यदि तैरन्धहस्तिवद् भगवानेव प्रतिपादितः स्यात्, तर्हि तर्कचरणादौ तान्नाचार्यो दूषयेद्, अतस्तथा तेषां हृदयं नास्तीत्यवसीयते, अतस्तथेति भावः। अनवसरपराहता इति। अनवकाशव्याहता इत्यर्थः। "भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः। दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैरिति" द्वितीयवाक्यानुसारेण सरस्वतीहृदयं वक्तुमाहुः अस्त्वित्यादि। तान् सर्वानेवानुसरतीति। यथोक्तं विद्वन्मण्डनसमाप्तौ, मध्वभाष्यप्रथमाध्यायसमाप्तौ च, महोपनिषदि, "एष ह्येव शून्य एष ह्येव तुच्छ एष ह्येवाभाव एष ह्येवाऽव्यक्तोऽदृश्योऽचिन्त्यो निर्गुणश्चे"ति। महाकौर्मेऽपि, "शमूनं कुरुते विष्णुरदृश्यः सन् परः स्वयम्। तस्माच्छून्यमिति प्रोक्तस्तोदनात् तुच्छमुच्यते। नैव भावयितुं योग्यः केनचित् पुरुषोत्तमः। अतोऽभावं वदन्त्येनं नाऽश्यत्वान्नाश्य" इत्यपि। "सर्वेषां तदधीनत्वात् तत्तच्छब्दाभिधेयता। सर्वेषां व्यवहारार्थमिष्यते व्यवहर्तृभिरिति" इत्यन्तेन। अर्थस्तु, शम् अन्यसुखम् ऊनं कुरुते स्वसुखादल्पीकरोतीति शून्यम्। तोदनात् तुद्। छन्नत्वाच्छः। भावयितुम् उत्पादयितुम्। अश्यत इत्यश्यः। न अश्यो नाऽश्यः। अभक्ष्य इति जयतीर्थेन व्याख्यातः। तथाच दुष्टानामदृश्यत्वादिना तथाताननुसरतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

तत्र, ब्रह्मणि विरुद्धधर्माः सन्तीति ज्ञापनार्थमाह—

अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च ।
विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम् ॥ ७१ ॥

अनन्तमूर्तीति । अनन्ता मूर्तयो यस्य । ब्रह्म एकं व्यापकं च । तेनानेकत्वमेकत्वं च निरूपितम् । एवं गुणविरोधमुक्त्वा क्रियाविरोधमाह कूटस्थं चलमेव चेति । एवकारः सगुणादिभेदविज्ञापनार्थः । चकारोऽनुक्तविरुद्धधर्मसंग्रहार्थः । वाक्येष्विवात्रापि विरोधमाशङ्क्य समाधानार्थं स्पष्टमाह विरुद्धसर्वधर्माणामिति । ब्रह्मैव हि सर्वाधारम् । यथा भूमिः सहजविरुद्धानामपि मूषकादिजीवानाम् । कारणगतधर्माः पृथिव्यां भासते । विशेषेण लौकिकयुक्तिरत्र नास्ति, तदगम्यत्वादित्याह युक्त्यगोचरमिति ॥ ७१ ॥

आवरणभङ्गः ।

अनन्ता मूर्तयो यस्येति । "यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराण तमसः परस्तादि"ति श्रुतेरित्यर्थः । निरूपितमिति श्रुत्यैवं निरूपितमित्यर्थः । क्रियाविरोधमिति । "तदेजति तन्नैजती"-तिश्रुतिप्रतिपादितं तमित्यर्थः । विज्ञापनार्थं इति विशेषेण ज्ञापनार्थं इत्यर्थः । अत्रापीति । धर्मेष्वपीत्यर्थः । स्पष्टमिति । सर्ववादानवसरपदे यदुक्तं, तदेव बालबोधनाय स्फुटमाहेत्यर्थः । ननु तथापि काचित्तु लौकिकी युक्तिर्बोधनायापेक्षिता, येन मन्दोऽप्यधिकारी परस्मै बोधयितुमीष्ट इत्याकाङ्क्षायामाहुः ब्रह्मैवेत्यादि । तथाच ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रयम् । विवक्षितसर्वाधारत्वात् । सहजविरुद्धसर्पमूषकाद्याधारभूमिवत् । परस्परविरुद्धनिष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वाश्रयकर्मवत् । जाग्रदाद्याधारबुद्धिवच्चेति लौकिकी युक्तिरित्यर्थः । तर्हि ब्रह्मणः किं वा माहात्म्यमित्यत आहुः कारणेत्यादि । तर्हि परब्रह्मणस्तादृशत्वे का वा युक्तिरित्याकाङ्क्षायां वस्तुस्वभावेन विरुद्धधर्माधारत्वं समर्थयन्ति विशेषेणेत्यादि । तथाच नेदं युक्त्यगोचरत्वं दूषणमपि तु भूषणमेवेति भावः । अत एव "विश्वतश्चक्षुः", "सहस्रशीर्षा पुरुष" इत्यादिना सहस्रशीर्षत्वादिकं भूतभव्यभवद्रूपत्वादिकं चोक्त्वा, "एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुषः" इति श्रुतिराह । एतावान् महिमा माहात्म्यम् । अतो हेतोर्ज्यायानित्यर्थः । न हि सहस्रशीर्षत्वादिकं लौकिकयुक्तिगम्यम् । अतो यथाश्रुतमेव मन्तव्यमिति शब्दप्रामाण्यवादिना परेणाभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा जन्यज्ञानाद्याधारत्वस्यैवात्मनि दृष्टत्वात् परमात्मन्यपि नित्यज्ञानाद्यसिद्धेः । अनुमानैः साधनेऽपि हेतौ प्रतिपक्षोपाध्यादीनां स्फुरणस्यानिवार्यत्वात् विरुद्धधर्माऽऽश्रयत्वं च कमलवज्ज्ञेयम् । यथा हि कमलं मूले भूयः सदग्रभागेऽणीयस्तिष्ठति तथा विरुद्धधर्माश्रयत्वमपि भगवति भूयः सत् कार्येषु ह्रसदतिविप्रकृष्टे कार्येऽत्यल्पं भवतीत्युपपादितं द्वितीयसुबोधिन्यां पुरुषसूक्ताध्याये । एतेनाद्भुतकर्मण इति समर्थितम् ॥ ७१ ॥

नन्ववतारेषु भगवत्त्वश्रुतेर्लौकिकप्रमाणविषयत्ववल्लौकिकयुक्तिविषयत्वमपि कुतो नेत्याशङ्क्याह—

आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः।
इन्द्रियाणां तु सामर्थ्यादहश्यं स्वेच्छया तु तत् ॥ ७२ ॥

आविर्भावतिरोभावैरिति। आविर्भावोऽवतारो मत्स्यादिरूपेण प्राकट्यम्। तिरोभावोऽवतारसमाप्तिः। ते च बहुप्रकाराः स्थावरेभ्यो जङ्गमेभ्यः स्वतोऽपि भवन्ति। ते सर्वे प्रकारा मोहका एव। नटवद् बहुरूपत्वात्। अन्यथा लौकिकयुक्तेर्लङ्घनं न स्यात्। न हि मत्स्योऽह्ना योजनशतं वर्धते। नापि क्षणेन पर्वताकारो भवति वराहः। अतो लौकिकबुद्धिविषयत्वं नट इव ध्वान्तम्। स्वतो न लौकिकयुक्तिगोचरत्वमित्यर्थः। तथापि कृष्णादयः सर्वैर्दृष्टा अपि तेषु कथं लौकिकप्रमाणाविषयत्वं, तत्राह इन्द्रियाणां तु सामर्थ्यादिति। चक्षुर्न स्वसामर्थ्येन भगवन्तं विषयीकरोति। किन्तु भगवदिच्छयैव, मां सर्वे पश्यन्त्वित्येतद्रूपया तद् दृश्यम् ॥ ७२ ॥

आवरणभङ्गः।

युक्तिगोचरत्वमाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि। भगवत्त्वश्रुतेरिति "तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते", "इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते" इत्यादिभिस्तापनीयेषु तथा श्रुतेरित्यर्थः। ते इति आविर्भावतिरोभावा इत्यर्थः। स्थावरेभ्य इति यथा स्तम्भान्नृकेसरिणः। जङ्गमेभ्य इति यथा वामनादेः स्वत इति। यथा हंसस्य भगवतः मोहका एव नटवदिति। यथा नटे राजाऽयम्, अश्वोऽयमिति, तथा साधारणो मत्स्योऽयं, वराहोऽयं, मनुष्योऽयमिति तेषां तेषां बुद्धिजनका इत्यर्थः। एतदेवोक्त प्रथमस्कन्धे सूतेन, "यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः। भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्" इति। तथाच, लौकिकयुक्तिगोचरं, लौकिकप्रमाणविषयत्वाद्, घटवदिति साधने; तदविषयं, मोहकत्वान्नटवदिति प्रयोगेण लौकिकयुक्तिगोचरत्वसाधकहेतोः स्वरूपासिद्धत्वान्न तेन युक्तिगोचरत्वसिद्धिरित्यर्थः। अन्यथेति मोहकत्वाभावे। युक्तिलङ्घन उदाहरणमाहुः न हीत्यादि। एवं गोवर्धनोद्धरणादिनापि ज्ञातव्यम्। तथापीति मोहकत्वेऽपि। कथमिति। सार्वजनीनस्य भ्रमस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तथाच मोहकत्वेऽपि लौकिकप्रमाणविषयत्वस्य नट एव दृष्टत्वान्नानेन लौकिकप्रमाणाविषयत्वसिद्धिरित्यर्थः। एवं हेतौ पुरःस्फूर्त्या दूषिते, तदुपगम्यं लौकिकप्रमाणागोचरत्वं समर्थयन्ति चक्षुरित्यादि। तथाचेच्छया स्वावरणं भगवान् दूरीकरोतीति दृश्यते। अतो लौकिकप्रमाणसामर्थ्यकौण्ठ्यात् तद्विषयत्वमभिमानमात्रं, न तु वास्तवमतो लौकिकप्रमाणाविषयत्वं तत्र निर्बाधमित्यर्थः। न चात्राप्रामाणिकत्वं शङ्कनीयम्। "यमेवैष" इति श्रुतौ, "तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वामि"त्यत्र तनुपदेन तथा सिद्धत्वात्। एकादशस्कन्धे मौशले, "कृष्णेनेच्छाशरीरिणा" इति वाक्यात्। देवादीनां लौकिकविग्रहवतां योगिनां चेच्छयैव तथात्वस्य दृष्टत्वाच्चेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

ननु रूपवद् द्रव्यं चाक्षुषमिति महत्त्वादुद्भूतरूपवत्त्वाच्च कुतो न चाक्षुषत्वं ? तत्राह—

आनन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्य फलनं यदा ।
तदा मरकतश्याममाविर्भावे प्रकाशते ॥ ७३ ॥

आनन्दरूप इति । आनन्दरूपे आनन्द एव ब्रह्मणि रूपस्थानीयः । तत्र शुद्धस्य सत्त्वस्य देवतारूपस्य भगवदिच्छया श्रीभगवदासनत्वेन स्फुरितस्य श्यामत्वात् तस्य प्रतिफलनेनानन्दो नीलमेघवद् भासत इत्यर्थः । यथा स्फटिको जपाकुसुमेन । श्वेतपाषाणेषु प्रविष्टोऽपि स्फटिको जपाकुसुमलौहित्यं गृह्णन् पाषाणेभ्यो वैशिष्ट्यमात्मनः प्रतिपादयति । तथा ब्रह्मापि जगति पुराणेषु प्रकटीभवत् तच्छ्यामत्वादि गृह्णद् ब्रह्मत्व-

---

आवरणभङ्गः ।

सामर्थ्यकौण्ठ्ये पुनः शङ्कते नन्वित्यादि । तथाच देवादिष्विच्छायाश्चक्षुःसहकारित्वं, प्रतिबन्धकत्वं च यथायथं दृष्टम् । तथापि लौकिकप्रमाणविषयता तेषु निराबाधा । रूपस्य तेषु सत्त्वात् । एवमवतारेष्वपीति नेच्छायाः करणत्वम् । अतो रूपराहित्य एवेच्छाकल्पना इष्टं साधयिष्यतीति सा श्रुत्यनुरोधादनवतीर्ण एव कार्या, न तु रूपवत्यवतीर्णेऽपीत्यवतारेषु न लौकिकप्रमाणाविषयत्वं युक्तमिति भावः । तत्रावतारस्वरूपं निश्चिन्वन्त एव समादधते आनन्दरूप इत्यादि । रूपस्थानीय इति । तथाचेच्छयाऽऽनन्द एव तथा भासत इति लौकिकरूपाभावेनेन्द्रियसामर्थ्याद्दृश्यमेव तत् । त्वदभिमता सहकारित्वप्रतिबन्धकत्वकल्पना तु तदा प्राप्तावसरा स्याद् यदि लौकिकं रूपं स्यात् । तत्त्वऽरूपश्रुत्यैव प्रतिषिद्धमतः सा न साधीयसीत्यवताराणामपि न चाक्षुषत्वमिति भावः । ननु सर्वथा रूपाभावे दिगादिवन्न प्रतीयेतैवातो लौकिकं रूपं तत्र वाच्यमेवेत्याकाङ्क्षायां वाक्यान्तरानुरोधादौपाधिकं रूपं तत्राङ्गीकृत्याप्यरूपत्वमेव स्थापयन्ति तत्रेत्यादि । देवतारूपस्येति अभिमानिकरूपस्य । अत्रायमर्थः—अवतारो नाम वैकुण्ठस्थानादिहागमनम् । तच्च व्यापकत्वे व्याहतमिति यथा व्यापकात्मवादिमते प्रदेशभेदेनोपाधिद्वारा चोत्क्रान्त्यादिर्व्यवस्थाप्यते, एवं प्रकृतेऽपीच्छया तस्य तस्यासनत्वेन स्फूर्तौ तदागमनाद्यैरवतरणादि । अथवा, अनन्तरूपत्वात् तस्य तस्य रूपस्य तत्तदासनकत्वे तस्य रूपस्यैव तथात्वेनावतरणादि । भगवाँश्च यत्र तिष्ठति तं स्वान्तः स्थापयतीत्यन्तर्यामिब्राह्मणे सिद्धम् । एवं सत्यत्रोभयतयापि तां देवतामन्तरयित्वा अयोगोलकस्थवह्निवदानन्द एव बहिरवस्थित इत्यौपाधिकरूपाङ्गीकारेऽपि रूपमात्रस्यैव चक्षुषा दर्शनं, भगवतस्त्विच्छानन्दाभ्यामेव दर्शनं, न तु लौकिकेन्द्रियसामर्थ्यादित्यवतीर्णोऽपीन्द्रियागोचर एव । मूलरूपधर्माणां तत्रापि सत्त्वादिति । तथाच, युक्तिगोचरं दृश्यत्वाद्, दृश्यं रूपवत्त्वादिति साधने; अदृश्यं रूपरहितत्वादिति प्रतिसाधनसत्त्वात् तस्य हेतोः साध्यसमत्वेन युक्तिगोचरत्वस्य दृश्यत्वस्य च न सिद्धिरिति भावः । किञ्च, लौकिकेऽपि प्रबलतेजश्चक्षुःप्रतिघातकत्वमेव, न तु विषयत्वम् । अतोऽपि तथा । एतदेवाभिप्रेत्याहुः श्वेतेत्यादि ।

मपि ख्यापयतीति भावः । सत्त्वरजस्तमसां नीलरक्तश्वेतरूपतेति गुणावतारवाक्यै-र्निर्णीयते ॥ ७३ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह—

चतुर्युगेषु च तथा नानारूपवदेव तत् ।
उपाधिकालरूपं हि तादृशं प्रतिबिम्बते ॥ ७४ ॥

चतुर्युगेषु च तथेति । "कृते शुक्लश्चतुर्बाहुरि"ति वाक्यात् । अन्यथा नियतं रूपं न स्यात् । तत्रापि हेतुमाह उपाधीति । उपाधिकालः सत्यादिदेवतारूपः । तस्य रूपं ब्रह्मणि प्रतिबिम्बते । कालविशेषे रूपविशेषस्तदाधारत्वेन ब्रह्मणि स्फुरितो ब्रह्मत्वं सम्पादयतीत्यर्थः ॥ ७४ ॥

टिप्पणी ।

सत्त्वेति । "सत्त्व रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणा"इत्यादि श्लोकेषु ब्रह्मादीनां तत्तद्गुणयुक्तत्वकथना-त्तादृशरूपमत्त्वप्रसिद्धेः सत्त्वादीनामपि तादृशरूपत्वं निश्चीयत इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

तत्रापीति । नियतरूपत्व इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

आवरणभङ्गः ।

ख्यापयतीति स्वख्यातितेजस्वित्वेन ख्यापयतीत्यर्थः । गुणानां नियततत्तद्रूपवत्ता कथं निर्णेयेत्यत आहुः सत्त्वेत्यादि । गुणावतारवाक्यैरिति । विष्णुब्रह्मशिवस्वरूपध्यानबोधकवाक्यैः । शिवस्य नीलकण्ठत्वाच्च श्वेतता । या तु, "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्" इति श्रुतौ, "सत्त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया विभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः । सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये" इति श्रीभागवतादौ च सत्त्वतमसोः श्वेतकृष्ण-त्वोक्तिः। सा तु कार्यनिर्देशात् क्षुब्धयोरेव, न तु शुद्धयोः । यद्येवं न स्याद् ध्यानवाक्येऽप्येवमे-वोच्येतेत्यन्यथानुपपत्त्या ज्ञेयम् । अयमेव च सुबोधिनीसारितो वैकुण्ठपक्षः । भूमिपक्षकारिका तु त्रुटितेति भाति । भूमेर्नीलरूपवत्त्वं तु, "यत् कृष्णं तदन्नस्ये"ति श्रुत्या, "पुरा क्रूरस्येति" श्रुतौ चन्द्रमसि दृश्यमाननैल्यस्याधिदैविकपृथिवीत्वोक्त्या च ज्ञेयम् । एवमेवाप्सु प्राणे चाविर्भावे श्वैत्यं तेजसि लौहित्यं च बोध्यम् ॥ ७३ ॥

प्रसङ्गाद् रूपान्तरेऽप्युपपत्तिं स्फुटीकुर्वन्ति उपपत्तीत्यादि । एवं, "त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ", "द्वापरे भगवान् श्यामः कलावपि तथा शृणु" इत्युक्त्वा, "कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णमि"त्यादिवाक्याद् युगान्तरेऽपि रूपान्तरं ज्ञेयम् । दशमस्कन्धे गर्गवाक्ये तु, "आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः । शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गत" । इति द्वापरे पीतवर्णतोक्ता । सा तु द्वापरदे-वतायाः पर्यायभेदेन रूपभेदाज्ज्ञेया । न च कालस्य नीरूपत्वं निरंशत्वं वा शङ्क्यम् । तैत्ति-रीयकाणामारुणकेतुकचयनब्राह्मणे उक्तो वेशो वासांसि च । कालावयवानामितः प्रतीच्येष्वि-त्यनेन सावयवत्वस्य, तत्पूर्वतनानुवाकेष्वृतूनां ध्यातव्यवेशवासःप्रभृतेश्चोक्तत्वात् तत्समानन्यायेन युगेष्वपि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । एतद्विनिगमनाय तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । यदि कालावयवा नीरूपाः स्युर्भगवान् वा रूपवान् स्यात् तदा तथा न स्यादित्यर्थः । इदमेव हृदिकृत्याहुः तत्रापीति । तत्तत्कालिकनियतरूपेऽपीत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः कालेत्यादि । कालविशेषगतो

एवं प्रतिफलत्वेन ब्रह्मत्वं प्राकृतरूपत्वं च साधयित्वा प्रकारान्तरेण रूपवत्त्वं साधयति—

अथवा शून्यवद् गाढं व्योमवद् ब्रह्म तादृशम् ।

अथवेति । यथा मेघादिरहिते देशे आकाशे नीलिमा प्रतीयते । चक्षू रूपवद् द्रव्यं गृह्णत् तदभावे दूरं गतं सन्नीलमिव पश्यति, तथाऽन्धकारम् । नैतावता आकाशे अन्धकारे वा रूपमस्ति । तथा ब्रह्माप्यतिगाढं गम्भीरतया नीलमिव भातीत्यर्थः । अनेनाऽचाक्षुषत्वं ज्ञापितं भवति ।

पूर्वापेक्षया अयं पक्षो महानिति ज्ञापयितुमाह—

प्रकाशते लोकदृष्ट्या नान्यथा दृक् स्पृशेत् परम् ॥ ७५ ॥

आवरणभङ्गः ।

रूपविशेषः कालस्यावतीर्णब्रह्माधारत्वेन पूर्वोक्तदर्शनसामग्र्या ब्रह्मणि भासमानोऽवतीर्णस्यापि ब्रह्मणः सर्वान्तरत्वं समर्थयन् ब्रह्मत्वं सम्पादयतीति भावः ॥ ७४ ॥

एवं सर्वथैवाचाक्षुषत्वे रूपप्रतीतिवदाकारप्रतीतिरप्यौपाधिक्येवापद्येतेति तद्वारणाय मुख्यं पक्षं वक्तुमाहुः एवमित्यादि । ब्रह्मत्वं प्राकृतरूपवत्त्वं च साधयित्वा, अचाक्षुषतया ब्रह्मत्व ब्रह्मणः प्राकृतरूपवत्त्वं च स्फटिकन्यायेनोपपादयित्वा प्रकारान्तरेण, "आदित्यवर्णमि"ति, "श्यामाच्छबलं प्रपद्ये", "शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये", इति श्रुत्यनुसारिणा प्रकारेण रूपवत्त्वं मूलरूपेणाक्षर एव प्रकटस्य ब्रह्मणः कृष्णस्याप्राकृतरूपवत्त्वं च साधयत्युपपादयतीत्यर्थः । तं प्रकारमाहुः यथेत्यादि । इदमुपपादयन्ति चक्षुरित्यादिना । एतावतेति दर्शनमात्रेण । न रूपमस्तीति धर्मात्मकं रूपं नास्ति, किन्तु तद्वस्त्वेव तादृशमित्यर्थः । अतिगाढमिति गम्भीरमित्यर्थः । गम्भीरत्वञ्चानवगाह्यत्वम् । अग्रे गभीरा नदीत्यादिप्रयोगदर्शनात् । "श्यामाच्छबलमि"त्यत्र "श्यामो गम्भीरो वर्ण" इति शङ्कराचार्यैरपि भाष्ये विवरणाच्च । भातीति वस्तुस्वभावाद् भाति । तथा च, "आदित्यवर्णं तमसः परस्तादि"ति "तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा सकृद् विद्युत्ता" इत्यादिश्रुतिभिस्तादृशरूपवदपि अक्षरेऽतिदूरे प्रकटत्वेनानवगाह्यत्वाद् भूम्यादिस्थितानां भातीत्यर्थः । यत्र च न गाम्भीर्यप्रकटनं तत्र प्रकारान्तरेणापि दर्शनम् । यथा, "बदरपाण्डुवदनो मृदु गण्डम्" इत्यत्रेति बोध्यम् । मूलयोजना तु अथवेति पक्षान्तरे, शून्यवच्छून्यं विषयतारूपं यत्तमस्तद्वद् व्योमवच्च गाढं गम्भीरमनवगाह्यम् । हेतुगर्भं विशेषणम् । अनवगाह्यत्वात् तादृशं ब्रह्म नीलं लोकदृष्ट्या प्रकाशते । वस्तुतस्तु न नीलगुणयुक्तं तत्, किन्तु तद् वस्त्वेव तादृशं स्वसामर्थ्यादेव भातीति भावः । अवतारदशायामपि वैकुण्ठस्थितत्वं, 'कृष्णद्युमणी'ति पद्ये द्युमणिपदेनोक्तं, तत्र विवृतं चेत्यवदातम् । पूर्वापेक्षयेति औपाधिकरूपकल्पनापेक्षया । अयं पक्ष इति । अप्राकृतरूपवत्त्वपक्षः । आहेति । श्रुत्यनुगृहीतं तर्कमाहेत्यर्थः । स तु मूलयोजनायामेव दर्शितः । तेन सूचितं तर्कान्तरमाहुः

नान्यथा दृक् स्पृशेत् परमिति। "पराञ्चि खानी"तिश्रुतेः। परं चक्षुर्न स्पृशति। अन्यथा परत्वमेव न स्यादिति। यद्वा, एवं नीरूपत्वेन निराकारत्वं ब्रह्मण्यायातीत्य-रुच्या पक्षान्तरमाह अथवेति। उक्तव्याख्यानेऽपि तथा। एवं नीलिमभानोपपत्ता-वपि पीतवसनादिभानानुपपत्त्यपरिहारादपसिद्धान्तत्वाच्च व्याख्यानान्तरमुच्यते। ब्रह्म तादृशं, यादृशं दृश्यते तादृशमेव तद्वस्त्वित्यर्थः। तत्रानेकरूपत्वेनाब्रह्मत्वमाशङ्क्य निर-स्यति दृष्टान्तेन। गाढं घनीभूतं सैन्धवं लवणमिति यावत्। तद्यथाऽन्तर्बहिश्चैकरूपरसं तथा ब्रह्मानेकरूपत्वेन भासमानमपि शुद्धमेवेत्यर्थः। स यथा सैन्धवघन इत्यादिधर्मिग्राह-कमानात् तत्तादृगेव मन्तव्यमिति भावः। "तर्हि पराञ्चि खानी"ति श्रुतेर्दृग्विषयत्वानुप-पत्तिरित्यत आह शून्यवद् व्योमवल्लोकदृष्ट्या ब्रह्म न प्रकाशत इति। शून्य-गृहादौ वस्त्वभावादेव यथा न किञ्चिद् दृश्यं भवति तथेत्यर्थः। दर्शनं हि द्वेधा। तदर्थं प्राकट्येन साधारण्येच्छया वा। तत्राद्याभाववत्स्वयं दृष्टान्तः। तेषामासुरभावाद् यथोक्त-

---

आवरणभङ्गः।

अन्यथेत्यादि। प्रयोगस्तु, ब्रह्म यदि गभीरं न स्याल्लोकदृष्ट्या नीलं न प्रकाशेत। चक्षुर्यदि ब्रह्म स्पृशेत् पराङ् न स्यात्। यतः पराङ् अतो न स्पृशति। यतो न स्पृशति अतोऽप्राकृतरूपवदपि ब्रह्म लोक-दृष्ट्या नीलं न प्रकाशते। यत एवमतो गभीरमिति। एवञ्चैतेन सन्दर्भेणावतारेष्वपि युक्त्यगो-चरत्वं न्यायेनापि दृढीकृतम्। अवतारा युक्त्यगोचरा अप्रत्यक्षत्वात्। अप्रत्यक्षा अरूपत्वात्। आकाशवदिति प्रयोगसम्भवात्। अत्रैवपदेन या प्रतीतिराचार्यैः सङ्गृहीता तामेव स्फुटीकर्तुं प्रभुचरणाः प्रकारान्तरेण कारिकां व्याकुर्वन्ति यद्वेत्यादि। एवं नीरूपत्वेनेति। औपाधिकरू-पाङ्गीकारेणायातं यन्नीरूपत्वं तेनेत्यर्थः। तथेति। एषैवारुचिर्व्याख्यानावतारबीजत्वेन ज्ञेयेत्यर्थः। व्याख्येयपक्षे बीजान्तरमाहुः एवमित्यादि। दृश्यत इति। अनुगृहीतैर्भक्तैर्दृश्यत इत्यर्थः। लवणमिति लवणमिवेत्यर्थः। श्रुतिश्च, "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वारे अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे"ति। एतदेवाभिप्रेत्याहुः स यथेत्यादि। तथा च यथा सच्चिदानन्दरूपत्व एकरसत्वं न व्याहन्यत एवमिहापीति हृदयम्। तर्हीति श्रुति-बलेनैव तादृशत्वाङ्गीकारे। आद्यं दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति शून्यगृहेत्यादि। तथेत्यर्थ इति ब्रह्मणि रूपादेरभावाद् ब्रह्माऽप्यदृश्यं भवतीत्यर्थः। तर्हि पूर्वव्याख्यानेऽत्र च प्रतिज्ञायां दर्शनं कथं स्वीकृतमित्याकाङ्क्षायामुभयसामञ्जस्यायाधिकारिभेदेनोभयं व्यवस्थापयन्ति दर्शनमित्यादि। साधा-रण्येच्छयेति। इतरनरादिसाधारण्येन मां पश्यन्त्वितीच्छया। अत्र प्रथमविधायां, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वामि"ति श्रुतिः प्रमाणम्। द्वितीयस्यां त्ववतीर्णस्य सर्वप्रत्यक्षबोधिकाः स्मृतयः। आद्याभाववत्स्वयं दृष्टान्त इति। यदर्थमनुग्रहेण न प्राकट्यं तेषु, शून्यवदित्ययं दृष्टान्त इत्यर्थः। कुत इत्याकाङ्क्षायामुपपादयन्ति तेषामित्यादि। तादृक् तत्। यो यादृशं मन्यते तं प्रति तादृगेव ब्रह्मेत्यर्थः। तदुक्तं वाजसनेयिनां मण्डलब्राह्मणे अक्षि-पुरुषमुपक्रम्य, "तमेतमग्निरित्युपासत" इत्याद्युक्त्वा, विषमिति सर्पाः, सर्प इति सर्पविदः, ऊर्गिति

आवरणभङ्गः ।

देवाः, रयिरिति मनुष्याः, मायेत्यसुराः, स्वधेति पितरो, देवजन इति देवजनविदो, रूपमिति गन्धर्वा, गन्ध इत्यप्सरसस्तं यथा यथोपासते तदेव भवति तद्धैतान् भूत्वाऽवती''त्यादि । तथा च ये असदिति मन्यन्ते तान् प्रति शून्यवदेवेति रूपाद्यभावात् तद्दृष्ट्या न प्रकाशत इति भावः । नान्यथा दृक् स्पृशेत् परमिति । अन्यथा यदि रूपवत् स्याद् दृक् स्पृशेत् । यदि स्पृशेत् परं न स्यादिति । यदि रूपवत् स्यादित्यध्याहारः, स्पृशेदित्यावृत्तिश्च व्याख्यानस्वारस्याज्ज्ञेया । न च ब्रह्मणोऽनवगाह्यत्वे मानाभावः शङ्क्यः । "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स" इति । "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् । अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधी''त्यादिश्रुतीनाम् । न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्य इति श्रीभागवतस्य च मानत्वात् । न च दर्शनाद्यनुरोधात् प्राकृतत्वमेवास्त्विति शङ्क्यम् । दर्शनस्य दृश्यत्वमात्रगमकत्वेन तत्र तद्धेत्वनिश्चायकत्वात् । अनुमानादेरपि तदुपजीवकत्वेन दूरपराहतत्वात् "यन्मायया मोहिताश्च ब्रह्मविष्णुशिवादय" इत्यारभ्य, "एवं सर्वे प्राकृताश्च श्रीकृष्णं निर्गुणं विना" इत्यन्तेन ब्रह्मवैवर्तप्रकृतिखण्डीयैकोनपञ्चाशाध्यायस्थहरगौरीसंवादसन्दर्भेण विरोधात् । "कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि''ति श्रीभागवतविरोधाच्च । अतः पूर्वोक्तश्रुतिसिद्धमपि रूपं ब्रह्मात्मकमेव ज्ञातव्यम् । तच्च न प्रत्यक्षम् । दूरत्वेन प्रतिबद्धत्वात् । अतस्तथा भानं वस्तुस्वभावादेवेत्यर्थः । नन्वाकाशान्धकारदृष्टान्तेन ब्रह्मणो नीलत्वेन प्रकाशनकथनं न रोचिष्णु । तयोरतादृशत्वात्, प्रतीतेर्भ्रान्तत्वादिति चेत् । अत्रैवं जानीहि । अयोग्येषु दिक्कालादिषु सत्स्वप्युपरिदृश्यमाने नीले यावानाकाशो दृश्यत इति स्वव्यवहारप्रत्ययौ, गुहादौ दृश्यमाने नीले न यावन्धकारविषयौ तौ नायोग्यतानिबन्धनौ । तस्या दिगादावपि तौल्यात् । नापि दूरत्वनिबन्धनौ । निकटान्धकारे व्यभिचारात् । नापि सहकारिविरहनिबन्धनौ । व्योम्न्यालोकजसंयोगस्य सत्त्वात् । विभज्य तत्र तत्र तत्तन्निबन्धनभ्रमाभ्युपगमेऽपि ध्रुवादौ व्यभिचारात् । तन्नियामकस्य विषयेऽवश्यं वाच्यत्वेन पारिशेष्यात् स्वरूपस्यैव तथात्वसिद्धिः । न च करणधर्मस्य नियामकत्वमिह शक्यवचनम् । तैजसत्वेन शुक्लभास्वरत्वस्य लौहित्यस्य वा तत्र सत्त्वेन नैल्याभावात् । नापि गोलकधर्मस्य । तत्र श्वैत्यादीनामपि सत्त्वेन तेषामनियामकतानियामकत्वस्याप्यशक्यवचनत्वात् । नीरोगस्य भ्रमिपीतिमादिवदागन्तुकनैल्यस्याप्यशक्यवचनत्वात् । पिङ्गाक्षस्य पीतभानापत्तेश्च । स्मर्यमाणपक्षेऽपि स्मृतिहेतुसंस्कारोद्बोधकत्वं नादृष्टस्य । मनस्यात्मनि वा परः सहस्रसंस्कारशयनात् तत्र तन्मात्रोद्बोधकतायां नियामकस्य दुर्वचत्वात् । दृष्टापेक्षित्वाददृष्टानां प्रतिनियतत्वेनातौल्याच्च । सर्वेषां प्रत्ययैकरूपताया दुरुपपादत्वाच्च । अत एभ्योऽन्यदेव किञ्चिन्नियामकं वाच्यम् । तथा सति करणस्वभावो वा विषयस्वभावो वाऽवशिष्यते । तत्रापि विचारणे करणस्यान्यत्रापि तौल्येन घटादिरूपप्रमाया दर्शनादुक्तदोषानपाये परिशिष्टो विषयस्वभाव एव प्रत्ययनियामकत्वेन पर्यवस्यति । एवं सिद्धे वस्तुस्वभावे तद्बलाज्जायमानाया आकाशमन्धकारं पश्यामीति प्रतीतेर्भ्रान्तत्वकथनं मूर्खवाद एव । किन्त्वाकाशेऽन्धकारे वा नीलं रूपं पश्यामीति प्रतीतेरेव शास्त्रविरुद्धत्वात् तथात्वं निश्चेयम् । इदं यथा तथा प्रस्थानरत्नाकरे व्युत्पादितमस्माभिः । रूपं च पृथिव्यादित्रय एव सर्वतन्त्रसम्मतम् । अतस्तदङ्गीकारः सर्वतो विरुद्धः । तमश्च न द्रव्यान्तरं,

ब्रह्मानङ्गीकारात् तादृक् तान् प्रत्यसदेवेति भावः। यद्वा, शून्यं तम उच्यते। तेन तद्वद् गृहादि लक्ष्यते। तत्र यथा सदपि वस्तु प्रकाशकाभावान्न भाति, तथेदमनुग्रहाभावात् तथेत्यर्थः। अनवतारदशायां तथेच्छाभावाद् व्योमवत् तथेत्यर्थः। रूपाभावाद्

आवरणभङ्गः।

नापि तेजोऽभावः, किन्तु मायिकं पदार्थान्तरमेवेत्युपपादितं द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्याम्, "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेते"ति श्लोकव्याख्याने श्रीमदाचार्यैः। तत्रापि रूपराहित्यमेव प्रतिपादितम्। तदपि मयाऽन्धकारवादे प्रपञ्चितम्। येऽपि द्रव्यान्तरमातिष्ठन्ते तेऽपि तद्ग्रहणाय तामसं चक्षुः कल्पयन्ति। परं तदपेक्षयापि स्वभावकल्पनमेव श्लाघीयो, लाघवात्। तदेतदुक्तं, नैतावताऽऽकाशेऽन्धकारे वा रूपमस्तीति। एवं सति मां सर्वे लोकदृष्ट्यैव पश्यन्त्विति यदेच्छा, तदा ब्रह्मणो गम्भीरतैव लोकदृष्ट्यनुग्राहिका भवतीति व्योमादिवदेव ब्रह्मणोऽपि लोकदृष्ट्यैव भ्रान्ता अभ्रान्ता च नीलप्रतीतिः। तदेतदुक्तं, तथा ब्रह्माप्यतिगाढं गम्भीरतया नीलमिव भातीत्यर्थ इति। इवपदेन च यत्र गम्भीरता लोकदृष्ट्यनुग्राहिका न भवति, करचरणतलादिप्रदेशेषु, तत्रेच्छया रूपान्तरत्वेन ब्रह्मणः सङ्गृहीता। सर्वेन्द्रियगुणाभासत्वात्। सर्वाणीन्द्रियाणि तद्ग्राह्या गुणाश्च तद्वद् ब्रह्मैवाभासत इति "सर्वेन्द्रियगुणाभासमि"ति विद्वन्मण्डने विवरणात्। तेनायस्कान्तसन्निधौ लोहभ्रमणवदियं प्रतीतिरपि प्रमेयबलजन्या प्रमारूपैव। चक्षुःसामर्थ्येन पश्यामि, नीलरूपयुक्तं पश्यामीत्येव परं भ्रमः। तेन पूर्वग्रन्थस्यापि न विरोध इति दिक्। अनेनेति चक्षुःकौण्ठ्यस्थापनेन। अचाक्षुषत्वमपीत्यपिना प्रतीयमाननीलाभिन्नत्वं सङ्गृहीतम्। तथा च महदुद्भूतरूपवत्त्वेन या व्याप्तिः सा रूपस्य प्राकृतत्ववैशिष्ट्य एव, न तु सामान्येनातो येषां चक्षुःसामर्थ्येन भगवन्तं पश्यामि, नीलरूपवान् भगवानित्याद्याकारिका बुद्धिस्तान् प्रति मायारूपावृत एव भासत इति भासमानोऽप्यचाक्षुष एवेति भावः। इदञ्च, "यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्" इति तृतीयस्कन्ध उद्धवोक्तौ विवृतं सुबोधिन्याम्। बलिना यथा महत् कर्म कार्यते तथा सतोऽनन्तरूपकर्त्र्याः सर्वसामर्थ्यमेकत्र व्याप्तृतं प्रदर्शनीयमिति तादृशं रूपं निर्मितम्। नानाविधानि रूपाणि जलं स्वच्छतया गृह्णाति। तस्य जलस्योत्कर्षो माया वैकुण्ठस्थितमपि रूपं गृह्णातीति जलभावेऽपि जलोत्कर्ष इत्यनेन। अस्यार्थस्तु यथा कस्यचिद् बलिष्ठत्वेन प्रसिद्धस्य बलेयत्ताजिज्ञासायां तत्परीक्षार्थं तेन महत् कर्म कार्यते। कृते च तस्मिन् कर्मणि तदियत्ता निश्चिता भवति। तथा मायाया प्रतिबिम्बदर्शकत्वरूपं बलं परीक्षितुं भगवता व्यापिवैकुण्ठ एव स्थितेन तादृशं स्वसदृशमेव रूपं प्रतिबिम्बाख्यविषयतारूपं मायायां निर्मितम्। जलोत्कर्षश्च स्वच्छतारूपा मायैव। 'तत्रातिदूरस्थस्यापि यत् प्रदर्शनसामर्थ्यं मायायां स पदार्थः। मायाया जलभावेऽपि जलरूपत्वेऽपि जलोत्कर्ष इति। तेन लौकिकान् प्रति लोकदृष्ट्या प्रतीयमानोऽप्यचाक्षुष एवेति तदपि स्थापितमेवेत्यर्थः। ननु ये असदिति शून्यमिति चाहुस्तेषां बाह्यत्वाद्दर्शनहेतुद्वयाभावोऽदर्शनप्रयोजक आयाति, न तु दर्शनप्रयोजकः केवल आद्याभाव इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वेत्यादि। एतेनावतारदशायामपि येषामदर्शनं तत्प्रकार उक्तः। द्वितीयं दृष्टान्तं सपरिकरं व्याकुर्वन्ति **अनवतारे**त्ति। ननु

यथा तदयोग्यं, तथेदमपीति भावः। इच्छा तत्र रूपस्थानीया ज्ञेया। दर्शने हेतुमाह। अन्यथा उक्तवैपरीत्येन तदनुग्रहतदिच्छाभ्यां दृक् परं हरिं स्पृशेदित्यर्थः। यद्वा, जलेन न शून्या अशून्याः सजलमेघा इति यावत्। तद्वद् व्योमवच्च श्यामं स्वरूपं लोकदृष्ट्या यत् प्रतीयते तद् ब्रह्म, न तूपाधिरौपाधिकं वेत्यर्थः। नन्वत्रोपपत्तिः केत्यत आह तादृशमिति। तद् वस्त्वेव तथेत्यर्थः। न हि वस्तुस्वरूपमुपपत्तिमपेक्षत इति भावः। उपपत्तिमप्याह। अन्यथा यदि शुद्धं ब्रह्म न स्यात् तदा अदृग् न विद्यते दृग् ज्ञानं यस्य स तथा पशुपक्षिवृक्षादिः परं प्रकृतिकालाद्यतीतं न स्पृशेन्न प्राप्नुयादित्यर्थः। अथवा, अन्यथा शत्रुत्वेन ज्ञान यस्य स पूतनादिः प्रकृत्याद्यतीतं न प्राप्नुयादित्यर्थः। अस्य तर्करूपत्वादापादकं यदि ब्रह्म न स्यादिति रूपमर्थादेव प्राप्यत इति नोक्तम्॥

एवं लौकिकत्वदोषं परिहृत्य कर्तृत्वेन वैषम्यनैर्घृण्ये प्राप्ते परिहरति—

आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि विद्यते।

आत्मसृष्टेरिति। "स आत्मानꣳस्वयमकुरुते"ति श्रुतेः। जगति नानाविधान् सृजन्नपि न विषमो भवति। नापि क्रूरं कर्म कुर्वन्नपि निर्घृणो भवति। चकारादन्येऽपि दोषाः परिह्रियन्ते। अत्र मतान्तरमाशङ्क्य परिहरति

आवरणभङ्गः।

भवत्वेवमदर्शनं, परन्तु दर्शनं कुत इति प्रस्तुतं विचार्यमित्यत आहुः दर्शन इत्यादि। अत्रापि साधारण्येच्छायां पूर्वव्याख्यानोक्तप्रकार एव दर्शने ज्ञेयः। यथोद्योगपर्वणि कौरवाणां, यथा वाऽश्वमेधपर्वण्युत्तङ्कस्य विश्वरूपदर्शने दिव्यचक्षुर्न दत्तम्। लौकिकदृष्ट्यैव दर्शितम्। तथा यत्रेच्छा तदा तत्र लोकदृष्ट्यापि ब्रह्मैव प्रकाशते। सत्यसङ्कल्पत्वात्। तमेतं पक्षं हृदिकृत्य व्याख्यानान्तरमाहुः यद्वेत्यादि। अदृशामन्यथादृशां च प्राप्तौ। "ते नाधीतश्रुतिगणा" इत्यादिका, "अहो बकीयं स्तनकालकूटम्" इत्यादिका च स्मृतिः प्रमाणम्। न चात्र श्रुतिविरोधः शङ्क्यः। "सकलं परं ब्रह्मैतद् यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवती"ति गोपालतापनीयश्रुतेः। शत्रुस्थलेऽपि स्मृतिमूलत्वेन श्रुतेः शक्यकल्पनत्वात्। "तमेव विदित्वे"त्यत्रैवकाराविरोधस्य, गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोध इत्यधिकरणेऽधिकारिभेदेन व्यवस्थया प्रपञ्चितत्वाच्च। अत एव नानाप्रकारैः सिद्धान्तस्थिरीकरणम्। तस्य तस्याधिकारिणस्तत्तदुपयोगात्। अत एवात्र, यद्वेत्युक्तस्य विकल्पस्य नाष्टदोषदुष्टत्वम्। उदितानुदितहोमवद् व्यवस्थितत्वात्। उत्तमाधिकारिणान्तु सर्वपक्षसमुच्चय एव ज्ञानपौष्कल्यार्थमिष्टः। "न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं शिक्षितं स्यात् सुपुष्कलम्"। ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिरि"त्युक्तन्यायस्यात्रापि तुल्यत्वात्। अतोऽत्र न कोऽपि चोद्यावसरः॥ ७५॥

आत्मसृष्टौ प्रमाणमाहुः स इत्यादि। क्रूरमिति। प्रलयादि। अन्ये दोषाः पलायनाज्ञत्वानीश्वरत्वादिप्रदर्शनरूपाः। अत्रेति। वैषम्यादिदोषपरिहारे मतान्तरमिति। कर्मैव सुखदुःखहेतुरतो नेश्वरोऽङ्गीकार्य इति रूपमेकम्। तथा जीवादृष्टं वा कर्मजन्यं, प्रलयश्च सर्वेषां भोग्यादृष्टा-

पक्षान्तरेऽपि कर्म स्यान्नियतं तत् पुनर्बृहत् ॥ ७६ ॥

पक्षान्तरेऽपीति । "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादि"ति बादरायणस्तत्कर्मसापेक्षत्वाम्न विषम इत्याह । तथा सति कर्म नियतं नियामकं भवेत् । परं तत् कर्म किमिति विचारणीयम् । ब्रह्म चेत् स दोषस्तदवस्थः । अन्यच्चेद् ब्रह्मणस्तत्सापेक्षत्वादसमर्थत्वम् । तद्धेतोरेवास्त्विति न्यायेन कर्मण एव तत्समाधाने ईश्वरकारणता न सम्भवेत् । हेतुव्यपदेशश्च विरुद्धयेत । नापि लोकवद् दूषणस्थापनं युक्तम् । अत आत्मसृष्टेरित्येव

आवरणभङ्गः ।

देर्नाशात् तादृशादृष्टाच्च । ईश्वरस्तु तत्तत्कर्मसापेक्षः सुखदुःखे प्रयच्छति । नो चेद्, विनापि कर्म सुखदुःखे स्याताम् । अतो यादृशं यददृष्टं तादृशं तस्मै प्रयच्छति । तेन न विषमो, न च निर्घृण इति रूपं चापरम् । तयोः पूर्वमनूद्य परिहरन्ति मूलेन पक्षान्तरेऽपीति । यत् कर्म सुखादिहेतुत्वेन मीमांसकैरुक्तं तन्नियतं जडत्वादन्येन नियमितम् । अयमर्थः । यद्यन्यनियतं न स्यात् तदा पूर्वपूर्वेण तेनैव तत्र तत्र ततस्ततः प्रवृत्तिनिवृत्त्युपपत्तौ विध्यादेः प्रवर्तकत्वादिकं व्याहन्येत । कर्मबोधकतामात्रं परं स्यात् । अतो विधिनिषेधनियतं कर्म त्वयाऽवश्यं वाच्यम् । तथा सति तयोः सर्वसाधारणत्वात् सर्वे एव धर्मिष्ठाः स्युर्न तु विचित्राः । नरकश्च न स्यात् । पिशाचादयश्च न स्युः । अधर्मिदण्डबोधकस्मृतिश्च वृथा स्यात् । तथा सति "यद् वै किञ्च मनुरवदत् तद्भेषजमि"ति श्रुतिः कुप्येत । स्मृतिपादश्च जैमिनीयो मुधा स्यात् । अतः कर्मनियामक ईश्वरोऽङ्गीकार्य एवेति । द्वितीयपक्षं सूत्रविरोधं च परिहर्तुं टीकायां सूत्रमनूद्य हेतुं द्रढयन्ति वैषम्येत्यादिना । मूलस्थनियतपदस्य विवरणं नियामकमिति । नितरां यतं यमनं यस्मादित्येवं समासादीश्वरनियामकं फलदाने भवेदित्यर्थः । ननु कर्मणो जडत्वेन फलसमर्पकत्वासम्भवात् तत्समर्पकत्वेन कर्मसापेक्षत्वेऽपि न सामर्थ्यहानिरित्याशङ्कायामाहुः तद्धेतोरित्यादि । सुखदुःखहेतोः कर्मण एव सकाशात् सुखादिकमस्तु । ईश्वरेण सुखदुःखादिकं किमर्थं देयमित्येवं कर्मण एव हेतोस्तस्याः सुखाद्यासेः समाधाने ईश्वरकारणता स्मृत्यनवकाशसूत्रप्रतिपादिता, "अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" इत्युक्ता न सम्भवेत् । हेतुव्यपदेशश्च, "सुखं दुःखं भवो भावो भयञ्चाऽभयमेव च । अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः । भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा" इति, "एष उ एव साधु कारयती"त्यादिरूपश्च विरुद्धयेतेत्यर्थः । नापि लोकवदित्यादि । यथा साङ्ख्यप्रवचने ईश्वरनिराकरण उक्तं,—यदीश्वरः स्वतन्त्रः कर्ता, कर्मणा विनापि कुर्यात् । अथ कर्मणां सहकारी, तदा सहकारिणा मुख्ये शक्त्यबाधनात् कर्मैव कर्तृ, नेश्वरः । किञ्च, स्वार्थे स्रष्टृत्वेऽकामत्वासकामत्वयोर्हानिः, श्रुतिविरोधश्च । परार्थे स्रष्टृत्वे कारुणिकत्वाद् दुःखमयसृष्ट्यनुपपत्तिर्नैर्घृण्यं वा । उभयविधं सृजतीत्यतो वैषम्यं च । तस्य लौकिकेश्वरवत् स्वार्थाङ्गीकारे च तद्वदेवासर्वज्ञत्वं प्राकृतत्वम् । ततश्च पारिभाषिकत्वम् । सर्वत्र निर्माणं प्रति रागस्य व्यापारत्वदर्शनादीश्वरेऽपि रागापत्तिः । तथा सति नित्यमुक्तताहानिरित्यादिकं, नेश्वराधिष्ठिते फलसम्पत्तिरित्यादिचतुर्दशसूत्रैः कपिलेनोक्तम् । तथा नोचितम् । निर्दोषगुणपूर्णस्यैवेश्वरस्य व्यासाभिमतत्वात् ।

हेतुः। सूत्रं तु लोकबुद्ध्यनुसारि। अन्यथा, फलमत उपपत्तेरित्यधिकरणं विरुध्येत ॥ ७६ ॥

नन्वस्तु सापेक्ष एव कर्ता सगुणत्वादित्याशङ्क्याह—

स एव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो न हि।
गुणाभिमानिनो ये हि तदंशाः सगुणाः स्मृताः ॥
कर्ता स्वतन्त्र एव स्यात् सगुणत्वे विरुध्यते ॥ ७७ ॥

स एव हि जगत्कर्तेति। यस्तूच्चावचं सृजति स एव जगत्कर्ता।

आवरणभङ्गः।

अतस्तथेत्यर्थः। तर्ह्याचार्येण वैषम्येति सूत्रं किमित्युक्तं, तत्राहुः सूत्रं त्वित्यादि। तत्र गमकमाहुः अन्यथेत्यादि। कपिलोक्तदोषास्तु, प्रथमाध्यायारम्भ एवेश्वरकर्तृत्वसमवायित्वादिकं जन्माद्यधिकरणे ईक्षत्यधिकरणे चोक्त्वा, अध्यायसमाप्तौ, "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधादि"त्यत्र पुनरुपसंहृत्य, तदेव, श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादित्यनेन स्मारयता, श्रुतिरेवाऽस्मद्दर्शने प्रधानं, युक्तिरिति, तर्काप्रतिष्ठानसूत्रे ऋषीणां स्वतन्त्रत्वादेकोक्तयुक्तेरन्येनानङ्गीकारादप्रतिष्ठां चोक्त्वा, श्रुतयश्च "तदैक्षत बहु स्यामि"ति, "सोऽकामयते"ति, "स आत्मान॰ स्वयमकुरुते"त्यादयोऽभिन्ननिमित्तोपादानतां कर्तृतां च वदन्तीति तथैवाङ्गीकार्यम्। नो चेत् "प्रधानाज्जगज्जायते", "असङ्गो ह्ययं पुरुष" इत्यादिश्रुतिभिः कपिलसूत्रधृताभिः स्वमतोपष्टम्भवैयर्थ्यापत्तिः। अतः कपिलेनापि श्रुतिरेवाश्रिता चेत् तद्विरुद्धा तदुक्तिरनादरणीयैवेति, स्वपक्षदोषाच्चेति सूत्रेणोक्त्वा, ततः "सर्वोपेता च तद्दर्शनादि"त्यादिभिः "सर्वधर्मोपपत्तेश्चे"त्यन्तैः सूत्रैः सर्वसामर्थ्यवत्त्वेन सर्वश्रुतिसिद्धत्वे विरुद्धसर्वधर्माधारत्वेन महामाहात्म्यं तस्येति बोधनात् समाहिताः। वैशेषिकादयश्च शिष्टापरिगृहीतत्वादेव निराकृता इति न कोऽपि चोद्यावसरः ॥ ७६ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि। अस्त्विति। "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवती"त्यादिश्रुत्यनुरोधादस्त्वित्यर्थः। सगुणत्वादिति। "सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते। स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञा" इति श्रीभागवतवाक्यादित्यर्थः। समादधते स एवेति। एतस्य व्याख्यानं, यस्तूच्चावचं सृजतीति। तुशब्देन जीवादीनामिव परायत्तं कर्तृत्वं वारितम्। "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि"त्यधिकरणे प्रतिपादितं कर्तृत्वं जीवस्य, स्वतो वा, प्रकृतेर्वा, ईश्वराद् वेति विकल्पे भगवान् व्यासः, "परात्तु तच्छ्रुतेरि"त्यधिकरणे सिद्धान्तमाह। श्रुतिश्च, "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे"त्यादिरूपाऽन्यस्य कर्तृत्वं निषेधति। सर्वकर्ता सर्वभोक्ता सर्वनियन्तेति, "एष उ एव साधु कारयती"त्यादिना ब्रह्मण एव सर्वकर्तृत्वं कारयितृत्वं च वक्ति। ब्रह्मादीनामपि, "सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः। विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृग्" इत्यादिवाक्यादसदादिवत् परायत्तत्वात् परायत्तमेव कर्तृत्वम्। प्रकृतेरपि जडत्वादेव परायत्तता। "कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः। पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्। ततोऽभव-

नापि सगुणः। हेतुसिद्ध्यर्थं गुणस्य लक्षणमाह गुणाभिमानिन इति। गुणैः कृत्वाभिमानिनः। अनेन देहेन्द्रियाभिमानाभावेऽपि गुणाभिमानमात्रेणैव सगुणत्वम्। ते गुणाः सृष्ट्यादिहेतवः। अनधिष्ठिताः पुनर्न कुर्वन्तीति गुणाधिष्ठात्र्यो देवता ब्रह्मादयः सगुणा उच्यन्ते। तेषां स्वातन्त्र्यमाशङ्क्याह तदंशा इति। तत्र प्रमाणं, स्मृता इति। स्मृतिपुराणेषु तथा प्रसिद्धेरित्यर्थः। भगवाँस्तु सर्वात्मा सर्वनियन्ता मूलकर्तेति न

टिप्पणी।

नापि सगुण इत्यत्र, हेतुसिद्ध्यर्थमिति। सगुणत्वाभावे साध्ये गुणाभिमानित्वाभावादिति हेतुसिद्ध्यर्थं व्यतिरेकदृष्टान्तमाहेत्यर्थः। अत्र गुणाभिमानित्वं गुणतत्कार्याभिमानित्वम्।

आवरणभङ्गः।

न्महत्तत्त्व"मिति वाक्यात् पुरुषस्यापि द्वारतैव। कालस्यापि "सर्वे निमिषा जज्ञिरे" इत्यादिश्रुतौ जननोक्त्या, "कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया। आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे" इति स्मृतावुपादानोक्त्या परायत्तत्वमेवेति तादृशमेव कर्तृत्वम्। एवं सर्वेषामेव पराधीनत्वात् कर्तृत्वं परब्रह्मण्येव विश्राम्यति। गुणानामप्युच्चनीचभावे पौर्वापर्ये च हेतोरवश्यं वाच्यत्वे गुणस्वभावस्य हेतुता न वक्तुं शक्या। तथा सति तादृक्स्वभावविशिष्टैर्गुणैरेव सर्वकार्यं सांख्यानामिव सेत्स्यतीत्यनीश्वरवादप्रसक्तिरीक्षत्याद्यधिकरणविरोधश्च। ईक्षत्यादीनां गुणाधीनत्वे चान्योऽन्याश्रयः। यदा रजः संसृज्यते तदा ईक्षते। रजश्च जडसर्जिकां परेक्षामपेक्षत इति। एवं स्थितिप्रलययोरपि द्रष्टव्यम्। वायुवच्चलस्वभावत्वादनारतं सर्गप्रसङ्गश्च। श्रुतिस्मृतिविरोधश्च। तस्मात् सगुणत्वमशक्यवचनमेवेत्येतदुक्तं, नापि सगुण इति। यदि न सगुण ईश्वरस्तर्हि स्मार्तपौराणः सगुणव्यवहारः किन्निबन्धन इत्याकाङ्क्षायामाहुः हेतुसिद्ध्यर्थमित्यादि। सगुणव्यवहारहेतोर्ज्ञानार्थम्। भगवति सगुणव्यवहारोंऽशानां सगुणत्वनिबन्धन इति वदन् सगुणलक्षणमाहेत्यर्थः। निर्गुणत्वे हेतुसिद्ध्यर्थमिति नार्थः। स च, सर्वात्मकेत्यादिनाऽनुपदं निरूपयिष्यते। यत्तु सगुणत्वाभावे साध्ये गुणाभिमानित्वाभावादिति हेतुसिद्ध्यर्थं व्यतिरेकदृष्टान्तमाहेत्यर्थ इत्युक्तम्। तच्चिन्त्यम्। हेतोर्व्यभिचारित्वात्। जडस्यापि गुणानभिमानित्वात्। चेतनत्वे सतीत्येवं हेतोर्विशेषणीयत्वाद्वेति दिक्। स्मृतिपुराणेष्विति। "यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भव" इति द्वादशस्कन्धे। एकादशे च, "आदावभूच्छतधृती रजसाऽस्य सर्गे विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः। रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु" इति। एवं मन्वादावपि द्रष्टव्यम्। एवं श्रौतं सौत्रं स्मार्तं पौराणं च प्रमेयं निरूप्योपसंहरन्ति भगवानित्यादि। सर्वात्मत्वाद् गुणानामपि स एवात्मेति न सगुणः। यदि गुणा भिन्नाः स्युः, इदं सर्वं, "यदयमात्मा" "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"त्यादिश्रुतिर्विरुद्ध्येत। सर्वनियन्तृत्वाद् गुणात्मत्वेऽपि न गुणाधीनः। यदि गुणा बलीयांसः स्युः, "सर्वमिदमभ्यात्तः, सर्वमिदं प्रशास्ति, एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने" इत्यादिश्रुतिर्विरुद्ध्येत। मूलकर्तृत्वादपि न सगुणः। यदि गुणकर्ता न स्यात्, सर्वकर्ता, "एकमेवाद्वितीयम्", "आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्। तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।

सगुणः। बाधकमाह कर्ता स्वतन्त्र एव स्यादिति ॥ ७७ ॥

एवं स्वमतं स्थापयित्वा परमतनिराकरणाय भगवन्तं सगुणं मन्यमानानुपहसति—

केचिदत्रातिविमलप्रज्ञाः श्रौतार्थबाधनम् ।
कृत्वा जगत्कारणतां दूषयन्ति परे हरौ ॥ ७८ ॥

केचिदत्रेति। अतिक्रान्ता विमला प्रज्ञा येभ्यः। तत्र हेतुमाह श्रौतार्थबाधनमिति। श्रुत्या अभिधया वृत्त्या योऽर्थः प्रतिपाद्यते प्रकरणानुरोधेन स एव श्रुत्यर्थः। तत्र, "सदेव सोम्येदमग्र आसीद्", "आत्मा वा इदमेवाग्र आसीद्", "ब्रह्मविदाप्नोति

आवरणभङ्गः।

वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत् । तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका । ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते" इत्यादिश्रुतिस्मृतयः पूर्वोक्तन्यायाश्च विरुद्ध्येरन्निति भावः। एवं प्रमाणैर्निर्धार्य तर्कान् वक्तुमाहुः बाधकमाहेत्यादि । तथा च यदि सगुणः स्याद् स्वतन्त्रो न स्यात् । स्वतन्त्रो न स्यात् कर्ता न स्यात् । कर्ता न स्याद् गुणेषूच्चावचता पौर्वापर्ययोः सम्पत्तिः सकर्तृका न स्यात् । सकर्तृका न स्यात् स्वाभाविकी स्यात् । सा चेत् स्वाभाविकी स्यात् । तथा श्रूयेत । यदि श्रूयेत कपिलेन व्यासेन च स्वस्वदर्शने श्रुतिरुदाह्रियेत । यतो नैवमतो नैवमित्येवंरूपास्ते ज्ञेयाः । तदिदमुक्तं, कर्ता स्वतन्त्र एव स्यात् सगुणत्वे विरुद्ध्यत इति ॥ ७७ ॥

केचिदत्रेत्यत्र, श्रुतेत्यादि । श्रुत्या वेदेन अभिधया मुख्यया वृत्त्या योऽर्थः प्रतिपाद्यते प्रकरणानुरोधेन उपक्रमोपसंहारयोस्तात्पर्यनिर्णायकत्वेन शक्तिदार्ढ्ये हेतुत्वात् तदनुरोधेन स एव श्रुत्यर्थः श्रुत्यभिप्रेतोऽर्थ इत्यर्थः । स श्रौतोऽर्थः को वेत्याकाङ्क्षायां शुद्धं ब्रह्मैव जगत्कारणमित्येवंरूपः स इत्याशयेनाहुः तत्रेत्यादि, निर्णीत इत्यन्तम् । अत्र प्रथमं छान्दोग्यवाक्यम् । तत्र, "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि"त्यनेन व्याकृतनामरूपस्य परिदृश्यमानस्य जगत उत्पत्तेः पूर्वम् अव्याकृतकेवलसदात्मकत्वमवधारयित्वा अग्रपदेन कालस्याप्युक्तत्वात् तस्यापि सत्ता पृथक्तया भविष्यतीतिशङ्काव्युदासाय, "एकमेवे"त्यनेनान्ययोगव्यवच्छेदपूर्वकं केवलस्य सत एव स्थितिं प्रदर्श्य, एकशब्दस्य मुख्यार्थकत्वमप्यस्तीति कालापेक्षया मुख्यत्वम् अन्यत्वञ्च सतः सम्भाव्यते इति तन्निरासायाऽद्वितीयपदेनैकशब्दार्थं विविच्य, असतः सत्तापादकं वैनाशिकादिमतमनूद्य,"कथमसतः सज्जायेते"त्यनेन तदपाकृत्य,"तदैक्षते"त्यादिना कैवल्यावगमाच्च शुद्धत्वं,निमित्तोपादानयोरैक्यं च स्फुटति। द्वितीयं त्वैतरेयवाक्यम् "तत्राप्यात्मा वा" इत्युपक्रम्यैकस्मादात्मन एवेक्षापूर्वकमम्भआदिक्रमेण लोकलोकपालादिसृष्टिरुक्ता । तेन तत्रापि केवलादात्मन एव सृष्टिः पूर्ववत् फलति । अग्रिमं द्वयं तैत्तिरीयवाक्यम् । तत्र प्रथमे, "ब्रह्मविदाप्नोती"ति ब्रह्म प्रकृत्य, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति तस्य लक्षणमुक्त्वा तस्यात्मत्वं वदँस्तत आकाशादिक्रमेण सृष्टिमाह, "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति। अग्रे च, "सोऽकामयते"ति, "तदात्मान२ स्वयमकुरुते"त्यत्र तच्छब्देन तदेव परामृश्यते । अतोऽत्रापि, सत्यं ज्ञानेतिलक्षणकादेव सृष्टिः फलति, न त्वतो विलक्षणात् । द्वितीये

परं", "भृगुर्वै वारुणिरि"त्यादिब्रह्मप्रकरणेषु निःसन्दिग्धेषु, ब्रह्मण एव केवलस्य जगत्कारणत्वं प्रतिपादितम्। तत्सामान्यादितरेष्वपि सन्दिग्धेषु व्यासैः सूत्रेषु तथैवार्थो निर्णीतः। तदुभयं बाधित्वा वाक्याभासं युक्त्याभासं च पुरस्कृत्य ब्रह्मणो जगत्कारणतां दूषयन्ति। परो हरिः पुरुषोत्तमः, परब्रह्मेति यावत्॥ ७८॥

तर्हि किं कारणमित्याकाङ्क्षायामाह—

अनाद्यविद्यया बद्धं ब्रह्म तत् किल कारणम्।
स्वाविद्यया संसरति मुक्तिः कल्पितवाक्यतः॥ ७९॥

अनाद्यविद्ययेति। अनादिरविद्या अहमज्ञ इत्यनुभवसिद्धा भावरूपा। तेन बद्धं चैतन्यं तदध्यासादेतादृशं जगत्कारणम्, कार्यानुरूपस्यैव कारणस्य युक्तत्वात्। कार्यं

आवरणभङ्गः।

तु भृगुणा, "ब्रह्माधीही"त्युक्तो वरुणो "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ती"ति ब्रह्मलक्षणं, तज्ज्ञानाय तपोरूपं साधनं चोपदिदेश। तेन भृगुरपि तपः कुर्वन् क्रमेण "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादि"ति तदनूद्य,"सैषा भार्गवी वारुणी विद्ये"ति विद्योपसंहृता। अतोऽत्र शबलस्यानुक्तत्वान्निःसन्दिग्धेष्वित्यर्थः। **तत्सामान्यादिति।** यथा तेषु कारणत्वमुत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तृत्वादिना प्रतिपादितं, तथा वाक्यान्तरेष्वपि प्रतिपादितमिति तत्सामान्याद्, इतरेषु "अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्तीति" "कतमा सा देवता प्राण इति होवाचे"त्यादिष्वाकाशप्राणादिपदश्रवणात् सन्दिग्धेषु वाक्येषु, व्यासैः सूत्रेषु "आकाशस्तल्लिङ्गाद्, अत एव प्राण" इत्यादिषु तथैवार्थो निर्णीतः। लौकिकरूढिरप्रयोजिका। आकाशादिपदानां मुख्यवृत्त्या भगवानेव वाच्यः। व्योमाऽऽस्वादयस्तु प्रतिनियततावन्मात्रकार्यकरणेन भगवदनुकारित्वाच्छक्तिसङ्कोचे व्यवहारार्थं भगवता कृते नामरूपे च व्याकृते वाच्या भगवन्तीति प्राणादिवाक्येष्वपि ब्रह्मैव कारणत्वेन उच्यत इति निर्णीत इत्यर्थः। **तदुभयमिति।** निःसन्दिग्धश्रुतिः सूत्रं चेति द्वयम्। यादृशं कारणत्वं दूषयन्ति तद् ब्रह्म विशिषन्ति **परो हरिरिति॥ ७८॥**

आहेति। मायावादिमतमनुवदतीत्यर्थः। **तेनेति** भावरूपाज्ञानेन, यद्यविद्या सादिः स्यात् सकारणा स्यात्, तदा अन्यस्मिन् कारणे सादावनादौ वाङ्गीकृतेऽनवस्था प्रसिद्धिविरोधश्चेत्यतोऽविद्यैवानादिः। सा चाज्ञानरूपा। तत्र मानमहमज्ञ इत्यनुभवः। अन्यथा श्रौते दर्शने चिद्रूपत्वेन सिद्धोऽयं शारीरो यत् स्वाज्ञानमनुभवति तन्न स्यात्। सा च भावरूपा बन्धकत्वात्। तस्यामहमित्यभिमानरूपादध्यासात् तेन भावरूपाज्ञानेन बद्धं यच्चैतन्यं तदेतादृशं साकारं सज्जगत्कारणम्। अविद्या मायेति पर्यायः। केचित्तु शुद्धसत्त्वप्रधाना माया, मलिनसत्त्वप्रधाना त्वविद्येत्याहुः। उभयथाप्यज्ञानरूपतां नातिवर्तते। अतो द्वयमेकीकृत्याविद्यापदेन आचार्यैरनूदितम्। यत् पुरस्कृत्य तैरेवमुच्यते तं युक्त्याभासं सङ्क्षेपेणाहुः **कार्यानुरूपेत्यादिना। तुच्छनिष्ठम्।** तुच्छा कदर्या निष्ठा अन्तो निष्पत्तिर्वा यस्य। "निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ता" इत्यमरः। **तथायुक्तेनेति।**

तु जगज्जडात्मकं हेयं तुच्छनिष्ठम् । अतः कारणेनापि तथायुक्तेन भाव्यमिति युक्त्याभासः । वस्तुतस्तु, "सत्यं चानृतं च सत्यमभवदि"ति, "स आत्मानᳬ स्वयमकुरुते"ति "प्रजायेये"त्यादिवाक्यैः स्वतःप्रमाणभूतैर्निःसन्दिग्धं प्रतिपाद्यते कार्यरूपस्य जगतो ब्रह्मत्वम् । कुत्सितत्वं न क्वचिदपि ब्रह्मविदां हृदये भासते ।

आवरणभङ्गः ।

जडेन हेयेन तुच्छनिष्ठेनेत्यर्थः । एवं तद्युक्तिमनूद्य तस्याभासतां साधयन्ति वस्तुत इत्यादि । वैयासे हि दर्शने श्रुतिरेव मुख्यं प्रमाणं न युक्तिः । श्रुतिषु तु यथा, "सदेव सोम्ये"त्यादिभिः कारणत्वं ब्रह्मण उक्तं, तथा, "सत्यं चानृतं चे"त्यादिभिः कार्यस्यापि ब्रह्मत्वमुच्यते। अतः पूर्वोक्ता युक्तिः श्रुतिविरुद्धत्वादाभासरूपैवेति न तया कारणसगुणत्वसिद्धिरित्यर्थः । अत्र प्रथमवाक्ये, "सोऽकामयत", "बहु स्यां प्रजायेयेती"त्यादिना सत्यज्ञानादिलक्षणो य आकाशादिसृष्टिकर्ता स, उक्तरूपाभिध्यालक्षणं कामं, ततो, "यस्य ज्ञानमयं तप" इतिश्रुत्यन्तरोक्तं जगद्विषयालोचनरूपज्ञानात्मकं तपः कृतवानित्युक्त्वा, ततः सर्वसृष्टिं तदनुप्रवेशं चोक्त्वा, ततोऽनुप्रवेशहेतुकं सत्पदाद्यनृतान्तं भवनं तस्यैवोच्यते। अनुप्रवेशश्चायं तन्तुपटन्यायेनैव सत्यरूपेण। सत्यमभवत्, "यदिदं किञ्च तत् सत्यमित्याचक्षत" इत्युपसंहारात् । यस्मिन्नाकाश "ओतश्च प्रोतश्चे"ति श्रुत्यन्तराच्च। "यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु । प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्" इति भवगद्वाक्यात् । "ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पट" इति स्मृत्यन्तराच्च । न तु जीवरूपेण । अनुक्तत्वात् । नामरूपव्याकरणात्मकार्यस्यात्रानुक्तत्वात् । तथाङ्गीकारेऽपि कार्यस्य सत्यत्वाबाधात् । अन्यथा 'सत्यमभवदि'ति सत्यपदवैयर्थ्यापातात् । अनुप्रविश्य "सत्यं चानृतं चाऽभवदि"त्येतावतैव चारितार्थ्यात् । अतोऽत्र वाक्ये निःसन्दिग्धत्वम् । एवं द्वितीयवाक्ये आत्मनः कर्मत्वकरणात् तथात्वम् । तृतीयं तु कार्यदशायामुच्चनीचतादर्शनेऽपि दोषाभावबोधनार्थम् । अन्यथा, जायेयेत्यभिध्यानेऽपि बहुभवनोपपत्तौ प्रकर्षस्यापार्थकत्वप्रसङ्गात् । उच्चनीचभावातिरिक्तस्य प्रकृतोपयोगिप्रकर्षस्याशक्यवचनत्वात् । "गर्दभीतराऽभवद् गर्दभ इतर" इत्यादिश्रुत्यन्तरे तस्य दर्शनाच्च । स्वतःप्रमाणभूतैरिति । लोकानधिगतार्थगन्तृत्वेन लौकिकप्रमाणानपेक्षत्वात् तथाभूतैरित्यर्थः । स्वतःप्रमाणत्वन्तु पूर्वमुपपादितं, "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानी"त्यत्र । ननु कार्यस्य जगतो हेयतुच्छनिष्ठादिरूपतया कुत्सितत्वदर्शनाद् ब्रह्मणि च तदभावाद् ब्रह्मत्वबोधिका श्रुतिरुपचरितार्थेत्याशङ्कायामाहुः कुत्सितत्वमित्यादि । क्वचिदपीति । लोके कुत्सितत्वेन प्रतीयमानेऽपीत्यर्थः । ब्रह्मविदामिति निरस्ताविद्यानाम् । तथाचैकादशे, "गुणदोषभिदा दृष्टिर्निगमात्तेन हि स्वतः । निगमेनाऽपवादश्च भिदाया इति मे भ्रम" इत्युद्धवप्रश्ने, "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता" इत्यादिना श्रुतितात्पर्यं वदता भगवता, "शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु । द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ । धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमपि चानघ । दर्शितोऽयं समाचारो धर्ममुद्वहतां धुरम्" इति, "वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि । धातुषूद्धव कल्प्यन्त एतेषां स्वार्थसिद्धये" इत्यादिना कर्मादिनियमार्थं गुणदोषभावस्य कल्पितत्वमुक्त्वाऽध्यायसमाप्तौ,

यथा स्वाङ्गे पुरुषस्य पृथग्भान एव तथा प्रतीतेः । अन्यथा बीजादीनां ब्रह्मत्वकथनं मलदृष्टान्तेन बाधितं स्यात् । तथा सति सर्वसन्मार्गनाशः ।

टिप्पणी ।

अन्यथेति । कुत्सितत्वभाने प्रपञ्चस्य मलदृष्टान्तेन बीजादीनां ब्रह्मत्वकथनं बाधितं स्यादित्यर्थः । तथा सतीति । कार्यकारणयोस्तुच्छत्वे सतीत्यर्थः ।

आवरणभङ्गः ।

"मां विधत्ते विचष्टे मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् । एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् । मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति" इत्यन्तेन गुणदोषयोर्भेदस्य च कल्पितत्वमुक्तम् । तेन सर्वस्य ब्रह्मत्वेन "समानत्वमभेदश्च श्रुतितात्पर्यगोचर" इति तज्जानतां शब्दब्रह्मपरब्रह्मविदां न कापि कुत्सितत्वप्रतीतिः । साऽविद्यानां प्रतीतिस्त्वऽविद्याकृतेति न प्रपञ्चे वास्तविककुत्सितत्वसम्पादने शक्ता, सकामलस्य प्रतीतिरिव शङ्खपदौ वास्तवपीतिमसम्पादने । एवं शास्त्रार्थमुपपाद्य कैमुतिकरूपं लौकिकं दृष्टान्तमप्याहुः यथेत्यादि । तथाच्च यत्राविद्वद्दशायामप्यात्माभेदप्रतीतौ न कुत्सितत्वभानं, तत्र विद्वद्दशायां कः सन्देह इत्यर्थः । ननु स्वाङ्गेऽपि पाय्वादौ, रोगादिनाऽन्यत्रापि कदाचित् कुत्सितत्वं भासत एवेत्यभेदप्रतीतौ कुत्सितत्वाप्रतीतिर्न लोके नियता तथा ब्रह्मविदामपि भविष्यतीति चेत् तत्राहुः पृथगिति । ममताया विद्यमानत्वेन तदानीमात्मबुद्धितिरोधाने पृथग्भानमेव तदेति तेन कुत्सितत्वमतो नायं दोष इत्यर्थः । ननु भवत्वेवं तथापि ब्रह्मविदां हृदि कार्यरूपस्याप्यभेद एव भासते, न कुत्सितत्वमित्यत्र किं मानमत आहुः अन्यथेत्यादि । यदि कुत्सितत्वं स्यात् तेषां भासेत वा तदा छान्दोग्यश्रुतौ "तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमि"त्येतेनान्नजानां भूतानां त्रिविधबीजान्युक्त्वा तेषां ब्रह्मत्वज्ञापनाय, "सेयं देवते"त्यादिना नामादिव्याकरणत्रिवृत्करणादिभिरशितान्नादीनां त्रिधाभावादिकमुक्त्वा योऽयमणिमा बीजभूतसद्रूपस्तं ज्ञापयिष्यन् पञ्चमे पर्याये, "न्यग्रोधफलमाहरे"त्यादिना तं निदर्शयन्, "यं वै सौम्यैतमणिमानं न निभालयसे एतस्य वै सौम्येषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सौम्ये"त्यन्तेनोद्भिज्जबीजभूतं सदुक्त्वा, "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्व"मित्यादिना यद् ब्रह्मत्वकथनमारुणेराचार्यस्य तन्मलदृष्टान्तेन बाधितं स्यात् । न्यग्रोधबीजस्येवाण्डजजीवबीजस्याप्यन्नमयत्वेन पुरीषतुल्यतायाः शक्यवचनत्वादित्यर्थः । "बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्" इति च । न च गीतावचनं न बीजस्य ब्रह्मत्वबोधकम् । एकादशस्कन्धे विभूतीरुक्त्वा भगवता, "मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते" इति कथनाद् गीतोक्तविभूतिष्वपि तुल्यत्वेन मनोविकारत्वस्य शक्यवचनत्वात् । सिद्धे चैवं मनोविकारत्वे दूरापास्तं कार्यस्य ब्रह्मत्वमिति वाच्यम् । अनवबोधात् । "यथा वाचाभिधीयत" इति दृष्टान्तेन, "अनृतं वै वाचा वदति अनृतं मनसा ध्यायती"ति श्रुत्यन्तरोक्तानृतरूपताबोधनादनृतस्य च "सत्यं चानृतं च सत्यमभवदि"ति पूर्वोक्तश्रुत्या ब्रह्मरूपताबोधनेन कार्यस्य मनोविकारत्वेऽपि ब्रह्मरूपतानपायादिति । अथ ग्रहिलतया बाधिते ब्रह्मत्वे दूषणान्तरमाहुः तथा सति सर्वसन्मार्गनाश इति । कार्यकारणयोस्तुच्छत्वे सति ज्ञानो-

तथा वाक्याभासाः । "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते", "अनृतापिधाना" "वाचारम्भणं विकारः", "मायां तु प्रकृतिं विद्यादि"त्यादयः । एतेषां पदार्थप्राया माया वाक्यविरोधेन न वाक्यार्थे सङ्गच्छते । तथाच यथायथं माया-

---

टिप्पणी ।

एतेषामिति । प्रपञ्चसत्यत्वबोधकवाक्यविरोधेन मायापदं पदान्तरैः सह मिथ्यात्वं न बोधयतीत्यर्थः ।

आवरणभङ्गः ।

पयोगिदेहसम्पादनार्थं पञ्चाग्निविद्या, ज्ञानसाधका, विविदिषन्तीति श्रुत्युक्ता यज्ञादयः, स्मृत्युक्ताः पावना यज्ञादयश्च मलदृष्टान्तेन बाधिते ब्रह्मत्वे नश्येयुरित्यर्थः । वाक्याभासानुदाहरन्ति तथेत्यादि । इत्यादय इत्यत्रादिपदाद्, "अनृतं वै वाचा वदति अनृतं मनसा ध्यायति, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते, अतोऽन्यदार्तम्" "एवमेवैषा स्वाव्यतिरिक्तानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती"त्यादयो ज्ञेयाः । कथमेषां वाक्याभासत्वमित्याकाङ्क्षायामुपपत्तिमाहुः एतेषामित्यादि । एतेषामुक्तविधवाक्यानां मध्ये, पदार्थप्राया माया, "स्यान्माया शाम्बरी क्रिया", "दम्भो बुद्धिश्चे"त्यनेकार्थकोशेऽर्थान्तरस्याप्युक्तत्वेन सन्दिग्धत्वान्मायावादिविवक्षितोऽर्थ ईषदूनः पदार्थो, न तु श्रुतिविवक्षितः पदार्थः । तत्र गमकं, वाक्येत्यादि । तथाच यदि स विवक्षितः स्याद् वाक्येन न विरुद्ध्येत, तदर्थेन च सङ्गच्छेत । यतो नैवमतस्तथेति भावः । विरोधः कथमिति चेद् उच्यते । अत्र हि प्रथमं वाक्यं मायाभिः पुरुरूपदर्शनं वक्ति, न तु तया तथा भवनम् । तया तथा भवने विवक्षिते "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय" इति ऋक्पूर्वार्धे एव माययेति वदेत् । न च मायापुरुरूपपदयोः समभिव्याहारबलात् तथार्थो लभ्यत इति वाच्यम् । एतस्य पूर्वोक्तानुवादत्वेन पुरोवादवैलक्षण्यस्याशक्यवचनत्वात् । न च तदर्थनिश्चायनाऽर्थमेवात्र समभिव्याहार इति वाच्यम् । विनिगमकाभावात् । किञ्च, इदं हि वाक्यं मधुब्राह्मणस्थम् । तत्र च, मैत्रेयीब्राह्मणप्रतिपादितस्यात्मनः पृथिव्यादिषु विद्यमानत्वममृतब्रह्मसर्वात्मकत्वञ्चोपक्रमे प्रतिपाद्य तद्द्रष्टा ऋषिर्मन्त्रः पुरां करणं पक्षिरूपेण तासु प्रवेशं चोक्त्वा सर्वस्य तत्संवृतत्वमुवाद । तेन प्राप्ते भेदे पूर्वप्रतिपादितसर्वरूपत्वहानिमालोक्य तन्निरासेन सर्वरूपत्वसमर्थनाय, 'रूपं रूपमि'ति मन्त्रः पठ्यते । "अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि चे"त्यनेन विव्रियते च । ततो यस्यैवं हर्यादिरूपता अत्रोक्त्वा, ब्राह्मणोपक्रमे चाऽमृतब्रह्मसर्वरूपतोक्ता, तस्यैव, तदेतद् "ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमि"त्यनेन स्वरूपमुक्त्वा, "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनमि"त्युपसंहृतम् । तत्रोपक्रमोपसंहाराभ्यां ब्रह्मणः सर्वरूपता मायां विनैव बोधिता । मन्त्रव्याख्याने च तथैव । हर्यादिरूपतेति । आत्मन एव च सर्वरूपताऽभ्यस्तेति सर्वानुभूरित्युपपत्त्या च मायावादाभिमता माया वाक्येन विरुद्ध्यत इति तथा । तुरीये तु श्वेताश्वतरीये मायायाः प्रकृतित्वं बोध्यते । तस्याश्च सत्यत्वमेकादशस्कन्ध उक्तम् "प्रकृतिर्ह्यस्योपादान-

शब्देन क्वचिदिन्द्रियवृत्तिः। क्वचित् प्रथमं कार्यं सूक्ष्मम्। अनृतशब्देन देहेन्द्रियादिकं "सत्यं चानृतं च सत्यमभवदि"ति ब्रह्मण एव देहेन्द्रियादिरूपत्वमात्मरूपत्वं च। न त्वत्र स्वप्नादिदृष्टान्तेन मिथ्यात्वं वक्तुं शक्यते। बाधश्रवणाच्च। "मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकता", "मायेत्यसुराः", "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरमि"त्यादिवाक्यैः। साधकानि च सहस्रशो वाक्यानि सन्ति। "स भूतभव्यमि"ति, "हरिरेव जगदि"त्यादीनि। अतो बाधितोऽप्यविद्यावादः केषाञ्चिद्धृदये शमादिरहितानां चित्तदोषेण जगद् दुष्ट-

---

टिप्पणी।

बाधेति। अग्रिमवाक्यैर्मायावादस्यासुरकल्पितमतत्वेन हेतुश्रवणादित्यर्थः॥ ७९॥

आवरणभङ्गः।

माधारः पुरुषः परः। सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तन्त्रितयं त्वहम्" इति भगवता स्वाभिन्नत्वकथनात्। प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाधिकरणात्, "पुरुषं ब्रह्मयोनि"मिति श्रुत्यन्तरान्मायित्वस्य मायामिथ्यात्वे व्याकोपाच्च वाक्येन विरुद्ध्यत इति तथा। द्वितीयं तु छान्दोग्ये दहरविदः कामानुपक्रम्य पठितम् "त एते सत्याः कामा अनृतापिधाना" इत्यादि। तृतीयं श्वेतकेतुविद्यायाम् "तदत्रैवाग्रे विवरिष्यत" इति तत्रापि तथोक्तौ तथा। तथाचासुराणां भ्रमात् तथा बोधमात्रं, न तु तत्र मायादिशब्दार्थो मिथ्यात्वमिति प्रपञ्चमिथ्यात्वसगुणकर्तृत्वादिकं न वाक्यार्थ इति तदादयो वाक्याभासा एवेत्यर्थः। तर्हि तत्र को वा पदार्थः कश्च वाक्यार्थ इति चेत् तत्राहुः तथा-चेत्यादि। **क्वचिदिति** एवञ्जातीये वाक्यान्तरे इन्द्रियवृत्तिरिति। "स्यान्माया शाम्बरी क्रिया" "दम्भो बुद्धिश्चे"ति कोशे, वैदिकनिघण्टौ च, "माया वयुनमभिख्ये"ति प्रज्ञानामगणनायां बुद्धिवाचकत्वेन मायाशब्दस्योक्तत्वाद् बुद्धेश्च तत्तदिन्द्रियजन्यत्वेन नानात्वात् प्रकृतेऽपि मायाशब्दस्य बहुवचनान्तत्वेन सैवोच्यते। अत एवञ्जातीयेषु मायाया जीवसम्बद्धताबोधकवाक्येष्विन्द्रियजन्या बुद्धिवृत्तिरेव मायापदाभिधेया। द्वितीयवाक्यजातीयेष्वर्थान्तरमाहुः **प्रथमं कार्यमिति।** वाक्ये प्रकृतिपदसमभिव्याहारात् प्रकृतेश्च, तन्मायाफलरूपेणेत्येकादशस्कन्धीयवाक्यसन्दर्भे ब्रह्मकार्यताबोधनात् तथेत्यर्थः। एवमेव, "माया चाविद्या चे"त्यादावपि ज्ञेयम्। वाक्यार्थस्तूपनिषद्व्याख्याने मया विवेचित इति नेहोच्यते। मायापदस्यानेकार्थत्वमेकादशसुबोधिन्यां, "यथैतामैश्वरीं मायामि"ति श्लोके प्रपञ्चितमाचार्यचरणैरिति विशिष्य ततो ज्ञेयम्। तृतीयं विवेक्तुमाहुः **अनृतेत्यादि।** तत्र गमकमाहुः **सत्यमित्यादि।** श्रुतौ स्वस्यैव बहुभवनमुपक्रम्यास्य पठनात्, "सत्यमभवदि"त्युपसंहाराच्चानृतशब्दो न मिथ्यावचनो वक्तुं शक्यः। द्वैरूप्यकथनप्रस्तावाच्च वैलक्षण्यमप्यवश्यं वाच्यमेवात एवमुच्यते। एवमनृतपदार्थे निश्चिते अनृतापिधानवाक्यमप्येतत्परमेव सिद्ध्यति। खपुष्पवन्मिथ्याभूतेनापिधानासम्भवात्। शुक्तिरजतादावपि बुद्धेः सत्या एव तेन रूपेण ख्यापनात् पिधानाविरोधादिति दिक्। एतेनै"वानृतं वै वाचे"त्यादि व्याख्यातप्रायम्। एवमेव, "नेदं यदिदमुपासत" इत्यत्रापि नेदमित्यनेन प्रेर्यस्य वेदनकर्मत्वमेवापरत्वान्निषिद्ध्यते, न तु ब्रह्मत्वमपि। तथात्वे

मिति पश्यतां प्रतिभातीत्याह किलेति। तन्मते बन्धमोक्षौ निरूपयति स्वाविद्ययेति। चैतन्यमात्रनिष्ठया जलावरणमलरूपया आत्मानं बहिर्मुखः संसारिणं मन्यते। तस्य च मोक्षः। तेनैव विद्यावत्त्वेनैव कल्पितगुरोरुपदेशवाक्यादिति ॥ ७९ ॥

नन्वेवमेवास्तु शास्त्रार्थः। को दोष ? इति चेत् तत्राह—

एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम्।
उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः।
कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतस्तमः ॥ ८० ॥

एवं प्रतारणाशास्त्रमिति। यथा प्राणिनो भगवद्विमुखा भवन्ति तथोपायो रचितः।

आवरणभङ्गः।

पुनरिदङ्कारं न ब्रूयात्। नेदं यदुपासत इत्येतावतैव चारितार्थ्यात्। अत एवं नार्थः, किन्तु मनआदिप्रेरयितुर्ब्रह्मणो, "यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यत" इत्यादिभिस्तस्य वागाद्यगम्यत्वरूपं स्वरूपं कार्यं चोक्त्वा तद्भेदनं विदधानः प्रेर्यरूपेण वेद्यत्वं प्रतिषिद्ध्य तदुपास्यत्वरूपेण, वैदिकोपास्यत्वरूपेण वा वेद्यत्वं तस्याह। वागादीनामुपासकत्वञ्च तत्त्वस्तुतौ तृतीयस्कन्धे प्रसिद्धमतो नानेनापि निर्वाहः। एवमतोऽन्यदार्तमित्यत्रापीश्वरात्मनोऽतिरिक्तस्य रूपस्य जीवजडाद्यात्मकस्य दुःखित्वमुच्यते, न तु मिथ्यात्वम्। ब्रह्माभेदस्य श्रुत्यन्तरसिद्धत्वात्। दुःखञ्चानन्दतिरोभाव एव। सोऽपि भगवच्छक्त्यात्मक इति न दोषलेश इति दिक्। ननु, "स्वप्नमाये यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैरि"ति गौडवार्तिकात् तथैव कुतो नाङ्गीक्रियत इति चेत् तत्राहुः न त्वित्यादि। एतेषु वाक्येपूक्तदृष्टान्तानुक्तेस्तथेत्यर्थः। हेत्वन्तरमाहुः बाधेत्यादि। एवं बाधकसाधकान्युक्त्वा अविद्यावादप्रवृत्तौ बीजमाहुः अत इत्यादि। तथाच समाधिरहितेष्वेव प्रसिद्धोऽयं वाद इत्यर्थः। न च गौडाचार्यसमाधिसिद्धत्वान्नैवमिति वाच्यम्। तस्य पूर्णयोगित्वे मानाभावात्। भगवतश्चापूर्णयोगिनामगम्यत्वात्। "विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्" इति वाक्यात्। अपूर्णयोगित्वे व्यासोक्तिविरोधादेरेव गमकत्वात्। "तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ् निर्विकल्पक" इत्यादिभि"र्भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले" इत्यादिभिः शुकव्यासादीनामेव तथात्वात्। तदेतद् हृदिकृत्योक्तं, किलेति। एवं प्रपञ्चतत्कारणयोः स्वरूपमेकदेशिमतीयं दूषयित्वा तन्मतीयबन्धमोक्षावुपहसितुमुपक्षिपन्ति तन्मते इत्यादि। तत्र बन्धस्वरूपमाहुः चैतन्येत्यादि। स बन्ध इति शेषः। ते हि जीवब्रह्मणोरंशांशिभावममन्वाना ब्रह्मणो निष्कलत्वेऽपि घटादिभिराकाशस्येव जलावरणमलेन जलस्येव ब्रह्मणः प्रदेशविशेषावच्छेदेन नानात्वप्रतीतौ बाहिर्मुख्येण ब्रह्मप्रदेशस्य यः स्वस्मिन् संसारित्वावगमः स बन्ध इत्याहुरित्यर्थः। मोक्षस्वरूपं सहेतुकमाहुः तस्य च मोक्ष इति। तस्य संसारिणो मूलाज्ञानतत्कार्ययोर्निवृत्तिर्मोक्षः। तत्र हेतुः, तेनैवेत्यादि। मूलाज्ञानेनैव तथाच विस्मृतकण्ठमणिस्मरणन्यायेन गुरूपदेशादात्मस्वरूपे ज्ञाते, अज्ञानस्य तत्कार्यस्य च निवृत्तिर्मोक्ष इत्याहुरित्यर्थः ॥ ७९ ॥

नन्वेवमेवास्त्विति। यथाकथञ्चिन्मोक्षस्य साधनीयत्वात्। "अनाद्यविद्यये"ति पद्योदितमाया-

न त्वत्र किञ्चिज्ज्ञातव्यमस्ति । तत्र हेतुमाह सर्वमाहात्म्यनाशकमिति । यद्धि सर्वोपास्यं तस्य माहात्म्यं नाशयति । सर्वेश्वरः सर्वकर्ता सर्वकारणरूप इत्यादिरूपम् । तर्ह्येतन्मतं सर्वं लिखित्वा दूषणीयमिति चेन्नेत्याह उपेक्ष्यमिति । असद्भावनया स्वस्यापि बुद्धिनाशः स्यात् । अतस्तत्रोपेक्षैव कर्तव्या सुतरां भगवद्भक्तैः, भक्तिमार्गे विरोधात् । दूषणमाह श्रुतिस्मृतिविरोधत इति । "स्वप्रकरणपठितै"रानन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त" इति, "अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे"ति वाक्यसहस्रैर्मायावादो विरुध्यते । सर्वेषामादरान्यथानुपपत्तिं परिहरति कलौ तदादरो मुख्य इति । तत्रापि हेतुः, फलं वैमुख्यत इति ॥ भगवद्वैमुख्यात् तमो भावि ॥ ८० ॥

ननु स्वात्मज्ञानान्मोक्षः सिद्ध्यत्विति प्रपञ्चनिवृत्त्यर्थं प्रपञ्चस्याज्ञानकार्यत्वमुच्यते यतो

टिप्पणी ।

स्वप्रकरणपठितैः । ब्रह्मप्रकरणपठितैरित्यर्थः । तत्रापीति । आदरे तमस्यपि वैमुख्यमेव हेतुः ॥ ८० ॥

आवरणभङ्गः ।

वादिमतरीतिक एवास्त्वित्यर्थः । एवमित्यत्र, नन्वत्रेत्यादिकं प्रतारणास्वरूपसाम्यविवेचकम् । यद्धीत्यारभ्य शेषं स्फुटम् । भक्तिमार्गविरोधादिति । "ईश्वरे तदधीने च" इति वाक्ये तदुपेक्षाया एवोक्तत्वात् तदकरणे भक्तिमार्गविरोधादित्यर्थः । दूषणमाहेति । प्रतारणाशास्त्रत्वं वक्तुं पूर्वं व्याख्यातमेव दूषणमिदानीं मूले कण्ठत आहेत्यर्थः । तदेव स्फुटीकुर्वन्ति स्वप्रकरणेत्यादिना । "आनन्दाद्ध्येवे"त्यादिपूपक्रमोपसंहाराभ्यामानन्दादिपदश्रवणाच्च । "सैषा भार्गवी वारुणी विद्ये"त्यादिना तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिबोधनान्मायावाचकपदाभावाच्च ब्रह्मप्रकरणे पठितैस्तैर्वाक्यै"र्जगदुपादानं शबलं माया वे"ति वादो विरुद्ध्यत इत्यर्थः । न चोपादानत्वे विकृतत्वापत्त्या तथा नाद्रियत इति वाच्यम् । सुवर्णादिवदविकृतपरिणामस्य श्रुत्यनुरोधेनाङ्गीकार्यत्वात् । श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति सूत्रात् । अन्यथा अभिन्ननिमित्तोपादानवादस्यापि दत्ततिलाञ्जलित्वापातादित्याद्यूह्यमित्यन्यत्र विस्तरः । ननु श्रुत्यादिविरुद्धत्वे लोकादरणीयता न स्यादित्यत आहुः सर्वेषामित्यादि । तदादर इति । मोहकादरः । तथाच कलौ वामागमाद्यादरदर्शनात् कलिनैवादरोपपत्तिरिति नैतावता श्रुत्यविरुद्धत्वसिद्धिरित्यर्थः । ननु, "कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम् । कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणा" इत्यादिवाक्यैः कलेर्न तदादरजनकत्वं युज्यत इत्यत आहुः तत्रापि हेतुरिति । कलेस्तदादरजनकत्वेऽपि भगवद्वैमुख्यमेव हेतुरित्यर्थः ॥ ८० ॥

तदेव कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः तमो भावीति । भगवदिच्छयेति शेषः । तथाच, "भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः", "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च", "एष उ एवाऽसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषती"त्यादिवाक्यैस्तमोदित्सायां जाते वैमुख्ये कलिरपि तत्रैवादरं जनयतीत्यर्थः । जगन्मायिकत्वे एकदेशिप्रतिपन्नं वीजान्तरं दूषयितुं ज्ञाननाश्यत्वेत्यर्थस्य तात्पर्यमाभासमुखेनोपक्षिपन्ति नन्वित्यादि । तथाचाभासोक्तरीत्या ज्ञाननाश्यत्वसिद्ध्यर्थं, "सदेव सोम्ये"त्यादि-

ज्ञानमज्ञानस्यैव नाशकमिति सकार्यामविद्यां विद्या नाशयत्विति जगतो मायिकत्वं प्रतिपाद्यत इति चेत् तत्राह—

ज्ञाननाश्यत्वसिद्ध्यर्थं यदेतद्भिर्निरूपितम् ।
तदन्यथैव संसिद्धं विद्याविद्यानिरूपणैः ॥ ८१ ॥

तदन्यथैव संसिद्धमिति[1] । न हि ब्रह्मविद्यायां प्रपञ्चविलयोऽपेक्ष्यते । तथा सति प्रलयवत् सर्वेषामनादरणीयता स्यात् । अतो विद्याविद्यानिरूपणैः साधनशास्त्रैरेवान्यथा सिद्धमिति न तदर्थं प्रपञ्चविलयो वक्तव्यः । "विद्यां चाविद्यां च"त्यादिश्रुतयोऽ-

टिप्पणी ।

तदन्यथैव संसिद्धमित्यत्र स्वात्मज्ञानान्मोक्षः सिद्ध्यत्विति प्रपञ्चनिवृत्त्यर्थं प्रपञ्चस्याज्ञानकार्यत्वमुच्यते, यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव सकार्यस्य नाशकमिति मतम्, तत्रोच्यते–तदित्यादिभाव इत्यन्तम् । तत्सर्वं प्रकारान्तरेण सिद्धम् । तथाहि–नहि मोक्षार्थं प्रपञ्चनिवृत्तिरपेक्षिता, किन्तु, संसारनिवृत्तिः; संसारस्याविद्याजनितत्वेनाविद्यानिरूपकैः शास्त्रैरविद्यां ज्ञात्वा तन्निवृत्त्यर्थं विद्यासाधननिरूपकैः शास्त्रैः साधनानि ज्ञात्वा तत्करणेन विद्यासम्पत्तौ मोक्षसिद्धेः "मां च योऽव्यभिचारेण" इति वाक्यादनन्यभक्त्यापि मोक्षसिद्धेर्नैतदन्यथानुपपत्त्यापि प्रपञ्चस्य मायिकत्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः । इदमेवोक्तं "ज्ञाननाश्यत्वे"ति श्लोकेन । विद्यां चेति । "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"इति माध्यन्दिनी श्रुतिः । एवमादयः प्रसिद्धा एवेति भावः । अविद्याऽत्र कर्म ॥ ८१ ॥

आवरणभङ्गः ।

श्रुत्युक्तस्य सतोऽविद्याख्यबीजसहितत्वमङ्गीकृत्य तज्जन्यस्य सकारणस्य जगतो ज्ञाननाश्यत्वाय यदेतज्जगतो मायिकत्वं प्रपञ्चलयेन मोचनं च विशेषेण नानायुक्त्युपन्यासेन निरूपितं प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । एवमाभासेऽनूद्य दूषयन्ति तदन्यथैव संसिद्धमिति । तत्–ज्ञानस्य सकार्याविद्यानाशकत्वं मोचनं च, अन्यथैव अविद्याया अहन्ताममतात्मकसंसारबीजत्वात् संसारस्याविद्यकत्वकथनेन सकारणस्य तस्यैव ज्ञाननाश्यत्वकथनेन च सम्यक् सिद्धम् । एवमेव शास्त्रार्थ इत्यत्र किं गमकमत आहुः विद्येत्यादि । विद्याऽविद्ययोर्नाशकनाश्यभावेन निरूपणं येषु साधनशास्त्रेषु तैः । तथाच विद्यानिरूपकेषु, "यो देवानां प्रत्यबुध्यत तथर्षीणामि"त्यादिषु सर्वभाव एवोच्यते, न तु विलय इति तथेत्यर्थः । एतदेव विशदयन्ति न हीत्यादिना । प्रलयवत् । षष्ठ्यर्थे वतिः । प्रलयस्येवेत्यर्थः । अन्यथा सिद्धमिति । ज्ञानं संसारनिवृत्तौ गृहीतकारणताकं, तदर्थं मोक्षार्थम् । तत्र प्रमाणमाहुः विद्यां चेत्यादि । श्रुतिस्त्वीशावास्याध्यायस्था "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति । अस्या अर्थः "विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये" इति वाक्यान्मोक्षबन्धप्रदे विद्याऽविद्ये "उभयं यस्तद् वेद ब्रह्माभिन्ने वेद सः" ह इति हर्षे, अविद्यया तमआदिनामकबन्धकपञ्चपर्वात्मकत्वेन

१ इदं प्रतीकं छ. पुस्तके नास्ति ।

त्रानुसन्धेयाः । हृदये स्वयं भासमानो भगवान् मोक्षं दास्यति, किं प्रपञ्चविलयेनेति भावः ॥ ८१ ॥

ननु पुराणेषु मायिकत्वं श्रूयते प्रपञ्चस्य, "विद्धि मायामनोमयं", "त्वय्युद्धवाश्रयती" त्यादिषु । ततो लाघवान्मायावाद एव बुद्धिसौकर्यादङ्गीकर्तव्य इत्याह—

टिप्पणी ।

विद्धि मायामनोमयमिति । पूर्वपक्ष्यभिप्रायेणेदमुक्तम् । वस्तुतः, प्रथमस्य व्यामोहविषयकत्वात् । "त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो मायान्तरापततिनाद्यापवर्गयोर्यत् । जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्युराद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेवमध्ये" इत्यनेनापि प्रपञ्चस्याद्यन्तयोर्ब्रह्मास्ति, तदेव मध्यसमयेऽप्यस्ति रज्जौ मालावत् प्रतीयमान आध्यात्मिकादिस्त्रिविधो विकारो देहादिस्तेषां जन्मादयो मध्ये प्रतीयमानत्वान्मायेति वदता ब्रह्मात्मकत्वमेव प्रतिपादितं प्रपञ्चस्येति नेदमपि प्रपञ्चमायिकत्वबोधकम् । यत्रापि मायिकत्वबोधकमस्ति तन्मतान्तरेण वैराग्यार्थमित्यर्थः ।

आवरणभङ्गः ।

ज्ञातया तया मृत्युमत्यन्तविस्मरणात्मकं तीर्त्वा तत्स्वरूपज्ञानेनात्मविस्मरणं, तिरस्कृत्य विद्यया भगवत्साक्षात्कारात्मिकया तया अमृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थः । यत्तु "विद्यां ज्ञानमविद्यां कर्म च यस्तदुभयं वेद सः, अविद्यया कर्मणा सह विद्यमानं मृत्युं तीर्त्वा विद्यया ज्ञानेन करणेन अमृतमश्नुत" इति व्याख्यानम् । तत्रापि कर्मण एव त्याज्यत्वमायातीति साधनशास्त्रेषु न प्रपञ्चविलयकथनम् । तेन मोक्षार्थं तदपेक्षाभावान्न कथमपि मायिकत्वं तस्य युक्तमित्यर्थः । एतदेव हृदिकृत्याहुः हृदय इत्यादि ॥ ८१ ॥

दूषणार्थं पुनर्मायावादमुत्थापयन्ति नन्वित्यादि । वचनद्वयं त्वेकादशस्कन्धीयमुद्धवं प्रति भगवतोक्तम् "यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः । नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्" इति सप्तमे । "त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत् । जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्युराद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये" इत्येकोनविंशे । लाघवादिति । ब्रह्मवादे ह्यद्वैतार्थं जगतो जगद्रूपेण पारमार्थिकसत्यतां नानायुक्तिश्रुतिसूत्रादिभिर्निराकृत्य तैस्तस्य ब्रह्मरूपेण पारमार्थिकसत्यता प्रतिपाद्या । तदा अद्वैतश्रुत्युपपत्तिः । मायावादे तु जगतः पारमार्थिकसत्यत्वनिराकरणमात्रेणेति लाघवम् । तस्मादित्यर्थः । **बुद्धिसौकर्यादिति** । "यो विद्याचतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः । न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः । इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति" इत्यादिवाक्यैः पुराणानुरोधेन श्रुतिर्व्याख्येयेत्येकं बुद्धिसौकर्यम् । जगतो जननादिषड्विकारवत्तयाऽसकलतयाऽस्मदादिदृश्यतया च ब्रह्मत्वस्याशक्यवचनत्वेन गौडवार्तिकस्थवैतथ्यादिप्रकरणोक्तरीत्या मायिकत्वस्य शक्यवचनत्वेन शीघ्रं बुद्धावारोहाच्चापरम् । तस्मादित्यर्थः । तदेतद् व्युत्पाद्यते । तथाहि, प्रपञ्चः सर्वोऽप्युत्पादविनाशशाली प्रत्यक्षादिना निश्चीयते । तत्रोत्पत्तिमाकस्मिकवादिनो वैनाशिकाः केचित् स्वत एवेत्याहुः । अपरे स्वभावादाहुः । अन्येऽलीकात् । इतरे हेतुं विनैवेति । तत्र सर्वत्र कार्यस्य

आवरणभङ्गः।

नियतावधिकत्वदर्शनं दूषणम्। स्वस्वभावालीकहेत्वभावानां सार्वदिकत्वान्मृदो घटस्तन्तुभ्यः पट इत्यादिनियमो न स्यादिति। किञ्च, स्वत उत्पत्तौ स्वस्य पूर्वं सत्त्वं वाच्यम्। तथा सत्युत्पत्तिरशक्यवचनैव। सिद्धस्योत्पत्त्ययोगात्। अनादित्वं च तस्य वाच्यम्। तथा सति हेतुफलभावो न युक्तः। सादितासम्पादकत्वेन स्वरूपप्रच्यावकत्वात्। प्रच्युते च स्वरूपे आद्यन्तरापेक्षायां स्वतो जननरूपसिद्धान्तहानेश्च। अत आकस्मिकवादो न युक्तिसहः। तथा वैशेषिकादिमतिपन्नो हेतुवादोऽपि। तथाहि, ते हि पूर्वमसत एव घटादेर्हेतुवशत उत्पत्तौ पश्चात् सत्तामाहुः। तत्र यदि घटादि पूर्वमसत्तदा प्रागभावदशायां खपुष्पतुल्यं तद् भवति। तथा सति घटादिरपि खपुष्पवन्नोत्पद्येत। उत्पद्यमानो वा सर्वत एवोत्पद्येत। वटबीजाद् रसालोऽप्युत्पद्येत। न च गोमयाद् वृश्चिकोत्पत्तिदर्शनाददोष इति वाच्यम्। अतिप्रसङ्गापत्तेः। पाषाणादावनुद्भूतगन्धादेरिव गोमयादौ वृश्चिकादेरनुद्भूतसत्ताया आवश्यकत्वात्। अन्यथा मयूरादेरप्युत्पत्त्यापत्तेः। न चोपादाननिष्ठस्य कार्यप्रागभावस्य नियामकत्वान्न दोष इति वाच्यम्। कारणावस्थातिरिक्तस्य तस्याशक्यवचनत्वात्। तत् सर्वनिर्णये प्रागभावखण्डन उपपादनीयम्। न च कार्यकारणभावस्यैव नियामकत्वमिति वाच्यम्। कार्यकारणभावस्य स्वरूपद्वयात्मकत्वेन कार्याभावे तत्सत्ताया एव दुर्निरूपत्वात्। अतिरिक्तत्वेऽपि कार्योत्पत्तिं विना तस्य दुर्ग्रहत्वेन तदुत्तरं च सत्कार्यवादस्यैव सुनिरूपत्वेन तस्यानादरणीयत्वात्। न चेश्वरेच्छैव नियामिकेति वाच्यम्। तस्या अपि नित्यत्वेन सर्वदोत्पत्तिप्रसङ्गात्। न चादृष्टमेव नियामकमिति वाच्यम्। आत्मवादे तस्यापि दूष्यत्वात्। किञ्च, उत्पत्तिर्नामाद्यक्षणसम्बन्धः। स च सम्बन्धत्वाद् द्विनिष्ठो वाच्यः। तत्राद्यक्षणे घटाभावाद् घटे सत्याद्यक्षणनाशात् स न शक्यवचनः। किञ्च, सोऽप्यनित्यत्वादुत्पद्यमानो वाच्यः। तस्याप्याद्यक्षणसम्बन्ध एवोत्पत्तिपदार्थ इत्यात्माश्रयः। अथ सोऽन्यश्चेदप्रामाणिकी तदाऽनवस्थेति न तयापि निर्वाहः। एवं नाशेऽपि नाशप्रतियोगित्वस्य निराधारत्वप्रसङ्गादिना विकल्पासहत्वमूह्यम्। अत आरम्भवादो न युक्तिसहः। तेनाऽर्धवैनाशिकाः सर्वे निरस्ताः। एवं परिणामवादस्यापि विकल्पासहत्वं बोध्यम्। स हि द्वेधा। मीमांसकप्रतिपन्नः प्रवाहानादित्वमादायैकः। प्रकृतिर्नित्या पुरुषसम्बन्धेन परिणमतीति साङ्ख्यसिद्धः सादित्वमादायापरः। तत्र नाद्यः। सत्कार्यवादानुरोधेन हेतौ कार्यस्य सत्ताया अवश्यमङ्गीकार्यत्वात् तथा सति पूर्वापरभावाभावेन कार्यकारणभावस्यानिर्वाच्यतया व्यवस्थाविरहप्रसङ्गात्। न च कार्यस्य सत्त्वेऽपि निमित्तवशाद् बहिर्भावे प्रतीतिविशेषमादाय कार्यस्य सादित्वे कार्यकारणभावस्य सुखेनोपपत्तिरिति नाऽव्यवस्थेति वाच्यम्। एकस्मात् फलादनेकबीजोत्पत्तौ तेभ्यश्चानेकफलोत्पत्तावेकस्मिन् फले तावतां बीजानां फलानां च सत्त्वात् तत्तत्फलत्वेन तत्तद्बीजत्वेन कार्यकारणभावे नियामकाभावात् क्रमासङ्गत्या एकस्यानेकतायाः सूक्ष्मस्य स्थूलतायाश्च निर्वक्तुमशक्यत्वेन तस्या दुरुपपादत्वात्। यदि च बीजफलयोर्हेतुहेतुमत्ता तदा तन्निर्वाहाय पूर्वापरभावोऽवश्यमभ्युपेयः। अन्यथा सव्येतरगोविषाणवद्धेतुहेतुमत्ता न स्यात्। अङ्गीकृते च पूर्वापरभावे फलपाकोत्तरं तत्र बीजदर्शनात्। फलत्वेन बीजत्वेन कार्यकारण-

आवरणभङ्गः।

भावनिश्चयो, न तु वीजत्वेन फलत्वेन। अतः कार्यकारणभावाप्रसिद्ध्या वीजावापोत्तरं भूयसाऽनेहसा फलसम्भवान्मध्ये सन्देहेन, क्वचिद् व्यभिचारदर्शनेन च फलार्थिना न वीजमुप्येत। यदि च व्यभिचारस्य काचित्कत्वाद् वीजावापस्य दर्शनाच्च वीजफलयोरपि हेतुहेतुमद्भावः प्रसिद्ध एवेत्यङ्गीक्रियते तदापि क्रमवैपरीत्यापत्तिरन्योन्याश्रयादनुत्पत्तिप्रसङ्गः। इष्टापत्तौ च प्रत्यक्षबाधः प्रसज्येत। किञ्च, शक्तस्य शक्यकरणाभावादशक्तिप्रसक्तेः। ततश्च कार्यानुत्पादोऽसत्कार्यवादो वा स्यात्। सहजशक्त्यभावे प्रसक्ते कार्यकारणभावाभावात् कारणादिपदेषु तदभिधायिका पदशक्तिरप्यपेयात्। तथाच सति लौकिकवैदिकव्यवहारावप्युच्छिद्येयाताम्। प्रयोजनाभावादाधेयशक्तिरपि मुधा स्यात्। तथा शक्तेर्ज्ञातुमशक्यत्वञ्च। तन्मत ईश्वरानङ्गीकारान्नियमनस्यासम्भवदुक्तिकत्वात्। किञ्च, बीजाङ्कुरवत् फलहेतुप्रवाहोऽनादिः प्रवाहत्वादित्येवमनादित्वं साधनीयम्। तदापि हेतोः साध्यसमत्वादनादित्वासिद्धिः। कथं साध्यसमत्वमिति चेद्, उच्यते। यत्र गोधूमादिवीजनाशे वेणुगोधूमैर्गोधूमानां, लुलायशृङ्गात् कदल्याः, काशादिक्षोश्चाङ्कुरोत्पत्तिस्तादृशगोधूमादिभ्यश्च पुनर्वंशाऽङ्कुराद्यनुत्पत्तिर्दृश्यते, तत्र हेतुत्वसन्देहसम्भवात्। न च व्यतिरेकव्याप्तिमादाय सन्देहनिवृत्तिः। यत्रानादित्वाभावः क्षुद्रनदीप्रवाहादौ तत्र वर्षासु प्रवाहदर्शनेन प्रवाहत्वाभावस्याशक्यवचनत्वात्। अथान्यथानुपपत्त्या तथाङ्गीक्रियत इति चेत् तर्हि वादान्तरेऽपि तौल्याद् व्यवस्थाभावप्रसङ्गो दुर्वार एव। अथोत्पत्तिर्न बहिर्भावः, किन्तु मृदो घटरूपेण भवने मृदवस्था गता, पिण्डावस्था जाता, सा गता, घटावस्था जातेत्येव प्रतीतेः, पटे च तन्त्ववस्थानुपमर्देनापि पटावस्थाप्रतीतेरवस्थाविशेषसम्बन्ध एवोत्पत्तिरिति कार्यस्य कारणाभेदात् स्वरूपानादित्वं चेदङ्गीक्रियते। असङ्गतमेतदपि। तथा सति पुत्रेऽपि पित्रवस्थान्तरत्वं स्यात्। तथाच पितुर्नाशः स्यात् पिण्डावस्थावत्। तन्तुवद् अनाशाङ्गीकारेऽपि सर्वो व्याप्रियेत। न च तथा। अतः पुत्रोंऽश एव पितुः। एवं, बीजमप्यंश एव, न त्ववस्थान्तरम्। समानन्यायात्। तथाच विभागद्वारा हेतुत्वमात्रं फले सेत्स्यति, न तु स्वरूपानादित्वमपि। पूर्वमभावस्याध्यक्षसिद्धत्वात्। किञ्च, पिता स्वयमनश्यन् पुत्रं प्रति विभागेन हेतुर्न तु संयोगेन। तथा फलमप्यनश्यदेव हेतुः स्यात्। अवयवसंयोगादवयव्युत्पत्तिसिद्धान्तश्च व्याहन्येत। एवमुत्तरावस्थारूपताप्यशक्यवचनैव। तथा प्रतीत्यभावात्। संसारप्रवाहस्य भावरूपस्यानादित्वाङ्गीकारे अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च। अनादिभावस्यानन्तत्वनियमात्। आत्मनि तथा प्रसिद्धेः। अतो नायमपि वादो युक्तिसहः। एवं प्रकृतिपरिणामवादोऽपि। तथाहि, प्रकृतिपरिणामो हि महदादितृणस्तम्बान्तोऽङ्गीकार्यः। तत्र पृच्छ्यते, महदादिर्भावः किं पूर्वमजात एव पश्चाज्जन्यते? उत जातो जन्यते? इति। नाद्यः। स्वाभावत्यागेनाजातत्वभङ्गप्रसङ्गात् अजातस्याऽमृतत्वनियमात् तस्याऽनाशापत्तेश्च। अन्यथा प्रकृतिपुरुषयोरपि मर्त्यत्वापत्तेर्दुर्वारत्वात्। अथ प्रकृतिपुरुषमात्रविषय एवायं नियमो, न सामान्य इत्यदोष इति वाच्यम्। तदपि न साधीयः। अभ्युपगमातिरिक्तमानाभावात्। एवमजत्वेनाविकारित्वेन व्याप्तेः पुरुषेऽङ्गीकारात् प्रकृतेर्विकारित्वमपि। अजाया अपि प्रकृतेर्विकारित्वोपगतौ पुरुषे वैपरीत्यमप्यसङ्गतम्। अथ प्रकृतेर्विकारि-

आवरणभङ्गः ।

त्वमेव स्वभावः, पुरुषस्याविकारित्वमेव स इत्यजत्वेऽपि स्वभावभेदाददोष इति चेन्न । तथापि सांसिद्धिकस्वाभाविकसहजाकृतप्रकृतीनां स्वभावापरित्यागित्वस्य योगिवह्निपक्षिजलादिषु दृष्टत्वात् स्वं प्रकृतित्वरूपं स्वभावं परित्यज्य महदादिरूपेण प्रकृतित्वे प्रकृतेः प्रकृतित्वहानिविकृतित्वापत्त्योर्दुर्वारत्वात् । त्यागानङ्गीकारे च सृष्ट्युच्छेदप्रसङ्गात् । अथाऽमृतापि प्रकृतिरंशतो विकरोतीत्येवं तस्याश्चल एव स्वभाव इति चेन्न । पर्यायेणैकदा वा सर्वांशविकारे प्रकृतित्वस्वभावहानेर्दुर्वारत्वात् । चलस्वभावापरित्यागे प्रलयोच्छेदप्रसङ्गाच्च । किञ्च, परिणामवादे कार्यस्य कारणाभिन्नत्वात् कारणस्यापि कार्यादभेद इति कार्यरूपेण जनने प्रकृतेरजत्वभङ्गप्रसङ्गः । कार्यस्य चाऽजत्वप्रसङ्गः । अंशतो विकारेविभागादुत्पत्तिरित्युपमृद्य प्रादुर्भावान्नित्यत्वभङ्गप्रसङ्गः । अजस्य जन्माङ्गीकारो दृष्टान्तेन च शून्य इत्ययमपि वादो न युक्तिसहः । जातो जन्यत इति प्रकारस्तु प्रवाहानादित्वपक्षोक्तैरेव दूषणैर्ग्रस्त इत्यकिञ्चित्करः । एवं क्षीणेषु सर्ववादेषु मायावादोऽवशिष्यते, सत एव मायया जन्मेत्येवंरूपः । स विचार्यमाणो जगतो मिथ्यात्वमेव स्वप्नदृष्टान्तेन द्रढयतीति पूर्वं स्वाप्निकानां मिथ्यात्वमुपपाद्यते । तथाहि, स्वाप्निकाः सर्वे भावभेदाः शरीरान्तःस्थाः । शरीरसंवृतत्वात् । यद्यत्संवृतं तत् तदन्तःस्थम् । गृहकुम्भवत् । अथवा यच्छरीरसंवृतं तच्छरीरान्तःस्थम् । नाडीवदिति न्यायेन स्वाप्निकानां शरीरान्तःस्थत्वसिद्धिः । न च स्वाप्निका न शरीरान्तःस्थाः, किन्तु बाह्याः । तद्बाह्यत्वेन महत्त्वादिना च भासमानत्वादिति सत्प्रतिपक्षसत्त्वात् पक्षे हेत्वसिद्धिर्हेतोः साध्यसमत्वं वा शङ्कनीयम् । ते अबाह्याः । अदीर्घकालदर्शनकत्वात् । दृश्यमानदेशगमनानपेक्षलौकिकदर्शनकत्वाद्वा । यन्नैवं यन्नैवम् । जाग्रद्दृश्यघटादिवदिति न्यायाभ्यां बाह्यत्वसाधकहेतोरेव साध्यसमत्वसिद्धेः प्रतिपक्षत्वस्याशक्यवचनत्वात् । यदि गत्वा पश्येत् तं देशं पश्यन् प्रतिबुद्धस्तत्रैव तिष्ठेत् । बहुकालेन च पश्येत् । यतो नैवमतो नैवम् । यतश्चालौकिकप्रत्यासत्त्यभिमानेन पश्यत्यतोऽन्तरेव पश्यतीति तर्केणापि प्रतिपक्षनिरासाच्च । किञ्च, वाजसनेयिनां बृहदारण्यके श्रूयते "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजत" इति । स्वप्नान्त उच्चावचमीयमान इति चानेकरूपकरणम् । तन्नायतं बोधयेद् "दुर्भैषज्यं हास्मै भवती"ति सुप्तस्य निर्बन्धेन प्रबोधने कष्टं च श्राव्यते । यदि जाग्रद्दृष्टमेव तत्र स्यात् तदा, न तत्रेत्यादिना तदभावं, ततः करणं, दुर्भैषज्यं च न वदेत् । यत्र सुप्तस्तत्रैव स्त्रिया रममाणः स्खलिते जाग्रत् तां बहिः पश्येत् । यतो न पश्यति ततः करोति । यतः करोति ततो रथाद्यभाव इत्यतोऽपि तेषामान्तरत्वसिद्धिः । न च चिन्तामण्यादिसिद्धसृष्टिन्यायेन स्वप्नेऽनुपादानिका सत्या सृष्टिर्वाह्यैव भवतीति वाच्यम् । पूर्वोक्तन्यायानां तत्प्रतिपक्षत्वात् । अनुपादानकत्वे अवयवादिविघटनेऽपि नाशासम्भवापत्त्या चिन्तामण्यादिसिद्धसृष्टावपि तथात्वस्य विप्रतिपन्नत्वाच्च । न्यग्रोधधानादाविव तत्राप्यमूर्तसकलपदार्थाङ्गीकारे बाधकाभावाच्च । चिन्तामण्यादिसृष्टेर्जाग्रत्यनुभववदस्याः स्वाप्निकसृष्टेरननुभवात् । स्वाप्निका मिथ्याभूताः । बाह्यधर्मत्वेन प्रतीयमानत्वे सत्यन्तर्दृष्टत्वात् । यदेवं तदेवम् । करतलदृष्टमायागजवत् । यन्नैवं तन्नैवम् । सत्यगजवदिति साधनेन च तत्सत्यताया अशक्यवचन-

यन्मायिकत्वकथनं पुराणेषु प्रदृश्यते ।
तदैन्द्रजालपक्षेण मतान्तरमिति ध्रुवम् ।

यन्मायिकत्वकथनमिति । एवमनूद्य परिहरति तदैन्द्रजालपक्षेणेति । सृष्टि-

आवरणभङ्गः ।

त्वात् । सन्ध्याधिकरणविरोधाच्च । अतस्तत्र मायिक्येव सृष्टिरिति निश्चीयते । सा च मिथ्यैव भवितुमर्हति । दृश्यमानस्य स्थूलस्यान्तर्मातुमशक्यत्वात् । एवं सिद्धे स्वाप्निकस्य मिथ्यात्वे, यथेयं गजतुरगमनुष्यादिरूपेण मिथ्या, तथा मनोध्याताऽपि ज्ञेया । तत्रायं प्रयोगः । जाग्रति मनोध्याता भावभेदा बाह्यरूपेण मिथ्याभूताः । तथा प्रतीयमानत्वे सत्यान्तरत्वात् । यदेवं तदेवम् । स्वाप्निकवदिति । न च ध्यानस्य स्मरणपर्यायत्वात् । स्मरणे च बहिःष्ठस्य सत एव संस्कारद्वारा गोचरत्वमात्रं भवतीति दृष्टान्तविरोध इति वाच्यम् । अतीतस्यासतोऽपि गोचरत्वात् । वक्ष्यमाणेन हेत्वन्तरेण दृष्टान्तसङ्गतेश्च । तथाच प्रयोगः । मनोध्याता गजादयो वर्तमानत्वेनानुभूयमानत्वेऽप्यसन्तः । आद्यन्तयोरसत्त्वात् । यदेवं तदेवम् । स्वाप्निकवत् । यन्नैवं तन्नैवम् । स्वस्वमतप्रतिपन्ननित्यवस्तुवदिति । न च विमता वर्तमानत्वेनानुभूयमानाः पदार्थाः सन्तः । आद्यन्तयोरसत्त्वात् । यदेवं तदेवम् । घटादिवदिति साधारणो हेतुरिति वाच्यम् । विमता घटादयो वितथाः । वितथसदृशत्वात् । यदेवं तदेवम् । ऐन्द्रजालिकवदिति प्रतिसाधनेन घटादीनामप्यसत्त्वसिद्धेर्दृष्टान्तविरहात् । न च विमताः सत्याः । अर्थक्रियाकारित्वादिति साधनान्न दोष इति वाच्यम् । असन्तः । अर्थक्रियाकारित्वात् । स्खलनजनकस्वाप्निकप्रमदास्पर्शवदिति प्रयोगेणास्यापि साधारणत्वनिश्चयात् । न च जाग्रद्वृत्तिगम्यत्वे सतीति विशेषणे दत्ते हेतोर्न साधारणत्वापत्तिरिति वाच्यम् । तथापि मायाहस्त्यादौ व्यभिचारस्य दुर्वारत्वात् साधारणत्वस्यानिवृत्तेः । एवं प्रपञ्चसत्तासाधकानां हेतूनामाभासत्वे सिद्धे, असतो गगनकुसुमादेस्तत्त्वतो मायातश्च जन्मादर्शनात् सत एव मायातो जन्म वाच्यम् । सच्च ब्रह्मैव । अभेदश्रुत्यनुरोधात् । एवं सति ब्रह्मैव प्रपञ्चाकारेण मायाया विवर्तत इति सिद्धो मायावादः । लाघवं बुद्धिसौकर्यं तु पूर्वमेवोक्तम् । तदुपष्टम्भाय पुराणवाक्यान्युच्यन्ते । तथाहि, "विद्धि मायामनोमयमि"त्यत्र च नश्वरमिति हेतुगर्भं विशेषणम् । तेन इदं मनआदिभिर्गृह्यमाणं, मायामनोमयम् । नश्वरत्वादित्यनुमानं फलति । एवं "त्वय्युद्धवे"त्यत्रापि । विकारस्य मायात्वे आदावन्ते चासत्त्वादिति हेतुः फलति । तेन च जन्मादयो देहस्यैवेति तस्यैव धर्मद्वारा मायिकत्वमुक्तं भवति । द्वादशाध्याये च, "स एष जीव" इत्यारभ्य आसमाप्ति प्रपञ्चस्य मायामयत्वं वेदार्थत्वं चोक्तम् । हंसगीतायाञ्च, "असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा । गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशा यथा" इति । "ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् । विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्प" इति । एवं योगेश्वरादिवचनेऽपि । अतो लाघवाद् बुद्धिसौकर्याच्च मायावाद एवाङ्गीकर्तव्य इति तदीयमतमनुवदन्ति मूले यदित्यादि । एवमनूद्य तदित्यादिना परिहरन्तस्तत्स्वरूपं पुराणेपु तत्कथनतात्पर्यमाहुः **सृष्टीत्यादिना** **सृष्टिप्रभेदेष्विति** । पूर्वं सङ्गृहीतेपु वेदोक्तेपु तेष्वित्यर्थः ।

प्रभेदेष्वैन्द्रजालपक्षो निरूपितः। स एव पुराणेषु वैराग्यार्थं निरूप्यते। अतो न वस्तुनिरूपकम्। किन्तु तन्मतान्तरम् असुरव्यामोहजनकम्।

पुराणानि भगवल्लीलाप्रतिपादकानि भगवच्चरित्रवद्दैत्यानां मोहमुत्पादयन्ति, एवमेवेत्यत्रोपपत्तिमाह—

नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचित्॥ ८२॥

नास्ति श्रुतिष्विति। यदि जगतो मायिकत्वं ज्ञानार्थं कर्मार्थं वाभिमतं स्यात् तदा

टिप्पणी।

किन्त्विति। "न सत्यं तेषु विद्यते", "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुः" इत्याभ्यां जगन्मायिकत्वस्य कल्पितासुरमतत्वान्न सदुपादेयमित्यर्थः॥ ८२॥

आवरणभङ्गः।

निरूपित इति। नृसिंहोत्तरतापनीये भेदे निराकरणार्थं नवमखण्ड उक्त इत्यर्थः। तद्बोधनार्थं सङ्क्षेपतस्तत्प्रमेयमुच्यत इत्यर्थः। तथाहि, पूर्वतापनीये भगवतो महामाहात्म्ये अद्वयत्वे च श्रुते शारीरस्यापि तदात्मतायां ज्ञातायां स्वस्मिंस्तदभावात् प्रजापत्युक्तेऽर्थे सन्दिहानैः शारीरस्योङ्कारत्वज्ञापनायोत्तरतापनीयारम्भे चोदितः प्रजापतिः खण्डपञ्चके त्रिशरीरारोपपक्षेण चतुष्पात्त्वं शारीरस्य व्यवृणोत्। ततस्तेषामसन्तोषे पुनर्जिज्ञासायां तद्व्यपदेशपक्षेण पुनस्तथात्वमस्य व्याख्यातं खण्डद्वयेन। ततोऽप्यसन्तोषे मुख्यतया तथात्वजिज्ञासायां प्रजापतिना ब्रह्मण एव कार्यार्थं शारीरतां नवमे व्याकुर्वता, "सैषाऽविद्या जगत् सर्वमि"त्यारभ्य, "जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती"त्यन्तेन मायिकपक्षो निरूपितः। ततस्तस्सदात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपीत्यादिना मुख्यपक्षमुक्त्वा सोऽपोदितः। तत् सर्वं विस्तरेणोत्तरतापनीयदीपिकायां मया व्याख्यातमतो विशेषजिज्ञासायां ततोऽवलोकनीयम्। इति तत्स्वरूपमुक्तम्। पुराणे तत्कथनतात्पर्यमाहुः स एवेत्यादि। वैराग्यार्थता चाग्रे उपपाद्या। तर्हि सोऽपि पक्षोऽङ्गीकार्यो, बाधकाभावादित्यत आहुः अत इत्यादि। अतः—अन्यतात्पर्यकत्वान्न वस्तुनिरूपकम्। तेन वस्तुनिर्धारार्थमनुपयोगात् तत्र नाद्रियत इत्यर्थः। ननु यद्येवं तर्हि वैराग्यार्थमपि कुत उच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः किन्त्वित्यादि। मतान्तरत्वे मानं तु, मिथ्यादृष्टिरित्यादिना पूर्वमुक्तमेव। तथाच यथा छान्दोग्ये इन्द्रप्रजापतिसंवादे 'एष आत्मे'त्यादिना प्रजापतिवाक्येन विरोचनस्य तदनुचराऽसुराणां च देहाऽऽत्मवादस्य श्रौतत्वादिभ्रमजनको व्यामोहस्तथानेनापीति तदर्थं मतान्तरमेतदप्युच्यत इत्यर्थः। ननु श्रुतौ भवतु तथा, पुराणेषु तु न तथा वक्तुं शक्यम्। तेषामुपबृंहणत्वेन वेदार्थनिश्चायनार्थत्वादित्यत आहुः पुराणानीत्यादि। भगवच्चरित्रवदिति। शाल्वमायारचितश्रीवसुदेववधादिदर्शनजप्रकृत्युपप्लवादिचरित्रवदित्यर्थः। "अज्ञत्वं पारवश्यं च" इत्यादिब्रह्माण्डवाक्यमत्रानुसन्धेयम्। तथाच तत्रापि व्यामोहकत्वं नानुपपन्नमित्यर्थः। ननु मायिकत्वकथनं पौराणिकं व्यामोहकं मतान्तरमेव, न तु वस्तुनिरूपकमित्यत्र का वा उपपत्तिरित्यपेक्षायामाहुः एवमित्यादि। यदीत्यादि। तथाच तापनीये यदुक्तं तत्तु सतः सर्वात्मपक्षस्थिरीकारार्थमुक्तं, न तु जगतो मायिकत्वार्थम्। "सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति, दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति, ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी, चैतन्यदीप्ता, तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्व-

काण्डद्वयमध्ये क्वचिदुक्तं स्यात्। ननु सर्वे वेदास्त्वया न ज्ञायन्त इति कथं ज्ञायते, नोक्तमिति चेत् तत्राह दृश्यमानास्विति। एकादशशाखाः साम्प्रतं प्रचरन्ति। तासु न दृश्यत इत्यर्थः ॥ ८२ ॥

नन्वस्ति सामशाखायामुत्तरकाण्डे वाचारम्भणवाक्यमिति चेत् तत्राह—

वाचारम्भणवाक्यानि तदनन्यत्वबोधनात्।
न मिथ्यात्वाय कल्पन्ते जगतो व्यासगौरवात् ॥ ८३ ॥

वाचारम्भणवाक्यानीति। अत्रोपक्रमे, 'कतमः स आदेश'इति प्रश्ने, 'यथैकेन मृत्पिण्डेने'त्यादिदृष्टान्तैः सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिरिव निरूपिता। दृष्टान्ते कार्यकारणयोरुभयोरपि प्रत्यक्षत्वम्। दार्ष्टान्तिकेषु कार्यं प्रत्यक्षसिद्धम्, कारणं श्रुतिसिद्धम्। कारणताप्रकारश्च। तत्र कार्यकारणयोरभेदो बोधनीयः। अन्यथैकविज्ञानेन

टिप्पणी।

सामान्यलक्षणेति। एकस्मिन्नुपस्थिते धूमे धूमत्वेन सम्बन्धेन सकलधूमोपस्थितौ सत्यां यथा सकलधूमनिष्ठा व्याप्तिर्गृह्यते, तथा एकस्मिन्मृन्मये ज्ञाते मृन्मयत्वेन सर्वं मृन्मयं ज्ञातं भवतीत्यर्थः।

आवरणभङ्गः।

मपी"त्यादिष्ववान्तरवाक्येषु, "न ह्यस्ति द्वैतसिद्धि"रिति "तस्माद्द्वय एवात्मे"त्युपक्रमोपसंहारसन्दंशपतितेषु स्वतः सर्वात्मतानुमानपरिकरत्वस्यैव स्फुटीभावात्। तदुपपादितं मया तापनीयप्रकाशे। दर्शयतीत्यतो दर्शयित्र्येव, न तु कर्त्री। दर्शने प्रकार, आभासेन करोतीति। आभासस्याभास्यसमानाकारत्वनियमादाभास्ये ब्रह्मण्यपि सर्वे आकाराः सन्तीत्यन्तःप्रतिबिम्बेन कृत्वा दर्शयति। तदेव निगमयति ब्रह्मेत्यादि। अत एव मतुबर्थ इनिः। तेन फलितं वदति। तस्मादित्यादिनेत्यादि। किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि, न दृश्यत इत्यन्तम्। एकादशशाखास्तु तैत्तिरी काण्वी माध्यन्दिनी मैत्रायणी मानवी चेति पञ्च यजुर्वेदस्य। हिरण्यकेशी तु तैत्तिरीसमैव, कल्पसूत्रस्य हिरण्यकेशीयस्य भेदाद् भिन्नेत्येवं दाक्षिणात्या वदन्तीति सा नातिरिच्यते। शाङ्खायन्याश्वलायनीति द्वे ऋग्वेदस्य। ब्राह्मणभावे भेदात्। कौथुमी राणायनी चेति द्वे सामवेदस्य। शौनकी पैप्पलादी चेति द्वे अथर्ववेदस्येत्येवं ज्ञेयाः ॥ ८२ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वस्तीत्यारभ्य, वाक्यानीत्यन्तम्। उपपादयन्ति अत्रेत्यादिना। इत्यादिदृष्टान्तैरिति। मृत्पिण्डनखनिकृन्तनलोहमणिदृष्टान्तैरित्यर्थः। अत्र हि "यथैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य"मित्येवमुक्त्वाऽग्रेऽपि लोहमणिलोहमयलोहैर्नखनिकृन्तनकार्ष्णायसकृष्णायसैरुपलक्षितं वाक्यद्वयमेवञ्जातीयकमस्ति। तत्र सर्वत्रैकोपादानकं कार्यैकदेशमुदाहृत्य तस्मिन्नेकदेशे यद्विकारत्वरूपो यो धर्मो निश्चितः स एव तज्जातीयेषु कार्यान्तरेषूपलभ्यमानत्वेन सामान्यो भवतीति निश्चीयते। तेन तथेत्यर्थः। इवेति। "मृत्तिकेत्येव सत्य"मित्यादिना कारणरूपेण सत्यताकथनान्मृत्त्वादिरूपेण ज्ञानस्यैव विवक्षितत्वं, न तु मृण्मयत्वादिरूपेणेति वैलक्षण्यादिवेत्युक्तम्। विशेषान्तरमप्याहुः दृष्टान्त इत्यादिना। तत्रेति दार्ष्टान्तिके। अभेद एव बोधनीय इत्यत्र गमकमाहुः अन्यथेत्यादि। यद्यत्रा-

सर्वविज्ञानं न स्यात् । प्रकारभेदानामज्ञानात् । अतः कार्यप्रकारा व्यवहारार्थं वाचा सङ्केतिता घटः, पट इत्यादयः । न तु तेन रूपेण तेषां वस्तुत्वम् । तथा सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं न भवेत् । सत्यता तु मृत्तिकेत्येवेति कारणत्वेनैव । अतः कार्याणां तदन्यत्वमेव श्रुत्या बोध्यते । न तु मिथ्यात्वम् । शुक्तिरजतवत् । अन्यथा शुक्तिरजतादिकमेव दृष्टान्तीक्रियेत । नापि तत्र सामान्यलक्षणा सम्भवति । भ्रमाणामनन्तरूप-

टिप्पणी ।

नापि तत्रेति । मिथ्यात्वपक्षे घटादिरूपाणां भ्रमाणां बहुरूपत्वादेकस्य सामान्यस्याभावात्सामान्यलक्षणयापि सर्वविज्ञानं न भवतीति भावः । विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरिति ॥ ८३ ॥

आवरणभङ्गः ।

भेदो बोधनीयो न स्यात् प्रतिज्ञाहानिः स्यादतोऽभेद एवात्र बोध्य इत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः अत इत्यादि । कार्यप्रकाराणां व्यवहारार्थता त्वेकादशस्कन्धे उक्ता, "यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य तत् । विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवा" इति । पार्थिवपदेन मृत्पिण्डस्य, तैजसपदेन नखनिकृन्तनलोहमण्योर्गोचरीकरणादिदं वाक्यं वाचारम्भणवाक्यस्यैवार्थं वेवेक्तीति ज्ञेयम् । तेन सिद्धमाहुः तदनन्यत्वमिति । कारणानन्यत्वं, ब्रह्मानन्यत्वमित्यर्थः । शुक्तिरजतादिकमित्यत्रादिपदेन स्वप्नमायागन्धर्वनगरमृगतृष्णारज्जुसर्पादयो मायावादिग्रन्थस्था दृष्टान्ताः क्रोडीकृता ज्ञेयाः । तेन ग्रहिलतया गौडवार्तिकमनुसृत्य साम्प्रदायिकत्वाभिमानेन रज्जुसर्पतैलधारामृगतृष्णादिदृष्टान्तैर्जगतो मिथ्यात्वमङ्गीकुर्वाणं प्रत्याहुः नापीत्यादि । "अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता । तैलधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पित" इत्यादिषु तेषु सादृश्यनिबन्धनं भ्रममङ्गीकृत्य, "प्राणादिभिरनन्तैस्तु भावैरेतैर्विकल्पित" इत्यनेनानन्तविधत्वं स्वीकृतम् । तत्र सादृश्यानन्त्येन तत्प्रयुक्तभ्रमाणामप्यनन्तरूपत्वाद् भ्रमविषयेषु सामान्यलक्षणापि तत्र न सम्भवतीति प्रतिज्ञा तु सुतरां न सिद्ध्यति । सत्याऽनृतयोर्भिन्नत्वात् । अतस्तद्रीत्यापि जगन्मिथ्यात्वाग्रहो दुष्ट इति भावः । अस्मिन्नर्थे सूत्रकारस्यापि सम्मतिमाहुः तथैवेत्यादि । यत्तु तदनन्यत्वसूत्रे भेदव्यासेध एव क्रियते, न त्वभेदो बोध्यत इति कैश्चिदुक्तम् । तदपि श्रौतदृष्टान्तोपरोधादेव परास्तम् । व्यासेधिते च भेदेऽभेद एव पर्यवसानाच्च । पुरुषस्य चैतन्यं, राहोः शिर इत्यादौ या नामधेयमात्रता सापि ज्ञाता सती तयोरभेद एव पर्यवस्यति, न तु भेदस्य कल्पनामात्रतां गमयित्वा निवर्तते । यदि तावदेव कृत्वा निवर्तेत तर्ह्यर्थस्याभिलापमात्रत्वाद् वन्ध्यासुतादिवच्चैतन्यराहू कदाचिदपि न प्रतीयेयाताम् । शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प इति पातञ्जलस्यापि तादृशोऽभेद एवात्र लक्ष्यः । तस्यैवावस्तुत्वात् । रज्जुसर्पमृगतृष्णोदकादिषु यद् व्यासेधमात्रे पर्यवसानं, तत्तु तत्स्वरूपस्यावस्तुत्वात् । न चेह तथा । अबाधितप्रतीतिसिद्धत्वात् । "तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपदे" इत्यादिश्रवणात् प्रकृतश्रुतिरपि वाचारम्भणरूपा या विक्रिया

१ अधिकमेतत् छ. पुस्तके ।

त्वात् । तस्माद् वाचारम्भणवाक्यानि जगतो मिथ्यात्वाय न कल्पन्ते । तथैवाह सूत्रकारः "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इति । ननु यथा व्यासो महाँस्तथा शङ्करादिरपि । ततस्तद्विरोधात् कथमेवं निर्णयस्तत्राह व्यासगौरवादिति । व्यासोऽस्माकं गुरुः । अतो व्यासाभिप्रेतविरुद्धं नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

आवरणभङ्गः ।

तस्या एव नामधेयतां विधत्ते, "वाचारम्भणं विकारो नामधेय"मिति । यदि कार्यस्वरूपस्यापि वाङ्मात्रतामभिप्रेयाद् वाचारम्भणं नामधेयमिति पदद्वयं न ब्रूयात् । एकेनैव चारितार्थ्यात् । अत एवमपि वाक्सङ्केतस्यैवानृतत्वं फलतीति स्वरूपं कारणादभिन्नमेव । अतो दृष्टनष्टस्वरूपत्वं स्वरूपेणानुपाख्यत्वं च सृष्ट्यन्तरविषयकं, न तु विषयश्रुतिगोचरमिति कल्पितमेवैतत् । एवमेव दार्ष्टान्तिकवाक्येऽपि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"त्युक्त्वाग्रे तच्छब्देन सर्वं परामृश्य तस्य सत्यत्वं विदधती श्रुतिर्यदात्मकमिदं सर्वं सत्यमुक्तं तत्स्वरूपमाह स आत्मेति । जडवज्जीवस्यापि तदात्मकत्वमाह तत्त्वमसीति । यदि जीवस्य परब्रह्मात्मकत्वमभिप्रेयात् तत्पदं पुनर्न ब्रूयात् । "स आत्मा त्वमसी"-त्येतावतैव चारितार्थ्यात् । अतो दार्ष्टान्तिकेऽप्यनभिप्रेतमेव मिथ्यात्वम् । अनृताभिसन्धबन्धनादिकं त्वनेकान्तवादिनामेव भीषकं, न त्वेकान्तवादिनाम् । वृक्षशाखोदधितरङ्गवन्नानात्वानङ्गीकारात् । अपागादग्नेरग्नित्वमित्यादावपि वाचारब्धाग्नित्वादेरेवापायो, न कारणाभेदस्यापि । त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यमिति कथनात् । यदि कारणाभिन्नस्याग्न्यादिस्वरूपस्यापि मिथ्यात्वमभिप्रेयात् तर्ह्यग्न्यादित्वमपोह्य, नेदमित्येव सत्यमित्येव ब्रूयात् । "स वा एष महानज" इत्यादिश्रुतयस्तु विरुद्धधर्माधारत्वबोधनेन माहात्म्यमेव परब्रह्मणो गमयन्तीत्यग्रे व्युत्पाद्यम् । अतो यदविद्यात्मकत्वं नामरूपजीवव्याकरणादीनामङ्गीकृत्येश्वरस्य नामरूपसम्बन्धात् तादृशतत्कारणत्वादिसमर्थनं तत् स्वप्रज्ञाविलसितमात्रमिति निपुणधीभिरवधेयम् । "आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्मे"ति श्रुतिस्तु तन्निर्वाहकत्वं ब्रह्मणो वक्ति, न तु तयोराविद्यकत्वम् । एवमेव, "सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्त" इत्यपि तयोः कार्यत्वमात्रं वक्तीति पूर्वतुल्यैव । कार्यस्वरूपस्य ब्रह्मात्मकता तूपपादितैवाधस्तात् । आत्मैकत्वदर्शनस्याभयमिव परिणतसर्वभूतब्रह्माभेददर्शनस्य फलमपि श्रूयत एव । तदिदमप्येतर्हि "य एवं वेद ब्रह्माहमस्मी"ति, "स इदं सर्वं भवति", "तस्य ह न वेदाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां सम्भवती"ति । भार्गव्यां च विद्यायां, "य एवं वेद प्रतितिष्ठती"त्यादि । न च फलजाघन्यं शङ्क्यम् । पुत्रेष्टिकारीर्यादिवद्विद्वदौन्मुख्यजननार्थत्वेनाधिकारसम्पादकत्वात् । अस्तु वा तथा । तथाप्यफलत्वं गतमेवेति दिङ्मात्रमत्रोक्तम् । विशिष्य तु भाष्यविभागे प्रतिविधास्यामः । प्रकृतं चानुसरामः । पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि, गौरवादित्यन्तम् । अस्माकमिति । सर्वेषां वेदान्तविचारकाणामित्यर्थः । गुरुरिति । उपजीव्य इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

ननु सर्वेषां विचारो महान् । तत्र सूत्रेषूक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताया अपि वक्तव्यत्वात् कथमेकान्ततो निर्णयः । सृष्ट्यादिवाक्यान्यर्थवादरूपाणि । अतस्तेषां स्तावकत्वमेव मुख्यमिति सृष्ट्यादौ तात्पर्याभावाज्ज्ञानस्यैव फलसाधकत्वात् क्रियावज्ज्ञानस्यार्थवादवाक्ये प्रयोजनाभावाद् वस्तुस्वरूपज्ञाने कार्यापेक्षया विवर्तस्य प्रयोजकत्वान्मिथ्यात्वमेव स्वीक्रियतामित्याह—

ज्ञानार्थमर्थवादश्चेच्छ्रुतिः सृष्ट्यादिरूपिणी ।
अनङ्गीकरणाद्युक्तं विधिमाहात्म्ययोर्न तत् ॥ ८४ ॥

ज्ञानार्थमिति । परिहरति अनङ्गीकरणादिति । भवेदेतदेवं यदि मिथ्यावादिमते सृष्ट्यादिवाक्यैः सह महावाक्यस्यैकार्थता सम्भवति, पूर्वकाण्डे "विध्येकवाक्यताऽर्थवादानां स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरि"ति । उत्तरकाण्डे ब्रह्मवादिनां माहात्म्यज्ञानेनैकवाक्यता । अन्येषां मते तु न वेदान्तेषु माहात्म्यज्ञानमुपयुज्यते । नापि विधिः । अत एवैकवाक्यताभावान्नैवमर्थः स्वीकर्तव्यः ॥ ८४ ॥

आवरणभङ्गः ।

पुनः किञ्चिदाशङ्कन्ते नन्वित्यादि । विचारो महान् । वेदाध्ययनविधिर्ह्यर्थज्ञानार्थं विचारमाक्षिपतीति वैधत्वान्मननरूपत्वाच्च विचारो महान् । तत्र विचारे च क्रियमाणे प्राङ्भिः श्रुतिवदाधुनिकैः सूत्राण्यपि विचारणीयानीति तेषूक्तादिचिन्ताया अप्यवश्यवक्तव्यत्वात् कथमेकान्ततो निर्णयः । तथा च तदनन्यत्वपदमानन्दमयवद् दुरुक्तरूपमिति न तेन श्रुत्यर्थनिश्चयः, किन्तु प्रेक्षावद्विचारेणैव निर्णय इति भावः । एवं सति सूत्रमन्यथा नीत्वा विचारेण यत् सिद्ध्यति तदुपपादयन्ति सृष्टीत्यादि । ज्ञानस्यैव अपरोक्षज्ञानस्यैव फलसाधकत्वाद् "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती"त्यादिश्रुतिभिस्तथात्वात् । कार्यापेक्षयेति परिणामापेक्षया । तथाच परिणामाङ्गीकारे विकृतत्वकृतत्वभ्रसत्त्यादिदोषग्रासापातात् तन्निरासे क्रियमाणे कार्यस्य विलम्बेन बोधकत्वमिति तथेत्यर्थः । तथाच विचारे क्रियमाणे सृष्ट्यादीत्यादिनोक्तचतुष्केण मिथ्यात्वमेव जगतः सिद्ध्यतीति तदेवाङ्गीकार्यमिति भावः । एवं परमतमुपपाद्य तद् दूषयन्ति परिहरतीत्यादि, स्वीकर्तव्य इत्यन्तम् । एतदिति स्तावकत्वमित्यर्थः । कुतो न सम्भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः पूर्वेत्यादि अयमर्थः । अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यादिति ह्येकवाक्यलक्षणम् । अर्थश्च प्रयोजनम् । यथा वायव्यं श्वेतमित्यादौ विध्यर्थवादवाक्ययोः । तत्रोभयोरपि भूतिरूपमेकं प्रयोजनम् । विधिश्च प्रवृत्त्यर्थं प्रशंसारूपं सहायमपेक्षते । तां विना प्रवर्तयितुमसमर्थत्वात् । प्रशंसावाक्यं च स्वस्य सविषयत्वाय विधिबोधितं कर्मापेक्षत इत्युभयमपि विभागे साकाङ्क्षमिति पूर्वकाण्डे सर्वत्रैवमेकवाक्यता विध्यर्थवादवाक्ययोः । उत्तरकाण्डे तु ब्रह्मैव सर्वत्र प्रतिपाद्यं, पूर्वत्र धर्म इव । इदं च ज्ञेयं, स यथानुष्ठेयः । अत्र च माहात्म्यज्ञानोपजननद्वारा सृष्ट्यादिवाक्यानि ब्रह्मज्ञान उपकुर्वन्ति, पूर्वत्र प्रशस्यताज्ञानोपजननद्वाराऽर्थवादा इव विध्यर्थम् । एवं सति विधिर्यथा स्वार्थस्य प्रवर्तनस्य सिद्ध्यर्थमर्थवादाकाङ्क्षी, तथा ज्ञानवाक्यमपि स्वार्थस्य ज्ञानस्य सिद्ध्यर्थं सृष्ट्यादिवाक्याकाङ्क्षि । अन्यथा विविक्ततानित्य-

नन्वस्त्येकवाक्यतायां प्रकारोऽध्यारोपापवादः । पूर्वंश्रुत्या प्रथमं जगज्जननमुक्त्वा कर्तृत्वभोक्तृत्वे ब्रह्मणि प्रतिपाद्य तद्द्वारा सोपाधिके ब्रह्मणि बुद्धौ सिद्धायां शाखारुन्धतीन्यायेन पूर्वोक्तमपोह्य कर्तृत्वाद्यपेतं पश्चाद् ब्रह्म बोध्यत इत्याह—

अपवादार्थमेवैतदारोपो वस्तुतो न हि ।
दृढप्रतीतिसिद्ध्यर्थमिति चेत् तन्न युज्यते ॥ ८५ ॥

अपवादार्थ इति । एतस्य कर्तृत्वादेरारोपः । तस्य प्रयोजनं, दृढप्रतीतिसिद्ध्यर्थमिति । अतो न ब्रह्मणि वस्तुतः कर्तृत्वमिति चेन्नैवं वक्तुं युक्तम् ॥ ८५ ॥

तत्र हेतुः—

मुख्यार्थबाधनं नास्ति कार्यदर्शनतः श्रुतेः ।
ऐन्द्रजालिकपक्षेऽपि तत्कर्तृत्वं नटे यथा ॥ ८६ ॥

मुख्यार्थबाधनमिति । अपवादार्थं जगत्कथने तस्य सती प्रतीतिर्न स्यात् । न हि जगत्प्रतीतिर्वेदसिद्धा । येन प्रथमं बोधयति, पश्चान्निषेधति । लोकसिद्धा ह्येषा । तथाच

आवरणभङ्गः ।

तादीनामनुमानेन, आत्मसत्तायाश्च प्रत्यग्वित्त्यैव सिद्धौ विशेषाकाङ्क्षायाश्च साङ्ख्यादिदर्शनैरेव निवृत्तिसिद्धावौपनिषदपुरुषज्ञानार्थं न कोऽपि प्रयतेत । किञ्च, तत्र यथाऽतिबहिर्मुखान् कारीर्यादिवाक्यैर्वेदार्थेऽभिमुखान् विधाय प्ररोचनार्थं लौकिकफलान्तराणि चोक्त्वा, नित्यानामात्मसुखमेव मुख्यं फलं दर्शयतीति तदेव प्रयोजनम् । एवमुत्तरकाण्डेऽप्यतिबहिर्मुखान्, "य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानी"त्यादिवाक्यैर्वेदान्तार्थेऽभिमुखान् विधाय प्ररोचनाय प्रतिष्ठादिरूपाणि फलान्तराण्युक्त्वा प्रधानविद्यायाः परप्राप्तिमेव ब्रह्मभावमेव च मुख्यं फलं दर्शयतीति द्वितीयकाण्डेऽपि ब्रह्मवादिनां मते तदेकमेव प्रयोजनमतो महावाक्यस्य सृष्ट्यादिवाक्यैः सहैकवाक्यता । मायावादिनां तु पूर्वपक्षोक्तरीत्या केवलज्ञानस्यैव फलसाधकत्वेनासहायशूरत्वात् सृष्ट्यादिवाक्यवैयर्थ्यापातात् स्तावकत्वस्याप्यशक्यवचनत्वाच्चैकवाक्यतादौर्घट्यान्नैवमर्थः स्वीकर्तव्य इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण सार्थक्यमेषामाशङ्कन्ते नन्वस्तीत्यारभ्य चेदित्यन्तम् । अर्थस्तु निगदव्याख्यात एव । दूषयन्ति नैवं वक्तुं युक्तमित्यादि ॥ ८५ ॥

अपवादार्थमित्यादि । यथापवादार्थं वन्ध्यापुत्रकथनेऽपि न तत्प्रतीतिः, तस्य वाङ्मात्रत्वात् । एवमपवादार्थं कथितं जगदपि वाङ्मात्रमिति तद्वन्न प्रतीयेतैवेत्यर्थः । ननु यथा"ऽऽग्नेयं पञ्चकपालमुद्वसानीयं निर्वपेदि"ति पञ्चकपालं बोधयित्वा, "गायत्रो वा अग्निर्गायत्रच्छन्दास्तं छन्दसा व्यृद्धयति यत् पञ्चकपालं करोती"त्यनेन निन्दया निषेधेऽपि पञ्चकपालाग्नेयप्रतीतिस्तथा जगत्प्रतीतिरपि भविष्यतीति चेत् तत्राहुः न हीति । लोकसिद्धेति । प्रत्यक्ष-

तत्कर्तारमेवाह । जगदनूद्य तत्कर्तृत्वं बोधयित्वा, यदि हि निषेधं कुर्यात् तदा कार्यस्य विद्यमानत्वात् कर्त्रन्तराभावाच्च बाधितविषया स्यात् । सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिः । वेदोऽपि स्वभ्रान्तिकल्पित इति महत् साहसम् । किञ्च, स कल्पको नासदादिः । तथा सति पारम्पर्यं नोपपद्येत । "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदि"ति न्यायविरोधश्च । अतः प्रपञ्चप्रतीतेर्विद्यमानत्वान्मुख्यार्थबाधनं नास्ति । अथ ग्रहिलतया मायासहितस्यैव कर्तृत्वमङ्गीक्रियेत, प्रपञ्चस्य च मायिकत्वं, तदा लौकिकमायिनो दृष्टान्तीकर्तव्याः । तत्र च तादृशप्रदर्शनसामर्थ्यरूपमन्त्रादिना कर्तृत्वं नटे वर्तत एवेत्याह ऐन्द्रजालिकपक्षेऽपीति । दर्शनन्यायश्रुतिभिर्न जगतो मिथ्यात्वमिति भावः ॥८६॥

टिप्पणी ।

वैधर्म्यादिति । ननु प्रपञ्चस्य प्रतीतिमात्रेण न वस्तुसत्त्वं वक्तुं शक्यं स्वप्नमायाभ्रमेष्वन्यथा दृष्टत्वादिति चेत्, न; वैधर्म्यात् । स्वप्नादिषु तदानीमेव स्वप्नान्ते वा वस्तुनोऽन्यथाभावोपलम्भात्, न तथा जागरिते । वर्षानन्तरमपि दृश्यमानः स्तम्भः स्तम्भ एव । स्वस्य मोक्षप्रवृत्तिव्याघातश्चकारार्थः ॥ ८६ ॥

आवरणभङ्गः ।

सिद्धा, न तु शाब्दीत्यर्थः । किं तावतेत्यत आहुः तथाचेत्यादि । निषेधमिति कर्तृनिषेधम् । कार्यस्य विद्यमानत्वादित्यादि । क्षित्यादीनां सावयवत्वेन कार्यत्वानुमानात् तेन च सकर्तृकत्वानुमानादावश्यके कर्तर्युपादानगोचरापरोक्षज्ञानादिमत्त्वेन सिद्धेऽपि निषेधन्ती निषेधिका श्रुतिः कर्त्रभावमन्तरेणानुपपद्यमाना स्वस्मिन् प्रतारकत्वमादध्यात् । निषिध्यमाने वा कर्तरि प्रातीतिकमपि जगत् कार्यमिति कर्तारमन्तरेणाऽसम्भवदनुवादं बाधितविषयं कुर्यादिति बाधितविषयो स्यादिति वार्थः । ननु किमेवमतिनिर्बन्धेन प्रपञ्चमिथ्यात्वं निराक्रियत इत्यत आहुः सर्वत इत्यादि । तथाच श्रुत्युपपादनार्थमेवायं प्रयासो, न तु प्रतिवादिनिग्रहार्थ इति भावः । लौकिकव्यवहार इव वैदिकोऽपि व्यवहारो भ्रान्तिकल्पितः शिष्यशास्तृशास्त्रादिरूप इति वेदान्तवाक्यमसत्यमिति च वदत उपालभन्ते वेदोऽपीत्यादि । बाह्यतुल्यतासम्पादकत्वान्महदित्यर्थः । किं तेनेत्याकाङ्क्षायां दूषयन्ति किञ्चेत्यारभ्य, नास्तीत्यन्तम् । पारम्पर्यं नोपपद्येतेति । तदभावे चापौरुषेयतापि भज्येतेति सिद्धान्तोऽपि व्याहन्येतेति भावः । न्यायोपन्यासस्तु, "स्वप्नमाये यथादृष्टे" इति गौडवार्तिकस्यापि विरुद्धत्वज्ञापनाय फलति । वासनया जीवाविद्यया वा जगत्प्रतीतिरिति पक्षौ तु विद्वन्मण्डने प्रपञ्च्य परास्ताविति नेह विस्तरः । एवमनभ्युपगम्य परमतं पराकृतमथाभ्युपगम्यापि पराकुर्वन्ति । अथेत्यादि ऐन्द्रजालिकेति । एतेन ब्रह्मवादेऽप्यन्तरा सृष्ट्यङ्गीकारात् प्राप्तं तौल्यमपि निरस्तं ज्ञेयम् । तदङ्गीकारेऽपि तदुपाधिकायास्तादृशब्रह्मस्वरूपस्य चाङ्गीकरणेन तज्जगत्कर्तृत्वस्य च ब्रह्मण्यङ्गीकारेण तौल्याभावादिति ॥ ८६ ॥

मिथ्यात्वाङ्गीकारे बाधकमाह—

मुक्तिस्तदातिनष्टा स्यात् स्वप्नदृष्टगजेष्विव ।
मायादीनां च कर्तृत्वं श्रुतिसूत्रैर्विबाध्यते ॥ ८७ ॥

मुक्तिस्तदेति । कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य कल्पितत्वे तन्मध्यपातान्मनुष्यादीनां मुक्त्यर्थं प्रयत्नो व्यर्थः स्यात् । न हि मायायां प्रतीताः पारावताः कदाचिदपि मुच्यन्ते । नापि स्वप्नदृष्टा गजाः । अतोऽखिलजगत्साक्षी भगवानेव मुच्यते, न त्वस्मदादयः । तन्मायापरिकल्पितत्वात् । तथा सति व्यर्थः पारलौकिकप्रयासः । असदज्ञानपरिकल्पितत्वं तु मोहार्थमिति पक्षद्वयेऽपि मायावादो बाधितः । उपहितचैतन्यरूपभगवन्मायापक्षे, तथाऽसदज्ञानपरिकल्पनापक्षे च "स्वप्रवृत्तिविघातेन गुर्वादीनां च दूषणात् । मायावादो न मन्तव्यः सर्वव्यामोहकारकः ॥" नन्वस्तु मायैव कर्त्री, तदुपहितो जीवो वा । ब्रह्म तूभयबिम्बरूपमिति श्रुतौ तत्कर्तृत्वं बाध्यत इत्याशङ्क्याह **मायादीनां च**

टिप्पणी ।

बिम्बरूपमिति । बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्याङ्गीकारादिति भावः ।

आवरणभङ्गः ।

दूषणान्तरमाहुः **मिथ्यात्वेत्यादि** । **मोहार्थमिति** । "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः" इत्यादिश्रुतिविरोधात्, स्वानिष्टसृष्टिदर्शनविरोधात्, "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिमि"त्यादिश्रुतिविरोधाच्च मूर्खप्रतारणमात्रार्थमित्यर्थः । पक्षद्वयमाहुः **उपहितेत्यादि** । अत्र प्रथमः पक्षः शाङ्करो, द्वितीयो वाचस्पत्यो ज्ञेयः । यथाह कल्पतरुकारः "अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत् । जीवाज्ञानं जगद्बीजं जगौ वाचस्पतिस्तथा" इति । एवं मायावाद्यभिमतं पक्षद्वयं दूषयित्वा मायावादस्यानादरणीयत्वमाहुः **स्वप्रवृत्तीत्यादि** । यदि जीवाभिन्नं ब्रह्म जगज्जनयेत्, स्वानिष्टं न जनयेत् । दृश्यते चानिष्टमतो जीवाभिन्नं न जनयतीति स्वप्रवृत्तिविघातेन शिष्यशास्त्रशास्तॄणामसत्यत्वकथनेन तथा दूषणाच्च तथेत्यर्थः । "मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः । अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा । सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् । तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराऽऽज्ञया । वियत्पवनतेजोऽम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे" इति पञ्चदशप्रकरणीकारमतं साङ्ख्यमतं चोत्थाप्य दूषयन्ति **नन्वित्यारभ्य, निषिध्यत इत्यन्तम्** । **उभयबिम्बरूपमिति** । उभयौ मायाजीवौ तयोरादर्शप्रतिबिम्बयोरिव बिम्बरूपं द्रष्टृभूतपुरुषस्थानीयम् । तत्संनिधिमात्रेण सूर्यादेर्जलप्रतिबिम्बगतचलनकर्तृत्ववद् ब्रह्मणोऽपि कर्तृत्वं श्रुतावुपचर्यत इत्यर्थः । यद्वा, तयोः सतोर्बिम्बरूपं चन्द्रबिम्बवत् । यथा चन्द्रबिम्बं विपरीतगतिमद्भिः सन्निहितैर्मेघैर्गच्छदिव प्रतीतिबलेनोच्यते, तथा मायादिभि"र्ब्रह्मापि कुर्वदिव भवती"ति श्रुतौ तस्य

कर्तृत्वमिति । "कथमसतः सज्जायेत", "ईक्षतेर्नाशब्दं", "कामाच्च नानुमानापेक्षा", "नेतरोऽनुपपत्तेरि"त्यादिश्रुतिसूत्रैर्मायायाः प्रकृतेर्जीवस्य च कर्तृत्वं निषिध्यते ॥८७॥

ननु ब्रह्मणि कर्तृत्वनिषेधः श्रूयते, अस्थूलादिवाक्यैः । तथा निरञ्जनश्रुतिः "अकर्ता अभोक्ता चे"ति । "अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यत"इति । एतदन्यथानुपपत्त्या कर्तृत्वस्य भ्रान्तिसमानाधिकरणत्वं लोके दृष्टमिति दूषणभयाद् ब्रह्मणि कर्तृत्वं नाङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्याह—

टिप्पणी ।

ईक्षतेरिति । न विद्यते शब्दो यत्रेत्यशब्दं सर्ववेदान्ताद्यप्रतिपाद्यं ब्रह्म न भवति । कुतः । ईक्षतेः । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "एकमेवाद्वितीयमि"त्युपक्रम्य, "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये"ति "तत्तेजोऽसृजत" । तथान्यत्र "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् । "स ऐक्षत लोकानुसृजा" इति "स इमान् लोकानसृजते"ति । "स ईक्षाञ्चक्रे", "स प्राणमसृजते"ति । एवमादिषु सृष्टिवाक्येषु ब्रह्मण ईक्षा प्रतीयते । किमतो यद्येवम् । एवमेतत् स्यात् । सर्वव्यवहारप्रमाणातीतोऽपि ईक्षाञ्चक्रे लोकसृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीति । अतो यथा यथा कृतवान् तथा तथा स्वयमेवोक्तवान् । पूर्वरूपं फलरूपं च सृष्टस्वांशपुरुषार्थत्वाय । ततश्च प्रमाणबलेनाविषयः स्वेच्छया विषयश्चेत्युक्तम् । "ईक्षतेर्नाशब्दमे"तत्सूत्रव्याख्यान ईक्षतिश्रुत्या ब्रह्मण एव सृष्टिकर्तृत्वबोधनादिति भावः । तर्हि जडो भवत्वानन्दमयः? न । आन्तरत्वान्न कार्यरूपो भवति, किन्तु कारणरूपः स स्वमते नास्त्येव मतान्तरे प्रकृतिर्भवेत्, तन्निवारयति कामाच्च नानुमानापेक्षा । जडा प्रकृतिर्नास्तीति कारणत्वेन निराकृतैव । अथैतद्वाक्यान्यथानुपपत्त्या सत्त्वपरिणामरूपा सा कल्प्येत, सा कल्पना नोपपद्यते । कुतः? कामात् । आनन्दमयनिरूपणानन्तरं "सोऽकामयते"ति श्रूयते । स कामश्चेतनधर्मः । अतश्चेतन एवानन्दमय इति चकारात् "स तपोऽतप्यते"त्यादि । अतोऽनुमानपर्यन्तमर्थमबोधयद्वाक्यं न तिष्ठतीत्यर्थः । नेतरोनुपपत्तेः । इतरो जीवः न, आनन्दमयो न भवति, कुतः? अनुपपत्तेः । जीवस्य फलरूपत्वमात्रेणानन्दमयत्वं नोपपद्यते । तथा सति तस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कर्तृत्वे अत्यलौकिकमाहात्म्यवत्त्वेन निरूपणं नोपपद्येत । अतो न जीव आनन्दमयः ॥ ८७ ॥

आवरणभङ्गः ।

कर्तृत्वमुच्यत इत्यर्थः । कथमित्यादि । अनया श्रुत्या मायावाद्यभिमताया मायायाः कर्तृत्वं निषिध्यते । ईक्षत्यधिकरणे चेक्षणेन चेतनलिङ्गेन जडायाः प्रकृतेः कर्तृत्वं प्रतिषिध्यते । तथैवानन्दमयाधिकरणस्थेन "कामाच्चे"ति सूत्रेण । 'नेतर' इति सूत्रेण च जीवस्य प्राक् शरीराद्युत्पत्तेस्तस्य कर्तृताया अनुपपद्यमानत्वात् । अतो मतद्वयमपि श्रुत्यसम्मतमित्यर्थः ॥ ८७ ॥

पुनः श्रुतिसम्मतत्वमकर्तृत्वस्याशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यारभ्य, न बाध इत्यन्तम् । निरञ्जनश्रुतिरिति । "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" इति कर्तृत्वस्याञ्जनव्याप्यत्वात् तदभावे

अकर्तृत्वञ्च यत् तस्य माहात्म्यज्ञापनाय हि ।
विरुद्धधर्मबोधाय न युक्त्यैकस्य वारणम् ॥ ८८ ॥

अकर्तृत्वं चेति । ब्रह्मण्यलौकिकं कर्तृत्वं वदन्नकर्तृत्वमाह, लौकिककर्तृत्वनिषेधार्थम् । अन्यथा, "अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे"ति स्वस्य पश्चात् कर्तृत्वमुच्यमानं विरुद्ध्येत । एतदेवाभिसन्धाय केनचिदुक्तं, "न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टेः क्वचिदाप्तता", "अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञ" इति । अतो माहात्म्यज्ञापनार्थमेव अकर्तृत्वकथनम् । यथा "पुरुष एवेदं सर्वम्", "उताऽमृतत्वस्येशानः", "एतावानस्य महिमे"ति हि-शब्दार्थः । माहात्म्यबोधनप्रकारमाह विरुद्धधर्मबोधायेति । यत्रैवं परस्परविरुद्धा धर्मा बोध्यन्ते स एव महान् । ते धर्मा उभये सत्याः अन्यथा माहात्म्यं न सिद्ध्येत्, नटवत् । अतो युक्त्या अन्यतरस्य न बाधः ॥ ८८ ॥

टिप्पणी ।

न प्रमाणमनाप्तोक्तिरिति । कुसुमाञ्जलावुदयनाचार्येणोक्तम् । अर्थस्तु, "प्रकृतेः क्रियमाणानी"त्यस्य वक्ता प्रकृतवाक्यार्थगोचरयथार्थज्ञानवान्न वा ? न चेत्, तदा प्रोक्तत्वाभावान्नेदं वचः प्रमाणम् । यद्यतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञस्तदा विमूढत्वाभिमानौ न सम्भवतः, तस्माज्जीवविषयकत्वादस्य वाक्यस्य जीवस्यैवातिस्वातन्त्र्यं निषेधति, न ब्रह्मणः कर्तृत्वनिषेधकमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

आवरणभङ्गः ।

तदभाव इति भावः । **अहं सर्वस्येत्यादि** । गीतायां पूर्वम्, "अहङ्कारविमूढात्मे"त्यनेन कर्तृत्वं निषिद्ध्य, "अहं सर्वस्ये"त्यादिना यथा पश्चादुच्यते तथा श्रुतावपि पूर्वमस्थूलादिवाक्यमुक्त्वाऽग्रे, "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत" इत्यादिना प्रशासितृत्वमुच्यते । अतस्तदपि विरुद्ध्येतेति भावः । वस्तुतस्तु गीतायां, "प्रकृतेः क्रियमाणानी"ति वाक्यं योगदर्शनरीत्या जीवात्मानं प्रकृत्योक्तमिति तस्यैवाहङ्कारविमूढात्मत्वं बोधयति, न तु ब्रह्मणः । प्रकरणभेदात् । एवमन्यत्रापि यथासम्भवं द्रष्टव्यम् । **केनचिदुक्तमिति** । कुसुमाञ्जलावुदयनाचार्येणोक्तमित्यर्थः । कारिकार्थस्तु—"अहङ्कारविमूढे"ति वाक्यं न प्रमाणम् । तत्र हेतुः, **अनाप्तोक्तिरिति** । तत्रापि हेतुः, **नादृष्टेः** । अज्ञस्य क्वचिदाप्तता न । यथादृष्टार्थवादिन एवाप्तत्वात् । अथैतद्वक्ता आप्तस्तर्ह्यदृश्यं प्रकृत्यादि पश्यतीति भवति सर्वज्ञः । तथाच सर्वज्ञत्वेन सर्वकर्तृत्वस्य योगादिदर्शनसिद्धत्वान्मूढानामकर्तृत्वं वदन् स्वस्मिन्नेव कर्तृत्वं पर्यवसाययतीत्यर्थः । अलौकिकसामर्थ्यं श्रुतीनां सम्मतमित्याहुः **यथेत्यादि** । अत्र श्रुतौ भूतभव्ययोरविद्यमानत्वेन प्रतीतयोरपि पुरुषत्वं विधाय पुरुषस्य तावन्मात्रतां वारयन् मोक्षनियामकत्वमाह **उताऽमृतेत्यादि** । ततो, "यदन्नेनातिरोहती"त्यनेन पृथिव्या तदतिरोभावं तत्र हेतुतया वदंस्तस्य माहात्म्यमाह **एतावानित्यादिना** । यत ईदृशोऽस्य महिमा, अतोऽपि पुरुषो ज्यायान् सर्वोत्कृष्टः । **अकर्तृत्वञ्चेति** मूलस्थश्चाऽप्यर्थे, अनुक्तसमुच्चयार्थो वा । तदेव निगमयन्ति **यत्रैवमित्यादि** ॥ ८८ ॥

पुराणं तु मित्रसम्मितमिति लोकरीत्या प्रबोधयत् कदाचिन्मायिकत्वं बोधयतीत्याह—

मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते ।

मायिकत्वं पुराणेष्विति । आसक्तिनिवृत्त्यर्थं तथा बोध्यते । अवान्तरप्रकरणानुरोधाच्च तथाऽवसीयते ।

टिप्पणी ।

मित्रसम्मतमिति । मित्रवत्संमतं मित्रं यथा हितार्थमन्यथापि वदति तथेत्यर्थः । अवान्तरेति । शोकनिवृत्त्यादिप्रकरणानुरोधादित्यर्थः ॥ ८९ ॥

आवरणभङ्गः ।

ननु यद्येवं तर्हि वेदोपबृंहकेषु पुराणेषु किमिति प्रपञ्चस्य मायिकत्वमुच्यते इत्याकाङ्क्षायां तत्तात्पर्यं वक्तुमाहुः पुराणं त्वित्यादि, मित्रसम्मतमिति । मित्रवत् सम्मतमित्यर्थः । प्रियं यथा, "विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्था" इति वदन् सर्वथा एतद्गृहे न भोक्तव्यमिति वक्तुं विषभोजनमपि वक्ति । न ह्यत्र विषभोजने तात्पर्यं, किन्तु सर्वथा तद्गृहभोजनाभावे । तथा आसक्तिनिवृत्त्यर्थं तथा बोध्यत इति तथेत्यर्थः । कदाचिदिति । यदा वैराग्योत्पादनावश्यकता तदा । अन्यदा तु, "विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया । यथेदानीं तथा चाग्रे पश्चादप्येतदीदृशम्" इति । "प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्" इति श्रीभागवते । विष्णुपुराणे च प्रथमेंऽशे "तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराऽखिलम् । आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवदि"ति । वस्तुतो नित्यं, किन्त्वाविर्भावादिविकल्पयुक्तमित्यर्थः । वैराग्यार्थमेव मायिकत्वकथनमित्यत्र गमकमाहुः । अवान्तरप्रकरणानुरोधादिति । तदेतत् किञ्चित् प्रपञ्च्य दर्श्यते । तथाहि, एकादशस्कन्धे सप्तमाध्याये, "त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु । मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्" इत्यनेन बन्धुस्नेहत्यागः, स्वस्मिन् सम्यङ्मनोनिवेशनं चेत्यङ्गद्वयविशिष्टसमदृक्त्वेन भूमौ विचरणमुपदिशतो भगवतो, "यदिदं मनसा वाचा" इत्यादिवाक्यपञ्चकम् । तद्धि सम्यक्त्वस्य पूर्वाङ्गं, यः स्वजनबन्धुस्नेहत्यागस्तदर्थमान्तरालिकसृष्टिमादायोक्तं भवति । अन्यथा, "सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः । पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विषज्जेत वै पुनरि"त्युपसंहारे "पश्यन् मदात्मकं विश्वमि"त्येवं समदृक्त्वं न विवृणुयात् । "पश्यन् मायात्मकमि"त्येवं च विवृणुयात् । अतो मदात्मकं विश्वं पश्यन् समदृङ् नश्वरत्वेन गृह्यमाणेषु स्वजनबन्धुषु पुनर्वै निश्चयेन न विषज्जेतेत्युक्तं भवति । ततश्च मौसले यन्मायिकं प्रकटीकार्यं तद्विषयमेवेदं बोध्यम् । एतस्यैव विस्तारोऽग्रे प्रश्नानुरोधेन । एवं सति तदग्रिमप्रश्ने, "सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढस्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे । तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम्" इति श्लोके, "त्वन्मायया विरचिते"ति, "सोऽहं ममाहमि"त्याकारिकाया अन्तरासृष्टिविषयिण्या मूढबुद्धेर्विशेषणम् । आत्मनीति भिन्नं पदम् । तदिति ल्यब्लोपे पञ्चमी, ञ्जसा । ततश्च सानुबन्धे आत्मनि सोऽहं ममाहमिति त्वन्मा-

आवरणभङ्गः ।

यथा विरचिता या मूढमतिस्तां बुद्धिं त्यक्त्वा विगाढो दृढोऽहं भवन्निगदितं यथा संसाधयामि तथा शाधीत्यन्वयो ज्ञेयः । दशमाध्याये तु, "सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः । नानात्मकत्वाद् विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैरि"ति श्लोके भेदात्मबुद्धेरेव विफलत्वमुक्तम् । न तु प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमिह । "वैशारदी साऽतिविशुद्धबुद्धिरि"त्यत्रापि विद्यया, विकल्पबुद्धिरूपायाः सकार्याविद्याया नाशे तन्नाशिकायाः सात्त्विकज्ञानरूपाया विद्याया अपि अग्निदृष्टान्तेन नाश्यनाशेन स्वतो नाशमात्रमुच्यते । तावता न काचित् क्षतिः, नाशस्य तिरोभावरूपत्वात् । सात्त्विकत्वेन तस्या अपि मनोऽवस्थारूपत्वात् । एतदग्रे, "अथैषा"मित्यारभ्य "ते मुह्यन्ति शुचार्पिता" इत्यन्तेन कर्ममार्गीयभेदवादिनिन्दनं, "काल आत्मे"त्यनेन नानावादं चाह । तत्त्वनुकूलमेव । एवमग्रे द्वादशाध्याये "तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्ये"ति द्वाभ्यां सर्वत्यागपूर्वकपुष्टिमार्गीयशरणगमनोपदेशोत्तरमुद्धवसंशयनिवर्तनाय, "स एष जीव" इत्यारभ्य, "अथ त्यजास्मि"त्यन्तेन यदुक्तं, तत्रापि संशयोत्पादकचाञ्चल्यनिवृत्त्यर्थं मनोनिग्रहस्यावश्यकत्वाद् विहितप्रतिषिद्धादिभेदबोधनेन चित्तचाञ्चल्यजनकस्य वेदस्य, "स एष" इत्यादि "वाणी"त्यन्तेन स्वव्यक्तिरूपं स्वरूपं सपरिकरमुक्त्वा, तदर्थस्य रूपप्रपञ्चस्यापि वेदातिदेशेन स्वव्यक्तिरूपतामुक्त्वा, त्याज्यांशं बोधयितुं, "स एष" इत्यादिना प्रकृतिपुरुषबीजस्य कर्मात्मकस्य भेदप्रपञ्चस्य स्वरूपं वदन् प्रतिषिद्धन्यायेन "हेयमेतं मायामयं यो वेद स वेदं वेदे"त्युपसंहृत्य, एवं गुरूपासनयेत्येकेन मनोनिग्रहप्रकारमाह । अतोऽत्रापि वैराग्यार्थं मतान्तरसृष्ट्यनुवादः पूर्ववदेवेति न चोद्यावकाशः । एवमेव त्रयोदशे योगबोधनार्थं हंसगीतामुपक्षिप्य तत्र भेदस्य वाचारब्धत्वमुक्त्वा, "यदिदं मनसे"त्यनेन सर्वस्यात्माभेदेन ज्ञानमुपदिश्य जीवदेहस्वरूपे गुणाश्चित्तं च तदुभयत्यागार्थं जीवस्य मनोऽवस्थाविलक्षणत्वं साक्षित्वं च नृसिंहोत्तरतापनीयवदुक्त्वा, "तर्हि संसृतिबन्धोऽय"मित्यादिद्वाभ्यां त्यागोपायमुक्त्वा, "यावन्नानार्थे"त्यादिना नानात्वस्य भ्रान्तिकल्पितत्वाद्धार्दनानात्वमनुमानादीनां सञ्छिद्य, "मां भजेतेत्युपदिशन्नीक्षेत विभ्रममि"त्यनेन त्रिविधस्य जाग्रदादिष्वन्तरा सृष्टस्यैवं मनोविलासत्वं भ्रमत्वं चाह । ततो, "दृष्टिं तत" इत्यादित्रयेण जीवदेहस्य पूर्वोक्तस्यैव नश्वरत्वादिकं वदन् साङ्ख्ययोगगुह्यमुपसंहरति । तेनेदमपि वैराग्यार्थमेव भेदवाद्यभिमतां गुणविसर्गसृष्टिमेव तादृशीं वदतीति पूर्ववदेव । अत एव चतुर्दशपञ्चदशाध्यायद्वये एकस्यैव वेदस्याध्येतृणां प्रकृतिवैचित्र्यान्नानार्थवक्तृत्वं स्वमाययोक्त्वा, तुच्छफलभोक्तृत्वं च तेषामुक्त्वा, विंशैकविंशाभ्यामध्यायाभ्यां सप्रपञ्चं वेदार्थं सङ्ग्रहेणोक्त्वा "किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् । इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन । मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् । एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदा । मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदती"त्यन्तेन शब्दस्य स्वास्थानेन भिदा मायिकतावक्तृत्वमुक्तम् । तेन पूर्वोक्त एवार्थो निर्णीत इति निगर्वः । एवं सप्तैकोनविंशे यदुक्तं तु "अप्युद्धवाश्रयती"त्यनेन, तदपि, "मायामात्रमिदं ज्ञात्वे"त्युपक्रमोक्तसन्यासाङ्गवैराग्यसिद्ध्यर्थं पूर्वोक्तसृष्टिं लक्ष्यीकृत्यैवोक्तमतोऽत्रापि न चोद्यावकाशः । एवमेवाष्टाविंशे, "छायाप्रत्याह्वयाभासा असन्तोऽप्यर्थकारिणः । एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम्" इत्येतेन पूर्वोक्तरूपाणामेव देहादीनामर्थक्रियाकारित्वेऽप्यसत्त्वं बोध-

उपसंहरति—

तस्मादविद्यामात्रत्वकथनं मोहनाय हि ॥ ८९ ॥

तस्मादिति ॥ ८९ ॥

अस्मिन्नर्थे भगवद्वाक्यं सम्मतिरूपमाह—

अस त्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ९० ॥

असत्यमप्रतिष्ठं त इति । अतो यत्र क्वचिज्जगतो मिथ्यात्वमसत्यत्वं मायिकत्वमिति बोध्यते तदासुरमिति निश्चयः ॥ ९० ॥

ननु ब्रह्मवादेऽपि वाचारम्भणवाक्यानुरोधाद् विकल्पानामसत्यत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याशङ्क्याह—

अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा ।
ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः ॥ ९१ ॥

अखण्डाद्वैतभाने त्विति । द्वेधा हि वेदान्तानां बोधनप्रकारः । प्रजायेयेति

टिप्पणी ।

असत्यमिति । ते आसुरा जनाः इदं जगदऽसत्यं अनृतप्रायं अप्रतिष्ठं धर्माऽधर्मप्रतिष्ठारहितम् । अनीश्वरमीश्वरवर्जितम् । अपरस्परसम्भूतम् । अपरश्चपरश्चेत्यपरस्परतः अन्योन्यतः स्त्रीपुरुषयोः अन्योन्यसङ्गाज्जातम् । कामहैतुकं स्त्रीपुरुषयोः काम एव हेतुः, नान्यत् कारणान्तरमस्तीत्यर्थः ।

आवरणभङ्गः ।

यित्वा तदनुपदमेव, "आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः । त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वर" इत्यनेन सर्वस्येश्वरात्मकत्वमुक्तमिति भेद एव मिथ्यात्वं पर्यवस्यतीति । समाप्तौ च, "एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रह" इति कथनात् सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वमेव सिद्ध्यतीत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । एवमेव पुराणान्तरेष्वपि ज्ञेयम् । प्रकृतमनुसरामः । तस्मादिति । विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपस्य श्रौतसिद्धान्तस्य पौराणिकस्यावान्तरप्रकरणस्य चाननुसन्धानात् । अत्राविद्यामात्रपदेन तावन्मात्रताङ्गीकारेण एकदेशमात्रस्य सिद्धान्तत्वं ये वदन्ति ते प्रतारका इत्युक्तम् । तेषां प्रतारकत्वे मानमाहुः अस्मिन्नित्यादि ॥ ८९ ॥

असत्यमित्यादि । ते आसुरा जगदसत्यम्, अप्रतिष्ठम्, अनीश्वरमाहुः । सत्यस्य कार्यं सत्ये ब्रह्मणि प्रतिष्ठितम्, ईश्वरेण नियमितं च नाहुरित्यर्थः । तत्र हेतुः, सर्वमेव जगत् कामहेतुकं कामादुत्पद्यते । अपरस्परसम्भूतं योषित्पुरुषयोः परस्परसम्बन्धेन सर्वमुत्पद्यमानं दृश्यते । अतोऽतादृशम् अन्यत् किं भविष्यति, न किमपीत्यर्थः । इत्यासुरमतमत्रोक्तम् आसुरमिति । यो यादृशं पश्यति स तादृशं वदति । मायेत्यसुरा इत्यसुराणां मायोपासकत्वात् स्वसम्बन्धिनिरूपणं ते कुर्वन्तीति तन्मतमासुरमित्यर्थः ॥ ९० ॥

एवं सम्यक् प्रपञ्चस्य स्वरूपेण सत्यत्वं स्थापयित्वा विकल्परूपेणापि सत्यत्वं स्थापयितुं, नन्वित्यादिना आशङ्क्य समादधते अखण्डेत्यादि । प्रजायेयेत्यादि । "बहु स्याम्"मित्यनेन बहुभवने

वाक्यानुरोधादुच्चनीचत्वं भगवानेव प्राप्त इति विकल्पबुद्धावपि ब्रह्मावगतिर्न विरुद्ध्यते । क्वचित् पुनर्विकारा वाचैवारब्धा इति कार्यांशमनादृत्य वस्तुस्वरूपविचारेण आविर्भावतिरोभावौ पृथक्कृत्य सन्मात्रं जगदिति बोधयन्ति । तत्र प्रथमपक्षे सन्देह एव नास्ति । द्वितीयपक्षेऽपि न दूषणमिति तु शब्दः । यदा अखण्डाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिर्घटः पट इति, सा बाध्यते । सर्वत्र ब्रह्मैवेति । न तु स्वरूपतोऽपि घटादिपदार्थोऽपि धर्मी बाध्यत इत्यर्थः ॥ ९१ ॥

ननु घटपटयोरद्वैतं नोपपद्यत इति प्रत्यक्षानुरोधाद् द्वैतमङ्गीकर्तव्यमित्याशङ्क्याह—

भिन्नत्वं नैव युज्येत ब्रह्मोपादानतः क्वचित् ।
वाचारम्भणमात्रत्वाद् भेदः केनोपजायते ॥ ९२ ॥

भिन्नत्वमिति । कटककुण्डलयोर्भेदो न सर्वथा भवति । उपादानस्यैकत्वात् ।

आवरणभङ्गः ।

छान्दोग्यवत् सिद्धे पुनः ''प्रजायेये''त्यस्यात्र विध्रियमाण एवाकारः सिद्ध्यति । एवं सति यथा ''वाचारम्भण''वाक्यानुरोधाद् विकल्पानां वाङ्मात्रत्वमेवं ''प्रजायेये''त्यस्यानुरोधाद् भगवद्रूपत्वमपि श्रौतमिति मुख्याधिकारिणां विकल्पबुद्धावपि ब्रह्मावगतिर्न विरुद्ध्यते । शेषाणामर्थे द्वितीयः पक्षः । तदापि यथा बहुसुवर्णापेक्षायां तत्कार्याणि कटककुण्डलघटशरावादीन्यानीयैतावदिदं सुवर्णमिति सुवर्णत्वेनैव तानि गृह्यन्ते, न तु कटकादिरूपेणेति विकल्पबुद्धेरेव बाधो, न तु स्वरूपस्यापीति तादृशभानानुरोधेनापि न मिथ्यात्वं प्रपञ्चस्य सिद्ध्यतीति भावः । एतेन गौडवार्तिकानुरोधेनापि ये ग्रहिलत्वं विदधति, तेऽपि प्रत्युत्तरिता बोध्याः । गौडवार्तिकप्रकरणचतुष्टयार्थस्तु मया तद्व्याख्याने सोपपत्तिको निरूपित इति ततोऽवधेयः ॥ ९१ ॥

एवं मायावादं निराकृत्य माध्वमीमांसकादीन् भेदवादिनो निराकर्तुं तन्मतमाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि । भिन्नत्वमित्यादि च । अयमर्थः । यदुक्तम्, अद्वैतं घटपटयोर्नोपपद्यत इति । तत् किमुपादानद्वैतात्? स्वरूपधर्मद्वैताद्वा? प्रमाणभेदाद्वा? । नाद्यः । श्रुतौ ब्रह्मण एवोपादानत्वकथनात् । ''यतो वा इमानी''त्यादौ पञ्चम्या, जनिकर्तुः प्रकृतिरित्यनुशासनेनोपादानार्थ एव जातत्वात् । योनित्वश्रावणाच्च । लोकेऽपि सुवर्णविकृतिषु प्रतीयमानमपि द्वैतमनादृत्य सुवर्णार्थिना तद्ग्रहणेन सर्वथा कारणभेदस्यैव निश्चायनात् । श्रुतौ लोहदृष्टान्ताच्च । घटपटस्थले तु व्यावहारिकोपादानकृतो भेद इत्यवास्तवः । न द्वितीयः । सिद्धे स्वरूपैक्ये धर्मद्वैतस्याकिञ्चित्करत्वात् । अन्यथा संवेष्टनप्रसारणे पटम्, उपवेशनोत्थाने च पुरुषमपि भिन्देताम् । एव सहानवस्थानविरुद्धानामपि यत्र नाश्रयभेदकत्वं, तत्र सहावस्थानादविरुद्धानां तु सर्वथैव न तथात्वम् । अत एव न रूपरसाभ्यां घटो भिद्यते । येऽप्येककाले एकत्र सहानवस्थायिनो निष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वादयस्तेऽपि प्रतियोगिभेदमुपलभ्य नाश्रयं भिन्दन्तीति गमनकर्मणि सार्वजनीनानुभवसिद्धम् । ब्रह्मणस्त्वेकत्वेन

धर्मरूपत्वे एकस्यैवोभयं धर्मः। तयोश्चोपादानाऽभेदात्। भेदो न युक्तिसहः। प्रत्यक्षं तु अभेदेऽपि भेदं गृह्णाति। द्विचन्द्रवत्। महतां तु प्रत्यक्षं तदपि न गृह्णाति। अतः प्रमाणानुरोधाद् वाचारम्भणमात्रत्वं पदार्थानामवगत्य सर्वत्र ब्रह्मभावावगतौ केन भेद उपजायत इत्यर्थः। तस्माद् भेदानुरोधेनापि ब्रह्मवादो न निराकर्तव्य इति भावः॥९२॥

एवं मायावादं निराकृत्य साङ्ख्यनिराकरणार्थमाह—

साङ्ख्यो बहुविधः प्रोक्तस्तत्रैकः सत्प्रमाणकः।
अष्टाविंशतितत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः॥ ९३॥

साङ्ख्यो बहुविध इति। ब्रह्मवाद एव प्रथमसृष्टानां पदार्थानां साङ्ख्ययोगात् साङ्ख्यमिति यन्मतं तद् ब्रह्मवाद एव प्रविशति। स्वतन्त्रतया यानि मतानि तान्यप्रामाणिकानि। तत्रैकं स्थापयति तत्रैक इति। सतां प्रमाणसिद्धः। तस्य स्वरूपमाह अष्टाविंशतीति॥ ९३॥

अन्येषां दूषणप्रकारमाह—

अन्ये सूत्रे निषिद्ध्यन्ते योगोऽप्येकः सदाहतः।
यस्मिन् ध्यानं भगवतो निर्बीजेऽप्यात्मबोधकः॥ ९४॥

अन्य इति। अन्येषां चानुपलब्धेः। न हि महत्तत्त्वं प्रकृतिर्वा जगति प्रतीयते।

आवरणभङ्गः।

महामहिमत्वात् प्रतियोग्यन्तराभावेऽपि न तादृशां धर्माणां भेदकत्वमित्यधस्तादुपपादितमेव। वस्तुतस्तु तादृशोर्धर्मयोरपि न स्वरूपभेदः। न हि प्रतियोगिभेदमादाय भिन्नमिवोपलभ्यमानं निष्क्रमणत्वं प्रवेशनत्वं भिन्नं भवति। मानाभावात्। एवमन्यत्राप्यभिमानमात्रमेव भेदो, न तु वास्तवः। प्रजायेयेतीच्छा तु धर्माणां स्वरूपं ब्रह्मैव समर्पयन्ती, न तेषां स्वरूपभेदिका। तदेतदुक्तं, न युक्तिसह इति। नापि तृतीयः। प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेन तन्मूलकानामन्येषामपि तथात्वात्। अतः पारिशेष्याच्छ्रुतिसिद्धमेव तदनुरूपमहत्प्रत्यक्षसिद्धमेव चाङ्गीकार्यम्। तेन लोकप्रतीयमानरूपेण पदार्थानां वाचारम्भणमात्रत्वमेवेति न कथमपि ब्रह्मवादनिराकृतिरिति तात्पर्यम्॥ ९२॥

एवं भगवतो व्यासस्य च मतं ब्रह्मवादरूपं स्थापयित्वा सूत्रेषु मतान्तरनिराकरणे साङ्ख्ययोगयोरपि निराकृतत्वाद् भगवदभिमतयोरपि तयोस्तथात्वं सम्भाव्यत इति तन्निवारणाय प्रथमं साङ्ख्यं व्यवच्छेत्तुमाहुः एवमित्यादि। साङ्ख्यो बहुविध इति। सिद्धान्त इति शेषः। एकमिति। यथा द्वितीयतृतीयस्कन्धसिद्धम्, एकादशस्कन्धे भगवदुक्तं च सतामिति। मन्वादीनामित्यर्थः॥९३॥

अन्येषामिति। निरीश्वरकापिलोक्तादीनामित्यर्थः। अन्येषामिति वैयासं सूत्रं विवृण्वन्ति न हीत्यादि। नन्वनुपलम्भेऽपि कार्यलिङ्गकानुमानेन कारणभूता प्रकृतिर्महाँश्चानुमेयः। तथाहि, स्थूलानां सावयवानां भूतानां कार्यत्वात् तैस्तत्कारणभूतानि तन्मात्राण्यनुमानाय तैर्द्विविधेन्द्रियैश्च कार्यैरहङ्कारं, तेन महत्तत्त्वं बुद्ध्यात्मकं, तेन च कार्येण प्रकृतिरनुमास्यत इति चेन्न। प्रत्यक्षेण

नित्या वा प्रकृतिर्निरवयवा च कथं परिणमति । अतः स्वभाववाद एव प्रकृतिवादोऽपि प्रविशतीति । अन्यद् दूषणं भाष्ये विस्तरेणोक्तम् । योगं निराकरोति योगोऽप्येक इति । चित्तवृत्तिनिरोधो योगः । स च भगवद्ध्यानार्थमङ्गत्वेनोपयुज्यते । स प्रामाणिकः । यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्तथा सिद्धिहेतुर्ज्ञानात्मा च, तथाऽन्ये देहेन्द्रियादिसाधकास्ते अप्रामाणिकाः । सूत्रे च निषिद्ध्यन्ते, 'एतेन योगः प्रत्युक्त' इति । तदाह यस्मिन् ध्यानं भगवत इति । अन्ये सूत्रे निषिध्यन्त इत्यनुषङ्गो ध्यानाभावेऽप्यात्मबोधाङ्गभूतः प्रामाणिक एव ॥ ९४ ॥

टिप्पणी ।

ध्यानाभावेऽपीति । भगवद्ध्यानाऽभावेऽपि जीवात्मनोर्ब्रह्मत्वभावनयाजीवस्वरूपज्ञाने योगभूतो योगः स प्रामाणिक एवेत्यर्थः ॥ ९४ ॥

आवरणभङ्गः ।

स्थूलकार्येण सूक्ष्मस्य कारणस्य साधनेऽपि सूक्ष्माणामगोचरत्वात्, तैस्तत्कारणानुमानस्य दुर्घटत्वात् । यथाकथञ्चित् प्रत्यक्षत्वेऽपि तैः कारणमात्रमेवानुमास्यते, न तु तद्विशेषः । तथा सत्यहङ्कारात् तेषामुत्पत्तिर्न न्यायात् सिद्ध्यति । नापि तस्मान्महतः । प्रत्यक्चित्तेरात्मविषयत्वेनात्मनोऽहङ्कारपृथक्करणस्य दूरतरत्वात् । यथाकथञ्चित् पृथक्त्वसिद्धावपि कारणतापर्यवसानस्य तत्रैव शक्यवचनत्वाद् बुद्धेश्च जन्यज्ञाने मनसि वान्तर्भावस्य शक्यवचनत्वान्न कथमपि प्रकृतिमहतोर्न्यायात् सिद्धिः । नापि श्रुतेः । अद्वैतभङ्गप्रसङ्गेन वादिविवक्षितरूपताया अशक्यवचनत्वात् । तदेतदुक्तं, न हीत्यादिना । दूषणान्तरमाहुः नित्या वेत्यादि । नित्यनिरवयवत्वयोः पुरुषतत्त्वेऽपि तुल्यत्वात् तस्य न परिणामः, प्रकृतेरेव परिणाम इत्यत्र बीजे विमृष्टे स्वभाव एव तथात्वेन पर्यवस्यतीति स्वभाववादोक्तानि नियतावधिकत्वाभावादीनि पुनरापतेयुरित्यर्थः । योगोऽप्येक इति । यः पुराणादिषूच्यते स प्रामाणिक इत्यर्थः । दूष्यमाहुः यस्त्वित्यादि । स्वतन्त्रतयेति । पातञ्जलसूत्र इत्यर्थः । कालक्षपणहेतुभूतसिद्धीनां जनकः पुराणादावपि तुच्छतया प्रतिपादितः । ज्ञानात्मादयस्तन्त्रेषु कापालिकमते वामेषु च सिद्धास्त इत्यर्थः । तदाहेति । तस्मादनिषेध्यस्य स्वरूपमाहेत्यर्थः । यस्मिन्नित्यादि । योगः सबीजो निर्बीजश्चेति द्विविधः । स एव सम्प्रज्ञाताऽसम्प्रज्ञातपदाभ्यामुच्यते । तत्र संशयविपर्ययराहित्यपूर्वकं भाव्यस्य स्वरूपं येन प्रकर्षाज्ज्ञायते स सम्प्रज्ञातः । तत्र भावनीयानां पदार्थानामानन्त्यात् तान् सर्वान् विहाय यस्मिन् भगवतः स्थूलरूपस्य वा ध्यानं सोऽनिषिद्ध इत्यर्थः । पुराणेषु निर्बीजस्याप्युक्तत्वात् तत्सङ्ग्रहायाप्याहुः ध्यानाभाव इत्यादि । यत्र ध्येयस्य रूपस्य न भानं, "यन्नेति नेती"त्यत्र स निर्बीजोऽपि प्रामाणिक इत्यर्थः । एवं चतुर्लक्षण्यां समन्वयाविरोधयोर्यावत् तावत्पर्यन्तं तदेतावता ग्रन्थेन सङ्गृहीतम् ॥ ९४ ॥

एवं परमतनिराकरणपूर्वकं स्वमतं स्थापयित्वा निरूपितस्य भक्त्युपयोगमाह—

वैराग्यज्ञानयोगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा ।
एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ९५ ॥

वैराग्येति । पञ्चाङ्गयुक्तः पुरुषो भगवन्तं भजेत् । तत्र प्रथमं वैराग्यमङ्गम् । तदभावे भगवदावेशाभावान्न भजनसिद्धिः । द्वितीयं ज्ञानं सर्वपदार्थानां याथार्थ्यरूपं भगवतश्च । तदभावे निश्चयाभावान्न प्रवृत्तिः । योगोऽप्यङ्गम् । मनसश्चाञ्चल्ये, भजनानुपपत्तेः । तथा प्रेमाप्यङ्गम् । तदभावे भजनं स्वतः पुरुषार्थरूपं न भवेत् । रसाभिव्यक्त्यभावात् । तपोऽप्यङ्गम् । तदभावे देहादेरामत्वान्न भजनं सिद्ध्यति । तपसा च देहेन्द्रियादीनां पाकः । पञ्चानां समुदायो दुर्लभ इति गौणपक्षमाह एकेनापीति । दृढेनेति विशेषः । ईशं समर्थं कृष्णम् । सिद्धिं मोक्षम् ॥ ९५ ॥

एवमुत्पत्तिप्रकारेणापि परमतनिराकरणपूर्वकं स्वमतं स्थापयित्वा कालद्रव्यगुणैस्त्रेधैव प्रलय इति प्रलयप्रकारेणापि परमतं निराकर्तुमाह—

ज्ञाने लयप्रकारा हि जगतो बहुधोदिताः ।
मनसः शुद्धिसिद्ध्यर्थमेकः साङ्ख्यानुलोमतः ॥ ९६ ॥

ज्ञाने लयप्रकारा हीति । ज्ञानमार्गे जगतो लयप्रकारा बहव उक्ता इति ते सर्वे प्रकरणाभावान्मनसः शुद्ध्यर्थं ज्ञेयाः । यतस्त्रिविध एव सङ्क्रमः, कालेन नित्यः ।

टिप्पणी ।

कालेन नित्य इति परिणामभेदेन प्रत्यहं जायमान इत्यर्थः । तदुक्तं द्वादशे चतुर्थाध्याये "नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप । उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते । कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा । परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः" इति ।

आवरणभङ्गः ।

तस्य सर्वस्यापि प्रयोजनं वदन्तः साधनफलाध्यायार्थं सङ्ग्रहेणाहुः एवमित्यादिना । द्वितीयमित्यादि । एतेन साङ्ख्ययोगयोः सदादृतत्वे बीजमुक्तम् । एतेषु वैराग्ययोगौ फलोपकारकौ । ज्ञानतपसी स्वरूपोपकारके । प्रेम तु स्वरूपोत्कर्षाधायकम् । एवं पञ्चानामुपयोगो बोध्यः । अत्राङ्गपञ्चकयुक्तं भजनं मुख्यम् । तस्य दुर्लभत्वादाहुः पञ्चानामिति । अत्र खट्वाङ्गादय उदाहरणत्वेन ज्ञेया, ऊह्याश्च ॥ ९५ ॥

मतान्तरे चतुर्धा प्रलयोऽङ्गीक्रियते प्रपञ्चस्य । तत्र चतुर्थ आत्यन्तिकः । स च ज्ञानेन भवति । तथा सति ज्ञानेन लयाज्ज्ञाननाश्यत्वं प्रपञ्चस्यायाति । ततश्चाविद्यकत्वं सिद्ध्यतीति तेषामभिमानोऽपि विरुद्ध इति ज्ञापनाय तमप्यंशं दूषयितुमाहुः एवमुत्पत्तीत्यादि । ज्ञाने ये लयप्रकारा उक्तास्ते भावनामात्रतो मनसि भावनीया इति मूलयोजनार्थः । प्रकरणाभावादिति । प्रकरणं ह्युभयाकाङ्क्षा । परस्पराकाङ्क्षाभावादित्यर्थः । सोऽनुपदं व्युत्पाद्यः । प्रकरणाभावे हेतुमाहुः यत इत्यादि । त्रिविध इति । यद्यपि श्रुतौ लयमात्रमुक्तं, त्रैविध्यं चातुर्विध्यं वा न प्रतिपादितं,

द्रव्येण सङ्कर्षणमुखाग्निना नैमित्तिकः, गुणैः प्राकृतिकः । त एव प्रकारान्तरमापन्ना भावनया साधिता आत्यन्तिकशब्दवाच्या भवन्ति । न त्वात्यन्तिकोऽतिरिक्तः ।

टिप्पणी ।

द्रव्येण सङ्कर्षणमुखाग्निनेति । भगवतः शयनेन निमित्तेन ब्रह्मणो दिनान्ते सङ्कर्षणमुखाग्निना जातो न सूर्यशतवर्षवृष्ट्यादिभिर्नैमित्तिक इत्यर्थः । तदुक्तं तत्रैव "तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता । त्रयो लोका इमे यत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि । एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् । शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः" इति । गुणैः प्राकृतिक इति । गुणैर्गन्धादिभिर्लीयमानैर्निरूप्यः प्राकृतिक इत्यर्थः ।"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेति" वाक्यात् प्रकृतिरूपैर्महदादिभिर्जायमानत्वात् प्रकृतिभिर्निर्वृत्तः प्राकृतिको भवति यद्यपि तथापि विशेषतोऽस्य निरूपणे गन्धादिभिरेव निरूपणात् गुणैः प्राकृतिक इत्युक्तमाचार्यचरणैः स चोक्तस्तत्रैव "द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै । एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते । अण्डकोशस्तु सङ्घातो विघात उपसादितः" इति श्लोकद्वये सामान्यतः प्राकृतिकं प्रलयमुक्त्वा "पर्जन्यः शतवर्षाणी"त्यारभ्य स प्रकारो "लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा । शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुता" इत्यन्तेन निरूपितः । त एवेति । वक्ष्यमाणप्रकारेषु कञ्चित्प्रकारं भावनया प्राप्तास्ते प्रलया आत्यन्तिकशब्दवाच्या भवन्ति तत्तन्ममतानाशे ब्रह्मनिष्ठतया ब्रह्मानुभवेन तेन तेन रूपेण तत्तद्वस्तुभानाऽभावे तं प्रति

आवरणभङ्गः ।

तथापि पुराणेषु, "कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसङ्क्रम" इति तृतीयस्कन्धादौ निरूपणाव् तथेत्यर्थः । त्रैविध्यं व्याकुर्वन्ति कालेनेत्यादि । तदुक्तं द्वादशे "नित्यदा ह्यङ्ग भूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप । उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते । कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा । परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतव" इति । "तदन्ते प्रलयस्तावद् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता । त्रयो लोका इमे यत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि । एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् । शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूरि"ति । तृतीयस्कन्धे "त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना" इति कथनादस्य द्रव्यकृतत्वम् । "द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै" इत्यारभ्य, "लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा । शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुता" इति । यद्यप्यत्र गुणानामपि ग्रास उक्तस्तथापि क्षुब्धानामेव नाशः शक्तिपदाज्ज्ञेयः । अयमेव, "कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावह" इति कारिकया पूर्वं परामृष्टः । द्रव्येणेत्यादौ, सङ्कर्षणमुखाग्निनेत्याद्युपलक्षणम् "कालद्रव्यगुणै"रित्यस्य सुबोधिन्यां, द्रव्यैर्वायुदण्डादिभिर्गुणैर्विरोधिभिरिति व्याख्यानात् । तेन योगादिना देहस्य दाहक्लेद-शोषच्छेदादिना च लयोऽपि सङ्गृहीतो ज्ञेयः । तेन न चोद्यावसरः । ननु, "नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः । आत्यन्तिकश्च कथित" इति द्वादशस्कन्धे वाक्याच्चतुर्थः कुतो नाङ्गीक्रियत इत्यत आहुः त एवेत्यादि । प्रकारान्तरमापन्ना इत्यस्यैव विवरणं, भावनया साधिता

अहन्ताममतानाश एव विषयाणां नाशोपचारात्। ततोऽतिरिक्तकल्पनायां प्रमाणाभावः। भावनया फलं भवतीति तदाह फलम् मनसः शुद्धिसिद्ध्यर्थमिति। एकः साङ्ख्यानुलोमत इति। "अन्ने प्रलीयते मर्त्यं" इत्यादिना निरूपितः ॥ ९६ ॥

टिप्पणी।

तेषां नष्टप्रायत्वादित्यर्थः। तदुक्तं द्वादशस्कन्धे "यदैनमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्। छित्त्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग सम्प्लवम्"। अन्ने प्रलीयत इति। एकादशे चतुर्विंशाध्याये। "अन्नं प्रलीयते मर्त्यं अन्नं धानासु लीयते" इत्यारभ्य "मध्यजे" इत्यन्तेन निरूपित इत्यर्थः ॥ ९६ ॥

आवरणभङ्गः।

इति। तत्र हेतुमाहुः अहन्तेत्यादि। "यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्। छित्त्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग सम्प्लवम्" इति द्वादशीयवाक्य आत्माध्यासरूपाहङ्कारच्छेदस्यावस्थानस्य चोक्तत्वात् तस्यैवाङ्गसम्प्लवत्वकथनादङ्गेति सम्बोधनाद्वा मायामयाहङ्कारनाश एव। यथा चौरराजादिना नीते धने तत्र ममतानाशान्नष्टं धनमित्युपचारस्तथात्राप्यङ्गनाशोपचार इत्यवस्थानकथनाज्ज्ञायते। तेन तथेत्यर्थः। भावनया फलं भवतीति तदाहेति। वक्ष्यमाणप्रकारप्रलयभावनया मनःशुद्धिरूपं फलं भवति, न तु देहनाशोऽपीति ज्ञापनाय प्रमाणं वदँस्तत्प्रकारमाहेत्यर्थः। अन्न इत्यादि। इदमेकादशे चतुर्विंशाध्यायेऽस्ति। तत्रोपक्रमे, "अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि साङ्ख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्। यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम्" इति प्रतिज्ञानाद्, उपसंहारे च, "एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः। मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तम" इति कथनाच्चाऽऽत्माध्यासरूपाहङ्काराख्यभ्रमनिवृत्तिरेव फलं सिद्ध्यतीत्यस्याः सङ्घातलयभावनाया मनःशुद्धिरेव प्रयोजनं, न तु शरीरस्यापि लयः। तथा सति तदानीमेव शरीरपातः स्यात्। "सद्यो जह्यादि"त्युक्तेः। तथाच तदभावादपि मायावादो न मन्तव्य इति भावः। "संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचिदि"ति, "देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति ही"ति, "जीवन्मुक्तिर्विरुद्ध्यत" इति च यदुक्तं प्रकरणादिभागे तस्यैवायं सर्वोऽपि परिकरो ज्ञेयः। एवमत्र प्रकारान्तरमापन्नस्य प्राकृतिकस्यात्यन्तिकत्वमुक्तम्। एवमेव नित्यनैमित्तिकयोरप्युदाहरणं दृष्ट्वाऽऽत्यन्तिकत्वं लयभावनयोहनीयम्। यथैकादशे द्वाविंशाध्याये प्रकृतिपुरुषभेददिदृक्षुश्रीमदुद्धवपृष्टेन भगवता मतान्तरीयसाङ्ख्यादिसिद्धयोः प्रकृतिपुरुषयोर्विकल्पस्य गुणक्षोभात्मकत्वमुक्त्वा, मायाबलादिकं चोक्त्वा, अहङ्कारस्य मोहविकल्पहेतुत्वं यदोक्तं, तदा पुनर्देहग्रहणत्यागकारणे पृष्टे, भगवता, "मनः कर्ममयं नृणाम्" इत्यारभ्य, "इन्द्रियायनसृष्टेदम्" इत्यन्तेनान्तरालिकीं मायासृष्टिमुक्त्वा, "नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च" इत्यारभ्य, "आत्माऽग्रहणनिर्भातं पश्यन् वैकल्पिकं भ्रमम्" इत्यन्तेन भ्रमत्वकथनात् तथा लयभावनस्यात्यन्तिकत्वं हृदिकृत्योच्यते "श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेद्" इति। एवमन्यथापि ज्ञेयम् ॥ ९६ ॥

प्रकारान्तरमाह—

इन्द्रियाणां देवतात्वभावनाप्रापणे तथा ।
गोविन्दासन्यसेवातः प्रापणं नान्यथा भवेत् ॥ ९७ ॥

इन्द्रियाणामिति । "वाचमग्नौ सवक्तृव्यामि"त्यादिना प्रापणेन तदंशमात्रलयो भिन्नो भवतीति तत्प्रकारमाह गोविन्दासन्यसेवात इति । अयं लयो रूपान्तरापादकः कार्यरूप उत्पत्तिरेव, न लय इति भावः ॥ ९७ ॥

प्रकारान्तरमाह—

अद्वयात्मदृढज्ञानाद् वैराग्यं गृहमोचकम् ।
वागादिविलयाः सर्वे तदर्थं मनआदिषु ॥ ९८ ॥

अद्वयेति । "वाचं जुहाव मनसी"त्यादिना सङ्घातस्य लयभावनयाऽद्वयात्मदृढज्ञानं भवति । तस्य वैराग्यहेतुत्वम् । रागाभावस्य च संन्यासोपयोगः । अत एव न कारणे लय उक्तः ॥ ९८ ॥

टिप्पणी ।

प्रापणेनेत्यारभ्य भाव इत्यन्ते । प्रापणं भगवत्परत्वं तेन भगवत्परांशमात्रस्य चक्षुरादेराधिदैविकस्वरूपोत्पत्तिरूपो लयो भिन्नो भवति । स यथा गोविन्दसेवातस्तथाऽन्यसेवातोऽपि न भवति । "तं भजन्निर्गुणो भवेत्" इति वाक्यादिति भावः । प्रथमस्कन्धे पञ्चदशाध्याये "वाचं जुहावे"ति ॥९७॥

आवरणभङ्गः ।

भावनायाः प्रकारान्तरं वक्तुमाहुः प्रकारान्तरमिति वाचमित्यादि । इदं च सप्तमस्कन्धे द्वादशाध्यायेऽस्ति । तत्रापि सदाचारनिर्णये यतिधर्मे । तेन तत्रापि वैराग्यस्यैव प्रकरणं, न तु सृष्ट्यादेरिति तथा । ननु भवत्वत्र तथा, परन्तु पूर्वमस्य प्रकारस्य लयप्रकारत्वेन कथनात् "श्रुतावप्यत्यमुच्यते"तिपदात् तद्विरोध इति तद्वारणायाहुः प्रापणेनेत्यादि । देवतात्वभावनया कृत्वा इन्द्रियस्य तदाधिदैविकताभावने लयोऽयं न भवति, किन्तु सेवया देवभावाद्देवांशलये देहलयः । इह तु सेवाभावेन तदभावाद् भावनामात्रेण लीनवत् प्रतिभानमात्रमतो न विरोधः । ननु भवत्वेवं, तथापि त्रिभ्योऽतिरिक्तप्रकारस्तु सिद्ध इत्यत आहुः अयमित्यादि । "कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः । याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन्नि"ति न्यायेन भावनाकृताया रूपान्तरापत्तेः परिणामात्मकत्वात् तथा । अतो नाधिक्यमित्यदोषः । अस्याप्यात्यन्तिकत्वे युक्तिः पूर्वोक्तैव ज्ञेया ॥ ९७ ॥

वाचमित्यादि । अयं प्रकारः प्रथमस्कन्धे युधिष्ठिरमहापथगमने ज्ञेयः । अत एवेति । भावनामात्रभाव्यत्वादेवेत्यर्थः । अत्र हि वाङ्मनः प्राणः सोत्सर्गापानो मृत्युः पञ्च भूतानि त्रैगुण्यं सर्वशब्दैक्यं पुरुषश्चेति नवानामाहुतीनां मन आद्यक्षरान्तेष्वग्निषु होमः कल्पनयानूद्यते । तत्र, "दूतीरिव त्वं मनसोऽसी"ति श्रुतेर्मनोऽधीनत्वं वाचः । मनसश्च प्राणाधीनत्वम् । "प्राणबन्धनं हि सोम्य मन" इति श्रुतेः । "प्राणस्यापानाधीनत्वमि"त्यादिसुबोधिन्यां स्पष्टम् । तेन तत्र तत्र तत्तन्नियम्यस्य तत्तन्नियामके लयो, न तु कारणेऽतस्तथेति ज्ञेयम् ॥ ९८ ॥

एवं लयत्रयमुक्त्वा प्रकृतोपयोगमाह—

भावनामात्रतो भाव्या न हि सर्वात्मना लयः ।
मनोमात्रत्वकथनं तदर्थं जगतः क्वचित् ॥ ९९ ॥

भावनामात्रत इति। सर्वात्मना कालादिनेव न लयः। "देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वे"ति वाक्यानां बाधकत्वमाशङ्क्य तेषामपि वैराग्योपयोगित्वमित्याह **मनोमात्रत्वकथनमिति** ॥ ९९ ॥

एवं मतान्तराणि निराकृत्य तेषां फलाभावं वक्तुं, येन केनाऽपि मार्गेण भगवद्भजनं चेत् फलाय भवेत् तदा नैकान्ततः स्वमतं साधकं भवतीति मार्गान्तरवर्तिनां भगवद्भजनेऽपि फलाभावमाह—

भक्तिमार्गानुसारेण मतान्तरगता नराः ।
भजन्ति बोधयन्त्येवमविरुद्धं न बाध्यते ।
नैकान्तिकं फलं तेषां विरुद्धाचरणात् क्वचित् ॥ १०० ॥

भक्तिमार्गानुसारेणेति सार्धेन । न हि मायावादादिमते श्रीकृष्णादिर्व्यवहार्यत्वाद् ब्रह्म भवितुमर्हति । ते तु सदानन्दचित्स्वरूपमिति चाहुः । अतः स्वमते यथा तथा पदार्थसिद्ध्यभावाच्चेद् भक्तिमार्गानुसारेणैव वदन्तीति ज्ञातव्यम् । तदा तेषां प्रतितन्त्रन्यायाभ्युपगमसिद्धान्तो भवति । तावता तेषां फलं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **नैकान्तिकमिति** । कस्यचिद् भक्तेरेवातिशये नाममात्रेण मायावादित्वे बिल्वमङ्गलादीनामिव मोक्षो भवेदिति, न तु स्वमतपक्षपाते । अतो नैकान्तिकं फलं तत्र

टिप्पणी ।

लयत्रयमिति । तत्तदिन्द्रियस्य तत्तदधिष्ठातृदेवतायां लयभावनया एको गोविन्दसेवयाऽऽधिदैविकत्वसम्पादनेन द्वितीयोऽद्वितीयात्मज्ञानार्थं सङ्घातस्य लयभावनया तृतीय इत्यर्थः ॥ ९९ ॥

तथा पदार्थेति । केवलचिद्रूपत्वाङ्गीकारादिति भावः ॥ १०० ॥

आवरणभङ्गः ।

एवं लयप्रकारेणापि भेदं संसारप्रपञ्चयोः साधयित्वा तेनापि मायावादं निराकृत्य आपाततो मनोमात्रवादप्रत्यायकानां वाक्यानां तात्पर्यमाहुः **देहमित्यादि** । इदं च भिक्षुगीतास्थम् । तत्रापि वैराग्यप्रकरणात् तथैत्यर्थः ॥ ९९ ॥

एवं प्रमेयांशे मतान्तराणि निराकृत्य साधनांशे वैराग्यादीनामङ्गत्वेनैकस्य दार्ढ्ये यत्किञ्चिद्वैकल्यादपि फलसिद्ध्यङ्गीकारान्मायावादादिरीतिकविपरीतज्ञानकृतेऽपि वैकल्ये फलं भविष्यतीति तथैतन्निरूपणमित्याशङ्कां निराकर्तुमाहुः **एवं मतान्तराणीत्यादि** । ननु यद्येवमबाधनीयं तदाऽभ्युपगमसिद्धान्तरीत्यापि भजनमस्तु, को दोष इत्यादिकृत्याहुः **तावतेत्यादि**। अभ्युपगमरीत्येत्यर्थः । तद् दूषयन्ति **नैकान्तिकेत्यादि** । ननु बिल्वमङ्गलस्य पूर्वावस्थायां विरुद्धाचरणेऽपि तस्य फल-

हेतुः, विरुद्धाचरणादिति । भगवति कदाचिदन्यथाभावनया स्वाज्ञानकल्पितत्वादिना ॥ १०० ॥

एवं परमतं निराकृत्य स्वमते यथा भजनं तथा सङ्कलीकृत्याह—

एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः ।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः ॥ १०१ ॥
प्रेमाभावे मध्यमः स्याज्ज्ञानाभावे तथादिमः ।
उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत् ॥ १०२ ॥

एवं सर्वमिति । एवं सर्वं निश्चित्य सर्वं भगवत एव, स एव च सर्वमिति वैदिकगौणमुख्यज्ञानयुक्तः । प्रेम्णा श्रवणादिप्रकारेण यो भजते स भक्तिमार्गे उत्तमः । शास्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यमः । प्रेमाभावे मध्यम इति वा । ज्ञानाभावे तथा मध्यम इत्यर्थः । आदिमो वा । उभयोरभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं, धर्मत्वं वा, न तु भक्तिमार्ग इत्यर्थः ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

टिप्पणी ।

सङ्कलीकृत्येति । ज्ञानयोगमर्यादाभिरेकीकृत्येत्यर्थः ॥ १०१ ॥

"मय्यावेश्य मनो येमामि"ति भगवद्वाक्याज्ज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजत उत्तमत्वमेवेत्याशयेनाहुः आदिमो वेति । उत्तमो वेत्यर्थः ॥ १०२ ॥

आवरणभङ्गः ।

सिद्धिप्रसिद्धेः कथं नैकान्तिकं फलमित्याशङ्कायां विरुद्धाचरणस्वरूपमाहुः भगवतीत्यादि । तथाच, धुनोति सर्वमिति वाक्यादितरस्य तथा न विरुद्धत्वं यथाऽस्य । अतो विपरीतज्ञानकृते वैकल्ये, "योऽन्यथा सन्तमि"ति श्रुतेः सर्वथा फलाभाव एवेति तस्यानैकान्तिकत्वान्नोक्तनिरूपणवैयर्थ्यमिति भावः ॥ १०० ॥

उक्तस्य सिद्धान्तस्य निगमनायाहुः एवं सर्वमित्यादि । भगवत इति पञ्चमी विभक्तिर्ज्ञेया । एवञ्चात्र द्विविधज्ञानप्रेमवतः शिष्टाङ्गानामर्थादेव सिद्धेः पञ्चाङ्गसम्पत्तिमानुत्तम इत्युक्तम् । अतः परं गौणपक्षे यथा सिद्धिस्तद् वक्तुं यदङ्गवैकल्ये यादृशत्वं तदाहुः शास्त्रार्थेत्यादिना । मध्यम इति । तादृशनिष्ठप्रेम्णः संस्कारवशेन जाततया गौणत्वात् स तथेति भावः । प्रकारान्तरेऽपि तथात्वमाहुः प्रेमेत्यादि । मुख्याङ्गवैकल्यात् तथेति भावः । पूर्वोक्तप्रकारो मूले स्फुटो नेति मूलं व्याकुर्वन्ति ज्ञानेत्यादि । ननु ज्ञानाभावे प्रेम्णोऽन्यादृशत्वेन मध्यमत्वं न सम्भवतीति पक्षान्तरमाहुः आदिमो वेति । तथाच प्रेमौत्कट्ये मध्यमत्वम्, अनौत्कट्ये हीनत्वमित्युभयमपि व्यवस्थितमित्यर्थः । नन्वेकतराभाव एवमधिकारे उभयाभावे को वाधिकार इत्यत आहुः उभयेत्यादि । तथाच, "यत्कीर्तनं यच्छ्रवणमि"ति वाक्यात् पापनाशकत्वं, तेन ज्ञानादिमार्गीयत्वं सहस्रनामश्रवणकीर्तनफलत्वेन चतुर्णामप्यर्थानां कथनात् त्रिवर्गादिसाधनत्वेन करणे धर्मत्वमिति तथेति न कोऽप्यधिकार इत्यर्थः ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति ।
योगयोगे तथा प्रेम स्तुतिमात्रं ततोऽन्यथा ॥ १०३ ॥

तपो वैराग्यसहितं चेच्छ्रवणादिकं भवेत् । अन्यतरसहितं वा । तदा जन्मान्तरे ज्ञानं भविष्यतीति ज्ञातव्यम् । "बहूनां जन्मनामन्ते" इति वाक्यात् । योगसहितभजने प्रेम । प्रथमस्य मध्यमत्वं, मध्यमस्योत्तमत्वमिति क्रमः । मार्गाङ्गाभावे केवलश्रवणादीनां यत् परमपुरुषार्थसाधकत्वं निरूप्यते तद् भगवत्स्तोत्रनिरूपणम् । धन्योऽहमित्यादिवत् । प्रमेयबलेन तेषां सिद्धिर्भवति चेद् भवतु, नान्यथेत्यर्थः ॥ १०३ ॥

एवं शास्त्रार्थमुक्त्वोपसंहरति —

अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः ।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैर्निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव ॥१०४॥

इति श्रीकृष्णव्यासविष्णुस्वामिमतवर्तिश्रीवल्लभदीक्षितविरचिते
शास्त्रार्थकथनं प्रथमं प्रकरणम् ॥ १ ॥

अर्थोऽयमेवेति । सर्वेषां प्रमाणानामत्रैकवाक्यता । अन्येषु वाक्याभासा एव । रामायणानां बहुत्वं सर्वकल्पेष्वप्येवमेव प्रतिपादयन्तीति ज्ञापनार्थम् । भारतपञ्चरात्रयो रामायणशेषत्वं चरित्रप्रतिपादकत्वाविशेषात् । अन्यानि शास्त्राणि पुराणरूपाणि । तच्छेषत्वं वा भारतादेः । तत्त्वसूत्राणि चतुर्लक्षणी मीमांसा । तैः सर्वैरपि ज्ञानं प्रेम-

---

टिप्पणी ।

प्रथमस्येति । तपोवैराग्याभ्यां सह श्रवणादिकर्तुः प्रेमफलाभावान्मध्यमत्वम् । मध्यमस्य योगसहितभजनकर्तुः प्रेमप्राप्तेरुत्तमत्वमिति भावः ॥ १०३ ॥

चतुर्लक्षणी मीमांसेति । कर्मज्ञानोपासनाभक्तिरूपैर्मीमांसा लक्ष्यत इति चतुर्लक्षणी ॥ तत्र सूत्रकारा व्यासशाण्डिल्यजैमिनयः । उपासनाकाण्डस्य ज्ञानकाण्डान्तर्भूतत्वात्त्रय एव सूत्रकाराः ।

आवरणभङ्गः ।

नन्वितराङ्गराहित्ये भवत्वधिकाराभावो, न तु साहित्येऽपीति तत्र क्रमं वक्तुमाहुः तप इत्यादि । योगसाहित्ये तत उत्कृष्टत्वमाहुः योगेत्यादि । तपस्विभ्य इति सन्दर्भेऽन्येभ्यो योग्युत्कर्षमुक्त्वा, योगिनामपीत्यनेन योगिभक्तस्योत्तमत्वमुक्तम् । तेन तस्य प्रेमैव फलमित्यर्थः । एतमेव हृदिस्थं क्रमं स्फुटीकुर्वन्ति प्रथमेत्यादि । ननु, "कलेर्दोषनिधेरि"त्यादौ कीर्तनस्य सर्वबन्धनिवर्तकत्वमुच्यते । तथान्यत्र श्रवणादेरपीति पूर्वोक्तक्रमः मायिक एवेत्यत आहुः मार्गाङ्गेत्यादि । अत्र गमकं दृष्टान्तमुखेनाहुः धन्योऽहमित्यादिवदिति । यथा लोके, "धन्योऽहं यद्गेहे भवानागत" इत्यादौ या स्वस्तुतिः सा आगन्तुः परस्य स्तुतौ पर्यवस्यति तथेत्यर्थः । किञ्च, हरिवंशसमाप्तौ बलदेवाह्निकोत्तरं धन्योपाख्याने कूर्मादारभ्य यज्ञान्तेषु यद्धन्यत्वमाश्चर्यत्वं चोक्तं तद् भगवत्येव पर्यवसन्नं न तु वेदयज्ञादौ । अत एव भगवता, "आश्चर्यश्चैव धन्यश्च दक्षिणाभिः सहेत्यहमि"ति । नारदीयवृत्तान्तज्ञानज्ञापनायोच्चरितमिति तन्न्यायेनात्रापि तथेति । नन्वजामिलादेः सिद्धिः प्रसिद्धैवेति कथमेवमुच्यत इत्यत आहुः प्रमेयेत्यादि । फलमत उपपत्तेरिति न्यायात् तथेति भावः ॥१०३॥

अग्रिमे । ननु किमित्येवं निर्बन्धेन सर्वैकवाक्यत्वं निरूप्यत इत्यत आहुः । अन्यथेत्यादि ।

सहितं कर्तव्यमिति निर्णीयते। अन्यथा चतुर्दशविद्यानां सरस्वतीरूपत्वादेकनिष्ठता न स्यात्। तत्रापि सहृदयम्। भावोऽपि तस्या एकत्रैवेति। अयमर्थः सरस्वतीभर्त्रैव ज्ञायत इति हरिणेत्युक्तम्। कदाचिदन्यथा केचिद् वक्ष्यन्तीति तन्निराकरणार्थं—सदेति १०४

"प्रमाणबलमाश्रित्य शास्त्रार्थो विनिरूपितः।
प्रमेयबलमाश्रित्य सर्वनिर्णय उच्यते" ॥ १ ॥

इति श्रीतत्त्वदीपनिबन्धटीकायां श्रीवल्लभाचार्यकृतायां प्रथमं प्रकरणम् ॥ १ ॥

टिप्पणी।

सूत्रमूलकत्वात्तत्त्वसूत्रपदेन मीमांसोच्यत इति भावः। यद्वा लक्षणशब्दोऽध्यायवाची, तथा च चतुर्लक्षणी चतुरध्यायी उत्तरमीमांसेत्यर्थः ॥१०४॥

इति श्रीमत्कल्याणरायविरचितायां तत्त्वदीपनिबन्धविवृतिटिप्पण्यां प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ॥

आवरणभङ्गः।

तत्रापि बीजं सूचयन्ति अयमर्थ इत्यादि। "इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन" इत्येकादशे भगवता तथोक्तत्वादित्यर्थः ॥ १०४ ॥

एवं सर्वं शास्त्रार्थं निरूप्य ये सात्त्विका अत्राधिकारिणो, ये चाग्रिमे तान् सूचयितुमाहुः प्रमाणेत्यादि। प्रमाणबलमिति। प्रमाणानां वेदादीनां श्रीभागवतान्तानां बलं परस्पराऽविरोधेन निश्चितं तात्पर्यमित्यर्थः। प्रमेयबलमित्यादि। प्रमेयस्य सकलवेदादिवेद्यस्य भगवतो बलं सर्वसमर्थत्वेऽपि तत्तद्रूपेण प्रतिनियततत्तत्कार्यकर्तृत्वादिरूपं, प्रमेयाणां शास्त्रानुगृहीतचक्षुरादिजन्यप्रमाविषयाणामर्थानां वा बलं तत्तत्कार्यजननसामर्थ्यमवधार्य सर्वेषां पदार्थानां निर्णयः स्वरूपयाथात्म्यमुच्यते। ब्रह्मात्मकत्वाविशेषेऽपि यस्य यादृर्थ्यं यत्प्रकारकत्वं च तत्सर्वं सपरिकरं विविच्यत इत्यर्थः। उच्यत इति बुद्धिस्थस्य स्फुरद्रूपत्वाभिप्रायेणोक्तम्। एवञ्च शब्दबलविचारेण शास्त्रार्थं बुभुत्सतां स्वतःप्रामाण्यवादिनामसम्भावनादिरहितानामर्थ आद्य उक्तः। अथार्थबलविचारेण शास्त्रार्थं बुभुत्सतां परतःप्रामाण्यवादिनां पूर्वोक्तेऽर्थे असम्भावनाविपरीतभावनयोरुदयात् तदर्थं सर्वनिर्णय उच्यत इत्यर्थः फलतीति शुभम् ॥ १ ॥

इति हरिपदकुङ्कुमतो भावितवसनस्य वल्लभीयस्य।
श्रीमन्निबन्धविवृतौ शास्त्रार्थे विषमपदविवृतिः ॥ १ ॥
सुरनरकजराजक्लिष्टदेवेशराजव्यसनकषणराजद्राजलीलासमाजः।
यदुपुरपुरुहूतो वामदेवाजनूतो निजपुरमिव पायादन्तरायादपायात् ॥ २ ॥
प्रलयजलदवृष्टेर्गोकुलस्यावनाय स्वमृदुकरनखाग्रन्यस्तगोवर्द्धनाद्रेः।
भगवत इह शक्त्या तत्त्वदीपप्रकाशाऽऽवरणभरविभङ्गे प्रक्रियाद्या समाप्तेत् ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रचन्द्रिकानिरस्तहार्दतमसस्तद्दासस्य गोस्वामिश्रीयदुपतिसुतस्य श्रीपीताम्बरस्य कृतौ तत्त्वदीपप्रकाशाऽऽवरणभङ्गे शास्त्रार्थप्रकरणं प्रथमं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥



चित्प्रकरणादारभ्य समाप्तिपर्यन्तं योजना

योजना ।

गन्धवद्व्यतिरेकत्वानित्यस्य व्याख्याने । विशेषेण अतिरिच्यते असौ व्यतिरेको द्रव्यापेक्षया अधिकदेशस्तद्वान् भवति गन्धः । जीवचैतन्यगुणेऽपि व्यतिरेकवान् व्यतिरेको गन्धवदिति तत्त्व-सूत्रात् । अस्मिन्पक्षे तद्वज्जीवशब्दस्य जीवगुणे चैतन्ये लक्षणा । तदेवास्वारस्यं मनसि धृत्वा पक्षान्तर-माहुः **गन्धवतः कमलादेरिव वेति** । अस्मिन्पक्षे विशेषेणातिरिच्यते इति व्यतिरेकः पुष्पस्य गन्धगुणः, स यथा पुष्पापेक्षयाधिकदेशं व्याप्नोत्यतो व्यतिरेकपदवाच्यः, तादृशगन्धवान्कमलादि-र्व्यतिरेकवान् भवति, एवं जीवापेक्षया तच्चैतन्यगुणोधिकदेशव्यापित्वेन व्यतिरेकस्तद्वान् जीवो व्यतिरेकवानिति धर्मिणोः पुष्पजीवयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावान्नास्मिन्पक्षे लक्षणा । अस्मिन्पक्षे गन्ध-वच्छब्दो मतुबन्तः । न तु वतिप्रत्ययान्तः । तर्हि तौल्यबोधः केन स्यादिति चेत्, समासेनेति ज्ञेयम् । तदेतदाहुः **कमलादेरिव वेति** । ननु जीवाणुत्वमङ्गीकृतं तत्त्वनित्यतामीत्या यतो महत्परिमाणे-ऽणुपरिमाणे एव नित्यत्वम् । एवं सति महत्परिमाणमेव बहुवादिसम्मतमाद्रियतामिति चेत्, न; "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य" इत्यादिश्रुतिविरोधात् । अनित्यत्वं नित्यत्वं तु नास्मिन्सिद्धान्ते परिमाणनियामकं किन्तु श्रुतिरेव । यतो मध्यमपरिमाणानां प्रादेशमात्रहंसवराहनृसिंहाद्याकृतीनां श्रुतिबलान्नित्यत्वमेव ॥ ५३ ॥

न प्राकृतेन्द्रियैर्ग्राह्यमित्यस्य व्याख्याने **रूपाद्यभावादिति** । प्राकृतरूपाद्यभावादित्यर्थः "प्रतिमुखस्य यथा मुखश्री"रित्यत्रापि तथेति । न प्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तार्थ इत्यर्थः । भगवति कृतं तदुपचारादि जीवे फलति । भगवत्कृतस्य सन्मानादेर्जीवसन्मानं फलम्, भगवांस्तु निरपेक्ष इत्यभिप्रायेण प्रतिबिम्बदृष्टान्त इति भावः । मूलसेकः शाखायाः प्रतिगच्छतीति वदति "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः । प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणम-च्युतेज्या" इत्यत्र मूलसेको यथा शाखादिपर्यवसायी, तथा भगवति कृतमर्चनं सर्वभूततृप्तिहेतु-रिति दृष्टान्तार्थः । नैतावता भगवच्छाखारूपत्वं सर्वेषाम्, एवं "प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीरि"त्यत्रापि न प्रतिबिम्बत्वं जीवानाम्, दृष्टान्ताभिप्रायस्तु पूर्वमुक्तोऽन्य एवेति ज्ञातव्ये मुखाभासवत्तस्यालीकं स्वरूपमिति । इदं पराभिप्रायेणोक्तम् । सिद्धान्ते प्रतिबिम्बरूपमेकं भगवतः स्वतन्त्रमिति मन्तव्य-मिति पूर्वं निरूपितत्वात् । प्रतिबिम्बात्मकमेकं सर्वरूपेभ्यो घटापटादिभ्यः स्वतन्त्रं रूपं हरेः । "समो नागेन समो मशकेने"ति श्रुतेः । न हीयं श्रुतिरन्यत्र सङ्गच्छते । अन्तर्यामिनश्चतुर्भुजत्वा-द्याकारविशिष्टस्य नागादितौल्याभावात् । रूपान्तरेऽपि न नागमशकादितौल्यम् । अतः प्रति-बिम्बे नागमशकादितौल्यस्य स्फुटमन्ववादीयं श्रुतिः प्रतिबिम्बात्मकमेव वक्तीति प्रतिबिम्बं भगव-द्रूपम् । अत एव प्रयत्नाद्यपेक्षाभावादजन्यतया भगद्विभूतिरूपता मन्तव्या । यदस्ति यन्नास्तीति वाक्याद्भगवतः सर्वरूपमुपपद्यत इति । ननु यन्नास्ति तस्यापि भगद्रूपत्वे खपुष्पादीनामपि भग-त्वमस्त्विति चेन्न, नास्तीतिपदस्य तिरोभावप्रतिपादकत्वात् । तदा च यन्नास्ति नाम यत्तिरोहितमस्ति

१ मदनुपस्थितौ संशोधकस्यानवधानादवशिष्टेयं टीकेह मुद्रिता—हरिशङ्करशास्त्री ।

योजना।

तद्ब्रह्मैवेत्यर्थो भवति। यदस्तीत्यनेन यद्वर्तमानं वस्तु तद्ब्रह्मेत्युक्त्वा यन्नास्तीत्यनेन तिरोभावप्रतियोगि यद्भूतं भावि च सर्वं भगवद्रूपमेवेत्यभिहितम् "पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमि"ति श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च यस्य घटादेः प्रागभावो यस्य बाध्यं भावस्तदुभयोरप्यभावयोस्तिरोभावानतिरेकात्तत्तिरोभावप्रतियोगिनोर्भूतभविष्यद्वस्तुनोर्भगवत्त्वं निराबाधम्, प्रतियोगिनोः सत्त्वात्। अभावास्त्वस्मिन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीति सुबोधिन्याः। खपुष्पादेस्तु नाभावप्रतियोगित्वम्। अत्यन्तासत्त्वात्। तथैव खपुष्पाभावस्याप्यत्यन्तासत्त्वान्न तिरोभावात्मकत्वम्। खपुष्पाभावस्य ग्रहणाभावात्। नहि खपुष्पाभावः केनापि ग्रहीतुं शक्यः। तत्प्रतियोगिनः सर्वथैवासत्त्वेन कुत्राप्युपलम्भाभावेन तदभावस्याप्यग्रहात्। अतः खपुष्पादिप्रतियोगितदभावयोरुभयोरत्यन्तासत्त्वान्न खपुष्पादेर्भगवत्त्वम्। तिरोधानप्रतियोगिनोर्भूतभविष्यद्वस्तुनोस्तु भवत्येव भगवत्त्वम्। एवं प्रतिबिम्बस्यापि बिम्बसन्निधानाभावे तिरोहितत्वमेव न त्वभावः। बिम्बसान्निध्ये दर्पणादौ यत्नं विनैव स्वत आविर्भावः। तदेतदुक्तं सर्वरूपमुत्पद्यते इत्यनेन सर्वशब्देन यत्तिरोभावान्नास्तीति प्रत्ययविषयः सोऽपि भगवानेवेति प्रतिबिम्बस्य भगवत्त्वमिति भावः॥ ५५॥

अधिष्ठातुर्विनष्टत्वान्न देहः स्पन्दितुं क्षम इति मूले। यद्यविद्या दर्पणस्थानीया यदि वान्तःकरणम्, उभयथापि जीवन्मुक्तिर्न सम्भवति। तथाहि। जीवन्मुक्तौ हि ब्रह्मज्ञानेन दर्पणस्थानीया अविद्या तत्स्थानीयमन्तःकरणं वा नश्यत्येव। जीवनाशे शवशरीरवत् जीवन्मुक्तदेहोऽपि न चलेत्। तदेतदाहुर्**देहः स्पन्दितुं** चलितुं **न समर्थः** स्यादिति। अतःपरं अविद्यायाः सावशेषक्षयमाश्रित्य अविद्याया दर्पणरूपायाः सत्तया प्रतिबिम्बस्य जीवस्यापि सत्त्वाज्जीवन्मुक्तस्य चलनादिव्यवहारमुपपादयतो वादिनो दूषयितुं तदुक्तपक्षान्तरमुत्थापयन्ति—'दैवादुपेतमुतदैववशादपेतमि''ति न्यायेन चलतीति चेदित्यनेन। एवं पक्षान्तरमुत्थाप्य दूषयन्ति—**तत्राधिष्ठाता वर्तत** इत्यारभ्य **सुषुप्तौ तथोपलम्भनादि**त्यन्तेन। यदि अविद्याशेषमङ्गीकृत्य दर्पणसत्तया प्रतिबिम्बसत्त्वमङ्गीक्रियते, तदाऽधिष्ठाता प्रतिबिम्बरूपो जीवोऽस्तीति तु सिद्धम्, परं, "दैवादुपेतमुत दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः" इत्यत्र मदान्धदृष्टान्तेनाधिष्ठातरि जीवे देहाननुसन्धानमङ्गीकार्यम्, अनुसन्धानाभावात्। दृश्यते हि सुषुप्तौ प्रारब्धेन देहरक्षामात्रम्, न त्वधिकं भोजनादिकं कार्यम्। अतो जीवन्मुक्तस्य देहानुसन्धानाभावाद्भोजनादिसर्वव्यवहारोच्छेदः स्यादिति भावः। देहस्यापि प्रपञ्चमध्यपातितया प्रपञ्चस्फूर्तिराहित्यस्यैवोचितत्वात्। अन्यथा प्रपञ्चस्य ज्ञाननाश्यत्वं भज्येत। अस्मन्मते तु प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञाननाश्यत्वाभावात्प्रपञ्चे ब्रह्मत्वेन भानं जीवन्मुक्तस्येत्यध्यासमात्रनिवृत्तिर्देहादौ न स्वरूपतो देहस्फूर्तौ न किञ्चिद्बाधकम्। भान एव विशेषो न स्वरूप इति दिक्॥ ६०॥

जडस्य सर्वस्यापि तदात्मकत्वमिति। "इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपवर्ति चैतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्" इति वाक्यादिदमित्यत्रेदमा पुरोवर्ती प्रपञ्चो निर्दिश्यते। तस्य च "ऐतदात्म्यमि"त्यनेन ब्रह्मत्वमुच्यते। ननु विश्वसिन्नुत्पत्त्यादयो भाववि-

योजना।

कारा दृश्यन्ते, तदभेदे भगवत्यपि उत्पत्त्याद्यङ्गीकार्यं स्यादित्याशङ्क्याहुः **जडगतदोषाश्च तत्र परिहृतास्तत्सत्यमितीति** । तत्रेति । ब्रह्मणीत्यर्थः । **"तत् सत्यमि"**ति श्रुतौ तद्ब्रह्म सत्यमित्युक्तम् । सत्येन न प्रागभावादयो "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत" इति वाक्यात् । तथा च सत्येन ब्रह्मणा जगतः शुद्धाभेदे स्वीकृते जगतोऽपि नोत्पत्तिनाशौ, किन्त्वाविर्भावतिरोभावावेव । एवं जगति षडपि भावविकारा अङ्गीकार्याः । आविर्भावतिरोभावाभ्यां निर्वाहात् । तदेतत्सर्वनिर्णये वक्ष्यति "उभावेकीकृतौ लोके वृद्ध्यादिभिरुदीरिता"विति । **जडजीवयोः सदात्मकत्वे मध्ये हेतुमाहेति** । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"त्यनेन जडस्य ब्रह्मात्मकत्वमुक्त्वा तत्सत्यमित्यनेन दोषान् परिहृत्य "स आत्मे"त्युक्त्वा "तत्त्वमसी"त्यनेन जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वमुक्तम् । एवं जडजीवब्रह्मात्मकतानिरूपकयोर्मध्ये "स आत्मे"ति पठितम् । अत्रात्मशब्दः स्वरूपवाची । स परमात्मस्वरूपमित्यर्थो भवति । एवं जडजीवौ भगवद्रूपाविति फलतीति भावः । ननु "तत्त्वमसी"त्यनेन जीवस्य ब्रह्मात्मकतोक्ता सा चानुपपन्ना, यतः सर्वज्ञेन ब्रह्मणा सहाज्ञस्यैकत्वं वक्तुं शक्यते; ततश्च भागत्यागलक्षणाश्रयितव्या । ईश्वरे सर्वज्ञत्वं जीवे अज्ञत्वमित्युपाधिद्वयत्यागाच्चैतन्यमात्रस्य शिष्टस्यैक्यं सुवचम् । सोऽयं देवदत्त इत्यत्र तद्देशकालवैशिष्ट्यैतद्देशकालवैशिष्ट्यत्यागे देवदत्तैक्यवत्; अन्यथा, तत्कालादिविशिष्टता न सम्भवेत् । तत्र यथा देशकालादेरस्वाभाविकत्वेनोपाधित्वम्, तथेह सर्वज्ञत्वाज्ञत्वयोरुपाधित्वम्, निर्धर्मकत्वेन सर्वधर्मरूपोपाधिशून्यत्वात् । अतो भागत्यागलक्षणाङ्गीकार्येति परेषां मतम् । तद्दूषयन्ति **तत्र यथा ऐतदात्म्यमित्यत्र न भागत्यागलक्षणा सदंशे तथोत्तरत्रापि चिदंशेऽवगन्तव्यमित्यनेन** । ऐक्यं तु जडांशेऽप्युक्तम् । तत्र भागत्यागलक्षणाया अकरणं तथा जीवेऽपि न भागत्यागलक्षणा कार्या । किन्तूभयत्रापि तदंशत्वेनैक्यमङ्गीकार्यम् । विस्फुलिङ्गे वह्न्यंशत्वाद्वह्न्यैक्यवत् । "ममैवांशो जीवलोके", "अंशो नानाव्यपदेशात्" इत्यादिवाक्यान्यनयैव सरण्या सङ्गतानि भवन्ति । भागत्यागलक्षणा तु न सम्भवति । सर्वज्ञत्वादिधर्माणां "यः सर्वज्ञः सर्वशक्ति"रित्यादिश्रुतिसिद्धानां नित्यत्वेनोपाधित्वाभावात् । अत एव "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"ति श्रुत्या ब्रह्मणो ज्ञानादीनां स्वाभाविकत्वमुक्तम्[1] । अतोंऽशो जीव इत्यङ्गीकर्तव्यम् । नन्वणुत्वं जीवस्य नास्ति, अविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव इत्यस्यैव मतस्य स्वीकर्तुं योग्यत्वात्, बहुभिरादृतस्यैवादर्तव्यत्वादिति चेत्, न; रूपशून्यस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बासम्भवात् । न च गुणे गुणानङ्गीकारेण रूपस्य नीरूपत्वात्तस्य च प्रतिबिम्बदर्शनाद्रूपरहितस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बः कुतो न स्यादिति वाच्यम् । रूपवतो घटादेः प्रतिबिम्बिततया नैतन्निष्ठरूपप्रतीतौ सिद्धायां पार्थक्येन रूपप्रतिबिम्बे प्रमाणाभावात् । स्वाश्रयातिरेकेण रूपोपलब्धेः सर्वतन्त्रविरुद्धत्वात् । किञ्च, दर्पणादौ प्रतिबिम्बितं रूपवन्तं घटं पश्यन् रूपं प्रतिबिम्बितमिति ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बो युक्त इति चेन्मन्यसे, तर्हि तयैव रीत्या रूपरहितं चक्षुर्ग्राह्यमिति रूपरहिते ब्रह्मणि चाक्षुषत्वमपि मन्यस्व । अथ नीरूपस्य गगनस्य प्रतिबिम्बोपलम्भान्नीरूपस्य परात्मनोऽपि प्रतिबिम्बः स्यादिति

[1] ब्रह्मणि ज्ञानादीनां नित्यत्वमुक्तमित्यपि पाठः ।

योजना ।

चेत्, न; जलादावौपाधिकस्य दर्शनादौपाधिकेन तेन च गगनस्य सम्बन्धराहित्यादाकाशप्रतिबिम्बस्य वक्तुमनुचितत्वात् । अन्यथा नीलमिदं गगनमिति चाक्षुषप्रतीत्या चाक्षुषत्वमङ्गीकृत्य नीरूपस्य ब्रह्मणोऽपि चाक्षुषत्वमङ्गीकर्तव्यं स्यात् । न च कल्पितरूपवतो जगज्जन्मादिकारणस्य सोपाधित्वाद्भवत्येव चाक्षुषत्वमिति वाच्यम् । सोपाधिके ब्रह्मणि भवन्मते मायिकरूपाङ्गीकाराच्चाक्षुषत्वप्रतिबिम्बितयोः सुवचत्वेऽपि शुद्धे नीरूपे ब्रह्मणि द्वयोरप्यसम्भवेन विवक्षितप्रमेयालाभात् । अपि च, चक्षुर्ग्राह्यस्यैव प्रतिबिम्बसम्भवं जानन्नप्ययोग्यस्य नीरूपस्य प्रतिबिम्बं प्रतिपादयन्, तथैव सरण्या नीरूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वं दृष्टान्तीकृत्य नीरूपस्य ब्रह्मणोऽपि चाक्षुषत्वं कुतो न मनुषे? किञ्च, अवयवे तदवयवानङ्गीकाराच्चरणे चरणसहिततया गमनदर्शनात्तद्दृष्टान्तेन चरणरहितस्यापि कस्यापि कस्यचिद्विष्णुमित्रादेर्गमनं सम्भाव्यते । तच्च समस्तप्रमाणप्रतिकूलमिति चरणविशिष्ट एव पुंसि गतिरङ्गीकार्या । एवं नेत्रादावपि । तथा प्रतिबिम्बविचारेऽपि रूपविशिष्टस्य घटादेरेव प्रतिबिम्बो न तु पृथक्तया रूपस्येतिं न रूपशून्यस्य प्रतिबिम्बः क्वापीति न ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीवः । ननु जपापुष्पारुणगुणो द्रव्यं विहायैव स्फाटिके प्रतिस्फुरति । अन्यथा दर्पणादौ मुखप्रतीतिवत्स्फटिकेऽपि जपाकुसुमगताकारविशेषोऽपि प्रतीयेत । अत्र च केवलमरुणिमैव प्रतीयते; तत्र च नीरूपतैव, गुणे गुणानङ्गीकारात् । अतो नीरूपस्याप्यरुणरूपस्य प्रतिबिम्बप्रत्ययान्नीरूपस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बो युज्यत इति प्राप्ते, समाधिरुच्यते—रूपमात्रस्यापि प्रतिबिम्बं प्रति रूपवतो जपाकुसुमादेः कारणत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धम् । रूपयुक्तजपापुष्पादि विना रूपप्रतिबिम्बाभावात् । न हि रूपवन्तं विना रूपमात्रप्रतिबिम्बो लभ्यते कुत्रापि । तथाच प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्नं प्रति रूपवद्वस्तुनः कारणत्वात्, ब्रह्मप्रतिबिम्बकारणभूतस्य रूपवत्पदार्थस्याभावात् प्रतिबिम्बो न युज्यत एव । अत एवाचार्यवर्यैः सर्वनिर्णये वक्ष्यते "न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचने"ति । अत एव न वायोः प्रतिबिम्बः । अत एव प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्नं प्रति रूपवतः कारणतामवगत्य विद्वन्मण्डन उक्तम्, रूपवत एव प्रतिबिम्बनियमादिति । अपि च प्रतिबिम्बत्वाङ्गीकारे जीवस्य चाक्षुषत्वापत्तिः । यत्र यत्र प्रतिबिम्बत्वं तत्र तत्र चाक्षुषत्वमिति व्याप्तेः । नीरूपस्य शब्दस्य तु प्रतिध्वनिर्न तु प्रतिबिम्बः । प्रतिध्वनिप्रतिबिम्बयोस्तु परस्परं भेद एव । तत्तद्वाचकशब्दाभ्यामेव तथानिर्णयादिति दिक् ॥ ६१ ॥

ब्रह्मभावेनाधिकधर्माभावादिति । भागत्यागलक्षणया जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽपि कर्तृत्वादियावद्धर्मनाशात्तादृशेन ब्रह्मणा स्वस्याभेदान्न कोऽपि स्वस्मिन्महत्त्वसाधको धर्म आयातीति ब्रह्मज्ञानार्थं वृथा प्रयासः । न चाधिकधर्मप्राप्त्यभावेऽपि भागत्यागलक्षणया जीवनिष्ठदुःखित्वाज्ञत्वादेस्त्यागादनिष्टनिवृत्तिरूपं फलं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः **देहादिभेदबोधनेनापि दोषनिराकरणसम्भवाच्चेति** । यथा साङ्ख्ये आत्मा देहादिव्यतिरिक्ततया न तत्सम्बन्धिदुःखेन युज्यत इत्युक्तम्; तथा ज्ञाने जीवस्य सकलदोषनिवृत्तिरतोऽनिष्टनिवृत्तिरतोऽनिष्टनिवृत्तेर्देहभेदबोधनेन सिद्धत्वात्साङ्ख्यसिद्धान्तफलेन वेदान्तफलस्य गतार्थत्वम्, ततो जीवस्य ब्रह्माभेदसिद्धये महतः प्रयासस्य प्रयास एव फलमिति भावः ॥६२॥

दृष्टान्तेन तथाभावस्येति । जाग्रत्स्वप्नदृष्टान्तेन तथाभावस्य विद्यावत्त्वस्य कालपरिच्छे-

योजना।

दाहुष्टसंसर्गादिभिरविद्याप्राकट्येन नाशादित्यर्थः । तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामुपदिशन्ति—**तस्मात्स्वतन्त्रभक्त्यर्थं सायुज्यार्थं च सर्वथा भजनं मतमिति**। भजनं हि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधम् । तत्र पुष्टिभक्तास्तु न सायुज्यादि कामयन्ते अतस्तेषां स्वतन्त्रभक्तिरेव फलम्। "सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्तिं विना मत्सेवनं जनाः"। "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीयाः । येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि", "मधुद्विड्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः" इत्यादिशतवाक्यैः। भक्तौ स्वतन्त्रत्वं फलरूपत्वम्। साधनानि हि फलपारतन्त्र्यं भजन्ते। अतो मर्यादाभक्तिर्न फलरूपा, किन्तु मुक्तिसाधनत्वात्परतन्त्रैव। पुष्टिभक्तिस्तु धर्मार्थकाममोक्षवत्पञ्चमपुरुषार्थरूपा, अतः स्वतन्त्रैवेत्यर्थः । एवं ये पुष्टिमार्गीयास्तैः स्वतन्त्रफलरूपपुष्टिभक्त्यर्थं श्रवणादिभक्तिः कर्तव्या। "भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये"ति वाक्यात् । ये तु मर्यादाभक्तास्तैस्तु सालोक्यादिमोक्षसिद्धये तत्पद्धत्या श्रवणादिविधेयमित्यधिकारभेदेनोपदेशद्वयं फलितमिति सुधीभिराकलनीयम् ॥ ६४ ॥

॥ इति शास्त्रार्थप्रकरणे योजनायां चित्प्रकरणम् ॥

सर्वत्रादानवसरमित्यस्याभासे—श्रुत्यादिभेदेष्विति । इह श्रुत्यादिरूपा ये भेदा इति कर्मधारयो ज्ञातव्यः । श्रुतिगीताव्याससूत्रसमाधिभाषारूपेषु प्रमाणभेदेष्वित्यर्थः । न किञ्चित्प्रमाणं ब्रह्मणीति वाक्यानां परस्परं विरुद्धार्थप्रतिपादकतया केन वाक्येन प्रतिपादितस्य धर्मस्य ब्रह्मणि सत्तामङ्गीकृत्य तादृशधर्मयुक्तं ब्रह्म स्वीकार्यं स्यात्। तद्विरुद्धधर्मप्रतिपादकतया केन वाक्येन प्रतिपादितस्य धर्मस्य ब्रह्मणि सत्तामङ्गीकृत्य तादृशधर्मयुक्तं ब्रह्म स्वीकार्यं स्यात् । तद्विरुद्धधर्मस्य वाक्यान्तरे उपलभ्यमानत्वान्न केनापि वाक्येन ब्रह्मनिर्धारः । अतो ब्रह्मणि न किमपि प्रमाजनकमिति पूर्वपक्षिणामाशयमुद्धाव्य समाधिरुच्यत इत्याहुः इत्याशङ्क्याहेति । सर्ववादानवसरमितीति । अत्रार्थोऽयम्—यदुक्तं धर्मेषु परस्परं विरुद्धेषु न कोऽप्यङ्गीकर्तुं योग्यः, तत्तु न विचारचारु; किन्तु श्रुत्यादिषु ये ये धर्माः परस्परं विरुद्धा अपि परब्रह्मण्यभिहितास्ते सर्वे एवाङ्गीकार्याः, विरुद्धधर्माश्रयत्वात्परमात्मनः; अतः केचन धर्मा अङ्गीकार्याः केचन नेति सर्वे एव धर्मा नोरीकार्याः, इत्यादयो ये स्वस्वरुचिकल्पिता वादास्तेषां न तत्रावसरः। किन्तु श्रुत्यादिप्रमाणोदितनिखिलधर्मवद्ब्रह्मेति श्रुत्यादयो ब्रह्मणि प्रमाजनका अतो न प्रमाणाप्रतिपाद्यत्वं ब्रह्मण इति सिद्धान्तिनामाशयः । अत एव सर्ववादानवसरमित्यनेन वादागम्यत्वमुक्तं नतु वाक्यागम्यत्वम्। **वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानामेकवाक्यता निरूपितेति**। श्रुतौ यानि नानावाक्यानि तेषामेकवाक्यता निर्णयकारैर्निर्णीतित्यर्थः ॥ ७० ॥

अथवा शून्यवद्गाढमित्यत्र—पूर्वस्मिन् पक्षे हि शुद्धसत्त्वरूपस्य ब्रह्मणि स्फुरितत्वात्तद्रूपस्य ब्रह्मणि भासत इत्युक्तम्। द्वितीयपक्षे त्वाकाशो दृष्टान्तीकृतः, तत्र वियति रूपाभावान्नीलरूपप्रतीतिः कथमित्याशङ्क्य चक्षुषः स्वभाव एवैतादृशो यद्दूरं गतं सन्नीलमिव पश्यतीति समाहितम्। प्रकृते ब्रह्मणोऽप्यतिगाम्भीर्यात्तत्र नीलमिव दृश्यते न तु नीलवसनादिगतनीलरूपमिवात्रापि नीलरूपमस्ति। किन्तु ब्रह्मस्वभावाद्ब्रह्मणि नीलरूपप्रत्ययः। एवं सति नीलं रूपं वस्तुस्वभावा-

योजना।

द्भाति न त्वौपाधिकं स्वरूपमित्यर्थः। अत एव ब्रह्माप्यतिगाढमित्यारभ्य नीलमिव भातीत्युक्त-माचार्यैर्न तु मूर्ववच्चक्षुः पश्यतीत्युक्तम्। तथोक्ते तु चक्षुःस्वभावाधीनत्वे प्रमाणबललभ्यत्वम-साहजिकत्वेन मायिकत्वं च स्यात्, भातीत्युक्त्या तु स्वप्रकारत्वकथनेन आनन्दस्य स्वभावसिद्धं धर्मिणः अभिन्नं चेति द्वयं सिद्ध्यतिस। अत एव प्रकारान्तरेण रूपवत्त्वं साधयतीत्याभास-ग्रन्थेऽभाणि। दृष्टान्ते आकाशे रूपप्रतीतौ हेतुरिति बोधितम्। अपि च नीलमिव भातीत्यनेन ब्रह्मकर्तृकभानोक्त्या प्रमेयबलमेव विशदीकृत्य स्वप्रकाशत्वसूचनेन स्वेच्छया चक्षुर्ग्राह्यत्वमिन्द्रिय-बलेन अग्राह्यत्वमुक्तम्। एवं सति यथा लौकिकपदार्थे प्रत्यक्षे आलोकसंयोगादिसामग्र्याः कारण-त्वम्, तथेह केवल भगवदिच्छाया एव कारणत्वम्। इन्द्रियाणां तु सामर्थ्यादृदृश्यं स्वेच्छया तु तदिति पूर्वं यावन्निरूपितं तत्समर्थितम्। आकाशदृष्टान्तस्तु रूपाभावेऽपि रूपप्रतीतौ सर्वांशेन दृष्टान्तस्तु विवक्षितः। कृष्णावतारे निकटस्था अपि श्याममेव पश्यन्तीति चक्षुषो दूरगमनाभा-वाद्दृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात्। यथा गगने रूपाभावेऽपि प्रमाणरूपचक्षुःस्वभावेन नीलरूपप्रतीति-रेवं ब्रह्मणि रूपाभावेऽपि प्रमेयरूपब्रह्मस्वभावादेव नीलरूपप्रतीतिरिति। तत्र प्रमाणे चक्षुषि दोषसम्बन्धेन तत्स्वभावस्य दुष्टत्वाद्दुष्टप्रमाणजन्यायाः प्रतीतेर्भ्रमत्वम्। इह तु प्रमेये ब्रह्मणि दोषसम्बन्धस्य खकुसुमत्वान्निर्दोषप्रमेयरूपब्रह्मस्वभावजनिताया नीलरूपप्रतीतेः प्रमात्वमेव। न चाकाशे रूपाभावे रूपप्रत्ययस्य भ्रमत्वमिव ब्रह्मणि रूपाभावे रूपप्रतीतेर्भ्रमत्वं कुतो नेति वाच्यम्। ब्रह्मणः सर्वरूपत्वेन रूपात्मकताया अपि सिद्धतया स्वरूपाभिन्ननीलरूपत्वेन स्फुरणा-न्नीलरूपप्रत्ययस्य सदसद्वस्त्ववगाहितया प्रमाणरूपाभावात्। मायिकपदार्थावगाहिन्या एव प्रतीते-र्भ्रमत्वनियमाद्युक्तमेवैतत्। न ह्याकाशो भगवानिव नीलो भासते। किन्तु दोषवशाच्चक्षुषा नील-मिव मायिकं रूपं दृश्यते। "ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि। तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः" इति भगवद्वाक्यात्। अत्रेदं सारम्—भातीत्यनेन ब्रह्मणि न रूपम्, किन्तु, ब्रह्मैव रूपमित्युक्तं भवति। "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वादि"त्यस्य व्याससूत्रस्य भाष्ये ब्रह्मैव रूपं न तु रूपवद्ब्रह्मेति व्याख्यानेन स्वरूपाभिन्नं रूपं वर्तत एवेति निरणयद्भगवान् भाष्यकारः। विद्वन्मण्डनेऽपि तथैव प्रत्यपादि। अत एवा"नन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्य फलनं यदे"-त्यस्य व्याकृतौ आनन्द एव ब्रह्मणि रूपस्थानीय इत्यवादि। आनन्दस्तु स्वरूपाभिन्नो धर्मः। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्", "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते", "सत्यं विज्ञान-मानन्दं ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिभिः स्वरूपत्वेनोक्तस्य "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्", "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इत्याद्युपनिषद्भिर्धर्मत्वेनोक्तेः। अतः स्वरूपाभिन्नमेव रूपं ब्रह्मणीत्युपनिषदामाशयः। अतस्तद्भावं गृहीत्वा रूपाभावं प्रदर्श्य भातीत्युक्त्या प्रकारान्तरेण रूपवत्त्वं साधयतीत्याभासग्रन्थेन च स्वरू-पात्मकमेव रूपं साधितमाचार्यैरिति भगवत्सेवकैर्विभावनीयम्। अत एव भिन्नं रूपं नास्तीति स्वगतद्वैतनिन्दाकरणेन शुद्धाद्वैतवादः सिद्धः। स्वरूपात्मकमेव रूपमप्राकृतत्वेन व्यवह्रियते। अतः स्वाभाविकसाकारं ब्रह्मैव श्रुतिभिः प्रतिपाद्यते इति रसिकवैष्णवैः श्रुत्यनुसारिभिः सन्तोष्टव्यम्।

योजना ।

अथवा शून्यवद्गाढमित्यस्य द्वितीयव्याख्यानपक्षे द्वितीयाभासे एवं निराकृतत्वेन नीरूपत्वं ब्रह्म-व्यायातीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहेत्यादि । एवमिति । "आनन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्ये"ति पूर्वश्लोके शुद्धस्य सत्त्वस्य प्रतिफलनोक्त्या रूपत्वसाधनेनेत्यर्थः । नीरूपत्वेनेति । प्रतिबिम्बितपरकीयरूप-तया स्वाभाविकरूपराहित्येनेत्यर्थः । आयातीति । आपाततः प्रतीयत इत्यर्थः । अत एवायाती-त्युक्तम् । वस्तुतस्तु, आनन्दरूपे शुद्धस्येति कारिकायामानन्दरूपत्वमुक्तमेवैतद्व्याख्यानेऽपि । आ-नन्द एव ब्रह्मणि रूपस्थानीय इति निरूपितम् । अत एव रूपवति ब्रह्मणि शुद्धसत्त्वस्य प्रतिफलनम् । अन्यथा नीरूपे प्रतिफलनं न स्यात् । रूपवत्यधिकरण एव प्रतिफलननियमात् । न हि नीरूपे वियदादौ कस्यचित्प्रतिफलनमनुभवगोचरीभवति । अतो ब्रह्मणि शुद्धसत्त्वप्रतिस्फुरणोक्त्या ब्रह्मणो रूपत्वं निरूपितमाचार्यवर्यैः । उक्तव्याख्यानेऽपि तथेति । यथा आनन्दरूपे शुद्धस्येति कारिकायाम् । आनन्दरूपतायाः स्फुटमुक्तत्वेऽपि आपाततो नीरूपत्वं प्रतीयते । तथा, अथवा शून्यवद्गाढमित्यस्य व्याख्यानेऽपि आपाततो नीरूपता प्रतीयत इत्यर्थः । वस्तु नीलमिव भातीत्युक्त्या आभासे प्रकारान्तरेण रूपत्वं साधयतीत्युक्त्या च ब्रह्मणि रूपमस्तीत्येव ग्रन्थकारहार्दमिति बोध्यम् । नन्वापाततः प्रतीयमानार्थ एव ग्रन्थकृदाशयः कुतो न स्यादि-त्याशङ्कायामाहुः एवं नीलिमभानेत्यादि । आपाततः प्रतीयमानार्थानुसारेण सिद्धान्ते क्रियमाणे श्यामवर्णप्रतीतेः सिद्धत्वेऽपि वर्णान्तराविष्टपीताम्बरवनमालादिप्रतीतौ नोपपत्तिः सिद्ध्यत्यत आपाततः प्रतीयमानार्थो न ग्रन्थहार्दमित्यर्थः । आपाततः प्रतीयमानार्थस्य सिद्धान्तीकरणे दोषान्तरमाहुः अपसिद्धान्तत्वाच्चेति । आपाततः प्रतीयमानार्थस्यापसिद्धान्तत्वादित्यर्थः । अपसिद्धान्तत्वं तु परमतप्रवेशात्स्फुटम् । तथाचापाततः प्रतीयमानोऽर्थोऽपसिद्धान्तो न तु श्रीमदाचार्यचरणाशय इति भावः । व्याख्यानान्तरमिति । स्फुटार्थकपदघटितवाक्यैर्निर्मितमित्यर्थः । पूर्वव्याख्याने ह्यस्फु-टार्थकपदनिर्मितवाक्यैः संशयो भ्रमश्चोत्पद्यते । वक्ष्यमाणव्याख्याने त्वर्थस्फुटत्वान्न संशयभ्रमावु-त्पत्स्येते इति पूर्वव्याख्यानैतद्व्याख्यानयोरस्फुटत्वकृतं वैलक्षण्यं न तु हार्दभेदः । न च तर्हि पूर्वव्याख्यानस्य प्रयोजनमेव नास्तीति वाच्यम् । प्राकृतरूपनिराकृत्या सप्रयोजनत्वात् । ननु तर्हि संशयाद्युत्पादकपदघटितवाक्यैः किमर्थं व्याख्येति चेत्, परोक्षवादार्थमिति गृह्यताम् । अत एव श्रुतावपि तादृक्पदवाक्यानुपलभ्यन्ते । "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" इति श्रुतेः । परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्" इति श्रीभगवद्वाक्याच्च । ननु, "आनन्दरूपे शुद्धसत्त्वस्य फलनं यदे"ति कारिकया शुद्धसत्त्वस्य प्रतिफलनमुक्तं तदनर्थकम् । आनन्दात्मकरूपत्वीकारेण रूपवत्त्वे सिद्धे चाक्षुषत्वादिसिद्धौ प्रतिफलितरूपाङ्गीकारे प्रयोजनाभावादिति चेत्, अत्रोच्यते, "देवानां गुण-लिङ्गानामि"ति तृतीयस्कन्धे प्रतिपादिता या भक्तिस्तद्भक्तियुक्तानामेव तादृगानन्दरूपस्य निरावरण-दर्शनं "पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि" इति वाक्यात् । तच्च पश्यन्ति ते म इत्यत्र तच्छब्देन पूर्वोक्तभक्तानां परामर्शात् । "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः", "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुः" इत्यादिवाक्यात् प्रसन्नो भगवान् स्वस्य गुप्तरूपमपि दर्शयतीति सिद्धान्तात् । अन्येषां

योजना।

तु सावरणं दर्शनमिति सत्त्वनिष्ठं श्यामरूपं स्वरूपभूते आनन्दे प्रतिफलितं प्रदर्शयतीति सत्त्वनिष्ठरूपप्रतिफलनप्रकारः सार्थक एवेति निर्दुष्टमखिलम्। एवं सम्यग्विमर्शे तु न सिद्धान्तविरोधो न वा श्रीमदाचार्यचरणप्रभुचरणलेखयोः कोऽपि विरोधादिरूपो दोषः प्रतिभातीति वैष्णवविद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु ॥ ७५ ॥

आत्मसृष्टेर्न वैषम्यमित्यत्र। सूत्रं तु लोकबुद्ध्यनुसारीति। "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयती"ति सूत्रमित्यर्थः। ननु भवत्सिद्धान्तविरोधो यत्र तत्सूत्रं लोकबुद्ध्यनुसारीत्युक्त्वा न प्रमाण्यते। एवमन्यैरपि वादिभिः स्वस्वमतविरोधि सूत्रं नादर्तव्यमेवं सति महाननय इति चेत्, "लोकबुद्ध्यनुसारी"त्येतत्फक्किकार्थानवबोधात्। तथा हि अस्मिन् सूत्रे जीवानां यादृशानि कर्माणि पुण्यरूपाणि पापरूपाणि परमेश्वरः पश्यति, तदनुरूपं सुखदुःखात्मकं फलं प्रयच्छन्नीश्वरो न वैषम्यनैर्घृण्ये प्राप्नोतीत्युक्त्वा व्यासचरणैर्वैषम्यनैर्घृण्यरूपो दोषः परिहृतः। परन्त्विदमत्र ज्ञेयम्—दोषसम्भावनाकर्तारो यावता स्वास्थ्यं प्राप्नुवन्ति, तावदेव समाधानं कार्यमिति प्राचामाचार्याणां सरणिः। अत एव दशमस्कन्धे "प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनमि"ति प्रश्ने "तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथे"त्यनेन वह्निदृष्टान्तेन निषिद्धाचरणेऽपि भगवतो दोषो नास्तीति समाहितम्। तदिदं समाधानं यथा परीक्षित्सभायां निविष्टानां श्रोतॄणां बुद्ध्यनुसारि, न तु स्वसिद्धान्तः। "गोप्यो गाव ऋचस्तस्ये"ति कृष्णोपनिषद्भिर्गोपीनां साक्षादुपनिषद्रूपतया परस्त्रीत्वाभावेन ताभिः सह रमणे निषिद्धाचरणस्यैवासम्भवात्। न च शङ्का, न चोत्तरमिति न्यायात्। अत एवाग्रे "गोपीनां तत्पतीनां चे"त्यनेन परदारत्वमेव खण्डितं श्रीशुकेन। अतो वह्निदृष्टान्तेन समाधाने यथा श्रोतृसमाधानं यथा श्रोतृबुद्ध्यनुसारि तथेहापि कर्मापेक्षाकथनेन वैषम्यनैर्घृण्ये परिहाराच्चरितार्थ्यं तद्बुद्ध्यनुसारीदं सूत्रमित्यर्थः। येषां तु "एष एव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष उ एवासाधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषती"ति श्रुत्यर्थपर्यालोचनया कर्मोत्पत्तिर्भगवदधीनैवेति कर्मापेक्षाकथनेऽपि न वैषम्यनैर्घृण्यपरिहार इति सूक्ष्मदृष्टिस्तेषां तु "स आत्मान९ स्वयमकुरुते"ति श्रुत्या आत्मसृष्टेर्जीवानां भगवदभेदान्न भगवति वैषम्यं नैर्घृण्यं चेति मुख्यसमाधानेनैव सन्तोष इति तदेवाचार्यवर्यैरुक्तमिति ज्ञेयम्। तथा च "सूत्रं तु लोकबुद्ध्यनुसारी"ति फक्किकाया इदं सूत्रमप्रमाणमिति नार्थः, किन्तु प्रतिपक्षिणां लोकानां यावती दोषसम्भावनाशक्तिः समुत्थिता बुद्धिस्तदनुसारि तावदेव समाधानमित्यर्थः। यावता दोषनिवृत्तिस्तावदुपायकथनं युक्तमिति न्यायसिद्धत्वान्न कोऽपि दोष इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

"वाचारम्भणवाक्यानी"त्यस्य व्याख्याने कार्यप्रकारैर्व्यवहारार्थं वाचा सङ्केतितेति। घटः पट इत्यादयो व्यक्तिरूपा व्यवहारार्थं वाचा सङ्केतिता घटपटादिनामभिः सङ्केतिता इत्यर्थः। वस्तुतः सर्वेषां परस्परमन्योन्याभावाभावात्सर्वेषां सर्वरूपतया सर्वैः शब्दैः सर्वपदार्थोपस्थितौ व्यवहारसाङ्कर्यभिया शक्तिसङ्कोचेन घटपदात्कम्बुग्रीवादिमति व्यक्तिरेवोपतिष्ठत्विति नियमः कृत इति व्यवहारे भेदसिद्धौ न साङ्कर्यमतो नाममात्रेणैव भेदो न तु पदार्थनिष्ठो धर्मो भेद इति

योजना।

वस्तुमात्रं करणाभिन्नं परस्पराभिन्नं चेति वाचारम्भणश्रुतेरभिप्रायः। अतो ब्रह्मरूपत्वात् प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमिति भावः। **न तु तेन रूपेणेति**। तेन रूपेण पृथक् पृथक् नामवाच्यत्वात्, पृथक्-पृथक्तया प्रतीतेन घटादिरूपेण तेषां घटपटादीनां न वस्तुत्वम्। अपितु, ब्रह्मत्वेन रूपेणैव वस्तुत्वमित्यर्थः। घटपटादयो वस्तुतो ब्रह्मरूपाः, अतः सुवर्णानन्यकुण्डलवद्ब्रह्माभेद एव श्रुत्या बोध्यते। अतो वाचकानां नाम्नां घटः पट इत्यादिशब्दानां भेदमवलोक्य न पदार्थे भेदोऽङ्गी-कार्यः। यत एकस्यैव पदार्थस्य ब्रह्मणोऽनेकरूपेणाविर्भावादनेकनामत्वम्। अतोऽनेकरूपकमनेक-नामकमेकमेव ब्रह्मेति शुद्धो ब्रह्मवादः। अन्योन्याभावरहितव्यक्तिबहुत्वाङ्गीकारात्। "एकोऽहं बहु स्यामि"ति श्रुतावेकस्यैव बहुत्वोक्तेः। अत एव "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इति सूत्रकृतोक्तम्, तथा च घटपटादयः पदार्था यथा ब्रह्मरूपत्वेन नित्यास्तथा तद्वाचकानि घटपटादिनामान्यपि ब्रह्म-त्वेन नित्यान्येव शब्दात्मकत्वेन प्रपञ्चमध्यपातात्। शक्तिसङ्कोचेन तद्व्यक्तौ सङ्केतमात्रं व्यवहा-रार्थं कल्पितमिति तावन्मात्रं द्वैतघटकमिति। तस्यैव मायिकत्वं न तु रूपनाम्नोरिति ज्ञेयम्। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति श्रुतौ विकारो नामधेयं वाचारम्भणं मृत्ति-केत्येव नामधेयं सत्यमित्यर्थो ज्ञेयः। शब्दस्वारस्यात्। एवं च घटशरावादीनां यद्विकार इति नामधेयं तद्वाचारम्भणं वाचैवारब्धं कल्पितं घटशरावाद्यात्मके मृद्रूपे एव पदार्थोऽयं मृद्विकार इति कल्पनात्। वस्तुतस्तु यो मृद्विकारत्वेन कल्पितः स पदार्थो मृदेवेत्यर्थः। अतो विकार इति नामधेयं वा कल्पितम्, न हि मृत्तिकातो मृद्विकारस्य भेदोऽस्ति। नेयं मृदिति रूपान्योन्याभावा-स्फुरणात् सा मृत्तिकेत्येव नामधेयं सत्यम् मृद्विकारस्य मृदभेदान्मृत्तिका इत्येव नामधेयं सत्यमित्यर्थः। वाचारम्भणमिति हि नपुंसकत्वान्नामधेये विधेयम्। नामधेयपदस्य च क्लीबत्वात्। इत्येवपदयोः स्वारस्याच्च। केचित्तु विकारो घटशरावादिवाचारम्भणं वाचैव कल्पितम्। अतो नामधेयं नाममात्रं मिथ्याभूतमिति यावत्। एवं व्याख्याय कार्यमात्रस्य मिथ्यात्वं सिद्धान्तीकृत्य "मृत्तिकेत्येव सत्य-मि"त्यनेन कारणभूताया मृद एव सत्यत्वं वदन्ति, तन्न; वाचारम्भणपदेनैव चारितार्थ्ये नामधेय-पदानर्थक्यात्। मृत्तिकापदसत्यपदयोर्भिन्नलिङ्गत्वादुद्देश्यविधेयभावस्वारस्याभावात्। किञ्च, मृत्तिकै-वेत्येतावदुक्त्या निर्वाह इति शब्दोपादानवैयर्थ्याच्च। अन्यच्च, "मृद्विकारमृत्तिके"त्यस्यां श्रुतौ दृष्टान्तभूते दार्ष्टान्तिके प्रपञ्चतत्कारणे इति निर्धारः। तथा च यथा मृद्विकारः शरावादि मिथ्या तथा प्रपञ्चो मिथ्या, यथा मृत्तिका सत्या, तथा प्रपञ्चकारणं सत्यमिति तेषां मतम्। तच्चेषां मते एव न सङ्गच्छते सिद्धान्तविरोधात्। तथा हि तन्मते हि जगज्जन्मादिकारणस्य कारणत्वोपहित-त्वेन मिथ्यात्वमेवायाति। यच्चोपाधिशून्यं सत्यत्वेनाङ्गीकृतं तस्य तु न कारणत्वमतो यत्कारणं ततो न सत्यत्वम्। यत्र निरुपाधिके सत्यत्वं तत्र कारणत्वाभावः। तथा चानया श्रुत्या न कारणसत्यत्वं साधयितुं शक्यते। एवं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव एव नोपपद्यत इतीयं श्रुतिर्निष्प्रयोजनकैव स्यात्। न च जगत्कर्तृत्वादिरूपोपाधिविशिष्टे ब्रह्मणि विशेष्यांशमादाय सत्यत्वमिति वाच्यम्।

योजना ।

विशेष्यांशस्वीकारे तत्र कारणत्वाभावेन मृत्सत्यत्वदृष्टान्तो निरर्थकतामापद्यते । अस्मत्सिद्धान्ते तु प्रपञ्चब्रह्मणोरभेदे मृद्विकारमृत्तिके दृष्टान्तभूते । अतः कार्यकारणयोरभेदः सुखेन बोधयितुं शक्यः । यथा मृत्कार्यं घटशरावादि मृदभिन्नम्, तथा ब्रह्मकार्यं प्रपञ्चरूपं ब्रह्मात्मकमेवेति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः सुगम एव । कारणत्वस्य स्वाभाविकब्रह्मधर्मत्वाङ्गीकारेण उपाधित्वाभावान्न किञ्चिद्दूषणमिति निष्कण्टकः पन्था आर्याणाम् । अन्यच्च, विकारो नामधेयं विकाररूपं नामधेयम् । घटशरावादिशब्दात्मकत्वं तद्वाचारम्भणं वाङ्मात्रकल्पितमित्यन्वयः । कम्बुग्रीवादिमत्यां व्यक्तौ हि घटशब्दो वाचकत्वेन शक्तिसङ्कोचेन कल्पित एवेति विकाररूपत्वं नामधेयं स्यात् । घटशरावादिकं हि वस्तुतो मृदभिन्नम् । नेयं मृदित्यन्योन्याभावानवगाहित्वात् । तत्र मद्रूपे घटे मायाप्रतीतं भेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तस्य घट इत्याकारकनाम्नो वाचारम्भणत्वं द्वैतप्रत्यायकत्वात् । अतो नाम्नामेवात्र मायिकत्वं बोध्यते न व्यक्तेः । मृत्तिकेत्येव सत्यमित्युक्त्वा मृत्तिकायाः सत्यत्वेन तदभिन्नघटादेः सत्यत्वात् । यदि पुनर्मायया प्रतीतं मृद्घटयोर्भेदं शास्त्रदृष्ट्यापहृत्य मृद एवेमानि रूपाणि घटशरावादीनि तत्तद्रूपवाचकानि घटशरावेत्यादिनामान्यपि मृन्नामान्येवेति बुद्ध्यते, तदा तु नाम्नामपि सत्यत्वमेवेति तात्पर्यमुपनिषदाम् । अत एव "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यमि"त्यत्रापि रूपत्रयस्य सत्त्वं प्रतिपादितम् । अतस्तेजोबन्नानां सत्यत्वम् । तदभिन्नत्वादग्नेरपि सत्यत्वम् । न ह्यग्निस्तेजोजलपृथिव्यतिरिक्तोऽस्ति । एवं सति रूपत्रयात्पार्थक्येन यत्प्रतीतं तस्यैव मायिकत्वं स्फुटति । अत एव वाचारम्भणश्रुतेर्भेदमात्रनिषेधकत्वं न तु कार्यमिथ्यात्वप्रतिपादकत्वमिति भगवता सूत्रकारेणोक्तम् "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इति । तदाशयं विशदीकुर्वद्भिः श्रीमदाचार्यचरणै"र्वाचारम्भणवाक्यानि तदन्यत्वबोधनात् । न मिथ्यात्वाय कल्पन्ते जगतो व्यासगौरवादि"ति कारिकया भेदमात्रं कार्यकारणयोर्निवारितम् । ततश्च सिद्धं ब्रह्मात्मकत्वेन प्रपञ्चस्य सत्यत्वम् । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्", "पुरुष एवेदं सर्वम्", "स वै सर्वमिदं जगत्", "इदं सर्वं यदयमात्मे"त्याद्यनेकश्रुतिभ्यः । एतच्च शाण्डिल्यशतसूत्रीयद्वितीयाध्यायप्रथमाह्निकव्याख्यायां स्फुटीकृतं व्याख्यातृभिः । शाण्डिल्यशतसूत्रीयतृतीयारम्भे "भजनीयेनाद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वादि"ति सूत्रेण स्पष्टमेव प्रपञ्चस्य सत्यत्वमुक्तम् । व्याख्यातं तथैवाचार्यैः । सूत्रार्थस्तु, भजनीयेन भजनविषयीभूतेन भगवता परब्रह्मणीदं परिदृश्यमानं जगत् अद्वितीयं अभिन्नमित्यर्थः । तत्र हेतुः कृत्स्नस्य निखिलप्रपञ्चस्य तदात्मकत्वादित्यर्थः । "स आत्मानँस्वयमकुरुते"ति, "आत्मकृतेः परिणामादि"ति तत्त्वसूत्राच्च । अपि च "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति श्रुतौ विकारो वाचारम्भणं इत्यन्वयः । विकारस्य वाङ्मात्रकल्पितत्वं विधाय ततो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्युक्त्या नामधेयस्य मृत्तिकाया इति शब्दोक्तस्य प्रकारस्य चेति पदार्थत्रयस्य सत्यत्वमुक्तम् । इतिशब्दोऽत्र प्रकारवाची । तथा च नाम्नामपि सत्यत्वम् । "स सर्वनामा स च सर्वरूप" इति श्रीमद्भागवते

योजना ।

मायां भगवदात्मकत्वेन सत्यत्वमत एवोक्तम् । एवमत्र विकारमात्रस्यैव मिथ्यात्वं न तु कार्यस्य । विकारस्तु मायाकल्पितो माययैव प्रदर्श्यते । कम्बुग्रीवाद्याकारास्तु मृद एव भवन्ति । न विकाररूपाः । अन्यथा दध्नि दुग्धस्येव घटेऽपि मृत्प्रतीतिर्न स्यात् । जायते तु सर्वेषामेव मृत्प्रतीतिर्घटेऽतो न विकारत्वम् घटस्य; किन्तु, कार्यत्वं कार्यं च कारणाभिन्नम् । अत एव सर्वनिर्णये वक्ष्यन्ति "मृदादिभगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतमि"ति । अत एव प्रपञ्चसत्यतानिर्वाहाय भजनीयेनाद्वितीयं कृत्स्नस्य तत्त्वरूपत्वादिति पठित्वा जगतः परिच्छिन्नत्वात्कथमपरिच्छिन्नेन ब्रह्मणा सहैक्यं भवेदित्यादिशङ्कायां व्यापकत्वादपरिच्छिन्नेन भगवता सहाभेद एव । वस्तुतो घटपटादयो व्यापका एव भगवदिच्छायामानन्दांशतिरोधानाद्व्यापकत्वमपि तिरोहितम् , न तु व्यापकत्वस्याभावः । अतः सर्वस्यापि पदार्थस्य भगवदिच्छया चिदानन्दाभिव्यक्तौ व्यापकत्वस्याविर्भावाद्वस्तुतो ब्रह्माभेद एवेति बोद्धव्यम् ॥८३॥

अखण्डाद्वैतभाने त्वित्यस्य व्याख्यायां । यदा अखण्डाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवदित्यारभ्य धर्मी बाध्यत इत्यन्तम् । सुवर्णग्राहकवदिति । यथा सुवर्णमात्रग्राहकः घटकुण्डलाद्यनेकाकारविशिष्टं सुवर्णं पश्यन्नपि सुवर्णत्वेनैव गृह्णाति । आकारविशेषास्तु नापेक्षिता इति तान् न गणयति । तथा नानविधाकारविशिष्टं जगत्पश्यन्नपि ज्ञानी ब्रह्मत्वेन गृह्णाति । आकारविशेषान्न गणयति । तदेतदुक्तं सत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति । सोऽयमखण्डाद्वैतवादः । अत्र वादे इदं ब्रह्मेत्यत्र इदमंशोऽपि न भाति । किन्तु, ब्रह्मैवेति भाति । अस्मिन्नखण्डाद्वैतवादे वाचारम्भणश्रुतिर्मूलमिति ज्ञेयम् । अस्मिन्पक्षे प्रपञ्चात्मके ब्रह्मरूपे ब्रह्मत्वेनैव मानं, न त्वयम् प्रपञ्चो ब्रह्मात्मक इति भानम् । आकारविशेषविशिष्टत्वेनाभानात् । तथापि भान एव वैलक्षण्यम् । न तु घटादिरूपप्रपञ्चरूपबाधः । आकारविशेषविशिष्टस्यापि ब्रह्मत्वेन ग्रहणात् । एवं सति ग्रहण एव तारतम्यं न तु प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमिति बोध्यम् । तदेतदुक्तं "अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथे"ति । पक्षान्तरे तु "स एकाकी न रमते", "स द्वितीयमैच्छत्", "स हैतावानासे"ति श्रुतेर्ब्रह्मैव, रिरंसयाऽनेकरूपेणाविर्भूतमिति । नानाकारवैशिष्ट्येन ब्रह्मणो ज्ञानम् । तदप्युचितमेव । अस्मिन्पक्षे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"तीदमंशस्यापि भानम् । परन्तु, ब्रह्मात्मकत्वेन । तथा चायं प्रपञ्चो ब्रह्मात्मक इति प्रतीतिः प्रपञ्चमवगाह्य ब्रह्मत्वमवगाहते । नानाकारविशिष्टत्वेन ब्रह्मणो भानात् । यथा कटककुण्डलाद्याकारविशिष्टसुवर्णग्राही तत्तदाकारयुक्तत्वेन सुवर्णं गृह्णाति, न तु केवलं सुवर्णं सुवर्णत्वेन, आकाराणामपेक्षितत्वात् विवाहादिमाङ्गल्ये सुवर्णकुण्डलापेक्षायामाकारविशेषविशिष्टस्याभिलषितत्वात्तद्वैशिष्ट्यं गृह्णाति, तथा नानाकारविशिष्टत्वं गृह्णन् ब्रह्मैव स्वरूपं गृह्णाति । "बहु स्यां प्रजायेये"ति श्रुतेर्भगवानेव बहुरूपो जात इति नानाकृतियुक्ता घटपटादयो ब्रह्मात्मका इति घटपटादिदर्शनमपि ब्रह्मज्ञानमेव । सोऽयं सखण्डाद्वैतवादः "बहु स्यां प्रजायेये"त्याद्युपनिषत्सिद्धः । एतादृक् सखण्डाद्वैतज्ञान्यपि शुद्धब्रह्मज्ञान्येव । यथा सुवर्णकटकाभिलाष्यपि सुवर्णाभिलाष्येव । नहि स केवलं कटकाभिलाषी, अन्यथा रजतकटकं गृह्णीयात् । अत आकारविशेषविशिष्टसुवर्णाभिलाष्येव । एवमयमपि देवतिर्यङ्मनुष्यपशुपक्षिघट-

योजना ।

पटादिविचित्राकारयुक्तं प्रपञ्चं पश्यन् भगवद्रूपत्वेनैव ब्रह्मज्ञान्येव भवति । एवं द्वेधा वेदान्तसिद्धो ब्रह्मवादः । एवं वेदान्तमते सर्वथा प्रपञ्चस्य सत्यत्वमेवेति न कुत्रापि मायावादः । अत एवोक्तं "नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचिदि"ति । ननु तर्हि पुराणे प्रपञ्चमिथ्यात्वं कुतो निरूपितमिति चेत्, वैराग्यार्थमिति ज्ञेयम्, "मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यत" इति शास्त्रार्थप्रकरणे श्रीमदाचार्यवाक्यात् । एवं द्वेधा वेदान्ते निरूपणमद्वैतस्य । भगवद्गीतासु च क्षराक्षरपुरुषोत्तमभेदेन त्रिरूपता उक्ता । सा च सिद्धान्तमुक्तावल्यां गङ्गादृष्टान्तेन विवृता । एका मूर्तिमती गङ्गा, सा त्वाधिदैविकी, द्वितीया तीर्थरूपा आध्यात्मिकी, तृतीया प्रवाहात्मिकाधिभौतिकी" एवंविधा रूपेण गङ्गा त्वेकैव । एवं ब्रह्मापि त्रिरूपम् । तत्राधिदैविकं पुरुषोत्तमशब्दवाच्यं श्रीकृष्णरूपम्, आध्यात्मिकं अक्षररूपं द्वितीयम्, प्रपञ्चात्मकमाधिभौतिकरूपं तृतीयम् । एवं त्रिरूपतया निरूपितं ब्रह्माप्येकमेव । सोऽयमाधिदैविकाऽद्वैतवादो गीतोपनिषत्प्रतिपाद्यः । एवं त्रिधाऽद्वैतवादः, अखण्डाद्वैतम्, सखण्डाद्वैतम्, आधिदैविकाद्वैतं चेति । तथा च सत्यः प्रपञ्चो भिन्न इति मायावादो नाङ्गीकर्तव्यो वेदादिविरोधात् । द्वैतवादो भजने सहायीभूत इव भाति तथापि वेदाप्रतिपादितत्वान्नादर्तव्यः । न तु स्वरूपतोऽपि घटादिपदार्थो धर्मे बाध्यत इत्यर्थ इति । शुक्तिज्ञाने रजतमिव ब्रह्मज्ञाने घटादिर्न बाध्यते । अपि तु अयं घट इति बुद्धिर्निवर्तते, ब्रह्मैवेति बुद्धिर्भवति । नैतावता मिथ्यात्वमखण्डाद्वैतभावेऽपीति भावः ॥ ९१ ॥

यस्मिन् ध्यानं स एक एव योगः प्रामाणिकः । श्रीभागवते तृतीयस्कन्धे कपिलदेवैरुक्तत्वात् । तत्र भगवतः प्रत्यग्ध्यानस्य दृश्यमानत्वात् । अयमेव योगः सबीज इत्युच्यते । भगवद्ध्यानरहितास्तु सर्वे एव योगा अप्रामाणिकाः । "एतेन योगः प्रत्युक्त" इति व्याससूत्रे निषिद्धत्वात् । ते भगवद्ध्यानरहिता योगा निर्बीजा उच्यन्ते । तत्रापि विशेषमाहुः **आत्मबोधाङ्गभूतः प्रामाणिक** इति । निर्बीजेष्वपि एको योगः प्रामाणिकस्तत्र हेतुः **आत्मबोधाङ्गभूत** इति । आत्मशब्देनात्र जीवः तथा च जीवस्वरूपज्ञानसाधनीभूतस्तु प्रामाणिक एवेतीत्यर्थः । त एव प्रकारान्तरमापन्ना भावनया साधिता इति । प्रकारान्तरमापन्ना इत्यस्यैव विवरणं भावनया साधिता इति ॥ ९४ ॥

"गोविन्दासन्यसेवात"इत्यस्य विवृतौ **अयं लय** इत्यादि । भगवत्सेवातः इन्द्रियाणां जायमानं देवतात्वमुत्पत्तौ गण्यते । अतो नायं प्रलय इति प्रलयस्य त्रैविध्यमेव न तु सङ्ख्याधिक्यमित्यर्थः ॥ ९७ ॥

शास्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यम इति । अस्मिन्व्याख्याने "ज्ञानाभावे मध्यमः स्यादि"ति पाठो मूले ज्ञेयः । **प्रेमाभावे मध्यम इति वेति** । इदं व्याख्यानं "प्रेमाभावे मध्यमः स्यादि"ति मूलपाठमादाय ज्ञेयम् । तथा च प्रेमज्ञानयोर्मध्येऽन्यतराभावेन मध्यमत्वमित्यर्थः । एवं "प्रेमाभावे मध्यमः स्यादि"ति पाठे "ज्ञानाऽभावे तथाऽऽदिम"इत्यग्रिमं चरणं भवति । तद्व्याचक्षते । ज्ञानाभावे तथेत्येतावत्पृथक्कृत्य पूर्वेण मध्यमपदेनान्वयः । एवं सति "प्रेमाभावे मध्यमः स्यात् ज्ञानाभावे तथे"ति पाठे, ज्ञानाभावे मध्यमत्वम् । "ज्ञानाभावे मध्यमः स्यात्प्रेमाभावे

योजना ।

तथे''ति पाठेऽपि तथेत्यस्य पूर्वेण मध्यमपदेनान्वयस्तथा च प्रेमाभावेऽपि मध्यमत्वं सिद्धम् । एवं तथेति पदस्य पाठद्वयेऽपि मध्यमपदेनान्वयकरणे तु आदिम इत्येतावत्पदमुर्वरितम् । तस्य उभयो-रप्यभावे त्विति परेणान्वयः । तथा सत्युभयोरभावे आदिमो भवति हि नो भवतीत्यर्थः सम्पद्यते । तस्याः किं फलमित्याकाङ्क्षायां "पापनाशस्ततो भवेदि''त्यनेन पापनाशात्मकं फलं ज्ञेयम् । यदि स्यादादिमशब्दस्य पूर्वेणान्वयस्तदा 'ज्ञानाभावे तथादिमः' एवं 'प्रेमाभावे तथादिम' इति पाठेऽपि आदिमः हि नो भवतीत्यर्थो भवतीत्याशयेनाहुः । आदिमो वेति । प्रथमस्य मध्यमत्वं मध्य-मस्योत्तमत्वं इति क्रम इति । प्रथमस्य हीनाधिकारिणः यथोक्तभजनान्मध्यमत्वं जायते मध्य-मस्याधिकारिणो यथोक्तभजने उत्तमत्वं सिद्ध्यति । अयं क्रमः साधनक्रम इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

अर्थोऽयमेवेत्यस्य व्याख्याने सर्वेषां प्रमाणानामिति । "वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा । आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयत'' इति वाक्यात् ॥ १०४ ॥

"प्रमाणबलमाश्रित्य शास्त्रार्थो विनिरूपितः । प्रमेयबलमाश्रित्य सर्वनिर्णय उच्यते'' इति । अर्थस्तु प्रमाणानां "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानी''ति कारिकोक्तानां वेदादीनां बलम् । अन्यप्रमाणापेक्षया श्रेष्ठत्वरूपं आश्रित्य शास्त्रार्थः ब्रह्म अप्राकृतसच्चिदानन्दाकारं जीवा अणवोंऽशा ब्रह्माभिन्नाः, प्रपञ्चः सत्यो ब्रह्माभिन्नः, कृष्णभक्तिः परमपुरुषार्थसाधिका फलरूपा चेत्यादिरूपः, शास्त्रार्थो निरूपितो निर्धारित इत्यर्थः । एवं वेदभगवद्गीताव्याससूत्रश्रीभागवतैः शास्त्रार्थरूपे प्रमेये सिद्धे तस्य प्रमेयस्य बलमाश्रित्य तदनुसारेण सर्वस्यापि ज्ञानादेर्निर्णयः । ज्ञानकर्मादि सर्वं भगवद्भजनोपयोगितयाऽऽदर्तव्यमित्यादिरूप उच्यत इत्यर्थः ॥

"घोपसीमन्तिनीसेव्यशृङ्गाररसमूर्तिमान् ।
चरीकरोतु कल्याणं गोवर्द्धनगिरीश्वरः'' ।

इति श्रीमद्गोवर्द्धनधरश्रीमद्वल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकलालूभट्टोप-नामदीक्षितबालकृष्णविरचितायां निबन्धविवृतियोजनायां

शास्त्रार्थप्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

॥ ॐ ॥





श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सप्रकाशस्तत्त्वार्थदीपनिबन्धः ।

आवरणभङ्गादिव्याख्यासमलङ्कृतः ।

द्वितीयं सर्वनिर्णयप्रकरणम् ।

प्रमाणेन प्रमेयेण फलतः साधनेन च ।
सर्वनिर्णयबोधाय द्वितीया प्रक्रियोच्यते ॥ १ ॥

आवरणभङ्गः ।

करेण स्त्रीयानां हृदयमिव हैयङ्गवलवं
दधानः सम्प्रीणन्नमृतमधुरैर्बालचरितैः ।
हसन्नल्पैर्दन्तैः करचरणजान्वञ्चनपरः
शिशुः कृष्णोऽस्माकं दिशतु दृशमीशः स्वविषयाम् ॥ १ ॥

पूर्वप्रकरणे, एतन्मतमविज्ञाय सात्त्विका अपि हरिं न सेवन्ते येऽपि सेवन्ते तेऽपि मतान्तरैरेव सेवन्त इति तन्निवारणार्थमयमुद्यम इति प्रतिज्ञाय प्रयत्नसाफल्याय "प्रपञ्चो भगवत्कार्य" इत्यादिना जडजीवान्तर्यामिणां स्वरूपं, तेषां भगवदंशत्वं, भगवत्स्वरूपं, सामर्थ्यं, भगवतः परमफलत्वं चोक्त्वा, भगवद्भजनमेव जीवानां परमफलावान्तरफलसाधनमिति तदेव जीवैः कर्तव्यमित्येवं सर्वेषां श्रुत्यादीनां पूर्वोक्तप्रमाणानां तदविरुद्धानामन्येषां यथार्हमभिधेयस्तात्पर्यगोचरश्चार्थ इति निर्द्धारितम् । तदिदं मन्दमध्यमानां हृदये तदा स्थिरीभवति यदा तेषां प्रमाणानामिदं पौर्वापर्यमुपपाद्योच्यते, न त्वन्यथापि । असम्भावनाविपरीतभावनाभ्यां व्युत्थानसम्भवात् । व्युत्थानप्रकारस्तु—पूर्वप्रकरणे जीवजडान्तर्यामिणां भगवदंशत्वं, तदभिन्नत्वं च यत् प्रतिपादितं, "तच्छ्रुत्यादिबलेने"ति शब्दादेव सिद्धम् । शब्दश्च मानान्तरविरोधे आदरणीयत्वं नार्हति । न खलु प्रत्यक्षविरुद्धं श्रुतिशतैरपि निर्णेतुं शक्यते । न हि प्रत्यक्षतो निर्णीतोऽश्वः शब्दशतैरपि गोत्वेन प्रत्याययितुं शक्यते तस्मान्न तद् युज्यते । किञ्च, आस्तिकानां श्रुत्यादौ प्रामाण्यनिर्द्धारे सत्यपि तदर्थस्यासदाद्यविषयत्वेन तदर्थनिर्णेतारः सर्वज्ञाः स्मृतिकारास्तन्निर्णयायाश्रयणीयाः । पूर्वप्रकरणोक्तं तु तद्विरुद्धत्वादश्रौतमित्यपि सम्भाव्यत इत्याद्याकारः । अतस्तदुभयनिवृत्त्यर्थं द्वितीयप्रकरणमावश्यकमिति तद् व्याचिख्यासवः पूर्वप्रकरणविवृतिसमाप्तौ कृतायाः सर्वनिर्णयकथनप्रतिज्ञाया युक्तिसम्बन्धकथनमुखेन पूर्वप्रकरणसङ्गतिमपि बोधयन्ति—प्रमाणेनेत्यादि ।

तत्र प्रथमं वेदार्थरूपं भगवन्तं मङ्गलार्थं स्तौति—

पञ्चात्मकं द्विरूपं च साधनैर्बहुरूपकम् ।

पञ्चात्मकमिति अग्निहोत्रादिभेदेन पञ्चरूपत्वम् । तेषां प्रकृतिविकृतिभेदेन द्विरूपत्वम् । उभयोरनेकरूपत्वं वक्तुं साधनैर्बहुरूपत्वमाह साधनैरिति ।

आवरणभङ्गः ।

तथाच प्रमाणादिचतुष्करूपया युक्त्या ज्ञानदेर्मार्गस्य प्रापञ्चिकपदार्थस्य प्रमाणादेश्च स्वरूपयाथात्म्यनिश्चयात्मको बोधः । तेन चासम्भावनादिनिवृत्त्या मन्दानां मध्यमानां च हृदये पूर्वप्रकरणोक्तार्थस्थैर्येण शास्त्रनिरूपणसाफल्यम् । मुख्यानां तु योऽर्थः पूर्वमुत्पत्त्या निरूपितः सोऽत्रोपपत्त्या निरूप्यत इति स्थूणांखननवद् दार्ढ्यमित्येककार्यत्वं सङ्गतिः । प्रमाणादीनां यथासम्भवं साङ्गानां युक्तित्वेन प्रतिपाद्यत्वं, तेषां च मार्गपदार्थादिस्वरूपबोधहेतुत्वं, तस्य चासम्भावनादिनिवर्तकत्वमिति सम्बन्धघटना च बोध्या । प्रमाणादिचतुष्केण निरूपणं तु चतुर्लक्षण्यनुसारित्वबोधनार्थम् । किञ्चोक्तरीत्या असम्भावनाद्युदये तन्निवृत्त्यर्थं प्रमाणादीनां बलावलं निर्णेयम् । तच्च प्रमाणस्वरूपादिनिर्णयाधीनमतः प्रमाणप्रकरणमावश्यकम् । ततस्तेन सिद्धे वेदादेर्बलिष्ठत्वे पुनराशङ्कान्तरमुदेति । जीवादयस्त्रयोऽपि चेद् ब्रह्मांशास्तर्हि कुतस्तेषु तारतम्यमिति । सर्वं चेद् ब्रह्माभिन्नं तर्हि को विशेषो ब्रह्मणीति च । तन्निवृत्त्यर्थं हेतुपूर्वं सर्वस्य स्वरूपनिरूपणं कर्तव्यमिति प्रमेयप्रकरणमावश्यकम् । ततस्तरतमभावे बुद्धेऽपि श्रौतानां साधनान्तराणामपि विद्यमानत्वाद् भक्तौ कुत आधिक्यमिति शङ्काऽवतिष्ठते । तन्निवृत्त्यर्थं सर्वेषां साधनानां फलतः सुखदुःखसाध्यतया च तारतम्यबोधनाय फलप्रकरणमप्यावश्यकम् । तेन फलतः सुखसाध्यतया च भक्तेराधिक्ये सिद्धेऽपि यथैव वेदोक्तमार्यादिकैः साधनैः फलं, तथैव भक्त्यापि चेत्र कश्चिद् विशेष इति फलतो विशेषं वक्तुं साधनस्वरूपनिर्णयाय साधनप्रकरणमप्यावश्यकम् । एवं चतुर्भिः पूर्वोक्ते दृढीकृते ततस्तन्निगमनम् । तेन सर्वनिर्णयबोध इति तदप्यावश्यकमित्यतोऽप्येवं निरूपणमिति बोध्यम् । एवमुपदेश्यान् प्रेक्षावतोऽभिमुखीकृत्य पूर्वप्रकरणे, "वेदाः श्रीकृष्णे"त्यादिना वेदादिशब्दात्मकस्य प्रमाणस्य तन्मध्येऽपि वेदस्य प्रथमोद्दिष्टत्वात् तस्य च सविषयत्वात् तत्प्रमेयं तत्स्वरूपादिकं च निर्णिनीषन्तो मङ्गलमाचरितुमवतारयन्ति तत्रेत्यादि । तत्रेति सर्वस्मिन्निर्णेतव्ये । एतेन सर्वमूलभूतत्वाद् वेदस्य तदर्थ एव मङ्गलत्वेन प्रथममुपनिबन्धनीय इत्यौचित्यमपि दर्शितम् । तत्र सम्पूर्णस्य वेदस्य काण्डद्वयात्मकत्वात् प्रथमं पादत्रयेणोक्तं पूर्वकाण्डार्थं विशदीकुर्वन्ति अग्निहोत्रेत्यादि । तेषामिति । अग्निहोत्रादीनाम् । उभयोरिति । प्रकृतिविकृतिरूपयोः । साधनैरिति । शाखाभेदेन नानाप्रकारादुक्तैस्तैः । तथाच पूर्वमीमांसायाम्, "अथातो धर्मजिज्ञासे"ति शास्त्राधिकरणे वेदार्थरूपधर्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय, को धर्म इत्याकाङ्क्षायां, "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म" इति समनन्तराधिकरणे चोदनालक्षणपदेन लौकिकम्, अर्थपदेनानर्थभूतं वैदिकं च व्युदस्योभयधर्मविशिष्टो धर्मो द्वादशलक्षण्यां प्रकृतिविकृतिभेदेन द्विरूपोऽग्निहोत्रादिपञ्चात्मको यज्ञस्वरूपो विचारितः । तेन स एव पूर्वकाण्डार्थः । तत्रैव शाखान्तराधिकरणे किञ्चित्साधनभेदेन शाखान्तरीययागाद् विलक्षण-

सर्वेषां समुदायफलमाह—

स्वानन्ददायकं कृष्णं ब्रह्मरूपं परं स्तुमः ॥ १ ॥

स्वानन्ददायकमिति । धर्मरूपेणैव फलदानं भविष्यतीत्याशङ्क्येश्वररूपेणैव फलदानमित्याह कृष्णमिति । उत्तरकाण्डार्थमाह ब्रह्मरूपमिति । "स्वानन्ददायकं कृष्णमि"त्यत्रापि।तयो रूपयोरुत्तरं श्रेष्ठमित्याह परमिति । स्तुमः स्तोत्रमेव यथाज्ञानं कुर्मः । न तु स ज्ञायत इत्यर्थः ॥ १ ॥

पञ्च रूपाणि गणयति—

अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा ।
चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः ॥ २ ॥

अग्निहोत्रमिति । प्रमेयं निर्णीय हि बलं वक्तव्यम् । तच्च प्रमेयं द्विविधम् । प्रमाणानुरोधि, स्वतन्त्रश्चेति । तत्राद्यं निरूप्यते । दर्शपूर्णमासावेकः । "परमेष्ठिनो वा

टिप्पणी ।

समुदायफलमिति । कर्म ज्ञानफलमित्यर्थः । स्वानन्ददायकमिति । स्वशब्दस्यात्मवाचकत्वात् धर्मिधर्माभ्यामीश्वरजीवात्मसम्बन्ध्यानन्ददायकमित्यर्थः । धर्मरूपेणेति । पुण्यरूपेणेत्यर्थः । अत्रापीति । ब्रह्मरूपमित्यनेन सामानाधिकरण्यात् विशेषणाभ्यामुत्तरकाण्डेऽपीश्वररूपेणैव फलदानमित्यर्थः । उत्तरं कृष्णरूपमित्यर्थः ॥ १ ॥

आवरणभङ्गः ।

स्वरूपसंस्थानत्वेऽपि सुप्तोत्थितोपविष्टपुरुषवत् तत्त्वेन प्रतीयमानः स एव शास्त्रार्थ इति विचारितम् । तेन काण्डार्थविशेष एव शास्त्रार्थ इति भावः । एवं प्रमाणप्रमेयसाधनैः पूर्वकाण्डार्थ उक्तः । एतमेव फलेन वक्तुमाहुः सर्वेषामित्यादि । स्वानन्ददायकमिति । स्वानि पश्वादीन्यानन्द आत्मसुखं तयोर्दायकम् । एतावान् पूर्वमीमांसासिद्धोऽर्थः । उत्तरविचारे तु, "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती"ति श्रुतेः स्वांशो य आनन्दस्तस्य दायकमित्यर्थ इति फलतः स उक्तः "फलमत उपपत्तेरि"ति न्यायमनुसृत्य, जैमिनीयमतनिराकरणायाहुः धर्मेत्यादि । काण्डभेदायाहुः । उत्तरेत्यादि । काण्डद्वयस्यैकवाक्यत्वायाहुः स्वानन्देत्यादि । अत्रापीति । उत्तरकाण्डे । तथाचोत्तरकाण्डे ब्रह्मरूपेण प्रतिपाद्यत्वे फलदानमीश्वररूपेणैव, न तु ज्ञानादिरूपेण । पूर्वोक्तन्यायात् । तेन काण्डभेद एकवाक्यत्वं चेत्यर्थः । उभयो रूपयोर्वेदार्थत्वाविशेषेऽपि तारतम्यज्ञापनायाहुः तयोरित्यादि । उत्तरस्योत्कृष्टत्वे गमकमाहुः स्तुम इत्यादि । "यतो वाचो निवर्तन्त" इत्यादिश्रुतेस्तथेत्यर्थः ॥१॥

एवं मङ्गलमुखेन सर्ववेदार्थकथनात् प्रमाणतो निर्णय उक्तः । अतः परं प्रमेयेणैतं निर्णिनीषन्त आहुः पञ्चेत्यादि । पूर्वोक्तप्रतिज्ञासिद्ध्यर्थमाहुः प्रमेयमित्यादि । हिर्हेतौ । यतः प्रमेयनिर्णयाभावे तद्बलनिर्णयाभावस्तदभावे सर्वनिर्णयाभावोऽतो हेतोः । प्रमाणानुरोधीति । शब्दैकसमधिगम्यम्, शब्दोक्तसाधनाभिव्यङ्ग्यमिति-यावत् । स्वतन्त्रमिति । तदव्यतिरिक्तम् । निरूप्यत इति । इत आरभ्य विचार्यत इत्यर्थः । तत्र यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादावेकत्वसङ्ख्यायाः स्फुटत्वेऽपि दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति वाक्येन दर्शपूर्णमासयोर्द्वित्वात् पञ्चत्वसङ्ख्याया विरुद्धत्वमाशङ्क्य परिहरन्ति दर्शेत्यादि । तथाच यथा, "यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पूर्ण-

एष यज्ञ" इत्यत्र तयोरेकत्वनिर्णयात् । पशुर्निरूढः । चातुर्मास्यानि स्वतन्त्राणि । सोमोऽग्निष्टोमः । एते क्रमेणैव कर्तव्याः ।

आवरणभङ्गः ।

मास्यां चाच्युतो भवति," "तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैवोपांशु पूर्णमास्यां यजन्ति"ति, "ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्", "ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्", "ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायामि"ति षड्वाक्योक्तानां यागानां दर्शपूर्णमासाभ्यामिति श्रौतद्विवचनानुरोधादेकैकत्रिकरूपतामङ्गीकृत्य द्वावङ्गीक्रियते, "तथैष यज्ञ" इत्येकवचनानुरोधादुभावेक इत्यङ्गीक्रियत इति न सङ्ख्या न्यूनेत्यर्थः । अत एव द्वितीयस्य तृतीयपादे दाक्षायणाधिकरणे, "दाक्षायणयज्ञेन सुवर्णकामो यजेते"ति दर्शपूर्णमासप्रकरणीयवाक्येऽपि, "द्वे पौर्णमास्ये यजेत द्वे अमावास्ये" इत्यादिवाक्यशेषोक्तप्रकारेणावर्त्यमानावपि दर्शपूर्णमासावेकवचनेनैव निर्द्दिष्टाविति युज्येते । वायव्यादयोऽनेके पशुयागाः सन्ति, तेभ्यः परिच्छेत्तुमाहुः **निरूढ** इति । निरूढत्वेन यः प्रसिद्धः स इत्यर्थः । चातुर्मास्यानि सोमाङ्गभूतान्यपि सन्तीति तेभ्यो विवेक्तुमाहुः **स्वतन्त्राणी**ति । चातुर्मास्यानि च वैश्वदेववरुणप्रघाससाकमेधशुनासीरीयाख्यचतुःपर्वात्मकानि । तान्यपि प्रतिपर्वसु नानायागविशिष्टान्येको यागः । **सोमोऽग्निष्टोम** इति । एवं सोमपदस्य यागनामत्वबोधनेन "सोमेन यजेते"त्यत्र न मत्वर्थलक्षणेति बोधितम् । नच द्रव्यलाभाभावः शङ्क्यः । सोमसंस्कारादिचोदनार्थापत्त्यैव तत्प्राप्तेः । यद्वा सोमोऽस्मिन्नस्तीति सोमवानिति मतुवर्थे, "अर्शआदिभ्योऽजि"त्यनेनाचि कृते सोम इति भवति, एवं योगसिद्धेः प्रसिद्ध्या च रूढेरपि निश्चयान्निर्मन्थ्यन्यायेन योगरूढः सोमशब्द आदरणीयः । एवञ्च, "यद्यग्निष्टोमः सोमः स्यात् पुरस्तादुक्थ्यं कुर्वीत यद्युक्थ्यः स्यादतिरात्रं कुर्वीते"ति श्रुतिरपि सङ्गता भवति । अग्निष्टोमोक्थ्यादीनां संस्थात्वेन संस्थावतो यागस्य नामकथनस्यावश्यकत्वात् । "देवा वै यद् यज्ञेऽकुर्वत तदसुरा अकुर्वत ते देवा एतं महायज्ञमपश्यन्नि"त्युपक्रम्याग्रे, "य एवं विद्वान् सोमेन यजेत" इतिविधानदर्शनस्यैवमेव सामञ्जस्याच्चेति । **क्रमेणैवे**ति । यथासम्भवं श्रुतेन कल्पाद्यनुमितेन वेत्यर्थः । स चैवं बोध्यः । अग्निसिद्धिमन्तरेण यागासम्भवात् प्रथमत आधानं कर्तव्यम् । ततः, "सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयादि"ति वाक्यात् सायमग्निहोत्रारम्भः, होमश्च यावज्जीववाक्यान्नित्यः, उक्तवाक्यान्नियतकाल इत्यादि बोध्यम् । ततो दर्शपूर्णमासौ क्रमेण । यदि सुमुहूर्तादिवशात् पूर्णमासः प्रथममापतेत् तदा सारस्वतौ होमौ अपक्षयपरिहारार्थं विधाय पूर्णमासः कार्यस्ततो दर्शः । ततो, "दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेते"ति श्रुत्या सोमप्राप्तावप्यनुष्ठाने कल्पस्य नियामकत्वात् तत्र चातुर्मास्यपशुसोमक्रमदर्शनात् तदुभयानन्तरं सोमः । कात्यायनशाङ्खायनादिकल्पे चातुर्मास्यानन्तरं पशोर्दर्शनेऽपि "ते देवा एतं महायज्ञमपश्यन्नि"ति श्रुतावसुरेभ्यो गुप्ततयाऽनुष्ठानबोधने "पौर्णमासं यज्ञमग्नीषोमीयं पशुमकुर्वत तदा दर्शं यज्ञमाग्नेयं पशुमकुर्वत वैश्वदेवं प्रातःसवनमकुर्वत वरुणप्राघासान् माध्यन्दिनꣳसवनꣳ साकमेधान् पितृयज्ञꣳत्र्यम्बकाꣳस्तृतीयसवनमकुर्वते"ति पौर्णमासादिकं बहिःप्रसार्याग्नीषोमी-

एतेषां क्रियारूपत्वेन भगवत्प्रीतिसाधकत्वं, न भगवत्त्वमित्याशङ्क्याह पञ्चविधो हरिरिति ॥ २ ॥

साधनसाध्यरूपता नैकस्येत्याशङ्क्य सर्वत्र भगवत एव द्विरूपत्वमिति वक्तुमाह—

तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत् ।
प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं तु वैकृतम् ॥ ३ ॥

तत्साधनं च स हरिरिति । साध्यरूप एव स हरिः, साधनरूपोऽपि । चकारात् साध्यसाधनरूपोऽपि । साधनद्वैरूप्यं निरूपयति प्रयाजादि स्रुगादीति । यत्किञ्चित् तत्फलोपकारि, स्वरूपोपकारि वा, नातोऽन्यदस्तीत्यर्थः । गणितानां नाम्ना

आवरणभङ्गः ।

यादिपश्वोर्वैश्वदेवादिकं प्रसार्य प्रातरादिसवनानां कारणानुवादाद्दर्शपूर्णमासपश्वोश्चातुर्मास्यसोमयोश्च सामीप्यप्रतीतेः पश्वनन्तरं चातुर्मास्यप्रतीतेश्च तथा क्रमः । अत एवापस्तम्बेन कल्पसूत्रे पशुबन्धं व्याख्याय तदनन्तरं चातुर्मास्यानि व्याख्यातानि । अतोऽसुरेभ्यो गोपनेऽभिप्रेते तथा क्रमः । अनभिप्रेते त्वन्यः । अत एव श्रीभागवते पञ्चमस्कन्धे भरतचरिते, "श्रद्धया हुताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरि"ति क्रम उच्यते । अतस्तत्तत्कल्पशिष्टाचाराभ्यां व्यवस्था द्रष्टव्या । अत्र प्रमेयनिरूपणस्य सर्वसाधारणत्वेन क्रमोक्तेरपि तथात्वात् । एतेषामित्यादि । अग्निहोत्रादीनामिज्यारूपत्वेनेज्यप्रीतिसाधकत्वं युक्तं, न भगवत्त्वम् । इज्यायामिज्यरूपत्वस्य प्रत्यक्षविरुद्धत्वादित्यर्थः । हरिरिति । "यज्ञो वै विष्णुरि"ति श्रुते"र्मां विधत्तेऽभिधत्ते मामि"त्येकादशे भगवद्वाक्याच्च सिद्धे यागस्य भगवत्त्वे तद्विरुद्धं प्रत्यक्षं नादरणीयमित्यर्थः । न चाग्निहोत्रस्य जुहोति चोदनासिद्धत्वेन होमत्वात् पञ्चानां न भगवत्त्वमिति शङ्क्यम् । "यस्य भूयांसो यज्ञक्रतव" इत्यत्र देवतोद्देशेन हविस्त्यागस्यैव यज्ञनामकत्वेनाङ्गीकारात् । न च जुहोतेस्त्यागार्थत्वे मानाभावः । तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचने स्यादिति जैमिनिसूत्रस्यैव तत्र मानत्वात् । भाष्यकारादिभिरपि तथाङ्गीकारात् नवीनैरपि यजतिजुहोत्योः प्रक्षेपविशिष्टत्यागार्थत्वं तुल्यमङ्गीकृत्य प्रक्षेपस्य यजतावङ्गत्वं जुहोतौ प्राधान्यमिति विशेषाभ्युपगमाच्च । अतो हविस्त्यागरूपेण यज्ञत्वस्याग्निहोत्रेऽप्यक्षततत्वम् । "स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावि"ति मीमांसकप्रसिद्धश्रुतेश्चेति ॥ २ ॥

साधनेत्यादि । पूर्वमानन्दस्यैव फलत्वेन कथनात् प्रीतेर्व्यापारत्वमेव वाच्यम् । आनन्दश्च भगवान् यज्ञश्च स एवेति साधनसाध्यरूपता एकस्य हरेर्न वक्तुं शक्येत्याशङ्क्य सर्वत्र यागविषये मपञ्चादौ च भगवत एव तथात्वमिति वक्तुं साम्प्रतं यागविषये तथात्वमाहेत्यर्थः । साध्यरूप एवेत्यादि । साधनानामपि यागप्रकरण एव श्रावितत्वेन पुरुषसूक्ते तद्विवरणरूपद्वितीयस्कन्धेऽध्याये च तेषां भगवदवयवत्वस्य निर्णीतत्वेन यथैकस्यैव रूपभेदाद् द्विरूपत्वं तथाऽन्यत्रापीति न काप्यनुपपत्तिरित्यर्थः । एवं पञ्चात्मकत्वं सपरिकरं विवृतम् । अतः परं द्विरूपत्वं विवरीतुमाहुः गणितानामित्यादि । अग्निहोत्रमित्यादिना सङ्ख्यातानां नाम्ना प्रसिद्धानाम् । कौण्डपायिनामयनेति

प्रसिद्धानां प्रकृतिरूपत्वमित्याह प्राकृतमिति। एतदेव नित्यं कर्म। नित्यकाम्यव्यवस्था एषैव। यद्यावदुक्तकर्त्तव्यं नियतफलं तन्नित्यम्। न तु फलरहितम्। अकरणे राजदण्डवत् प्रत्यवायः। न हि राजसेवायां फलाभावः। एतत्प्रतिपादकत्वमेव मुख्यतया वेदस्य। द्वितीयं रूपमाह काम्यं तु वैकृतमिति। कामनायामेव फलदम्। विकृतत्वात् स्वभावतो न नित्यफलं प्रयच्छति॥ ३॥

टिप्पणी।

कामनायामेवेति। केवलकाम्ये कारीर्यादौ कामनाया अधिकाररूपत्वात् कामनाभावेऽनधिकारिकृदङ्गैः फलत्वमेवेति भावः॥ ३॥

आवरणभङ्गः।

वायव्यपशुरित्येवं नामान्तरादिना न, किन्तु स्वनाम्ना प्रसिद्धानां प्रकृतिरूपत्वं निखिलमङ्गजातं यत्र निरूप्यते सा प्रकृतिस्तादृशत्वमाहेत्यर्थः। ननु नित्यकाम्यभेदेनापि द्वैरूप्यं दृश्यत इति तत्कुतो नोच्यत इत्याहुः **एतदेवेत्यादि**। तथा च पर्यायमात्रमेव भिद्यते, न तु स्वरूपमित्यर्थः। **एषेति**। उच्यमानप्रकारिका। प्राकृते कथं नित्यत्वमित्याकाङ्क्षायां नित्यलक्षणकथनमुखेनोत्तरमाहुः **यदित्यादि**। यद् यावदुक्तं तत्प्रकरणे कृत्स्नमुक्तमङ्गजातं कर्त्तव्यं यत्र तादृशं नियतफलम् अवश्यभाविफलं यस्य तादृशं च तन्नित्यमित्यर्थः। एकदेशिभिर्नित्ये फलं नाद्रियत इति तन्निराकर्तुमाहुः **न त्वित्यादि**। नन्वकरणे प्रत्यवायजनकत्वमेव नित्यत्वमस्तु। "आश्विनं धूम्रललाममालभेत", "यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत् वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयत" इत्यादिष्वकरणोद्वासनादिना दौर्ब्राह्मण्यवीरहत्यादिश्रावणात्। न तु फलवत्त्वमपि। काम्ये व्यभिचारादित्यत आहुः **अकरण इत्यादि**। अयमाशयः। वेदानां भगवन्निश्वासरूपत्वात् प्रवर्त्तको विधिस्तदाज्ञारूपः। "श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे" इति स्मृतेश्च। यजधातोः पूजार्थत्वाद्यागः पूजारूपः। इज्यश्च भगवानेव। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः", "मां यजेताहरेत् क्रतून्", "न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी" इत्यादिस्मृतिश्रुतिभ्यः। एवं सति यागो भगवदाज्ञप्ततत्पूजारूप इति सिद्ध्यति। तथा सति तदकरणे प्रत्यवायः, करणे फलं चोक्तन्यायेन युक्तमिति। नच यत्र यजतिर्न श्रुतस्तत्र पूजारूपत्वव्यभिचार इति शङ्क्यम्। "ईजेऽनुयज्ञं विधिवदग्निहोत्रादिलक्षणैः। प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम्" इति दशमस्कन्धीयवाक्येन तादृशैरन्यैश्च सर्वेषां पूजात्वनिर्णयात्। एवमेव स्मार्त्तकर्मण्यपि बोध्यम्। "सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि विधिना नोदितानि मे। पूजान्तैः कल्पयेत् सम्यग्" इति तत्रापि तथा वाक्यात्। नन्वेवं सति काम्येऽपि यजत्यादिश्रवणेनोक्तरूपतायास्तुल्यत्वात्तदकरणेऽपि प्रत्यवायापत्तिः। नचेष्टापत्तिः कर्त्तुं शक्या। तथा वाक्याभावात्। अतः पूर्वोक्तमसङ्गतमित्याशङ्कायामाहुः **एतदित्यादि**। इदमनुपदमेव व्युत्पाद्यम्। एवञ्चाकरणे प्रत्यवायजनकत्वे सति नियतफलत्वं नित्यत्वमित्येव नित्यलक्षणम्। यावदुक्तेत्यादि तु प्रकृतिबोधनायेति बोध्यम्। **काम्यं तु वैकृतमित्यत्र** वैकृतमित्युद्देश्यम्॥ ३॥

एवमुद्देशतो रूपद्वयं निरूप्य फलं निरूपयति—

ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्त्तुर्मोक्षः क्रमाद् भवेत् ।
अन्यथा स्वर्गसौख्यं तु द्विरूपं तत् क्रमाद्भवेत् ॥ ४ ॥

ज्ञानिन इति । भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्मकर्त्तुरेव । तत्र हेतुः । तदभिव्यक्तौ सत्यां षोढाविहितश्चेदभिव्यक्तो भवति । "पुरुषो विहितः षोढे"-त्यत्रोक्तं पञ्चात्मकं ब्रह्म च तदैव फलं प्रयच्छतीति भावः । मर्यादायां क्रममोक्ष एव

टिप्पणी ।

षोढाविहित इति । अग्निहोत्रादिपञ्चप्रकारैर्विकृतिरूपेण च विहितो यज्ञ इत्यर्थः ॥ ४ ॥

आवरणभङ्गः ।

फलं निरूपयतीति "जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे", "कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः", "अथापरे मनीषिणः कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुरि"त्यादिश्रुतिभ्यो, "ज्ञात्वाऽज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेद्" इति भगवद्वाक्याच्चाधिकारिभेदात् फलभेद इत्यधिकारिणं व्यापारं कर्मस्वरूपं च ज्ञापयितुं नित्यानां फलं निरूपयतीत्यर्थः । भगवदानन्देति । तेन सिद्धान्ते मोक्षस्वरूपमधिकारी चेति द्वयं विवृतं ज्ञेयम् । एवञ्च भवाय नाशायेति पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रतं प्रति ब्रह्मवाक्येन देहयोगस्य भगवद्विचारितकार्यार्थत्वादेते निष्कामाः, ब्रह्म ज्ञात्वापि कर्म कुर्वन्त्वित्येवं रूपेण ये विचारिता-स्तेषामिदं फलम् । अयं चार्थ उत्तरमीमांसायां साधनाध्यायतुरीयपादे जैमिनिमतेन सिद्ध्यति । तत्र, "पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायण" इति सूत्रे केवलविद्यायाः वेदनविषयात् केवलाद्भगवत एव वा पुरुषार्थो मोक्षादिर्न तु कर्मणा, "ब्रह्मविदाप्नोति परं," "नायमात्मे"त्युपक्रम्य, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इत्यादिशब्दादिति सिद्धान्तमुक्त्वा, "शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्वि"ति जैमिनिरित्यादिसूत्रेषु विद्यायाः कर्माङ्गत्वात् कर्मणो वा, विद्यासमुच्चितात् कर्मणो वा पुरुषार्थ इति जैमिनिमतस्य दर्शितत्वात् । हेतुरिति व्यापारः । ननु ज्ञानाभावेऽपि यागत्वस्याविशिष्टत्वा-ज्ज्ञानिनं प्रत्येव तदभिव्यक्तौ को हेतुरित्यत आहुः षोढेत्यादि । औपनिषदं शाब्दमग्निहोत्रादिप-ञ्चकं पूर्वकाण्डोक्तमित्येवं षोढा विहितश्चेत्तदा वेदार्थरूपो भगवानभिव्यक्तो भवति । यथा, "विश्व-सृजः प्रथमाः सत्रमासते"ति सहस्रसमे सत्रे, "ततो ह जज्ञे भुवनस्य गोपाः," "हिरण्मयः शकु-निर्ब्रह्म नामे"त्यत्र तदैव फलं मोक्षरूपं प्रयच्छति, नान्यथेत्यर्थः । नन्वभिव्यक्तश्चेत् सद्य एव मोक्षं कुतो न प्रयच्छतीत्यत आहुः मर्यादायामित्यादि । एवञ्च पूर्वकाण्डेऽपि "विराजमभिसम्पद्यते", "अमृतीभवती"त्येवञ्जातीयकेषु वाक्येषु यो मोक्ष उक्तः सोऽपि ज्ञानसहित एवेति ज्ञेयम् । क्रमि-कत्वं चार्चिरादिमार्गबोधकश्रुतिभ्य इति च । तत्प्रकारस्त्वग्रे साधनप्रकरणे, सर्वं जानन्नित्यारभ्य तथाविधानित्यन्तेन स्फुटीकरिष्यते । ननु यदि मर्यादायां क्रममुक्तिरेव तदा सद्योमुक्तिर्योगादि-नापि न स्यात् । मर्यादायास्तत्रापि तुल्यत्वात् । तथा च तद्बोधकवाक्यविरोध इत्यत आहुः

फलम् । सद्योमुक्तिस्त्वतिकृपया । ब्रह्मज्ञानाभावे तु पश्चात्मकाङ्गवतः स्वर्गसुखं भवति । भिन्नवाक्येष्वपि फलत्वेन निरूपणात् ॥ ४ ॥

स च स्वर्गो द्विविध इत्याह—

वाक्यशेषात्त्वात्मसुखं प्रसिद्धेर्लोक उच्यते ।
यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥ ५ ॥

वाक्यशेषादिति । सुष्ठु अर्ज्यत इति स्वर्गः । सत्त्वाकारान्तःकरणे सर्वेहानिवृत्तौ यदात्मसुखं प्रकटीभवति, तदग्निहोत्रादिसाध्यम् । सर्वदेवानामधिकृतानां तुष्टावाध्यात्मिकत्वे यागस्य जाते आत्मानन्दः प्रकटो भवति । एतदभावे तु भौतिकत्वे स्वर्गलोको भवतीत्यर्थः । प्रसिद्धिर्लौकिकी । वाक्यशेषमाह यन्न दुःखेनेति । स्वर्गकाम इति सर्वत्र स्वर्गशब्दार्थः सन्दिग्धः । सन्दिग्धेषु वाक्यशेषादिति । वाक्यशेषः शाखान्तरे प्रसिद्धः।दुःखानुभवसहितः सुखानुभवो लौकिकः । स्वर्गोऽन्यथा अलौकिकत्वात् । सुखानुभवश्च अनन्तरमेव कालेन ग्रस्यते , त्रिक्षणावस्थायित्वात् । न तथा

आवरणभङ्गः ।

अतिकृपयेति । तथा च वाक्यानि पुष्टिमार्गपराणीति न विरोध इत्यर्थः । एवमुत्तमाधिकारिणां फलमुक्त्वा मध्यममन्दयोः क्रमेण फलमाहुः ब्रह्मेत्यादि । भिन्नवाक्येष्विति । ज्ञानमन्तरेण यत्र केवलो यागो बोध्यते तादृशेषु स्वर्गकामादिवाक्येषु । तथा च तदन्यथानुपपत्त्या मध्यमादेरपि फलमङ्गीक्रियत इत्यर्थः । एवञ्च द्विरूपं तत्क्रमाद्भवेदित्यत्र अधिकारिक्रमादित्यर्थो बोध्यः ॥ ४ ॥

स चेति । ज्ञानाभावे उच्यमानः सुखात्मकः स्वर्गः । फलद्वयमेकस्मिन् वाक्ये कथं सङ्ग्रहीतुं शक्यमित्याकाङ्क्षायां द्वयोरप्यनुगतं रूपमाहुः सुष्ठ्वित्यादि । तथा चात्मसुखे लोके च योगरूढ्योस्तुल्यत्वात् स्वर्गपदेनोभयं सङ्ग्रहीतुं शक्यत इत्यर्थः । पूर्वस्य स्वरूपमाहुः सत्त्वेत्यादि । आत्मसुखमित्यत्रात्मपदेनान्तःकरणं बोध्यम् । तच्च जीवोपभोग्यं जैवानन्दान्न्यूनमित्युक्तम्, "तुल्याम लवेने"त्यस्य सुबोधिन्याम् । तत्रैव व्यापारं व्यापारिस्वरूपं चाहुः सर्वेत्यादि । द्वितीयस्याहुः एतदभाव इत्यादि । देवतोपाभावे । अत्रापूर्वं व्यापारो बोध्यः । लौकिकीति । एषैव गीतायां, "त्रैविद्या मां सोमपा" इत्यादिनाऽनूक्ता ज्ञेया । अन्यथा "यामिमामि"त्यादि न वदेत् । एकादशे च, "इष्ट्वेह देवता यज्ञैरि"त्यादि च न वदेत् । अतस्तथेत्यर्थः । ननु स्वर्जनरूपस्यार्थस्य लोकेऽपि तौल्ये किं वाक्यशेषोपन्यासेनेत्याशङ्कायां तदाहुः स्वर्गकाम इत्यादि । वाक्यशेषादितीत्यत्र इति हेतौ । तथा च जैमिनिना तस्यैव निर्णायकत्वकथनात्तदुपन्यास आवश्यक इत्यर्थः । तस्य निर्मूलत्वभ्रमनिरासायाकरं प्रमाणं चाहुः शाखेत्यादि । यद्यनाकरः स्याच्छिष्टाहतो न स्यात् तथा सति न शिष्टेषु प्रसिद्ध्येतेति प्रसिद्धिरेव मानमित्यर्थः । नन्वत्र लोकविशेष एव तादृशं सुखमुच्यताम् । आत्मसुखे किं मानमित्याकाङ्क्षायां वाक्यं व्याकुर्वन्तस्तद्वदन्ति दुःखेत्यादि । भवतीत्यन्तम् । तथा च दुःखासम्भिन्नत्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वे सति अभिलाषातिरिक्तासाधा-

वैदिकः । लौकिको ह्यभिलाषानन्तरं प्रयत्नसम्पाद्यः । वैदिको न तथा । तादृशं सुखं किमित्याकाङ्क्षायां विषयजन्यं तथा भवितुं नार्हति । दुःखसम्भेदकत्वावश्यकत्वात् । नापि परमानन्दः । ईश्वराधीनत्वात् । अत आत्मसुखमेव तादृशं भवति ॥ ५ ॥

तदाह—

स्पर्द्धासूयादिदुःखानि स्वर्गिणां स्युः सदा ध्रुवम् ।
प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वान्न ध्रुवोपरि तद्गतिः ॥ ६ ॥

स्पर्द्धेति । स्वर्गलोके विद्यमानानामिन्द्रादीनां स्पर्द्धादिकं श्रूयते । तच्च दुःखरूपम् । नच ब्रह्मलोकः स्वर्गशब्दवाच्यः । प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वात् । ज्ञानाभावेन केवलकर्मकरणं प्रवृत्तिमार्गः । अत एव क्रममुक्तिमार्गे ते न गच्छन्तीत्याह न ध्रुवोपरि तद्गतिरिति ॥ ६ ॥

टिप्पणी ।

अत एवेति । यत आत्मसुखमेव स्वर्गशब्दार्थो न भगवत्सुखमतः स्वसाधने जीवात्मस्वरूपालाभसाधने सत्त्वगुणे "स्वर्गः सत्त्वगुणोदय" इति भगवता स्वर्गशब्दः प्रयुक्त इत्यर्थः । भगवांस्तु भक्त्या प्राप्तुं शक्य इति भावः ॥ ६ ॥

आवरणभङ्गः ।

रणकारणसम्पाद्यं सुखं स्वर्ग इत्यर्थः । अत्र प्रथमं सत्यन्तं लौकिकसुखवारणाय । द्वितीयं तु नित्यत्वबोधनायैव । विशेष्यदलं परमानन्दवारणायेत्येवं द्वयोर्वारणे आत्मसुखमेव पारिशेष्यात् सिद्ध्यतीति श्रुतार्थापत्तिरेव मानमित्यर्थः ॥ ५ ॥

तदाहेति । तस्माद्धेतोः पारिशेष्यं व्युत्पादयितुं लोकेषु तदभावं सार्द्धेनाहेत्यर्थः । स्पर्द्धादिकं श्रूयते इति । "देवाः सुराः संयत्ता आसन् तदग्निर्न्यकामयत तेनापाक्रमत्, तदिन्द्रोऽचायत् आदित्यो वा अस्माल्लोकादमुं लोकमायन् तेऽमुं लोकं गत्वा पुनरिमं लोकमभ्यध्यायन्नि"त्यादिषु श्रूयत इत्यर्थः । नन्वेवं सति पूर्वोक्तदोषाणां ब्रह्मलोके अभावात् स एव स्वर्गत्वेन वाच्य इत्यत आहुः न चेत्यादि । प्रवृत्तीत्यादि । फलशेषिणः कर्तुरित्यर्थः । तावता कथं न तस्य स्वर्गत्वेन ग्रहणमित्यत आहुः अत एवेत्यादि । अयमाशयः द्विविधो हि ब्रह्मलोकः । प्रवृत्तिमार्गगम्यो निवृत्तिमार्गगम्यश्च । तत्राद्यः क्षयादिदोषवान् । तस्य तादृशत्वं स्कान्दे कुमारिकाखण्डे इन्द्रद्युम्नकथायां प्रसिद्धम् । स हि मार्कण्डेयतालजङ्घादीन् स्वनामयशः पृष्ट्वा, तैर्न जानीम इत्युक्ते पाताद्गीतो मार्कण्डेयाद्युपदेशेन कञ्चिद् बहुकल्पजीविनं कूर्मं पृष्ट्वा तेन तद्यशस्युक्ते भूमौ यशःसत्त्वेन पुनर्ब्रह्मलोकं जगामेति कथनात् । रामायणेऽपि अन्नदानाभावेन ब्रह्मलोके क्षुधापीडितस्य कस्यचित् सहस्राश्वमेधयाजिनः पुनर्भूमावागत्य तद्दत्वा पुनस्तत्र गमनोक्तेश्च । द्वितीयस्तु "वेदान्तविज्ञाने"ति श्रुत्या अक्षयः पूर्वोक्तदोषरहितः । तत्र यथा योगयुक्तस्य परिव्राजो रणाभिमुखे हतस्य च सूर्यमण्डलं भित्त्वा मार्गस्तथा क्रममुक्तिगन्तुर्ध्रुवं नीचैःकृत्य तदुपरि मार्गस्तेन पथा द्वितीये गम्यते । स च प्रवृत्तिमार्गनिष्ठस्य कर्तुस्तादृशाधिकाराभावादगम्य इति तन्मार्गगमनाभावान्न तस्य तत्प्राप्तिः । अत एव तदभिलाषेण न तस्योपनयनमित्यभिलाषोपनीतत्वाभावान्न स स्वर्गशब्दवाच्य इति ॥ ६ ॥

न च स्वर्गादिलोकेषु वाक्यशेषोक्तमीर्यते ।
अत आत्मसुखं वाक्ये वाच्यं तत् सत्त्वतो भवेत् ।
शुद्धे सत्त्वगुणोद्भेदः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥ ७ ॥

नापीन्द्रलोकेषु वाक्योक्तं सुखं सम्भवति । अनुपपत्तेरुक्तत्वात् । अतः पारिशेष्या-दात्मसुखमेव वाक्यार्थः । अत एव स्वर्गशब्दः स्वसाधने भगवता प्रयुक्त इत्याह तत्सत्त्वतो भवेत् । सत्त्वगुणप्रवृद्धावेव तदात्मसुखं भवेत् । सत्त्ववृद्धिश्च शुद्ध्या । अतः पञ्चानामावृत्तेश्चोपयोगः । भगवद्वाक्यमाह स्वर्गः सत्त्वगुणोदय इति । सत्त्वगुणाद्वा उदयो यस्येति ॥ ७ ॥

एतदात्मसुखरूपं फलं नित्यमाह—

अतस्तदेव हि फलं कामाभावेऽपि सिद्ध्यति ।
यागादेर्भगवद्रूपात्कामितं फलति स्फुटम् ॥ ८ ॥

अतस्तदेवेति । तैः स्वभावत एव शुद्धिः सम्पाद्यत इति भोजने तृप्तिवन्न कामना अपेक्षते । तर्हि विकृते कथं कामनापेक्षा तत्राह यागादेर्भगवद्रूपादिति । आधिभौ-

---

टिप्पणी ।

पञ्चानामग्निहोत्रादीनाम् । सत्त्वगुणाद्वेति । उदितः सत्त्वगुण इति प्रथमः पक्षस्तदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते इति ॥ ७ ॥

तृप्तिवदिति । तृप्ताविवेत्यर्थः । सप्तमीसमर्थादिवार्थे वतिः ॥ ८ ॥

आवरणभङ्गः ।

प्रथमस्योक्तस्कान्दादिसिद्धस्वरूपत्वमभिसन्धायाहुः नापीत्यादि । अनुपपत्तेरिति । दुःखस-म्भेदादिरूपायास्तस्या इत्यर्थः । अत इति । लक्षणाप्रवेशात् । नन्वात्मसुखं जैवानन्द एव भवतु तस्य चान्तःकरणत्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायामुक्तार्थदार्ढ्याय गमकमाहुः अत एवेत्यादि । इत्या-हेति । अनेनाशयेनाहेत्यर्थः । ननु लक्षणानुरोधाद्भवत्वेवं तथापि प्रवृद्ध एव सत्त्व आत्मसुखं भवति, नाप्रवृद्ध इत्यत्र किं गमकमत आहुः अतः पञ्चानामित्यादि । अन्यथा फलस्य विधि-वाक्य एवोक्तत्वादेकस्यैव करणे सकृदेव च करणे फलावश्यम्भावा"द्दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत", "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति", "प्रतिसम्वत्सोमः पशुः प्रत्ययनं तथे"त्यादिवाक्यबोधितं पञ्चानां कारणमावर्त्तनं च व्यर्थमेव स्यादतः प्रवृद्धिरेव भगवद्वाक्येऽभिप्रेतेत्यर्थः पुरःस्फूर्तिकार्थक-थने भगवद्वाक्ये लक्षणापत्तिरिति तत्परिहारायाहुः सत्त्वगुणाद्वेति ॥ ७ ॥

नित्यमिति । कामनासहकाराभावेऽपि यागस्वरूपमर्यादया जायमानमित्यर्थः । एतत्कथनप्र-योजनमाहुः तैरित्यादि । तर्हीति । यदि यागत्वेन शुद्धित्वेन कार्यकारणभावात् प्रकृतौ कामना-नपेक्षा तर्हीत्यर्थः । वेति । वाशब्दः समुच्चये । आधिभौतिकमिति । लोकात्मकम् । कथ-मिति । कामनासद्भावेऽपि यागत्वेन शुद्धित्वेन यागत्वेनात्मसुखत्वेन च यः कार्यकारणभावस्तस्या-भङ्गान्नित्ययागस्वरूपस्य च तुल्यत्वान्नित्यं फलं विहाय कामितं फलं कुतो जायत इत्यर्थः । मूले

तिकं वा फलं कथमित्याकाङ्क्षायामाह यागादेरिति । भगवद्रूपत्वात् । काम्यो नित्यो वा यागादिः कामितं फलति । स्फुटमिति लौकिकं फलम् । यतः स्पष्टमेव कारीर्यादेः फलम् अनुभूयते ॥ ८ ॥

ननु स्वर्गो नाम लोक एव "स्वर्गाय वा एतानि लोकाय हूयन्त" इति । "देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोऽभवदि"ति । "स्वर्गो वै लोको नाक" इति सर्वत्र स्वर्गलोक एव स्वर्गशब्दार्थस्तत्कथमुच्यते आत्मसुखं स्वर्ग इति ? सत्यम् । अङ्गेषु स्वर्गशब्देषु लोकसामानाधिकरण्यात् तद्वाचकत्वम् । प्रधाने च वाक्यशेषस्य विद्यमानत्वाद् आत्मसुखवाचकत्वमेव । अन्यथा वाक्यशेषो व्यर्थः स्यात् । सन्देहाभावाच्च । अतः स्वर्गशब्देन उभयमपि सङ्ग्राह्यम् । तर्हि वेदप्रधानवाक्येषु निःसन्दिग्ध एव स्वर्गशब्दः कथं न प्रयुज्यते तत्राह—

श्लिष्टप्रयोगाद्वेदस्य परोक्षकथनं मतम् ।
बालानुशासनार्थाय रोचनार्थं तथा वचः ॥ ९ ॥

श्लिष्टप्रयोगादिति । श्लिष्टप्रयोगार्थं तथा न प्रयोगः । श्लिष्टप्रयोगस्य च फलं परोक्षकथनम् । परोक्षकथनस्यापि प्रयोजनं बालानुशासनम् । तेषामनुशासनं रुच्युत्पादनमेव । अतस्तथावचनं श्लिष्टप्रयोग इत्यर्थः ॥ ९ ॥

आवरणभङ्गः ।

भगवद्रूपादिति प्रयोगो भावप्रधान इति ज्ञापयितुमाह भगवद्रूपत्वादिति । तथाच भगवतः सर्वफलदातृत्वात् कामानुरोधात्तथेत्यर्थः । ननु भगवद्रूपत्वस्य कामनाभावेऽपि तौल्यात्तदाऽपि कामितं कुतो न फलतीत्याकाङ्क्षायां युक्तिं समाधायिकामाहुः स्फुटमित्यादि । अयमर्थः । यथा नित्यकरणे यावज्जीवादिवाक्यं नियामकं न तथा विकृतिकरणे किमपि नियामकमस्ति । अतस्तत्र कामनयैव प्रवृत्तिरिति निश्चीयते । सा चेत् कामना यागेन न पूर्येत तदा विश्वासाभावे पूर्वकाण्डमेवोच्छिद्येत । अतः कामितमेव तस्माद्भवति, न तु सत्त्वशुद्धिरपीति भगवत्कृता मर्यादा तादृशफलदर्शनानुरोधाज्ज्ञायते । अतो विकृतौ कामनापेक्षा । तत एव चाधिभौतिकात् प्रकृतिरूपादपि लोकरूपं फलमिति दृष्टानुरोधादेवासन्देह इत्यर्थः ॥ ८ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति ननु स्वर्ग इत्यादि । लोकसामानाधिकरण्यादिति । लोकशब्दसामानाधिकरण्यादित्यर्थः । सन्देहाभावादिति । प्रधानवाक्ये लोकपदसामानाधिकरण्याभावेन, "स्वर्गः सत्त्वगुणोदय" इति भगवद्वाक्येन च सन्देहाभावादित्यर्थः । सिद्धमाहुः अतः इति । भगवद्वाक्यस्य लौकिकफलस्य च दर्शनादुक्तरीत्या व्यवस्थासामञ्जस्याच्चेत्यर्थः । तर्हीति । यद्युभयमपि वेदाभिप्रेतं तदेत्यर्थः । परोक्षकथनमित्यादि । तदुक्तमेकादशस्कन्धे, "परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् । कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथे"ति । "फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् । श्रेयोविधित्सया प्रोक्ता यथा भैषज्यरोचनम्" इति ॥ ९ ॥

पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानाप्नोति निश्चयः।
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ॥ १० ॥

पञ्चकर्माणि नित्यानि । तत्र त्रिषु स्वर्गः फलम् । यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः", "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत", "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकाम" इति । पशुबन्धचातुर्मास्ययोस्तु न स्वर्गः फलं श्रूयत इति वक्तुं वाक्यद्वयमाह सर्वान् लोकानिति ॥ १० ॥

समाधानमाह—

अक्षय्यं सर्वलोकाख्यमात्मरूपं न चान्यथा।
नित्ये स्वर्गफलं नान्यत् पश्वादिर्विकृतौ फलम् ॥ ११ ॥

अक्षय्यमिति । "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवती"त्यत्र सर्वान् लोकान् पशुबन्धयाज्यभिजयतीत्यत्रापि यदक्षय्यशब्देन सर्वलोकशब्देनोच्यते तदात्मसुखमेव वाक्यशेषोक्तं , तदेव पञ्चानां नित्यानामेकं फलं भवति । इतोऽपि हेतोः स्वर्गशब्देनात्मसुखम् । पञ्चात्मकस्य भगवत एकत्वात् । अन्यथा लोकपक्षे नैतदुप-

आवरणभङ्गः।

स्वर्गविषये पुनः किञ्चिदाशङ्कते पञ्चेत्यादि । इति वक्तुमिति । अनेन हेतुना वाक्यशेषस्यानिर्णायकत्वं वक्तुम् । तथा च निःसन्दिग्धेन सन्दिग्धनिर्णयः । वाक्यशेषोऽपि स्वर्गशब्दमात्रयुक्तत्वेनात्मसुखस्य न विनिगमकः । अनुपपत्त्यन्तरस्य विद्यमानत्वादतो न तेन निर्णय इत्यर्थः । वाक्यद्वयं त्वेतद् आपस्तम्बकल्पस्थम् । तथा च चतुर्थे लोकपदात्, पञ्चमे चाक्षय्यपदेन ध्वंसप्रतियोगित्वनिवारणाद्वाक्यशेषोक्तसुखत्वं लोकनिष्ठसुखस्य वक्तव्यम् । तावता प्रसिद्धिरपि न विरोत्स्यत इति भावः ॥ १० ॥

सुखमेवेत्येवकारेण लोकसुखव्यवच्छेदः । तत्र युक्तिमाहुः तदेवेत्यादि । पञ्चकर्तुरेकं फलं वक्तव्यम् । नानात्वे कस्य फलं पूर्वं, कस्य पश्चादीति निर्णेतुमशक्यत्वात् । न च यज्ञक्रमान्निर्णयः । "अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुत" इति न्यायेन पूर्वं महायागफलस्यापि सम्भवदुक्तिकत्वात् । न च तस्यैवेत्यपि । "प्रजापतिर्यज्ञानसृजते"ति श्रुतौ यावदग्निहोत्रमासीत्तावानग्निष्टोम इति तुल्यत्वोक्तेः पौष्कल्यस्य तदप्रयोजकत्वात् । न च यत् पश्चात्तस्यैवेत्यपि । नियामकाभावात् । अत एकमेव निश्चेयम् । तच्चात्मसुखमेवेति । तत्रापि हेतुः पञ्चात्मकेत्यादि । "स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावि"ति श्रुतावेकत्वेनैव निरूपणादित्यर्थः । नन्वेक एव लोकस्तादृशः स्वीकार्य इति शङ्कायामाहुः अन्यथेत्यादि । एतस्यैव विवरणं, लोकेत्यादि । सर्वान् लोकानित्यत्र सर्वपदस्यासङ्कुचितवृत्तिकत्वे लोकान्तरस्यापि प्राप्तेः पञ्चकर्तुः स्वर्गो न नियतः स्यात्, स्वर्ग एव सङ्कोचे उक्तरीत्या क्रमविरोधः । एकोत्तरं द्वितीयभावनादक्षय्यपदविरोधः । यजमानार्थं तल्लोकागमनाभावेनाभिलाषोपनीतत्वविरोधश्च । अतः फलस्यैक्यं वाच्यम् । तदात्मसुखानङ्गीकारे नोपपद्यत इत्यर्थः । न च वाक्यविरोधः । विश्वेदेवा इतिवत् पदद्वयेन नानाविधात्मसुखानां कथनेना-

पश्वत इत्यर्थः । उपसंहरति नित्ये स्वर्गफलमिति । बालाबालभेदेनोभयमपि । अन्यत् पश्वादिकं न नित्यस्य फलम् । विकृतौ तत्फलम् ॥ ११ ॥

विकृतस्य कथं फलसाधकत्वमित्याशङ्क्याह—

रूपं तदेव विकृतेः किञ्चित् साधनमन्यथा ।
विकृताद्धि हरेः किञ्चिद्विकृतं फलमीर्यते ॥ १२ ॥

रूपं तदेव विकृतेरिति । तदेव भगवद्रूपं विकृतेरपि । परं साधनं किञ्चिदन्यथा भवति, तेन विकृतत्वम् । स च विकारो वेदोक्त इति सफलः । तर्हि नित्यमेव फलं कुतो न साधयति तत्राह विकृतादिति ॥ १२ ॥

ननु वेदे किमिति विकृतं विकारफलं चोक्तमित्याशङ्क्याह—

नित्यकर्मप्रसिद्ध्यर्थं काम्यादीनां विधिः श्रुतौ ।
पशुपुत्राद्यभावे तु न नित्यं कर्म सिद्ध्यति ॥ १३ ॥

नित्यकर्मप्रसिद्ध्यर्थमिति । तत्र साधकमाह पशुपुत्राद्यभाव इति ॥ १३ ॥

नन्वेवमेव श्रुत्यभिप्राय इति किं प्रमाणं तत्राह—

अङ्गेऽपि तत्फलं नित्ये ज्ञानादिभिरुदीर्यते ।
यथाकथञ्चिन्नित्यस्य सिद्धिर्वेदेन बोध्यते ॥ १४ ॥

अङ्गेऽपीति । यतो वेदे नित्याङ्गेषु अप्प्रणयनादिष्वपि पश्वादिकं फलमुदीर्यते ।

आवरणभङ्गः ।

विरोधात् । तस्मादात्मसुखमेव वाक्यशेषार्थ इति निश्चयः । अत एवार्थवादाधिकरणे "सर्वत्वमाधिकारिकमि"ति सूत्रे यथाधिकारं सर्वत्वं ग्राह्यमिति बोधितम् । तेन "पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् आप्नोती"त्यत्र यथा तदधिकारापेक्षं तथाऽत्रैतदधिकारापेक्षमिति निष्कामाधिकारे आत्मसुखानुकूलं सकामाधिकारे च सङ्कुचितं तद्ग्राह्यमतो न तद्विरोधः । भाष्यकारमतं त्वत्र नादरणीयम् । तदस्माभिः पूर्वप्रकरण एवोपपादितमिति न दोषः । तर्हि प्रसिद्धेः का गतिः । इन्द्रादीनां च कथं लोकप्राप्तिरित्यत आहुः बालेत्यादि । नेति । प्रधानवाक्येऽनुक्तत्वात्तथेत्यर्थः । एवं प्रकृतिरूपं विचारितम् । अतः परं विकृतिरूपं विचारयितुं फलकथनमुखेनोपक्षिपन्ति विकृताविति ॥ ११ ॥

तदेवेति । अग्निहोत्राद्यात्मकम् । तर्हीति । वेदोक्तत्वे यागत्वे च तुल्य इत्यर्थः । मूले किञ्चित्पदं विकृतविशेषणम् । किञ्चिद् विकृतादित्यर्थः ॥ १२ ॥

पशुपुत्राद्यभाव इति । फलकाङ्क्षाविरहस्य स्वर्गकामनायाश्च सर्वेषामभावाद्यदि कामितफलार्थं साधनं वेदेन नोच्येत, ततः फलं च यदि न स्यात्, तदा वेदे अनाश्वासप्रसङ्गान्नित्ये प्रवृत्तिः कुण्ठिता स्यादतस्तथेत्यर्थः । हविःसहायादिसापेक्षत्वाद् यथाश्रुतो वार्थः ॥ १३ ॥

अङ्गेऽपीति । मूलस्थोऽपीति शब्दो ज्ञानादिभिरित्यनेनाप्यन्वेति उदीर्यत इति । "चमसेनापः प्रणयेद् गोदोहनेन पशुकामस्य मृण्मयेन प्रतिष्ठाकामस्य कांस्येन ब्रह्मवर्चसकामस्ये"त्यादिषु वाक्येषूच्यते । तथा च विकृतौ यत्प्रधानफलं तन्नित्ये अङ्गफलत्वेनोच्यते तेन विकृतापेक्षया प्रकृतस्या-

न हि एकस्य कर्मणः फलद्वयं सम्भवति। अत एकस्यामावृत्तौ यजमानकामनया साङ्ग-

आवरणभङ्गः।

धिक्यं बोध्यते। ततश्च विकृतेस्तादर्थ्यं ज्ञायते, यथा अर्थवादस्य। अतो न विकृतेर्नित्यफलसाधकत्वमित्यर्थः। ननु चतुर्थस्य तृतीये विचारितम् "द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्", "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापꣳ श्लोकꣳ शृणोति यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञाय क्रियते वर्म यजमानाये"त्यादिषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु या फलश्रुतिः साऽर्थवादः। एतेषां क्रत्वर्थत्वात् तन्निर्वर्तनातिरिक्तस्य कामादिपदाभावेन कल्पयितुमशक्यत्वात्। प्रकृते वर्त्तमानप्रयोगाच्च। क्रतुसम्बन्धश्चैषां वाक्यादिगम्यः। तथा "नैमित्तिके विकारत्वात् क्रतुप्रधानमन्यत् स्यादि"त्यधिकरणे अप्प्रणयनादिवाक्यान्युदाहृत्य तेषां पात्राणां नैमित्तिककाम्याङ्गत्वैव व्यवस्थापितेति जुह्वादिषु फलाभावात् तादृशाप्प्रणयनादिषु नित्याङ्गत्वाभावाच्च कथमेवमुच्यत इति चेद्, मैवम्; एतस्य फलवादस्य गुणवादत्वेन जुह्वादिप्राशस्त्ये गौणत्वेऽपि तद्विशिष्टयागगुणबोधने बाधकाभावात्। असद्गुणस्य सद्वद्बोधने तद्यागस्य प्रतारणत्वापत्तेर्विध्यंशेऽप्युपप्लवाच्च। अतो यागस्यैव तत्फलमित्यदोषः। एवमग्निहोत्रादीनां नित्यत्वेऽपि "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः प्रजाकामः पशुकामः सर्वेभ्यो वै कामेभ्यो दर्शपूर्णमासावि"त्यादिवाक्यान्तरेण काम्यत्वस्यापि श्रावणान्नित्यानामेव कामनामात्रेण काम्यत्वमिति स्वरूपभेदाभावान्नित्याङ्गत्वमप्यप्प्रणयनादीनामदुष्टमेवेत्येवमुच्यत इति गृहाण। नन्वेवं सति काम्यविधिवैयर्थ्यापत्तिः। नित्याङ्गादिभिरेव तत्फलसिद्धेस्तस्यैव नित्यप्राशस्त्यस्यापि सिद्धेश्चेति चेत् तत्राहुः न हीत्यादि। द्वितीयस्य चतुर्थे यावज्जीवपादे चिन्तितम्। "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः प्रजाकामः पशुकाम" इति। "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती"ति च। एवं "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते"ति काम्यं प्रयोगं विधायाम्नायते, "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते"ति। तत्र किं काम्यो नित्यश्च प्रयोगो भिन्न उत नित्यकाम्ये कर्मणी भिन्ने, अथ वात्र काम्यस्यैवाभ्यासो विधीयत इति संशये, यावज्जीवशब्दस्य मरणावधिककालवाचकत्वात् तस्य च प्रकृते काम्याग्निहोत्रादौ पूर्वमप्राप्तत्वाज्जुहोति यजेतेत्यनेनानूदिते तस्मिन् कर्मणि स कालो विधीयते। न च सकृदङ्गानुष्ठानेनैव फलसिद्धेरेतदङ्गीकारो व्यर्थ इति वाच्यम्। तस्य काम्यवाक्येनैव सिद्धत्वादत्रैतत्कालानङ्गीकारे विधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अग्निहोत्रवाक्ये प्रकरणभेदेऽपि दर्शपूर्णमासवाक्ये तदभावेन कर्मभेदाङ्गीकारे प्रकरणबाधापत्तेश्च। अतः काम्यकर्मणोऽभ्याससिद्धये तत्रायं कालरूपधर्मविधिरिति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु जीवनकार्त्स्न्यवाचकस्य यावज्जीवपदस्य न कालवाचकत्वमपि लक्षकत्वम्। जुहोतियजत्योरप्यभ्यासलक्षकत्वमेव, न तु वाचकत्वम्। जीवनं च पुरुषधर्मो, न कर्मतया विधातुं शक्यः। प्रकरणवशेन श्रुतेर्लक्षणाप्यन्याय्या। अतोऽत्र जीवनं पुरुषधर्मं निमित्तीकृत्य प्रयोगभेद एव विधीयते। कर्मभेदकानां शब्दान्तरादीनामभावात्। निमित्तविशेषसद्भावेनाविशेषपुनःश्रुतेरभावेनाभ्यासस्यापि तथात्वाभावात्। अतोऽत्र जीवनस्य निमित्तत्वेन तस्मिन् सति नैमित्तिकत्यागायोगात् तस्य नित्यत्वमर्थसिद्धम्। न च प्रयोगनैरन्तर्यापत्तिः। सायम्प्रातर्वाक्यस्य "अमावास्यायाममावास्यया यजेते"त्यादेश्च नियामकत्वात्। तस्मान्नित्यकाम्यप्रयोगौ भिन्नाविति। तदेतदुक्तम् न हीत्यादि-

स्यैव तस्य पश्वादिः फलम्। तथा ज्ञानादिभिरपि फलमुदीर्यते। य एवं वेद पशुमान् भवतीति। तत्रापि कामनायामेव भवतीति मन्तव्यम्, तच्च ज्ञानं कर्माङ्गम्। ननु कथमेवं वेदस्याभिप्रायोऽध्यवसीयते। स्वतन्त्रतयैव पश्वादीनां फलताऽस्त्विति चेत् तत्राह यथाकथञ्चिदिति। नित्यस्याविकृतस्य भगवतो रूपस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्वेदेन बोध्यते॥ १४॥

ननु कृतिसाध्यो यागादिः कथं नित्य इति चेत्तत्राह—

ध्यानादिभिर्यथा मूर्त्तेरभिव्यक्तिः परात्मनः।
आधानादिक्रियातोऽपि व्यक्तिर्यज्ञस्वरूपिणः॥ १५॥

ध्यानादिभिरिति। यथा ध्यानधारणादिभिर्भगवन्मूर्त्तेरानन्दरूपस्याऽभिव्यक्तिस्तथा आधानादिसोमान्तक्रियाभिर्वेदबोधितदेहचेष्टारूपाभिर्ध्यानादिसहिताभिर्यज्ञस्वरूपिणोऽपि भगवतोऽभिव्यक्तिरित्यर्थः॥ १५॥

नन्वेवमर्थव्याख्याने कोऽभिप्रायस्तत्राह—

दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतम्।
मोक्षः कामस्तयोरङ्गं धर्मो ह्यर्थेन साधितः॥ १६॥

दुःखाभाव इति। पुरुषार्थपर्यवसायी वेदः। पुरुषार्थाश्च चत्वारः। तत्र साक्षात् पुरुषार्थद्वयं, सुखं दुःखाभावश्चेति। तत्र सुखं स्वर्गादिपदेनोच्यते। दुःखाभावो मोक्ष-

---

आवरणभङ्गः।

फलमित्यन्तेन। उक्तं न्यायं ज्ञानफलेऽपि स्मारयन्ति तत्रेत्यादि। ज्ञाने ब्रह्मज्ञानत्वभ्रमवारणाय तत्स्वरूपं परिच्छिन्दन्ति कर्माङ्गमिति। जैमिनीयमतं निरसितुं तन्मतेनाशङ्कन्ते नन्वित्यादि। अस्त्विति। विधिवाक्ये दर्शनादस्त्वित्यर्थः। यथाकथञ्चिदित्यादि। तथा च काम्यफलानां नित्याङ्गेषु श्रावणान्नित्ये यावज्जीवाधिकारस्याकरणे प्रत्यवायस्य च श्रावणान्नित्य एव श्रुतेस्तात्पर्यं ज्ञायते। तत्र च स्वर्ग एवात्मसुखात्मा फलत्वेन प्रतिपाद्यते, न पश्वादिकमतो न तेषां स्वतन्त्रतया फलत्वमित्यर्थः॥१४॥

यज्ञेपूक्तस्य भगवद्रूपत्वस्य दृढीकरणाय नित्यत्वं परिच्छेत्तुं शङ्कन्ते ननु कृतीत्यादि। यथेत्यादि। तथा च तेषु यावज्जीवाधिकारकत्वादिरूपमेव न नित्यत्वं किन्तु त्रैकालिकाबाधविषयत्वरूपमतो यज्ञेषु भगवद्रूपत्वं निराबाधम्। मुख्येष्वधिकारिषु तथाभिव्यज्यत इति भावः। अत्र ध्यानादिभिरित्यर्द्धे दृष्टान्तमुखेनोत्तरकाण्डीयसाधनं व्यापारश्चोक्तः। फलं तु ज्ञानिनस्तदभिव्यक्ताविल्यनेनैवोक्तम्॥ १५॥

एवमर्थव्याख्याने इति। जैमिनीयमतमनादृत्य यज्ञानामधिकारिभेदेन मोक्षादिसाधकत्वं, न तु लौकिकपरत्वं, यज्ञानां भगवद्रूपत्वं चेत्येवं व्याख्याने इत्यर्थः। कामपदस्य सुखवाचकत्वं, "कामान् समर्धयन्तु नः", "आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति", "गतागतं कामकामा लभन्ते" इत्यादौ काम्यते असौ काम इति योगेन सिद्धम्। विधिवाक्यादौ तदेव, स्वर्गाक्षय्यसर्वलोकपदैरुच्यत इत्याशयेनाहुः तत्र सुखमित्यादि। मोक्षपदममृतादिपदसङ्ग्राहकम्। 'तयोः

पदेन । तयोः साक्षादङ्गं धर्मः । आत्मचिन्तनस्यापि धर्मत्वात् । ज्ञानसाध्यत्वं धर्मयोग एवेति मतम् । अत एव न ज्ञानस्य पुरुषार्थेषु गणना । धर्मस्य च साधनम् अर्थः । एवं साक्षात् परम्परया चत्वारः पुरुषार्था भवन्ति । अतः पश्वादिरर्थो यागसाधनम् । यागश्च धर्मः कामसाधनम्, ज्ञानसहितो मोक्षसाधनञ्च । अत एवं व्याख्यायत इत्यर्थः ॥१६॥

टिप्पणी ।

आत्मचिन्तनस्येति । विहितत्वेनात्मचिन्तनस्यापि धर्मजनकत्वाद्ब्रह्मसाक्षात्कारस्य निदिध्यासनसाध्यत्वं धर्मद्वारैवेति मतं सम्मतमित्यर्थः । **अत एवेति** । ज्ञानस्य धर्मव्यापारत्वान्मिथ्याधीध्वंसस्येव न पुरुषार्थत्वेन गणनेति भावः ॥ १६ ॥

आवरणभङ्गः ।

साक्षादङ्गं धर्म' इति । क्लृप्तद्वाराऽतिरिक्तानन्तरितत्वेन साधनतया शेषभूत इत्यर्थः । नन्वा "त्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिश्रुत्यात्मज्ञानादौ मोक्षसुखसाधनत्वोक्तेः कथं धर्म एव तथात्वमत आहुः **आत्मेत्यादि** । "अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मचिन्तनम्" इति याज्ञवल्क्यस्मृतेस्तस्य धर्मत्वात् सुखमोक्षयोर्ज्ञानसाध्यत्वं, ज्ञानस्य धर्मान्तःपात एव सर्वेषां सम्मत इत्यर्थः । अत्र गमकमाहुः **अत एवेत्यादि** । तथा च स्मृतिपुराणानां सर्वतन्त्रसाधारणत्वात्तेषु ज्ञानस्य ज्ञानत्वेन पुरुषार्थत्वानुक्तेर्धर्मत्वस्य चोक्तेस्तेनैव रूपेण पुरुषार्थत्वं निश्चीयत इत्यतस्तथेत्यर्थः । नन्वस्तु धर्मस्य सुखमोक्षसाधकत्वं, तथापि पश्वादीनां स्वतन्त्रफलत्वानङ्गीकारे किं बीजमत आहुः **धर्मस्य चेत्यादि** । अयमाशयः । पश्वादीनां स्वतन्त्रफलत्वाभ्युपगन्तृमते तेषां न तेन रूपेण फलत्वं सर्वसाधारणत्वात् । किन्तु स्वेष्टत्वेन रूपेण । इष्टेस्तु, मेऽस्त्विदमित्याकारः । तत्र प्रविष्टायां ममताया अविद्याकार्यत्वेन दुःखरूपत्वात्तत्सम्बन्धेन पश्वादीनामपि तथात्वात् तेषामनर्थरूपतया नार्थकत्वम् । किञ्च, यागदानादौ धर्मत्वेनार्थत्वेन साध्यसाधनभावः प्रत्यक्षाद् द्रव्याम्नानाच्च निश्चितः । अर्थत्वेन धर्मत्वेन तु शाब्दः । "को हि तद्वेद यदमुष्मि ल्लोकेऽस्ति वा नवे"ति श्रुतेरन्तरायबाहुल्याच्च सन्दिग्धोऽपि । एतेन जपतीर्थयात्रादावर्थनैरपेक्ष्यमपि व्याख्यातम् । अदृष्टाच्च दृष्टं बलवत् । अत इदं, "धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्ये"त्यत्रोक्तं तदनङ्गीकारे बीजमित्यर्थः । **एवमिति** । अनेन प्रकारेण, न तु "धर्मादर्थश्च कामश्चे"त्याद्युक्तप्रकारेण । न च तद्विरोधः शङ्क्यः । तत्रापि काम्यकर्मत्याग एव व्यासचरणानां तात्पर्यात् । भारतस्य वेदव्याख्यानरूपत्वात् । अग्रिमवाक्ये, "धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये"इति निन्दाकथनाच्चेत्यर्थः । अतोऽतिरागिणः कामाद्यर्थं काम्ये प्रवृत्तौ तत्फलानन्तरं धर्मे आदरोत्पत्तौ ततः सुखदुःखानामनित्यत्वदर्शनात् तत् परित्यज्य नित्यफलसाम्मुख्येन तत्करणे तत्सिद्धौ "परं ब्रह्माधिगच्छती"त्युपसंहारोक्तफलप्राप्तिर्मोक्षो वा भवतीति तत्तात्पर्यं बोध्यम् । एवं तावत् पञ्चात्मकमिति मङ्गलकारिकायां भगवद्रूपो यो वेदार्थ उद्दिष्ट आसीत् स सर्वोऽपि अग्निहोत्रमित्यादिषु व्याख्यासहितासु कारिकासु यथाक्रमं प्रकृतिस्वरूपनित्यकाम्यस्वरूपतत्तारतम्याधिकारिभेदतत्फलोक्तिप्रयोजनविकृतिस्वरूपतत्फलसाधकत्वबीजयागनिष्ठभगवत्त्वबाधकनिरासधर्मनिष्ठनान्तरीयकसाधनता चेत्येवमादिरूपेण उपपादितः ॥ १६ ॥

उपसंहरति—

साधनं च फलं चैव हरिर्वेदे निरूप्यते।
तदभिव्यक्तितः सर्व पुरुषार्थस्वरूपतः॥ १७॥

साधनं च फलं चैवेति। उभयात्मको हरिर्वेदे निरूप्यते। ततश्च वेदानुसारेण तदभिव्यक्तौ सत्यां सर्व एव पुरुषार्थः सिद्ध्यति यतो भगवान् पुरुषार्थस्वरूपः॥ १७॥

एवं वेदार्थं विनिरूप्य वेदस्य स्वरूपं विनिरूपयन् प्रयोजनं चाह—

रूपप्रपञ्चकरणादासक्तस्वांशवारणे।
श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव सः॥ १८॥

रूपेति। विचित्रो रूपप्रपञ्चः। जीवाश्चांशाः। अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव। अतस्तस्मिन्निवारणार्थं श्रुतिं चकार। तस्याः स्वरूपमाह आत्मानमिति। नन्वन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते तत्राह आत्मप्रसादायेति। अन्तःकरणप्रसादाय। जीवा-

---

आवरणभङ्गः।

तत्सर्वं सङ्गृह्याहुः उपसंहरतीति। यदीयपरिकरत्वेनेदं सर्वमुक्तं तं वेदार्थं सङ्गृह्य दर्शयतीत्यर्थः। उभयात्मक इति। द्रव्यदेवतासम्बन्धो देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो वा याग इति लोके प्रसिद्धः। तत्र देवतानां भगवद्रूपत्वं भगवदवयवत्वात् "मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप" इत्यादिश्रुतिभ्यो "नासत्यदस्रौ परमस्य नास" इत्यादि। "देवा नारायणाङ्गजा" इत्यादिवाक्यैः सिद्ध्यति। भगवत एव सर्वशब्दाभिधेयत्वेन च। "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुरि"ति श्रुतेस्तल्लिङ्गाद्यधिकरणैश्च। त्यागसम्बन्धकर्मणां तु, "मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्याऽपोह्यते ह्यहम्" इति एकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यैः। उपकरणस्य तु पुरुषसूक्तेन द्वितीयस्कन्धस्थपुरुषसूक्ताध्यायेन च सिद्ध्यति। फलस्य भगवद्रूपतात्वानन्दात्मकत्वादेव सिद्धा। एवं सति, "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इत्यादौ सर्वशब्दस्याऽसङ्कुचितवृत्तिकत्वाद् वैदिकैः सर्वैः शब्दैर्मुख्यवृत्त्या भगवानेव बोध्यते। सङ्कुचितवृत्त्या च तत्तत्कार्यार्थं तत्तद्रूपः। तदिदमुक्तं, हरिर्वेदे निरूप्यत इति। सिद्ध्यतीति। यथाधिकारं सिद्ध्यति। तत्र हेतुमाहुः यत इत्यादि। यदि प्रकारान्तरेण सिद्ध्येत् पुरुषार्थरूपो न स्यात्। अत एवं सिद्ध्यतीति सर्वोऽपि पूर्वोक्तार्थः सङ्गृहीतः। तेन बलनिरूपणार्थप्रमाणानुरोधिप्रमेयमेकं निरूपितम्॥ १७॥

अतः परं प्रमाणस्य बलवत्त्वाय तत्स्वरूपं निरूपयितुमाहुः एवमित्यादि। अन्यथा पूर्वप्रकरणोक्ते, शब्द एव प्रमाणमित्यादिरूपे सन्देमेंऽसम्भावनाद्यनुपशमे ग्रन्थप्रयासवैफल्यमिति तत्प्रयोजनस्यान्तःकरणशुद्धिरूपस्य तत्स्वरूपादिकथनस्य चावश्यकत्वमिति भावः। श्रुतिं चकारेति। एतेनापौरुषेयवाक्यत्वं पौरुषेयत्वेनाऽभगवत्त्वं च वदन्तो निरस्ताः। "एतस्यैव महापुरुषस्य निःश्वसितं यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद"इति, "प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती"ति, "वेदो नारायणः साक्षादि"त्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधात्। अन्तर्यामिणेति। अल्पत्वेऽपि स्वरूपात्मकतयान्तरतया च

न्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ भोगभोजनार्थं तदनुभोगेन मालिन्यं चित्ते जातं, नान्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्। अतो बहिःस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणमित्यर्थः ॥ १८ ॥

इति नित्यः श्रुतेरर्थः सात्त्विकानां प्रकाशते।
उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः ॥ १९ ॥

इदमेव श्रुतेः प्रयोजनमित्याह इतीति। अध्ययनादिना धर्मादिकमपि साधयति। परं नित्योऽयमेवार्थः प्रयोजनम्। अथवा। पञ्चात्मको भगवान् वेदार्थ इति निरूप्य सर्वेषां तथा बुद्धिभावमाशङ्क्य, तेषां दोषं कथयन् स्वोक्तमुपसंहरति इतीति। सात्त्वि-

---

आवरणभङ्गः।

व्यापकत्वादभ्रान्तत्वात् सम्भावितसामर्थ्येनेत्यर्थः। भोगभोजनार्थमिति। "ऋतं पिबन्तावि"ति श्रुतेः। यद्यप्यनशनश्रुत्या जीववन्न भोगस्तथापि नियतकार्यकत्वादसमर्थत्वम्। तदेतदुक्तम् अन्तःस्थितेनेति। उक्तरीत्यान्तःपातिनेत्यर्थः। अत एव "परमात्मा मे शुद्ध्यन्तामि"ति श्रुतिः। "हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूत" इति तृतीयस्कन्धे विदुरवाक्यं चातो न चोद्यावकाशः ॥१८॥

अर्थशब्दस्याभिधेयार्थकत्वमादाय किञ्चित् परिहर्तुं व्याख्यानान्तरमाहुः अथवेत्यादि। स्वोक्तमिति। वेदस्वरूपफलार्थविषये यदुक्तं तदित्यर्थः। सात्त्विकानामेव प्रकाशने हेतुरग्रेऽनुपदमेव व्युत्पाद्यः। प्रसङ्गाद्वेदविषये व्युत्पादनाय किञ्चित् परोक्तमेव लिख्यते। तत्रापि यो विशेषः क्वचित् सोऽपि तत्र प्रकाश्यते। तथा हि। स च वेदो मन्त्रब्राह्मणात्मकः। तत्र मन्त्रा अनुष्ठानप्रकारभूतद्रव्यदेवतादिप्रकाशकाः। तेऽप्युत्सर्गतस्त्रिविधा ऋग्यजुःसामभेदात्। तत्र गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा ऋचस्ता एव गानयुक्ताः सामानि। तदुभयविलक्षणानि यजूंषि। "अग्नीदग्नीन् विहरे"त्यादिसम्बोधनरूपा निगदा निविदादयश्चान्येऽत्रैवान्तर्भवन्ति। ब्राह्मणमपि त्रिविधम्। विध्यर्थवादतदुभयविलक्षणभेदात्। विधिरपि चतुर्विधः। उत्पत्त्यधिकारिविनियोगप्रयोगभेदात्। तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवतीत्यादिः। सेतिकर्तव्यताकस्य यागादेः फलसम्बन्धबोधको विधिरधिकारविधिः। यथा "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते"-त्यादिः। अङ्गसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा "व्रीहिभिर्यजेत", "समिधो यजती"त्यादिः। साङ्गप्रधानकर्मप्रयोगैक्यबोधकः पूर्वोक्तविधित्रयमेलनरूपः प्रयोगविधिः। स च श्रौत इत्येके। काल्प इत्यपरे। कर्मस्वरूपमपि चतुर्विधम्। उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कारभेदात्। तत्र, "वसन्तेऽग्नीनादधीत", "यूपं तक्षती"त्यादिना संस्कारविशेषविशिष्टाग्नियूपादेरुत्पत्तिः। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यो", "गां पयो दोग्धी"त्यादावध्ययनदोहनादिना विद्यमानस्यैवाध्ययनपयःप्रभृतेराप्तिः। "सोममभिषुणोति", "व्रीहीनवहन्ति", "आज्यं विलापयती"त्यादावभिषवणावघातविलयनैः सोमादीनां विकारः। "व्रीहीन् प्रोक्षति", "पत्न्यवेक्षत"इत्यादौ प्रोक्षणावेक्षणादिभिर्व्रीह्याज्यादिद्रव्यसंस्कारः। एतच्चतुष्टयं चाङ्गकर्मैव। तथा, कर्तृकारकाण्यनाश्रित्य विहितमर्थकर्म। तच्च द्विविधम्, अङ्गं, प्रधानं च। अन्यार्थमङ्गमनन्यार्थं प्रधानम्। अङ्गमपि द्विविधम्। सन्निपत्योपकारकमारादु-

कानामेवायमर्थः प्रकाशते, न सर्वेषामित्यर्थः । ननु सर्वे भगवदंशाः । तत्र कथं केचन सात्त्विका अन्ये नेति व्यवस्था, तत्राह उत्पन्ना इति । "प्रजायेये"तिभगवदिच्छया विनिर्गताश्चिदंशा जीवास्तुल्या मा भवन्त्विति भगवन्मायागुणैस्त्रिविधैस्ते व्याप्तास्त्रि-

---

आवरणभङ्गः ।

पकारकं च । तत्र प्रधानस्वरूपनिर्वाहकं प्रथमम् । फलोपकारि द्वितीयम् । एवं सम्पूर्णाङ्गसहिता विधिः प्रकृतिः । विकलाङ्गसहितो विकृतिः । तदुभयविलक्षणो विधिरङ्गविधिः । एवमन्यदप्यूह्यम् । तदेवं निरूपितो विधिभागः । प्राशस्त्यनिन्दान्यतरलक्षणया विधिशेषभूतं वाक्यमर्थवादः। स च त्रिविधः । गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति । तत्र प्रमाणान्तरविरुद्धार्थबोधको गुणवादः । यथा, "आदित्यो वै यूप" इत्यादिः । प्रमाणान्तरप्राप्तार्थबोधकोऽनुवादः । "अग्निर्हिमस्य भेषजमि"त्यादिः । प्रमाणाऽन्तरविरोधतत्प्राप्तिरहिताऽर्थबोधको भूताऽर्थवादः । "इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदि"त्यादिः । तदुक्तम् "विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते । भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मत" इति । तत्र त्रिविधानामप्यर्थवादानां विधिस्तावकत्वे समानेऽपि भूतार्थवादानां स्वार्थे प्रामाण्यं देवताधिकरणन्यायात् । अबाधिताज्ञानज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यम् । तच्च बाधितविषयत्वाज्ज्ञातज्ञापकत्वाच्च न गुणवादयोः । भूतार्थवादस्य तु स्वार्थे तात्पर्यरहितस्यापि औत्सर्गिकं प्रामाण्यं, न विहन्यते । तदेवं निरूपितोऽर्थवादभागः । विध्यर्थवादोभयविलक्षणं तु वेदान्तवाक्यम् । तच्चाज्ञातज्ञापकत्वेऽप्यनुष्ठानाप्रतिपादकत्वान्न विधिः । स्वतः पुरुषार्थपरमानन्दविज्ञानात्मकब्रह्मणि स्वार्थे उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया स्वतः प्रमाणभूतम् । सर्वानपि विधीनन्तःकरणशुद्धिद्वारा स्वशेषतामापादयदन्यशेषत्वाभावाच्च नार्थवादः । तस्मादुभयविलक्षणमेव वेदान्तवाक्यम् । तच्च क्वचिदज्ञातज्ञापकत्वमात्रेण विधिरिति व्यपदिश्यते । विधिपदरहितप्रमाणवाक्यत्वेन च क्वचिद् भूतार्थवाद इति व्यवह्रियत इति न दोषः । तदेवं निरूपितं त्रिविधं ब्राह्मणम् । एवमुभयकाण्डात्मको वेदो धर्मार्थकाममोक्षहेतुः । स च प्रयोगत्रयेण यज्ञनिर्वाहार्थमृग्यजुःसामभेदभिन्नः । तत्र हौत्रे ऋग्वेदेन । आध्वर्यवे यजुषा । औद्गात्रे साम्ना । ब्राह्मयाजमानौ त्वत्रैवान्तर्भूतौ । अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तः, शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकादिकर्मप्रतिपादकत्वेनात्यन्तविलक्षण एव । एवं प्रवचनभेदात् । प्रतिवेदं भिन्ना भूयस्यः शाखाः । एवञ्च कर्मकाण्डे व्यापारभेदेऽपि सर्वासां वेदशाखानामेकरूपत्वमेव ब्रह्मकाण्ड इति चतुर्णां वेदानां प्रयोजनभेदेन भेद उक्त इति मधुसूदनसरस्वती आह । अत्रेयान् विशेषो बोध्यः । मन्त्राश्चतुर्विधाः । आथर्वणानामपि मन्त्रत्वात् । वेदेषु च यत्र यत्प्राचुर्यं तत्र तन्नामकत्वं यथर्ग्बाहुल्येन ऋग्वेदः । एवमन्येऽपि । अथर्वलक्षणं तु तथा न प्रसिद्धम् । तेनोक्तत्रयातिरिक्तो वेदोऽथर्ववेदो ज्ञेयः । अथर्ववेदस्य ब्रह्मत्व उपयोगः पूर्वमासीत् । तद् यज्ञस्य चातुर्होत्रत्वात्, तेन यज्ञ उपयुक्तः । इदानीं तु सुमन्तुना ऋषीणामपचारात् क्रुद्धेन स्ववेदमात्रादेवाथर्वणां पृथग्यज्ञं कुर्वाणेनेतरोपयोगो निवारित इत्यनुपयुक्त इत्याथर्वणेषु प्रसिद्धत्वाच्च । किञ्च । गुणवादानुवादयोरपि, "वाचं धेनुमुपासीते"-तिवद्, "गो अश्वा एव पशवोऽन्ये त्वपशव" इत्यादावपि अन्येषामपशुत्वज्ञानपूर्वकं गोअश्वानां

घरसभोगाय। अन्यथा तामसवस्तूनां भोगो न स्यात् । अत एव श्रुतौ, "त्रयो ह वै प्राजापत्या" इति देवा मनुष्या असुरा गणिताः। पञ्चरात्रेऽपि "त्रिविधा जीवसङ्घास्तु देवमानुषदानवाः । तत्र देवा मुक्तियोग्या मानुषेषूत्तमा अपि। मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः सदैव हि। अधमा निरयायैव दानवास्तु तमोलया" इति। अतो जीवानां त्रैविध्यात् तदनुगुणा एवान्तःकरणादयोऽपि तेषां भवन्ति ॥ १९ ॥

ततः किमत आह—

सर्वे वेदविदो जाताः स्वभावगुणभेदतः ।
तेषां प्रकृतिवैचित्र्याच्छ्रुत्यर्थो बहुधोदितः ॥ २० ॥

सर्वे वेदविद इति । यथार्थं श्रुत्वाऽपि ते यदा व्याचक्षते तदा स्वरुच्या वेदार्थं वर्णयन्ति स्वभावगुणानां भेदात् । ततः किमत आह श्रुत्यर्थो बहुधोदित इति ॥२०॥

तानेव प्रकारानाह—

भावस्याज्ञानतः कर्ममात्रं केचिद् वदन्ति हि ।
लोकप्रतीतं स्वीकृत्य कदाचिद्भगवान् वदेत् ॥ २१ ॥

आवरणभङ्गः ।

पशुत्वमनुसन्दधानेन तत्कर्म कर्त्तव्यम्। तथा, "वायुर्वै क्षेपिष्ठे"त्यादावपि शीघ्रगामिनीं देवतां ज्ञात्वा कर्म कर्त्तव्यमित्येवमाशयेनौत्सर्गिकं प्रामाण्यं न विहन्यत इति । अन्यत्त्वावृतमेव । प्रकृतमनुसरामः । इच्छयेति पदं व्याप्ता इत्यनेनाऽप्यन्वेति । अन्यथेत्यव्याप्तत्वे न स्यादिति । तामसानामसमीचीनत्वेन हेयत्वात् तद्योग्यभोक्तृभावे वैयर्थ्यमेव स्यादित्यर्थः । त्रिगुणव्याप्ते किं मानमित्यत आहुः अत एवेत्यादि । अन्यथा बृहदारण्यके स्तनयित्नुब्राह्मणे यत् त्रैविध्यमुक्तं तत्तादृशगुणव्याप्तिं विनाऽसम्भवद् बाधितमेव स्यादिति भावः । ननु श्रुतौ देहत्रैविध्यमुक्तं, न तु जीवत्रैविध्यम् । असुरशरीरे प्रवेशान्यथानुपपत्त्या तथा कल्पनं तु न युक्तिसहम् । अदृष्टविशेषादप्युपपत्तेरित्याशङ्कायां पूर्वोक्तनिश्चायकं मानान्तरमाहुः पञ्चरात्रेऽपीति । तदनुगुणा इति । तथाचादृष्टस्य मनःसम्बन्धोत्तरभाविकर्मजन्यत्वात्, ततः पूर्वं तदसम्भवान्नादृष्टेनोपपत्तिरिति भावः । अदृष्टानादित्वं तु ब्रह्मवादविरोधादेवोपेक्ष्यम् ॥ १९ ॥

यथार्थमित्यादि । तदेतदेकादशस्कन्धे, "वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः । तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता" इत्युद्धवप्रश्ने, "कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसञ्ज्ञिता" इत्यादिषु भगवद्वाक्येषु चतुर्दशाध्यायस्थेषु स्फुटति । तेषां प्रकृतिवैचित्र्या "चित्रा वाचः स्रवन्ति ही"ति तत्रोक्तेः । बहुधोदित इति । तथाच बहुधा प्रसृतत्वान्न सर्वेषां तदर्थबोधोऽपि तु सात्त्विकानामेवेत्यर्थः ॥ २० ॥

प्रकारानिति । "धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् । अन्ये वदन्ति वै स्वार्थमैश्वर्यं त्यागभोजनम् । केचिद्यज्ञं तपो दानं व्रतानि नियमान् यमान्" इत्यत्रोक्तानित्यर्थः । एतेषु प्रथ-

भावस्येति । उपक्रमादिप्रकरणार्थस्य भावस्य अज्ञानात् केवलं वाक्यार्थमेवानुभूय क्रियामात्रं वेदार्थ इति केचिदाहुः । ननु महतां वाक्यात् तथा न भविष्यतीत्याशङ्क्याह लोकप्रतीतमिति । वेदार्थ इति केचिदाहुः । महान्तो हि भगवदनुगुणाः । भगवांश्च सर्वमार्गप्रवर्तकः । अतः कर्ममार्गवक्तृननुसरति । "एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना" इति, "वेदवादरताः पार्थे"ति च । "त्रैगुण्यविषया वेदा" इति च । अतो योगादिप्रचा-

टिप्पणी ।

उपक्रमेति । उपक्रमोपसंहारसहितस्य प्रकरणार्थस्येत्यर्थः । तथा नेति । महतां तादृशवचनाद्भावाज्ञान नेत्यर्थः । एवं त्रयीधर्ममित्यारभ्येत्यर्थ इत्यन्ते । एवं यथोक्तप्रकारेण त्रयीधर्मं केवलं वैदिकं कर्म अनुप्रपन्नाः आश्रिताः कामान्कामयन्त इति कामकामाः गतागतं लभन्ते न तु स्वातन्त्र्यं मोक्षं लभन्त इत्यर्थः । साङ्ख्ययोगबुद्धौ प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं इतरस्यां काम्यकर्मबुद्धौ प्रवर्तमानानां साङ्ख्ययोगबुद्धिप्राप्त्यभावलक्षणं दोषमाह "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः । वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः" हे पार्थ! वेदवादरताः बह्वर्थवादफलसाधनप्रकाशकेषु रताः, अविपश्चितः अविवेकिनः सन्तो यामिमां पुष्पितां पुष्पितवृक्षमिव शोभनां वाचं प्रवदन्ति स्वर्गपश्वादिफलसाधनेभ्यः कर्मभ्योऽन्यन्नास्तीति वादिनः, ते च "कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् । क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति" । कामात्मानः कामपराः स्वर्गः परः पुरुषार्थो येषां ते स्वर्गपराः, किंलक्षणां वाचं जन्मकर्मफलप्रदां, कर्मणः फलं कर्मफलं जन्मैव कर्मफलं तत्प्रददातीति जन्मकर्मफलप्रदा तां स्वर्गपशुपुत्रादिलक्षणा अर्था यया वाचा बाहुल्येन प्रकाश्यते सा तां भोगैश्वर्ययोः प्राप्तिं प्रति साधनभूतास्ते क्रियाविशेषास्तद्बहुलां वाचं प्रवदन्तो मूढाः संसारे परिवर्तन्त इत्यभिप्रायः । "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" । हे अर्जुन! वेदास्त्रैगुण्यविषयास्त्रैगुण्यं संसारो विषयः प्रकाशितव्यो येषां ते संसारविषयास्त्वं तु निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव । सर्वमार्गप्रवर्तकत्वात्कर्ममार्गवक्तृतिवान्यमार्गवक्तृतंप्यनुसरति(?)तत्रैतानि वचनानि ।

आवरणभङ्गः ।

मोदिष्टमेव पक्षं लोकप्रसिद्धत्वादनुवदन्ति दूषणार्थम् भावस्येत्यादि । उपक्रमेत्यादि । अत्रैवं भाति । वेदस्योपक्रमो हि मन्त्रदेवतास्तुत्यादावुपयुक्तः । प्रकरणं च यागस्य । स च, "यज्ञो वै विष्णुरि"ति श्रुतेर्भगवद्रूपः । देवताश्चाग्न्यादयो यागशेषा भगवदङ्गभूताः । कर्ता पुरुषोऽपि यागशेषो भगवदंशः । पुरुषशेषभूतं फलम"एतस्यैवानन्दस्यान्यानी"त्यादिश्रुतेर्भगवदंशभूतम् । तथैवोपकरणान्यपि । एवं सर्वं साक्षात् परम्परया च भगवद्रूपमिति भगवत्येव श्रुतेस्तात्पर्यमिति प्रकरणार्थस्येत्यर्थ इति । ननु यदि क्रियैव वेदार्थो न स्यात् फलं च लोकाद्यात्मकं यागानां न स्याद्वेदार्थश्च यदि गुणातीतः स्यात्तदा "त्रैगुण्यविषया वेदा" इत्यादि भगवान्न वदेत् । यतो वदति ततः क्रियैव वेदार्थ इत्याशङ्कां हृदि निधायाहुः नन्वित्यादि । महतां जैमिन्यादीनां विचारकाणां वाक्याच्छास्त्ररूपात् तथा न भविष्यति, क्रियावादिनां वेदार्थस्याज्ञानं न भविष्यतीत्याशङ्क्य महतामाशयमाहेत्यर्थः । लोकप्रतीतमिति । क्रिया लौकिक्येव वेदार्थः । फलं, च लोकादिकमेवेत्येव साधा-

रार्थं प्रकारान्तरापन्नश्रुत्यर्थनिन्दया तथा बोधयतीति महान्तोऽपि तमर्थं न निवारयन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

ननु फलविसम्वादात् स्वयमेव त्यक्ष्यन्तीत्याशङ्क्याह—

फलं तु सर्वमेवात्र तदंशत्वाद्भविष्यति ।
अतः कामनिषेधो हि क्वचिद्भगवतोदितः ॥ २२ ॥

फलं त्विति । यागानां भगवदंशत्वात् सर्वमेव कामितं फलं भवति । न तु नित्यं तत् । अन्यथा भगवता कामनिषेधो नोच्येतेत्याह अत इति । "एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि तु" इति वाक्यात् ॥ २२ ॥

टिप्पणी ।

कर्ममार्गे एवं त्रयीधर्ममिति । योगमार्गे यामिमामिति । त्रैगुण्यविषया इति । योगादिमार्गप्रचारार्थं भगवत्तात्पर्यविषयप्रकाराद्भिन्नप्रकारं कर्मैव कर्त्तव्यं नान्यदित्येवम्भूतमापन्नः प्राप्तः प्रकारान्तरेणापन्नो विपन्नो वा यः श्रुत्यर्थस्तन्निन्दया कृत्वा भगवान् तथा योगादिकमपि कर्त्तव्यमिति बोधयति तेन तन्मार्गीया महान्तोऽपि तदेव कर्त्तव्यमिति बोधयन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

एतानीति । अस्यार्थः, हे पार्थ, एतानि यज्ञदानतपांसि कर्माणि तेषु कर्मसु सङ्गमासक्तिं प्रीतिं त्यक्त्वा अनु च फलानि त्यक्त्वा कर्त्तव्यानि । एवं मे मम निश्चितमुत्तमं मतम् ॥ २२ ॥

आवरणभङ्गः ।

रणजनप्रतीतं स्वीकृत्य कदाचिद् योगादिप्रचारावसरे भगवान् वदेदित्यर्थः । तथा बोधयतीति । लोकसिद्धं मतान्तरं वेदार्थत्वेन बोधयति । एवं सति गीतावाक्येष्वयमर्थो बोध्यः । ये त्रैविद्याः स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ते एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना लोकप्रतीतप्रकारं त्रयीधर्मं परम्परया प्रपन्ना, न तु मदुक्तप्रकारकम्, अत एव कामकामा लौकिकसुखेप्सवो गतागतं लभन्ते, न तु मुच्यन्त इति । वेदवादरता इत्यत्रापि वेदे ये वादरताः, न तु तात्पर्यज्ञातारः । अत एव, नान्यदस्तीति वादिन इत्यादिरूपास्तेषां च समाधौ न बुद्धिरिति त एव निन्द्यन्ते । त्रैगुण्यविषयेत्यत्रापि त्रैगुण्यं गुणत्रयसमुदायो विषयो बोध्यो येषां ते तथा इत्यपि लौकिकीं प्रतीतिमादायैव वक्तीति ज्ञायते । "वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे । परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्" इत्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यात् । अस्य गीतावाक्यस्य । साङ्ख्यस्तावकतायाः प्रकरणेन निश्चयाच्च । एवञ्च प्रथमवाक्यम"प्यनन्याश्चिन्तयन्तो मामि"त्यग्रिमग्रन्थस्वारस्यादुपासनास्तावकम् । तथैव द्वितीयं योगस्थेति न तैः कृत्वा क्रियार्थोपष्टम्भ इति भावः ॥ २१ ॥

ननु फलसम्वादे निन्दानवसर इत्यत आहुः न तु नित्यं तदिति । ननु तथापि लोकसिद्धस्य वेदार्थत्वाभावे गीतायां किं गमकमित्यत आहुः अन्यथेत्यादि । अत इति । यतस्तन्न नित्यं, नापि पावनं, वेदार्थस्तु तद्विलक्षणोऽत इत्यर्थः । तथाच गीतायामपीदमेव तात्पर्यमतो न सन्देह इत्यर्थः ॥ २२ ॥

ननु वेदार्थश्चेदेक एव स्यात् कथं सहजाः फलत्वेन मार्गा भिन्नाः स्युः । अर्चिरादिमार्गो, धूमादिमार्गस्तृतीयो मार्गश्चेति । अतो वेद एव तथा तथा वदतीति मन्तव्यमित्याशङ्क्याह—

यथोक्ते ह्यपुनर्जन्म ह्यन्यथा पुनरुद्भवः ।
तदर्चिरादिधूमादिमार्गद्वयमुदीरितम् ।
वैराग्यार्थं तदप्युक्तं पञ्चाग्निख्यापने श्रुतौ ॥ २३ ॥

यथोक्त इति । नात्र वेदानुसारेण मार्गद्वयं, किन्त्वेक एव मार्गो वेदोक्तः । तमाह यथोक्ते ह्यपुनर्जन्म । अयथाज्ञानतः कर्मकरणाद् धूमादिमार्ग इत्याह अन्यथेति । अनेन जायस्वेत्यपि मार्गः सङ्गृहीतः "येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा" इति । एवमेव शास्त्रकारैर्भगवता चाभिप्रेत्य मार्गद्वयमुदीरितं, न तूभयमपि साक्षाद् वेदाभिप्रेतमित्यर्थः । नन्वस्य धूमादिमार्गस्य कथने किं फलम् । न हि भ्रममार्गाः केनचिदुच्यन्ते । किञ्च, धूमादिमार्गीयकर्मणोऽविहितत्वे तत्फलं न स्यात् । न हि अविहितस्य भ्रमप्रतिपन्नस्य फलं सम्भवतीत्याशङ्क्याह वैराग्यार्थमिति । तदपि भ्रमत्वेन प्रतिपन्नमपि जगति तस्य मार्गस्य प्रतीयमानत्वात् । किञ्च, पञ्चाग्निख्यापने श्रुतौ पञ्चाग्निख्यापनार्थं तदुक्तं पञ्चाग्न्युपासकस्य फलसिद्धये । यथा वेदे लोकसिद्धोऽनूद्यते,

---

टिप्पणी ।

अनेनेति । जन्ममरणपरम्परायास्तुल्यत्वात् । धूमादिमार्गेण प्रवाहमार्गोऽपि सङ्गृहीत इत्यर्थः २३

आवरणभङ्गः ।

किञ्चिदाशङ्कते ननु वेदार्थ इत्यादि । फलत्वेनेति । श्रद्धातपआदिफलत्वेन प्रतिपाद्यमाना इत्यर्थः । ते च त्रयो मार्गाश्छान्दोग्ये, "य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ती"त्यादिना "देवयानः पन्था" इत्यन्तेन । अथेमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्तीत्यारभ्य चाण्डालयोनिं वेत्यन्तेन अथैतयोः पथोर्न कतरेण च नेत्यारभ्य तृतीयं स्थानमित्यन्तेन पञ्चाग्न्युपासनप्रकरणे प्रतिपादिताः । अत इति । इष्टापूर्तकर्तुर्धूममार्गगमनप्रतिपादनादित्यर्थः । समादधते नात्रेत्यादि । यथोक्ते ह्यपुनर्जन्मेति । हिशब्दो हेतौ । श्रुतावर्चिरादिमार्गस्य ज्ञानफलत्वकथनादितरयोश्च जघन्यतया निन्दनाद्गीतायां कामनिषेधकथनात्, श्रीभागवते च, "कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते" इति, भिदां, "मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति" इति कथनादेवमवसीयते, तस्मादित्यर्थः । सङ्गृहीत इति । अनभिप्रेतत्वेन सङ्गृहीत इत्यर्थः । एवमिति । येन लोको न पूर्येत सृष्टिश्चोत्तरोत्तरा स्यादित्यर्थः । किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वस्येत्यादि । यद्ययं वेदानभिप्रेतस्तर्हीति शेषः । किञ्चेत्यादिनोक्त आभासग्रन्थः प्रभूणाम् । तत्फलमिति । अधिकारविध्युक्तं फलमित्यर्थः । प्रतिपन्नमपीति पदम् उक्तमिति मूलस्थपदेनान्वेति । जगतीत्यादि । जगत्क्लेशस्यानुभवसाक्षिकत्वात्तदनुवादेन जुगुप्सोत्पादनाय धूमादिमार्गकथनमिति तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेतेति तदुपसंहारग्रन्थादवसीयतेऽतस्तादृशकर्मणस्तत्फलेभ्यश्च वैतृष्ण्यार्थं

"धन्वन्निव प्रपा असी"त्यादौ, तथा भ्रमसिद्धोऽप्यनूद्यत इति। यदुक्तं किञ्चेत्यादिना तत्रोच्यते । न ह्यत्रावैदिकत्वमुच्यते, किन्तु कर्मण्येव पश्चादावेव तात्पर्यं श्रुतेरिति-प्रकारकस्तात्पर्यभ्रमः । एतस्य भ्रमत्वं, "वेदवादरता" इत्यादिवाक्यैर्निन्दितत्वेन ज्ञायते । एवं सति तदुक्तिस्तु सर्वथासन्मार्गविमुखस्यातिरागिणः पुंसः कथञ्चित् सन्मार्गे प्रवृत्त्यर्था। तदुक्तं, "रोचनार्था फलश्रुतिः" । यथा भैषज्यरोचनमित्यादि। तथाच तत्फलस्य निरूपणे तुच्छत्वज्ञानेन वैराग्यार्थं तन्निरूपणमिति ॥ २३ ॥

एवं वेदं वेदार्थं च निरूप्य शाखाभेदानां स्वरूपमर्थं चाह—

बहुप्रकारमेकं हि कर्मवेदे प्रकाश्यते ।
भगवन्मूर्त्तितासिद्ध्यै ते सर्वे पूर्वजैर्धृताः ॥ २४ ॥

बहुप्रकारमिति। एको ज्योतिष्टोमो भगवत्त्वात् सहस्रमूर्त्तिः। तत्रैका मूर्त्तिर्या-

---

आवरणभङ्गः।

तदुक्तिरिति साऽपि नित्यफलादिपोषणार्थैवेति भावः । तत्प्रकरणमनुरुद्ध्य प्रयोजनान्तरमप्याहुः किञ्चेत्यादि। पश्वाग्निफलस्योत्कृष्टत्वकथनाय तदुक्तिः। न तु तस्य तत्र तात्पर्यम्। न हि निन्दा-न्यायादिति भावः। ननु तथापि भ्रमप्रतिपन्नस्य कथं श्रुतावनुवाद इत्यत आहुः यथेत्यादि। अनूद्यत इति। "त्वष्टा हतपुत्रो वीन्द्रꣳसोममाहरदि"त्यादावनूद्यते । न हि वीन्द्रः सोमो विहितो, न वोच्छिष्टसोमहवनं, वा मन्त्रस्वरत्यागः। तथाच यथा तत्र तथात्राऽपीति नायं दोष इत्यर्थः। यदुक्तमित्यादिर्निरूपणमितीत्यन्तः प्रभूणां ग्रन्थो निगदव्याख्यातः ॥ २३ ॥

अवसरसङ्गत्या साधनैर्बहुरूपकमित्यस्यार्थं वक्तुमाहुः। एवं वेदमित्यादि। चाहेति चकारः प्रयोजनस्यानुष्ठानप्रकारादेश्च सङ्ग्राहकः। बहुप्रकारमित्यादि। तथाच यदि भगवत्त्वं यज्ञस्य नाभिप्रेयात् तदैकमेव तं नानारूपेण न ब्रूयात्। एकेनैव रूपेण तस्य फलस्य सिद्धेः। यद्यशक्तार्थं रूपान्तरं तर्हि तेनैव शक्तस्य फलसिद्धेस्तदेव ब्रूयात्। यदि पौष्कल्यार्थं रूपान्तरं तर्हि तदेव फलत्वेन वदेन्न तु सर्वत्रैकं फलं वदेत्। तस्माद् भगवन्मूर्त्तित्वसिद्ध्यर्थमेव तथा वदतीति निश्चयः। ननु प्रकारबाहुल्ये कर्मणः कथमेकत्वमित्याकाङ्क्षायां बहुप्रकारस्य कर्मण एकत्वे शाखान्तराधिकरणसिद्धमर्थमुपदर्शयन्ति एक इत्यादि। अयमर्थः। शाखान्तराधिकरणे, "नामस्वरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यादि"ति सूत्रेण भेदमाशङ्क्य, एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषादि"ति सूत्रेण सर्वशाखासु "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते"ति स्वर्गफलसंयोगस्य, द्रव्यदेवतयोर्यजनचोदनाया ज्योतिष्टोमेत्याख्यायाश्चाविशेषात् सर्वशाखाप्रत्ययमेकमेव कर्मेति व्यवस्थाप्य, न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वादित्यादिभिश्चतुर्विंशतिसूत्रैः पूर्वपक्षहेतवो निराकृताः। तथाहि। काठककौथुमादिनामभेदान्न कर्मभेदः। तत्तच्छाखोक्ता ज्योतिष्टोमादयः शाखान्तरोक्तेभ्यस्तेभ्यो भिन्नाः। काठककौथुमाभिन्ननामवत्त्वात्। ज्योतिर्ज्योतिष्टोमादिवदिति साधने हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात् "काठकमधीत" इति प्रयोगदर्शनेन, "काठकेन यजेते"त्याद्यदर्शनेन तेषां ग्रन्थनामतया, ग्रन्थसंयोगेन कर्मणि लाक्षणिकतया च कर्मनाम-

वता वेदेनोच्यते सैका शाखा । सर्वेषां सर्वशाखाज्ञानं नास्तीति सामान्यधर्मसहित एव विशेषः सर्वत्रोच्यते । तेन न सामान्यकथनेन पुनरुक्तिः । यज्ञेषु भगवद्बुद्धिसिद्ध्यर्थ-

आवरणभङ्गः ।

त्वाभावेन पक्षे हेत्वभावात् । अथ काठके भवं काठकमिति समाख्यामाश्रित्य यौगिकत्वेन हेतुं विशेष्याऽऽर्चिकयाजुषहौत्राध्वर्यवकर्मवदिति दृष्टान्तेन भेदः साध्यते । तदाऽप्यसङ्गतम् । नानाशास्त्रभवलङ्घनाद्येकचिकित्सावदिति दृष्टान्तेन हेतोः साधारणत्वात् । किञ्चैवं यौगिकनामभेदेन कर्मभेदसाधने एकशाखोक्तानामग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनामप्येकनामत्वेनैककर्म्यापत्तेश्च । किञ्च, काठकादिसञ्ज्ञानां प्रवचनानन्तरभावित्वेन ततः पूर्वमभेदात्तदनन्तरं भेदे वैरूप्यापत्तेश्च । नापि रूपभेदात् । वाचनिकत्वेन तस्यापि साधारणत्वात् । "पयसा जुहोति", "विष्णुरूपांशु यष्टव्यः", "विश्वेदेवा उपांशु यष्टव्या" इत्यादिषु रूपभेदेऽप्यग्निहोत्रोपांशुयाजयोरभेदात् । नापि धर्मविशेषात् । "कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति नान्य" इति विशेषस्याध्ययनधर्मत्वेन कर्मधर्मत्वस्यैवाभावात् । नाप्यविशेषपुनर्वचनाद् एकत्र प्रकरणे बहुकृत्वः श्रवणाभावेन तस्यैवाभावात् । तत्तच्छ्रवणेन स एवायं याग इति प्रत्यभिज्ञोदयाच्च । नच क्वाप्यग्नीषोमीयमेकादशकपालं क्वचिच्च द्वादशकपालमिति गुणविशेषविधानार्थायाः पुनरुक्तेरनुवादकत्वं शक्यम् । तथा सत्येककर्मत्वस्यैव सिद्धेः । वस्तुतस्तु नानुवादकत्वम् । शाखात्वानुपपत्तिप्रसङ्गात् । यथा वृक्षे यावन्ति पुष्पफलपत्राणि शाखाभेदेन तत्र तत्र भवन्ति, तथात्र वेदस्थं कृत्स्नं गुणकाण्डं तत्र तत्र शाखाभेदेन वर्तत इति सादृश्येन तस्य तस्य भागस्य शाखात्वव्यपदेशात् । तथा सति यथा तत्तच्छाखीयकुसुमादिषु न गुणप्रधानभावस्तथापि तौल्येनानुवादभावात् । नचैवं सति कर्मप्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयकत्वेन कर्मभेदः शङ्क्यः । सिद्धान्तसूत्रोक्तयुक्तिभिस्तस्मिन्निरस्ते प्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयत्वस्याशक्यशङ्कत्वात् । किञ्चैकं प्रत्यविशेषपुनरुक्तौ तत्सार्थक्याय कर्मभेद आद्रियते । प्रकृते तु, प्रतिपत्तृभेदान्न कर्मभेदः । वस्तुतस्तु प्रतिपत्तृभेदेऽपि न कर्मभेदः शक्यशङ्कः । अन्यथैकमग्निहोत्रवाक्यमपि तांस्तान् प्रति प्रोच्यमानमग्निहोत्रमपि भिन्द्यात् । किञ्चासमाप्तिवचनसमाप्तिवचनाभ्यामपि कर्मैक्यम् । यथान्वारोहेषु मैत्रायणीयानामग्निः समाप्यतेऽस्माकं तु न समाप्यत इति वदन्ति। यदि कर्मभेदस्तदा तत्समाप्त्यसमाप्त्योर्भेदात् तत्कर्मानूद्य, तेनोत्प्रेक्षयेयुः । नापि निन्दातो भेदः। "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रं दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदाज्योतिरेषामि" त्यनुदितहोमनिन्दायाः, "उदिते जुहोतीति" विधिसमीपे। यथा— "अतिथये प्रद्रुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद्यदुदिते जुह्वती" त्युदितहोमनिन्दायाश्चानुदिते जुहोतीति विधिसमीपे पाठेन तस्या विधेयस्तुत्यर्थत्वेन तयोः पक्षयोर्निन्द्यत्वाभावाद्विकल्पपर्यवसायित्वेनाभेदकत्वात् । नाप्यशक्तितो भेदः । तस्या इदानीन्तनेष्वेव सत्त्वेन पूर्वान् सर्वशाखाज्ञान् शक्तान् प्रत्यभेदकत्वात् । नचैवं प्रतिपत्त्रैक्यापातेन पुनरुक्ततापत्तिः । तस्या अनन्तरूपप्रबोधनार्थत्वात् । नापि समाप्तेर्भेदः । दत्तोत्तरत्वात् । आध्वर्यवसमाप्तौ ज्योतिष्टोमरूपाद्यभेदेन तथा निश्चयात् । नापि समाप्तेर्भेदः । दत्तोत्तरत्वात् । आध्वर्यवसमाप्तौ ज्योतिष्टोम-
समाप्तिव्यपदेशवत् किञ्चित्कर्मसमाप्तावपि तद्दर्शनाच्च । नापि प्रायश्चित्ताद् भेदः । तस्य प्रक्रमनि-

अनेकरूपनिरूपणम् । ते सर्वे विशेषप्रकाराः पूर्वजैर्मरीच्यादिभिर्धृताः ॥ २४ ॥

अल्पज्ञत्वादाधुनिकाः पाठज्ञानाक्षमा द्विजाः ।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥ २५ ॥
द्वापरान्ते हरिर्व्यासस्तदर्थं प्रथमं पृथक् ।
चातुर्होत्रविभागेन व्यस्तवान् वेदरूपतः ।
शाखाभेदास्तु तच्छिष्यैस्तेनैव प्रेरितैः कृताः ॥ २६ ॥

आधुनिकानां तथा सामर्थ्याभावाच्छाखाप्रणयनम् । तत्राप्येका मूर्तिर्यावता वेदभागेन निरुक्ता भवति तावतोऽप्यध्ययनं दुर्लभमिति प्रथमतश्चतुर्द्धा मूर्तेश्चतुर्थोऽंशो यावता प्रतिपाद्यते तावन्तं व्यासः पृथक् कृतवान् । तस्य खण्डस्य सहस्रमूर्तावप्युपयोग इति

टिप्पणी ।

तस्य खण्डस्येति । व्यासविभक्तांशानामेकैकस्य सहस्रमूर्तिप्रतिपादकत्वाद्यावता वेदभागेन यदंशस्यैका मूर्तिरुच्यते स वेदभागस्तदीयैका शाखेत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

आवरणभङ्गः ।

मित्तकत्वात् । उदिते होष्यामीति प्रक्रम्य अन्यथाकरण एव तद्दर्शनात् । नाप्यन्यार्थदर्शनाद् भेदः । "द्वादशाहेन यदि पुरा दिदीक्षमाणाः स्युर्यदि वैषां गृहपतिं चानुसत्रिण" इति । अथ यद् यदि दिदीक्षमाणा इति द्वादशाहे इष्टज्योतिष्टोमानामनिष्टज्योतिष्टोमानां दर्शनश्रुतेर्यदि दिदीक्षमाणा द्वादशाहेनेत्येवंपरत्वात् । तथात्र मानाभावः । एतस्याः श्रुतेः सामवेदीयत्वेन सामवेदे च ज्योतिष्टोमस्याविहितत्वेन तत्त्वेन तदीयताण्ड्यब्राह्मणस्थाया, "एष वा व प्रथमो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः", "य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजेत गर्तपत्यमेव तज्जायेत प्र वा मीयेते"ति प्रत्यवायादिबोधिकायाः श्रुतेर्वेदान्तरविहितज्योतिष्टोमानुवादेन तत्प्राथम्यबोधनस्य लिङ्गस्य वेदान्तरविहितसर्वज्योतिष्टोमसाधारणतया तमनिष्ट्वा यागान्तरकरणे तस्य दोषस्यापि साधारणताया एवेष्टत्वात् । किञ्च, यदि सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म न स्यात्, तदा शाखान्तराविहितस्य शाखान्तरे गुणो न विधियेत । स च दृश्यते । यथा मैत्रायणीयानाम्, "ऋतवो वै प्रयाजाः समास्तत्र होतव्या" इति समत्वं गुणः श्रूयते । समिदादयः प्रयाजास्तु नाऽऽम्नायन्ते । अतो बाधकानामभावात् । साधकानां सत्त्वाच्च सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति सिद्धान्तितम् । एवमेकस्य कर्मणो बहुप्रकारत्वे सिद्धे तत् कुत इत्याकाङ्क्षायां, "यज्ञो वै विष्णुः", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्वेदार्थस्य भगवद्रूपत्वादेव तदित्यौचित्यबलान्निर्णीयन्ते । "यदेकमव्यक्तमनन्तरूपमि"ति श्रुतेर्भगवतोऽनन्तरूपत्वादित्येवमेतत् सर्वं हृदि कृत्वा, एक इत्यादिनिरूपणमित्यन्तमुक्तम् । ननु भवतु भगवतोऽनन्तरूपत्वाद् यज्ञरूपस्य बहुप्रकारैर्निरूपणम् । तथापि शाखाप्रणयनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां पुराणसिद्धं प्रयोजनं, ते सर्व इत्यादिभिः पादोनत्रिभिर्मूले यदुक्तं तद् विवृण्वन्ति त इत्यादिकृतमित्यर्थ इत्यन्तेन । धृता इति । अवधारिताः ॥ २४ ॥

निरुक्तेति । कथनात् सम्यग्ज्ञाता । चतुर्द्धेत्यस्य विवरणं तावन्तमित्यन्तम् । तस्येति ।

स एवांशः। एको यावता निरुक्तः स ऋगादीनामेका शाखेति। तथा व्यासशिष्यैः कृतमित्यर्थः॥ २५॥ २६॥

इदानीमनुष्ठाने कः प्रकारः केनानुष्ठेयः किमिच्छया व्यवस्थया वेति सन्देहे निर्णयमाह—

प्रकारभेदे पूर्वं तु विकल्पो स्वैच्छिको मतः।
अधुना नियतः शाखाभेदात्तत्तदधीतिषु॥ २७॥

प्रकारभेद इति। ब्रह्मादीनामैच्छिक एव। आधुनिकानां व्यवस्थित इत्यर्थः॥२७॥

कर्मवद् ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः।
तेषां भिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीति हि।
कर्मशाखागताश्चैके निर्णयः पृथगेव हि॥ २८॥

पुरुषः षोढाविहित इति पञ्चात्मके कर्मणि निरुक्ते षष्ठांशस्यापेक्षा भवति। तत्प्रतिपादकमुत्तरकाण्डम्। तच्च ब्रह्म। तदप्यनन्तरूपम्। अन्यथा अनन्तमूर्त्तित्वं न स्यात्। अतो यत्रैव पञ्चात्मके यच्छिरो भवितुं युक्तं तत्प्रतिपादकोपनिषत्तत्रैव योजिता। तथैव

टिप्पणी।

पुरुष इति। "षोढा विहितो वै पुरुष आत्मा च शिरश्च चत्वार्यङ्गानी"ति श्रुतेरित्यर्थः। तावतैवेति उपनिषद्भागं विनैव सम्पूर्णशाखाध्ययनसिद्धावुपनिषदध्ययने विध्यभावाच्चदुच्छेद एव स्यादित्यर्थः। अथ चर्वेदोपनिषद्युपनिषदां शिरोरूपत्वं श्रूयते। ताभिर्विना शाखाध्ययने दोषोऽपि। तथाहि, "ऋचां मूर्द्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्डम्। नाधीतेऽधीते

आवरणभङ्गः।

ऋग्यजुःसामाथर्वरूपस्य। स इति। व्यासविभक्तमध्यस्थोऽतिनियत ऋगादिरूपेण यागस्वरूपोपयोगी॥ २५॥ २६॥

इदानीमित्यादि। ननु यागानां भगवद्रूपत्वेन साधारणत्वात् तत्प्रकाराणामपि तथात्वेन शाखाप्रणयनस्य मन्दार्थत्वेऽपि तासां प्रसिद्धत्वेन च सर्वेषां सर्वानुष्ठानप्राप्तावष्टदोषदुष्टस्यैच्छिकविकल्पस्य प्रसक्तिरिति तदभावायाधिकारिभेदोऽवश्यमभ्युपेयो, यथा, "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीते"त्यादौ। तथा सति तत्तदधिकारिणां फलसिद्धौ एकस्य कर्मणो बहुप्रकारत्वं, न तु भगवन्मूर्तित्वसिद्ध्यै इत्याशयेन उक्तविधे सन्देहे पूर्वोक्तसाधनाय निर्णयमाहेत्यर्थः। ब्रह्मादीनामित्यादि। तथाचाष्टदोषदुष्टस्य विकल्पस्य पूर्वं सत्त्वान्नाधिकारिफलं कर्मभेदप्रयोजकं, किन्तु भगवन्मूर्तित्वमेव प्रयोजकम्। शाखाभेदश्च मन्दार्थमेव, न त्वधिकारिभेदज्ञापनार्थं इत्यर्थः। एतेन पूर्वमायुषा तथाऽनुष्ठानेनाभिव्यक्त्यादिरिदानीमेवमेतावत्करणेऽपि तदिति भगवतो व्यासस्य च कृपालुताऽपि सूचिता ज्ञेया॥ २७॥

एवं पूर्वकाण्डार्थं सपरिकरं निरूप्य उत्तरकाण्डस्यैकवाक्यत्वाय तत्तच्छाखासु तत्तदुपनिषदां पाठे बीजमाहुः पुरुष इत्यादि। तदिति। उत्तरकाण्डप्रतिपाद्यमित्यर्थः। एतेनोत्तरकाण्डप्रमेयमुक्तम्। उक्तार्थगोपायाहुः तथैवेत्यादि। एक एवेत्यादि। एकमेव ब्रह्म तत्स्वरूपमनन्तविधमिति

हौत्रादिकमपि ज्ञातव्यम्। तदेतदाह कर्मवद् ब्रह्मभेदा इति। इदमलौकिकं भवतीत्यत्र प्रमाणमेवाह गीयन्ते बहुधर्षिभिरिति। तेषामध्ययनसिद्ध्यर्थमाह तेषामिति। तावतैव सम्पूर्णशाखाध्यायित्वे विध्यभावादुच्छेदो भवेत्। तर्ह्येक एवार्थः प्रयोजनं वाच्यं च स्यात्। अन्यथा एकवाक्यता न भवेदिति। तत्राह निर्णयः पृथगेव हीति। तेषां पाठार्थमेवैकवाक्यता। निर्णयस्तु पृथगेव व्यासेन कृतः। अतो ज्ञायते वाच्यैकत्वं प्रयोजनैकत्वं च काण्डद्वयस्य नास्तीति। द्वितीयस्याप्यर्थावबोधपर्यन्तमध्ययनम्। स्वाध्यायविधिनैव तस्यापि परिग्रहात्। अन्यथा ब्रह्मणि सन्देहाभावान्निर्णयो व्यर्थः स्यात्। अतः काण्डद्वयं भिन्नमपि एकत्र पठितम्। अंशतः परस्परोपकारार्थं च। आधिभौतिकैर्यज्ञैश्चित्तशुद्धिः। वेदान्तैर्जीवस्वरूपविज्ञानमिति। मुख्यरूपत्वसिद्ध्यर्थं तु पृथङ्निर्णय इति हिशब्दार्थः॥ २८॥

टिप्पणी।

वेदमाहुस्तमङ्गं शिरश्छित्त्वाऽसौ कुरुते कबन्धमि"ति। ब्रह्मणि सन्देहाभावादिति। अर्थानुबोधाभावे[1] ब्रह्मानुपस्थितेरिति भावः। अत इति। एकमूर्तिप्रतिपादनैकार्थत्वाद्भिन्नार्थमपि काण्डद्वयमेकत्र पठितमित्यर्थः। वेदान्तैरिति। उपनिषद्भिर्जीवानां ब्रह्मज्ञानमित्यर्थः॥ २८॥

आवरणभङ्गः।

कथं तज्ज्ञेयमित्याद्याशङ्कायामाहुः इदमित्यादि। ऋषिभिरिति। उपनिषद्रूपैर्वेदवाक्यैरित्यर्थः। ऋषिपदस्य वेदवाचकत्वं, "तदेतद् ऋषिः पश्यन्नवोचदि"त्यादिश्रुतौ, "अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितम्" इति श्रुतिगीतौ चोक्तम्। तावतैवेति। पूर्वकाण्डमात्रेणेत्यर्थः। विध्यभावादिति। अध्यापनाध्ययनविध्योः पूर्वकाण्डाध्ययनमात्रेणैव नैराकाङ्क्ष्याद् वेदान्ताध्ययनाय तदतिरिक्तविध्यभावात्। अर्थ इत्यस्यैव विवरणं प्रयोजनमित्यादि। अन्यथेति। वाच्यप्रयोजनयोर्भेदे। तथाचोभयतःपाशारज्जुरिति भावः। भिन्नवाक्यत्वमेकवाक्यत्वं चेति द्वयमपि समर्थयितुमाहुः तेषामित्यादि। तेषामिति। वेदान्तानाम्। मूले कर्मशाखागता इति। उपनिषद इति शेषः। विवृतौ—एकवाक्यतेति। शाखान्तर्गतत्वम्। नास्तीति। अतो भिन्नवाक्यत्वमेवेति भावः। उपनिषदां शाखान्तर्गतत्वस्य पूर्वोक्तं प्रयोजनं विशदीकुर्वन्ति द्वितीयस्येत्यादि। द्वितीयस्येत्युत्तरकाण्डस्य। अन्यथेति। पाठमात्राध्ययनेऽनध्ययने चार्थज्ञानाभावेनेत्यर्थः। भिन्नवाक्यत्वं समर्थयित्वैकवाक्यत्वं समर्थयन्ति अंशत इत्यादि। शास्त्रैकदेशात्। उपकारं विवृण्वन्ति आधिभौतिकेत्यादि। तथाच विज्ञाते जीवस्वरूपे कर्तृनित्यत्वावगत्या जन्मान्तरभाविनि विश्वासः कर्ममार्गीयस्य। वेदान्तिन उपकारस्तु स्फुट एव। अयं च शास्त्रैकदेशजन्य एव। ननु यागस्य भौतिकत्वे स्वर्लोकस्य फलत्वेनोक्तत्वात् कथं चित्तशुद्धेः फलत्वेन कथनमिति चेन्न, आनुषङ्गिकत्वेन तस्या अदोषात्। अन्यथा देहात्मवादस्मार्तवादादिभिरन्यथा प्रतिपत्त्या मतभेदेन विप्रतिपत्तौ संशये फलाभावप्रसङ्गादिति दिक्। नन्वेवं सति "स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया। वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते" इति प्रयोजनैक्ये भिन्नवाक्यत्वव्याघात इत्यत आहुः मुख्येत्यादि। तथाच रूपभेदेनोभयमप्यविरुद्धमिति भावः॥ २८॥

---

[1] अर्थावबोधाभावे इति पाठान्तरम्।

नन्वर्थावबोधेनैव निःसन्देहो जात इति किं निर्णयेन । अथ अर्थावबोधेन सन्देह-निवृत्तिस्तदा दुष्टा परम्परा स्यादित्याशङ्क्याह—

असन्दिग्धोऽपि वेदार्थः स्थूणाखननवत् कृतः ।
मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम् ॥ २९ ॥

असन्दिग्धोऽपीति । पाठदशायां यद्यपि न सन्देहस्तथापि कालान्तरे सन्देहो भविष्यतीति लक्षणकरणवन्मीमांसाकरणम् । तत्र लौकिको दृष्टान्तः स्थूणाखन-नवदिति । स्थूणा निखाताऽपि पुनरुद्धृत्य निखात्यते । तथा निःसन्दिग्धोऽपि सन्दे-हमापाद्य दार्ढ्याय निरूप्यते मीमांसानिर्णयकारैः । इदमुत्तमं प्रति तेषां प्रयोजनं सफलं भवति । मन्दमध्यमान् प्रति तु सन्देहाभावो दार्ढ्यं चेति द्वयम् ॥ २९ ॥

तत्र निर्णयकर्तारमाह—

जैमिनिः कर्मतत्त्वज्ञो निर्णयं पूर्व उक्तवान् ।
व्यासः स्वयं हि सर्वज्ञ उत्तरे निर्णयं जगौ ॥ ३० ॥

जैमिनिरिति । कर्मज्ञानं करणे हेतुः । उत्तरत्र व्यासः । असर्वज्ञेन तन्निर्णयः कर्तुमशक्य इति सर्वज्ञो व्यास उत्तरत्र कर्ता ॥ ३० ॥

अतः सर्ववेदार्थज्ञानायोभयं ज्ञातव्यमित्याह—

उभयोर्हि परिज्ञाने सर्ववेदार्थनिर्णयः ।
निर्णयो बहुभिर्नष्टः पश्चाद् वक्ष्ये तयोर्गतिम् ॥ ३१ ॥

उभयोर्हीति । ननु निर्णायके विद्यमाने कथं वेदार्थाज्ञानं, कथं वा भगवद्भजनमिति तत्राह निर्णयो बहुभिर्नष्ट इति । अन्यथाव्याख्यातृभिः श्रुतिसूत्रमविचार्य स्वेच्छया वदद्भिः । तर्हि कथं निस्तारस्तत्राह पश्चादिति । गतिमुद्धारप्रकारम् ॥ ३१ ॥

आवरणभङ्गः ।

मीमांसयोः सार्थकत्वबोधनाय किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि । अज्ञादिविचारे-णैव काण्डद्वयात्मको वेदो निःसन्देहो जात इति निर्णयेन जैमिनिना व्यासैश्च कृतेन तेन किमित्यर्थः । लक्षणकरणवदिति । लक्षणग्रन्थस्य प्रातिशाख्यादेः करणवदित्यर्थः । तथाच सन्दे-हनिराकरणार्थं मीमांसाकरणमावश्यकमिति भावः । इदं च ब्रह्मसूत्रभाष्ये प्रथमाधिकरणसिद्धान्ते सम्यक्तया प्रपञ्चितम् ॥ २९ ॥

व्यासोक्तस्य बलिष्ठत्वज्ञापनाय निर्णयकर्त्रोस्तारतम्यं ज्ञापयन्त आहुः तत्रेत्यादि । करण इति । निर्णयकरणे । कर्मज्ञानमित्यादि । एतेन मीमांसयोः प्रमाणप्रमेयसाधनफलैः प्रमेयबलं सूचितम् । यद् वैदिके बलं तदेव बलमिति ॥ ३० ॥

पश्चादिति । उत्तरग्रन्थे, वर्णाश्रमवतां धर्म इत्यत्र, ज्ञाने यत्नीत्यत्र च यथायथं वक्ष्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

उपसंहरन् पूर्वोक्तमर्थं स्पष्टमाह—

पुरुषो विहितः षोढा करौ पादौ शिरोऽन्तरम् ।
शिरो ब्रह्म हरिः पूर्वं यज्ञः पञ्चविधः स्वयम् ।
अनन्तमूर्त्तिर्भगवांस्तेन शाखास्तथा कृताः ॥ ३२ ॥

पुरुष इति । षोढा षट्प्रकारः । अन्तरं मध्यम् । तत्र षट्सु शिरो ब्रह्म । सम्पूर्णः पुरुषोऽनन्तमूर्त्तिः । तेनानन्ताः शाखाः कृता इति सर्वो वेदः प्रमाणम् ॥ ३२ ॥

एवं वेदं निर्णीय स्मृतिनिर्णयमाह—

स्मृतिर्बहुविधा प्रोक्ता वेदाचारविभेदतः ।
ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणं स्मृतिरुच्यते ॥ ३३ ॥

स्मृतिर्बहुविधेति । वेदवन्न स्मृतिनिर्णयः । वेदे हि—पञ्चात्मको द्विरूपः षडङ्ग-

---

आवरणभङ्गः ।

पूर्वोक्तमर्थमिति । यज्ञस्य भगवद्रूपत्वरूपं पूर्वकाण्डीयं, ब्रह्मणो हरित्वरूपमुत्तरकाण्डीयं चेत्यर्थः । षोढेत्यादि । तथाचाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासौ करौ, पशुचातुर्मास्ययागौ पादौ, सोमो मध्यम् । अत्रापि श्रुतिर्द्रष्टव्या शाखान्तरे । शिरो ब्रह्मेति । "ऋचां मूर्द्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्डमि"ति कौशीतकिश्रुतेरित्यर्थः । अत्र पूर्वकाण्डप्रमेयविचार इदं सिद्धम्—यज्ञो भगवदात्मकः क्रियारूपः प्रमेयं, तदभिव्यञ्जिका लौकिकी क्रिया । साऽपि वेदान्तोक्तज्ञानसहितैव तथैति मर्यादायां ज्ञानकर्मसमुच्चय एवेति साधनम् । तथाच, "मुक्तसङ्गोऽनहंवादी"तिलक्षणकः सात्त्विकः कर्ता, "सर्वभूतेषु येनैकमि"ति सात्त्विकज्ञानयुक्तो"ऽफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञ" इत्युक्तप्रकारेण सात्त्विकं यज्ञं करोति तदा स्वाज्ञाकरणसन्तुष्टेन भगवता यज्ञरूपाभिव्यक्तिद्वारा क्रममुक्तिर्दीयते । अतिकृपया तु सद्यो मुक्तिः । अत्र यथायथं यज्ञाभिव्यक्तिः, कृपा च द्वारभूता । सात्त्विकज्ञानाभावे तु, पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानमिति राजसज्ञानवाँश्चेत् सात्त्विकः सात्त्विकं यागं करोति, तदा नित्यकर्मणामाध्यात्मिकत्वे फलाकाङ्क्षाराहित्येन यथोक्तकर्मकरणात् कर्मसचिवानां देवानां तोषद्वारा वाक्यशेषोक्तमात्मसुखं योगिनामिव यथासङ्कल्पं भवति । तत्र देवताप्रीतिर्वा, द्रव्येण प्रीता देवतैव वा व्यापारः । राजसज्ञानवान् "रागी कर्मफलप्रेप्सुरि"ति लक्षणको राजसश्चेद्, "अभिसन्धाय तु फलमि"तिलक्षणकं राजसं यागं करोति तदा यागस्य भौतिकत्वे स्वर्लोकोऽपूर्वद्वारा भवति । तत्रापूर्वमेव व्यापार इति सव्यापारं फलमिति । सिद्धमाहुः सम्पूर्ण इत्यादि । प्रमाणमिति । स्वोक्तार्थस्य भगवद्रूपत्वप्रमाजनक इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

एवं बलनिश्चायनार्थं, वेदा इति प्रमाणमध्ये प्रथमोद्दिष्टस्य वेदस्य प्रमेयभूतो विषयो निर्णीतः । अतः परं श्रीकृष्णवाक्यानां निर्णेतव्यः । तेषां च पूर्वं स्मृतित्वेनोक्तत्वाद् वेदनिर्णायकत्वार्थं स्मृत्यन्तरापेक्षयोत्कृष्टत्वं च वक्तव्यम् । अविद्वांस्तु "यत्तस्ये"ति, "द्वापरादौ तु धर्मस्ये"ति पूर्वोक्तमपि विशदीकरिष्यन्तः स्मार्तप्रमेयस्य बलनिश्चायनाय स्मृतिं निर्णिनीषन्ति । एवमित्यादि । ननु स्मृतिनिर्णयो न पार्थक्येन कर्तव्यः । तासां वेदमूलकत्वात् तन्निर्णयदिशा स्मृतिनिर्णयस्यापि सिद्धेरित्यत आहुः वेदवन्नेत्यादि । कथं बहुविधेत्याकाङ्क्षायां हेतुं प्राहुः

सहितो निरूपितः । न तथा स्मृतिः । किन्तु बहुविधा । अत्र वेदोऽपि मूलं, व्यवहारोऽपीति । तदाह वेदाचारविभेदत इति । स्मृतेर्लक्षणमाह ऋषीणामिति । स्मरणं स्मृतिः ॥ ३३ ॥

तस्य स्मरणस्यानुभव एव मूलम् । स त्वनुभवो बहुधा जायत इत्याह—

तदाचाराल्लोकतश्च न्यायान्नित्यानुमेयतः ।
प्रवृत्तिर्जीविका लोके व्यवहारो विशुद्धता ॥ ३४ ॥

तदाचारादिति । पूर्वकल्पे यथाचारः स्थित ऋषीणां यथा वा लोकव्यवहारः । तत्रापि देशभेदेन यो देशाचारो येन ऋषिणा स्मृतस्तेन तथोपनिबद्ध इति चकारार्थः । न्यायोऽपि मूलम् । सोऽपि पूर्वकल्पस्थितः । एते त्रयोऽपि व्यवहारोपयोगिनः । धर्मोपयोगनीं स्मृतिमाह नित्यानुमेयत इति । योगबलेन नित्यानुमेयवेदं स्मृत्वा यद्यादिषु स्तदवश्यकृत्यम् । चतुर्णां फलमाह प्रवृत्तिरिति । आचाराल्लोके प्रवृत्तिः । प्रकर्षेण स्थितिर्भवति । लोकानुसरणे जीविका भवति । न्यायेन व्यवहारः । नित्यानुमेयवेदोक्तेन विशुद्धता भवति । अनेनैव वेदार्थे तस्या उपयोगः । ननु प्रत्यक्ष एव वेदो मूलमस्तु,

---

आवरणभङ्गः ।

अत्रेत्यादि । आचारमूलकत्वं वैसर्जनाधिकरणाज्ज्ञेयम् । तथाच न वेदार्थनिर्णयेनैतन्निर्णयसिद्धिरिति पृथग् निर्णय आवश्यक इत्यर्थः । स्मृतेरिति । स्मृतीनामुभयमूलकत्वं बोधयितुं तल्लक्षणमाहेत्यर्थः । ऋषीणामिति । कर्तृषष्ठी । तेन ऋषिकर्तृकं पूर्वाचारस्मरणप्रयुक्तं वाक्यं स्मृतिरित्यर्थः । इति प्रमाणस्वरूपमुक्तम् । एतेन "स्वयम्भूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा । शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारका" इति । "न केचिद् वेदकर्तारो वेदस्मर्ता चतुर्मुखः" इति देवीपुराणपराशरस्मृत्योर्वाक्याद् वेदस्यापि स्मृतिगोचरत्वेन स्मृतित्वप्रसक्तिर्निरस्ता तत्र शब्दस्यैव स्मृतिगोचरत्वात् स्मृतौ त्वर्थस्य तथात्वादिति ॥ ३३ ॥

तत्रापीत्यादि । एतेन स्मृत्यंशविशेषाणामितरेतरविरोधः परिहृतः । तत्तद्देशविशेषाचारे तस्य तस्य सावकाशत्वेन व्यवस्थिततत्वादविरोधात् । यथा वर्णव्यवस्थितदशद्वादशपञ्चदशाहमासाशौचसर्वसाधारणदशाहाशौचपक्षयोः । न्याय इति । ब्राह्म—बाहुदन्तक—पौरन्दर—बार्हस्पत्यौशनस—प्राचेतसादिरूपं नीतिशास्त्रम् । एते त्रय इति । आचारलोकन्याया व्यवहारोपयोगिनो व्यवहाराध्यायमूलभूतत्वात् तथेत्यर्थः । धर्मोपयोगिनीमिति । गृह्यसूत्राचारप्रायश्चित्ताध्यायरूपां यागाद्युपयोगिनीमित्यर्थः । तस्याः कुत एवं भाव इत्याकाङ्क्षायामाहुः योगेत्यादि । प्रकर्षेण स्थितिरिति । तद्विषयत्वेन वक्ष्यमाणानां व्रततीर्थगत्यादिकर्मणां प्रवाह इत्यर्थः । अनेनैवेति । विशुद्धिजनकत्वेनैव । उपयोग इति । साक्षादुपकारकत्वम् । उत्सन्नप्रच्छन्नविप्रकीर्णशाखामूलकत्ववादिनिरासाय किञ्चिदाशङ्कन्ते नन्वित्यादि । अत्रायमर्थः । "धर्मस्य शब्दमूलत्वाद्, अशब्दमनपेक्षं स्यादि"ति स्मृत्यधिकरणपूर्वपक्षसूत्रे अचोदनामूलस्य स्मृतिवाक्यस्यानादरणीयत्वमुक्तम् । तत्र कथमचोदनामूलत्वमित्याकाङ्क्षायां, किं तेषां प्रत्यक्षचोदनामूलत्वमुतोत्सन्नचोदनामूलत्वमथवा

किं नित्यानुमेयवेदेन, अनुपलब्धेरिति चेद्, उत्सन्नशाखा प्रच्छन्नशाखा वा मूलं भविष्यतीति। मैवम्, व्यासादिभिरपि सर्ववेदद्रष्टृभिरप्यनुमानत्वेन निरूपणात्। "अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यादि"ति। प्रत्यक्षवेदमूलत्वेनानुमानं भवेत्। अतः स्मृत्या अनुमेय एव वेदो भवतीति नित्यानुमेय एव वेदो मूलम्। अन्यथा वेदव्यासः, स्मृतेश्चेति न वदेत्। विद्यमाने प्रत्यक्षवेदे किमिति द्व्यन्तरितामुदाहरेत् ॥ ३४ ॥

टिप्पणी।

द्व्यन्तरितामिति। वेदादर्थमादाय स्मृतिप्रवृत्तेर्वेदवेदाभ्यामन्तरिता स्मृतिरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

आवरणभङ्गः।

प्रच्छन्नचोदनामूलत्वमाहोस्विन्नित्यानुमेयतन्मूलत्वं, किं वा विप्रकीर्णतन्मूलत्वमिति विमर्शे, नाद्यः, तदनुपलम्भात्; उपलभ्यमानत्वे स्मृतिप्रणयनवैयर्थ्यापातात्। न द्वितीयः, स्मार्तमूलश्रुतिसङ्घातात्मकशाखोत्सादाङ्गीकारे, "सहस्रं सामशाखा, एकशतमध्वर्युशाखा, एकविंशतिशाखं बाह्वृचमि"त्यादिशाखापरिमाणस्य महाभाष्यादिप्रसिद्धत्वेन तदतिरिक्ताभावनिश्चयात्, तासां च तदा प्रसिद्धतया उत्सादस्याशक्यवचनत्वात्। अध्येतॄणामत्यन्तावहितत्वेन सर्वशाखागततावन्मात्रश्रुत्युत्सादाङ्गीकारस्याप्यशक्यवचनत्वाच्च। न तृतीयः, गगनाप्रसिद्धयैव प्रच्छन्नत्वनिरासात्। न तुरीयः, अन्धपरम्परापत्तेः। नच लिङ्गादिभिः श्रुत्यनुमानवत् स्मृत्या श्रुत्यनुमाने कोऽपि न दोष इति वाच्यम्। लिङ्गादीनां श्रौतत्वेन स्मृतीनां च पौरुषेयत्वेन पुरुषदोषशङ्काकलङ्किततया तद्वैषम्यात्। किञ्च, स्मरणस्यानुभवसमानाकारविषयत्वनियमेन, "अष्टका कर्तव्ये"ति स्मृत्या अष्टकाकर्तव्यताज्ञानं स्मृतिकारस्यानुमेयम्। तेन तादृशश्रुतिस्वरूपं, तेन श्रुतिज्ञानं च कल्पयित्वा स्मृतिप्रामाण्यं साधनीयमिति गौरवप्रयासबाहुल्यम्। गुरुमते ज्ञानमात्रस्य स्वतःप्रामाण्यादनुमानस्याऽर्थमात्रे पर्यवसानान्न श्रुतिकल्पनपर्यन्तं तस्य प्रसर इत्यपि। तस्माद् विप्रकीर्णशाखामूलत्वं स्मृतीनां युक्तम्। विप्रकीर्णत्वं च भिन्नदेशपठितत्वम्। तच्च परप्रकरणपठितत्वम्। आरभ्याधीतमिति यावत्। तथाच नित्यानुमेयपक्षेऽन्धपरम्परया रूपनिर्णयवत् स्मृतिप्रमेयमूलनिर्णयो न कथमपि शक्यवचन इति विप्रकीर्णपक्ष एव साधीयानित्याहुः। तदेतदुक्तम्, अनुपलब्धेरिति। सिद्धान्तमाहुः मैवमित्यादि। अनुमानत्वेनेति। अत्र कर्मव्युत्पत्तिः। अनुमेयत्वेन वेदस्येत्यर्थः। स्मृतीनामनुमानत्वेनेति वा। तदर्थं द्वादशलक्षणीस्मृतिपादस्थद्वितीयसूत्रं प्रमाणत्वेनाहुः। अपि वेत्यादि। नानुमानं भवेदिति। जैमिनेरिति शेषः। तथाच, तथा सति प्रमाणं विप्रकीर्णं स्यादित्येव वदेत्। अन्धपरम्परात्वं, योगबलेनेत्यादिना प्रागेव निरस्तम्। एतेन सूत्रोपन्यासेन स्मृतिपादोक्तरीत्या स्मृतीनां प्रामाण्यमपि स्मारितं ज्ञेयम्। ननु "स सामग" इति तस्य वेदान्तराज्ञानं सम्भाव्यत इत्याशङ्कायामाहुः। अन्यथेत्यादि। अन्यथा दाशकितवादिश्रुतिवदनुभवे। द्व्यन्तरितामिति। धर्मादिविषया स्मृतिस्तदनुभवजन्या, स्मृतित्वात्, स्मृत्यन्तरवदित्यादिनाऽनुभवानुमाने तेन च तादृशार्थानुमाने स्मृतिः श्रुतिमपेक्ष्य द्वाभ्यामनुभवार्थाभ्यामन्तरिता भवतीति तथेत्यर्थः। नच वेदमेव स्मृत्वा तदर्थस्योपनिबद्धुं शक्यत्वादेकान्तरितत्वमेव, न द्व्यन्तरि-

ननु दृश्यते स्मृतिसम्वादी वेदभागः। यथा "धन्वन्निव प्रपा असि", "नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात्", "न विवसनः स्नायादि"त्यादि। तत्राह—

सम्वादे चान्यशेषत्वान्न स्मृत्यर्थं स्पृशेच्छ्रुतिः।
गृहादिरिव देहस्य धर्मस्योपकृतिः स्मृतिः।
उभयोः समवाये तु धर्मः पुष्टो, न चाऽन्यथा॥ ३५॥

सम्वादे चान्यशेषत्वादिति। वेदे हि प्रकरणं सर्वत्र नियामकम्। तस्मादाहिताग्निर्नानृतं वदेदिति। न हि आहिताग्नेरनृतनिषेधकं सर्वेषां भवति। नाप्यधिविष्टकोपधानकर्तुर्जलनिष्ठीवनादिनिषेधः सर्वेषां भवति। नापि प्रपाया लोकसिद्धाया दृष्टान्तार्थं कीर्त्तितायास्तदेव वाक्यं विधायकं भवति। वाक्यभेदप्रसङ्गात्। यथा वेदेषु क्वचित् सम्वादो भिन्नशेषाणां नाभागोपाख्यानादीनाम्। तथा नित्यानुमेयवेदार्थेनापीति न स्मृत्यर्थं श्रुतिः प्रत्यक्षा स्पृशतीत्यर्थः। ननु किं स्मृत्येत्याशङ्क्याह गृहादिरिवेति। देहस्थानीयो वैदिको धर्मः। गृहस्थानीयः स्मार्तः। उभाभ्यां जीवः। सुखी नान्यथा॥ ३५॥

टिप्पणी।

वाक्यभेदेति। अग्निस्तुतिप्रपाविधानयोर्भेदादर्थैक्याभावादित्यर्थः।॥ ३५॥

आवरणभङ्गः।

तत्त्वमिति शङ्क्यम्। यागबलेन वेदमनुभूय तत्कथनस्यापि शक्यवचनत्वेन तस्य भागस्य स्मृतित्वोच्छेदप्रसङ्गात्। अतो नित्यानुमेयवेदमूलत्वमेव साधीय इति निश्चयः। अत एव पितामहस्मृतिर्विष्णुस्मृतिश्च युज्यते॥ ३४॥

कस्मिंश्चिदंशे पुनरव्याप्तिं हृदि कृत्वा विप्रकीर्णशाखामूलत्वमाशङ्कन्ते ननु दृश्यत इत्यादि। समाधिमाहुः वेदे हीत्यादि। मूले सम्वादे चेति चकारोऽप्यर्थे। तदेवेत्यादि। कुमारशिखाधारणवत्। तेन विध्युन्नयने तस्यानुमेयत्वेन नित्यानुमेयानतिरिक्तत्वात् तन्मूलकत्वादेतस्य विधायकताया अशक्यत्वात्। वाक्येत्यादि। श्रौतानां प्रकरणावरुद्धत्वेन सङ्कुचितत्वात् तदनाहत्य साधारणत्वेऽधिकार्यन्तरप्रवेशेन वाक्यं भिद्येतेत्यर्थः। तस्मान्न विप्रकीर्णपक्षो युक्त इति भावः। तर्हि सम्वादस्य कथं सङ्गतिरित्यत आहुः। यथेत्यादि। तथाच प्रत्यक्षवेदवदन्यशेषत्वेन सङ्गतिरिति न पूर्वोक्तलक्षणे दोष इति भावः। एवं सिद्धायां लक्षणशुद्धौ योंऽशो वेदमूलकः, सोऽप्याचारान्तरितत्वान्मूलभूतवेदस्यैतद्वैलक्षण्याच्च न वेदनिर्णयेन निर्णीतो भवतीति पृथक्तया स्मृतिनिर्णय आवश्यक इति साधितम्। एवं स्मृतीनां प्रामाण्यं तन्निर्णयावश्यकत्वं च साधयित्वा प्रयोजनविमर्शायाहुः नन्वित्यादि। मूले, उपकृतिपदेन उपकरणभूतोऽर्थ उच्यते। देहस्थानीयेत्यादिना च विव्रियते। तथाच स्वाध्यायाध्ययनयागतपोब्रह्मविचाराणां धर्माणां यथायथमाश्रमैकसाध्यत्वात् तन्निरूपिकाणां तद्धर्मनिरूपिकाणाञ्च स्मृतीनां वैदिकधर्मपोषणमेव प्रयोजनमित्यर्थः॥३५॥

नित्यानुमेयवेदमूलिकायाः स्मृतेरर्थमाह—

गर्भाधानादिसंस्कारा सन्ध्योपास्त्यादिकं तथा ।
नित्यश्राद्धादिकर्माणि पाकयज्ञादिकं तथा ॥ ३६ ॥

गर्भाधानादीति । षोडश संस्काराः सन्ध्योपासनं कालादिसहितम् । न हि तादृशानुपूर्वीविशिष्टं, "रक्षांसि ह वा पुरोऽनुवाक" इत्यत्र वर्त्तते । नित्यश्राद्धादिविधानं मासश्राद्धविधिः । पाकयज्ञाः स्थालीपाकादयः । आदिशब्देन वैश्वदेवादिकमपि । गृह्योक्तमखिलमिति यावत् ॥ ३६ ॥

प्रायश्चित्तमिति ह्येष पञ्चधा कर्मसङ्ग्रहः ।
नित्यानुमेयवेदस्तु मूलं पञ्चविधस्य हि ॥ ३७ ॥

प्रायश्चित्तं पातकादीनाम् ॥ ३७ ॥

व्रततीर्थादीनामपि नित्यानुमेयो मूलं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

व्रततीर्थादिकं काम्यं नित्यवद् बोध्यते क्वचित् ।
पूर्वाचारेण सम्प्राप्तं पुराणं मूलमस्य हि ॥ ३८ ॥

व्रततीर्थादिकमिति । श्रुतिमूलत्वे ब्राह्मणानामपि नित्यं कर्तव्यानि स्युरिति

आवरणभङ्गः ।

नित्येत्यादि । या धर्ममुपकरोतीति द्वाभ्यां विषयनिर्देशेन तां ज्ञापयितुं तस्याः प्रमेयमाहेत्यर्थः । षोडशेति । "गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात् पुरे"त्यादिना निरूपिताः । गर्भाधानादिसंस्काराभावे शुद्ध्यभावेनाधिकारार्थं तत्कथनमावश्यकम् । उत्तरसंस्काराभावे फलप्रतिबन्ध इति तदपि तथा । एवं सन्ध्योपास्त्यादिकमपि शुद्धिजनकत्वेन कर्माधिकारसम्पादकम् । "सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमि"ति, "शौचाचारविहीनानां समस्ता निष्फलाः क्रिया" इत्यादिवाक्यात् । "अकाले विहिता सन्ध्या या सा वन्ध्या वधूरिवे"ति, "दिवोदितानि कर्माणि प्रमादादकृतानि चेत् । यामिन्याः प्रहरं यावत्तावत्सर्वाणि कारयेद्" इति च । प्रत्यक्षवेदमूलकत्वाभावायाहुः । न हीत्यादि । एवमेव नित्यश्राद्धादिषु शुद्धिहेतुत्वं प्रत्यक्षवेदमूलकत्वाभावश्च ज्ञातव्यः, एवं वैश्वदेवमपि पञ्चसूनापनुत्तयेऽन्नशुद्ध्यै चावश्यकम् । प्रायश्चित्तमपि तथा । तेन शुद्धौ कर्मयोग्यत्वसम्भवादिति । स्थालीपाकादय इति । सप्त पाकयज्ञाः । औपासनहोमो, वैश्वदेवं, पार्वणम्, अष्टका, मासिकश्राद्धं, सर्पबलिरीशानबलिरिति । एतदेव विवृण्वन्ति आदिशब्देनेत्यादि यावदित्यन्तम् ॥ ३६ ॥

प्रायश्चित्तादीनामित्यादिपदं कर्मविपाकसङ्ग्रहार्थम् । एवं वेदमूलिका विशुद्धिफलिका स्मृतिर्विचारिता ॥ ३७ ॥

पौराणाचारमूलिकां प्रवृत्तिफलिकां विचारयन्ति व्रतेत्यादि । भविष्यतीति । तेषामपि शुद्धिजनकत्वाविशेषाद् भविष्यतीत्यर्थः । काम्यत्वे गमकमाहुः श्रुतीत्यादि । तीर्थानित्यत्वं, साऽग्निकस्याग्निं विहाय तीर्थगमननिषेधस्य वाक्ये दर्शनात् । व्रताऽनित्यत्वं च, "अनड्वान् ब्रह्मचारी

काम्यमित्युक्तम् । किन्तु वेदानधिकृतानां तन्नित्यं भवतीति नित्यवद् बोध्यते । तस्य च मूलं पुराणम्, तथा सति स्मृतित्वं कथमिति चेत्, तत्राह पूर्वाचारेण सम्प्राप्तमिति । न हि पुराणं दृष्ट्वा तस्य निर्माणम्, किन्तु आचारादेव ॥ ३८ ॥

इदानीमाचारः कुत्र मूलमित्याकाङ्क्षायामाह—

कृष्यादिजीविकाशास्त्रं पूर्वर्ष्याचारतः प्रमा ।
करदण्डादिशास्त्रस्य मूलं युक्तिः पुराविदाम् ॥ ३९ ॥

कृष्यादीति । षड्गवादिभागदानादिविधानं पूर्वर्ष्याचारतः प्राप्तं तथैव कर्त्तव्यं प्रमाणमित्यर्थः । करदण्डादेर्युक्तिर्मूलम् । करोऽत्र कृषिव्यतिरिक्तः ॥ ३९ ॥

टिप्पणी ।

षड्गवादीति । एकस्मिन्दिवसे एकहले वृषभाणां युग्मत्रयं क्रमेण योज्यमेवमेकहले षड्वृषभा भवन्ति । आदिपदात्समये तृणजलादिकं गृह्यते । भागः षष्ठांशादिः ॥ ३९ ॥

आवरणभङ्गः ।

च दीक्षितश्चेति ते त्रयः । अश्नन्त एव सिद्ध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नतामि"ति वाक्याच्च ज्ञेयम् । तेन वेदे यथा नित्यकर्मसिद्ध्यर्थं चित्रोद्भिदादिबोधनं तथा स्मृताविदमित्यर्थः । तर्हि नित्यवत् कुतो बोध्यत इत्याशङ्कायामाहुः । किन्त्वित्यादि । कथमिति । वेदमूलकत्वाभावात् कथमित्यर्थः । आचारादेवेति । सदाचारमूलकत्वं तस्या इत्यर्थः । एतेन व्रततीर्थादिप्रवाहरक्षापूर्वर्ष्याचारादेवेति सिद्ध्यतीति प्रवृत्तिर्जीविकेत्युक्तस्य फलस्यापि न विरोधः ॥ ३८ ॥

एवं पौराणाचारमूलिकाया विचारेण तस्याः प्रमेयमुक्तम् । लोकमूलिकां विचारयन्ति इदानीमित्यादि । आचारत इति । लोकाचारात् । कृष्यादिपदसङ्ग्राह्यं तत्प्रमेयं दिङ्मात्रेणाहुः षडित्यादि । "षट्कर्माऽभिरतो नित्यं कृषिकर्म समाचरेत् । हलमष्टगवं श्रेष्ठं षड्गवं मध्यमं स्मृतम् । चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं वृषघातिनामि"ति । "विप्रस्यैवम्विधा वृत्तिस्तृणं काष्ठं च विक्रयेदि"त्यादिपराशरोक्तजातीयकम् । "पिता चेत् पुत्रान् विभजेत् तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेऽर्थे, पैतामहे त्वर्थे पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वं, पितृविभक्ता विभागानन्तरोत्पन्नस्य सम्विभागं दद्युरि"त्यादिविष्णूक्तजातीयम् । आदिपदेन प्रतिग्रहादिरूपञ्च विधानं कार्यम्, आपद्यपि धर्मरक्षणाय तदुक्तरीत्यैव कर्तव्यम् । यतः पूर्वर्ष्याचारप्राप्तमतस्तच्छास्त्रं प्रमाणमिति मूलाभिप्राय इत्यर्थः । नीतिशास्त्रमूलिकां विचारयन्ति करेत्यादि । सपरिकरायाः कृषेरुक्तौ तदन्तर्गतो राजभागोऽप्युक्तप्राय एवेति पुनः कथनमयुक्तमित्यत आहुः कृषिव्यतिरिक्त इति । उत्कोचादिरूप इत्यर्थः । दण्डस्तु "यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन यातये"त्यादि । "अदुष्टां च त्यजन् दण्ड्यो दूषयँस्तु मृषाशतम्" इत्यादि । "धिग्दण्डं प्रथमं दद्यादि"त्यादिविष्णुयाज्ञवल्क्यमनूक्तजातीयो ज्ञेयः । एवं कर्तृशोधकः स्मृतिभागो विचारितः । नीतिमूलिकायाः प्रमेयं चोक्तम् ॥ ३९ ॥

द्रव्यादिशुद्धौ विकल्पमाह—

शुद्धिं केचित् पृथक् प्राहुः संस्कारः कस्यचिन्मतः।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मविभेदतः ॥ ४० ॥
षोढा शुद्धिः स्मृता साऽपि द्विधा ह्यन्योन्यतः स्वतः।

शुद्धिमिति। संस्कारपक्षे वेदो मूलम्। पृथक्पक्षे आचार इति। प्रसङ्गाच्छुद्धेः स्वरूपमाह देशकालेति। षड्भिः शुद्धिः षण्णाञ्च शुद्धिरिति द्विधा ॥ ४० ॥

सर्वशेषत्वान्न वेदो मूलमित्यभिप्रायेणाह—

सर्वशेषेयमाख्याता श्रुत्यर्थेऽपि विशेषतः।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मो ह्यन्यथा भवेत् ॥ ४१ ॥

सर्वशेषेयमिति। बाधकमाह धर्म इति ॥ ४१ ॥

टिप्पणी।

सर्वशेषत्वादिति। बाधकमाहेति। शुद्धेरङ्गत्वाभावे शुद्धिं विना षड्भिर्धर्मो न स्यादिति बाधकमाहेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

आवरणभङ्गः।

इदानीं देशादिशोधकं शुद्धिस्वरूपविचारमाहुः द्रव्यादीति। शुद्धाविति। शुद्धिस्वरूपे। विकल्पे बीजमाहुः। संस्कारेत्यादि। पृथगिति। पदार्थान्तरम्। प्रसङ्गादित्यादि। संस्कारपक्षे कर्मयोग्यतात्मकातिशयरूपं सिद्धमिति पृथक्पक्षेऽपि स्वरूपस्योपेक्षानर्हत्वात् पृथक्त्वं विवेक्तुं तत्स्वरूपमाहेत्यर्थः। षड्भिरित्यादि। तथाचान्योन्यतः शुद्धौ संस्काररूपत्वस्य शक्यवचनत्वेऽपि स्वतः शुद्धौ संस्कारत्वस्याशक्यवचनत्वात् तत्स्वरूपं संस्कारात् पृथगेवेत्यर्थः। उदाहरणन्तु, "नवं वा निर्मलं वापि शुचीति द्रव्यमुच्यते" इति शुचिसञ्ज्ञामभिधाय, "अथ सर्वाणि धान्यानि वस्त्राण्याभरणानि च। अवर्ज्यावर्ज्यज्ञानानि शुचीन्येतानिं केवलमि"ति। "स्वयमेव हि यद् द्रव्यं केवलं मेध्यतां गतम्। स्थावरं जङ्गमं वापि स्वयं शुद्धिमिति स्मृतमि"ति स्वयं शुद्धसञ्ज्ञामभिधाय, "वसतिश्चमसो यानं वाहनं साधनानि च। क्षुरो नौरासनं चेति स्वयं शुद्धमिति स्मृतमि"ति देवलस्मृतौ। अत्र धान्यादीनां शुचित्वेऽपि, "व्रीहीन् प्रोक्षती"त्यादिना तत्तत्संस्कारविधानात् तत्पूर्वकालीनं धान्यादिशुचित्वात्मकं शुद्धिस्वरूपं विविक्तं भवति। हेमाद्रिस्तु—अशुद्धिर्नाम द्रव्यादेः स्पर्शनाद्यनर्हतापादको दोषविशेषः। संस्कारविशेषोत्पादिता तन्निवृत्तिः शुद्धिरित्याह। तद् देवलवचनविरोधाच्चिन्त्यम्। अत्र च षड्भिः शुद्धिर्यथा—व्रीह्यादेः सत्पात्रस्थत्वं, नवत्वं, श्रृतत्वं, तद्दत्विगुच्चृतत्वं, मन्त्रपूतत्वं, कृताऽऽग्रयणत्वमित्येवं बोध्या ॥ ४० ॥

सर्वेत्यादि। पृथग्रूपायाः शुद्धेर्जीविकादिशेषत्वेनापि कथनात् तथेत्यर्थः। बाधकमिति। शुद्ध्यभावे बाधकम्। तथाच पृथक्पक्षोक्ता श्रौतोपयोगिनीत्यर्थः। मूलं त्वेवं योज्यम्। इयं शुद्धिः सर्वशेषा आख्याता, श्रुत्यर्थे विशेषत आख्याता। हि यतो हेतोर्धर्मः षड्भिः कालादिभिः सम्पद्यते, अतस्तस्या विशेषतः श्रुत्यर्थशेषत्वं युक्तम्। अन्यथा कालाद्यशुद्धौ अधर्मो भवेदिति। एतेन साधनमुक्तं ज्ञेयम् ॥ ४१ ॥

कल्पसूत्राणामृषिप्रणीतत्वात्स्मृतित्वमाशङ्क्य परिहरति—

कल्पसूत्रेषु वेदत्वं स्मृतित्वं च प्रतीयते ।
अर्थतः कर्तृतश्चापि वेदत्वं पाठतः स्मृतिः ॥ ४२ ॥

कल्पसूत्रेष्विति । व्यवस्थामाह । अर्थत इति । अर्थो वैदिकः । स्वराद्यभावात्, कर्तुः स्मरणाच्च स्मृतित्वम् ॥ ४२ ॥

तर्हि अर्थस्य वैदिकत्वे को हेतुस्तत्राह—

सौकर्यार्थं कृतिस्तस्य सङ्कलीकृत्य वर्णनात् ।
तेनापि क्रियमाणस्तु धर्मः श्रौतो भवेद् ध्रुवम् ॥ ४३ ॥

सौकर्यार्थमिति । कर्मज्ञानार्थमेव कल्पसूत्रं द्रष्टव्यम् । न तु तदुक्तत्वेन कर्तव्यमिति मुख्यः पक्षः । गौणमाह तेनापीति । आधुनिकानां सङ्ग्रहार्थमुक्तम् ॥ ४३ ॥

गृह्याणां श्रौतत्वमाशङ्क्य परिहरति—

इष्ट्यौपासनकर्माणि न श्रौतानि कथञ्चन ।
भेदाद्वैजात्यतश्चापि काल एकस्तयोः परम् ॥ ४४ ॥

इष्टीति । इष्टी स्थालीपाकः । तत्र हेतुः—भेदादिति । अग्न्यादि सर्वं श्रौतस्मार्तयोर्भिन्नं विजातीयं च । तर्हि कथमेककालविधानं तत्राह काल एक इति ॥ ४४ ॥

आवरणभङ्गः ।

व्यवस्थामाहेति । उभयरूपत्वं युक्तमेवेति वक्तुं तामाहेत्यर्थः । वैदिक इति । नित्यानुमेयातिरिक्तश्रुतिप्रसिद्धः । पाठत इत्यस्य विवरणं स्वराद्यभावादिति । तथाच, अर्थतो वेदत्वं, कर्तृतः पाठतश्च कल्पसूत्रेषु स्मृतित्वमपि भवतीति मूलयोजना ॥ ४२ ॥

तर्हीति । हेतुद्वयेन चेत् स्मृतित्वं दृढं तर्हीत्यर्थः । सौकर्यार्थमिति । प्रत्यक्षवेदमवलोक्य साङ्गप्रधानयोरैक्यप्रकारपरिचयार्थम् । अर्थस्य वैदिकत्वाय बीजभूतं ज्ञानप्रकारमाहुः कर्मेत्यादि । मुख्य इति । मरीच्यादिभिः क्रियमाणः । तेनापीति । वेदाङ्गभूतकल्पसूत्रोक्तत्वेनापि । मूले, ध्रुवमित्यनेन, सङ्कलीकृत्य वर्णनात् पूर्वं तस्य वाक्यस्य श्रुतिरूपत्वादिति हेतुरभिप्रेयते ॥ ४३ ॥

गृह्याणामित्यादि । उक्तयैव दिशा गृह्योक्तधर्माणां श्रौतत्वमाशङ्क्य वक्ष्यमाणहेतुभ्यां तत् परिहरतीत्यर्थः । भिन्नं विजातीयमिति । नाम्ना भिन्नं धर्मेण विजातीयमित्यर्थः । तर्हीति । स्मार्तस्य कल्पोक्तधर्मतुल्यत्वाभावे ॥ ४४ ॥

तथापि श्रौतस्य बलवत्त्वाय निर्णयमाह—

कालबाधान्न कर्तव्यं स्मार्तं श्रौतो बली यतः।
पश्चाद्वा गौणकालेऽपि कर्तव्यमिति केचन ॥ ४५ ॥

कालबाधादिति। मुख्ये काले बलिष्ठत्वाच्छ्रौतमेव कर्तव्यम्। अतः कालस्य निमित्तस्याभावात् स्मार्तं न कर्तव्यम्। अत एव सर्वाधानविधिः। पक्षान्तरमाह— पश्चादिति ॥ ४५ ॥

एवं श्रौतस्य बलिष्ठत्वायासहायशूरता निरूपिता क्वचित्, तथा स्मार्तस्यापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

स्मार्तमात्रस्य करणादाभासो ब्राह्मणो भवेत्।
स्वर्गाभासाद्यपि फलं श्रौतमात्रेऽपि चाखिलम् ॥ ४६ ॥

स्मार्तमात्रस्येति। ब्रह्म वेदः, तद्वेत्तीति ब्राह्मणः। स्मृतिरपि वेदमूलिकेति द्व्यन्तरितत्वात् प्रतिबिम्बवदाभासो भवति। अतो ब्राह्मणोऽपि तादृश आभासः। फलं च तथेत्याह स्वर्गाभासेति। चित्तशुद्धौ वासनाक्षयाभावो, दैत्योपहतलोके च स्थितिरिति। श्रौते तद्विपरीतमाह श्रौतमात्र इति। अखिलं मुख्यम् ॥ ४६ ॥

स्मृतौ ब्रह्मनिरूपणं प्रत्यक्षोपनिषन्मूलकं भविष्यतीति प्रकारान्तरमाह—

ब्रह्मप्रकरणं स्मार्तं कल्पसूत्रवदेव हि।
पुराणमूलकं वाऽपि ह्याश्रमाचारतोदितम् ॥ ४७ ॥

ब्रह्मप्रकरणमिति। तावान् भागः कल्पसूत्रवदिति तेनापि ब्रह्मज्ञानं फलायेति गौणः

टिप्पणी।

आदिपदादाह चित्तशुद्धाविति। कामनाभावेऽपि वासनासत्त्वाच्चित्तशुद्धिराभासरूपैवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

आवरणभङ्गः।

अत एवेत्यादि। सर्वाधानविधिः सर्वमादधातीति विधिः। एवञ्चास्मिन् पक्षे इष्ट्यौपासनयोरनावश्यकतया अकरणात् तदतिरिक्तस्यैव गृहस्थानीयत्वं बोध्यम्। पक्षान्तरमाहेति। नन्वर्द्धमादधातीत्यपि विध्यन्तरं दृश्यते। तथा नित्यानुमेयवेदमूलकत्वेन तयोरपि शोधकत्वमिति कथमेकान्ततस्तद्बाध इत्यतः पक्षान्तरमाहेत्यर्थः। तथाच मुख्यकाले स्मार्तसंश्लिष्टैः करणात्तन्निर्बलमिति ज्ञायते। तेन विधिसत्त्वेऽपि कृताकृतं तत्। अतो मतान्तरमेवेति भावः ॥ ४५ ॥

एवमिति। सर्वाधानविधिना मुख्यकालकरणेन चेत्यर्थः। भविष्यतीति। अर्द्धाधानविधिनाऽनुमेया भविष्यतीत्यर्थः। तद् वेत्तीति। "ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणः स्मृत" इत्यत्राऽर्थज्ञानपूर्वकानुष्ठानस्य विवक्षितत्वात्तत्करण एव मुख्यं ब्राह्मणत्वम्। "यो दुर्ब्राह्मण" इत्यादिश्रुतेश्च। तदकरणे यत् तदाहुः—स्मृतिरित्यादि। आभास इति। स्मार्तो धर्म इति शेषः। अतः स्वरूपतः फलतश्च जघन्यत्वान्न काऽप्यसहायशूरत्वमिति श्रौतपोषकत्वमेव स्मृतिप्रयोजनमिति निश्चयः ॥ ४६ ॥

एवं धर्मोपयोगिनी स्मृतिर्विचारिता। ज्ञानोपयोगिनीं विचारयन्ति स्मृतावित्यादि। कल्पसूत्र-

पक्षः। मुख्यमाह पुराणमूलकमिति। ननु स्मृतिर्मुख्या पुराणापेक्षया बलिष्ठा वेद-समानाधिकरणा कथं पुराणमुपजीवेदित्याशङ्क्याह आश्रमाचारतेति। सर्वे आश्रमाः स्मार्ताः। तेषामाचारनिरूपणप्रस्तावे चतुर्थाश्रमे ब्रह्मज्ञानं मुख्यमिति पुराणे च तदुक्त-मिति ततो गृहीतम्। उपनिषदर्थग्रहणे औपनिषत्त्वभङ्गादोषः स्यात्। शाखाव्यवस्था च भज्येत। अतः स्मार्तं ब्रह्मज्ञानं न वैदिकवत् फलसाधकम्॥ ४७॥

एवं स्मृतिमुपपाद्य पुराणनिर्णयमाह—

टिप्पणी।

शाखाव्यवस्थेति। भगवतोऽनन्तमूर्तेरेका मूर्तिर्यावता वेदभागेनोच्यते सैका शाखेति निरू-पितत्वाच्छाखानां या शिरोरूपत्वेन ब्रह्मस्वरूपस्य व्यवस्था सा भज्येत, स्मृत्या तावद्धर्मकस्य ब्रह्म-निरूपणादेकप्रकारकमेव ब्रह्म स्यादित्यर्थः॥ ४७॥

आवरणभङ्गः।

वदिति। बोधसौकर्यार्थं सङ्कलीकृत्य उपनिषद्वचो गृहीत इति श्रौत इत्यर्थः। अस्य पक्षस्य गौणत्व उपपत्तिरनुपदमेव वाच्या। मुख्ये किञ्चिदाशङ्कन्ते नन्वित्यादि। बलिष्ठेति। "श्रुति-स्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं बलिष्ठं स्यात् तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरे"ति व्यासस्मृति-वाक्यात् तथेत्यर्थः। वेदसामानाधिकरण्यं तूपपादितमेव। समाधिमुपपादयन्ति सर्वे इत्यादि। ननु पुराणेभ्य एव गृहीतमित्यस्य किं विनिगमकमित्यत आहुः उपेत्यादि। दोष इति। प्रति-पाद्ये दोष इत्यर्थः। दूषणान्तरमाहुः शाखेत्यादि। अयमर्थः। स्मार्तं ब्रह्मप्रकरणमेकतरोपनिष-दर्थसङ्ग्रहरूपं सर्वोपनिषदर्थरूपं वा? आद्ये उपनिषन्नाम्नस्तत्रानुपनिबन्धनात् किंशाखीयस्य तदा-वश्यकमिति ज्ञातुमशक्तिर्यथाकथञ्चिज्ज्ञाने च तस्य भागस्य सर्वसाधारणत्वभङ्गप्रसङ्गः। द्वितीये च, सर्वेषां फलसाधकत्वाविशेषात् तत्तदुपनिषदां तत्तच्छाखायामुपनिबन्धनवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति तथे-त्यर्थः। सिद्धमाहुः अत इत्यादि। तेनायमेव पक्षो मुख्य इति पूर्वोक्तस्य गौणत्व उपपत्तिरुक्ता। एवं सर्वस्मार्तप्रमेयस्य निरूपणेन प्रमाणप्रमेयसाधनफलैस्तद्बलं निश्चितम्। तत्रेदं सिद्धम्। स्मृतिरूपप्रमाणस्य स्वरूपं जन्यं, न तु वेदवन्नित्यम्। तत्र यद् व्रतादिकं कृष्यादिप्रकारः करादि-प्रकारो गर्भाधानादिकं च प्रमेयं साधनात्मकं तद् यथार्हं लोकसङ्ग्रहादिकं साधयेदपि श्रौते धर्मे विशुद्धताजननेनोपकरोति। स्वतन्त्रं तु स्वर्गाभासादि साधयति, न तु श्रौतवदिति। ब्रह्मप्रकरणं श्रौतसङ्ग्रहात्मकत्वे श्रौतत्वेन तत्रोपकरोति। पौराणत्वे तत्रोपकरोतीति न स्वतन्त्रफलसाधकम्। तेनोभयापेक्षया निर्बलमिति। स्मृतेर्बलवत्त्वं तु वर्णधर्म एवेति न पूर्वप्रकरणोक्ते। अविरुद्धन्तु यत्त्वस्येत्यादिरूपे असम्भावनाविपरीतभावने निवारिते॥ ४७॥

अतः परं पौराणप्रमेयस्य बलविचारणाय तन्निर्णयार्थमुपक्रमन्ते। वेदोपबृंहणत्वेन स्मृतित्वे-नैव सूत्रेषु तेषां ग्रहणेन तत्तुल्यत्वात्। तत्र पुराणलक्षणस्य प्रसिद्धत्वान्नाममात्रेणैव निर्दिशन्ति

पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत् ।
सर्वोपकरणानीव धर्मस्य नरगेहयोः ॥ ४८ ॥

पुराणमिति । तस्य वेदधर्मातिदेशः । तेन धर्मार्थकाममोक्षाः, भक्तिश्चेति पञ्च नित्याः काम्याश्च विकृताः । तत्रापि देशादीनामङ्गत्वम् । पञ्चानामपि देशादिषट्कमङ्गं

आवरणभङ्गः ।

पुराणमिति । स्मृतिनिर्णयादेतन्निर्णयस्य वैलक्षण्यं ज्ञापयितुं पुराणे कञ्चिद् विशेषमाहुः तस्येत्यादि । अतो वेदवदेवास्य निर्णयः कर्तव्य इति भावः । एतेन प्रमाणस्वरूपमुक्तम् । एवञ्च बृहदारण्यके, "इतिहासः पुराणमि"ति, छान्दोग्ये च सनत्कुमारनारदसम्वादे, "इतिहासपुराणं वेदानां पञ्चमं वेदमि"ति श्रुतिरपि युज्यते । केचित्तु श्रौतान्येवेतिहासादीन्यादाय तेषां पञ्चमत्वमस्यां श्रुतौ व्याचचक्षिरे । तत्तुच्छम् । तस्य वेदचतुष्टयान्तर्गतत्वेन पृथक्पाठसङ्ख्ययोर्विरोधात् । तावतो वेदभागस्य क्षिप्तत्वापादकत्वाच्च । पुराणादीनां वेदरूपत्वाऽभावे तैर्वेदोपबृंहणाभावप्रसक्तेश्च । तथाऽनङ्गीकारे तु, "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यती"ति ब्रह्माण्डीयप्रथमाध्यायवाक्यस्य, "वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशय" इति विष्णुपुराणवाक्यस्य, "इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निश्चलः पुरा" इति स्कान्दप्रभासखण्डीयस्य, "नान्यथा ज्ञायते धर्मो ब्रह्मविद्या च वैदिकी । तस्मात् सर्वपुराणं च श्रद्धातव्यं मनीषिभिरि"ति कौर्मपञ्चदशाध्यायवाक्यस्य च विरोधापत्तेः । न चायमर्थवाद इति वाच्यम् । "पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः । तैरर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति ही"ति बृहन्नारदीये दोषस्मरणात् । अत इतिहासपुराणे प्रसिद्धे एव ग्राह्ये । तेनात्र वेदातिदेशो युक्त एवेति दिक् । तेन यत् सिद्ध्यति तदाहुः तेनेत्यादि । पृथगिति । प्रतिपाद्यते इति ज्ञातव्यमिति शेषः । तथाच यथा वेदेऽग्निहोत्रादयः पञ्चार्था अनेकरूपाः सभेदाः साङ्गा उक्तास्तथा पुराणे धर्मादयोऽर्था उक्ता इत्यर्थः । तथोक्तं मात्स्ये—"धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्च परिकीर्त्यते । सर्वेष्वेव पुराणेषु तद्विरोधेषु यत् फलमि"ति । भक्तिरपि तथा । यथा आचारमाधवे पुराणसारवचने "शैवं च वैष्णवं शाक्तं सौरं वैनायकं तथा । स्कान्दञ्च भक्तिमार्गस्य दर्शनानि षडेव ही"ति । अत्र व्युत्पत्त्यर्थं किञ्चिदुदाह्रियते । तत्र नित्यो धर्मो यथा अतिथिपूजनादिः । "अतिथिर्विमुखो यातः पुण्यमादाय गच्छति" इति । काम्यो यथा पुत्रार्थं दितिपयोव्रतम् । नित्योऽर्थो यथा ब्राह्मणस्य यात्रार्थं कुसूलकुम्भीधान्यादिः । वानप्रस्थस्य, "स्वयं सञ्चिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम्" इति । "यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् । अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हती"त्यादिवाक्यैस्तस्य नित्यत्वम् । काम्यो यथा—इलायाः पुंस्त्वादिः । नित्यः कामो यथा "ऋतौ स्वदारगमनम् । "ऋतुस्नातां तु यो भार्यां शक्तः सन्नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशय" इत्यादिभिः । काम्यो यथा, आग्नीध्रस्य पूर्वचित्तिसङ्गः । नित्यो मोक्षः सायुज्यं, काम्यः सालोक्यादिः । यथा सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे "एवं बहुविधाः प्रोक्ता मुक्तयः पुरुषोत्तम । एतास्वशुद्धचित्तानामिच्छा नित्यं प्रजायते । सायुज्यरूपा परमा मुक्तिर्भुवि परात्मनि । पारमार्थिकतावा-

आवरणभङ्गः ।

स्यरूपाऽप्यज्ञाननाशत" इति । द्विविधा भक्तिर्यथा श्रीभागवते—"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् । सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः" इति । मोक्षस्य भक्तेश्च नित्यत्वं तदभावे संसारनिवृत्त्या ज्ञेयम् । एवमेतदङ्गान्यपि । तत्र धर्मस्याङ्गानि यथैकादशस्कन्धे—"अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेद्" इत्यत्र निषेधमुखेन तदितरो देशो धर्मसाधकत्वेन बोधितः । एवं कालः । यथा "कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा" इति । तत्र स्वतो यथा "प्रौष्ठपद्यष्टका भूयः पितृलोके भविष्यति" इति मात्स्ये । द्रव्यतो यथा—नवेऽन्नादौ जाते आग्रयणस्य । एतेनैव द्रव्यं ज्ञेयम् । यथा च पयोव्रते सिनीवाल्यां मृदाऽऽलिप्य स्नायात् क्रोडविदीर्णया" इत्यादि । कर्ता यथा—"एतन्मे भगवान् पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मज" इत्यत्र प्रजाकामः । एवं नित्येऽपि ज्ञेयः । मन्त्रो यथा—"त्वं देव्यादिवराहेण" इत्यादिमृत्तिकास्नानमन्त्रः । कर्माप्युक्तप्रायमेव । यथाऽत्रत्य पयोव्रताङ्गभूतं मृत्तिकास्नानम्, अर्थस्याङ्गानि । तत्र देशो यथा मात्स्ये राजधर्मेषु—"राजा सहायसम्पन्नः प्रभूतयवसेन्धनम् । रम्यमानतसामन्तमगमं देशमाविशेदि"ति । कालो यथा—"वणिङ्मुनिनृपाः स्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे" इत्यादौ दशमस्कन्धे शरत्कालोऽर्थसाधकत्वेनोक्तः । यथा च मात्स्ये—"पुष्टा योधा भृता भृत्याः प्रभूतं च बलं मम । मूलरक्षासमर्थोऽसि तदा यात्रां प्रयोजयेदि"त्यादिः । द्रव्यं यथा विष्णुधर्मोत्तरादिषु—"सन्नहश्चात्र सर्वेषामायुधानां प्रशस्यते" इत्यादि, राजधर्मकथने । कर्ता यथा मात्स्ये—"यस्मिन् कर्मणि यस्य स्याद् विशेषेण च कौशलम् । तस्मिन् कर्मणि तं राजा परीक्ष्य विनियोजयेदि"ति । मन्त्रो यथा नारायणकवचादयः । कर्म यथा मात्स्ये—"सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां परिपालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां नैःश्रेयसं परमि"ति । कामस्याङ्गानि, तत्र देशो यथा, "प्रायशः प्राकृता लोके स्त्रियो रहसि विभ्रति" इत्यादौ । कालो यथा, ऋतुरात्र्यादिः । द्रव्यं यथा, गारुडे—"मनःशिला पत्रकं च सगोरोचनकुङ्कुमम् । एभिः कृते च तिलके नरः स्त्रीवशतामियाद्" इति । कर्ता यथा पुराणान्तरे वरलक्षणे, "यस्याऽप्सु प्लवते वीजं ह्लादि मूत्रं च फेनिलम् । पुमान् स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतैस्तु षण्ढक" इति । कर्म यथा, गारुडे "रतिकाले महादेव पार्वतीप्रिय शङ्कर । निजं शुक्रं गृहीत्वा तु वामहस्तेन यः पुमान् । कामिनीचरणं वामं लिम्पेत् स स्यात् स्त्रियाः प्रियः" इति । मोक्षस्याङ्गानि, तत्र देशो यथा—"सप्त पुर्यस्त्रयो ग्रामा नवारण्या नवोपराः" इति । पुराणान्तरे मोक्षदत्वेन गणिताः, यथा वाराहे—"काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या । या जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहैर्नृणां चतुर्द्धा विदधाति मुक्तिमि"ति । कालो यथा—"अग्निर्ज्योतिरहःशुक्ल" इत्यादिजातीयकवाक्यबोधितः । द्रव्यं यथा—"वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् । संसिद्ध्यत्याश्वसम्मोहः शुद्धसत्त्वः शिलाऽन्धसे"ति । कर्ता यथा—"न कामकर्मवीजानां यस्य चेतसि सम्भवः । वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः" इत्येकादशस्कन्धे । मन्त्रो यथा, ब्रह्माण्डपुराणे धरणीशेषसम्वादः । "निर्विश्य भोगानन्ते च कृष्णसायुज्यमाप्नुयाद्" इत्युपसंहारात् । कर्म यथा, एकादशस्कन्धे जायन्तेयवाक्ये पूजां प्रकृत्य—"एवमभ्यर्चतोया-

पृथक् पृथक् । व्यासस्य कर्तृत्वमाशङ्क्य निराकरोति पूर्वसिद्धमिति । नित्यमित्यर्थः । तस्य प्रयोजनमाह सर्वोपयोगीति । द्विविधा हि चत्वारोऽपि पुरुषार्थाः । ईश्वरविचारिता जीवविचारिताश्च । तत्रेश्वरविचारिता वैदिकाः । जीवविचारिताः पौराणिका इति । अतः सर्वोपयोगित्वम् । वैदिकेऽप्युपयोगमाह सर्वोपकरणानीवेति । श्रौतो धर्मो देहस्थानीयः । स्मार्त्तो गृहस्थानीयः । उपकरणस्थानीयः पौराणिक इति । उपकरणाभावे सर्वथा स्थितिर्न भवतीति ॥ ४८ ॥

टिप्पणी ।

तत्रेति । ईश्वरार्थं विचारिता जीवार्थं विचारिता वैदिकानां मुख्यत ईश्वरफलार्थं विहितत्वात्पौराणिकानां जीवाधिकारेण जीवसम्बन्धिजीवयोग्यानामेव पदार्थानां पुराणेषु विहितत्वादिति भावः॥४८॥

आवरणभङ्गः ।

दावतिथौ हृदये च यः । यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः'' इति । भक्त्यङ्गानि यथा, जनकजायन्तेयसम्वादे देशः, ''क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः'' इति । कालो यथा तत्रैव– ''कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम् । कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणा'' इति । द्रव्यं यथा तत्रैव–''कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी । ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर । प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशया'' इति । कर्ता यथा–''देवो सुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा । भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयमि''ति सप्तमस्कन्धे । मन्त्रो यथा, षष्ठस्कन्धे गद्यरूपो मन्त्रो येन शेषसाक्षात्कारः । कर्म यथैकादशे–''भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत् मामि''ति । एवमिदं दिङ्मात्रं प्रदर्शितम् । एवमन्यदपि यथायोग्यमूह्यम् । एतदेवोक्तं **पृथक् पृथगिति** । एवं वेदस्य यज्ञार्थत्ववत् पुराणस्यैवं पुमर्थार्थता सूचिता । **व्यासस्य कर्तृत्वमाशङ्क्येति** । ''अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः'' इति वाक्यादाशङ्क्येत्यर्थः । **नित्यमिति** । ''पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् । नित्यं शब्दमयं ब्रह्म शतकोटिप्रविस्तरम् । अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः । पुराणमेकमेवासीत् तस्मिन् कल्पान्तरेऽनघे''ति मात्स्यवाक्यात् तथेत्यर्थः । एवं पुराणस्वरूपविषयकः सन्देहो निराकृतः । एवञ्च व्यासकर्तृकत्वं श्लोकसङ्ग्रहवत् पुराणसमासकरणाद् बोध्यम् । **तस्येत्यादि** । वेदवत् पूर्वसिद्धत्वे वेदादेवार्थसिद्धेः किं पुराणेनेत्याशङ्कानिरासाय तदाहेत्यर्थः । **सर्वोपयोगीति** । चतुर्वर्णोपयोगी । तथाच वेदस्तु त्रैवर्णिकोपयोगी, इदन्तु सर्वोपयोगीतीदमेव सर्वोपकाररूपं प्रयोजनमित्यर्थः । ननु नेदं प्रयोजनं, त्रैवर्णिकानां वेदादेवार्थसिद्धेः । अतः शूद्रोपयोगित्वमात्रं वक्तव्यमित्याशङ्कायां तदुपपादयन्ति **द्विविधेत्यादि** । **वैदिका इति** । यज्ञविकृतिसाध्यार्थपञ्चाग्निविद्यादिसिद्धकामपरविद्यासिद्धमोक्षाः । **पौराणिका इति** । व्रतदानादिधर्मनीतिसाधितार्थवात्स्यायनाद्युक्तकामाः, ''श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत'' इत्यादिवाक्येभ्योऽवगम्यते । अन्यथा, शूद्राणामेव श्रावणं विधीयेताऽतस्तथेत्यर्थः । **वैदिकेऽपीत्यादि** । जीवविचारितानां वेदानधिकृतार्थत्वात् पुराणानां तादृशतदर्थत्वमायातीति तन्निरासाय वैदिके यज्ञादिरूपे धर्मेऽपि तदुपयोगमाहेत्यर्थः । **स्थितिर्न भवतीति** । तथाच वैदिकार्थत्वान्महानेवोपयोग इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

तस्यावश्यकत्वमाह—

तदज्ञाने सर्वमौढ्यं तेन तद् हृदयं स्मृतम् ।
भावयुक्तस्य धर्मस्य प्रमितौ तत् प्रयुज्यते ॥ ४९ ॥

तदज्ञान इति । पुराणार्थाऽज्ञाने । सर्वमौढ्यम् । बहिःपदार्थज्ञानाभावात् । अत एव, "श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्" इति हृदयत्वम् । उपयोगस्थानमाह भावयुक्तस्येति । वेदे यज्ञादय उक्ताः । तेषामभिप्रायज्ञानं पुराणादेव । कदाचित् कर्त्तव्यम् । कदाचिन्न कर्त्तव्यम् । "कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यमि"तिवत् । भावस्य ज्ञानं पुराणात् ॥ ४९ ॥

सर्वसृष्टिपदार्थानां याथार्थ्यज्ञापनं ततः ।
शाखाविभागवत्तस्य विभागः सोऽन्यनेकधा ॥ ५० ॥

किञ्च, सृष्टौ यावन्तः पदार्थास्तेषां याथार्थ्यं पुराणादेवाऽवगन्तव्यम् । यथा, "प्रह्लादो ह वै कायाधव" इति कयाधूप्रभृतीनां स्वरूपम् । अष्टादशपुराणादिसमाख्यायामुपायमाह—शाखाविभागवदिति ॥ ५० ॥

टिप्पणी ।

कर्मणो ह्यपीति । अत्र यथा भगवद्वचनाद्भगवदभिप्रायज्ञानं, तथा पुराणाद्भवतीत्यर्थः ॥४९॥

आवरणभङ्गः ।

तस्यावश्यकत्वमाहेति । उपकारणाभावेऽपि देहादिस्थितेर्लोके दर्शनान्न पुराणस्य तदर्थत्वमिति शङ्कायां तदाहेत्यर्थः । हृदयत्वमिति । धर्महृदयत्वम् । भावयुक्तस्येत्यत्र भावपदेनाभिप्राय उच्यते । अनया कारिकया प्रमेयमुक्तम् । तदुपपादयन्ति वेदे इत्यादिना । कदाचिदित्यादि । यथा ब्रह्माण्डपुराणे कलिवर्ज्यकथनेऽग्निहोत्रादिनिषेधः । यथाच—"यावद् वर्णविभागोऽस्ति यावद् वेदः प्रवर्तते । संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे" इति प्रतिप्रसवः । यथा "चाऽऽहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्चे"ति श्रुत्या सर्वस्य साग्निकस्य श्रौताग्निभिर्दाहे प्राप्ते "वैतानं प्रक्षिपेदप्सु आवसथ्यं चतुष्पथे । पात्राणि तु दहेदग्नौ यजमाने वृथा मृते" इत्येवञ्जातीयकश्रुतेः पतितारिक्तविषयत्वरूपो भावो बोध्यते । यथा च श्रीभागवते—"तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते" इति बोध्यते तथेत्यर्थः । एवं वेदार्थसन्देहवारकत्वेन मीमांसावदुपयोगो बोधितः ॥ ४९ ॥

एवं क्वचिदुपयोगमुक्त्वा धर्ममात्रे पुराणोपयोगमाहुः किञ्चेत्यादि । मूले युज्यत इति । उपयुज्यत इत्यर्थः । एतेनावान्तरप्रयोजनमुक्तम् । एवं वेदार्थसन्देहवारकत्वेन मीमांसावदुपयोगो बोधितः । अष्टादशेत्यादि । सार्द्धद्वयेन प्रमेयं विशदीकर्तुं वेदतुल्यतां दृढीकर्तुमत्रोपायमाहेत्यर्थः । अष्टादशपुराणादीत्यादिपदेनोपपुराणसंहितानां च सङ्ग्रहः । स च विभागो मात्स्ये सलक्षणक उक्तः—"कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो द्विजाः । व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे । चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा । तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते । अद्याप्यमर्त्य-

आवरणभङ्गः ।

लोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम् । तदार्थोऽत्र चतुर्लक्षे सङ्क्षेपेण निवेशितः । पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते । नामतस्तानि वक्ष्यामि शृणुध्वमृषिसत्तमाः । ब्रह्मणाऽभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये । ब्राह्मं तद्दशसाहस्रं पुराणं परिकीर्तितम् । एतदेव यदा पद्ममभूद्धिरण्मयं जगत् । तद्-वृत्तान्ताश्रयं तद्वत् पाद्ममित्युच्यते बुधैः । पाद्मं तु पञ्चपञ्चाशत् सहस्राणीह पठ्यते । वाराहकल्प-वृत्तान्तमधिकृत्य परात्परः । यत्राह धर्मानखिलाँस्तदुक्तं वैष्णवं विदुः । त्रयोविंशतिसाहस्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः । श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत् । यत्र तद्वायवीयं स्याद् रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् । चतुर्विंशत् सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते । यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरव-धोपेतं तद्भागवतमुच्यते । सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नराऽमराः । तद्वृत्तान्तोद्भवं तच्च पुराणं परिकीर्तितम् । अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत् प्रकीर्त्तितम् । यत्राह नारदो धर्मान् बृहत्क-ल्पाश्रयाँस्त्विह । पञ्चविंशत्सहस्राणि नारदीयं तदुच्यते । यत्राधिकृत्य शकुनीन् धर्माधर्मविचा-रणाम् । व्याख्यातं जैमिनिप्रश्ने पक्षिभिर्धर्मचारिभिः । मार्कण्डेयेन कथितं तत् सर्वं विस्तरेण तु । पुराणं नवसाहस्रं बह्वर्थं तदिहोच्यते । यत्तदीशानकल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च । वसिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत् प्रकीर्तितम् । तच्च षोडशसाहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम् । यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादि-त्यस्य चतुर्मुखः । अघोरकल्पवृत्तान्तप्रसङ्गेन गतिस्थितिम् । मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम् । चतुर्दशसहस्राणि तथा पञ्चशतानि च । भविष्यच्चरितप्रायं भविष्यं तदिहोच्यते । रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च । सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यसंयुतम् । यत्र ब्रह्मवराहस्य चरितं वर्ण्यते मुहुः । तदष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते । यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः । धर्मार्थका-ममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च । कल्पान्ते लिङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम् । तदेकादशसाहस्रं फाल्गुन्यां यः प्रयच्छति । महावराहं तु पुनर्माहात्म्यमधिकृत्य च । विष्णुनाभिहितं क्षोण्यै तद् वाराहमिहोच्यते । मानवस्य प्रसङ्गेन कल्पन्तु मुनिसत्तमाः । चतुर्विंशत्सहस्राणि तत् पुराणमिहो-च्यते । यत्र माहेश्वरान् धर्मानधिकृत्य च षण्मुखः । कल्पे तत्पुरुषे वृत्ते चरितैरुपबृंहितम् । स्कान्दं नाम पुराणं तदेकाशीति निगद्यते । सहस्राणि शतं चैकमिति मर्त्येषु पठ्यते । त्रिविक्रमस्य माहा-त्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः । त्रिवर्गमभ्यधात् तच्च वामनं परिकीर्तितम् । पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् । यत्र धर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले । माहात्म्यं कथयामास कूर्मरूपी जनार्दनः । इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषीणां शक्रसन्निधौ । सप्तदशसहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषङ्गिकम् । श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्त्यर्थं जनार्दनः । मत्स्यरूपी च मनवे नरसिंहोपवर्णनम् । अधिकृत्याऽब्रवीत् सत्य-कल्पवृत्तं मुनिव्रतम् । तन्मात्स्यमिति जानीध्वं सहस्राणि चतुर्दश । यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डं गरुडोद्भवम् । अधिकृत्याऽब्रवीत् कृष्णो गारुडं तदिहोच्यते । तदष्टादश चैकं तु सहस्राणीह पठ्यते । ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याऽब्रवीत् पुनः । तच्च द्वादशसाहस्रं पुराणं द्विशताधिकम् । भविष्याणां च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तरः । तद् ब्रह्माण्डपुराणं तु ब्रह्मणा समुदाहृतमि"ति । एतेषां विशेषलक्षणान्यपि तत्र सन्ति । यथा पाद्मे पाद्मस्य—"स्थिताय भवभीताय ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे ।

आवरणभङ्गः।

प्रोक्तं भगवता मुख्यं पाद्मं पञ्चोनषष्टि च। भूपातालोत्तराः खण्डाः पुराणेऽस्मिंस्त्रयः स्मृताः। यथा च श्रीभागवतलक्षणं स्कान्दे—"ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसंयुतः। हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा। गायत्र्या च समारम्भस्तद् वै भागवतं विदुरि"ति। पाद्मे चोत्तरे खण्डे "इदं भगवता प्रोक्तं चतुःश्लोक्या स्वयम्भुवे। नारदाय स चैवाह मह्यं स मुनये ह्यहम्। शुकाय ब्रह्मराताय स तु राज्ञेऽभिमन्यवे।" तथा "शुकोक्तं विष्णुराताय सदसि ब्रह्मवादिनाम्। श्रीमद्भागवतं नाम द्युनद्यां तमसः परमि"ति। एतदेव लक्षणं वाराहेऽपि परीक्षितः शापकथनप्रसङ्गे श्लोकान्तरेणाऽस्ति। यथा च कूर्मलक्षणं कौर्मे "इदं तु पञ्चदशमं पुराणं कौर्ममुत्तमम्। चतुर्द्धा संस्थितं पुण्यं संहितानां प्रभेदतः। ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्तिताः। चतस्रः संहिताः पुण्याः" इति। यथा च पाद्मे ब्रह्माण्डपुराणलक्षणं, "ब्रह्माण्डं मोक्षधर्माख्यमि"ति। यथा च कौर्मे—"वायवीयमनन्तरम्। अष्टादशमुद्दिष्टं ब्रह्माण्डमिति सञ्ज्ञितमि"ति। यथा च ब्रह्मवैवर्ते ब्रह्मप्रकृतिगणपतिश्रीकृष्णजन्माख्यखण्डचतुष्कविशिष्टत्वमुक्तं स्वस्य। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। आदित्यपुराणे तु "ब्राह्मं पुराणं तत्राद्यं संहिताभ्यां विभूषितम्। काश्मीरसंहिता यस्याः पुरुषोत्तमसंहिता। श्लोकानां दशसाहस्रं नानापुण्यकथायुतमि"ति लक्षणं ब्राह्मस्योक्तम्। एवं, "ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्वयविभूषितमि"ति। एवं, "चतुर्भिः पर्वभिः प्रोक्तं भविष्यं तदनन्तरमि"ति। एवं, "भागद्वयेन लैङ्गं चे"ति। "संयुक्तमष्टभिः खण्डैः स्कान्दं चैव सविस्तरमि"ति। कौर्मे "भागद्वयविराजितमि"ति "भागद्वयेन कथितं ब्रह्माण्डमिति सञ्ज्ञितमि"ति। गणनाक्रमस्तु सर्वत्रैक एव। उपपुराणानि च सलक्षणानि मात्स्य एव कानिचिद् गणितानि। तथाहि। "पाद्मे पुराणे यत् प्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम्। तच्चाष्टादशसाहस्रं नारसिंहमिहोच्यते। नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्ण्यते। नन्दापुराणं तत् प्रोक्तं सङ्ख्यानमिति कथ्यते। यत्र साम्बं पुरस्कृत्य भविष्येऽपि कथानकम्। प्रोच्यते तत् पुनर्लोके साम्बमेतन्मुनिव्रताः। एवमादित्यसञ्ज्ञं च तत्रैव परिपठ्यते। अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्र दृश्यते। विजानीध्वं मुनिश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतमि"ति। एवमेव स्कान्दप्रभासखण्डेऽपि। आदित्यपुराणे त्वादित्यस्य लक्षणमप्युक्तं, "यदुक्तं भानुना पूर्वं पुत्राय मनवे द्विजाः। तदहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं गदतो मम। इदं ब्रह्मपुराणस्य खिलं सौरमनुत्तमम्। संहिताद्वयसंयुक्तं पुण्यं शिवकथायुतम्। आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूर्यभाषिते"ति। सर्वेषामुपपुराणानां गणना तु कौर्मे प्रथमाध्याये—"आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम्। तृतीयं नान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम्। चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम्। दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम्। कापिलं मानवं चैव तथैवोशनसेरितम्। ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च। माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयम्। पराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयमि"ति। सूतसंहितायान्तु नान्दस्थाने स्कान्दमुक्त्वाऽग्रे तल्लक्षणमुक्तं "लक्षं तु ग्रन्थसङ्ख्याभिः सर्वविज्ञानसागरम्। स्कान्दमद्याभिवक्ष्यामि पुराणं श्रुतिसम्मितम्। षड्विधैः संहिताभेदैः पञ्चाशत् खण्डमण्डितम्। आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूतसंहिता। तृतीया शाङ्करी विप्राश्चतुर्थी

आवरणभङ्गः ।

वैष्णवी मता । तत्परा संहिता ब्राह्मी सौराऽन्या संहिता मते"ति । एवं "ततः कालीपुराणाख्यं वाशिष्ठं मुनिपुङ्गवाः । ततो वाशिष्ठलिङ्गाख्यमि"ति लक्षणमेवोक्तम् । क्रमस्तु कौर्मोक्तरीतिक एव । कालिकापुराणे तु क्रमो नामानि च भिन्नान्येव । तथाहि "शैवं यद् वायुना प्रोक्तं वैरञ्चं वैष्णवं तथा । यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं स्मृतम् । सौरञ्च नारदीयं च मार्कण्डेयं च वह्निजम् । भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गञ्चैव त्रयोदशम् । वामनं कौर्मं मात्स्यं च सप्तदशञ्च गारुडम् । स्कान्दमष्टादशं प्रोक्तं पुराणं च न संशय" इति । भविष्यं च सौरपुराणे चतुःपर्वयुक्तमुक्तम् । "चतुर्भिः पर्वभिः प्रोक्तं भविष्यं तदनन्तरमि"ति । भविष्ये तु "पर्वाणि चात्र पञ्चैव कीर्तितानि स्वयम्भुवे"त्युक्त्वा, "ब्राह्मं वैष्णवं शैवं त्वाष्ट्रं प्रतिसर्गाख्यं चे"ति तेषां नामान्युक्तानि । यद्यपि तत्रोपपुराणत्वमेषां कण्ठतो नोक्तं तथापि पुराणान्तरे उपपुराणत्वेन गणितयोः कालिकासौरयोर्निवेशात् क्रमभेदाच्च ज्ञेयम् । अन्यथा सर्वत्र प्रसिद्धं क्रमं न जह्यात् । न चान्यत्रोपपुराणेष्वगणितानां शैवादीनां दर्शनादेतयोः पुराणत्वं शङ्क्यम् । अप्रयोजकत्वात् । स्कान्दनारदीयब्रह्माण्डेषु नाममात्रसाम्यस्य पुराणान्तरसम्मतत्वादन्येषां पुष्करशिवरहस्यविष्णुरहस्यविष्णुधर्मादीनां दर्शनादेतेष्वप्युपपुराणत्वस्य शक्यवचनत्वात् । अत एव भविष्यपुराणीयप्रथमाध्याये—"सर्वाण्येव पुराणानि सङ्ख्याया भरतर्षभ । द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानीह महर्षिभिः । पुनर्वृद्धिं गतानीह चाख्यानैर्बहुभिर्नृप । यथा स्कान्दं तथा चैव भविष्यं कुरुनन्दन । स्कान्दं शतसहस्रं तु श्लोकानां ज्ञातमेव हि । भविष्यमेतद् ऋषिणा लक्षार्द्धं सङ्ख्यया स्मृतमि"ति सन्दर्भे महर्षिप्रोक्तत्वसङ्ख्याविशेषाभ्यामुपपुराणत्वमेव स्कान्दभविष्ययोरुद्घाटितम् । एवं सति, "सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च ऊतिर्मन्वन्तराणि च । वंशो वंशानुचरितं संस्थाहेतुरथाश्रयः । दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः । केचित् पञ्चविधं प्राहुर्महदल्पव्यवस्थये"त्युक्त्वाऽग्रे सर्गादीनां दशानां लक्षणानि चोक्त्वा, "एवंलक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः । मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च"ति द्वादशस्कन्धीयसप्तमाध्यायवाक्याद् । यत्र पञ्चलक्षणवत्त्वं तत्र महापुराणनामसाम्येऽपि न महापुराणत्वं, किन्तु पुराणत्वमेव । अत एवादित्यपुराणे—"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् । ब्रह्मादीनां पुराणानामुक्तमेतत्तु लक्षणम् । एतच्चोपपुराणानां खिलत्वाल्लक्षणं स्मृतमि"ति, पञ्चलक्षणत्वमेवोक्तम् । "अष्टादशपुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात् । अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि त्वि"ति सूतसंहितावाक्याच्च । अत्र मात्स्यादौ लक्षितेषु पुराणेषु ब्राह्मस्य लक्षणं प्रसिद्धे ब्राह्मे न दृश्यते । तेन तदुपपुराणम् । वैष्णवे सङ्ख्या न मिलति । एवमन्यत्रापि । काशीमाहात्म्यादियुक्तं ब्रह्मवैवर्तमन्यदेव । उक्तलक्षणाभावात् । महापुराणलक्षणन्तु श्रीभागवत एव दृश्यते, नेतरत्र । तेन तेषु पुराणत्वमेव बोध्यमिति प्रसङ्गादुक्तम् । प्रकृतमनुसरामः । तथाच व्यासेन समसनाद् व्यासकर्तृत्वं पुराणेषूच्यते । विभागाच्चाष्टादशत्वादिकम् । तेन यथा वेदशाखानां काठकादिसमाख्या तथात्र ब्राह्मादिसमाख्या । यथा तत्र शाखानां सहस्रत्वमेवमत्राष्टादशत्वम् । तथाच पूर्णो वेदातिदेशोऽत्र सिद्ध इति पञ्चार्थकथनमिह युक्तमिति भावः ॥ ५० ॥

तत्र यज्ञस्य भगवत्त्वं सिद्धमिति न सन्देहः । प्रकृते कथमित्याशङ्क्य प्रकारमाह—

शतं कल्पास्ततोऽप्यन्ये सन्ति कृष्णेन निर्मिताः ।
सत्त्वेन रजसा वाऽपि तमसा वाऽप्यनेकधा ॥ ५१ ॥
नाना सृष्टिप्रकारा हि नाना धर्मा ह्यनेकधा ।
सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्त्ता तेषु तथोदितः ॥ ५२ ॥

शतं कल्पा इति । ब्रह्मण एकस्मिन् वर्षे एको मुख्यः कल्पो ब्रह्मजन्मदिवसादिः ।

आवरणभङ्गः ।

तत्रेत्यादि । तत्र वेदे यज्ञस्य भगवत्त्वं, "यज्ञो वै विष्णुरि"तिश्रुत्या सिद्धमिति शाखानां तद्रूपप्रतिपादकत्वे सन्देहो, न प्रकृते कथमित्याशङ्क्य पुराणे धर्मादिपञ्चार्थप्रतिपादकत्वेन भगवद्रूपप्रतिपादकत्वाभावात् कथं शाखाविभागवत् पुराणविभाग इत्याशङ्क्य पुराणविभागप्रकार-मर्थेनाहेत्यर्थः । ब्रह्मण एकस्मिन्नित्यादि । तदुक्तं मात्स्ये कल्पानुकीर्तने उपान्त्याध्याये "प्रथमः श्वेतकल्पस्तु द्वितीयो नीललोहितः । वामदेवस्तृतीयस्तु ततो रथ्यन्तरोऽपरः । रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः । सप्तमोऽथ बृहत्कल्पः कन्दर्पोऽष्टम उच्यते । सद्योऽथ नवमः प्रोक्त ईशानो दशमः स्मृतः । व्यान एकादशः प्रोक्तस्तथा सारस्वतोऽपरः । त्रयोदश उदानस्तु गारु-डोऽथ चतुर्दशः । कौर्मः पञ्चदशः प्रोक्तः पौर्णमासी प्रजापतेः । षोडशो नारसिंहस्तु समानस्तु ततोऽपरः । आग्नेयोऽष्टादशः प्रोक्तः सोमकल्पस्तथाऽपरः । मानवो विंशमः प्रोक्त उदान इति चापरः । वैकुण्ठश्चापरस्तद्वल्लक्ष्मीकल्पस्थाऽपरः । चतुर्विंशतिमः प्रोक्तः सावित्रीकल्पसञ्ज्ञकः । पञ्च-विंशतिमोऽघोरो वाराहस्तु ततः परः । सप्तविंशोऽथ वैराजो गौरीकल्पस्तथाऽपरः । माहेश्वरस्ततः प्रोक्तस्त्रिपुरं यत्र घातितम् । पितृकल्पस्तथैवाऽन्यो या कुहूर्ब्रह्मणः स्मृता । इत्येवं ब्रह्मणो मासः सर्वपातकनाशनः । आदावेवाऽह्नि माहात्म्यं यस्मिन् यस्य विधीयते । तस्य कल्पशतं नाम विहितं ब्रह्मणा पुरेति । तथाच यदा ब्राह्मः कल्पो ब्रह्मजन्मदिवसस्तदा पञ्चुत्तरशतत्रयं तद्विकल्पा भवन्ति द्वितीयदिनादिरूपास्तेषु ब्रह्मकल्पोक्तरीतिकैव सृष्टिः किञ्चित् किञ्चिद् वैलक्षण्येन भवति । अवान्त-रेषु कल्पेषु ब्रह्मणः सत्यलोके शयने भूरादीनां त्रयाणामेव नाशस्मरणात् । एवं वर्षदिनपर्यन्तं भवने ब्रह्माण्डस्य कालेन शीर्णतायां ब्रह्माण्डं सर्वमात्मसात्कृत्य जले आवरणात्मके स्वपिति ततः प्रबुद्धः स्वजन्मदिवसत्वान्नवं ब्रह्माण्डं प्रकारन्तरेणोत्पादयति । तदा तत्रत्या सृष्टिः पूर्वस्माद् विलक्षणा भवति । सापि पूर्ववद् वर्षदिनपर्यन्तं भवति । यथा पाद्मः कल्पः । तत्रैवैकस्मिन् वर्षे पूर्वोक्ताः श्वेतादयस्तिथिरूपत्वात् द्वादशवारं परिवर्तन्ते । अत एव पुराणेषु पृथिव्याः क्वचि-ज्जघनरूपत्वं क्वचिदब्जरूपत्वं, क्वचित् पृथग्रूपत्वम् । एवं लोकेष्वपि वैलक्षण्यमतः कल्पभे-देन तत् सर्वं सङ्गतं भवति । इदं तृतीयस्कन्धसुबोधिन्यामुपपादितं तन्निबन्धे च श्रीमदाचार्यैः ।

ततोऽप्यन्ये दैनन्दिनाः। दिनमध्येऽपि कल्पसमाप्तिं केचिदाहुः। तथा युगान्ते। तत्र सर्वत्र भुवनात्मको वृक्षो भगवान् नानारूपो भवति। अतस्तत्प्रकारप्रतिपादकानि पुराणानीति शाखाविभागवद्विभागः। अवान्तरभेदान् वक्तुमाह सत्त्वेनेति। तामसकल्पेषु

आवरणभङ्गः।

दैनन्दिनास्तूक्ता एव। **दिनमध्येऽपीति**। यथा पुराणान्तरे क्वापि मयूरकल्पः। यथाच वाराहपुराणे मेघवाहनकल्प उक्तः। प्रागितिहासे रुद्रगीतासु यत्र भगवान् "त्वञ्च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय। अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुजे"ति रुद्रमाज्ञप्तवान्। रुद्रश्च तन्निर्वाहाय, मां वहस्वेति प्रार्थितवान्। तदा भगवान् मेघो भूत्वा कल्पमेकं रुद्रमवहत्, स मेघवाहनकल्पः। तस्य तिथिरूपेष्वगणनात् तस्मिन् ब्रह्माण्डकरणानुक्तेश्च न जन्मदिवसरूपत्वम्। वराहपुराणलक्षणे महावराहकल्पाश्रितत्वकथनात्। एवं सति तस्य दिनमाध्यमिकत्वमायाति। एवमन्यत्रापि बोध्यम्। **दिनमध्य इति**। मन्वन्तरसमाप्तौ। **युगान्त इति**। चतुर्युगान्ते। तत्र सर्वत्रेत्यादि। जन्मदिनदैनन्दिनदिनमध्यगतयुगान्तभेदभिन्नेषु कल्पेषु भुवनात्मको वृक्ष उदूर्ध्वमूलमित्यादिनोक्तो भगवान्, "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा। स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वर" इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मवादे भगवद्रूपो नाना। क्वचित् सर्वथा वैलक्षण्येन, क्वचिदीषद्वैलक्षण्येन नाना भवति। अतस्तत्प्रकारेत्यादीति न पुराणविभागानुपपत्तिरित्यर्थः। **अवान्तरेत्यादि**। प्रकारभेदबोधनायेति शेषः। तथाच "सात्त्विकेषु तु कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः। राजसेषु तु महात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः। तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च। सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यत" इति मात्स्ये सङ्ख्यानुक्रमणिकाध्याये। तथा तत्रैव कल्पानुकीर्तनाध्याये श्वेतादीस्त्रिंशत् कल्पानुक्त्वा, "सङ्कीर्णास्तामसाश्चैव राजसाः सात्त्विकास्तथा। रजस्तमोमयास्तद्वत् त्रयस्त्रय उदाहृताः। सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां व्युष्टिरुच्यते। अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषूपवर्ण्यते। सात्त्विकेष्वधिकं तद्वद्विष्णोर्माहात्म्यमुच्यते। तत्रैव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिमि"तिचोक्तवात्, अवान्तरभेदान् वक्तुमित्यर्थः। तद् विशदीकुर्वन्ति **तामसकल्पेत्यादि**। तत्र तावच्छिवात् सृष्टिर्यथा हि कौर्मे पूर्वभागे चतुर्थाध्याये "कुतः सर्वमिदं जातं कस्मिंश्च लयमेष्यति। नियन्ता कश्च सर्वेषां वदस्व पुरुषोत्तम। श्रुत्वा नारायणो वाक्यमृषीणां कूर्मरूपधृक्। प्राह गम्भीरया वाचा भूतानां प्रभवाप्ययौ। कूर्म उवाच। महेश्वरः परोऽव्यक्तश्चतुर्व्यूहः सनातनः। अनन्तश्चाऽप्रमेयश्च नियन्ता विश्वतोमुख" इत्यारभ्य, "निशान्ते प्रतिबुद्धोऽसौ जगदादिरनादिमान् सर्वभूतमयोऽव्यक्तादन्तर्यामीश्वरः परः। प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशु महेश्वरः। क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वर" इत्यादि चोक्त्वा, "प्रधानात् क्षोभ्यमानाच्च तथा पुंसः पुरातनात्। प्रादुरासीन्महद् बीजं प्रधानपुरुषात्मकमि"त्यादिना सृष्टिरुक्ता। ततः पञ्चाशदध्यायोत्तरमुपरिभागे दशभिरध्यायैरीश्वरगीतोक्ता। शिवमाहात्म्यं परब्रह्मरूपता चोक्ता। एवमन्यत्रापि तामसकल्पेषु ज्ञेयम्। भविष्ये तु ब्रह्मणः सकाशात् सृष्टिः। यथा तत्रैव, "कीर्तितानि स्वयम्भुवा" इत्युपक्रम्य, "जगदासीत् पुरा तात तमोभूसमलक्षणम्। अविज्ञेयमतर्क्यं च प्रसुप्तमिव सर्वतः।

शिवात् सृष्टिः । राजसेषु ब्रह्मणः । सात्त्विकेषु विष्णोः । तत्रोच्चनीचत्वमव्यवस्थितम् । अतः समाधानमाह सर्वस्वरूपी कृष्ण इति ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

टिप्पणी ।

तत्रेति । ब्रह्मविष्णुशिवेष्वित्यर्थः ॥ ५२ ॥

आवरणभङ्गः ।

ततः स भगवानीशो ह्यव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादि वृत्तौजाः प्रोत्थितस्तमनाशनः । सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुत्थितः । योऽसौ षड्विंशको लोके तथा यः पुरुषोत्तमः । भास्करश्च महाबाहो परं ब्रह्म च कथ्यते" इत्यादि ब्रह्मणः सकाशात् सृष्टिरुक्ता । मार्कण्डेयपुराणेऽपि—"प्रणिपत्य जगद्योनिमजमाश्रयमव्ययम् । चराचरस्य जगतो धातारं परमं पदम् । ब्रह्माणमादिपुरुषमुत्पत्तिस्थितिसङ्क्षये । यत् कारणमनौपम्यं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितमि"त्यादिनोपक्रम्य पुरुषाधिष्ठितात् प्रधानान्महदादिसृष्टिरुक्ता । एवमन्येष्वपि ज्ञेयम् । सात्त्विकेषु तु विष्णुवाराहश्रीभागवतादिषु विष्णोः सकाशात् स्पष्टैव सृष्टिः । एवञ्च मात्स्योक्तरीत्या कल्पेषु सात्त्विकराजसतामससङ्कीर्णत्वकथनादष्टादशपुराणेषु द्वयं द्वयं सात्त्विकसात्त्विक—सात्त्विकराजसेत्यादिभेदेनैकैकविधं सन्नवधा भवति । तेनेषत्तारतम्येऽप्यदोषः । अत एव हरिवल्लभसुधोदयाख्ये पुराणसमुच्चये पाद्मोत्तरखण्डीयद्विचत्वारिंशाध्याये रुद्रोमासम्वादे—"मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च । आग्नेयं च षडेतानि पुराणानि शुभानि वै । ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च । भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे" इत्येकैकषट्कस्य सात्त्विकादिरूपत्वमुक्तं तदपि न विरुद्ध्यते । प्रकृतमनुसरामः । तत्रेत्यादि । नानासृष्टिप्रकारेषु नानाधर्मेषु पुराणेषु तत्तत्पुराणे तस्य तस्येश्वररूपताया माहात्म्यस्य कथनात् कूर्मपुराणे विष्णुब्रह्मशिवानुपक्रम्य, "अन्योऽन्यमनुरक्तास्ते अन्योऽन्यमुपजीविनः । अन्योऽन्यं प्रणताश्चैव लीलया परमेश्वरा" इति वाक्याच्चोच्चनीचत्वमव्यवस्थितमतोऽनेकेश्वरापातात तन्निवृत्त्यर्थं समाधानमाहेत्यर्थः । सर्वस्वरूपीत्यादि । शास्त्रार्थप्रकरणे ब्रह्मणः सर्वाकारता सर्वकर्तृता चोपपादिता श्रुतिस्मृतिसूत्रानुसारेण । अतस्तदतिरिक्तस्य कर्तुरभावात् सर्वाकारो भगवानेव कर्ता, तेषु पुराणेषु तथा तेन तेन शिवादिरूपेणोदित इत्यर्थः । कृष्णशब्दोऽत्र परब्रह्मवाचकः । "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत" इति श्रुतेः । अत एव गारुडे—"एको नारायणो देवो देवानामीश्वरेश्वरः । परमात्मा परं ब्रह्म जन्माद्यस्य यतोऽभवदि"ति । तत्रैव द्वितीयाध्याये—"सर्वज्ञानान्यहं शम्भो ब्रह्माऽऽत्माहमहं शिवः । अहं ब्रह्मा सर्वलोकाः सर्वदेवमयो ह्यहमि"ति । श्रीभागवते च द्वादशे शिववाक्यम् "न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते" इति । तत्रैव दशमे अक्रूरस्तुतौ—"त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् । बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासत" इति । कौर्मेऽपि पूर्वभागे द्वितीयाध्याये—"अहं नारायणो देवः पूर्वमासं न मे परम्" इत्युक्त्वाऽग्रे—"यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः" इत्युक्तम् । "अहं चैव महादेवो न भिन्नौ परमार्थत" इति च । भविष्ये ब्रह्माणमुपक्रम्य—"योऽसौ षड्विंशको लोके तथा यः पुरुषोत्तमः । भास्करश्च महाबाहो परं ब्रह्म च कथ्यते" इति । अत-

सर्वत्र मुक्तिरिति पक्षे न कोऽपि सन्देहः। सात्त्विकेष्वेव मोक्ष इति पक्षे विशेषमाह—

सात्त्विकेषु तु कल्पेषु तत्प्रकारपुराणतः।
आचारान्मुक्तिमाप्नोति भवस्त्वन्येषु केवलः।
धर्महीनस्तत्सहितो राजसेषु सुखं ततः॥ ५३॥

सात्त्विकेष्विति। तत्कल्पानुसारिपुराणोक्तधर्माचरणान्मुक्तिमाप्नोति तादृशोऽधिकारी, न तु पाषण्डादिधर्मैरित्यर्थः। अन्येषु तामसेषु जन्म दुःखं च भवति, न सुखं, नापि मोक्षः। राजसेषु तु सुखं, न दुःखं, नापि मोक्षो यथोक्तधर्मकर्तॄणाम्॥ ५३॥

सर्वेषु कल्पेषु कल्पान्तरोक्ता धर्माः, पुरुषार्था वा परिग्राह्याः, यदि तत्कल्पानुसारिणो जीवा भविष्यन्ति। यथा तीर्थे नानादेशवासिनाम्। तदाह—

टिप्पणी।

तत्कल्पानुसारीति। सात्त्विकपुराणोक्तधर्माचरणादित्यर्थः। यथोक्तधर्मकर्तॄणामिति। तत्कल्पानुसारं यथोक्तधर्मकर्तॄणामित्यर्थः॥ ५३॥

कल्पान्तरोक्ता इति। धर्माः पुरुषार्थाश्चेत्यर्थः। यदि तत्कल्पेति। कल्पान्तरानुसारिणः सात्त्विकराजसतामसा जीवा भवन्तीत्यर्थः।

आवरणभङ्गः।

तत्तन्नाम्ना तत्तद्रूपो भगवानेवोच्यत इति व्यवस्थाभावेऽपि न दोष इति भावः। एतेनापि पूर्वोक्तं दृढीकृतं ज्ञेयम्। यथा यज्ञरूपस्य भगवत एकत्वेन शाखाभेदेषु भिन्नरूपतायामपि न विकृतित्वम्, तथाऽत्र शिवादिरूपेण भेदेऽपि नाब्रह्मरूपत्वम्। यथाच तत्तच्छाखोक्तेषु कौण्डपाय्ययनश्येनादिषु काम्येषु विकृतित्वम्, तथात्र सृष्टिकर्तृशिवातिरिक्तेष्वेकैकगुणाधिष्ठातृषु तदंशत्वेन विकृतित्वमिति। एवं पुराणप्रतिपाद्यविषयनिश्चायनेन तद्भक्तिस्वरूपमपि निश्चायितप्रायम्। विकृततुल्ये गुणमूर्तौ भक्तिः सगुणा, तदाकारे कृष्णे तु गुणातीतेति प्रमेयमप्येतेनैवोक्तप्रायम्॥ ५१॥ ५२॥

अतः परं द्विविधवाक्यदर्शनात् तदुक्ताचरणफलभूतायां मुक्तौ सन्देहः। वाक्यानि तु पाद्मोत्तरखण्डीयद्विचत्वारिंशे त्रिविधानि शास्त्राणि प्रस्थानानि पुराणानि चोक्त्वा पुराणोक्त्युत्तरमेव "सात्त्विका मोक्षदाः प्रोक्ता राजसाः स्वर्गदाः शुभाः। तथैव तामसा देवि निरयप्राप्तिहेतवः" इति। सूतसंहितायां तु तदुक्ताचारान्मुक्तिरुक्तामुक्तिखण्डे। एवमन्यत्रापि। तत्र कथं व्यवस्थेत्याकाङ्क्षायां तमपि सन्देहं निराकर्तुमाहुः— सर्वत्रेत्यादि। सर्वत्र पुराणेषु मुक्तिबोधकवाक्यैर्मुक्तिरिति पक्षे वाक्यान्तरादृष्टेर्विप्रतिपत्त्यनुदयान्न सन्देहः। दृष्टे तु पाद्मवाक्ये विप्रतिपत्त्या सन्देहोदयात् तन्निवृत्त्यर्थं विशेषमाह—सात्त्विककल्पस्थजीवादिपूत्कर्षमाहेत्यर्थः। तथा ज्ञानादेव सा शङ्का वक्ष्यमाणरीत्या निर्वर्त्स्यत इति भावः। उत्कर्षस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वात्। तान् विशदीकुर्वन्ति अन्येष्वित्यादि। तामसेषु जन्म दुःखञ्चेत्यत्र हेतुर्मूले उक्तो धर्महीनपदेन। तथाच तेषु धर्माभावात् तथेत्यर्थः। एवं, राजसेषु सुखमित्यत्रापि धर्मसाहित्यं हेतुर्मूले उक्तस्तत्सहितपदेन। अतो नात्रापि सन्देह इति भावः॥५३॥

सर्वेष्वित्यादि। सर्वेषु केवलेषु सङ्कीर्णेषु च कल्पान्तरोक्तास्तदितरकल्पोक्ताः साधनपुरुषादयः

अपेक्षितं तु सर्वत्र सर्वोक्तं गृह्यते क्वचित् ।
इदानीं त्रिविधा जीवास्तेन त्रितयमीर्यते ॥ ५४ ॥

अपेक्षितमिति । प्रकृते त्रिविधान्यपि पुराणानि सन्तीत्याह इदानीमिति । राजसादीनां प्रकारान्तरेण पुराणं न हृदयारूढं भवति । अतस्तेषां केवललौकिकत्वे, कल्पान्तरे तेषां तामसत्वाद् राजसोच्छेदः स्यात् । राजसधर्मानुष्ठाने चोत्तरत्र सात्त्विकत्वं सम्पद्यते । तथा तामसेष्वपि ज्ञातव्यम् । अतितामसत्वनिवृत्त्यर्थमुत्कर्षार्थं च तामसानि पुराणानीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

ननु तत्तत्पुराणेषु तत्तदाचारान्मुक्तिरेव निरूप्यते, किमुत्कर्षेण । सात्त्विका एव मुच्यन्ते इति तु सात्त्विककल्पव्यवस्था । यथा राज्ञां तत्तदवसरे तेषामनुग्रहनिग्रहौ । अत इदानीं त्रिविधानां मुक्त्यर्थमेव कथं न त्रिविधानि पुराणानीत्याशङ्क्याह—

प्रवृत्त्यर्थं तु सर्वत्र मुक्तिः फलमुदीर्यते ।
तदवस्थापरित्यागाद्वचनं सत्यमेव हि ॥ ५५ ॥

प्रवृत्त्यर्थमिति । मुक्तिः सर्वेषामभिलषिता । अतस्तदर्थमेव सर्वोऽपि प्रवर्त्तते, न संसारार्थमिति, सर्वेषां प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं बालानुशासनन्यायेन मुक्तिः फलमुदीर्यते,

---

टिप्पणी ।

प्रकृते त्रिविधान्यपि पुराणानीति । तद्यथा तथा प्रदर्श्यते । "मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च । आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे ॥१॥ वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् । गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शनम् ॥ २ ॥ सात्त्विकानि पुराणानि विशेषेण शुभानि वै । ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च ॥ ३ ॥ भविष्यद्वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे" ॥५४॥

आवरणभङ्गः ।

परिग्राह्याः । यथा तीर्थे नानादेशकल्पेषु तीर्थं आगता अपि तीर्थस्नानादिकं कुर्वन्तोऽपि स्वस्वदेशकुलवर्णाश्रमसम्प्रदायमनुसृत्यैव कुर्वन्ति, न तु तदतिक्रमेण, तथा सङ्कीर्णासङ्कीर्णेषु कल्पेष्वपि तादृशा जीवास्तथैव प्रवर्त्स्यन्त इति तत्सत्त्वे ते ग्राह्या इत्यर्थः । मूले, अपेक्षितम् । अधिकारिविशेषणीभूतं श्रद्धादिकं सर्वपुराणेषु सर्वपुराणोक्तं क्वचिदङ्गादौ गृह्यत इत्यर्थः । प्रकृत इत्यादि । योऽयं श्वेतवाराहाख्यः कल्पस्तमधिकृत्य शिवादिभ्यः सूक्ष्मकथनादयं सङ्कीर्ण इति भाति । तत्र त्रिविधा अपि जीवाः सन्तीति तद्बीजकथनपूर्वकं त्रिविधपुराणेषु तामसपुराणाऽसत्त्वे तामसानां स्वेच्छाचारित्वेऽतितामसत्वं ततो नरकः स्यात् । सत्त्वे तु तदुक्तधर्माचरणेऽग्रे राजसत्वं, ततस्तद्धर्मकरणे क्रमात् सात्त्विकत्वं, ततो मोक्ष इत्यर्थः । इदं प्रमेयं प्रथमस्कन्धाज्ज्ञातव्यम् । "पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः । तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनमि"ति वाक्येऽस्यार्थस्य स्फुटत्वात् ॥५४॥

एवं सति पुराणान्तरविरोधमाशङ्कते ननु तत्तदिति । उत्कर्षेणेति । तत्तद्गुणत्याजनरूपेणेत्यर्थः । नन्वेवं व्यवस्थानङ्गीकारे पार्थिवेत्यादि वाक्यं विरुद्ध्येतेति चेन्नेत्याह सात्त्विका इत्यादि । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहुः यथेत्यादि । अत्र समाधिमाहुः प्रवृत्तीत्यादि । बालाऽनुशासनन्यायेनेति । "त्वं दुग्धं पिब तव केशा दीर्घा भविष्यन्ती"ति बालोऽनुशास्यते ।

न तु राजसकर्मणा मुक्तिर्भवति। "मध्ये तिष्ठन्ति राजसा" इति भगवद्वाक्यात्। परमानन्दलक्षणस्य मोक्षस्य वैजात्याभावात्। सात्त्विकानां नैर्गुण्यम्, तेन च मोक्षः। तत्र साधनता सर्वथा भगवत्सम्बन्धेनैवावच्छिद्यते, न तु ज्ञानित्वेन भक्तत्वेन वा। "मामेव ये प्रपद्यन्त" इति वाक्यात्। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती"त्यादिपरम्परयेति ज्ञातव्यम्।

टिप्पणी।

तत्र साधनतेति। ज्ञानस्य स्नेहभजनस्यापि वा भगवत्सम्बन्धिन एव मोक्षसाधनता नान्यस्येत्यर्थः। **तमेवेति।** "तमेवं विद्वानि"ति "ज्ञानयोगश्चे"ति वाक्याद्भक्तिज्ञानयोः कारणत्वश्रवणात्तयोः प्रयोजकत्वेन परम्पराकारणत्वमनुगतस्य भगवत्सम्बन्धस्यैव साक्षात्कारणत्वमित्यर्थः।

आवरणभङ्गः।

तत्र न हि तस्य केशदैर्घ्ये तात्पर्यमपि तु पयःपानप्रवृत्तौ। तथात्र तत्तत्साधने प्रवृत्तावेव तात्पर्यं, न मुक्ताविति तथेत्यर्थः। नन्वत्र बालानुशासनन्याय एवेति कथमवगन्तुं शक्यते इत्याकाङ्क्षायामर्थापत्तिं प्रदर्शयन्ति **नन्वित्यादि**। राजसेनैव तामसा अपि व्याख्याताः। नच, "यत्तु कामेप्सुना कर्मे"त्यादिना यादृगुच्यते तादृशत्वाभावे कर्मणः कथं राजसत्वादिकमिति शङ्क्यम्। ईदृशत्वाभावेऽपि तादृक्पुराणोक्तत्वमात्रेणापि राजसत्वादिसिद्धेः। जैनसिद्धान्तसिद्धसर्वभूताऽहिंसावत् तथात्वापत्तौ बाधकाभावात्। नन्वेवं द्विविधवचनानुरोधात् कारणवैजात्ये फलवैजात्यदर्शनाच्च मोक्ष एव वैजात्यमङ्गीकार्यमित्यत आहुः **परमेत्यादि**। नन्वेवं सति सात्त्विकादपि कर्मणः कथं मुक्तिर्गुणजन्यत्वस्य तत्रापि तौल्यादित्यत आहुः **सात्त्विकेत्यादि**। तथाच, न हि तस्मादपि साक्षान्मुक्तिरस्माभिरुच्यते येनेदं दूषणमापद्येत, किन्तु तस्य कर्मणो नान्तरीयकाधिकारसम्पादकत्वम्, "ऊर्ध्वं गच्छन्ती"ति वाक्यादङ्गीक्रियते। अधिकारश्च सत्त्वेनैव, "सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनमि"ति नैर्गुण्यसम्पादकत्वादतो न दोष इत्यर्थः। ननु गीतावाक्यस्य कर्तृविशेषफलविशेषबोधकत्वेन, कर्मविशेषफलविशेषनियमबोधकत्वादविरुद्धत्वेन, पुराणेषु च सर्वेष्वेव निष्कामकर्मविशेषान्मोक्षस्य कण्ठोक्तत्वेन श्रौतकर्मवदेभ्योऽपि ज्ञाने भक्तौ वा जातायां व्यापारे सम्पन्ने सर्वेभ्य एव मोक्षो भविष्यति। यद्वा। तानि ज्ञानं भक्तिं वा जनयित्वोपक्षीयन्तां, तदुक्तज्ञानभक्तिभ्यामेव मुक्तिर्भविष्यतीत्यङ्गीकार्यम्। अन्यथा मुक्तिवाक्यस्य बाधितार्थत्वेनाप्रामाण्यं स्यादित्याशङ्कायां वचनस्य सत्त्वमुपपादयितुमाहुः **तत्रेत्यादि**। **तत्रेति। नैर्गुण्ये।** तथाच निर्गुणत्वेन सम्बन्धत्वेन कार्यकारणभावस्य सावधारणेन गीतावाक्येन निश्चयाद् राजसतामसपुराणीयज्ञानभक्त्यो रूपान्तरविषयकत्वेन सर्वथा भगवत्सम्बन्धाजनकत्वनिश्चयाज्जाते अपि अकिञ्चित्करे इत्यर्थः। नन्विदमप्रयोजकम्, श्वेताश्वतरश्रुतौ शिवरूपं प्रकृत्य, "तमेव विदित्वे"ति श्रावणाद् रूपान्तरविषयकज्ञानस्यापि मोक्षसाधनत्वादित्यत आहुः **तमेवेत्यादि**। **इत्यादीति।** इत्यादिवाक्यं परम्परया नैर्गुण्यजनकव्यापारान्तरद्वारा मोक्षसाधनताबोधकं ज्ञातव्यम्। तथाच श्रौतस्यैवकारस्य कर्मवाचकपदसमभिव्याहृतत्वाद् व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धभावाच्च न श्रुतिविरोधः। परम्परानङ्गीकारे तु गीतावाक्यविरोध इति

सर्वथा सम्बन्धे पुनर्बहूनि कारणानि । तत्रावान्तरजातिभेदेऽपि न कदाचित् क्षतिः, दण्डवत् । अतः स एव परमपुरुषार्थः । तत्साधनेष्वपि मोक्षपदप्रयोगो, यथा लोके । न हि तादृशीमवस्थामापन्नो मुच्यते । अतस्तदवस्थापरित्यागो वक्तव्य एव । अतो मुक्तिप्रतिपादकं वाक्यं सत्यमेवेत्याह तदवस्थेति ॥ ५५ ॥

टिप्पणी ।

तत्रेति । अवान्तरजातिभेदेऽपि दण्डस्य घटकारणत्ववत्सम्बन्धस्यापि मोक्षहेतुत्वसम्भवात् । स एवेति । सर्वथा भगवत्सम्बन्ध एवेत्यर्थः । तदिति । यथा लोके आरोग्यादौ सुखपदप्रयोग आरोग्यं प्रथमं सुखमिति । तथा राजसावस्थापादकतामसावस्थात्यागे, सात्त्विकावस्थापादकराजसावस्थात्यागे, नैर्गुण्यावस्थापादकसात्त्विकावस्थात्यागे च परम्परयापि मोक्षसाधने मोक्षपदप्रयोग इत्यर्थः । अत एवाग्रे न हीति । राजसीं तामसीं वाऽवस्थामापन्नो न मुच्यत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

आवरणभङ्गः ।

तथेत्यर्थः । नन्वस्तु रूपान्तरज्ञानस्य परम्पराकारणत्वं, तथापि सर्वथा भगवत्सम्बन्धे तु तस्य साक्षात्कारणता वाच्या । तथैव भक्तेरपि । एवं सति रूपाणामनन्तत्वात् तद्विषयकज्ञानभक्त्योः सम्बन्धकारणतायामननुगमतादवस्थ्यमित्यत आहुः सर्वथेत्यादि । "कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा । नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते" । "सम्बन्धाद् वृष्णयः" "भक्त्या वयं", "सत्सङ्गान्मामुपागताः", "केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगा" इत्यादिवाक्यैस्तत्तन्नानासाधकतायाः शास्त्रसिद्धत्वात् । तत्र सम्बन्धेऽवान्तरजातिभेदे शैवत्वादिजातिभेदेऽपि न काचित् क्षतिः । "वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः" इति तत्तद्रूपभक्तानुपक्रम्य, "बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः" इत्युपसंहारे स्वपदप्राप्तिकथनान्न फलवैजात्यम् । यथा नानाजातीयदण्डैर्घटरूपे फले तद्वत् । सिद्धमाहुः अत इत्यादि । स इति । उक्तरूपसम्बन्धः । अयञ्च तन्मयत्वरूपः सर्वात्मभावाख्यः । "यान्ति तन्मयतामि"ति वाक्यात् । प्रपत्तिशब्दवाच्योऽप्ययमेव । न च ज्ञानविशेष एव प्रपत्तिरिति वाच्यम् । धात्वर्थविरोधात् । न चोपसर्गेण तदवगमः । प्राप्त्यर्थस्यापि शक्यवचनत्वात् । ननु भवत्वेवम्, तथापि, कर्मणा मुक्तिबोधकानां वाक्यानां कथं सङ्गतिरित्यत आहुः तत्साधनेष्वित्यादि । कर्मफलानां तत्तद्रूपविषयकज्ञानादीनां मुक्तिसाधनत्वाल्लाक्षणिकस्तेषु मोक्षपदप्रयोगः । यथा लोके आरोग्यं प्रथमं सुखं स्वानुकूल्येनेन्द्रियप्रवृत्तिः काम इत्यादावित्यर्थः । एवं प्रयोगमुपपाद्य पूर्वोक्तयुक्तिं स्मारयन्तः सङ्गतिं वदन्ति न हीत्यादि । तादृशीमिति । राजसतामसकर्मरुच्यानुमितां राजसीं तामसीं च । अत्रेदं सिद्ध्यति । मुक्त्यर्थं पाषण्डादिरहितेनाधिकारिणा क्रियमाणैस्तामसधर्मैस्तामसावस्थात्यागेन राजसत्वम्, ततस्तेन तथा क्रियमाणै राजसधर्मैः सात्त्विकत्वम्, ततस्तादृशेन क्रियमाणैस्तैः सर्वथा भगवत्सम्बन्धे नैर्गुण्यम्, ज्ञानार्थं क्रियमाणैस्तु राजसतामसैर्बहुजन्मविपाके तत्तद्रूपविषयकज्ञानपरिपाकः, एवं भक्त्यर्थं क्रियमाणैस्तादृशभक्तिपरिपाकः,

---

१ तस्येति पाठान्तरम् ।

नन्वेककल्पप्रतिपादकत्वं पुराणानामसङ्गतम् । यतश्चतुर्युगवार्तामेव पुराणानि कथयन्ति । कलौ सर्वेषां पर्यवसानात् । अतोऽष्टादशयुगवार्तैव पुराणानामर्थः कुतो न भवेदित्याशङ्क्याह—

चतुर्युगे तु व्यासानां नानात्वात् स्वस्वकालजम् ।
वृत्तान्तमाहुर्नान्यस्य कल्पान्तास्तेन कीर्तिताः ॥ ५६ ॥

चतुर्युगेति । एकस्मिन् कल्पे सहस्रं व्यासा भवन्ति । तेषां द्वापरान्तेऽधिकारः ।

आवरणभङ्गः ।

ततः सर्वथा तद्रूपभगवत्सम्बन्धे नैर्गुण्यम्, तेन मोक्ष इति तामसानां विलम्बबाहुल्यम्, राजसानां ततो न्यूनम्, सात्त्विकानां तदभाव इति पौराणिकमुक्तिव्यवस्थेति । एवमत्र क्रममुक्तिरूपं फलं निरूपितम् । अयमेवार्थो ब्रह्मपुराणे समाप्तिदशायां विष्णुमायानुकीर्त्तनाध्यायेऽपि प्रतिपादितो व्यासवाक्येषु "शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः । यथा कृष्णे भवेद्भक्तिः पुरुषस्य महाफला । संसारेऽस्मिन् महाघोरे सर्वभूतभयावहे । महाभयङ्करे नृणां नानादुःखसमाकुले । निन्द्ययोनिसहस्रेषु जायमानः पुनः पुनः । कथञ्चिल्लभते जन्म देही मानुष्यकं द्विजाः । मनुष्यत्वेऽपि विप्रत्वं विप्रत्वेऽपि विवेकिता । विवेकाद्धर्मबुद्धिस्तु बुद्ध्या तु श्रेयसां ग्रहः । यावत्पक्षद्वयं पुंसां न भवेज्जन्मसञ्चितम् । तावन्न जायते बुद्धिर्वासुदेवे जगन्मये । तस्माद्वक्ष्यामि भो विप्राः कृष्णभक्तिर्यथा भवेत् । अन्यदेवेषु या भक्तिः पुरुषस्येह जायते । कर्मणा मनसा वाचा तद्गतेनान्तरात्मना । तेन तस्य भवेद्भक्तिर्यजने मुनिसत्तमाः । स करोति ततो विप्रा भक्तिं चाग्नेः समाहितः । तुष्टे हुताशने तस्य भक्तिर्भवति भास्करे । पूजां करोति सततमादित्यस्य ततो द्विजाः । प्रसन्ने भास्करे तस्य भक्तिर्भवति तत्त्वतः । सेवां करोति विधिवत् स तु शम्भोः प्रयत्नतः । तुष्टे त्रिलोचने तस्य भक्तिर्भवति केशवे । सम्पूज्य तं जगन्नाथं वासुदेवाख्यमव्ययम् । ततो भुक्तिं च मुक्तिं च सम्प्राप्नोति द्विजोत्तमाः" इति । गीतायां च "येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् । अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् । देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपी"ति । अतो राजसादिपुराणस्थानां मुक्तिवचनानां तदवस्थापरित्याग एव मुक्तिपदार्थ इति निष्कर्षः । अत्रेदं सिद्ध्यति । पुराणं वेदवदेव भगवन्निश्वासरूपं तत्तत्कल्पीयभुवनद्रुमात्मकस्य भगवतो लीलां प्रतिपादयच्छिवादिरूपस्य माहात्म्यं परब्रह्मण एव वदति, श्रौतधर्मकालादिव्यवस्थां, सर्वपदार्थस्वरूपं च निर्द्धारयति, तदुक्तरीत्या तद्धर्माचरणे तु तत्तदवस्थानिवृत्तिरूपैव मुक्तिः[1], क्रमेण परमाऽपि मुक्तिर्भवति । तथैव तदुक्तभक्त्याऽपि । तेन तत्तत्कल्पात्मककालाधीनमेव तद्बलं, न तु तन्निरपेक्षमिति ॥ ५५ ॥

अत्र कल्पात्मककालाधीनत्वं न युज्यत इत्याशयेन शङ्कते नन्वित्यादि । समाधिग्रन्थस्तु प्रकटार्थः । एकैककल्पप्रतिपादकत्वं द्वापरान्ते व्याससनिवेशनं चास्माभिः पूर्वं मात्स्यवचनोपन्यासेन

---

१ मुक्तिक्रमेणेति पाठः ।

ततः पुनः कृतौ सर्वविद्यानां पूर्णता । पुनरन्यस्य व्यासार्थं द्वापरान्ते निवेशनमिति । अतस्ते स्वचतुर्युगवार्तामेव कथयन्तीति न दोषः ॥ ५६ ॥

भारते भिन्नः प्रकार इति तत्रापि कल्पभेदमाह—

सर्वनिर्द्धारणार्थाय व्यासो भारतमुक्तवान् ।
एकं कल्पमुपाश्रित्य स्त्रीशूद्राणां हिते रतः ॥ ५७ ॥

सर्वनिर्द्धारणार्थायेति । एकं यं कञ्चन, यत्र कल्पे तथापदार्थाः । ततः स्त्रीशूद्राणां महत्त्वं सिद्ध्यति । यतस्तत्र सर्वेषामाचारो निरूपितः "न शूद्राय मतिं

टिप्पणी ।

ततः पुनरिति । व्यासात्पुनर्भागवतकृतौ सत्यां फलस्य जातत्वात्सर्वविद्यानां पूर्णता जातेत्यर्थः । पुनरन्यस्येत्यारभ्य न दोष इत्यन्ते । अन्यस्य भगवदंशस्य पुनर्व्यासार्थं निवेशनमिति हेतोस्तस्य सर्वज्ञत्वात्तैनैककल्पप्रकारकथनं पुराणे युज्यतेऽतस्ते च चतुर्युगवार्तामेव कथयन्तीत्येककल्पप्रतिपादकत्वं पुराणानामसङ्गतमिति दोषो न भवतीत्यर्थः । यद्वा, भारते कल्पवृत्तान्तकथनं प्रकार इति हेतोः कल्पज्ञानस्य सत्त्वात्पूर्वोक्तदूषणं न भवतीत्यर्थः । प्रथमपक्षे व्याख्यातार्थे प्रमाणं भारत इति । मूलार्थस्तु, चतुर्युगेषु व्यासा स्वस्वकालजं वृत्तान्तमाहुर्नान्यस्य, तेन, भगवदंशेन व्यासेन कल्पान्ताः कल्पपर्यन्तस्थिताः पदार्थाः कीर्तिता इत्यर्थः । वक्ष्यन्ति च मूले साम्प्रतमेव हि "स्वयं भूत्वा हरिः कृष्णः स्वांशं व्यासं चकार हे"ति ॥ ५६ ॥

तत्रेति । भारतोक्ते अर्थ इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

आवरणभङ्गः ।

प्रदर्शितमेव । न दोष इति । चतुर्युगवार्ताप्रतिपादकत्वं कल्पप्रतिपादकताबाधकं न भवतीत्यर्थः । मूले कल्पान्ता इति । पुराणार्था इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

एवं पुराणप्रमेयं निश्चित्येतिहासस्यापि पुराणतुल्यत्वात्तत्प्रमेयं निश्चेतुमाहुः । भारत इत्यादि । भिन्न इति । पुराणोक्तप्रकाराद्भिन्नः । सर्वनिर्द्धारणार्थायेतीति । इदानीं त्रिविधपुराणसत्त्वेन सङ्कीर्णजीवानां किं पुराणोक्तं कार्यमिति पुराणार्थविषयकं पुराणानामुपबृंहणत्वेन वेदार्थविषयकं च सन्देहं दृष्ट्वा "धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ । यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचिदि"ति वाक्यात् पुराणोक्तार्थस्वरूपबोधकत्वेन, "भारतव्यपदेशेन आम्नायार्थश्च दर्शितः" इति वाक्याद्विशेषार्थज्ञापकत्वेन च सर्वेषां श्रुत्युक्तेऽर्थे सन्देहनिरासायेत्यर्थः । एवं प्रयोजनकथनमुखेन सर्वनिर्द्धारकं तस्य प्रमाणस्य स्वरूपमित्युक्तम् । निर्द्धारणे प्रकारमाहुः एकमित्यादि । तथा पदार्था इति । यादृशा भारत उक्ताः । तादृशकल्पाश्रयणप्रयोजनमाहुः स्त्रीशूद्राणां हिते रत इति मूले । तथात्वं च "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह । इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतमि"ति प्रथमस्कन्धे, "स्त्रियो धन्याः शूद्रो धन्य" इत्युपाख्याने विष्णुपुराणे च प्रसिद्धम् । सर्वनिर्द्धारणेन किं हितं कृतवानित्यपेक्षायां, सर्वनिर्द्धारणमिति मूलं विवृण्वन्तस्तदाहुः तत्रेत्यादि । यतस्तत्रेति । यतो हेतोर्भारत इत्यर्थः । एतेन साध-

दद्यादि”त्यादिनिषेधस्तत्र न भवति । कृतयुगे वा मानवा धर्माः पराशरवाक्यात् ॥ ५७ ॥

कल्पस्वरूपमाह—

धर्मनिर्द्धारणं तत्र सर्वेषां समुदाहृतम् ।
प्रत्यब्दं वृक्षवत् कल्पा भुवनद्रुमरूपिणः ॥ ५८ ॥

प्रत्यब्दमिति ॥ ५८ ॥

ननु कृष्णः सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णः । तस्य स्वरूपकथनार्थं भागवतं प्रवृत्तम् । तच्च सारस्वतकल्पानुसारि । मत्स्यपुराणे तथा प्रदर्शनात् । अयं च श्वेतवाराहकल्पः । अतोऽत्रत्यानां कथं मुक्तिरित्याशङ्क्याह—

टिप्पणी ।

प्रत्यब्दमितीति । मूलं यथा काण्डपत्रादिभेदेन प्रत्यब्दं वृक्षो विलक्षणो भवति, तथा कल्पा अपि विलक्षणभुवनद्रुमवन्तो भवन्तीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

आवरणभङ्गः ।

नमप्युक्तम् । इत्यादीति । मन्वाद्युक्तः “भारतव्यपदेशेन आम्नायार्थश्च दर्शितः । दृश्यते यत्र धर्मादिः स्त्रीशूद्रादिभिरप्युते”ति वाक्यादित्यर्थः । ननु “यद्वै किञ्चे”ति श्रुतेर्नैवमुचितमित्यतः पक्षान्तरमाहुः कृतयुगेत्यादि । “कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां दक्षगौतमाः । द्वापरे शाङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृता” इति पराशरस्मृतेस्तथेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

कल्पेत्यादि । कल्पो नाम पूर्वोक्तरीतिकं ब्रह्मणो दिनादिकम् । तदुपाश्रयणेन धर्मादीनां वैलक्षण्यं कथं भवति येन स्त्र्यादिहितसिद्धिरित्याकाङ्क्षायां कल्पस्वरूपमाहेत्यर्थः । प्रत्यब्देति । तथाच तेषां स्वरूपवैलक्षण्येन यथा लोकसंस्थानां नानात्वं तथा लौकिकधर्मादीनामपि नानात्वमिति सुखेन स्त्र्यादिहितसिद्धिरित्यर्थः । एतेन काम्यं फलमप्युक्तम् ॥ ५८ ॥

अतः परं मुख्यं प्रमेयादिकं वक्तव्यम् । तच्च गीतायां स्फुटमिति तां विचारयितुं तस्याः श्रीभागवतेन सहैककोटित्वाच्च तत्प्रयोजनकथनपूर्वकं मुख्यफलं विचारयन्त आशङ्कन्ते । ननु कृष्ण इत्यादि । अत्रायमर्थः । स्त्रीशूद्रादीनां महत्त्वसाफल्यं श्रेयःप्राप्त्या भवति, न तु प्रेयःप्राप्त्या । श्रेयस्तु, “मोक्षमिच्छेज्जनार्दनादि”ति वाक्याद्भगवदधीनमिति निर्णीतम् । भगवाँस्त्वस्मिन् कल्पे अवतीर्णः कामादिना सर्वथा स्वसम्बद्धान् स्वरूपेण मोचितवान् । तदुक्तं श्रीभागवते, “गोप्यः कामादि”ति । वल्लभीमपार्थव्याजाह्वयेन “हरिणा निलय तदीयम्” इति । गारुडे च, “अज्ञानिनः सुरवरेशमधिक्षिपन्तो यं पापिनोऽपि शिशुपालसुयोधनाद्याः । मुक्तिं गताः स्मरणमात्रविधूतपापाः कः संशयः परमभक्तिमतां जनानामि”ति । तेन तदानीं तु न भारतोपयोगः । साम्प्रतं तु नावतार इतीदानीं स्वरूपज्ञाने सति भक्त्यादिसाधने भारतमुपयुज्येत । ज्ञानं तु श्रीभागवताधीनम् । तच्चोक्तरीत्या नैतत्कल्पानुसारीत्येतत्कल्पीयानां तदुक्तज्ञानानुपयोगात्तदभावे च भक्त्याद्यभावादिदानीमपि तेन मुक्त्यभाव इतीदानीमपि नोपयोग इत्याशङ्क्य भारतोक्तप्रकारेण मुक्तिनिरूपणार्थं

अन्यकल्पोक्तरीत्याऽपि कथितो भगवान् स्वयम् ।
कल्पेऽस्मिन् सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णस्तु सर्वतः ।
सर्वतत्त्वं सर्वगूढं प्रसङ्गादाह पाण्डवे ॥ ५९ ॥

अन्यकल्पेति । अन्यकल्पस्य रीतिरेव गृहीता । सर्वत्र पुराणे तथैव निर्णयात् । न तु राजसानामेव मोक्षदः । ननु स्वरूपेणैव सर्वमुक्तिं करिष्य इति किं भागवतेनैवेत्याशङ्क्य भगवतोऽपि अभिप्रायकथनार्थमाह सर्वतत्त्वं सर्वगूढमिति । अर्जुनाऽर्थे प्रसङ्गाद् गीतामाह । अतो ज्ञायते शास्त्रद्वारैव मोचक इति । प्रवृत्तिं वा सम्पादयिष्यतीति ॥ ५९ ॥

टिप्पणी ।

अन्यकल्पस्येति । सारस्वतकल्पस्य प्रकार एवोक्तो न तु तस्मिन्नेव कल्पे भगवांल्लीलां कृतवांस्तत्कल्पस्थितानामेव मोक्षद इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

आवरणभङ्गः ।

सार्द्धेन समाधिमाहेति अन्येत्यादि । सारस्वतकल्पे उक्ता या रीतिः सैव भारते गीतायां गृहीता । तत्र गमकं सर्वत्रेत्यादि । श्रीभागवते, "अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः", "पाद्मं कल्पमथो शृणु", ''अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत । वराह इति विख्यातो यत्रासीच्छूकरो हरिरि"ति कल्पान्तराणामपि कथनान्मात्स्ये सप्तकल्पकथनादन्येष्वपि तथा दर्शनात्, सर्वेषु पुराणेषु नराऽमराणां वृत्तान्तस्य रीतिरेव गृह्यत इति निर्णयात् । तद्रीत्याऽत्र भगवानुच्यते, न तु तत्तत्कल्पीया एव जीवाः । तेषां मुक्तत्वादतो न राजसानामेव मोक्षदः, किन्तु, सर्वेषामतोऽस्मिन्नपि सर्वतः कामक्रोधादितो मोचयिष्यतीत्यर्थः । भारतश्रीभागवतयोरैकाधिकरण्यं च, "मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां", "सखाऽपि ते भारतमाह कृष्णः", "यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादैर्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायामि"ति तृतीयस्कन्धे विदुरवाक्ये स्फुटम् । ननु स्वरूपेणैवेत्यादि । यदि तत्कल्परीतिरेवात्र गृहीता तदा तत्र, "नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप" इति वाक्यात् स्वरूपेणैव मोक्षं दास्यति । श्रीभागवतं तु तत्कल्पानुसारीत्यस्मिन् किं तेन तदीयस्य साधनांशस्यात्र ग्रहीतुमशक्यत्वाद्, ग्रहणे व्यवस्थाभङ्गप्रसङ्गादित्याशङ्क्य तेन साधनेनास्मिन्नपि कल्पे भगवतो मुक्तिर्दित्सितेति भगवदभिप्रायकथनार्थं तद्गमकमाहेत्यर्थः । मूले सर्वतत्त्वमित्यादि । शोकमोहनिवारणाय साङ्ख्ययोगनिरूपणप्रस्तावे स्वभक्तोपरि कृपया स्मृतस्य बुद्धिस्थस्योपेक्षानर्हत्वाद्राजविद्यादिकथने, "मया ततमिदं सर्वमि"त्यादिना सर्वतत्त्वं वेदादीनां निष्कृष्टं प्रमेयं, "मन्मना भव", "सर्वधर्मानि"त्यादिना सर्वगूढम् इतराज्ञातं साधनं फलं चाऽर्जुनार्थं भगवानाहेत्यर्थः । प्रवृत्तिमिति । अत्रापि शास्त्रद्वारेति सम्बद्ध्यते । तथाचास्मिन्नपि कल्पे शास्त्रद्वारा मोचयिष्यति, भक्तौ शरणे च प्रवृत्तिं वा सम्पादयिष्यतीति गीतोपदेशाज्ज्ञायते । अतो मुख्ये साधने फले च न सन्देह इति भावः । एतेन वेदपुराणार्थं निर्द्धारकमेतस्य स्वरूपं वेदादिप्रमेयमेव । निष्कृष्टरूपेण प्रमेयं तथैव साधनं फलं चेति विचारितम् । तेनैतस्य प्रमेयस्य बलं सर्वाधिकमिति निर्णीतम् ॥ ५९ ॥

नन्वेवं सति कथं व्यासस्यानिर्वृतिस्तत्राह—

शुकवत्तद् व्यासगीतं सत्त्वेनास्यावतारतः ।
ईशवाक्यं तु तस्यापि दुर्बोधं भजनादृते ॥ ६० ॥

शुकवत्तद् व्यासगीतमिति । अभिप्रायाज्ञाने हेतुः । सत्त्वेनास्येति । सत्त्वांशव्यवधानेनावतारो यतः । ननु वाक्यस्य विद्यमानत्वाद् वाक्यार्थविचारकस्य कथं भ्रमस्तत्राह ईशवाक्यमिति । अनेन भजनव्यतिरेकेण भागवतार्थो नावगम्यत इति सूचितम् ॥ ६० ॥

नन्वेतादृशोऽग्रे कथं तत्त्वं वक्ष्यतीत्याशङ्क्याह—

जीवा एव हि सर्वत्र व्यासाः साम्प्रतमेव हि ।
स्वयं भूत्वा हरिः कृष्णः स्वांशं व्यासं चकार सः[1] ।
स्वज्ञापनाय भक्तानां पदप्राप्त्यै ततः परम् ॥ ६१ ॥

जीवा एव हीति । भगवदिच्छया तदर्थमंशावतरणात् । प्रयोजनमाह स्वज्ञापनायेति । ततः परं रूपलीलातिरोभावानन्तरं नामलीलया क्रीडां कर्तुं व्यासावतार इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

नन्वस्यार्थस्य बुद्धिपरिकल्पितत्वे काव्यवदसत्यत्वं स्यात् । वेदपुराणयोर्विद्यमानत्वे जीवैरपि कर्तुं शक्यत इति किं व्यासाऽवतारेणेत्याशङ्क्याह—

सत्त्वस्य व्यवधानत्वादात्मज्ञानात्तु योगतः ।
व्यासकार्यं समस्तं च कृतवानधिकं तथा ।
अनिर्वृतिस्ततो जाता तेन भागवतं कृतम् ॥ ६२ ॥

सत्त्वस्येति सार्द्धैस्त्रिभिः ।—

आवरणभङ्गः ।

तदेतत् सर्वमेव सप्रपञ्चं व्युत्पादयन्ति नन्वित्यादिना । एवं सतीति । व्यासेन भारते गीतोपनिबन्धनादिना सर्वनिर्द्धारे कृते सति । शुकवत्तद्व्यासगीतमिति । तद् गीतोपनिबन्धनरूपं व्यासवाक्यं शुकवत्, शुकस्य पक्षिण इव अर्थानवबोधेन युद्धारम्भे गीताया उक्तत्वेन युद्धप्रतिबन्धनिवर्तकतया युद्धशेषत्वेनैवोच्चारितम् । एवमानुशासनिकेऽपि कालादिशेषत्वेन धर्मत्वेन चोच्चारितं, तेनानिर्वृतिरित्यर्थः । अभिप्रायाज्ञान इति । अनिर्वृतिहेतुभूते तस्मिन्नित्यर्थः । भागवतार्थ इति । भगवत्प्रोक्तवाक्यार्थः ॥ ६० ॥

अग्र इति । सूत्रे श्रीभागवते चेत्यर्थः । तदर्थमिति । तत्त्वकथनार्थं तथाचांशावतारत्वाद्वक्ष्यतीत्यर्थः । प्रयोजनमिति । तत्त्वकथनप्रयोजनम् । पदप्राप्त्या इत्यत्र हेतुः नामलीलया क्रीडां कर्तुमिति ॥ ६१ ॥

इत्याशङ्क्याहेति । एवं जीवशक्यत्वं तत्त्वकथनस्याशङ्क्य तदशक्यत्वमाहेत्यर्थः । सत्त्वस्येति । मूले, तुः पूर्वपक्षनिरासे । "ततः सप्तदशे जात" इति वाक्येन पुरुषावतारतया सत्त्वस्य व्यवधानेन

---

१ चकार हेति पाठः ।

यत्र व्यासस्याप्यज्ञानं तत्र जीवानां का वार्तेति निरूपयितुमनिर्वृतिर्भारतनिर्माणं चोक्तम्। ततो भगवदिच्छया व्यवधायके अपगते भागवतं कृतमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

ननूक्तं पूर्वसिद्धोऽर्थो न वेति तत्राह—

सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतयोदितः।
ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः ॥ ६३ ॥

सर्वगोप्यो हीति। भगवति वेदार्थ एव परं गुप्तः। भगवदिच्छया यदा पुनः सर्वोद्धारार्थं प्रयत्नं कृतवाँस्तदा परम्पराया अभावान्नाऽन्यैर्व्यासैर्वक्तुं शक्यत इति व्यासावतारः ॥६३॥

अभिप्रायज्ञापनार्थं गीतायां स एव प्रकटीकृतः। तर्हि तावन्मात्र एव वक्तव्यः स्यादित्यत आह—

स इदानीं तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः।
तद्व्यासत्वाद्भागवतं पूर्वं भगवतोदितम् ॥ ६४ ॥

तद्व्यासत्वादिति। यथा भागवतं गीताविस्तारस्तथा नामलीलारूपभगवद्विस्तारो व्यासः। परम्परान्तरमप्याह पूर्वं भगवतोदितमिति ॥ ६४ ॥

आवरणभङ्गः।

स्वस्वरूपाज्ञानात् केवलयोगतो व्यासकार्यं वेदानां व्यासं समस्तं पुराणसमसनं च कृतवान्। तथा तेनैव प्रकारेण स्वस्वरूपाज्ञानसहभूतेन योगेन अधिकं भारतं च कृतवान्। मत्स्यपुराणादिषु पुराणसमसनमेव व्यासकार्यत्वेनोक्त्वाऽग्रे पुराणसङ्ख्यादानफलतल्लक्षणान्युक्त्वा सत्यवतीसुतो भारताख्यानं चक्र इत्यनेन सत्यवतीसुतस्यैव भारतकर्तृत्वमुच्यते। तेन व्यासान्तरापेक्षया कार्याधिक्यमुच्यते। तथा सति यत्सिद्ध्यति तदाहुर्विवृतौ यत्रेत्यादि। व्यासस्येति। उक्तस्वरूपात्मकस्येत्यर्थः। उक्तमिति। श्रीभागवते व्यासेनैवोक्तमित्यर्थः। तेन सिद्धमाहुः तत इत्यादि। अतो जीवानां सर्वथैवेदमशक्यमिति भावः। एवमनिर्वृतिहेतुकथनमुखेन तस्याः सर्वतत्त्वकथने अबाधकत्वमुक्तम् ॥६२॥

उक्तार्थं दृढीकर्तुं पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि। अत्र सार्द्धेन श्रीभागवतस्य प्रमेयमुक्तं, गीतासामानाधिकरण्यं च बोधितम्। सर्वगोप्यत्वं च। "सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्" इति वाक्यात् "धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्रे"ति वाक्याच्च ज्ञायते। वेदे मुख्यतया कथितत्वं च, "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येने"ति, "धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसामि"त्यादिवाक्यैः, "तमु स्तोतारः पूर्व्यमि"त्यादिश्रुतिभिश्च ज्ञायते। ब्रह्ममात्रप्रकाशत्वं च द्वितीयस्कन्धीयपुरुषसूक्ताध्यायात्। कृपया सनकादिगत्वं च हंसगीताया ज्ञेयम्। नन्वेवमन्यत्राप्युच्यते इति नास्य विनिगमनेत्यत आहुः यदा पुनरित्यादि। "यदा यदा हि धर्मस्ये"ति वाक्याद्, "यत एतद्विमुच्यत"इति वाक्याच्च सर्वोद्धारार्थमेव भगवदवतारः। तथा यदा पुनरिच्छा तदेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

अभिप्रायज्ञानार्थमित्यादि। स्वस्य भगवदभिप्रायज्ञातृत्वमस्तीति स्वाभिप्रायज्ञापनाय प्रकटीकृत इत्यर्थः। तर्हीति। यदि व्यवधायकेऽपगते गीतार्थ एव श्रीभागवते उक्तस्तर्हीत्यर्थः। तद्व्यासत्वादिति। तद् गीतापेक्षया आधिक्येन कथनं व्यासत्वात् स्वस्य नामलीलात्मकभगवद्विस्ताररूपत्वात्। एतदेव विवृण्वन्ति यथेत्यादि। तथाच व्यासत्वाद्यथा वेदस्य व्यासः कृतस्तथा गीताया अपीत्यतस्तावन्मात्रं नोक्तमित्यर्थः। परम्परान्तरमप्याहेति। आश्वमेधिके गीतार्थो यथा

तर्हि पञ्चरात्रवत् स्वतन्त्रता भवत्वित्याशङ्क्याह—

विश्वासार्थं पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकम् ।
प्रतिपाद्येशलीलायाः पुराणार्थं त्वतः पुनः ॥ ६५ ॥

विश्वासार्थमिति । आगमापेक्षयापि लोकानां पुराणे विश्वासः । हेत्वन्तरमाह भक्तिहेतुकमिति । तद्भ्युपासनाविधायकम् । अन्यमपि हेतुमाह प्रतिपाद्येति । ईशलीला सर्गादिरूपा । अन्यथा श्रोतुस्तत्तद्भावापत्त्यभावे तत्तत्कर्मक्षयाभावान्न मोक्षः स्यात् । अतो दशलीलाः पुराणलक्षणरूपा इति पुराणेषु प्रवेशः ॥ ६५ ॥

ननु पूर्वसिद्धं वेदत्वमेव कुतो नोक्तवाँस्तत्राह—

सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थं वेदत्वं तस्य नोक्तवान् ।
वेदकर्तृवचस्त्वाद्धि सतां सर्वं भविष्यति ॥ ६६

सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थमिति । व्यासस्यैतावान् सङ्कोचोऽग्रिमावतारकार्यसिद्ध्यर्थं

टिप्पणी ।

तर्हीति । पञ्चरात्रादिकमित्यर्थः । अन्यथेति । श्रीभागवते यदि दशलीला न निरूपिताः स्युः, तदा श्रोतुस्तत्र तत्र तच्च सर्गादौ भगवद्भावापत्त्यभावे भगवद्रूपत्वाज्ञाने इति यावत् । अथवा, ते ते निरूपितेन सर्गादिना माहात्म्यद्वारा भगवति स्नेहापत्त्यभावे विविधकर्मक्षयाभावान्मोक्षो न स्यादित्यर्थः । अतो दशलीला इति । सर्गश्चाथेति द्वादशस्कन्धे मुख्यपुराणलक्षणत्वेन दशानां निरूपणात् ॥ ६५ ॥

सङ्कोच इति । सर्वोद्धार इति शेषः । अग्रिमावतारेति । बुद्धावतारेत्यर्थः ॥ ६६ ॥

आवरणभङ्गः ।

प्रकारान्तरेणानूदितस्तथैवात्र कुतो नोक्तमित्याकाङ्क्षायामेतदाहेत्यर्थः । तथाच, यथा चतुःश्लोक्यां यद्भगवतोक्तं तदेव ब्रह्मणा नारदाय त्रिभिरध्यायैरुक्तं, तत्रैव, "त्वमेतद्विपुलीकुर्वि"त्याज्ञप्तं च । विपुलीकरणं चैकस्यैवार्थस्य तत्तदधिकारिणां हृदि प्रवेशाय नाना प्रकारेण कथनात् । यथा च नृसिंहोत्तरतापनीये ओङ्कारव्याख्यानस्य । अतो नारदवदेव व्यासेनापि विपुलीकरणात् परम्परान्तरेऽपीदं भागवतं गीताविस्तार इत्यर्थः । यद्वा "पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयमि"ति मोक्षधर्मे नारायणीयाद्भगवद्वक्तृत्वेऽपि "तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः । तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यत" इति वाक्यान्नारदवक्तृकत्वात्, परम्परान्तरेऽपि स एवार्थ एवमत्रापीत्यर्थः । एवमस्य प्रमाणस्य स्वरूपमुक्तम् ॥ ६४ ॥

तर्हीति । यदि परम्परान्तरेण कथनं तर्हीत्यर्थः । विश्वासार्थमिति । अतः स्वतन्त्रत्वं नोक्तमित्यर्थः । भक्तिहेतुकमिति । भक्तिहेतुं कायतीति भक्तिहेतुकं भक्तिसाधनाभिदायकमित्यर्थः । दशलीलाकथनप्रयोजनमाहुः अन्यथेत्यादि । एतेन प्रमेयं विशेषत उक्तम् ॥ ६५ ॥

पूर्वसिद्धमिति । वेदसारोद्धारत्वात् पूर्वसिद्धम् । सङ्कोचस्वरूपं सप्रयोजनमाहुः । अग्रिमेत्यादि ।

विश्वासाभावाय वेदत्वाकथनम्, पाक्षिकप्रयोजनसिद्ध्यऽर्थं वा, बुद्धावतारे वेदानां निराकरणात् । अतः पुराणार्थत्वेन वा तिष्ठत्विति युक्तमुत्पश्यामः । विश्वासस्तु भविष्यतीत्याह—वेदेति । सतां दैत्यावेशरहितानाम् ॥ ६६ ॥

मर्यादाशास्त्रापेक्षया भागवतस्योत्कर्षं वक्तुमाह—

स्वस्यान्यस्य च निर्वाहं वेदः कर्तुं न हि क्षमः ।
अत्यन्तमलिना लोकास्ततो भागवतं कृतम् ।
एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात् ॥ ६७ ॥

स्वस्येति । वेदार्थानुष्ठाने सिद्धे वेदः सफलो भवति, न तु स्वार्थानुष्ठानं सम्पादयितुं शक्तः । अतः स्वनिर्वाहे कुण्ठितः । तत्र हेतुः अत्यन्तमलिना इति । तर्हि भागवते कथं न स दोपस्तत्राह एतदभ्यसनादिति । अभ्यासमात्रेणैव तदर्थानुष्ठानाभावेऽपि लोको मुच्यते । परमत्रैको दोषः । तदुपजीवनमिति । अतस्तदभावमाह अनुपजीवनादिति । वृत्त्यर्थमुपायो न कर्त्तव्यः ॥ ६७ ॥

उभयोर्वैलक्षण्ये युक्तिमाह—

कालादिधर्महेतूनामभावात् साम्प्रतं कलौ ।
वेदस्मृतिपुराणानामर्थाः सर्वे हि बाधिताः ॥ ६८ ॥

कालादीति । कालादयः षट् शुद्धाः फलं साधयन्ति । ते कलौ कथमपि न शुद्धा भवन्ति । वेदाद्यर्थाश्च कालादिसाधनसापेक्षाः ॥ ६८ ॥

आवरणभङ्गः ।

अभिप्रायान्तरमाहुः पाक्षिकेत्यादि । तच्च प्रयोजनं पुराणोक्तरीत्या सर्वमुक्तिः । तथा सति मूलस्थं सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थपदं वेदत्वमित्यस्य विशेषणम् । सर्वमुक्तिनिवृत्तिरर्थः प्रयोजनं यस्य तादृशं वेदत्वमिति । एतदेव स्पष्टयन्ति बुद्धेत्यादिना । दैत्यावेशरहितानामिति । यथा बुद्धावतारेण कृतेऽपि वेदनिन्दने सर्वेषां न बाह्यत्वमपि तु दैत्यादीनामेव तथात्रापीति भावः ॥ ६६ ॥

आहेति । श्रीभागवतकरणमित्याहेत्यर्थः । अभ्यासमात्रेणेत्यादि । ईश्वरः "सद्योहृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणादि"ति वाक्यात्, "अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहे"ति वाक्यात्, "तस्माद्भारत सर्वात्मे"त्यत्र त्रयविधानमुखेनावृत्तिबोधनाच्च तथेत्यर्थः । एतेन साधनं फलं चोक्तम् । तर्हि सर्वमुक्तिरेव स्यादिति तद्वारणाय कालादिकृतं प्रतिबन्धकमुद्घाटयन्ति । परमत्रापीत्यादि ॥ ६७ ॥

उभयोरित्यादि । वेदार्थापेक्षया श्रीभागवतार्थस्य बलवत्त्वं बोधयितुमुभयोर्वेदोक्तश्रीभागवतोक्तसाधनयोर्वैलक्षण्येन युक्तिमाहेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

भागवतार्थस्तु न तानपेक्षते नित्यत्वात् सर्वाधिकारत्वात् सुलभत्वाच्चेत्याह—

कालादिसाधनापेक्षारहितः सर्वतोऽधिकः ।
फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः ॥ ६९ ॥

कालादिसाधनापेक्षारहित इति ॥ ६९ ॥

नन्वन्योऽपि मार्गो योगः साङ्ख्यं च कालाद्यपेक्षारहितः । योगेनैव सर्वानर्थनिवृत्तिर्ज्ञानेन चेत्याशङ्क्य तद् द्वयं दूषयति—

योगसाङ्ख्ये तु ये मुख्ये तयोः सत्त्वे प्रयोजनम् ।
ज्ञानदुर्बलवादानां न मनोरथवार्तया ।
सिद्धिं यान्ति नरा दुष्टा व्यामोहस्तु ततः फलम् ॥ ७० ॥

योगसाङ्ख्ये इति । किं मुख्ये योगसाङ्ख्ये तथाभूते, आहोस्विद्यादृशे तादृशे । तत्राद्ये नास्मिन् युगे भवतः । तत्साधनानां कालाद्यपेक्षणात् साधनरहितयोस्त्वप्रयोजकत्वम् । सत्त्वे सत्यरूपत्वे ससाधने उत्कृष्टरूपे योगसाङ्ख्ये सफले इत्यर्थः । अन्ये पुनर्ज्ञानदुर्बलवादसिद्धे । अतस्तेषां मनोरथकल्पितत्वान्न ताभ्यां फलं, किन्तु व्यामोह एव ताभ्यां जन्यते ॥७०॥

टिप्पणी ।

नित्यत्वादिति । भागवतार्थस्याविनाशित्वात्सर्वदाकर्तव्यत्वात्सर्ववर्णाश्रमविहितत्वात्सुकरत्वाच्चेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

सत्यरूपत्व इति । सति सप्तमीयम् । सत्येन कारणेन निरूप्यत इति । अस्यार्थमाहुः ससाधन इत्यनेन । कल्पितानाममूलकत्वादकारणकत्वादिति भावः ॥ ७० ॥

आवरणभङ्गः ।

नित्यत्वादित्यादि । नित्यत्वं, "तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणामि"त्यादिशुकवाक्येन सर्वदेशेषु सर्वकाले च कर्त्तव्यत्वेनोक्तत्वाज्ज्ञेयम् । सर्वाधिकारत्वं च, "देवो सुरो मनुष्यो वे"ति सप्तमस्कन्धाज्ज्ञेयम् । सुलभत्वं च, "त्वं तु सर्वं परित्यज्ये"ति, "तस्मान्मद्भक्तियुक्तियुक्तस्ये"त्यादिवाक्येभ्यो ज्ञेयम् । एतेन ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिषु यद्यपि जगत्कर्तृत्वादिलक्षणकब्रह्मत्वेन भगवतः प्रतिपादनेऽपि स्वातन्त्र्येण भगवद्यशःप्रतिपादनेऽपि शतकोटिविस्तीर्णपुराणसात्त्विकभागसमसनरूपत्वमेव तस्य, न तत्तदर्थानुभवपूर्वकत्वम्, समाध्यभावात् । अत एव वैष्णवादीनामेतच्छेषत्वम् । अत एव चैतन्माहात्म्यं पुराणान्तरे दृश्यते । गीतामाहात्म्यवत् न त्वन्येषाम् । नाप्यस्मिन्नन्येषाम् । अत एव चैतस्य परिपक्ववेदफलरूपत्वम् । "निगमकल्पतरोरि"ति वाक्याद्, न त्वन्येषाम् । तथा वाक्याभावादित्यपि श्रैष्ठ्यं सूचितं ज्ञेयम् । एवं श्रीभागवतस्य सर्वापेक्षया उत्कृष्टत्वं प्रमाणप्रमेयसाधनफलैरुपपादितम् तेन वेदादिसन्देहवारकत्वं साधितम् ॥ ६९ ॥

अतः परं गीतायां श्रीभागवते च योगसाङ्ख्ययोरप्युक्तत्वात्तयोरेतत्साम्यमाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि । मुख्ययोगसाङ्ख्ये इति । पौराणिके पतञ्जलिकपिलप्रणीते चेत्यर्थः । मूले, प्रयोजनमिति । सिद्ध्यतीति शेषः । एतदेव विवृण्वन्ति साधनेत्यादि । अन्य इति । वामाद्यागमेषूच्यमाने इत्यर्थः ७०

कथमेवमवगम्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—

ग्रन्थान् पुराणवाक्यानि वेदरूपेण च क्वचित् ।
कृत्वा वृथा वेषधराः कृष्णं नोपासते परे ॥ ७१ ॥

ग्रन्थानिति । स्थूलान् मिथ्यार्थप्रतिपादकान् । यथा बुद्धिस्तत्रैव लग्ना भवति । पुराणवाक्यानि च कल्पयन्ति । क्वचिद्वेदरूपेणापि यथा परमहंसोपनिषत् । एवं कृते यज्जातं तदाह वृथा वेषधरा इति । मुण्डादिपारलौकिकवेषं धृत्वा मोहः सिद्ध इति । स्वयमपि कृष्णं नोपासते । तथा सति भजनं प्रवर्तेतेति । एवं भागवतेनैव सर्वनिस्तार इति पुराणप्रकरणे निरूपितम् ॥ ७१ ॥

एवं श्रुतिस्मृतिपुराणानि निरूप्य षडङ्गानि निरूपयति—

षडङ्गानि तथा वेदे वेदरक्षाफलानि हि ।
स्वरूपतोऽर्थतश्चैव ह्यनुष्ठानात् त्रिधा हि तत् ॥ ७२ ॥

षडङ्गानीति । शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति । एतेषां सामान्यफलं वेदरक्षा, सा च त्रिविधा । वैदिकशब्दा, विसदृशा इति, "भद्रं कर्णेभिरि"त्यादौ पण्डितैरन्यथाकरणं सम्भवति । तन्निराकृत्य स्वरूपतो रक्षणीयः । अर्थतोऽपि रक्षणीयः । अन्यथा यागमेव न जानीयुः । अत एव साम्प्रतं दानमेव यागं मन्यन्ते । अनुष्ठानादपि रक्षा । अन्यथा, अन्यथानुष्ठानं स्यात् कल्पाद्यभावे ॥ ७२ ॥

तत्र द्वयोरुपयोगमाह—

शिक्षा छन्दः स्वरूपे तु निरुक्तं व्याकृतिस्तथा ।
अर्थे ज्योतिस्तथा कल्पो ह्यनुष्ठाने प्रयोजकः ।
विशेषतो हीदमुक्तं सर्वं सर्वत्र चैव हि ॥ ७३ ॥

आवरणभङ्गः ।

कल्पयन्तीति । यथा आत्मपुराणं केनचिन्मायावादिना कल्पितं तथेत्यर्थः । परमहंसोपनिषदिति । उपलक्षणमेतत् । वैतथ्याद्वैतालातशान्त्याख्यं प्रकरणत्रयं माण्डूक्यस्थाः श्लोकाश्च गौडपादीयान्येतानीदानीन्तनैरुपनिषत्सु पठ्यन्ते, एवमन्यान्यपि सर्वोपनिषदादीनि प्राचीनमायावादिग्रन्थेष्वपि तत्सम्मत्यदर्शनादाकरालाभाच्च ज्ञेयानि । तथा सन्तीति । उपासने कृते सतीत्यर्थः । यद्यपि तन्न भजनम्, तथापि द्वारं तद्भवतीति तदपि निरुन्धन्तीति भावः । प्रस्तुतप्रासङ्गिकसर्वनिरूपणेन सिद्धमाहुः । एवं भागवतेत्यादि । निरूपितमिति । बलवत्त्वाय निरूपितम् ॥ ७१ ॥

अतः प्रकीर्णकानां निर्णयमाहुः षडङ्गानीति । तथाच वेदाङ्गत्वेन रूपेणैषां प्रामाण्यमित्यर्थः । फलमाहुः एतेषामित्यादि । त्रिविधेति । स्वरूपरक्षार्थरक्षानुष्ठानरक्षा चेत्यर्थः । तद् विशदीकुर्वन्ति वैदिकेत्यादि । अत एवेति । यागपदस्यार्थाज्ञानादेवेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

सामान्यफलमुक्त्वा विशेषफलं वक्तुं यत्र यस्योपयोगस्तद् वदन्ति तत्रेत्यादि । शिक्षा छन्द इति । तत्र शिक्षा, "अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामी"त्यादिपञ्चखण्डात्मिका पाणिनिप्रकाशिता सर्ववेदसाधा-

---

१ वै क्वचिदित्यपि पाठः ।

शिक्षेति। स्वरादिविधौ। शब्देऽपि व्याकरणोपयोग इति व्यभिचारमाशङ्क्याह। विशेषत इति॥ ७३॥

कथं व्याकरणस्यार्थोपयोग इत्याशङ्क्याह—

ये धातुशब्दा यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्॥ ७४॥

ये धातुशब्दा इति। धातुपारायणे नामपारायणे च वैदिकनिघण्टौ। यत्रार्थे यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु, "गौः ग्मा ज्मा क्ष्मे"त्यादिप्रकरणेन, पृथिव्या इति प्रकीर्तिताः, तथैव वेदार्थो निर्णेतव्यः। यथा कैश्चिदुक्तम् "विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः" उत्सशब्देन कूपवाचकेन उत्सुको व्याख्यातः। तथा व्याख्याने स्वार्थात् प्रच्यवेत्। अतस्तन्निषेधार्थमाह। कर्तव्यो नान्यथा क्वचिदिति॥ ७४॥

ननु कल्पसूत्रे साङ्कर्यम्, अङ्गत्वं स्मृतित्वं चेत्याशङ्क्याह—

साक्षाद्धर्मप्रतीतेस्तु कल्पः स्मृतिषु चिन्तितः[1]।
दर्शादिकालनिर्द्धारो ज्योतिःशास्त्रफलं स्मृतम्॥ ७५॥

साक्षादिति। तत्र धर्मः प्रतीयत इति वेदत्वं चोक्तम्। वस्तुतस्त्वङ्गत्वमेव। ज्योतिष उपयोगमाह दर्शादीति॥ ७५॥

आवरणभङ्गः।

रणा। तस्याः प्रयोजनं चोदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वदीर्घप्लुतविशिष्टस्वरव्यञ्जनाऽऽत्मकवर्णविशेषज्ञानम्। उच्चारणप्रकारविशेषस्य ज्ञानं चेति स्वरूप उपयोगः। तदभावे मन्त्राणामनर्थजनकत्वं स्यात्। "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वे"ति वाक्यात्। छन्दस्तु, "मयरसतजभने"त्याद्यष्टाध्यायात्मकं पिङ्गलेन प्रकाशितम्। तत्र, अथालौकिकमित्यादिनाऽध्यायत्रयेण गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीति सप्तच्छन्दांसि साऽवान्तरभेदानि निरूपितानि। अथ लौकिकमित्याद्यध्यायपञ्चके तु पुराणेतिहासादिषूपयुक्तानि काव्याद्युपयुक्तानि च प्रसङ्गतो निरूपितानि। व्याकरणे लौकिकपदवत्। छन्दांसि च मन्त्रेषूपयुक्तानि। अन्यथा गायत्र्यादौ, वरेणियमिति व्यवायेन पाठो न स्यात्। तदभावे च मन्त्रो वर्णतो हीयेत। अतच्छन्दसोऽपि स्वरूपोपयोगः। निरुक्तव्याकरणयोर्ज्योतिःकल्पयोश्च यथायथमर्थेऽनुष्ठाने चोपयोगः स्पष्ट एव। किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति स्वरादीत्यादि। विशेषत इति। तथाच व्याकरणस्य यः स्वराद्युपयोगः सोऽर्थद्वारकः। यथेन्द्रशत्रुपदे स्वरभेदेन बहुव्रीहिणाऽर्थस्य वैपरीत्यमभूत् तथा मा भूदिति। अतः परम्परया त्रिष्वपि षण्णामुपयोगोऽतो न दोष इत्यर्थः॥ ७३॥

कथमित्यादि। व्याकरणस्य पदसाधुताज्ञापनरूपमेव प्रयोजनं स्फुटं प्रतीयते इति कथमित्यर्थः। नामपारायणे इति। निघण्टुरूपे कोशे इत्यर्थः। एवञ्चाष्टाध्याय्यामर्थोपयोगस्याऽस्पष्टत्वेऽपि धातुपाठादौ तदुपयोगः स्फुट इति न दोष इति भावः प्रकटीकृतः॥ ७४॥

स्मृतित्वं चेति। चकारो वेदत्वस्यापि समुच्चायकः। ज्योतिस्तु पञ्चसम्वत्सरमयमित्यारम्भकं साधारणं स्पष्टमेव॥ ७५॥

---

1 'चेतितः' इत्यपि पाठः।

निरुक्तस्य विवरणरूपस्य कथमङ्गत्वमित्याशङ्क्याह—

पदनिर्वचनाद्वेदे निघण्टुविवृतावपि ।
निरुक्तस्याङ्गता प्रोक्ता तथाऽल्पस्तस्य सञ्चरः ॥ ७६ ॥

पदनिर्वचनादिति । निघण्टौ यद्यपि कोशवच्छब्दा उक्तास्तथापि निर्वचनाभावा-न्नाङ्गत्वम् । विवृतित्वेऽपि निर्वचनादेव निरुक्तस्याङ्गत्वम् । व्याकरणापेक्षया तस्याल्पो विषयः ॥ ७६ ॥

व्याकृतिः पाणिनीयं हि प्रातिशाख्यं तु शब्दगम् ।
आदिमत्त्वाल्लक्षणानां नाङ्गत्वं पूर्वचोदितम् ॥ ७७ ॥

यद्यपि बहूनि व्याकरणानि सन्ति तथापि पाणिनीयमेवाङ्गम् । प्रातिशाख्यं तु प्रतिशाखं भिन्नमिति न साधारणमङ्गम् । यद्यपि कल्पेऽप्ययं दोषः सम्भवति, तथापि कल्पत्वेनाङ्गता । प्रातिशाख्ये तु क्वापि नार्थज्ञानं भवति । अतः शब्दोपयोगित्वात् पाणिनीयान्तर्भावेणैवाङ्गता । तथा लक्षणानाम् ॥ ७७ ॥

तेषामङ्गे प्रवेशप्रकारमाह—

अनिङ्ग्यादि[1] प्रातिशाख्ये विशेद्व्याकरणे तु तत् ।
छन्दसः पाठहेतुत्वं शब्दज्ञानोपयोगतः ॥ ७८ ॥

अनिङ्ग्यादीति । सर्वाणि लक्षणानि प्रातिशाख्यं प्रविशन्ति, प्रातिशाख्यं व्याकरणे ।

टिप्पणी ।

विवृतित्वेऽपीति । निघण्टुविवृतित्वेऽपि वैदिकपदनिर्वचनान्निरुक्तस्याङ्गता प्रोक्तेत्यर्थः । मूले, विवृताविति भावप्रधानो निर्देशः ॥ ७६ ॥

तेषामिति । लक्षणानामित्यर्थः ॥ ७८ ॥

आवरणभङ्गः ।

इत्याशङ्क्याहेति । इति हेतोरङ्गत्वप्रयोजकं निरुक्तस्य रूपमाहेत्यर्थः । निरुक्तं च यास्ककृतं, "समाम्नायः समाम्नात" इत्यादित्रयोदशाध्यायात्मकम् । तत्र च नामाख्यातनिपातोपसर्गरूपं चतुर्विधं पदजातं निरूप्य मन्त्राणामर्थो दर्शितः । अन्यथा "सृण्येव-जर्फरी-तुर्फरी-पर्फरी-भूरि"-त्याद्यतिदुरूहपदानामर्थो न ज्ञायेतेति तदावश्यकत्वम् । निघण्टुस्तु निरुक्तशेषत्वेनोपयुक्त इत्याशयेनाहुः निघण्टावित्यादि ॥ ७६ ॥

व्याकरणानामनेकत्वात् किञ्चिदाहुः यद्यपि बहूनीति । ब्राह्मरौद्रचान्द्रादीनि, कौमारकालापसारस्वतादीनि च । तथाऽपीति । ब्राह्मादीनामप्रसिद्धत्वात्, कौमारादीनां च लोकमात्रोपयोगित्वादित्यर्थः । लक्षणानामिति । ग्रन्थविशेषाणाम् ॥ ७७ ॥

अनिङ्ग्यादीति । इङ्ग्यं सावग्रहपदं, न इङ्ग्यमनिङ्ग्यं निरवग्रहमित्यादीनीत्यर्थः । अवग्रहश्च

---

[1] अनिन्थादीत्यपि पाठः ।

छन्दसोऽनुष्ठानेऽप्युपयोगो दृश्यत इति कथं पाठहेतुत्वं तत्राह । शब्दज्ञानोपयोगस्तु इति । अनुष्ठानेऽपि शब्दधर्मत्वेनैव तज्ज्ञानमुपयुज्यते, नान्यथेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

उपवेदानां प्रयोजनमाह—

आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्याद्रक्षा च धनुषो भवेत् ।
उद्वेगहानिर्गान्धर्वे स्थापत्यं च स्रुगादिषु ॥ ७९ ॥

आरोग्य इति । ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदः । तस्यारोग्यं फलम् । तेन धर्मः सिद्ध्यतीत्यारोग्यद्वारा धर्मोपयोगः । एवं रक्षाद्वारा धनुर्वेदस्य । उद्वेगहानिद्वारा गान्धर्वस्य ।

टिप्पणी ।

उद्वेगहानिद्वारेति । तदुक्तम्, "सुखिनि सुखनिधानं दुःखितानां विनोदः श्रवणहृदयहारी मन्मथस्याग्रदूतः । अतिचतुरसुगम्यो वल्लभः कामिनीनां जयति जगति नादः पञ्चमश्चोपवेदः" इति । उपलक्षणमेतत् । मोक्षसाधकत्वमपि । तदुक्तं लिङ्गपुराणे, "ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानोऽनिशं नृप । हरेः सालोक्यमाप्नोति रुद्रगानाधिको भवेदि"ति । "वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः । तालज्ञश्चाप्रयासेन हरिं गायन् व्रजेद्धरिम् । गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं

आचरणभङ्गः ।

मात्राकालविशेषः संहिताविच्छेदरूपः । यथा, रत्नधातममित्यादौ । उपयोग इति । कृतस्यापि कर्मणश्छन्दोज्ञानाभावे वैफल्यस्मरणात् साम्नां शरलेशप्रसङ्गवारणाच्च तथेत्यर्थः । शरलेशप्रसङ्गश्च नवमस्य द्वितीये विचारितः । तत्र हि, "साम न्यृचे गेयमि"ति वाक्याद्यत्तिसृष्वृक्षु गेयं तत् किं विषमच्छन्दस्कासु समच्छन्दस्कासु वा यथेच्छं गेयमुत समाख्येवेति सन्देहे, यथेच्छं गेयं नियामकस्याभावादिति पूर्वपक्षे, समाख्येवेति सिद्धान्तितम् । यदि अधिकच्छन्दस्कायामृच्युत्पन्नं साम न्यूनच्छन्दस्कयोरुत्तरयोर्गीयेत्तदा सामभागेनक्पूर्त्तेरवशिष्टः सामभाग आश्रयाभावाद्भिसितः स्यात् । यदि सामयोनेरधिकच्छन्दस्कयोर्गीयेत्तदा साम्नोऽल्पत्वादवशिष्ट ऋग्भागः सामहीनः स्यादतः समानाख्येवं गेयमिति । अतोऽत्र छन्दसस्तद्धारण उपयोगात् पाठोपयोगोऽनुष्ठाने शब्दधर्मत्वेनैव च स इति ॥७८॥

आयुर्वेद इति । ब्रह्मप्रजापत्यश्विधन्वन्तरीन्द्रभरद्वाजात्रेयाऽग्निवेश्यभोजभेडादिप्रणीतं वैद्यकशास्त्रमित्यर्थः । धनुर्वेदस्येति । धनुर्वेदश्च महादेवप्रणीतस्ततो विश्वामित्रप्रणीतः, पादचतुष्टयात्मकः । तत्र प्रथमो दीक्षापादः । तस्मिन् धनुर्लक्षणमधिकारिलक्षणं च—कृतम् । धनुःशब्दश्चापे रूढोऽपि चतुर्विधायुधेषु वर्तते । चतुर्विधत्वं च—मुक्तम्, अमुक्तं, मुक्तामुक्तं, यन्त्रमुक्तं चेति भेदात् । मुक्तं चक्रादि । अमुक्तं खङ्गादि । मुक्तामुक्तं शल्याऽवान्तरभेदादि । यन्त्रमुक्तं शरादि । तत्र मुक्तम् अस्त्रमित्युच्यते । अमुक्तं शस्त्रमित्युच्यते । अस्त्रं च ब्राह्मवैष्णवादिभेदेनानेकविधम् । साधिदैवतेषु समन्त्रकेषु चतुर्विधायुधेषु येषामधिकारो हस्त्यश्वरथारूढपदातीनां ते सर्वे दीक्षाभिषेकशकुनमङ्गलकरणसहिता निरूपिताः । द्वितीये सङ्ग्रहपादे गुरुसम्प्रदायसिद्धानामस्त्रविशेषाणामभ्यासो निरूपितः । तृतीये पादे सिद्धिनामके मन्त्रदेवतासिद्धिकरणं निरूपितम् । चतुर्थे प्रयोगपादे देवतार्चनाभ्यासादिभिः सिद्धानामस्त्रविशेषाणां प्रयोगो निरूपितः । स चोपवेदो रक्षोपयोगीति तथा । गान्धर्वस्येति ।

स्थापत्यस्य तु स्त्रुगादिष्वप्युपयोगः। एवमष्टादशविद्यानां धर्मोपयोग उक्तः। अर्थशास्त्रस्यार्थद्वारैव तदुपयोगः। तच्च न्याये प्रविशति। तथा वात्स्यायनादीनां कामोपयोगः। स च दृष्टान्तो मोक्षसुखे। अतो नाष्टादशविद्यासु निरूपितः। तच्छेषत्वमेव काव्यालङ्कारनाटकादीनाम्। यथाग्निमथनं योगे दृष्टान्तस्तथा मोक्षे काम इति सर्वमनवद्यम्॥ ७९॥

काव्यादीनां न धर्मोपयोग इत्याह—

काव्यादीनामसत्यत्वान्नोपयोगः कथञ्चन।
धर्मे कर्तुः क्वचित् कीर्तिर्नैपुण्यं पाठतः क्वचित्॥ ८०॥

काव्यादीनामिति। असत्यत्वमुत्प्रेक्षाजन्यत्वात्। कीर्तिर्धर्मवत्फलसाधिकेति फलांशे काव्यादीनामुपयोगमाह कर्तुः क्वचित्कीर्त्तिरिति। नैपुण्यं नीतिशास्त्रेषु युज्यते। तच्च पाठात्॥ ८०॥

टिप्पणी।

पदम्। रुद्रस्यानुचरो भूत्वा रुद्रेण सह मोदते" इति। स्थापत्यस्येति। स्थपतिः शिल्पी तस्य कर्म स्थापत्यम्। स्रुक्स्रुवादिगृहादिनिर्माण उपयुज्यत इत्यर्थः। एवमिति। "पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशे"ति चतुर्दशविद्या उपवेदसहिता अष्टादश भवन्ति। अर्थशास्त्रस्येति। नीतिशास्त्रस्येत्यर्थः॥ ७९॥

कीर्तिरिति। "यावत्कीर्तिर्मनुष्याणां मर्त्यलोके महीयते। तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते" इति धर्मवत्फलसाधकत्वम्॥ ८०॥

आवरणभङ्गः।

स च भरतेन प्रणीतः। स्थापत्यं च विश्वकर्मप्रणीतम्। अत्र स्थापत्यस्योपवेदत्वं श्रीभागवतानुसारेणोक्तम्। अष्टादशविद्यानामिति। "पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशे"ति याज्ञवल्क्योक्तानामुपवेदसाहित्येऽष्टादशत्वम्। अत्र फलकथनेनाङ्गोपवेदप्रमेयबलमुक्तप्रायम्। ननु "गान्धर्वं चार्थशास्त्रकमि"ति भविष्यवाक्येऽर्थशास्त्रस्योपवेदत्वमुक्तं, "तस्य का गति"रित्यत आहुः अर्थशास्त्रस्येत्यादि। तथाच स्थापत्यं साक्षादुपयुक्तमिदं तु सद्वारकमतस्तदेव साध्विति भावः। अर्थशास्त्रं च गजतुरगमण्यादिपरीक्षणशास्त्रं पालकाप्ययशालिहोत्राऽगस्त्यादि ज्ञेयम्। तस्य कुत्र निवेश इत्यत आहुः तच्च न्याये इति। न्यायस्वरूपमग्रे वाच्यम्। नन्वन्यान्यपि कामशास्त्रादीनि सन्तीति, कथमष्टादशैव विद्या इत्यत आहुः तथा वात्स्यायनादीनामिति। आदिपदेन पाकादिशास्त्राणि कामसूत्राङ्गविद्यारूपाणि ज्ञेयानि। निरूपित इति। कामशास्त्रादिरिति शेषः। तथाच, धर्मानुपयोगादष्टादशविद्यासु तानि न निरूपितानीति दृष्टान्तशेषत्वेन कयाचित् प्रणाड्या मुख्यफले आरादुपयोग इति भावः॥७९॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति काव्येत्यादि। तर्हि तेषां किं प्रयोजनमत आहुः कीर्तीत्यादि। तथा च जघन्यफले तदुपयोग इति भावः॥ ८०॥

रामायणं च काव्यमिति सर्गबन्धनात् तस्य धर्मोपयोगो न भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

रामायणमनन्तं हि पुराणमिव सन्मतम् ।
व्यासः पूर्वमनेकोक्तो वाल्मीकिः साम्प्रतं किल ।
समाधिभाषया प्राह प्रमाणं सर्वथैव तत् ॥ ८१ ॥

रामायणमिति । "चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनमि"ति वाक्याद् धर्मजनकमेव । अनन्तरमपरिमितम् । प्रतिकल्पं प्रतियुगं रामावतारा भवन्ति । तत्रान्यपदार्थेष्विव रामचरित्रस्य स्वरूपं न भवति, उत्तरेण पूर्वोपचरितार्थरूपम् । अतः पूर्वरामकथाया उत्तरया सह कथनादनन्तत्वम् । क्वचित् पुनरुक्तेऽपि धर्मो भवतीति हिशब्देनाह । आख्यायिकायाः प्रामाण्यार्थं पुराणमिव सतां मतम् । अस्य व्यासो विस्तारः पूर्वमनेकैरुक्तः । साम्प्रतं वाल्मीकिः समाधावुपलभ्य सर्वमुक्तवान् । अतः सुतरामिदानीन्तनं प्रमाणम् ॥ ८१ ॥

वाशिष्ठरामायणादेर्न तथात्वमित्याह—

वाशिष्ठादेस्तु सम्वादात् प्रामाण्यं नान्यथा क्वचित् ।
न्यायस्तु नीतिशास्त्रं हि तर्को मीमांसया युतः ॥ ८२ ॥

वाशिष्ठादेरिति । सम्वादात्प्रामाण्यम् । सम्वादः प्रमाणेन । पुराणन्यायेत्यत्र साम्प्रतमक्षपादविरचितं धर्मोपयोगि भविष्यतीत्याशङ्क्य समानशब्दत्वमेव तत्रेत्याह । न्यायस्त्विति । पुराणन्यायेत्यत्र नीतिशास्त्रमेव न्यायशब्देनोच्यते, न तु

आवरणभङ्गः ।

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति रामायणमित्यादि । प्रतियुगमिति । वैवस्वतमन्वन्तरीयाष्टाविंशतितमत्रेतायामित्यर्थः । एवं प्रमेयं प्रमाणस्वरूपं चोक्तम्, साधनं फलं च, "चरितं रघुनाथस्ये"ति श्लोक एव स्फुटम् । अनेकैरिति । आपस्तम्बप्रभृतिभिः । आपस्तम्बोक्तस्य रामायणस्य दक्षिणे प्रसिद्धत्वात् ॥ ८१ ॥

सम्वादः प्रमाणेनेति । वाल्मीकिना स्वयं समाधावनुभूयोक्तत्वादन्यैस्तु श्रुत्वोक्तत्वेन मध्ये परम्परापाते दोषस्यापि सम्भवात् प्रमाणेन वाल्मीकीयेन सम्वाद एव वाशिष्ठादेः प्रामाण्यप्रयोजक इत्यर्थः अर्थशास्त्रस्य न्याये प्रवेश उक्तः । न्यायश्च चतुर्दशविद्यासु निरूपित इति तं निश्चेतुमाहुः पुराणेत्यादि । नीतिशास्त्रमिति । ब्राह्मबार्हस्पत्यादिरूपं भारते राजधर्मे प्रसिद्धम् । न तु लोके प्रसिद्धमिति । आग्नेये, "न्यायसारं प्रवक्ष्यामी"ति प्रतिज्ञाय नीतिशास्त्रसारस्यैव कथनाद्, मात्स्यतृतीयाध्याये "मीमांसा न्यायविद्या च प्रमाणाष्टकसंयुते"ति वाक्येऽप्यष्टप्रमाणयोगलिङ्गाच्च, नाक्षपादप्रणीतं, पुराणन्यायेत्यत्र विवक्षितमित्यर्थः । एवमेव पुराणानुक्रमणाध्यायेऽपि, "पुराणं न्यायविस्तार" इत्यत्रापि ज्ञेयम् । प्रमाणाष्टकं तु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यनुपलब्धि-

---

१ पुंसाम्, इत्यपि पाठः ।

लोके प्रसिद्धम्। "यस्तर्केणानुसन्धत्त" इत्यत्र तर्कशब्दो वेदानुकूलतर्कवाचकमीमांसापरः ॥ ८२ ॥

मोहार्थान्यन्यशास्त्राणि बुद्धे कृष्णे तदिच्छया।
देवांशैः कल्पितान्येव तदुक्तं सर्वथा मृषा ॥ ८३ ॥

अन्यानि काणादादिशास्त्राणि मोहार्थान्येव अतस्तन्नादरणीयमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

टिप्पणी।

य इति। "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" इति ॥ ८२ ॥

आवरणभङ्गः।

सम्भवैतिह्यभेदेन ज्ञेयम्। मीमांसापर इति। निबन्धेषु सर्वत्रमीमांसयैव धर्मनिर्णयदर्शनात्, तर्कविद्यावाचकस्यान्वीक्षिकीपदस्य "विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वे"त्यादौ तथा दर्शनाच्चेत्यर्थः। केचित्तु, आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवानिति प्रथमस्कन्धवाक्याद् दत्तात्रेयोक्तयोगपरमान्वीक्षिकीपदम्। मार्कण्डेयेऽलर्कस्य योगोपदेशदर्शनादित्याहुः। किञ्च, मनौ, "आन्वीक्षिकीं चात्मविद्या" इतिवाक्यान्मिताक्षरायां, "स्वरन्ध्रगोप्तान्वीक्षिक्यामि"त्यत्रात्मविद्यापरत्वेन व्याख्यानाच्चोत्तरमीमांसापि तद्वाच्या। कश्चित्तु प्रतिपदमनुपदं छन्दो भाषा धर्मो मीमांसा न्यायस्तर्क इत्युपाङ्गानीति चरणव्यूहे वेदोपाङ्गनिरूपणे यौ न्यायतर्कावुक्तौ तावक्षपादकणादप्रणीतशास्त्रपरौ। तयोरप्यास्तिकशास्त्रत्वात्। नैषा तर्केणेत्यादौ निन्दा तु अधर्मस्यैव निकृष्टत्वादिति वदति। तदापि श्रुतिविरुद्धांशत्यागस्य तत्रावश्यकत्वाद्यस्तर्केणानुसन्धत्त इत्यत्र तर्कपदं मीमांसापरमेव सेत्स्यति। किञ्च, निन्दाप्रयोजको निष्कर्षोऽपि क इति विचार्यम्। स यदि पुराणोक्तमोहकत्वरूपस्तदा तु धर्मस्थानत्वाभावान्न विद्यासु निवेष्टुमर्हेति। यदि लोकतत्त्वविचारणरूपस्तदापि तथा। धर्मस्य चोदनालक्षणस्यालौकिकत्वादिति। वस्तुतस्तूपाङ्गोक्तौ सङ्ख्याया अभावान्मीमांसान्यायरूपाधिकरणात्मकस्तर्क इत्येवार्थः। एवञ्चोपाङ्गानामपि षट्त्वादङ्गैः समानैव सङ्ख्या भवतीत्येतदभिसन्धायोक्तं मीमांसापर इति ॥ ८२ ॥

नन्वक्षपादीयं न्यायत्वेन कुतो न गृह्यत इत्यत आहुः अन्यानीत्यादि। तदुक्तं पाद्मोत्तरखण्डीयगुणत्रयविवरणाध्याये पार्वतीं प्रति शङ्करेण। तथाहि "शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम्। येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि। प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम्। मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः सम्प्रोक्तानि ततः परम्। कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्। गौतमेन तथा न्यायं साङ्ख्यं तु कपिलेन वै। धिषणेन तु सम्प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम्। दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा। बौद्धशास्त्रमसत्प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम्। मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणे"त्याद्युक्त्वा, "मयैव वक्ष्यते देवि जगतां नाशकारणात्। द्विजन्मना जैमिनिना पूर्ववेदमपार्थतः। निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरमि"ति। पराशरोपपुराणे च "अक्षपादप्रणीते च काणादे साङ्ख्ययोगयोः। त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः। जैमिनीये च वैयासे न विरोधोऽस्ति कश्चने"ति। जैमिनी-

एवं प्रमाणं निरूप्य तत्सन्देहं निराकृत्य प्रमेयं निरूपयति—

प्रमेयं हरिरेवैकः सगुणो निर्गुणश्च सः ।
गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयश्च सः ॥ ८४ ॥

प्रमेयमिति । यथा शब्द एव प्रमाणं, तत्रापि वेदादिभावापन्नं, तथा हरिरेव प्रमेयं सर्वभावापन्नमिति । सर्वमेव गणयति सगुण इत्यादिना । क्रिया, उत्पत्त्यादयश्च, स हरिरेव ॥ ८४ ॥

एवमुक्ते सम्यग्ज्ञानं न भवतीति विशेषं वक्तुमाह—

बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते ।
कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः ॥ ८५ ॥

बुद्धीति । यथा बुद्धिः सर्वं प्रमेयजातं क्रोडीकरोति तदर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते । तदैव तरतमभावो भवति ॥ ८५ ॥

टिप्पणी ।

तदैवेति । यदैव भेदेन वर्णनमिति शेषः ॥ ८५ ॥

आवरणभङ्गः ।

यपदं पूर्वार्द्धेऽन्वेति । पाद्मस्वारस्यात् । हयशीर्षपञ्चरात्रे च । "कपिलश्चाक्षपादश्च नास्तिको नग्न एव च । ऋषयस्तामसा ह्येते शास्त्रमेषां विमोहनमि"ति । एतेन, "एतद्विरुद्धं यत् सर्वं न तन्मानं कथञ्चने"ति । पूर्वप्रकरणोक्तं निर्णीतं ज्ञेयम् ॥ ८३ ॥

इति प्रमाणप्रकरणम् ।

एवं प्रमाणप्रकरणे प्रासङ्गिकसहितं प्रमाणानुरोधि प्रमेयं निर्णीतम् । तेन पूर्वप्रकरणे, "यज्ञरूपो हरिरि"ति विचारितम् । अतः परं, "ब्रह्मतनुः पर" इत्यादिपादोनश्लोकद्वयोक्तं विचारयितुं प्रमेयप्रकरणमारभन्ते । तत्र पुराणस्योपबृंहणत्वात् तदुक्तप्रमेयपूर्वकमेव विचारयन्ति एवमित्यादि । उक्तप्रकारेण प्रमेयबलनिरूपणार्थं द्विविधप्रमेयमध्ये प्रमाणानुरोधि प्रमेयं निरूपयितुं मङ्गलकारिकाव्यतिरिक्ताभिर्नवतिभिः कारिकाभिर्वेदादिरूपं प्रमाणतत्स्वरूपतत्प्रमेयतदुक्तसाधतत्फलैर्निर्णीय तेन तत्स्वरूपादिविषयान् सन्देहान्निराकृत्य स्वतन्त्रप्रमेयस्यापि बलनिरूपणार्थं तत्प्राधान्येन प्रमेयं निरूपयतीत्यर्थः । ननु कथं हरिरेव प्रमेयं, जगतोऽपि विद्यमानत्वादित्यत आहुः यथेत्यादि । वेदादिभावापन्नमिति । सामान्ये नपुंसकम् । उत्पत्त्यादय इति उत्पत्तिस्थितिवृद्धिविपरिणामापक्षयनाशाख्याः षड्भावविकाराः । अत्र मूले सगुणनिर्गुणपदाभ्यामपरं, परं च ब्रह्म, गुणपदेन सत्त्वरजस्तमांसि मायाप्रकृत्यादयः, कार्यपदेन महदादि परमाण्वन्तं द्रव्यं, धर्मपदेन जातिगुणविशेषसमवायाद्याः, क्रियापदेन लौकिकवैदिककर्मणी, उत्पत्त्यादय इत्यादिपदेनाभावाश्च सङ्गृहीताः । तेन शास्त्रान्तरोक्तानपि पदार्थान् सर्वान् भगवत्येवान्तर्भाव्य शुद्धाऽद्वैतं बोधितम् । तथा च, यद्यपि जगद्वर्तते तथापि तन्न जगत्त्वेन रूपेण प्रमेयं, किन्तु हरित्वेन रूपेण । जगत्त्वेन तु लौकिकज्ञानविषयत्वान्मेयमेवेत्यर्थः ॥ ८४ ॥

मूले, विशेषत इति । व्यावर्तकधर्मादित्यर्थः । अनेनैव प्रकारेण क्रोडीकरणस्यावश्यकत्वायाहुः तदैवेत्यादि । यदैवं त्रिरूपेण ज्ञायते तदैव पुराणोपबृंहितः "प्रजायेये"तीच्छया कृतस्तरतमभावो

अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतः ।
भगवत्त्वं यतस्तेषां तस्मात्तत्त्वानि तानि तु ॥ ८६ ॥

प्रथमेऽष्टाविंशतिभेदाः । तेषां च कारणत्वं तत्त्वपदवाच्यत्वं च समर्थयति भगवत्त्वमिति ॥ ८६ ॥

अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् कारणत्वं न चान्यथा ।
कारणत्वं न चैवास्ति चिदानन्दांशयोः स्वतः ॥ ८७ ॥

सच्चिदानन्दभेदेषु सद्भेदा एवैते । चिदानन्दयोः कारणत्वाभावात् । एकस्य

टिप्पणी ।

प्रथम इति । कारण इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

चिदानन्दयोरिति । ब्रह्माण्डसृष्टिं प्रति तत्त्वानामिव तयोः कारणत्वाभावादित्यर्थः । एकस्येति । एकस्यानन्दस्य ।—

आवरणभङ्गः ।

भवति, स्फुटो बुद्धौ भवतीत्यर्थः । एतेन ब्रह्मवादे सर्वस्य भगवद्रूपत्वेऽपि भजनं मूलरूप एव कर्तव्यमिति सेत्स्यतीति सूचितम् ॥ ८५ ॥

प्रथमे इत्यादि । प्रथमे कारणे अष्टाविंशतिभेदाः । "नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिति शुश्रुम" इत्येकादशवाक्येनाष्टाविंशतितत्त्वपक्षस्य भगवत्सम्मतत्वात् । षड्विंशत्यादिपक्षाणामत्रैवान्तर्भावात् । अतस्तेषां तथात्वं समर्थयति साङ्ख्योक्ताद्भिन्नरीत्या एकेन श्लोकेनोपपादयतीत्यर्थः । भगवत्त्वमित्यादि । भगवतो भावो भगवत्त्वं, भगवतः सर्वान् प्रति या सामान्यकारणता सेति यावत् । तृतीयस्कन्धे तथाङ्गीकारात् । यतस्तेषां तथात्वं तस्मात्तानि तत्त्वानि, न तु साङ्ख्यान्तरवत् पृथक्पदार्थत्वेन तत्त्वानि । एकादशस्य चतुर्विंशेऽध्याये कपिलादिविनिश्चितं साङ्ख्यं वदता भगवता, "आसीज्ज्ञानमयो अर्थ एकमेवाविकल्पितम्" इत्युपक्रम्य, "तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् । वाङ्मनोगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहदि"ति ब्रह्मण एव द्विधा भवनमुक्त्वा, "तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका । ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयत" इत्यादि, "प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहमि"ति च वाक्यात् । तथा, "सर्गः कारणसम्भूतिरि"ति निबन्धलिखितसर्गलक्षणवाक्यादेतेषु कारणत्वव्यवहार इत्यण्डसृष्टेः पूर्वभावात् पूर्वोत्पन्नत्वात् कारणत्वम् । न चान्यथा । न ब्रह्मवन्निरङ्कुशं, नापि मृदादिवद्घटादिकारणत्वेन । "मया सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्य कारिणः । अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तममि"ति भगवद्वाक्यात् । तथा च भगवता तथाङ्गीकारात् कारणेऽष्टाविंशतिभेदा युक्ता एवेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

सच्चिदानन्देत्यादि । प्रपञ्चमध्यपातिषु सच्चिदानन्देषु सजातीयत्वस्वगतत्वाभ्यां चिदानन्दांशत्वेन प्रसिद्धयोर्जीवान्तर्यामिणोः समवायित्वस्य श्रुतिपुराणेष्वकथनात्, "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि"त्युपक्रम्य, "तत्तेजोऽसृजते"त्यादिना क्रमसृष्टिकथनाच्चेहापि क्रमसृष्टेस्तथैव बोद्धव्यमित्यर्थः । एकस्येत्यादि । ननु केवलानां जडानां तत्त्वानां चेतनं विनाऽन्तर्यामिप्रेरणं च विना कार्यजनना-

फलत्वम्, अपरस्य स्वरूपत्वमित्याह। कारणत्वं न चैवास्तीति ॥ ८७ ॥

आनन्त्यमेव भेदानां तयोः कार्ये तथैव च।
अतस्तेषां तु ये भेदा नोक्तास्ते हि विशेषतः ॥ ८८ ॥

तयोर्भेदाः अनन्तास्तेन विशेषतो न वक्तव्या इति भावः। कार्येऽपि भेदानामानन्त्यम्। घटादौ तथा दर्शनात्। ननु स्वस्यासामर्थ्यादेतदुच्यते, नेत्याह। अतस्तेषामिति। अत एव भागवतादौ तेषां सङ्ख्या नोक्ता ॥ ८८ ॥

तत्त्वसहभावाच्चिदानन्दयोः स्वरूपभूतयोरपि प्रथमपक्ष एव निवेशनमुक्त्वा तृतीयभेदानाह—

टिप्पणी।

अपरस्य चिदंशस्य। जीवस्वरूपात्मकमित्यर्थः ॥ ८७ ॥

तयोरिति। चिदानन्दयोरित्यर्थः। तेषामिति। सदंशचिदंशकार्याणामित्यर्थः ॥ ८८ ॥

तत्त्वेति। भगवत्स्वरूपात्मकयोरपि चिदानन्दयोस्तत्त्वमध्ये पुरुषप्रवेशेन तत्त्वसहभावात्कारणेषु तत्त्वेष्वेव निवेशनमुक्त्वा स्वरूपभेदानाहेत्यर्थः। यद्वा, तत्त्वसहभावात्स्वरूपभूतयोः स्वरूपे स्थितयोर्विशेषणीभूतयोरिति यावत् ॥ ८९ ॥

आवरणभङ्गः।

सामर्थ्यकथनात्तयोरपि निमित्तत्वमस्तीति कथमकारणत्वमित्याकाङ्क्षायां तयोर्मध्ये एकस्य चिदंशस्य फलत्वमपरस्यानन्दांशस्य स्वरूपत्वमतो न स्वरूपेण निमित्तत्वमिति हेतोः कारणतानिषेधमाहेत्यर्थः। कारणत्वं न चैवाऽस्तीति। प्रपञ्चान्तःपातिनोश्चिदानन्दांशयोः कारणत्वं समवायित्वं, चकारान्निमित्तत्वं च स्वतस्तत्त्वासम्वलितेन रूपेण नास्ति। "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्", "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि", "गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे" इति श्रुतौ कोशानुप्रवेशोत्तरमेव नामव्याकरणादिरूपकार्यस्योक्तत्वादित्यर्थः। अत्र चिदंशस्य फलत्वं मान्त्रवर्णिकसूत्रभाष्ये विज्ञानमयस्य विविधयागादिसाधनफलत्वेन विवृतत्वात् स्वरूपावस्थानस्य मुक्तित्वाच्च आनन्दांशस्य स्वरूपत्वं त्वन्तर्यामिणि ब्रह्मधर्माणामतिरोहितत्वाज्ज्ञातव्यम्। नच "ज्ञानं त्वन्यतमो भाव" इति वाक्यात् पुरुषस्य चिदंशत्वं शङ्क्यम्। "मया सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्य कारिण" इत्यग्रिमवाक्ये सर्वपदेन पुरुषमन्तर्भाव्य संहत्य कारित्वोक्तेरत्रापि सदेहस्यैव तस्य विवक्षितत्वात्। अत एव तृतीये, "कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोऽक्षजः। पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवानि"ति मैत्रेयेण वीर्याधाने करणत्वमेवोक्तं, न तु कर्तृत्वं केवलात्मभूतस्य स्वतो निर्वीर्यत्वादिति ॥ ८७ ॥

तयोरित्यादि। "द्वा सुपर्णे"त्यादिश्रुत्या प्रतिशरीरं जीवान्तर्यामिप्रवेशश्रावणेन नानात्वात्तथेत्यर्थः। कार्येऽपीत्यादि। एतेनानियतपदार्थवादोऽत्राऽप्यनुमत इति बोधितम्। श्रुतिपुराणादिषु तथाङ्गीकारादिति। मूले, नोक्तास्ते हि विशेषत इत्यनेन, सामान्यत उक्ता इति ज्ञापितम्। ते एवाग्रे गणभेदेन वक्तव्या इति बोध्यम्। तत्त्वगणनावैयर्थ्यशङ्काऽप्येतेनैव परिहृता बोध्या ॥ ८८ ॥

तत्त्वसहभावादिति। तत्त्वशरीरे प्रवेशेन तथात्वात्। एतेन कार्यकोट्यनिवेशो बीजमुक्तम्।

स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रियाज्ञानविभेदतः ।
विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरेः ॥ ८९ ॥

स्वरूपे त्विति । क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी यज्ञ एकः । तथा ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी ब्रह्म द्वितीयः । ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तृतीय इति त्रयो भेदाः । यतः क्रियाज्ञानवान् हरिः ॥ ८९ ॥

अस्य प्रमेयत्वसिद्ध्यर्थं प्रमेयबलविचारेण प्रमाणमाह—

विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च ।
केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्मः प्रवेशतः ॥ ९० ॥

विशिष्टे वाचकमिति । ननु काण्डद्वयेऽपि क्रियाज्ञानं[1] प्रतिपाद्यते, न तु क्रियावान् ज्ञानवान् वा । तत् कथमुच्यते, एकैकस्मिन्नंश एकैकं काण्डमिति तत्राह । धर्मः प्रवेशत इति । क्रियावान् क्रियायां प्रविष्टः । अतः क्रियैव प्रतीयते । वस्तुतस्तु क्रियावान् । 'यज्ञो वै विष्णुरि"ति श्रुतेः ॥ ९० ॥

टिप्पणी ।

अस्येति । श्रीकृष्णस्वरूपस्य वेदादिवेद्यत्वसिद्ध्यर्थमन्यस्य भगवत्स्वरूपानभिज्ञत्वाद्भगवद्बलविचारेण भगवद्वचनमेव प्रमाणमाहुरित्यर्थः । क्रियायामिव ज्ञानेऽपि ज्ञातव्यम् ॥ ९० ॥

आवरणभङ्गः ।

मूले, क्रियाज्ञानविभेदत इति । ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथाच क्रियां ज्ञानञ्च विभिद्य ताभ्यामेकैकं विशिष्टेन चैकमेवं त्रय इत्यर्थः । ननु क्रियाज्ञानयोर्धर्मत्वात् कथं स्वरूपभेदत्वमित्यत आहुः क्रियारूप इत्यादि । एवं षड्भिः प्रमेयस्वरूपेण प्रमेयनिर्णय उक्तस्तत्स्वरूपेण कार्यरूपेण स्वरूपेण च भगवान् प्रमातुं शक्य इति ॥ ८९ ॥

अस्येत्यादि । स्वरूपस्य लौकिकप्रमाविषयत्वाऽभावेऽपि प्रमेयत्वसिद्ध्यर्थं प्रमेयस्वरूपस्य बलविचारेण प्रमाणमनुरुद्ध्यैव प्राकट्यफलदायकत्वरूपबलस्य विचारेण तदाहेत्यर्थः । विशिष्ट इत्यादि । अत्र गीतादेर्वाचकत्वं वाक्ये वैयाकरणवच्छक्त्यङ्गीकाराद् बोध्यम् । तदग्रे स्फुटिष्यति । गीताश्रीभागवतयोर्विशिष्टवाचकत्वं गुरुत्वेन ज्ञेयत्वेनोपास्यत्वेन भजनीयत्वेन कर्तृत्वेनोपादानत्वेन पुरुषोत्तमत्वेन फलत्वेन विभूतिमत्त्वादिना च क्रियाज्ञानविशिष्टस्य भगवत एव मुख्यतया प्रतिपादनात् "सर्वधर्मान् परित्यज्ये"त्यादौ स्वस्य साधनशेषतानिराकरणाच्च ज्ञेयम् । प्रतिपाद्यत इति । मुख्यतया प्रतिपाद्यते । यज्ञ इति । तथाच यजेतेत्यादौ क्रियायाः स्फुटत्वेऽपि तत्र धर्मिणः क्रियावतो वाच्यत्वं तत्क्रियास्वरूपनिर्णायकाद् वाक्यशेषादेवावगम्यत इत्यर्थः ॥ ९० ॥

---

[1] क्रिया ज्ञानं च प्रतिपाद्यते इति पाठान्तरम् ।

तत्र हेतुः—

तस्यैवोद्भूतरूपत्वात् क्रियाज्ञाने अपि स्वतः ।
अविकार्ये विकार्ये तु ह्यध्रुवे कार्यवन्मते ॥ ९१ ॥

तस्यैवोद्भूतरूपत्वादिति । धर्म एवोद्भूतो, न तु धर्मी । ननु जन्यत्वान्न तद्भगवत्स्वरूपमित्याशङ्क्याह–क्रियाज्ञाने अपि स्वत इति । लौकिकक्रियया वृत्त्या च अभिव्यज्येते एव, न तु जन्येते इत्यर्थः । तत्र हेतुः–अविकार्ये इति । तर्हि लोकेऽपि क्रियाज्ञानयोर्नित्यता स्यादत आह विकार्ये त्विति । किञ्च कार्यमप्यस्मन्मते अभिव्यक्तमेव । अतो नेदं दूषणमित्यर्थः ॥ ९१ ॥

तर्हि लोकतुल्यत्वात् क्रियाज्ञानप्रतिपादनार्थं किं महता वेदेनेत्याशङ्क्याह—

वेदवाच्ये तु ये रूपे तदभिव्यक्तितः फलम् ।
अनुष्ठानाद् गुरोर्वापि लौकिके लौकिकं फलम् ।
प्रेमसेवात एव स्याद्विशिष्टव्यक्तिरुत्तमा ॥ ९२ ॥

वेदवाच्ये तु ये रूपे इति । तयोरभिव्यक्तिमात्रेणैव उक्तं फलं भवति । अतः फलार्थं कीर्तनमित्यर्थः । अभिव्यक्तिहेतुमाह–अनुष्ठानाद् गुरोर्वापीति । गुरोरुत्तरकाण्डे। लौकिकेऽपि क्रियाज्ञानयोः सफलत्वात् को विशेष इत्याशङ्क्याह–लौकिकं

टिप्पणी ।

तादृशयोश्चिदानन्दयोरपि कारणत्वं, स्वतो न कारणत्वमित्युक्त्वा स्वरूपभेदानाहात एव मूले स्वतःपदमिति भावः ॥ ९१ ॥

आवरणभङ्गः ।

नन्वेवं सति क्रियावानेवार्थोऽस्तु धर्मिणोन्तःप्रविष्टत्वे किं मानमत आहुः तत्रेत्यादि । तत्रेति । धर्मिणोऽन्तःप्रवेशे । उद्भूत इति । यजत्याद्यर्थत्वेन प्रतीयमानः । तथाच यथा चक्षुरादिभिरालोकादिप्रतीतावप्यालोकादेर्धर्म्यविनाभूतत्वेन धर्मिसत्ता तथा यजत्यादौ शक्त्या क्रियाप्रतीतावपि वाक्यशेषेण विष्णुत्वबोधनात्तत्रानुद्भूतरूपधर्मिसत्त्वेति लक्षणां विनैवोभयसामञ्जस्यमिति भावः । उत्तरकाण्डे तु विषयत्वेन ज्ञानशेषत्वेनैव ब्रह्मोच्यते इति ज्ञाने ज्ञानवतः प्रविष्टत्वं स्फुटमिति तदत्र नोक्तम् । वृत्त्येति । वृत्तिरूपेण ज्ञानेन । तथाच, यथा वृत्त्या आवरणभङ्गे विषयचैतन्याभिव्यक्तिस्तथा क्रियया आवरणभङ्गे क्रियारूपस्याप्यभिव्यक्तिरिति भावः । अत आहेति । उक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थं व्यवहारे तयोरनित्यत्वमाहेत्यर्थः । मूले, विकार्ये तु ह्यध्रुवे इति । कारणाद् बहिर्भावः कारणेऽन्तर्भावश्च तयोरिति ते विक्रियां प्राप्तुतस्तेनोत्पत्तिनाशवती इत्यर्थः । अत्र ज्ञानक्रिययोस्त्रिक्षणावस्थायित्वपक्षे उत्पत्तिस्थितिनाशाख्यविकारत्रयवत्त्वात् । चिरस्थायित्वपक्षे वृद्ध्यपक्षयवत्त्वेन पञ्चविकारवत्त्वाद्विकार्यत्वं बोध्यम् । एवं प्रमाणेन प्रमेयनिर्णय उक्तः ॥ ९१ ॥

तर्हीति । यदि स्वरूपतः सर्वस्य नित्यत्वं तर्हीत्यर्थः । अभिव्यक्तिहेतुमाहेति । साधनतो निर्णेतुं तमाहेत्यर्थः । गुरोरिति । उपसत्त्यादिना प्रसन्नात् तस्मादित्यर्थः ।

१ अस्मिन्मते इति पाठान्तरम् ।

फलमिति। अन्यतः फलसिद्धिरित्यर्थः। विशिष्टाभिव्यक्तौ हेतुमाह। प्रेमसेवात इति। भक्तिशब्दस्य प्रत्ययार्थः प्रेम, धात्वर्थः सेवा। "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती"ति वाक्यात्, "पश्यन्ति ते म" इति च। विशिष्टस्य कृष्णस्य कृतार्थत्वज्ञापनायाऽभिव्यक्तिरुत्तमा। न तु दैत्यवधार्थमिव॥ ९२॥

टिप्पणी।

अन्यत इति। भगवतोऽन्यस्मात्क्षयिष्णु फलं भवतीति भावः। भक्तिशब्दस्येति। पङ्कजादिवद्योगरूढिरित्यर्थः। पश्यन्तीति। "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः। येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि। पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि। रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति" इति कपिलदेवैर्निरूपितम्॥ ९२॥

आवरणभङ्गः।

अन्यत इति। तथात्र पराधीनत्वात् तज्जघन्यमिति विशेष इत्यर्थः। एवं वैदिके प्रमेये फलतो विशेषः उक्तः। एतेनैव वैदिकशेषभूतस्मार्तपौराणभारतरामायणप्रमेयमपि व्याख्यातं ज्ञेयम्। तत्रापि धर्मप्रकरणे क्रियाया ब्रह्मप्रकरणे च ज्ञानस्यैव प्रमेयत्वात्। तयोः श्रौतशेषतयैव मुख्ये फले उपयोगः। गौणं तु श्रौत इव कर्मसचिवदेवतोषात्। गौणतरं त्वपूर्वद्वारेत्याद्यूह्यम्। साङ्ख्ययोगयोस्तु प्रमेयं कारणकोटौ निविशति। तथा फलमिति। तदग्र उद्देशतो वक्तव्यम्। अङ्गोपवेदादेस्तु प्रागेवोक्तेन चरितार्थमिति पृथगत्र न विचारितम्। अतः परं गीताश्रीभागवतयोः प्रमेयमवशिष्यते। तत्साधनतो निर्णयन्ति विशिष्टेत्यादि। ननु, "भक्त्या त्वनन्यये"ति वाक्याद्भक्तिरेवाभिव्यक्तिहेतुत्वेन वाच्या, न तु सेवापीत्यत आहुः भक्तिशब्दस्येत्यादि। अयमर्थः। प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति नियमादत्र धातुसामान्यार्थे शक्तोऽपि क्तिन्प्रत्ययो भजिसमभिव्याहारात् प्राधान्येन भजनक्रियां वक्ति। सा च सेवात्मिका। सेवापदं च सातत्याऽऽभीक्ष्ण्यान्यतरपूर्वककायिकव्यापारविशेषे रूढम्। स्त्रीसेवा, औषधसेवेत्यादिप्रयोगदर्शनात्। तादृशव्यापारविशेषपरिचर्यारूप एव, स्वतन्त्रसेवाबोधकैः "मत्सेवया प्रतीतं च" इत्यादिवाक्यैरवगम्यते। तेषु सेवया पूर्णत्वादिकथनात् प्रेमपूर्वकत्वमपि लभ्यते। अन्यथा तस्याः कायक्लेशजनकत्वेन स्वतः पुरुषार्थत्वोक्तिभङ्गप्रसङ्गात्। एवं सति प्रेम्ण एव प्रयोजकत्वेन तस्य प्राधान्यं गम्यते। भक्तिलक्षणवाक्यैः, "भक्त्यैवे"ति वाक्याच्च। अतः स एव प्रत्ययार्थः। कायिक्यादिरूपा त्वप्रधानत्वात् प्रकृत्यर्थः। साऽपि "मत्पादसेवाभिरता मदीहा" इति सेवनमुपक्रम्योक्तेन "पश्यन्ति त" इति वाक्येनावगम्यते। अतो, "भक्त्या मामभी"त्यावावुभयं सङ्गृह्यत इत्यतः प्रेमसेवात्र तथोच्यत इत्यर्थः। एतेनैव पुराणान्तरप्रमेयव्यवस्थापि बोधिता ज्ञेया। एवं स्वरूपविचारेण शास्त्रानुरोधि प्रमेयं सार्द्धैश्चतुर्भिः स्वरूपप्रमाणसाधनफलैर्निर्णीतम्॥ ९२॥

ननु क्वचित् षोडश पदार्थाः, क्वचित् सप्त, तथा त्वयापि कार्येषु कथं न भेदाः कल्प्यन्त इत्याह—

कार्यभेदविभेदान् हि कल्पयित्वा विभागशः ।
वृथा शास्त्रप्रवृत्तिर्हि यस्मात् कार्यमतिर्वृथा ॥ ९३ ॥

कार्यभेदेति । "मुख्यमेकं पृथक्कृत्य साधनानां निरूपणम् । युक्तं न तुल्यसङ्ख्या हि फलकारणयोः क्वचित्" । अतोऽत्र हरिं पृथक्कृत्य तत्त्वान्येव कारणत्वेन कथितानि, न त्वेकीकृत्य शास्त्रान्तरवन्निरूपितानि ॥ ९३ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव पुरुषः प्रकृतिर्महान् ।
अहङ्कारः पञ्चमात्रा शब्दस्पर्शाकृती रसः ॥ ९४ ॥
गन्धो भूतानि पञ्चैव खं वायुर्ज्योतिरप्क्षितिः ।
क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दोर्मेण्ढ्राङ्घ्रिपायवः ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा मनः षडिति भेदतः ॥ ९५ ॥

तत्त्वानि गणयति सत्त्वमिति मनः षडित्यन्तेन । मनसः क्रियामयत्वं ज्ञानमयत्वं चाह । भेदत इति । मनसा सह क्रियायां षडिति ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

आवरणभङ्गः ।

अतः परं स्वतन्त्रप्रमेयमध्ये कार्यरूपं विचारयन्ति नन्वित्यादि । कार्यभेदेति । ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्य कार्यत्वात्तद्भेदान् द्रव्यादीन् तद्विभेदान् पृथिवीशब्दादीन् हि निश्चयेन एतावन्त एव नियताः पदार्था नाधिका इत्याकारकेण विभागशः । पृथिवी नित्या, कार्या इन्द्रियानिन्द्रियरूपेत्याद्यवान्तरविभागेन, कल्पयित्वा, तज्ज्ञानेन, तत्साधर्म्यवैधर्म्यज्ञानेन, मुक्तिं प्रदर्श्य, शास्त्रप्रवृत्तिर्वृथा न फलसाधिका यस्माद्धेतोः कार्यमतिर्वृथा, वाचारम्भणश्रुत्या कार्यबुद्धिरेव न फलजनिकेत्युक्तम्, तस्मादित्यर्थः । तस्मात्तत्कार्यतया हेयतयैव क्रोडीकार्यं, न तु फलायेति भावः । ननु यद्येवं तदा तत्त्वगणनाऽप्यपार्था, तेषामपि कार्यत्वादित्यत आहुः मुख्यमेकमित्यादि । तथाच, कार्यत्वेऽपि बोधसाधनत्वेन पुराणेषूक्तत्वाद् भगवदुक्तं पक्षमाश्रित्य कारणत्वेन गण्यन्तेऽतो न पूर्वोक्तदोष इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

गणयतीति । पूर्वं सङ्ख्याया उक्तत्वात् तत्पूरणाय गणयतीत्यर्थः । अत्र, सत्त्वमित्यादिसार्द्धद्वयेनाष्टाविंशतीनामुद्देशमात्रं कृतम् । लक्षणं तु सत्त्वादिगुणानां, "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वाद्" इत्यादिभ्यो गीतावाक्येभ्यो ज्ञेयम् । पुरुषादीनां पञ्चविंशतीनां तु तृतीयस्कन्धस्थकापिलेयवाक्येभ्यः । तत्सर्वं तु सुबोधिन्यां विवृतम् । तत्र चैकैकस्य लक्षणत्रितयमुक्तम् । तेभ्यो व्यवहारोपयोगाय मया प्रस्थानरत्नाकरे उद्धृत्यानूदितानि परीक्षितानि, चेति तत्प्रपञ्चस्ततोऽवधेयः । उद्ग्रन्थविस्तरभियाऽत्र न लिख्यते ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

---

१ पृथक् इत्यपि पाठः ।

देवतावर्गेणाधिकसङ्ख्यामाशङ्क्य परिहरति—

आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविकः।
अतो हि देवतावर्ग इन्द्रियेभ्यो न भिद्यते ॥ ९६ ॥

आध्यात्मिकस्त्विति ॥ ९६ ॥

माया भिन्नेत्याशङ्क्याह—

माया तु गुणरूपा हि कालस्तु भगवान् परः।
सूत्रं महांस्तथा प्राणो बुद्धिश्चाहमभेदतः ॥ ९७ ॥

माया त्विति।—

आवरणभङ्गः।

देवतावर्गेणेति। "तैजसादिन्द्रियाणि" त्विति तैजसशब्दवाच्याद्राजसाहङ्कारादिन्द्रियोत्पत्तिः, "वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश। दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रका" इति वैकारिकशब्दवाच्यात् सात्त्विकाहङ्काराद्देवतोत्पत्तिरित्युत्पत्तिभेदादुक्तरूपेण तेनेत्यर्थः। आध्यात्मिक इति द्वितीयस्कन्धस्य दशमे "आध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविक" इत्यत्र जीवान्तर्यामिणोः कार्यभेदेऽपि वाचकपाठकवदभेद एव प्रतिपादितः। प्रकृतेऽपि तृतीयस्कन्धस्य षष्ठे, "त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशदि"ति प्राधानिकस्य गणस्य सङ्ख्यामुक्त्वाऽग्रे, "तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत् पदम्। वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययाऽसौ प्रतिपद्यते" इत्यादिष्विन्द्रियाणां देवांशत्वं कण्ठत एवोक्तम्। श्रुतौ च "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदि"त्युक्तम्। तेनेन्द्रियाणां देवांशत्वाद्देवाभिन्नत्वम्। आध्यात्मिकादिपदार्थस्तु, आत्मन्यधीत्यध्यात्मं तत्र भव आध्यात्मिकः। एवमाधिदैविकोऽपि। एवं सति दैव्येषु भोगादिषु देवतावर्गस्य स्वातन्त्र्येऽपि देहमधिष्ठाय कार्यकरण इन्द्रियाणामेव प्राधान्यस्य पूर्ववाक्येषूक्तत्वात् तदाधिदैविकानामपि तेष्वेव निवेश इत्यत आध्यात्मिकेभ्य इन्द्रियेभ्यः स न भिद्यत इत्यर्थः ॥ ९६ ॥

माया भिन्नेत्याशङ्क्येति। "रजः सत्त्वं तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः। सर्गस्थितिनिरोधेषु गृहीता मायया विभोरि"ति वाक्ये मायागुणयोर्ग्राह्यग्राहकभावोक्तेर्भिन्नेत्याशङ्क्येत्यर्थः। गुणरूपत्वं तु, "दैवी ह्येषा गुणमयी"ति वाक्यात्। ननु तथा सति कथमनयोर्वाक्ययोरविरोध इति चेत्, इत्थम्; सामर्थ्यरूपा हि सा। यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ शक्तिः। अत एव कार्यैकोन्नेया। "किमावरीव" इति श्रुतेश्च। एवं सति सिसृक्षया गुणानुत्पाद्य तेषु तां निक्षिपतीति तदात्मैव सोच्यते, कीर्तिन्यायाच्च न भगवच्छक्तित्वहानिरतो नानुपपत्तिः कापि। कालो वैशेषिकादिमते द्रव्यान्तरम्। अनीश्वरकापिले तु, "दिक्कालावाकाशादिभ्यः" इति सूत्रादाकाशेऽन्तर्भावितः। एकदेशिमते त्वतिरिक्तं प्राकृतिकं तत्त्वम्। अपरैकदेशिमते त्वहङ्कारमूढस्य कर्तुर्भयजनकः पुरुषस्य धर्मः सामर्थ्यविशेषो वा काल इति। तदेकमपि स्वामिप्रेतं न भवति, किन्तु श्रुतौ कार्यकोटावगणनादुद्गमेऽस्याप्यश्रवणात्, "सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तन्त्रितयं त्वहमि"ति। "प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि। चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्ष्यते" इति वाक्याच्च स

कालस्तु भगवत्यन्तर्भूतः । सूत्रं तु महत्तत्त्वमेव । तथा प्राणो बुद्धिश्च अहङ्कार

आवरणभङ्गः।

भगवदात्मक एवेत्याशयेनाहुः कालस्त्वित्यादि । ननु "तेभ्यः समभवत्सूत्रमि"ति वाक्यात् सूत्रं नाम तत्त्वं भिन्नमेवेत्यत आहुः सूत्रं तु महत्तत्त्वमेवेति । "तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुत" इति वाक्यादेव तथेत्यर्थः । एतद्वाक्यार्थस्तु, सूत्रं सूचनात् क्रियाशक्तिमान् प्रथमो विकारः । ततो महान् ज्ञानशक्तिमान् । स च सूत्रेण संयुतः सम्यङ् मिश्रितः, ततः पृथङ् न, किन्त्वेकमेव तत्त्वं ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां द्वेधोच्यत इति । द्वितीयस्कन्धे तु, "ततः प्राणो महानसुरि"ति प्राणात्मकत्वमप्यस्योक्तम् । वेदे य आसन्यत्वेन प्रसिद्धो भगवद्रूपस्तस्य सूत्रेऽवतारात् । एतद्रूपता च नामसृष्टावुपयोक्ष्यते । प्राणबुद्धिभ्यां तत्त्वाधिक्यमाशङ्क्य परिहरन्ति तथा प्राणो बुद्धिश्चेति । "बुद्धिः प्राणस्तु तैजस" इति वाक्यात् । तैजसो राजसाहङ्काराभिन्न इत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे तैजसाहङ्कार एवाऽऽसन्यावतारो ज्ञेयः । अतो नानुपपत्तिः । भगवदीयसाङ्ख्ये तयोरुत्पत्तिर्नोक्तेत्यत्रापि तत्त्वान्तरता नोक्ता । अतो न तत्त्वाधिक्यमित्यर्थः । एतेन तृतीयस्कन्धे, "तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वमभूत् सती"ति यदुक्तं तत् कल्पान्तरानुसारि मतान्तरमिति ज्ञापितम् । प्राणस्य वायुसमानाकारत्वमात्रमादायैव वायुलक्षणे सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वमुक्तं, न तु तामसत्वं वायुरूपत्वं वाऽऽदायेत्यव्यवधेयम् । अन्यथा तामसीं सृष्टिं वदन् शास्त्रकारस्तैजसानामिन्द्रियाणामात्मत्वं कथं वदेत् । ननु क्वचिदाकाशादिपञ्चकसत्त्वांशेभ्यो बुद्ध्युत्पत्तिकथनात् सात्त्विकत्वं प्रतीयते । श्वासोच्छ्वासाभ्यां वायुत्वेन प्राणस्य तामसत्वमतः कथमुभयो राजसत्वमिति चेन्न; जननक्रियायामुभयोर्व्यापृतत्वाज्जननस्य च रजोधर्मत्वात्तदुपपत्तेरिति । प्राणलक्षणं तु सर्वेन्द्रियबलदातृत्वम् । अत एव ओजःसहोबलानि प्राणधर्माः । ओज इन्द्रियशक्तिः, सहो मनःशक्तिर्बलं च देहशक्तिरिति । अयं चाऽणुः सामर्थ्येन शरीरे सकले प्राणापानव्यानोदानसमानभेदात् पञ्चधा तिष्ठति । क्वचित्तु, नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयभेदेन दशधाऽप्युक्तः । एतेषां स्थानकार्यादिकं विस्तरभयान्नोच्यते, सर्वजनीनत्वात्प्रमाणमपि । बुद्धिस्तु, "बुद्धिश्च बोद्धव्यं चे"ति श्रुतौ करणानुक्रमणे सिद्धा, हृदयस्था, विशिष्टज्ञानलक्षणकार्यानुमेया च । तत्साधितमाचार्यैः । यो बुद्धिमाँस्तस्य पदार्थज्ञानं भवतीति, सुबुद्धिरयं पदार्थान् जानातीति च ज्ञानकारणत्वेन बुद्धिर्व्यपदिश्यते । कार्यकारणयोरभेदोपचाराच्च बुद्धिज्ञानयोः पर्यायत्वव्यवहारः । अन्यथा, बालस्य बुद्ध्यभावेन पदार्थज्ञानं सम्यङ् न भवति तत् स्यादिति । बुद्धेर्लक्षणानि तु त्रीणि । तत्र, द्रव्यस्फुरणविज्ञानत्वं स्वरूपलक्षणम् । इन्द्रियानुग्राहकत्वं, संशयविपर्यासनिश्चयस्मृतिस्वप्नवृत्तिकत्वं चेति द्वयं कार्यलक्षणम् । तदुक्तम्, "द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः । संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च । स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथगि"ति । प्रथमलक्षणे द्रव्यपदं विषयमात्रोपलक्षकम् । तेन विषयनिर्विकल्पकोत्तरं शब्दादिना यद् विशिष्टज्ञानं तादृगाकारा बुद्धिरित्याध्यात्मिकं तल्लक्षणम् । निर्विकल्पकाकारा तु न बुद्धिः । तारतम्याऽज्ञापनेनेन्द्रियाननुग्राहकत्वात्, विशिष्टज्ञानाकारत्वाच्च । योगजधर्मजन्यविज्ञानस्यापि विशिष्टज्ञानरूपत्वात्तद्वारणाय समुदितमुपात्तम् । तेनेदं फलति । योगजधर्माऽजन्यो विशिष्टज्ञानसमानाकारो

एव । तस्मादष्टाविंशतिसङ्ख्यकान्येव ॥ ९७ ॥

अक्षरकर्मस्वभावानिरूपयन् प्रथममक्षरमाह—

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा ।
यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते ॥ ९८ ॥

प्रकृतिः पुरुषश्चेति । भगवान् यदा येन रूपेण कार्यं कर्तुमिच्छति तद्रूपमेव व्यापारयति । तत्र ज्ञानेन मोक्षो देय इति यदा विचारयति तदाऽक्षरमेव ब्रह्मस्वरूपं पुरुषोत्तमस्याधारभागश्चरणस्थानीयः, तमादौ चतुर्मूर्तीकरोति । अक्षररूपं, ब्रह्मरूपं, कालरूपं स्वभावरूपं च । तत्र यस्य रूपस्य द्वैरूप्यं भवति प्रकृतिपुरुषभेदेन तदक्षरम् ॥ ९८ ॥

टिप्पणी ।

ब्रह्मरूपमिति । वेदरूपमित्यर्थः । अत एवाग्रे यथा कालो रूपमक्षरस्य तथा कर्मापीति व्याख्यावेदबोध्यविधिनिषेधात्मककर्मनिरूपणं च सङ्गच्छत इत्यर्थः ॥ ९८ ॥

आवरणभङ्गः ।

ज्ञानेन्द्रियानुग्राहकः पदार्थो बुद्धिरिति । तृतीयलक्षणोक्ता वृत्तयस्तु कार्यज्ञाननिरूपणे संशयादीनां स्वरूपकथने तत्तत्समानाकारत्वेनैव ज्ञाता भविष्यन्तीति प्रस्थानरत्नाकर एव ता विवृता इत्यतो नात्र लक्ष्यन्ते । प्रकृतमनुसरामः । एवं तत्त्वाधिक्यं परिहृत्य निगमयन्ति तस्मादित्यादि ॥ ९७ ॥

"ब्रह्मतनुः पर"इत्यत्रोक्तं यत् तद् विचारयन्ति अक्षरेत्यादि । "तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणमि"ति तृतीयस्कन्धवाक्यादक्षरस्य "कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया । आत्मन्यद्दच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे । कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः । कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूदि"ति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् कालकर्मस्वभावानामपि ब्रह्माण्डसृष्टिपूर्वभावित्वात्तत्त्वता भविष्यतीति कथमष्टाविंशतिरेव तत्त्वानीत्याशङ्कायामेतेषां तत्त्वतानिराकरणार्थमेतच्चतुष्टयस्वरूपं निरूपयिष्यन् प्रथममक्षरं लक्षयतीत्यर्थः । अत्राक्षरकर्मस्वभावानित्यत्र मध्ये कालशब्दस्त्रुटित इति प्रतिभाति, तथाग्रे, ब्रह्मरूपमित्यत्र कर्मरूपमिति पाठश्च व्याख्यानग्रन्थस्वारस्यादिति बोध्यम् । नन्वेवमधिष्ठानस्य किं प्रयोजनमत आहुः भगवानित्यादि । तथाचाक्षरज्ञाने श्रुतौ मोक्षस्योक्तत्वात् तस्याव्यक्तत्वेन दुर्ज्ञेयत्वात्तस्य ज्ञानार्थमेवं तदधितिष्ठतीत्यर्थः । एवं प्रयोजनमुक्त्वा लक्षणं व्याकुर्वन्ति तत्र यस्य रूपस्येत्यादि । इदमेव च श्रीभागवते सर्वकारणकारणपदेनोक्तम् । सर्वकारणयोः प्रकृतिपुरुषयोः कारणमिति व्याख्यानात् "द्विधा समभवद् बृहदि"ति वाक्याच्च । अत्र मूले समधिष्ठायेति कथनात् सृष्टिकरणे आधाराकाङ्क्षाऽपि पूरिता । तेन शास्त्रे ऊर्णनाभदृष्टान्ते याऽनुपपत्तिः, सापि परिहृता बोध्या । भवतीति । तथा च पुरुषोत्तमस्तु लीलया इच्छां करोति, न तु तया व्याप्रियत इत्यतिरोहितानन्दः । अक्षरं तु तया व्यापृतं सन्मूलभूतेन सत्त्वेन तिरोहितानन्दं मुख्यजीवपदवाच्यतां धत्त इत्येष विशेष इत्यर्थः ॥ ९८ ॥

नतु पुरुषोत्तमस्वरूपात्तत्र को विशेष इति चेत्तत्राह—

आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि ।
मुख्यजीवस्ततः प्रोक्तः सृष्टीच्छावशगो हरिः ॥ ९९ ॥

आनन्दांशतिरोभाव इति । अग्रेऽहमेवं भविष्यामीतीच्छामात्रेणान्तःसमुत्थितसत्त्वेनानन्दांशस्तिरोहित इव भवति । तेन सृष्टीच्छया व्यापृतो भगवान् मुख्यजीवशब्दवाच्योऽपि भवति । अत एव औडुलोमिमते जीवानां चिद्रूपाणां चिद्रूपे स्वयोग्ये ब्रह्मणि प्रवेशः ॥ ९९ ॥

नन्वानन्दांशतिरोभावे जीवत्वमेव स्याद् यथा महदादीनामित्याशङ्क्याह—

इच्छामात्रात्तिरोभावस्तस्यायमुपचर्यते ।
ब्रह्मकूटस्थाऽव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरम् ॥ १०० ॥

इच्छामात्रादिति । इच्छायां प्रविष्टायां कार्यव्यापृत्या तिरोभाव इवोच्यते । वस्तुतस्त्वानन्दमय एव । अत एव पुरुषोऽवतारो भविष्यति । इच्छारूपायाः प्रकृतेर्भिन्नत्वे वाचकैरपि तस्य न जीवत्वमित्यभिप्रायेणाह । ब्रह्मेति । आदिशब्देनाऽसत्तमःशब्दादयो गृह्यन्ते । तथापि न पुरुषोत्तमाद्भिन्नतयाऽवस्थितः, किन्तु निरन्तर एव ॥ १०० ॥

टिप्पणी ।

अत एवेति । यतो भगवान्मुख्यजीवशब्दवाच्योऽस्यानन्दांशोऽपि तिरोहित इव न तु तिरोहितस्तत एव औडुलोमिमतवादिनस्तस्मिन्नेव भगवति जीवानां प्रवेशं वदन्तीत्यर्थः ॥ ९९ ॥

यथेति । ब्रह्मात्मकत्वेऽपि चिदंशानन्दांशतिरोभावे यथा महदादीनां जडत्वं तथा भगवति पुरुषेऽप्यानन्दांशतिरोभावे जीवः स्यादित्यर्थः । प्रकृतेर्भिन्नत्व इति । पुरुषस्य केवलत्वे जात इत्यर्थः । आदिशब्देनेति । "असद्वा इदमग्र आसीत्", "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्", "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतमि"त्यादि श्रुतिषु विद्यमाना इत्यर्थः ॥ १०० ॥

आवरणभङ्गः ।

आनन्दांशतिरोभावे गमकमाहुः अत एवौडुलोमीत्यादि । अक्षरस्यानन्दमयत्वे गमकमाहुः अत एवेत्यादि । अत्रेदं हृदयम् । प्रकृतिभर्तुः "पुरुषस्य निर्वृतात्मनः" इत्यनेनानन्दमयत्वमुक्तम् । ब्रह्माण्डदेहप्रविष्टपुरुषस्य च प्रथमस्कन्धे वाराहादयोऽवतारा उक्ताः । त एव च द्वितीयस्कन्धे लीलावतारत्वेनानन्दाकारा उक्ताः । तत्र तत्र तेषां तथात्वं च साधितम् । एवं सति यदवताराणामानन्दमयत्वं तदवतारिणः पुरुषस्याप्यानन्दमयत्वमर्थसिद्धम् । तथा सति तदवतारिणोऽक्षरस्यानन्दमयत्वे कः सन्देह इति । एषा च ब्रह्माण्डस्य ब्रह्मशरीरत्वं यत्र कल्पे तत्रत्या व्यवस्था ॥ ९९ ॥

गमकान्तरमप्याहुः इच्छारूपाया इत्यादि । भिन्नत्वे इति । या पूर्वं प्रजायेयेतीच्छारूपा तस्या एव पिण्डिततया घनीभावेन प्रकृतिरूपतया पृथक्स्थितावित्यर्थः । अत्र वाचकनिर्देशेन प्रमाणानुरोधित्वमक्षरस्य स्फुटीकृतम् । ब्रह्मशब्दवाच्यत्वं तु "तदाहुरक्षरं ब्रह्मे"त्यत्रोक्तम् । एवं श्रुतावपि । तथा, "कूटस्थोऽक्षर" उच्यते । "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्त" इति । कूटवन्निर्विकारतया स्थितं कूटस्थ-

तस्यैव कारणत्वं ज्ञापयितुं तत्रैव कार्यस्थितिमाह—

सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन्नण्डानि कोटिशः ।
मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः ॥ १०१ ॥

सर्वावरणयुक्तानीति । "तदाहुरक्षरं ब्रह्मे"ति वाक्यात् । एतस्याक्षरस्य पुरुषोत्तमे अभेदेन यथा निवेशस्तथा प्रकारा उच्यन्ते । तदाह मूलाविच्छेदेति । मूलेन पुरुषोत्तमेन सह, अविच्छिन्नतया तिष्ठति, न तु कार्यत्वेनेत्याह तदाधारतयेति । एषा स्थितिः सर्वदा ॥ १०१ ॥

कदाचित् पुनः पुरुषोत्तमश्चेदाविर्भवति तदाऽक्षरमपि बहुधा भवतीत्याह—

प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः ।
अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्य हि ॥ १०२ ॥

प्रभुत्वेनेति । प्रभुर्वैकुण्ठवासी लोको वैकुण्ठः, जीवजडाकारेण प्रादुर्भवतीत्यर्थः । अत एव वैकुण्ठवासिनो मुक्ताः । ततोऽपि पुरुषोत्तमो महान् । अत एवाभेदश्चासदा-

---

टिप्पणी ।

तदाहुरिति । "तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् । विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः" इति तृतीयस्कन्ध एकादशाध्याये निरूपणादित्यर्थः ॥ १०१ ॥

अत एवेति । यतोऽक्षरमेव जीवजडाकारेण प्रादुर्भवत्यतो वैकुण्ठस्थिताः पक्षिवृक्षादयोऽपि मुक्ता एवेत्यर्थः ॥ १०२ ॥

आवरणभङ्गः ।

शब्दस्याक्षरपर्यायत्वकथनेन स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयावच्छिन्नं चैतन्यं कूटस्थपदवाच्यमित्यङ्गीकुर्वन्तो विद्यारण्याद्या निरस्ताः । शक्तिग्राहकस्यालाभादिति शेषं स्पष्टम् ॥ १०० ॥

तदाहुरिति । "विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः । आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः । दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् । लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशोऽप्यण्डराशयः । तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणमि"ति । एवमस्य प्रमाणान्निर्णय उक्तः । प्रमेयाद्वक्तुमाहुः एतस्येत्यादि । उच्यन्त इति । श्रीभागवतादावुच्यन्त इत्यर्थः । एषा स्थितिरिति । मूलं पुरुषोत्तमस्तमाधारं कृत्वा या स्थितिः सेति । "तदक्षरं", "तत्सवितुर्वरेण्यं", "एतद्वै तदक्षरं गार्गी"त्यादिश्रुतौ ब्रह्माऽभेदश्रावणात् तदवच्छिन्नतया, "तदक्षरे परमे व्योमन्नि"त्यत्राधारतया श्रावणा"दक्षरात्परतः पर" इत्यत्र पुरुपादपरत्वश्रावणाच्च तथेत्यर्थः । नच पुरुषोत्तमस्याक्षरस्य वाऽऽधारान्तरमपेक्षणीयम् । मूले मूलाभावादमूलं मूलमिति न्यायात् । एवं सति, "तद्धाम परमं ममे"त्यादिभिर्धर्मभेदे स्मृते तद्भिन्नत्वशङ्कोदेति । सा च, "अक्षरमम्बरान्तरधृतेरि"त्यत्राऽक्षरशब्दवाच्यत्वस्य ब्रह्मणि व्यवस्थापनात् परिहृता । स्वस्यैवाऽऽधारत्वमाधेयत्वं चेति तु विरुद्धधर्माश्रयत्वादेव सिद्धमिति न शङ्कावकाशः ॥ १०१ ॥

जीवजडाकारेणाविर्भवतीति । इदं च द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये प्रसिद्धम् । ततोऽपीति । प्रभुत्वादपीत्यर्थः । एवं स्वरूपकोटिस्थत्वेऽपि न्यूनत्वं समर्थितम् । शेषं स्फुटम् । अत एवेति । अक्षरात्मत्वादेवेत्यर्थः । एतेन एकात्मवादस्यापि मूलमुक्तम् । अत एवेति । मुक्तित आधिक्यादेव ।

दीनामिति वाक्यं सङ्गच्छते । अन्तरुपासनायामन्तर्यामिरूपेण प्रकटो भवति । तदा सद्योमुक्तौ ज्ञानिनस्तच्चरणारविन्दमेव प्रविशन्तीत्यक्षरस्य पादत्वम् । तथाऽवतारेऽपि । "चैद्ये च सात्त्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे" इति । आदिशब्देनाधिदैवादिरूपेष्वपि ॥ १०२ ॥

हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वं परमात्मनः ।
तदुपासनया ज्ञानात् परमात्मत्वमस्य हि ॥ १०३ ॥

आन्दमयनिरूपणे हंसाकृतित्वकथनम्, तत्र, "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठे"ति ब्रह्माक्षरमानन्दमयस्य पुच्छमिति निःसन्देहाय परमात्मपदम् । एवमनेकभावापन्नमपि ज्ञानमार्गेऽक्षरत्वेनैव सेव्यमित्याह तदुपासनयेति । प्रथमतस्तस्यैव निदिध्यासनेन यज्ज्ञानमुत्पद्यते तेनास्याधिकारिणः परमात्मत्वमेव, "न त्वक्षरमात्रते"ति भगवद्वचनादवगम्यते । "ते प्राप्नुवन्ति मामेवे"ति हिशब्दार्थः । भक्तिमार्गे त्वारम्भत एव परमानन्दः । ज्ञानमार्गे त्वन्तत इति विशेषः ॥ १०३ ॥

तथापि ज्ञानमार्गे अक्षरमेव सेव्यम् । एवमभेदेऽपि वैलक्षण्यं निरूप्य यदर्थमेतन्निरूपितं तदाह—

ज्ञानमार्गे त्वेतदेव सेव्यं कृष्णस्ततोऽधिकः ।
रूपान्तरं तु तस्यैव सर्वसामर्थ्यसंयुतम् ॥ १०४ ॥

कृष्णस्ततोऽधिक इति । "अक्षरादपि चोत्तम" इत्यादिवाक्यं समर्थितं भवति । तस्यैव रूपान्तरं काल इत्याह रूपान्तरमिति । तस्य रूपान्तरत्वे हेतुमाह सर्वसामर्थ्यसंयुतमिति । सर्वाकारेण भवनातिरिक्तं यावत् किञ्चित्सामर्थ्यं मायाया विशेषस्तत्संयुतम् । तेनास्य सर्वाधिकारित्वं निरूपितम् ॥ १०४ ॥

टिप्पणी ।

आनन्दमयेति । तैत्तिरीयोपनिषदि अन्नमयादिनिरूप्यमाणेषु पुरुषोत्तमस्य हंसाकृतित्वकथनमस्तीति, तत्राक्षरस्य पुरुषत्वमित्यर्थः । प्रथमत इत्यारभ्य हिशब्दार्थमाहुः ॥ १०३ ॥

इत्यादिवाक्यमिति । "कृषिर्भूवाचकः", "कृष्णस्तु भगवान्" इत्यादि । तस्यैवेति । अक्षरस्यैवेत्यर्थः । मायाया इति । माया तु सर्वरूपेण भवतीति ततो वैलक्षण्यम् ॥ १०४ ॥

आवरणभङ्गः ।

"अभेदे" इति वाक्यं तु स्कान्दं भारततात्पर्ये मध्वाचार्यैरुपन्यस्तम् । "अभेदश्चासदादीनां मुक्तानां हरिणा तथा । इत्यादि सर्वं मोहाय कथ्यते पुत्र नान्यथे"ति । एवं प्रमेयान्निर्णय उक्तः ॥ १०२ ॥

साधनफलाभ्यां निर्णेतुमाहुः एवमनेकेत्यादि । शेषं स्पष्टम् ॥ १०३ ॥

अथ कालस्य तद्रूपत्वेऽपि स्वतन्त्रत्वाय लक्षणादिकं वक्तुमाहुः तस्यैव रूपान्तरमित्यादि । "प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयं त्वहमि"ति वाक्ये कालस्य ब्रह्मपदेनाक्षरब्रह्मरूपतोक्ता । "द्विधा समभवद् बृहदि"त्युपक्रमात् । न तु तदुत्पत्तिः । तेन रूपान्तरं हेतुमिति गमकमित्यर्थः । प्रकृतेरुपादानत्वमुक्त्वा सदभिव्यञ्जकत्वमात्रमुक्तं, तेन निमित्तरूपतया कारणत्वमित्यभिप्रेत्याहुः सर्वाकारेत्यादि । एवं प्रमाणतो निर्णय उक्तः ॥ १०४ ॥

तस्य रूपमाह—

चिदानन्दतिरोभावस्तदनुद्गम एव च ।
ईषत्सत्त्वांशप्राकट्यं बहिरन्तस्तु सर्वतः ॥ १०५ ॥
चिदानन्दावपि तथा स कालः सकलोद्भवः ।
क्रियाशक्तिप्रधानत्वान्नित्यगः सकलाश्रयः ॥ १०६ ॥

चिदानन्दतिरोभाव इति । सच्चिदानन्दरूपेषु द्वयोस्तु स्वेच्छया तिरोभावः । उपासनायामन्यथाकारणाभावायानन्दांशस्य सर्वथाऽनुद्गमः । सजातीयत्वेन जीवसङ्कोचाभावाय चिदंशस्याप्यनुद्गमः । जडादपि वैलक्षण्यमाह ईषत्सत्त्वांशप्राकट्यमिति । व्यवहारे सर्वानुभवसम्भवेऽपि सर्वाऽप्रत्यक्षत्वात् । तर्हि आकाशतुल्यता स्यादित्याशङ्क्याह अन्तस्तु सर्वत इति स बहिर्मुखाणां बहिर्व्यवहारे पूर्वोक्तप्रकार एव । ज्ञानिनां तु सच्चिदानन्दरूपो भगवानपि कदाचित्तद्रूपो भवतीति । अतः सच्चिदानन्दरूपोऽन्तःप्रकटः ।

टिप्पणी ।

उपासनायामिति । उपासनायां कृतायां क्रियमाणायां वा कालः स्वोपासकस्य ज्ञानिनः स्वानन्दानुभवार्थं स्वानन्दं प्रकटयतीति सम्भावना स्यात्तदभावायेत्यर्थः । सजातीयत्वेनेति । चिदंशप्राकट्ये कालस्यात्मतुल्यत्वाज्जीवसजातीयत्वेन जीवेषु सङ्कोचः प्रवेशः स्याद्भिन्नत्वेन गणना न स्यात्तदभावायेत्यर्थः । ज्ञानिनामित्यारभ्य प्रकट इत्यन्ते । सच्चिदानन्दरूपो भगवान् कदाचित्कालरूपः प्रकटो भवतीति तदुपासकैर्ज्ञानिभिस्तथाकालो निरूप्यत इति भावः ॥१०५॥१०६॥

आवरणभङ्गः ।

प्रमेयतो निर्णेतुं तस्य स्वरूपलक्षणमाहुः तस्येत्यादि । द्वयोस्तु स्वेच्छयेति । चिदानन्दयोः "प्रजायेये"तीच्छया । कालः पुरुषोत्तमस्य क्रियाशक्तिरूपः । चेष्टारूपत्वात् । "योऽयं कालस्तस्य ते व्यक्तबन्धोश्चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वमि"ति वाक्यात् । क्रिया च सदंशशक्तिरिति तत्र युक्तश्चिदानन्दतिरोभाव इत्यर्थः । ननु तिरोभावेऽपि यथा मात्राभ्यो भूतोद्गमो भूतेभ्यस्तत्तद्विशेषगुणोद्गमस्तथा चिदानन्दांशोद्गम इत्यत आहुः उपासनायामित्यादि । अन्यथाकरणाभावायेति । आनन्दांशदानाभावायेत्यर्थः । सजातीयेत्यादि । प्रकृतितो जडवत् कालाच्चिदंशान्तरोद्गमे कालस्यापि सजातीयतायां तथा स्यादिति तदभावाय तथेत्यर्थः । अन्तस्तु सर्वतश्चिदानन्दादावपि तथेति मूलं तु अन्तश्चिदानन्दावपिशब्दात् सदंशश्च सर्वतस्तथा प्रकट इत्येवं युज्यते । एवञ्च, स काल इत्यन्तेन सपादपद्येन स्वरूपलक्षणं कालस्योक्तं भवति । अन्तःप्रकटसच्चिदानन्दो व्यवहारे ईषत्सत्त्वांशेन प्रकटः काल इति । आकाशवारणायाऽन्तरित्यादि । अक्षरवारणाय व्यवहारेत्यादि । "कालोऽसीति", "कालेनाव्यक्तमूर्तिने"त्यादिवाक्यानुरोधीदं लक्षणम् । अथ "गुणव्यतिकराकारो

तस्य प्रयोजनमाह सकलोद्भव इति । सकलस्योद्भवो यस्मात् । तस्य परमार्थदर्शने कार्य्यसिद्धिर्न भविष्यतीति भगवांस्तं क्रियाशक्तिप्रधानमेव कृतवान् । अतः सकलोद्भवहेतुः । नित्यगश्च चलनैकस्वभावः । तथा सति सर्वनियामकत्वं न भविष्यतीति विशेषमाह सकलाश्रय इति । सर्वं जगत् स्वस्मिन् स्थापयित्वा निरन्तरं गच्छति । अत एव नित्यप्रलयसिद्धिः ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

कृष्णस्य इदं सामर्थ्यम् । तच्च पुरुषोत्तमोऽक्षरातिरिक्त एवेत्याह—

विकृतावेव तच्छक्तिः सर्वोत्पत्त्यन्तभावनः ।
ऐश्वर्यं भगवद्दत्तं तत्रैव प्रतितिष्ठति ॥ १०७ ॥
अत एवेश्वरः प्रोक्तः सर्वान्तर उदीरितः ।
आसुरादिमते तस्मान्नान्यः सेव्यः कथञ्चन ॥ १०८ ॥

विकृतावेवेति । विकृतौ किं करोतीत्याकाङ्क्षायामाह । सर्वोत्पत्त्यन्तभावन इति । केचिदस्यैवेश्वरत्वमाहुः । केचिदन्तर्यामिणः । तत्रास्येश्वरत्वे हेतुमाह ऐश्वर्यं भगवद्दत्तमिति । मुख्योऽयमधिकारी तेन सर्वापेक्षया भगवत्सेवकेष्वयमन्तरङ्गः । अस्य महत्त्वाय सेवकानुपासनाप्रकारं चाह । आसुरादिमते तस्मादिति ॥१०७॥१०८॥

आवरणभङ्गः ।

निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः" इति कार्यानुसारिलक्षणस्यार्थमाहुः तस्य प्रयोजनमित्यारभ्य, प्रलयसिद्धिरित्यन्तेन । तेन सकलोद्भवो नित्यगः कालः । नित्यगः सकलाश्रयो वा काल इति लक्षणद्वयं सिद्ध्यति । ईश्वरेच्छापुरुषादिव्यावृत्त्यर्थं, नित्यग इति । इदमेवाप्रतिष्ठितपदेनोक्तम् । नित्यगत्वोपपादनार्थं, सकलेत्यादि । यस्मादिति । निमित्तभूतात् । तेन सकलोद्भवत्वाच्चिरक्षिप्रादिव्यवहारहेतुत्वं सकलाश्रयत्वादतीतानागतादिव्यवहारहेतुत्वं च दर्शितम् । इदमेव गुणव्यतिकराकारनिर्विशेषपदाभ्यामुक्तम् । कार्यसिद्धिर्नेति । "भयेन च प्रव्यथितं मनो मे" इत्यादौ तस्य भयजनकत्वोक्तेस्तथेत्यर्थः । उपादानत्वं तु नादृतम् । अत्र प्रकृतेरेव तथात्वेन विवक्षणात् । "ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाऽव्यक्तिमूर्तिना" इत्यत्र विश्वपरिच्छेदकत्वमीश्वरत्वञ्चोक्तम् ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

तद्विवेचयितुमाहुः कृष्णस्येत्यारभ्यान्तरङ्ग इत्यन्तम् । इदमिति । प्रलायकत्वरूपम् । सामर्थ्यमिति । "प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयमि"तिवाक्ये प्रभावत्वेन कथनात्तथेत्यर्थः । अन्तर्यामिण ईश्वरत्वम्, "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती"त्यत्रोक्तम् । अन्तरङ्ग इत्यनेन मूलस्थं सर्वान्तरपदं विवृतम् । सर्वापेक्षयाऽऽन्तर इति समासात् । फलतः साधनतो निर्णेतुमाहुः अस्य महत्त्वायेत्यादि ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

मुख्याधिकारी कृष्णस्य प्रभुवत् फलसाधकः ।
सूर्यगत्या तु तद्भेदाः सूर्यस्तस्याधिभौतिकम् ।
आध्यात्मिकं तु तद्भेदाः क्वचिदिच्छाऽपि भेदिका ॥ १०९ ॥

तस्यान्यथाकरणं व्यावर्तयति प्रभुवत् फलसाधक इति । तस्य परिज्ञानार्थं तद्भेदानाह सूर्यगत्येति । तस्याप्याध्यात्मिकादिरूपमस्तीत्याह सूर्य इति । आधिभौतिकं रूपं तस्य सूर्यः । आध्यात्मिकं युगादिः । रात्रौ युगाद्यभावाद्भेदसिद्ध्यर्थमाह क्वचिदिच्छापीति ॥ १०९ ॥

एवं कालं निरूप्य कर्म निरूपयति—

विधिषेधप्रकारेण यः क्रियाशक्तिरुद्गतः ।
तत्कर्म प्रकटं तावद् यावत् फलसमापनम् ॥ ११० ॥

विधिषेधप्रकारेणेति । रूपान्तरं तु तस्यैवेत्यनुवर्तते । यथा कालो रूपमक्षरस्य तथा कर्मापि । परमेतावान् विशेषः । कालः स्वत एव प्रकटः, अयं तु पुरुषैर्विधिनिषेधप्रकारेण प्रकटीक्रियते । अतः कालापेक्षया लोकानां हिताहितप्रदाने विशिष्यते । अयं च क्रियारूपः । धर्मिणो धर्मे प्रवेशात् । कालवन्न स नित्यप्रकटः, किन्तु फलदानपर्यन्तमेवेत्याह यावत्फलसमापनमिति ॥ ११० ॥

टिप्पणी ।

रात्राविति । ब्रह्मणो रात्रौ सूर्याद्यभावाद्भगवदिच्छयैव तावत्कालं प्रलयो भवतीत्यर्थः ॥१०९॥

आवरणभङ्गः ।

अन्यथाकरणमिति । उपासकपक्षपातेन भगवद्विसम्मतकरणमित्यर्थः । आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः कालयोर्लोकशास्त्रप्रमाणकत्वायाहुः तस्य परिज्ञानार्थमित्यादि । युगादीति । आदिपदं परमाण्वादिद्विपरार्द्धान्तकालोपलक्षकम् । परमाण्वादिलक्षणं तु "चरमः सद्विशेषाणामि"त्यादिना तृतीयस्कन्धे निरूपितम् । तत्सुबोधिनीतोऽवगन्तव्यम् । मयाऽपि प्रस्थानरत्नाकरे तद्विमृष्टमिति नेह प्रपञ्च्यते । एवमत्र प्रमाणादिचतुष्टयेन कालस्वरूपं निर्णीतम् ॥ १०९ ॥

कर्म निरूपयतीति । अंशतः प्रमाणानुरोधित्वमंशतस्तदभावं च बोधयितुं तन्निरूपयतीत्यर्थः । अयं त्विति । क्रिया शक्तिर्यस्य तादृशो भगवान् । अत इति । प्रतिपुरुषं तेन तेन प्रकटीभावात् । विशिष्यत इति । असाधारणो भवतीत्यर्थः । एवं साधनान्निर्णय उक्तः । पूर्वं प्रमाणप्रकरणत्वात प्रमाणानुरोधि कर्मण एव स्वरूपं विवृतम्, न सर्वस्येति, प्रकृते प्रकरणे प्रमाणाऽननुरोध्यपि निवेश्य तत्स्वरूपमाहुः अयं चेत्यादि । एवं प्रमेयान्निर्णय उक्तः । कालवदित्यादि । फलभोगानन्तरं कर्मनाशसरणात्तथेत्यर्थः । एतेन फलान्निर्णय उक्तः । कर्मणः सकाशान्नश्वरमेव फलमिति । नच नित्यकर्मफले व्यभिचारः शङ्क्यः । "न च ग्रस्तमनन्तरमि"त्यस्य त्रिदशाऽमरन्यायेन योज्यत्वात् । अन्यथा तादृशकर्माभ्यासोत्तरं विशेषशुद्धभावेऽग्रे ज्ञानोदयविरहप्रसङ्गादिति ॥ ११० ॥

---

1 ब्राह्मणश्रमणन्यायादिवदिति ज्ञेयम् ।

तदेकं भगवद्रूपं साधारण्येन सर्वगम् ।
अग्रपश्चाद्भावभेदा द्विधा प्रकटमुच्यते ॥ १११ ॥

तस्य प्रतिपुरुषं भेदो भविष्यतीत्याशङ्क्याह तदेकं भगवद्रूपमिति । व्यापकं तद्रूपं तथापि येन यावद्रूपं विधिप्रकारेण निषेधप्रकारेण वा प्रकटीक्रियते तस्य तावत्फलं दत्वा' तदंशेन तिरोभवतीति साधारण्येनापि सर्वसम्भवान्न प्रतिकर्मव्यवस्थेत्यर्थः । तर्हि एकः कथं युगपत्सुखदुःखे प्रयच्छतीत्याशङ्क्याह अग्रपश्चाद्भावभेदादिति ॥१११॥

तस्यैकत्वे प्रमाणमाह—

सृष्टौ साधारणं तद्धि स्वांशेन प्रकटं यथा ।
कालवत् सकलं रूपमङ्गं तद्वशगं तथा ॥ ११२ ॥

सृष्टौ साधारणमिति । "कालं कर्म स्वभावं चे"ति वाक्यात् । सृष्टिकाले यादृशं रूपं तेन परिच्छेद्यं स एवांशः प्रकटः । अस्यापि चिदानन्दतिरोभावादिः कालवदे-

---

टिप्पणी ।

अग्रपश्चाद्भावभेदादिति । परार्ध्याग्रप्राग्रहरेति काव्यादग्रशब्दस्य श्रेष्ठवाचकत्वेन विधिवाचकत्वात्पश्चाच्छब्दस्य हीनवाचकत्वात्, विधिभावनिषेधाभ्यां विहितत्वनिषिद्धत्वविशिष्टं कर्मापि भिन्नमुच्यत इत्यर्थः ॥ १११ ॥

सृष्टिकाल इति । आद्यसृष्टिकाले । तेन भगवताऽक्षरात्कर्मणो यादृशं रूपं भिन्नं कर्तव्यं स एवाक्षरांशः कर्मरूपेण प्रकटो भवतीत्यर्थः ॥ ११२ ॥

आवरणभङ्गः ।

तस्येति । उक्तरीत्या असाधारणस्य । न प्रतिकर्मव्यवस्थेति । न प्रतिपुरुषमदृष्टरूपकर्मभेद इत्यर्थः । तथाचाऽदृष्टाऽपूर्वादिशब्दैनैतदंश एवोच्यते । प्रारब्धसञ्चितक्रियमाणत्वमेतस्यैवावस्थाभेदेन भवतीति कर्मनानात्वकल्पनमतिगौरवग्रस्तमेवेति भावः । युगपदिति । प्रतिपुरुषभेदेऽप्येककाले । अग्रपश्चाद्भावभेदादिति । येन पुंसा यस्मिन् काले विधिप्रकारेण प्रकटितस्तस्मिन्नेव काले तदितरेण पुंसा निषेधप्रकारेण प्रकटीक्रियत इति प्रकारस्याग्रपश्चाद्भावभेदादेकस्मिन्नेव काले द्विधा प्रकटं सत्, तस्य तस्य युगपदेव तत्तत्प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ १११ ॥

तस्येति । साधनस्वरूपफलैरेवमुपपाद्यमानस्य । नचैकत्वं ग्रहैकत्ववदविवक्षितमिति वाच्यम्, कालेऽपि तथात्वापत्तेः । एतेषामुपादेयत्वेनोद्देश्यत्वाद् ग्रहन्यायस्य अत्राप्रवृत्तेश्च । अन्यथा प्रायपाठबाधापत्तेश्चेति । ननु सृष्टिप्रारम्भे विधिनिषेधप्रकारस्याभावात्तदानीं तत्प्राकट्याभावे महदादिजन्मानुपपत्तिरित्यत आहुः सृष्टीत्यादि । तथाच, कालो यथा भगवदिच्छया गुणसाम्यमपाकृत्य रज उद्रेचयति, तथा कर्मापि भगवदिच्छया महदादिरूपं परिच्छेत्तुं तावतैवांशेन प्रकटीभवतीत्यर्थः । इयमेवोपपत्तिरुत्तरार्द्धेऽप्यवगन्तव्येत्याहुः । अस्यापीत्यादि । एवञ्च, सर्वकर्माणि मनसेत्यादौ बहुवचनं लौकिकक्रियापरम् । दानहिंसादिषु धर्माधर्मादिप्रयोगोऽभिव्यञ्जकोपाधिना भाक्त इति ज्ञेयम् । नच कर्मण एकत्वेऽपि यदंशो येनोद्गमितस्तस्य तत्सम्बन्धित्वेनैव फलदायकत्वादमूर्तस्य च दानायो-

वेत्याह कालवदिति। विशेषमाह तद्भागमिति। यत्र यः कालवशे भवति तमेव व्याप्नोति, न त्वन्यमित्यर्थः॥ ११२॥

एवं कर्म निरूप्य स्वभावं निरूपयति—

इच्छामात्रप्रकटनं सर्वथा तत् तिरोहितम्।
सर्ववस्त्वाश्रितं पश्चात् स्वभावोऽयं हरेस्तनुः॥ ११३॥

इच्छामात्रेति। भगवदिच्छारूपेण प्रकटो भवति, न सच्चिदानन्दरूपेण। तस्य स्वरूपं व्यवहारोपयोग्याह सर्ववस्त्वाश्रितमिति। तद्रूपं जगदाधारं स्वांशभेदेन तत्र तिष्ठतीति तत्रापि न लीनः। नापि वस्तुनः पश्चाद्भागे तिष्ठति। किन्तु, पश्चाद्भागे सर्वं स्थापयित्वा स्वयमेव प्रकटो भवति। यथा स्वभावदुष्टानां ज्ञानादिकं तिरस्कृत्य स्वरूपेण प्रकटः। तदाह। पश्चादिति। एतस्य कार्यवत्स्वरूपं मा भवत्वित्याह हरेस्तनुरिति॥ ११३॥

आवरणभङ्गः।

श्यत्वात्, "पुण्यदः पुण्यमाप्नोति पापदः पापमाग्भवे"दित्यादिवाक्यानुपपत्तिः। दानस्य स्वसत्त्वापरित्यागपूर्वकपरसत्त्वापादनात्मकत्वेन पूर्वक्रियया अभिव्यक्तस्य पुण्यादेस्तदंशस्योत्तरकालीनया दानक्रियया परसम्बन्धापादने वचनबलेन पुत्रेष्ट्यादिवद्व्यधिकरणफलोत्पादकत्वस्य सुखेनोपपत्तेः। अमूर्तत्वस्य आत्मगुणभूतादृष्टात्मककर्मनानात्ववादिमतेऽपि तुल्यत्वाच्च। अत एव विश्वामित्रादेस्त्रिशङ्कादीनां स्वर्गादिरप्युपपद्यते। एवं सति विहितनिषिद्धप्रकारकक्रियाभिव्यङ्ग्या क्रिया कर्मेति तल्लक्षणं सिद्ध्यति। अत्र क्रियाफलस्य स्वर्गादेर्वारणाय क्रियेति। लौकिकादिक्रियावारणाय विहितेत्यादि॥ ११२॥

कर्मैकत्वनिरूपण एव स्वभावैक्ये प्रमाणस्योक्तत्वात् प्रमेयेण तं निरूपयन्ति भगवदिच्छेत्यादि। एतेन मूले व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिर्बोधितः। इच्छामात्रेण रूपेण प्रकटनं प्राकट्यं यस्येति। सर्वथा तेषां सच्चिदानन्दानां तिरोहितं तिरोधानं यस्मिन्निति। दुग्धमृत्सूत्रादिकं दधिघटपटादिरूपेणैव परिणमति नेतरेण रूपेण। तत्र तादृशी भगवदिच्छैव हेतुः। "मयूराश्चित्रिता येने"ति वाक्यात्। तथाच सैव परिणामहेतुभूता इच्छा स्वभाव इति वक्तुं शक्यं यद्यपि, तथापि, "कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया। आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे" इति वाक्ये उपादानगोचरतया कालवद्भिन्नतया च निर्देशान्नेच्छा स्वभावः, किन्तु इच्छाकारेण प्रकटो भवति बुद्धिरिव विज्ञानरूपेण। तथा, सच्चिदानन्दरूपेणापि न प्रत्यक्षीभवति। तेन तथेत्यर्थः। तस्येत्यादि। यथा कालोऽतीतानागतचिरक्षिप्रादिव्यवहारसाधकतया निराधार एव व्यवहारोपयोगी, यथा च कर्म प्रतिनियतभोगसाधकतया चेतनाधारमेव व्यवहारोपयोगि, तथा स्वभावः कथमुपयुज्यत इत्याकाङ्क्षायामाहेत्यर्थः। जगदाधारमिति। चेतनाचेतनवस्त्वाधारमित्यर्थः। स्वरूपेण प्रकट इति। क्रियाविशेषणमेतत्। तथाच सर्ववस्तु पश्चाद्यथा स्यात्तथा सर्ववस्तुष्वाश्रितमित्यर्थः। एवं प्रमेयादेतन्निर्णय उक्तः। एतस्येति। सकलजगदाश्रितत्वेन प्रतिपाद्यमानस्य॥ ११३॥

अस्याविर्भावतिरोभावयोरुपपत्तिमाह—

वस्तूद्गमतिरोभावैस्तथा सत्त्वादिभिः पुनः ।
परिणामस्तु तत्कार्यं सर्वानुभवसाक्षिकम् ॥ ११४ ॥

वस्तूद्गमेति । अस्योद्गमतिरोभावयोर्वस्तु नियामकम्, तथा सत्त्वादिगुणाः, ज्ञानं कर्म च । अतो बहुधोद्गमः । तस्य द्रव्याविर्भावेणाप्याविर्भावः । विरोधिगुणप्रादुर्भावे पूर्वस्वभावो निवर्तते अन्यश्चोदेति । तथा मन्त्रशास्त्रादिभिरपि । अतो बहुधोद्गमतिरोभावौ । तस्य सद्भावेऽर्थापत्तिं प्रमाणयति । परिणामस्त्विवति । स्वभावस्य परिणाम एव कार्यम् ॥ ११४ ॥

सामान्यतो विशेषेण न प्रकाशः कदाचन ।
एवं कालस्तथा कर्म स्वभावो हरिरेव सः ॥ ११५ ॥

अतः स्वभावः सर्वदा अनुमानगम्यो, न कदाचिदपि प्रत्यक्ष इत्याह । सामान्यत इति । उपसंहरति एवमिति । तत्त्वाधिक्यपरिहारायाह हरिरेव स इति । स कालादिर्हरिरेव ॥ ११५ ॥

तत्रोपपत्तिमाह—

अतस्तदुद्गमः शास्त्रे न कदाचिदुदाहृतः ।
सर्वसाधारणत्वेन न तत्तत्त्वं तदेव तत् ॥ ११६ ॥

अतस्तदुद्गम इति । शास्त्रे भागवते । तथापि कारणत्वात् तत्त्वता भविष्यतीत्याशङ्क्याह । सर्वसाधारणत्वेनेति । यथा भगवान् सर्वसाधारणत्वान्न तत्त्वकोटौ प्रविशति, तथा कालादिरपि । भगवत्त्वेनैवोपपत्तौ न पृथक्त्वम् ॥ ११६ ॥

टिप्पणी ।

अस्योद्गमेति । वस्तूद्गमे स्वभावोद्गमो वस्तुतिरोभावे स्वभावतिरोभाव इत्यर्थः । उक्तवस्तुसत्त्वादिगुणज्ञानकर्मणां नियामकत्वं विवृण्वन्ति—तस्येत्यारभ्याप्यन्तेन । द्रव्य आविर्भूते तत्स्वभावोऽप्याविर्भवति । तथा विरोधिनि तमोगुणे प्रादुर्भूते सात्त्विकस्वभावो निवर्तते । सत्कर्मणाऽपि ॥ ११४ ॥

शास्त्रे भागवत इति । भागवते तत्त्वेषु कालादिर्नोक्त इत्यर्थः । समष्टिरूपं समूहरूपं व्यष्टिरूपं पृथग्रूपम्, यथा वृक्षसमूहो वनं समष्टिः, प्रत्येकं वृक्षाद्यष्टिरिति ॥ ११६ ॥

आवरणभङ्गः ।

अतो बहुधोद्गम इत्यादि । एतेन साधनादुक्तः । अर्थापत्तिं प्रमाणयतीति । फलान्निर्णयं वक्तुं तां प्रमाणयतीत्यर्थः । एवञ्च परिणामहेतुः पदार्थः स्वभाव इति तल्लक्षणं कार्यमुखेन फलति ॥ ११४ ॥

उपसंहरतीति । एवमक्षरादयश्चत्वारोऽर्था उक्तास्तेषां तत्त्वत्वं वारयितुमुपसंहरतीत्यर्थः ॥ ११५ ॥

तत्रेति । हरित्वे । उद्गम इति । व्युच्चरणादिरूपा उत्पत्तिः । कालादिरिति । अक्षरस्य भगवदभिन्नत्वेन सन्देहाभावात् कालादीनामेवात्र ग्रहणम् ॥ ११६ ॥

प्रागभावस्य कारणत्वात् तत्त्वता भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

अभावः कारणं चात्र ध्वंसश्चापि तदुच्यते ।
कार्यादिशब्दवत् तस्मिन् सापेक्षा वृत्तिरेतयोः ।
अपृथग्विद्यमानत्वान्न धर्मैरधिको गणः ॥ ११७ ॥

अभावः कारणं चात्रेति । प्रागभावः कारणाऽवस्थातो नातिरिच्यते । तस्य भिन्न-

---

आवरणभङ्गः ।

एवं भावान्तरस्य तत्त्वताया निवारणेऽप्यभावस्य भविष्यतीत्याशङ्कां वारयितुमाहुः प्रागभावस्येत्यादि । कारणत्वादिति । असाधारणकारणत्वात् । मूलस्थमभावपदं व्याकुर्वन्ति प्रागभाव इति । ननु घटत्वेन कपालत्वेन सामान्यकार्यकारणभावे सत्यप्येतेभ्यः कपालेभ्य एतद्घटोत्पत्तौ कपालत्वेन नियमासम्भवादेतत्कपालत्वेन नियमाङ्गीकारे च विनिगमनाविरहाद् बहुकपालजे घटे गौरवग्रासाच्च तद्देशनियामकतया प्रागभावसिद्धिः साम्प्रदायिकाक्षपादीयैः क्रियते । तथाच, येषु कपालेषु यद्घटप्रागभावः स एव घटस्तत्रोत्पद्यते इति तस्य कारणेऽन्तर्भावो न वक्तुं शक्यत इत्यत आहुः प्रागभाव इत्यादि । यत्र कपालानि सिद्धानि घटश्च श्वो भावी तत्र सत्यामपि कारणतायां, सति च प्रागभावे, कारणान्तरेषु च सत्सु स कालो नास्तीत्यऽवश्यं वाच्यम् । स च कालः साधारणोऽपि स्वयं भवंस्तत्तत्फलजननाय फलानुकूलत्वरूपमेकं सकलतत्समवायिकारणगतमवस्थाविशेषं सम्पादयतीत्यवश्यमभ्युपेयम् । अन्यथा, श्वो भावी पदार्थोऽद्य स्यात् । श्वो भावीति व्यवहारश्च बाध्येत । एवं सति सकलकारणवृत्त्येकयाऽवस्थया निर्वाहे सकलकपालवृत्त्येकातिरिक्तप्रागभावकल्पना प्रमाणरहितैवेति । अवस्था च स्वरूपातिरेकेण नानुभूयत इति तादृशावस्थाविशिष्टं कारणमेव स इत्यर्थः । नच प्रागभावानङ्गीकारे उत्पत्त्यनन्तरं पुनरुत्पत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, तदवस्था तिरोभावेनैव निर्वाहात् । नन्वेह कपाले घटो नास्तीति प्रतीतिस्तत्र मानम्, तस्या घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावविषयतया सामान्यत्वे प्रागभावाख्यविशेषानवगाहित्वात् । नच प्रागभाव सामान्य एवेति वाच्यम्, तस्य विनाशित्वेन यत्किञ्चित्प्रतियोग्युत्पत्तावपि तन्नाशसम्भवे इदानी मत्र कपाले घटो नास्तीति प्रतीतिबाधापत्तेः । नच सकलप्रतियोग्युत्पत्तिनाश्यः स इति वाच्यम् तथा सत्येकस्मिन् घटे उत्पन्नेऽपि तत्प्रागभावानाशाज्जातेऽवयविनि कार्ये तदवयवत्वेन प्रतीयम नेषु कपालेष्वपि घटो नास्तीतिः प्रतीतिः स्यात् । प्रागभावप्रतियोगिनोरेकदैकत्र स्थितौ च त नित्यत्वापातः स्यादिति न किञ्चिदेतत् । नच यत्र पक्वे घटे स्पर्शरूपरसगन्धानां पाकजानामुत्पत्ति प्रागभावं विना कथं निर्वाह इति वाच्यम् । एकयाऽप्यवस्थया फलचतुष्टयोत्पत्तौ बाधकाभाव परिणामस्य स्वभावकार्यत्वात् । तस्य च कार्यैकोन्नेयत्वात् । सत्कार्यवादे कारण एव सत विर्भावाङ्गीकारात् । अतो नैवमपि प्रागभावसिद्धिः । ननु प्रागभावानङ्गीकारे कारणशरीरे प्रवि पूर्ववर्तित्वांशस्य कथं ग्रहः ? तस्य प्रागभावावच्छिन्नसमयवर्तित्वरूपत्वात् । तस्य च प्राग ग्रहाधीनत्वादिति चेत्, न; कार्यविषयकाग्रिमजननज्ञानेनैव तद्ग्रहसम्भवात् । अन्यथा, प्रागभाव करणत्वेन तन्निष्ठपूर्ववर्तित्वस्यापि प्रागभावघटिततया तद्ग्रहण आत्माश्रयेण प्रागभावीयकारण

कारणत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात् । अग्रिमजननज्ञानेनैव तस्यानुभवः । अन्यथात्यन्ताभाव एव स्यात् । तस्मात् पूर्वमभावस्य न कारणम् । न हि तेन कोऽपि व्यापारः क्रियते । कार्येण परं निवर्त्यते ।—

आवरणभङ्गः ।

एवातिदुर्ग्रहत्वापातात् । प्रागभावस्य कारणावस्थाव्यङ्ग्यत्वेन तदनङ्गीकारे तदग्रहेण प्रागभावस्याप्यग्रहापाताच्च । न हि घटजननानुकूलां कारणावस्थामपश्यतः कस्यापि, इह घटो भविष्यति, इदानीमत्र घटप्रागभाव इति बुद्धिरुदेति । अभ्यासपाटवादुदेतीति चेत्, न; तथा सति कारणादर्शनेऽपि तदुदयापत्तेः । अभ्यासपाटवादेव प्रागभावोदासीनात्, पूर्ववर्तित्वीयग्रहणस्याप्यापत्तेश्च, कार्यपरत्वावच्छिन्नसमयवर्तित्वस्यैव पूर्ववर्तित्वात् । अग्रिमजननज्ञानगम्यस्य कालधर्मस्यैव च प्रथमपदार्थत्वात् । किञ्च, कारणताघटकपूर्ववर्तित्वशरीरप्रविष्टस्यास्य कारणत्वे उच्यमाने, तत्राप्यस्य प्रवेशाच्चक्रकापत्तिः । एतत् सर्वमभिसन्धायाहुः **अग्रिमेत्यादि** । **अन्यथेति** । प्रागंशस्यानवगाह इत्यर्थः । फलितमाहुः **तस्मादित्यादि** । प्रागंशोदासीनाभावमात्रज्ञानस्यात्यन्ताभावविषयत्वात् कारणावस्थामपश्यतस्तूष्णीं प्रतीयमानो योऽभावः स कारणरूपो नेत्यर्थः । ननु प्रागभावोऽत्यन्ताभावाद्भिन्नः कारणावस्थाव्यङ्ग्यत्वात्, ध्वंसाच्च भिन्नः प्रतियोग्युत्पत्तिनाश्यत्वात्, भेदादपि भिन्नः संसर्गाभावरूपत्वादित्येवमभावान्तराद्भेदे साधिते अभावत्वेन प्रत्ययाद्भावेभ्योऽतिरिक्तः प्रागभाव एव सेत्स्यति । एवञ्च, सिद्धे प्रागभावे कारणलक्षणसमन्वयात्, कुतो न तस्य कारणत्वमिति चेत्, न; केवलप्रत्ययात्तदसिद्धेरितरभेदपूर्वकसिद्धौ च कारणावस्थासमनियतस्य तदतिरेकासिद्धेः, सिद्धौ वा सामयिकत्वेन सिद्ध्याऽनादित्वाभावेन भवद्विचारितरूपस्य तस्यासिद्धेः, तथाभूतस्य कारणताग्रहणे चक्रकापत्तेश्च । ननु गन्धाद्यनधिकरणकालवृत्त्यभावत्वस्यादृष्टत्वावच्छिन्नानधिकरणकालवृत्त्यभावत्वस्य च प्रागभावध्वंसरूपत्वान्नेदं दूषणमिति चेत्, न; तयोस्तथात्वे मानाभावात् । प्रलयदशायां द्रष्टुः कस्याप्यभावात् । ईश्वरः पश्यतीति चेत्, तर्हि, तमेव पृच्छ, तद्वाचैव मंस्यामो न भवद्वाचेति दिक् । एवञ्चाव्याप्यवृत्तिसंयोगादेस्तत्तदवच्छेदेनोत्पत्तिरपि दृष्टादृष्टकारणकलापादेव । आत्मादावपि ज्ञानाद्युत्पत्तेः प्राक् प्रागभावो नास्त्येव । अन्यथा, प्रतीयेतैव । प्रतीयमानस्त्वत्यन्ताभाव एव, प्रागंशानवगाहादित्युक्तत्वात् । ध्वंसप्रागभावाधिकरणे नात्यन्ताभाव इति तु प्रवादमात्रमिति । औदासीन्येन प्रतीयमानस्याकारणत्वे गमकमाहुः **न हीत्यादि** । तथाचासाधारणकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य तस्य व्यापाराभावात् कारणता नाऽङ्गीकर्तुं शक्या । व्यापारातिरिक्तस्य व्यापारवत एवाऽसाधारणकारणत्वदर्शनाद्, व्यापाराभावे च तत्सत्ताया एव दुरधिगमत्वाद् दूरापेता कारणतेत्यर्थः । कार्यनाश्यत्वादपि न कारणतेत्याहुः **कार्येणेत्यादि** । कार्येण भावकारणध्वंस एव लोके क्वचिद् दृष्टोऽश्वतर्यादिगर्भनिष्क्रमणादौ, न त्वभावरूपस्यापि कारणस्य । अन्यथा, प्रतिबन्धकध्वंसात्यन्ताभावाभ्यामपि दाहो जायते इति दाहेनापि क्वचित्तयोर्नाशो दृश्येत । अभ्युपगमसिद्धस्य युक्तिमूलत्व एव निर्वाहात् । नच प्रत्यक्षमेव तत्र मानम्, न युक्तिरिति वाच्यम् । तस्य विप्रतिपन्नत्वेन तद्विषयकप्रत्यक्षस्यैवाभ्युपगन्तुमशक्यत्वादिति न किञ्चिदेतदित्यर्थः । ननु मास्तु प्रागभावोऽतिरि-

प्रसङ्गाद् ध्वंसादीनामपि कारणत्वं निराकर्तुमाह ध्वंसश्चापीति । ध्वंसोऽपि दण्डादिस्वरूपमेव । तिरोभावशक्त्यतिरिक्तस्य ध्वंसस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् । तेन रूपान्तरं पश्यन् पूर्वरूपस्य तिरोभावं मन्यते ध्वस्त इति । ननु कारणाऽतिरिक्तरूपाभावे प्रागभावादिशब्दप्रयोगः कथमिति चेत्तत्राह कार्यादिशब्दवदिति । न हि घटरूपादतिरिक्ता कार्यता । तथा दण्डरूपादपि नातिरिक्ता कारणता । तथापि तयोर्यथा कार्यकारणप्रयोगस्तथा प्रागभावादिप्रयोगोऽपि । ननु सङ्ख्यादयो गुणाः सामान्यादयश्च सन्ति, ततः कथमष्टाविंशतितत्त्वानि तत्राह अपृथग्विद्यमानत्वादिति ॥ ११७ ॥

आवरणभङ्गः ।

क्तस्तथापि पूर्वकल्पप्रलयकाले उत्तरसृष्टभावात्तद्ध्वंसे च तदुत्पत्तेरुत्तरसृष्टिं प्रति पूर्वप्रलयध्वंसस्य पूर्वसृष्टिध्वंसस्यैव वा प्रतिबन्धकध्वंसत्वेन रूपेण कारणत्वमस्तीति तस्य तत्त्वान्तरत्वं दुर्वारमिति चेत्तत्राहुः प्रसङ्गादित्यादि । आहेति । ध्वंसस्वरूपमाहेत्यर्थः । दण्डादिस्वरूपभिन्नो ध्वंस इत्यत्र हेतुमाहुः तिर इत्यादि । तिरः=अप्रकटं भावयतीति तिरोभावस्तिरोभवनं वा तिरोभावः । उभयथाऽपि निमित्तोपादानान्यतरस्वरूपातिरिक्तो ध्वंसो न निरूपयितुं शक्यः । तदतिरिक्तस्यादर्शनात् । तथाच कार्यप्रतिकूला कारणावस्थैव ध्वंस इत्यर्थः । नन्वाकारान्तरमतिरिक्तं दृश्यत इति चेत्तत्राहुः । तेनेत्यादि । तथाचाकारान्तरमपि तद्धर्म एव, न तु धर्मातिरिक्तः । अन्यथा ध्वस्त इति प्रत्यये ध्वंसस्य घटविशेषणता न प्रतीयेत । तादृशप्रत्ययबलाच्च पक्के रक्तिमेव ध्वस्ते ध्वंसाख्यमाकारान्तरमेव निश्चीयत इत्यर्थः । नचाभावमुखप्रत्ययोऽत्र इति वाच्यम्; त्वन्मते तमःप्रत्ययवदस्याप्यत्राबाधकत्वात् । नच घटोन्मज्जनापत्तिः । अवस्थायाः सत्त्वात्, तयैव कारणकलापविघटनाच्च । प्रागभावादिपदप्रयोगं साधयितुमुपपत्तिकथनायाहुः नन्वित्यादि । तयोर्यथेति । घटस्यानन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं दण्डस्य तादृशपूर्वभावित्वं चापेक्ष्य यथा घटदण्डयोः कार्यकारणप्रयोगस्तथा, घटादेरग्रिमजननमाकारान्तरं चापेक्ष्य कारणे एव प्रागभावध्वंसपदप्रयोग इत्यर्थः । एवं ध्वंसप्रागभावखण्डनेन ताभ्यां तत्त्वाधिक्यं निवारितम् । सन्तीति । तत्तत्तत्त्वोत्पत्तिकथनेन कारणाद्विभागस्य पृथक्स्थित्या च पृथक्त्वसङ्ख्यापरिमाणपरत्वानां, स्तुत्या च सूक्ष्मादिविषयकबुद्धीच्छाप्रयत्नसंस्काराणां सूक्ष्मसामर्थ्यजदुःखस्य प्रार्थनादिना सुखस्य चानुमातुं शक्यतया ताभ्यां चादृष्टस्यापि स्वनुमेयतया तदा संहत्येत्यनेन संयोगस्य कण्ठोक्ततया, गुरुत्वद्रवत्वस्नेहानां चेदानीन्तनपृथिव्यप्तेजोदृष्टान्तसनाथेन पृथिवीत्वादिरूपेण हेतुनाऽनुमातुं शक्यतया, द्वेषस्यापि बुद्ध्यादिसाहचर्येण सिद्धप्रायतया, विशिष्टज्ञानान्यथाऽनुपपत्त्या च सामान्यस्यापि सिद्धतया, वक्तुं शक्याः सन्तीत्यर्थः । अपृथग्विद्यमानत्वादिति । पृथगितरव्यावृत्ताधिदैविकरूपेण विद्यमानत्वं पृथग्विद्यमानत्वम्, तदभावोऽपृथग्विद्यमानत्वम्, तस्मात् । तृतीयस्कन्धादौ सृष्टिप्रक्रियायां, यथैते देहवत्तया स्तुतिकर्तृतया चोक्तास्तथान्ये सामान्यादयः सङ्ख्यादयश्च नोक्ता इति धर्मैः=धर्मभूतैः सङ्ख्यासामान्यादिभिः कृत्वा, गणः, अष्टाविंशकः अधिकसङ्ख्याको नेत्यर्थः । अत्रेदं हृदयम्—सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वविभागपरत्वापरत्वबुद्धीच्छाप्रयत्न-

एवं कारणं निरूप्य कार्यज्ञानार्थं तस्यावान्तरभेदानाह—

आनन्त्येऽपि हि कार्याणां गणभेदो द्विधा मतः ।
समष्टिव्यष्टिभेदेन केवले जडजीवता ॥ ११८ ॥

आनन्त्येऽपीति । यद्यपि घटपटादिप्रकारेण ज्ञानमशक्यम्, तथापि सर्वं कार्यं राशिद्वयात्मकं, समष्टिरूपं व्यष्टिरूपं च । तच्च जीवजडात्मकम् । नानन्दांशस्तत्र प्रविशति । अतः केवलप्रकारेण विभागे क्रियमाणे जडो जीवश्च भवति, न तु ततोऽतिरिक्तं किञ्चित् ॥ ११८ ॥

टिप्पणी ।

अत इति । ईश्वरं विहायोत्पन्नत्वेन धर्मेण विभागे क्रियमाण इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

आवरणभङ्गः ।

संस्काराऽदृष्टसुखदुःखद्वेषगुरुत्वद्रवत्वस्नेहानां यथासम्भवं तत्त्वान्यादावैवान्वयव्यतिरेकग्रहणात् सामान्यस्य च तत्त्वसहभावेनैव पूर्ववर्तित्वग्रहणादन्यथासिद्धत्वेन संयोगस्य च स्पर्शेऽन्तर्भूतत्वेन कारणरूपतया पृथग्भूतत्वं नेति बोध्यम् । वस्तुतस्तु, सामान्यादेरभाव एव । सृष्ट्यारम्भसमये ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वाद्, बहु स्यामितीच्छोत्तरमपि "जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः" इति षष्ठस्कन्धवाक्यात् सामान्यस्य कल्पनैकशरणत्वमेव । तस्मान्नैयायिकाद्युपगतपदार्थानां श्रुतिपुराणविरोधे लौकिकयुक्तियुक्तत्वे च कार्यकोटावेव निवेश इति भावः । एवं कारणरूपस्य प्रमेयस्य स्वरूपप्रमाणसाधनफलैरष्टाविंशतितत्त्वात्मकत्वमेवेति निर्णय उक्तः ॥ ११७ ॥

अतः परं कार्यस्याऽऽनन्त्येऽप्येवं निर्णयं वक्तुं प्रथमतः स्वरूपतोऽवगमार्थं प्रयतमाना आहुः एवमित्यादि । समष्टीत्यादि । सम्यग् अष्टिः, एकत्वेन गणना यस्येति समष्टिर्महत्कार्यं ब्रह्माण्डात्मकम् । तस्य च राशिः, "दृश्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशोऽप्यण्डराशयः" इत्यादिवाक्याज्ज्ञेयः । विगता अष्टिर्यस्येति व्यष्टिरवान्तरकार्यमस्मदादिशरीरात्मकम् । तद्राशिः प्रत्यक्षसिद्ध एव । एवञ्चावान्तरेऽपि कार्ये देहस्थितकीटाद्यपेक्षयाऽस्मदादिदेहानां समष्टित्वं ज्ञेयम् । पूर्वं कारणस्वरूपविचारणे तेषां सदंशत्वमुक्तमिति कार्यमपि सदंशात्मकमेव, न तु चिदानन्दांशयोरपि तत्र प्रवेश इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं कार्यस्य स्वरूपमाहुः तच्चेत्यादि । तदिति । समष्टिव्यष्टिरूपं कार्यम् । चः समाहारे । तथाच यद्यप्युत्पद्यमानानि कारणानि सदंशरूपाण्येव, तथापि कारणत्वदशायां तानि सजीवानि । "अनेन जीवेने"ति श्रुत्या नामरूपव्याकरणे जीवानुप्रवेशात् । ततश्च कार्यमपि तत्सहितमतः समाहृतं कार्यं जीवजडात्मकं, न तु केवलसदंशात्मकमित्यर्थः । नन्वन्तर्यामिणोऽपि देहे विद्यमानत्वात्तस्य कुतो न कार्यकोटौ प्रवेश इत्यत आहुः नेत्यादि । अकार्यस्यापि जीवस्यानन्दार्थं देहाभिमानित्वेन कार्यकोटिप्रवेशोऽन्तर्यामिणस्त्वनभिमानित्वमतो नानन्दांशस्तत्र प्रविशतीत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः अत इत्यादि । केवलप्रकारेणेति । जीवं पृथक्कृत्य । तथाच चेतनाधिष्ठिताः समष्टिव्यष्टिदेहा जीवगणे प्रविशन्ति । "जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानामि"त्यादिदर्शनात् । तदनधिष्ठिता घटादयोऽवान्तरभूतानि च जडगणे । तेनैवमपि राशिरूपेण ज्ञाने सकलकार्यज्ञानं सुखेन भवति । तदतिरिक्तस्य कार्यस्याभावादतः सर्वं कार्यं समष्टिव्यष्टिरूपेण जडजीवरूपेण च प्रमेयमित्यर्थः ॥ ११८ ॥

१ ततोऽतिरिक्तमित्यत्र अत इति पाठमादाय टिप्पणीकारैर्व्याख्यायते ।

कार्ये त्रैविध्यं निरूपयितुमाह—

सर्वेषां त्रिगुणत्वाद्धि त्रयो भेदाः पृथङ्मताः।
आधिदैविकमध्यात्ममधिभूतमिति स्मृताः॥ ११९॥

सर्वेषामिति। गुणानामपि त्रिवैध्ये हेतुरग्रे वक्तव्यः। भेदानाह आधिदैविकमिति। अधिष्ठाता स्वतन्त्रो देव इत्युच्यते। अभिमन्ता आत्मा। अनयोर्मध्ये अभिसम्भवति सोऽधिभूतः॥ ११९॥

त्रयाणामभेदायाह—

सच्चिदानन्दरूपेण देहजीवेशरूपिणः।
व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः॥ १२०॥

सच्चिदानन्दरूपेणेति। सदधिभूतम्, चिदध्यात्मम्, आनन्दोऽधिदैवमिति।

टिप्पणी।

त्रिगुणत्वादिति मूले। सच्चिदानन्दरूपत्रिधर्मत्वादित्यर्थः॥ ११९॥

आवरणभङ्गः।

कार्येत्यादि। एवं प्रमेयज्ञानार्थं कार्यद्वैराश्यं निरूप्य, तद्बलज्ञानार्थं कार्यत्रैविध्यं निरूपयितुं स्वरूपत्रैविध्यमन्तरेण कारणत्रैविध्याभावात्तदभावे च कार्यस्यापि त्रैविध्याभावात्तन्निरूपयितुमाह, कारणे स्वरूपे च त्रैविध्यमाहेत्यर्थः। सर्वेषामिति। हीति निश्चये। सर्वेषां कार्याणां त्रिगुणत्वाज्ज्ञापकाद्धेतोः, श्रुताः, अथाधिदैवमथाध्यात्ममथाधिभूतमित्यादिश्रुत्युक्ता आधिदैविकादयस्त्रयो भेदाः पृथक्प्रत्येकं कारणे स्वरूपे च मता इति योजना। श्रुता इत्यनेन त्रैविध्योक्तौ प्रमाणं दर्शितम्। ननु गुणत्रैविध्येन सर्वत्रैविध्यानुमानम्, तद्गुणत्रैविध्यमेव कुत इत्यत आहुः गुणानामित्यादि। अग्र इति। सच्चिदानन्दरूपेणेत्यनेनेत्यर्थः। इदं च, "सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणा" इत्यस्य सुबोधिन्यां स्फुटम्। सदंशान्निर्गतं सत्त्वमुच्यते, चिदंशाद्रजः, आनन्दांशाच्च तम इति विवरणात्। भेदानिति। त्रैविध्यप्रयोजकान्। भेदानां स्वरूपं व्याकर्तुं तदभिधायकपदप्रकृतिपदानि व्याकुर्वन्ति अधीत्यादि। तेन देवपदस्यार्थद्वयं विवक्षितम्। अनयोरित्यादि। स्वतन्त्राभिमन्त्रोरधिष्ठात्रभिमन्त्रोर्वा मध्येऽभिसम्भवन्ति। स्वतन्त्राभिमन्तृत्वादिव्यवच्छेदको यो भवति सोऽधिभूत इत्यर्थः। तदुक्तं द्वितीयस्कन्धे "आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविकः। यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिकः" इति। उभयोर्विच्छेदो यस्मादित्युभयविच्छेद इत्यर्थः। "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाऽभवदि"ति पुरप्रवेशोत्तरमेकस्यैव जीवान्तरऽर्यामिभावपक्षे सदंशेन शरीरेणैव तथात्वव्यवच्छेदः क्रियत इति तदुभयविच्छेदकोऽशो देहादिरूपोऽधिभूत इति। एतेषां चाधिदैविकाधिदैवादिशब्दानां व्युत्पत्तिपक्षमादाय क्वचिदर्थभेदेऽपि तत्र तत्र पर्यायतायां एव प्रसिद्धेः प्रकृते ऐकार्थ्यमेवेत्यभिप्रेत्य मूल आधिदैविकमध्यात्ममधिभूतमित्युक्तम्॥ ११९॥

त्रयाणामित्यादि। जडजीवयोरिव त्रयाणां स्वातन्त्र्याभिमानोभयविच्छेदैः कार्यैः सिद्धे भेदे स्वरूपमपि भिद्येतेत्याकाङ्क्षायामभेदायाहेत्यर्थः। सच्चिदानन्देत्यादि। तथाचैकस्यैव पुंसः पाचकपा-

१ श्रुताः इत्यपि पाठः। २ तयोरित्यपि पाठो दृश्यते, परं न स आवरणभङ्गकारैरादृतः।

उदाहरणमाह देहजीवेशरूपिण इति । देहोऽधिभूतं, जीवोऽध्यात्मा, ईशोऽन्तर्यामी अधिदैवः, एवं स्वरूपभेदमुपपाद्य समुदायेन प्रवृत्तौ कुत्र कस्य प्राधान्यमित्याकाङ्क्षायामाह । व्यष्टिरिति । यद्यप्येते त्रयोऽपि पुरुषावताराः । तथापि देहाभिमानिन इति जीवभेदा उच्यन्ते ॥ १२० ॥

तत्रैव विद्यमानोऽप्यनभिमानित्वात् ब्रह्मेति एकत्रैव त्रिप्रकारेण वर्तत इति, प्रकारान् गणयति—

टिप्पणी ।

तत्रैवेति । शरीरे विद्यमानोऽप्यन्तर्यामी शरीराभिमानरहितत्वाद्ब्रह्मोच्यत इत्यर्थः ।

आवरणभङ्गः ।

ठकपालकत्ववदेकस्यैव सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणो धर्मरूपसदादिपुरस्कारेण कार्यभेदे आधिभौतिकादिशब्दवाच्यत्वान्न स्वरूपतो भेद इत्यर्थः । उदाहरणमाहेति । एतत्परिचायनायोदाहरणमाहेत्यर्थः । देहेत्यादि । इदं च द्वितीयस्कन्धे, "एको नानात्वमन्विच्छन्नि"त्यत्र सिद्धम् । तथाच ब्रह्मत्वेनैक्येऽपि भिन्नकार्यार्थं यथाऽत्र भेदस्तथा सर्वत्रैवाभेदो भेदश्चावगन्तव्य इत्यर्थः । ननु साङ्ख्ये त्रैविध्यनिरूपणकार्यकारणयोस्त्रिगुणात्मकत्वेन आत्मवैलक्षण्यद्वारा विविक्तात्मज्ञानफलकत्वादावश्यकम् । ब्रह्मवादे तु सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वात्तस्यानावश्यकत्वेन व्यर्थं त्रैविध्यनिरूपणमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनं निरूपयन्ति एवमित्यादि । एवं सच्चिदानन्दानामाधिदैविकादिव्यवहारप्रयोजकत्वज्ञापनेनैकस्मिन्नपि ब्रह्मस्वरूपेंऽशभेदेन तरतमभावमुपपाद्य, समुदायेन राशिरूपेण कार्यज्ञानार्थं प्रवृत्तौ कस्मिन् स्वरूपे कस्यांशस्य प्राधान्यमित्याकाङ्क्षायां यस्मिन् स्वरूपे यत्प्राधान्यं तदाहेत्यर्थः । तथाच त्रैविध्यज्ञानस्य स्वरूपतारतम्यनिश्चयद्वारा, मूलरूपे त्वार्षज्ञानं फलमित्यर्थः । तदुदाहरन्ति व्यष्टिरिति मूले । तथाच जीवशरीरेषु व्यष्टेरसदादिशरीरस्य सत्प्राधान्यं, समष्टेर्ब्रह्माण्डशरीरस्य चित्प्राधान्यं पुरुषशरीरस्य आनन्दप्राधान्यमिति जीवव्यवस्थेत्यर्थः । अत्राधिभौतिकादिक्रमो ज्ञेयः । ननु प्रथमस्कन्धे पुरुषस्याद्यावतारत्वकथनात् कथं जीवभेदत्वमत आहुः यद्यपीत्यादि । एत इति । व्यष्टिसमष्ट्यावरणपुरुषात्मकाः । पुरुषावतारा इति । "यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः" इति, "आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते" इति, "आनन्दमयोऽवसाने" इति वाक्यात् । तत्त्वात्मकस्य क्षरपुरुषस्यावताराः । अभिमानिन इति षष्ठी । अभिमानिसम्बन्धिन इत्यर्थः ॥ १२० ॥

ननु यथाभिमानित्वं जीवत्वगमकं तथानन्दप्रधानत्वं ब्रह्मत्वगमकमतः पुरुषस्य जीवभेदत्वं न युक्तमित्याशङ्कायां ब्रह्मत्वसाधकस्य हेतोरुपहितत्वं बोधयन्त आहुः तत्रैवेत्यादि । देहे विद्यमानोऽप्यन्तर्यामी अनभिमानित्वाद् ब्रह्म । तथाचानभिमानित्वस्योपाधेर्विद्यमानत्वान्नानन्दप्रधानत्वमात्रेण स्वरूपात्मकब्रह्मत्वं पुरुषेऽनुमातुं शक्यमिति पुरुषो जीवभेद एवेति निश्चयः । एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतं त्रैविध्यं वदन्तः किञ्चित्कार्यार्थं देहेषु त्रिस्वरूपेण स्थितिं ब्रह्मणो बोधयन्ति एकत्रे-

अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथा परे ।
स्वभावकर्मकालाश्च रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा ॥ १२१ ॥

अन्तर्याम्यक्षरं कृष्ण इति । यथा सारथी रथी तदन्तःस्थितश्च तथान्तर्याम्य-क्षरं कृष्णः । एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति । परं ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तत इति त्रयो भेदाः । त्रयाणां प्रत्येकं बहून् भेदानाह स्वभावेति । अक्षरस्य स्वभावकर्मकाला भेदा,रुद्रादयः कृष्णस्य।अन्तर्यामिणः सर्वत्र भिन्नतयैव स्थितत्वान्न भेदानाह ॥ १२१ ॥

टिप्पणी ।

यथेति । प्रेरकत्वादन्तर्यामी सारथिः पुरुषोत्तमाधारतया स्थितत्वादक्षरं रथि । पुरुषोत्तमाधिक-परिमाणाभावज्ञापनार्थं ह्रस्वरथ इवाक्षरं वर्तत इति रथशब्दः स्त्रीलिङ्गं प्रयुक्तः । "स्त्री स्यात्काचि-न्मृणाल्यादिविवक्षापचये यदी"ति नामलिङ्गानुशासनेनाल्पत्वविवक्षायां मृणालादिशब्दानां स्त्रीलि-ङ्गाभिधानात् । तथा च माघकाव्ये "रथी युयोजाविधुरां वधूमिवे"ति । रथमध्य इवाक्षरे स्थितः श्रीकृष्ण इत्यर्थः ॥ १२१ ॥

आवरणभङ्गः ।

त्यादि । स्थितिप्रकारं दृष्टान्तेनाहुः यथा सारथीत्यादि । सारथिवद् व्यष्टादिदेहजीवानां नियामकोऽन्तर्यामी अन्तर्यामिणो नियामकत्वं च "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे" इति गीतावाक्यात्, "अभिचाकशीती"ति श्रुतेश्च ज्ञेयम् । तस्यापि रथिवन्नियामकमक्षरम् । अक्षरस्य नियामकत्वं प्रशासनश्रुत्याऽवगन्तव्यम् । तस्याऽप्यन्तर्यामिवन्नियामकः कृष्ण इत्यर्थः । भगवतो नियामकत्वं त्वन्तर्यामिब्राह्मणादेव सिद्ध्यति, तस्याक्षरनियामकत्वं च "अक्षरादपि चोत्तम" इति, "अक्षरात परतः परः" इति गीतावाक्यात्, श्रुतेश्च ज्ञेयम् । ब्रह्मवैवर्ते अक्षराहङ्कारमर्दकत्वकथनाच्च । एतेन निरङ्कुशं स्वातन्त्र्यं कृष्ण एव सिद्धमिति प्रमेयबलं निर्णीतम् । एवमन्यत्र तत्तदपेक्षया तत्त-दाधिदैविकस्य स्वातन्त्र्यं ज्ञेयम् । अत्रापि क्रमस्तु पूर्ववदेव । एवं ज्ञानस्य फलमाहुः एवं सतीत्यादि । तन्नियामकत्वेन सर्वान्तरत्वेन ज्ञाने सति तथा भवतीत्यर्थः । नन्वन्तर्यामिणोऽक्षरस्य चान्तर्याम्यक्ष-राधिकरणयोः स्वरूपात्मकत्वेन व्यवस्थापनात् कथं भेदत्वमेतयोरित्यत आहुः परब्रह्मेत्यादि । एतेन, यदेकमव्यक्तमनन्तरूपमिति श्रुत्युक्तमनन्तरूपत्वं दिङ्मात्रेण बोधितम् । तत्रापि गणनापरि-च्छेदाभावायाहुः त्रयाणामित्यादि । अत्रापि स एव क्रमः । नन्वन्तर्यामिणो भेदा नोक्ता इति कथं त्रयाणामित्युच्यत इत्यत आहुः अन्तर्यामिण इति । तथाच तत्र स्वरूपभेदादेव भेद इति न प्रतिज्ञाहानिरित्यर्थः । अत्र, स्वभावकर्मकालाश्चेति चकारेणाक्षरे चरणासनलोकरूपत्वेन भक्त-प्राप्याक्षरोपासकप्राप्यनियुक्तगानिभाव्यत्वेनापि भेदः सङ्गृहीतः । एवं स्वभावादीनामपि ज्ञातव्यः । कालस्य तु, सूर्यगत्याभिगौतिकमित्यादिनोक्तोऽपि । एवमन्यदपि ज्ञेयम् ॥ १२१ ॥

त्रयाणां शक्तिभेदानाह—

अविद्या प्रकृतिर्माया निद्रा चिन्तेन्द्रजालता ।
महत्तत्त्वं ब्रह्मरूपमस्मच्चित्तं तथैव ॥ १२२ ॥
अहङ्कारो रुद्ररूपमहङ्कारोऽस्मदादिषु ।
मनश्चन्द्रशरीरं च मनोऽस्माकं तथैव च ॥ १२३ ॥
चक्षुः सूर्यशरीरं च चक्षुरस्माकमेव च ।
मूलेन्द्रियाणि ब्रह्माण्डं देवदेहास्तथैव च ॥ १२४ ॥

अविद्येति । अविद्या जीवस्य, प्रकृतिरक्षरस्य, माया कृष्णस्य । उपलक्षणविधया अविद्याया भेदानाह निद्रेति । एवं प्रकृतिपुरुषपर्यन्तमुपरिस्थितानां भेदानुक्त्वा महदादीनामाह महत्तत्वमित्यादिना । महत्तत्त्वमाधिदैविकस्थानीयम् । द्वितीयं ब्रह्मशरीरम् । तृतीयमस्मदादीनां चित्तम् । अनेन 'अन्येषां चानुपलब्धेरि'ति भगवत्सिद्धान्ते दोषः परिहृतः । अहङ्कारे भेदानाह अहङ्कार इत्यादिना । चक्षुरित्यादीन्द्रियाणां भेदाः सामान्येनाह । मूलेन्द्रियाणीति ॥ १२२–१२४ ॥

टिप्पणी ।

उपरिस्थितानामिति । श्रेष्ठानामित्यर्थः । महत्तत्त्वमिति । आधिदैविकस्थानीयमिति पदान्महत्तत्त्वादिषु तारतम्यमेवोक्तं न तु तद्रूपमेवेत्यर्थः । अनेनेति । साक्षात्परम्पराभेदेन प्रकृतिपुरुषमहत्तत्त्वादीनां ब्रह्मात्मकत्वनिरूपणेन व्यासै"रन्येषां चानुपलब्धेरि"ति सूत्रेण प्रकृत्यादीनामभाव उक्तः, स दोषो भगवत्सिद्धान्ते, ब्रह्मवादे, कपिलदेवोक्तसिद्धान्ते वा, परिहृतो ज्ञेय इत्यर्थः ॥ १२२ ॥

मन इति मूले । अहङ्कारादुत्पन्नं मन एकम्, चन्द्रशरीरं द्वितीयं रूपमस्माकं मनस्तृतीयमिति ॥ १२३ ॥

आवरणभङ्गः ।

अविद्या जीवस्येति । व्यष्ट्यादित्रयस्थस्य जीवस्येत्यर्थः । एवञ्चान्तर्यामिणः शक्तिरहितत्वं ज्ञापितम् । उपलक्षणविधयेति । एवञ्च द्वादशशक्तिमध्यगणिताऽऽधिदैविकी । ब्रह्मणः सकाशात् पञ्चपर्वरूपेणोत्पन्ना द्वितीया । अस्मदादिषु रजतभ्रमजनिका तूलाविद्या तृतीयेत्यादिरूपेणापि ज्ञेयम् । तथा प्रकृतिमाययोरपि ते ज्ञेयाः । एतावत्पर्यन्तं ये भेदा उक्तास्तेषु पूर्वोद्दिष्टमाधिभौतिकम् । अग्रे तु व्युत्क्रमेणेति ज्ञापयितुमाहुः महत्तत्त्वमाधिदैविकेत्यादि । एतन्निरूपणप्रयोजनमाहुः अनेनेत्यादि । ब्रह्मादिरूपेणोपलभ्यमानत्वात् परिहृत इत्यर्थः । तदेतद्भाष्यप्रकाशे उपपादयिष्यते । एवं महतत्त्वेत्यारभ्य, मूलेन्द्रियाणीत्यन्तम् । आनन्दचित्सत्प्राधान्येनाधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकभावो निरूपितः । तेन मूलाऽवान्तरकारणयोराधिदैविकाध्यात्मिकत्वं कार्यस्थस्याधिभौतिकत्वं बोधितम् । मूलेन्द्रियाणीति । विराट्पुरुषेन्द्रियाणि ॥ १२२–१२४ ॥

अस्मदिन्द्रियवर्गेश्च रूपत्रयमुदीरितम् ।
चन्द्रश्चन्द्राभिमानी च मनःप्रेरक एव नः ॥ १२५ ॥
सूर्यो मण्डलमानी च चक्षुःप्रेरक एव नः
एवं सर्वत्र तद्भेदाः स्वयमूह्या विभागशः ॥ १२६ ॥
तन्मात्राणि च भूतानां गुणाः कार्यगतास्तथा ।
महाभूतान्यावरणं मध्यभूतानि च क्रमात् ॥ १२७ ॥

त्रयाणामवान्तरभेदाः सन्तीति ज्ञापनार्थमाह चन्द्रश्चन्द्राभिमानी चेति । अतिदिशति एवमिति । एवमिन्द्रियाणामुक्त्वा तन्मात्राणामाह तन्मात्राणि चेति ॥ १२५–१२७ ॥

ब्रह्माण्डस्य च देहत्वात् परिच्छेदं निवारयति, अहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतीनामपि भूतादिन्यायेनाह—

अहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतीनां पुनस्तथा ।
मूलमावरणं चैव ब्रह्मान्तःकरणं तथा ॥ १२८ ॥

पुनस्तथेति । पुनःशब्देन सिंहावलोकनमुक्तम् । सामान्यतो वदन्नुपसंहरति । मूलमिति । मूलं तत्त्वानि । आवरणस्थानीयानि द्वितीयानि । ब्रह्माण्डान्तःस्थितानि तृतीयानि । ब्रह्मणा अन्तः करणं येषामिति ॥ १२८ ॥

टिप्पणी ।

चन्द्र इति । एकश्चन्द्रो देवतारूपो यो यागपूजादौ सन्निहितो भवति, द्वितीयश्चन्द्रमण्डले स्थितस्तदभिमानी, तृतीयोऽस्मदादिमनःप्रेरकः । एवं सूर्यादावपि ज्ञातव्यम् ॥ १२५ ॥

आवरणभङ्गः ।

त्रयाणामित्यादि । त्रयाणामाधिदैविकादीनाम् । अवान्तरभेदाः आधिदैविकादयस्त्रय एवमाध्यात्मिकाधिभौतिकयोरपि त्रय इत्येवं सन्तीति ज्ञापनार्थमित्यर्थः । चन्द्र इत्यादि । एतेनाधिदैविके त्रिरूपतोदाहृता । तथान्ययोरपि ज्ञातव्या । एवञ्च कालस्वरूपे विचार्यमाणे सूर्य आधिभौतिकः, सूर्यस्वरूपविचारे त्वाधिदैविक इत्येवं तत्तत्स्वरूपविचारे क्रियमाणे यत्र महामाहात्म्यादिकं सूर्यस्य, यथा साम्बपुराणे, तत्राधिदैविको मूलेन्द्रियात्मा ज्ञेयः । एवं यत्र विष्णोरपकर्षस्तत्र स भौतिकोऽस्मचक्षुःप्रेरको ज्ञेय इत्येवं विचारतः प्रमाणानां परस्परविरोधः परिहृतो भविष्यति । तदेतद्धृदि कृत्वाहुः अतिदिशतीत्यादि । अत्र तन्मात्रादीनां त्रिरूपत्वकथनं चेतनाधिष्ठानरहितानामपि त्रिरूपत्वबोधनार्थम् । तेन वैदिकसृष्टिस्थानां घटादीनामप्याधिदैविकत्वं, सत्सृष्टिस्थितानामाध्यात्मिकत्वं, गुणजसृष्टिस्थानां भौतिकत्वं च बोध्यम् ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

परिच्छेदं वारयति—

अन्येऽप्यवान्तरा भेदाः शतशः सन्ति सर्वशः।
लोकपालास्तु ते त्वत्र स्वर्गस्थस्तु पुरन्दरः ॥ १२९ ॥

अन्येऽपीति। असदाद्यधिष्ठिता पृथिवी। भाराक्रान्ता गोरूपा द्वितीया। भगवतः पार्श्वे वर्तमाना तृतीयेति। एवं जलादावपि ज्ञातव्यम्। ये दशेन्द्रियाणां देवा उक्ताः, अहङ्कारादुत्पन्नास्त एव लोकपाला इन्द्रादयो नामसाम्यात्। ब्रह्माण्डस्य च देहत्वात्। अतः पिण्डपाला इव लोकपाला इत्यभिप्रायेणाह लोकपालास्त्विति। मित्रो निर्ऋतिः। अश्विनावुत्तरतः। दिशो यमस्थानीया इति।—

टिप्पणी।

अतः पिण्डपाला इवेति। पिण्डः शरीरं तत्पालकाः। यथा, इन्द्रियाधिष्ठातृत्वेन तथा; अत एव लोकपालकत्वेन ब्रह्माण्डदेहपालका इत्यर्थः। "वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिकाश्च ये। दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः" इति द्वितीयस्कन्ध इन्द्रियाधिष्ठातृषु मित्रशब्दस्य सूर्यवाचकत्वभ्रमनिरासायाहुः मित्रो निर्ऋतिरिति ॥ १२९ ॥

आवरणभङ्गः।

मूले। शतशः सन्ति सर्वश इति। सर्वेषु शतं शतं सन्तीत्यर्थः। बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्यामिति सूत्रेऽर्थग्रहणात् पर्यायेभ्यो विशेषेभ्योऽङ्गीकृत इति, शतश इति विशेषात् कर्त्रर्थे शस्। सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायामिति सूत्रे वामनेन, कुण्डशो ददाति, वनशः प्रविशतीत्युदाहरता एकार्थतानियतेभ्यो जातिशब्देभ्योऽप्यङ्गीकृत इति सर्वशब्दाद्वैषयिकाधिकरणकारकाच्छस् बोध्यः। देवेष्वतिदेशेन प्राप्ते त्रिरूपत्वे प्रकारं विशदीकर्तुं तेषु लोकादिपालकत्वमुपपादयन्ति। ये दशेत्यादि। नामसाम्यस्याप्रयोजकत्वमाशङ्क्य हेत्वन्तरमाहुः ब्रह्माण्डेत्यादि। निर्ऋतौ नामसाम्याभावाद्दशानन्तर्गतत्वमाशङ्क्य समादधते मित्रो निर्ऋतिरिति। "गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशदि"ति, "निर्ऋतिः पाय्वपाश्रयः" इति च तृतीयस्कन्धवाक्याच्चाद्दशलोकपतित्वं रक्षस एवोचितमिति मित्रशब्दवाच्यो निर्ऋतिरेव ज्ञेय इत्यर्थः। अश्विनोर्लोकपालत्वं न स्फुटमिति पूर्वोक्तमसङ्गतमित्याशङ्कायां तयोस्तथात्वमुपपादयन्ति। अश्विनावुत्तरत इति। "विनिर्भिन्नेऽश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम्" इत्यत्र यद्यपि लोकेशपदं नास्ति तथापि, "यावद् बलिं त" इति पद्योक्तसामुदायिकप्रार्थनयाऽत्रापि लोकेशत्वमावश्यकम्। एवं सति तयोर्भिषक्त्वेन सौम्यत्वादुत्तरस्या दिशश्च शान्तत्वाच्चल्लोकपालकौ तावेवौचित्यान्निश्चेयावित्यर्थः। दिशां देहाभावेन देवत्वस्यास्फुटत्वाल्लोकपालत्वदौर्घट्यमाशङ्क्य समादधते दिशो यमस्थानीया इति। "दिशः श्रोत्रादि"ति श्रुतेः कर्णोत्पन्नत्वेन दिशां कर्णस्थानकत्वम्। तौ च द्वौ। पुरुषश्च द्वितीयस्कन्धे प्राङ्मुख उक्तः। तत्रोत्तरेशत्वं यदाऽश्विनोस्तदा पारिशेष्याद्दक्षिणेशत्वं दिशाम्। युक्तिस्तु धर्मनियामकत्वरूपा ज्ञेया। यमस्य तदाधिभौतिकरूपत्वात्। अन्यथा दिक्पालताऽपि तस्य न स्यात्। लोकेशांशानामेवान्यत्र दिक्पालतानिश्चयात्। अतो यमाधिदैविकरूपास्ता इति लोकपालत्वं न तासां दुर्घट-

तत्र पुरन्दरस्य मध्यस्वर्गे स्थितिः। उपरिभागद्योतकः॥ १२९॥

तेषां यथेच्छं स्थितिं वारयितुमाह—

दशदिक्षु तु ते त्वत्र मध्यस्थस्तु पुरन्दरः।
तादृशैरपरैर्देवैः प्रतिमन्वन्तरं पृथक्॥ १३०॥

दक्षदिक्षु त्विति। चन्द्रमसो मध्यपाते पुरन्दरो मध्यस्थः। एवं सति तत्त्वाधिक्यं न भवति। एते सर्वे सहोत्पन्नाः सहैव तिरोहिता भवन्तीति प्रतिमन्वन्तरं तदंशास्तन्नामानो भिन्ना इत्याह तादृशैरपरैरिति॥ १३०॥

तेषामवान्तरभेदानाह—

लोकपालास्तथा भिन्नाः स्थानैः सह विभागशः।
लोकालोके मानसे च मेरोर्मूर्ध्नि तथैव च॥ १३१॥
ब्रह्मणोऽपि तथा सत्ये विराड्जीवस्तु भोगभुक्।
गुणावतारस्त्वन्यः स्यादेवमन्यत्र सर्वशः॥ १३२॥

लोकपाला इति। सर्वेषां देवानां लोकालोकस्थानमेकं, तथा मानसोत्तरे, तथा

टिप्पणी।

अश्विनावित्यारभ्य पुरन्दरो मध्यस्थ इत्यन्तो ग्रन्थश्चिन्त्यः॥ १३०॥

आवरणभङ्गः

मित्यर्थः। नन्वेवं सति इन्द्रस्य हस्तयोरेव स्थितिर्भवेद्गोलकेष्वेवेन्द्रियस्य सदेवस्य स्थितेरौचित्यादत आहुः। तत्रेति। तेषु देवेषु। मध्यस्वर्ग इति। "इन्द्रः स्वर्पतिराविशदि"ति वाक्यादित्यर्थः। उपरीत्यादि। इन्द्रस्य देवतात्वेन बहुस्थले प्रचरणाल्लोकत्रयोपरिभागस्य द्योतको, न तु वरुणवद्रसातलादिस्थ इत्यर्थः॥ १२९॥

ननु यथा द्वितीयस्कन्धे, "देवा वैकारिका दशे"ति दशदेवपक्ष उक्तस्तथा तृतीयस्कन्धे, "देवता आसन्नेकादश च वैकृता" इत्येकादशदेवपक्षोऽप्युक्त इति तस्मिन् पक्षे कथं पुरन्दरस्य मध्यस्थत्वमित्यत आहुः चन्द्रमस इत्यादि। हृदये वागीशचन्द्रमहदभिमानानां चतुर्णां स्थितिरुक्तेति चन्द्रस्यैव मध्यमत्वे विनिगमकाभावात्। तस्यैव मध्ये स्थितिरुचिता राजाधिराजत्वादित्यर्थः। अत एवाभिमानाऽधिष्ठातुरीशानस्याप्यैशान्यां स्थितिः। यद्वा, लोकपालत्वेन पूर्वोक्तरीत्या स्थितावपि दिक्पालत्वे इन्द्रस्य प्राचीदिक्पतित्वेन चन्द्रमसो मध्यस्थत्वे पुरन्दरो न मध्यस्थ इत्यर्थः। मूलं त्वेवं योज्यं—तुरितरव्यावृत्तौ। अत्र ब्रह्माण्डे। ते तु दशेन्द्रियदेवा एव लोकपाला, नान्येऽतिरिक्ताः। तुः पूजायाम्। पुरन्दरस्तु पूज्यत्वात्तेषु स्वर्गस्थः। भूमौ ते दशदिक्षु स्थिता न तु यथेच्छं यत्र क्वापि तिष्ठन्ति। तुर्विशेषावधारणे। पुरन्दरस्तु चन्द्रमसोऽमध्यपाते पुरन्दर एव तथेत्यर्थ इति। एवञ्च कुबेरस्याप्याश्विनाधिभौतिकत्वं ज्ञेयम्। अत एवातिसुन्दरयोर्नलकूबरमणिग्रीवयोस्ततो जन्म। एतत्कथनस्यावान्तरफलमाहुः एवं सतीत्यादि॥ १३०॥

एवं निरूपणस्य प्रामाणिकत्वायाहुः तेषामित्यादि। तथाच स्थानभेदोक्तिरेवात्र मानमित्यर्थः।

मेरोर्मूर्ध्नि । ब्रह्मणोऽप्याह ब्रह्मण इति । मेरोर्मूर्ध्नि स्पष्ट एव । पुष्करद्वीपेऽपि स्पष्टम् । अतो लोकालोकेऽपि ज्ञातव्यम् । सत्यलोके आधिदैविकः । विराड्देहाभिमानी द्वितीयः । मेरोर्मूर्ध्नि तृतीयः । मध्यम एव भोगभोक्ता । गुणावतारस्तु तेभ्यो भिन्न इत्याह गुणवतारस्त्विति । यो नाभिकमले जातः ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

कैलासादिविभेदश्च तथा वैकुण्ठवासिनः ।
कृत्रिमं च ध्रुवस्थानं श्वेतद्वीपं तथैव च ।
एवमेकप्रकारेण गुणतस्त्रिविधं मतम् ॥ १३३ ॥

एवं रुद्रादीनामपि कैलासादिविभेदा वक्तव्या वैकुण्ठस्यापि भेदाः । तान् गणयति कृत्रिममिति । "वैकुण्ठः कल्पितो येने"ति वाक्यात् । तदाधिदैविकस्थानीयम् । चकारात्तदकृत्रिममपि भगवदिच्छामात्रेण प्राकट्यात् । ध्रुवस्थानं ज्योतिश्चक्रस्थम् । अथवा ध्रुवं निश्चलं स्थानम् । लोकत्रयोपरि महर्लोकादर्वाक् । प्रकारान्तरं वक्तुं पूर्वोक्तमुपसंहरति एवमिति ॥ १३३ ॥

द्वितीयं प्रकारमाह—

सूर्यश्चक्षुस्तथा रूपं गोलकं चेति वा भिदा ।
बुद्धिः खानि तथा मात्राः क्वचिदेवं भिदात्रयम् ॥ १३४ ॥

सूर्य इति । यत्रैवाधिदैविकव्यवहारः स प्रथमः । आध्यात्मिके द्वितीयः । तृतीये प्रकारद्वयम् । रूपं, गोलकं चेति । पुनरन्यं प्रकारमाह बुद्धिः खानीति । इन्द्रियजन्या बुद्धिराधिदैविकी ॥ १३४ ॥

टिप्पणी ।

रुद्रादीनामपि स्थानैः सह रूपभेदा वक्तव्या इत्याह एवमिति ॥ १३३ ॥

आवरणभङ्गः ।

मूले विभागश इति । जातिशब्दात् करणकारके शस् । विभागेनेत्यर्थः । भोगभोक्तेति । ब्रह्माण्डदेहस्थं यत्सुखं तद्भोक्तेत्यर्थः ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

वक्तव्या इति । कैलासे एकः शिवलोकः । सत्योपरि द्वितीयः एवं पुराणान्तराऽनुरोधात् । तृतीयोऽपि ज्ञेय इत्यर्थः । पूर्वोक्तमिति । धर्मतस्त्रैविध्यप्रकारमित्यर्थः ॥ १३३ ॥

द्वितीयं प्रकारमिति । आनन्दादिधर्मप्राधान्यम्, आधिदैविकादिशब्दानां यौगिकमर्थं च पुरस्कृत्य यः सिद्ध्यति तमित्यर्थः । यौगिकार्थमात्रं पुरस्कृत्य तृतीयं प्रकारं वक्तुमाहुः पुनरन्यमित्यादि । खानां शरीरनिष्ठत्वेनाध्यात्मिकत्वस्य, मात्राणां भूतनिष्ठत्वेनाधिभौतिकत्वस्य स्फुटत्वात् पारिशेष्येणाहुः इन्द्रियजन्येत्यादि । आधिदैविकीति । अस्मदादीन्द्रियप्रेरकमनोरूपदेवनिष्ठेत्यर्थः । मनसो देवत्वमत्र व्यवहाराज्ज्ञेयम् । दीव्यति व्यवहरतीति देव इति । "मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य मनो वशमन्वियाय", "भीष्मो हि देवः सहसः सहीयानि"ति श्रुत्या च । अग्रे च त्रैविध्यप्रकारो द्वादशस्कन्धचतुर्थाध्याये, "दीपश्चक्षुस्तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग्भवेत् ।

एवं प्रकारत्रयं निरूप्य सर्वेषां निरूपयितुं भगवत्त्वे जन्मादिभावा न युक्ता इति ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च वैयर्थ्यमाशङ्क्य त्रैविध्यसमर्थनार्थं ज्ञानक्रिययोरुत्पत्तिं समर्थयते—

भगवद्व्यतिरिक्तानां घटादीनां यथोद्भवः ।
व्यवहारे तथा ज्ञानक्रिययोरपि निश्चयः ॥ १३५ ॥

भगवद्व्यतिरिक्तानामिति । भगवतोऽप्याविर्भावतिरोभावौ प्रायेण वैदिकानां सम्मतौ । तदतिरिक्ते सन्देहः । अतस्तत्र विचारः कर्तव्य इति घटादिनिर्णय एव ज्ञानक्रिययोरपि निर्णयो भविष्यतीति नेन्द्रियाणां वैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

टिप्पणी ।

त्रैविध्यसमर्थनार्थमिति । ज्ञानक्रिययोरुत्पत्त्यभावे गुणाधीनतारतम्याभावेन ज्ञानक्रियोत्कर्षाधीनान्यपदार्थोत्कर्षाभावान्निरूपितं प्रकारत्रयमसङ्गतं स्यादिति त्रैविध्यसाधनार्थं ज्ञानक्रिययोरुत्पत्तिं साधयतीत्यर्थः ॥ १३५ ॥

आवरणभङ्गः ।

एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमाद्दतादि''ति वाक्ये अन्योन्यसापेक्षत्वकथनात्तन्मूलको व्यवहारोपयोगाय ज्ञेयः । अत्रानन्त्येऽपि हि कार्याणामित्यारभ्योपपादितस्य समष्टिव्यष्टिभावस्याध्यात्मिकादिभावस्य च मूलमविरोधचतुर्थपादे ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणे विचारितं ज्ञेयम् । एवमेतावति ग्रन्थे, प्रमेयबलमाश्रित्य सर्वनिर्णय उच्यत इत्यत्रोक्तं प्रमेयं, पञ्चात्मकेत्यारभ्य जडजीवतेत्यन्तेन विवेचितम् । ततः सर्वेषां त्रिगुणत्वाद्धीत्यारभ्य, भिदात्रयमित्यन्तेन तस्य सर्वस्य प्रमेयस्य तत्तत्कार्यक्षमत्वरूपं बलं दिङ्मात्रेणोपलक्षणविधया निरूपितम् ॥ १३४ ॥

अतः परं तदाश्रयेण विचारापरपर्यायेण सर्वस्य भगवद्व्यतिरिक्तस्य पदार्थजातस्य स्वरूपं निर्णीयते एवमित्यादि । एवं तत्तद्बलनिश्चयो येन रूपेण भवेत्तेन रूपेण प्रकारत्रयं निरूप्य, कार्यकारणस्वरूपात्मकं विविच्य सर्वेषां लौकिकसच्चिदानन्दानां नामरूपकर्मणां च स्वरूपं भगवदात्मकत्वलक्षणं निरूपयितुं भगवत्त्वे कार्यकारणकोटिगतानां सर्वेषां भगवदभिन्नत्वे जन्मादिभावाः—जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यतीति—साक्षिकाः षडपि न युक्ता इति तदभावे उभयेन्द्रियवैयर्थ्यं चेत्याशङ्क्य त्रैविध्यसमर्थनार्थं, आधिभौतिकादिरूपत्रैविध्योपपादनार्थं, ज्ञानक्रिययोराधिभौतिकयोर्व्यावहारिकज्ञानक्रिययोरुत्पत्तिमुपपादयतीत्यर्थः । ननु सर्वस्यैव भगवत्त्वे व्यावहारिकज्ञानक्रिययोरपि भगवत्त्वमेवेति तदुत्पत्तिविचारः कुतः क्रियत इत्यत आहुः भगवत इत्यादि । तदतिरिक्ते सन्देह इत्यादि । तदतिरिक्ते भगवदतिरिक्ते, कार्यकोटिस्थे व्यावहारिकज्ञाने, कारणकोटिस्थे प्रकृत्यादौ, स्वरूपकोटिस्थे कालादौ च, यथायथं मायावादिसाङ्ख्यवादिवैदिकवादिमतप्रकारदर्शनात् सन्देहः । अतो वादिवैसम्मत्या तद्विचारः कर्तव्य इति हेतोर्घटादिनिर्णये सर्वाकारस्वरूपेणेत्यादिनाऽनुपदं करिष्यमाणे तयोरपि स भविष्यतीति तथेत्यर्थः ॥ १३५ ॥

ननु ज्ञाने प्रतिबिम्ब एव भवतु, स्वरूपस्य नित्यत्वादित्याशङ्क्य तथापक्षपातस्त्रिष्वपि कर्तव्य इति वक्तुं ज्ञाने प्रतिबिम्बपक्षं दूषयति—

न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचन।
अविद्यायास्तथा बुद्धेर्न शुद्धत्वं कदाचन॥ १३६॥

न प्रतिस्फुरणमिति । तत्र हेतुः रूपरहितस्येति । कालान्तरे देशान्तरेऽपि

टिप्पणी।

पक्षपात इति। यथा त्वयोच्यते चिद्रूपस्य ब्रह्मणो नित्यत्वाद्बुद्धितत्त्वे तत्प्रतिबिम्ब एव ज्ञानं तथा ज्ञातृज्ञानज्ञेयेष्वपि प्रतिबिम्बरूपत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।—

आवरणभङ्गः।

एवं ज्ञानक्रिययोरुत्पत्तिनिरूपणं प्रतिज्ञाय लौकिकक्रियोत्पत्तेः सर्ववादिसम्मतत्वात्तद्विचारमकृत्वा ज्ञानोत्पत्तिं प्रतिपादयिष्यन्तो मायावादिमते ज्ञानोत्पत्त्यनङ्गीकारात्तन्मतं दूषयितुमुत्थापयन्ति **नन्वित्यादि।** ज्ञाने=कार्यत्वेनाङ्गीक्रियमाणे ज्ञाने प्रतिबिम्ब एव भवतु, बुद्धिवृत्तौ ज्ञानस्य प्रतिबिम्ब एवास्तु, स्वरूपस्य=ज्ञानस्वरूपस्य नित्यत्वादित्याशङ्क्य तथापक्षपातः—स्वरूपनित्यत्वपक्षपातस्त्रिष्वपि सच्चिदानन्देषु कर्तव्यः—कर्तुमुचित इति वक्तुं ज्ञाने प्रतिबिम्बं दूषयतीति योजना। अत्रायमर्थः। सिद्धान्तिना हि द्विविधं ज्ञानमङ्गीक्रियते। नित्यं कार्यं च। तत्र नित्यं चतुर्विधं, कार्यं षड्विधमिति तृतीयस्कन्धसुबोधिन्यां तथा विभ्रंशितज्ञाना इत्यत्र। तत्र नित्यं वृत्त्याऽभिव्यज्यते, वेदादिशरीरं च गृह्णाति। भगवद्धर्मरूपं परं भगवद्दत्तं जीवेऽपि समायाति। कार्यं तु तत्तदिन्द्रियाणां विषयसन्निकर्षद्वारा जाग्रदादिवृत्तौ मनसि जन्यते। तथा सत्यर्द्धजरतीयापत्तिरनेकव्यक्तितदुत्पत्तिनाशादिकल्पनागौरवापत्तिश्चेति। तदनादृत्य एकमेवात्मरूपं ज्ञानं नित्यमङ्गीकार्यं लाघवात्। सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं वदता सिद्धान्तिनाऽपि जन्यज्ञानस्य भगवद्रूपताङ्गीकरणाच्च। सिद्धे चैवं स्वरूपनित्यत्वे वृत्तौ यदभिव्यञ्जनं समागमनं जननं वाऽङ्गीकृतं तदपि प्रतिबिम्बद्वारकमेव भवति। सात्त्विकवृत्तेः शुद्धत्वादतो ज्ञानप्रतिबिम्ब एव युक्तः। तदेतदुक्तम्, **ज्ञाने प्रतिबिम्ब एव भवतु स्वरूपस्य नित्यत्वादित्याशङ्क्येति।** एवं ज्ञानस्यात्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वस्वीकारे ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपस्यात्मत्वेन स्वरूपात्मकज्ञानवत्तादृशसदानन्दयोरपि नित्यत्वात्तन्मध्ये व्यावहारिकज्ञानस्यैव वृत्तौ प्रतिबिम्बोऽन्ययोस्तु न प्रतिबिम्ब इति तवाप्यर्द्धजरतीयं स्वरूपे समानमिति तन्निरासार्थं तयोरपि ज्ञानस्यैव वृत्तौ प्रतिबिम्ब एव भवताऽपि स्वीकार्यः। तथा सति सविषयभानावसरे सदानन्दावपि स्वरूपभूतौ भासेताम्। तदेतदुक्तम्, **तथापक्षपातस्त्रिष्वपि कर्तव्य इति।** अथ तथा न स्वीक्रियते तदाऽप्रामाणिकार्द्धजरतीयाद्वक्ष्यमाणदोषाच्च ज्ञानप्रतिबिम्बपक्षोऽप्यप्रयोजकः। तदेतदुक्तम्, **ज्ञाने प्रतिबिम्बं दूषयतीति।** दूषणमाहुः **नेत्यादि।** **रूपरहितस्येति।** चक्षुरयोग्यस्य। ननु सर्वदा चक्षुरयोग्यस्य शब्दस्य कूपादौ प्रतिध्वनिदर्शनात्तस्य च शब्दप्रतिरूपत्वान्न सार्वत्रिकश्चक्षुरयोग्यस्य प्रतिबिम्बाभावनियमोऽतो न दोष इति चेत्, अत्र केचित्—प्रतिध्वनिर्न पूर्वशब्दप्रतिबिम्बः। पञ्चीकरणप्रक्रियया पटहादिशब्दानां क्षितिसलिलादिशब्दत्वेन प्रतिध्वनेरेवाकाशीयशब्दतया तस्यान्यशब्द-

तथात्त्वं वारयति कदाचनेति । दोषान्तरमाह अविद्याया इति । अविद्यायां प्रतिबिम्बे जीवत्वं, बुद्धौ प्रतिबिम्बे व्यावहारिकज्ञानत्वमिति स्यादेवं यद्यविद्या बुद्धिर्वा शुद्धा स्यात् । तथा सति सदंशानामिति भावात् सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात् ।

टिप्पणी ।

अविद्यायामिति । ब्रह्मणोऽविद्यायां प्रतिबिम्बे जीवव्यवहारो, बुद्धितत्त्वे प्रतिबिम्बे ज्ञानव्यवहार इत्यर्थः । **तथासतीति** । अविद्या बुद्धिर्वा यदि शुद्धा स्यात्तदा घटादीनां प्रतिबिम्बभावात्सर्वेषां सर्वज्ञता स्यादित्यर्थः ।—

आवरणभङ्गः ।

प्रतिबिम्बत्वायोगात् । नापि वर्णरूपप्रतिशब्दस्तथा । वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिनिमित्तकप्रतिध्वनेः प्रथमध्वनिवदेव वर्णाभिव्यञ्जकत्वोपपत्तेः पूर्ववर्णप्रतिबिम्बत्वकल्पनायोगादित्याहुः । वस्तुतस्तु, प्रतिध्वनेः शब्दप्रतिबिम्बत्वं मानाभावग्रस्तमेव । नच साजात्यानुभव एव मानमिति वाच्यम्, तस्य शब्दान्तरेऽपि तुल्यत्वात् । बिम्बस्थित्यधीनस्थितिकत्वस्य प्रतिबिम्बताविनिगमकस्यात्राऽसत्त्वात् । नच बिम्बरूपपूर्वशब्दस्थितिः शक्यवचना । शब्दस्य त्रिक्षणावस्थायित्वेन तदानीं नाशात् । आभासतया अप्यत एवाशक्यवचनत्वात् । चिरकालस्थायित्वपक्षाभ्युपगमेनेष्टसाधने कूपस्थवायुना प्रतिध्वनिवद् ध्वन्यानयनस्यापि सम्भवदुक्तिकत्वाद् ध्वनिद्वयश्रवणापत्तेः । ध्वन्यनानयने नियामकाभावात् । अनानीते च ध्वनौ प्रतिबिम्बतानिश्चयस्याशक्यत्वात् । नच, "छाया प्रत्याह्वयाभासा असन्तोऽप्यर्थकारिण" इति भगवद्वाक्ये प्रतिध्वनेरसत्त्वस्योक्तत्वात् सादृश्यस्य चोपलभ्यमानत्वात् प्रतिबिम्बत्वं कल्प्यत इति वाच्यम् । नटकल्पितपारावतादिरुतवदुक्तहेतुभ्यां मायाजन्यशब्दान्तरत्वस्यापि शक्यवचनत्वात् । नापि वर्णरूपप्रतिशब्दस्य पूर्ववर्णप्रतिबिम्बत्वम् । व्यञ्जनाक्षराश्रवणात् । नच स्वराक्षरस्यैव प्रतिबिम्ब इति वाच्यम् । नियामकस्याशक्यवचनत्वात् । युगपदुभयस्वरग्रहणाभावात् । पूर्वध्वनिवद् द्वितीयस्य प्रतिध्वनेरपि पूर्ववर्णव्यञ्जकतायाः शक्यवचनत्वेन सन्देहानपायाच्च । नापि ध्वनेर्वर्णप्रतिबिम्बत्वम् । मानाभावात् । व्यञ्जकतया सन्निधिमात्रेण स्वधर्माणामुदात्तादीनां वर्णेष्वारोपस्य शक्यत्वादेकवदेव ग्रहणाच्च । यत्तु आकाशस्य शब्दसमवायिनः कूपादौ सत्त्वेनासदादिशब्दजन्यशब्दपरम्पराजनितस्तथ्यः शब्दविशेष एव प्रतिध्वनिरिति केचिदाहुः; तन्न, अश्रवणापत्तेः । वीचीतरङ्गादिन्यायेन तत्रोत्पन्नस्य ध्वनेः पुनर्वैपरीत्येन तत उत्पादकस्याशक्यवचनत्वात् । कूपादिप्रतिबद्धस्य वायोस्तथात्वकल्पनेऽपि तत्तथ्यतागमकस्याभावात् । समाचारोपलम्भयोर्व्यभिचारित्वात् । अतो मायिकमेव प्रतिबिम्बातिरिक्तं शब्दान्तरं तदिति निश्चयः । नाप्याकाशदृष्टान्तेन सिद्धिः । शास्त्रार्थप्रकरणे तस्य निराकृतत्वात् । स्वरूपभूतसदानन्दयोरपि रूपाभावेन तदभावाच्च । अतः सुष्ठूक्तम्, **न प्रतिस्फुरणमित्यादि** । एवं निमित्तस्वरूपविचारेण ज्ञानप्रतिबिम्बपक्षं निराकृत्याधिकरणस्वरूपविचारेणापि निराकर्तुमाहुः **दोषान्तरमित्यादि** । अत्राविद्यायामित्यादिनोक्तः पक्षो यद्यपि पूर्वप्रकरणे निराकृतस्तथाप्यधिकरणस्वरूपविचारेण निराकृत इति पुनरनूद्य निराकुर्वन्ति **स्यादेवमित्यादि** । ननु प्रतिबिम्बार्थं ते शुद्धे एवाङ्गीकार्ये, को दोष इति चेत्तत्राहुः **तथा सतीत्यादि** । **इति भावात्** ।

सर्वेषां प्रतिबिम्बाभावे हेत्वभावात् ।—

आवरणभङ्गः ।

प्रतिबिम्बभवनात् सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात् । अयमर्थः । अरूपस्य ज्ञानस्य प्रतिबिम्बोऽविद्याबुद्ध्योः शुद्धत्वाङ्गीकारेणाभ्युपगतश्चेत् सरूपाणां सदंशानां बाह्यादीनां घटादीनामान्तराणां शिरान्त्रादीनां च तत्र तत्र प्रतिबिम्बो निर्बाधः । निर्बाधे च प्रतिबिम्बे तत्समानाधिकरणानामविद्यायां प्रतीतानां व्यापकानां जीवानां सर्वसंसर्गे द्विगुणीकृत्य जाते सर्वतादात्म्यापन्नस्य ब्रह्मण इवैतेषामपि सर्वसंसृष्टत्वात् साक्षित्वाच्च । वृत्तिं विनैव स्वरूपचैतन्येन सर्वावभासकतायाः शक्यवचनत्वेन ब्रह्मवत् सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात् । नचाऽन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात्तदनापत्तिः । व्यापकत्वेन सर्वेषां सर्वान्तःकरणसंसृष्टतया प्रमातृभेदस्याऽशक्यवचनत्वात् । संसर्गतौल्ये एकस्यैवैकान्तःकरणवैशिष्ट्यं नापरस्येत्यत्र हेत्वभावात् । अदृष्टादीनां हेतुताकल्पनस्य पूर्वप्रकरण एव निरस्तत्वात् । ननु दूषणग्रासाद् मास्तु व्यापकानेकजीववादः । किन्तु व्यापकैकजीववादे तस्य सर्वज्ञतायामिष्टापत्तिरिति चेत्, सत्यमिष्टापत्तिः स्याद्, यद्येकस्यैव सर्वज्ञता स्यात् । अविशेषेणैकस्यैव सर्वशरीराधिष्ठाने सर्वत्राविद्योपहितस्य साक्षिण एकत्वात् सर्वत्रोपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेषु संसृष्टत्वात्, ब्रह्मण इव जीवस्यापि सर्वत्र सर्वज्ञतायां बाधकाभावात् । नच ब्रह्माप्येकत्रैव सर्वज्ञं न सर्वत्रेति वाच्यम् । ब्रह्मविष्णुशिवादिशरीरावच्छेदेन सर्वज्ञताप्रतिपादकशास्त्रविरोधपातात् । नचोपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेऽप्यन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात्तन्निकटस्थस्यैव ज्ञानं प्रमातुर्भविष्यतीति न सर्वत्र सार्वज्ञ्यापत्तिरिति वाच्यम्, प्रमात्रभेदे करणभेदस्येव साक्ष्यभेदे प्रमाणभेदस्याप्यप्रयोजकत्वात्, सर्वत्र साक्षिण एव भासकत्वात् । नच तस्याविद्योपहितरूपेण न साक्षित्वं, किन्तु अन्तःकरणोपहितरूपेण; तथाच रूपभेदेन साक्षिभेदान्न सार्वज्ञ्यापत्तिरिति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात् । तथा सत्यपि हृदयनाडीप्रभृतीनामान्तराणामन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां ज्ञानं त्वस्य निर्बाधमित्यान्तरसर्वज्ञताया दुर्वारत्वात् । तदेतदुक्तम्, **तथा सतीत्यादि** । ननु सर्वेषां प्रतिबिम्बो नास्माभिरङ्गीक्रियत इति चेत्तत्राहुः **सर्वेषामित्यादि** । अयमर्थः । यदयं न स्वीक्रियते, कस्तत्र हेतुः । न तावदसन्निधिः, अविद्याया व्यापकत्वात्, अन्तःकरणस्य चान्तरसन्निहितत्वात् । नापि बिम्बालोकसंयोगाभावः, सूर्यादेर्विद्यमानत्वात् । अन्तर्गृहगतदर्पणप्रतिबिम्बितसूर्यप्रकाशेनान्तरवस्तूनां प्रतिबिम्बदर्शनाद्, इहापि जीवचैतन्यप्रकाशितान्तःकरणसंसृष्ट आन्तरबिम्बे आलोकान्तरानपेक्षणात् । तेनाऽऽन्तरप्रकाशानङ्गीकारे साक्षात्संसृष्टान्तःकरणतद्धर्मादीनामप्यनवभासप्रसङ्गात् । मते च तदवभासे तद्वदेव तत्संसृष्टानामप्यवभासादहङ्कारादिवद् हृदयनाडीप्रभृतीन्यप्यनुसन्धीयेरन् संस्काराधायकस्य तुल्यत्वात् । अथैकप्रतिबिम्बावरुद्धे दर्पणादावन्यस्य प्रतिबिम्बादर्शनाद् व्यापकजीवावरुद्धेऽविद्यादावितरेषां प्रतिबिम्बो न भविष्यतीत्यवरोध एव प्रतिबिम्बाभावहेतुरिति विभाव्यते तदाप्यसङ्गतम् । एकप्रतिबिम्बाऽवरुद्धेऽन्यप्रतिबिम्बस्तदा न भवति यदा बिम्बान्तरं पूर्वबिम्बव्यवधेयं भवति । इह तु ब्रह्मणो व्यापकत्वेन परिच्छिन्नानां सर्वेषां ब्रह्मान्तर्वर्तित्वेन तद्व्यवधेयत्वाभावान्न जीवेन तत्प्रतिबिम्बावरोध इति दुर्वार एव सर्वेषां प्रतिबिम्ब इति तदेतदुक्तं, **सर्वेषां प्रतिबिम्बाभावे हेत्वभावादिति** । ननु भवतु सर्वेषां

इन्द्रियाणां च वैयर्थ्यमत इदं ज्ञानं कार्यरूपं भिन्नमेव, चिदादिभिः सह बुद्धेः कोशादिष्वैकार्थ्यात् ॥ १३६ ॥

टिप्पणी।

अत इदमिति। "बुद्धिर्मनीषा" इत्यारभ्य "चित्सम्वित्प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः" इत्यन्ते कोशे बुद्धेश्चिदादिपर्यायत्वं नात्मशब्दपर्यायत्वमिति चिद्रूपात्मनः कार्यरूपं ज्ञानं भिन्नमेवेत्यर्थः ॥१३६॥

आवरणभङ्गः।

प्रतिविम्बः। तथापि न जीवस्य सर्वज्ञतापत्तिर्भवित्री। जीवसाक्षिवादस्याऽनङ्गीकारात्। तथा सति कूटस्थचैतन्यं वा, जीवाभिन्नं सर्वप्रत्यग्भूतं शुद्धं ब्रह्मैव वा, परमेश्वरस्यैव रूपान्तरं वा साक्षी भविष्यति। तस्य तु सर्वज्ञत्वेऽप्यदोषः। जीवस्तु, यथा सर्वगतं गोत्वसामान्यं स्वभावादश्वत्वादिसङ्गित्वाभावेऽपि सास्नादिवद् व्यक्तौ संसृज्यते, तथा विषयादौ सन्नपि जीवः स्वभावादन्तःकरण एव संसृज्यते। यदा चान्तःकरणपरिणामो वृत्तिरूपो नयनद्वारेण निर्गत्य चक्षूरश्मिवज्झटिति दीर्घप्रभाकारेण परिणम्य विषयं प्राप्नोति, तदा तमुपारुह्य जीवस्तं विषयं गोचरयति। केवलाग्न्यदाह्यस्य तृणादेरयःपिण्डसमारूढाग्निदाह्यत्ववत् केवलजीवचैतन्याप्रकाश्यस्यापि घटादेरन्तःकरणवृत्त्युपारूढतत्प्रकाश्यत्वं युक्तमिति चिदुपरागार्थत्वेन वृत्तिनिर्गमनमपेक्ष्य वृत्तिसंसृष्टविषयमात्रावभासकत्वात् तस्य किञ्चिज्ज्ञत्वमुपपत्स्यत इति चेत्तत्राहुः इन्द्रियाणाञ्च वैयर्थ्यमिति। एवं स्वभाववादेन समाधानेऽपि जीवस्य प्रकाशकप्रतिविम्बत्वात् स्वप्ने स्वयं ज्योतिष्ट्वप्रतिपादनाच्च प्रकाशरूपत्वेन स्वप्न इव परोक्षवृत्ताविव च पूर्वपूर्वानादिसंस्कारवशादेवेन्द्रियं विनापि प्रत्यक्षोपपत्तेर्ज्ञानेन्द्रियाणि वृथैव स्युः। किञ्चायःपिण्डसमारोहेण दाहकस्याग्नेस्साक्षात्संसृष्टदाहकतादर्शनाद्वृत्त्युपारोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षादन्तःकरणसंसृष्टप्रकाशकत्वं सुतरां सुवचमित्यन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां प्रकाशोऽस्य स्यादेवेत्यधिकं तत्रानुप्रविष्टमित्यर्थः। वस्तुतस्त्वेवमपि गोत्वस्य सकलगोव्यक्तिष्विवैकस्यैव जीवस्य सर्वान्तःकरणेषु सर्गस्य वक्तव्यत्वात्, तथा सति तत्तदन्तःकरणवृत्तिनिर्गमेण तत्तद्विषयप्राप्तौ तत्तद्वृत्त्युपारूढस्य जीवस्यापि तत्तद्विषयोपरागसम्भवात्सर्ववृत्तिसंसृष्टविषयाणां गोचरीकरणे बाधकाभावेन किञ्चिज्ज्ञत्वमनुपपन्नमेव। अतो विषयविषयिभावो वा, विषयसन्निहितजीवचैतन्यतादात्म्यापन्नवृत्तिविषयसंयोगद्वारको जीवविषययोः परम्परासम्बन्धो वा, अन्तःकरणोपादानस्य जीवस्य वृत्तिविषयसंयोगजनितः साक्षात्संयोगो वा, अन्तःकरणोपहितस्य विषयाऽवभासकचैतन्यस्य विषयतादात्म्यापन्नब्रह्मचैतन्याऽभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषयतादात्म्यसम्पादनं वा, अन्यद्वा यत्किञ्चन चिदुपरागत्वेनाभिधित्सितं, सर्वस्य वृत्तिसंसर्गजनितत्वेन, वृत्तिजनकानां चान्तःकरणानां सर्वशरीरव्यापकजीवसंसृष्टत्वेन तत्तद्वृत्तिद्वारा सर्वेषां सर्वज्ञतापत्तिरनिवार्यैव। तत्राप्यनुपदोक्ते विषयतादात्म्यसम्पादनपक्षे, मैत्रस्य चैत्रदर्शने, अहं चैत्र इत्याद्याकारकज्ञानापत्तिरधिकाऽऽयातीति फल्गून्येवैतानि कल्पनानि। अथ जीवः सर्वगतोऽप्यविद्याऽऽवृतत्वात्स्वयम्प्रकाशमानतया विषयाननवभासयन् विषयविशेषे वृत्त्युपरागादावरणतिरोधानेन तत्रैवाभिव्यक्तस्तमेव विषयं प्रकाशयतीत्यावरणभङ्गपक्षः किञ्चिज्ज्ञत्वार्थमालम्ब्यते। तदाऽप्यावरणस्य वृत्त्युपरागतिरोभाव्यत्वाज्जाते वृत्त्युपरागे तेन चावरणे भग्ने सर्वान्तःकरणसंसृष्टो जीवस्तत्तद्विषयेष्वभिव्यक्तस्तं तं विषयं प्रकाशयेदेवेति न किञ्चिज्ज्ञत्वोप-

पत्तिः। एवञ्च चैतन्यमात्रावरकाज्ञानस्य खद्योतप्रकाशेन महान्धकारस्येव ज्ञानेनैकदेशाऽज्ञाननाशो वा, पटवत् सम्वेष्टनं वा, भीतभटवदपसरणं वा, चैतन्यमात्रावरकस्याप्यज्ञानस्य तत्तदाकारवृत्तिसंसृष्टावस्थविषयचैतन्यानावरकत्वस्वाभाव्यं वा, मूलाज्ञानाऽवस्थाभेदरूपाऽज्ञानान्तरनाशो वा, अन्यो वा यः कश्चनाऽऽवरणभङ्गो निरुच्यते, स सर्वोऽपि वृत्त्युपरागजन्य एवेति जाते वृत्त्युपरागे पूर्वोक्तरीत्या सकलान्तःकरणसंसृष्टस्य जीवस्य सर्वज्ञतैवायातीति नैतेऽपि रोचिष्णवः पक्षाः। नन्वेकस्मिन्नपि जीवे जन्मान्तरमापन्ने पूर्वजन्मानुसन्धानाऽदर्शनाच्छरीरभेदस्य सुखाद्यननुसन्धानप्रयोजकत्वं क्लृप्तमिति स एव किञ्चिज्ज्ञताया अपि प्रयोजको भवतु। तथाच व्यापकस्यापि जीवस्य शरीरान्तरे शरीरान्तरीयान्तःकरणवृत्त्यादिभिर्ज्ञानं न भविष्यतीति, न सर्वेषां सार्वज्ञ्यापत्तिरिति चेत्, न; शरीरभेदस्य पूर्वजन्माद्यननुसन्धानप्रयोजकताया योगिकायव्यूहे जातिस्मरे भूतादौ च व्यभिचारेण तस्य किञ्चिज्ज्ञतायामप्यतन्त्रत्वात्। एतेनैव भोगायतनभेदस्य विश्लिष्टोपाधिभेदस्य चाननुसन्धानप्रयोजकत्वं परास्तं बोध्यम्। "उद्यदायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः। पश्यन्तः पातयन्ति स्म कबन्धानप्यरीन् युधी"ति भारते भूतार्थवादाच्च। नच योगिप्रभृतिषु प्रभावविशेषेणानुसन्धानेऽपि पूर्वोक्तोपाधीनामुत्सर्गतस्तथात्वान्नाननुसन्धानप्रयोजकत्वहानिरिति वाच्यम्। बहुषु व्यभिचारदर्शनात्। एकत्र तथा दर्शने ह्यौत्सर्गिकाननुसन्धानतन्त्रत्वाऽविघातः प्रभावविशेषसमवधानवशात् कल्पयितुं शक्यते, न तु बहुषु तथादर्शने। अतो मनुष्यविशेषेषु भूतेषु मनुष्यादुत्कृष्टयोनिषु सर्वेषु च पूर्वजन्माज्ञानस्य तत्र तत्रोक्तेः शास्त्रस्य प्रामाण्याच्च न पूर्वोक्तोपाधीनामननुसन्धानतन्त्रत्वं साधीयः। नाप्यन्तःकरणभेदस्य तथात्वम्। दृष्टिसृष्टिवादे पूर्वपूर्वस्यान्तःकरणस्य नष्टत्वेनाग्रिमाग्रिमस्य तस्य भिन्नत्वात्। पूर्वदृष्टानुसन्धानाभावप्रसङ्गात्। साक्ष्यैक्येन तत्समर्थने त्वन्तःकरणभेदस्याऽप्रयोजकत्वात्। अन्तःकरणान्तरेणाऽस्य सर्वज्ञताया एवापत्तिः। अन्तःकरणवैजात्यादिकल्पनं तु फेनालम्बनकल्पत्वात् कदर्यमेव। सृष्टदृष्टिवादमालम्ब्यान्तःकरणैक्याङ्गीकारेण समर्थने तु, यथा पादेन स्पृशामि, कर्णाभ्यां शृणोमि, चक्षुषा पश्यामीति करणभेदेऽप्येकस्य ज्ञानम्, तथा तेन तेनान्तःकरणादिना तत्तज्जानामि, स्पृशामि, शृणोमि, पश्यामीत्यादिज्ञानमपि वहिःकरणभेदस्येवान्तःकरणभेदस्याप्यप्रयोजकत्वान्निर्बाधमेव। नच फलबलान्नान्तःकरणभेदस्याप्रयोजकत्वमिति वाच्यम्। फलबलस्य साधनभेदकल्पनामात्रप्रयोजकत्वेनान्तःकरणभेदकल्पने अप्रयोजकत्वात्। फलबलेन जीवभेदकल्पनेऽपि दोषाभावात्। अतो व्यापक एकः प्रतिबिम्बो जीव इति पक्षे कथमपि न सर्वज्ञतापत्तिपरिहारः। ननु तर्ह्यस्तु नानाजीववादः। तथा सत्यन्तःकरणे प्रतिबिम्बितचैतन्यरूपस्य जीवस्य परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंसर्गाभावान्न सर्वज्ञतापत्तिर्भवित्री। विषयप्रकाशस्तु विषयसंसृष्टवृत्तिद्वारा तडागसलिलस्य कुल्याद्वारा केदारसलिलैक्यवद् विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्याऽभेदाभिव्यक्तौ भविष्यतीति किञ्चिज्ज्ञत्वमुपपत्स्यत इति चेत्, नेदं युक्तं भाति; सलिल एको द्रष्टा भवतीति श्रुत्या सुषुप्तावेव जीवब्रह्मणोरेकीभावश्रवणात्तदितरत्र जाग्रदादौ व्यावर्तकोपाधेर्विद्यमानत्वाच्च दर्पणसत्त्वे बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव जीवब्रह्मणोरभेदस्य शक्यवचनत्वात्। किञ्च; जीवब्रह्मणोरिदानीमभेदेऽन्योन्यधर्मविनिमयाद्ब्रह्मणोऽल्पज्ञताऽन्यस्य सर्वज्ञता चापत्स्येतेति नोक्तदूषणोद्धारसम्भवः। यदि च बिम्बभूतं

बुद्धेर्वृत्तिः स्थितिर्नाम गुणतः सा त्रिधा मता ।
अतो जागरणादीनि जीवस्तद्वशगो यतः ॥ १३७॥

बुद्धिवृत्तिर्जन्यत इत्यत्र वृत्तिर्बुद्धेः पदार्थान्तरं न भवति, किन्तु, स्थितिरेव सत्त्वा-

---

आवरणभङ्गः ।

विषयाधिष्ठानचैतन्यमेव साक्षादाध्यासिकसम्बन्धलाभाद्विषयप्रकाशकमित्याध्यासिकसम्बन्धोपलक्षित-चैतन्यात्मना जीव एकीभावो, न तु बिम्बत्वविशिष्टरूपेणेति भेदस्यापि सद्भावान्नोक्तदूषणापत्ति-रिति विभाव्यते, तदापि विषयतादात्म्यापन्नब्रह्मणा त्वेकीभावोऽस्य जात एवेति—अहं घट इत्याका-रकज्ञानापत्तिः । अध्यासेनान्तःकरणतादात्म्यापत्त्याऽहमिति ज्ञानवदन्तःकरणधर्माणां सुखादीनां स्वसि-न्नभिमानवद् विषयधर्माणामप्यभिमानप्रसङ्गश्च । अयं घट इत्यादिज्ञानाभावश्च स्यात् । यदि च विषयाऽवच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यं विषयसंसृष्टाया वृत्तेरग्रभागे विषयप्रकाशकं प्रतिबिम्बमर्पयति, तस्य प्रतिबिम्बस्य जीवेनैकीभावे विषयप्रमितिरिति विभाव्यते; तदा तु सुतरामसङ्गतम् । वस्त्वन्तर-रुद्धे दर्पणादौ प्रतिबिम्बादर्शनाद्विषयसंसृष्टेऽग्रभागे ब्रह्मप्रतिबिम्बायोगाद्विषयप्रकाशस्यैवाऽभाव-प्रसक्तेः । किञ्च; प्रतिबिम्बार्पकं चैतन्यं यदि विषयाद्बहिस्तदा तस्य वृत्तिसंसृष्टत्वात् प्रतिबिम्बा-योगः । यदि च विषयान्तस्तदापि विषयेण व्यवधानात्तथा । यदि विषयाऽदूरवर्ति तदा विषया-वच्छिन्नत्वस्यैवायोगः । किञ्च; अन्तःकरणोपाधिपरिच्छिन्नप्रतिबिम्बस्याणुत्वादूर्ध्वदर्शने वृत्तिद्वारा तस्य निर्गमात् प्राणानामपि निर्गमापत्तिः । "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती"ति श्रुतेः । किञ्चैवं कल्पनै-कशरणत्वे गोलकद्वारा तैजसस्य वेगवतो वृत्तिरूपपरिणामस्य निर्गमादेव प्रमातृवृत्तिविषयचैतन्या-भेदसिद्ध्या विषयप्रकाशसम्भवे गोलकातिरिक्तेन्द्रियकल्पनाऽपि वृथा स्यात् । तस्मादनादरणीया एवैते पक्षा इति दिक् । तदिदं हृदि कृत्वाहुः अत इत्यादि । अतो बिम्बधर्मप्रतिबिम्बाधारस्वरूपयोर्विचारेण ज्ञानेन्द्रियवैयर्थ्यापत्तिरूपदूषणान्तरग्रासेन च प्रतिबिम्बपक्षस्यासङ्गतत्वात् । इदम्—अर्थप्रकाशरूपं ज्ञानं, कार्यरूपत्वान्नित्यज्ञानातिरिक्तमेवेत्यर्थः । अत्रोपष्टम्भाय तर्कगतं हेत्वन्तरमप्याहुः चिदादी-त्यादि । तथाच कार्यरूपं ज्ञानं यद्यात्मभिन्नं न स्यात् कोशादिषु चिदादिभिर्बुद्धेरैकार्थ्यन्न स्यात् । आदि-पदं व्याकरणसङ्ग्राहकम् । बुध अवगमने । बोधो ज्ञानमिति । चिती संज्ञान इति । नच वृत्तौ ज्ञान-त्वोपचाराच्चिदादिप्रयोग इति शक्यवचनम् । कोशादीनां शक्तिग्राहकत्वेन तत्रोपचारस्याशक्यवच-नत्वात् । तस्माज्जन्यं ज्ञानमतिरिक्तमेवेति निश्चयः ॥ १३६ ॥

ननु नेन्द्रियाणां वैयर्थ्यम् । बुद्धिवृत्तिजननार्थं तेषामुपयोगात् । स्वप्ने स्वयञ्ज्योतिष्ट्वप्रति-पादनेनान्यदा जीवस्याप्रकाशकतयाऽवश्यं वृत्त्यपेक्षणात् । अत एव चान्तराणामपि ज्ञाना-भावसिद्धेर्न कोऽपि दोष इत्याशङ्कायां वृत्तिस्वरूपं निश्चेतुमाहुः बुद्धिवृत्तिरित्यादि । नेत्र-निमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्येव कश्चिदाकारो नेत्रान्तरे भासते, स आकारो न बाह्यवस्तुनः, आश्रयमतिहाय तस्य तत्राऽशक्यवचनत्वात्, अतस्स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुमर्हतीति तत्त्वाश्रयत्वेन साङ्ख्यैराहङ्कारिकं, तत्त्वान्तरं वृत्तिनामकं कल्प्यते । यथा हि प्रवचनसूत्रद्वयं "प्रमार्थप्रकाशलिङ्गाद्वृत्तिसिद्धिः", "भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिरि"ति । अर्थस्तु प्रमा पूर्वोक्तरीतिकमाकारज्ञानं तत्सहितो योऽर्थप्रकाशो विषयज्ञानम् । एवमुभयविधाल्लिङ्गाद्वृत्तिसत्ता-

दिभिः। अत एव भ्रमादीनामपि सङ्ग्रहः। यदीन्द्रियैर्जन्या न स्याद् घटे क्वापि तदा

टिप्पणी।

अत एवेति। यतो बुद्धिर्जन्याऽतो दोषसहकृतेन्द्रियजन्यत्वाद्भ्रमो विशेषादर्शनविरुद्धनानाकोटिस्मरणसहकृतेन्द्रियजन्यत्वात्संशयश्चोपपद्यत इत्यर्थः।

आवरणभङ्गः।

निश्चयः। यदि वृत्तिर्न स्यादुक्त आकारो न प्रतीयेत। अतैजसत्वादचलं चक्षुर्विप्रकृष्टं विषयमप्राप्नुवत्तत्प्रकाशनं न कुर्यात्। जायते च तदुभयमतस्साऽस्तीति निश्चयः। एवं भागो विभागः= अहङ्काराद्विभज्य विषयदेशाऽवधि गमनम्। गुण उक्ताकारस्ताभ्याङ्कृत्वा आहङ्कारिकं तत्त्वान्तरं वृत्तिरिति, अभियुक्तोक्तिश्च, "वृत्तयः प्रसरद्रूपाः स्फारिताक्षस्य यत्र च। अदृष्टाऽनुग्रहात्तत्तत्सम्बद्धार्थावबोधिका" इति। अमूर्तायास्तस्या कथं क्रियेत्यतस्तृतीयं सूत्रम् "न द्रव्यनियमस्तद्योगादि"ति। अनियतत्वात् पदार्थानां न द्रव्य एव क्रियानियमः, किन्तु यत्र यत्प्रमाणतः सिद्ध्यति, तत्र तदनुमन्यामहे। अतो दूरस्थवस्तुन आकारग्रहणाऽदर्शनात्साऽपि क्रियावतीत्यर्थ इति। एवं मायावादिनोऽप्यन्तःकरणविशिष्टस्य प्रमातृत्वमङ्गीकृत्य तस्मिन् ज्ञानसूक्ष्माऽवस्थारूपं विषयसंस्कारमाऽऽधातुं विषयेन्द्रियसन्निकर्षसामर्थ्यजन्यामन्तःकरणपरिणामरूपां वृत्तिमङ्गीकुर्वन्ति। नैयायिकादयस्तु, नयनकिरणानां निर्गमेण विषयसन्निकर्षाज्ज्ञानं, तेन च भावनासंस्काराख्यं गुणान्तरं चरमस्मृतिनाश्यमात्मन्यङ्गीकुर्वन्तो वृत्तिपदार्थमेव नेच्छन्ति। तत्र नेत्रान्तराऽनुभवस्य सार्वजनीनत्वादप्रयोजकं नैयायिकादिमतमिति। वृत्तिः सर्वथाऽभ्युपेयैव। परन्तु, या वृत्तिसंस्काराऽऽधानाद्यर्थं जन्यत इत्युच्यते, सा वृत्तिर्बुद्धेर्बुद्धितत्त्वादतिरिक्तं पदार्थान्तरं न भवति, किन्तु स्थितिरेवाऽवस्थाविशेष एव सत्त्वादिभिः कालादिक्षुब्धैः सत्त्वादिगुणैः कृतः। तथाच यदा चक्षुषा ज्ञानं जाग्रति जन्यते तदा तदाकारिका बुद्धिवृत्तिरपि तेन जन्यते, "बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी" "द्रव्यस्फुरणविज्ञान"मित्यादिभिस्तल्लक्षणवाक्यैस्तथा विशिष्टज्ञानसमानाकारतयैव सिद्धत्वात्। सैव वृत्तिर्नेत्रनिमीलने गोलकान्तरादनुभूयते। एवमेवेन्द्रियान्तरजन्यापि ज्ञेया। अत एतावतैव निर्वाहे साङ्ख्याद्यभिमतं तस्याः पदार्थान्तरत्वमप्रामाणिकं गुरुभूतं च। तथैव मायावादिप्रतिपन्नं तस्या ज्ञानप्रतिबिम्बाधारत्वमपि। व्यावहारिकज्ञानस्याऽतिरिक्तत्वानङ्गीकारे, श्रद्धाऽश्रद्धेति श्रुतौ कामादिपदानां शक्तत्वं धीपदस्य लाक्षणिकत्वमिति कल्पनावैरूप्यादिदोषग्रासात्। अत उक्तरीत्येन्द्रियसार्थक्यादिसाधनेऽपि जन्यज्ञानमतिरिक्तमवश्यमभ्युपेयमित्यर्थः। नन्वस्त्वेवं, तथापीन्द्रियसम्प्रयोगोचरं सम्प्रयुक्तार्थसमानो वृत्तावाकारो जायत इति प्रमा भविष्यति, न तु भ्रमादिकम्। शुक्त्यादौ तद्विरुद्धस्य रजताद्याकारस्याभावेन वृत्तौ तत्समर्पणायोगात्, अत इदमपि मतमनुपपन्नमित्याशङ्कायामाहुः अत एवेत्यादि। वृत्तेर्गुणजन्यत्वाङ्गीकारादेव, "संशयोऽथ विपर्यास" इत्यत्रोक्तानां भ्रमादिवृत्तीनामन्यख्यात्याद्यङ्गीकारेणोपपत्तिरिति न दोष इत्यर्थः। इदं यथा, तथा तृतीयस्कन्धे बुद्धिलक्षणे व्युत्पादितम्। नन्विन्द्रियाणामनुग्रह इति बुद्धेः कार्यलक्षणात् तस्या इन्द्रियानुग्राहकतयेन्द्रियसमानकालिकत्वाद्वृत्तेस्तदभेदे तासामिन्द्रियजन्यत्वं दुर्घटमित्याकाङ्क्षायां तत् साधयितुमिन्द्रियाजन्यत्वे बाधकं तर्कमाहुः यदीत्यादि। क्वाऽपीति। कस्मिन्नप्यंशे। अयमर्थः। यत्र भ्रमद्घटो, गृह्यते तत्र वृत्त्युपरञ्जकस्य भ्रमणस्य

भ्रमो न स्यात् । जीवस्य च गुणतोऽवस्थात्रयं भिन्नहेतुकं स्यात् । अतो गुणवशाद् यथा

टिप्पणी ।

जीवस्येति । तत्तद्गुणजन्यबुद्धिमत्त्वेन जीवे सात्त्विकत्वादिकमुच्यते तन्न स्यादिति भावः ॥ १३७ ॥

आवरणभङ्गः ।

विषयनिष्ठत्वाभावेन ततश्चिदुपरागायोगाद्घटाकारिकया वृत्त्या विषयावरणाऽभिभवेन क्रियांशे विक्षेपस्याप्यशक्यवचनत्वात् । वृत्त्या विषयचैतन्याभेदाभिव्यक्तावपि विषयप्रकाशके ब्रह्मचैतन्ये तदभावान्नयनप्रदेशे तदननुभवेनेन्द्रियेऽपि तदभावाद् वृत्तिमात्रजनकस्येन्द्रियसम्प्रयोगस्य विषयकारणत्वाक्लृप्तेः सम्प्रयोगेणापि विषये तदाधानायोगादन्तःकरणावच्छिन्ने प्रमातर्य्यप्यहं भ्रमामीत्यननुभवात् सम्भ्रमः सर्वत्रालब्धसत्ताको घटेऽपि न स्यात् । यस्मात् क्वाप्यसन् घटदेशेऽनुभूयते । तस्मात्तद्देशावच्छेदेनानुभूयमानायां वृत्तावस्ति । यस्मादेवं तस्माद्वृत्तिरिन्द्रियजन्यैवेत्यर्थः । एवं सिद्ध एकत्र जन्यत्वेऽन्यत्रापि तथैवाङ्गीकार्यमिति भावः । नच शुक्तिरजतादिस्थले इदमाकारवृत्तौ सत्यामपि रजताध्यासदर्शनादंशत एवावरणनाशे अंशान्तरेणेहापि भ्रमविक्षेपोऽपि भविष्यतीति न तदननुभवानुपपत्तिरिति वाच्यम्, विषये तत्सत्त्वेऽन्येषामपि तदनुभवापत्तेः । अन्येषां घटद्रष्टॄणां प्रमाणवृत्त्या तदंशावरणनाशादस्यापि तदननुभवापत्तेश्च विषयाश्रितावरणपक्षस्यैव दुष्टत्वात् । पुरुषाश्रितत्वपक्षे तूक्तरीत्या प्रमातरि प्रमाणे च वक्तुमशक्यत्वेन घट्टकुटीप्रभातवदननुभवस्यैवापातात् । शुक्तिरजतस्याप्येतत्तुल्यत्वात् । एवं, मूलाज्ञानावस्थारूपऽज्ञानानां नानात्वमङ्गीकृत्य घटावरकज्ञानस्य घटाकारकवृत्त्या, निवृत्तावपि नैश्चल्यावरकस्यानिवृत्तौ, भ्रमकक्षेपेऽत्यादरणेऽपि पूर्वोक्तरीत्या पुरुषनिष्ठतैव तस्य वाच्येति तस्य तद्वदेवासिद्धेः । वृत्तेर्ज्ञानात्मकत्वमात्रकल्पनया तस्योत्पत्तिनाशशालित्वमात्रेण निर्वाहे विषयावरणतन्नानात्वकल्पनयोर्गुरुत्वादप्रामाणिकत्वाच्च । एतेनैव घटावरकाज्ञानगतावरणशक्तिमात्रनिवृत्तिर्न तु विक्षेपशक्तिनिवृत्तिरपीति पक्षो निरस्तो बोध्यः । नैश्चल्यावरणमन्तरेण भ्रमणविक्षेपासम्भवादावरणशक्तिनिवर्तकताया अप्रयोजकत्वाच्च । जलप्रतिबिम्बवृक्षाधोग्रत्वभ्रमे तु प्रतिबिम्बपदार्थस्यातिरिक्तत्वेन मूलसमीपवर्तिनि जले मूलस्य, ततो विप्रकृष्टेऽग्रस्य प्रतिबिम्बात्, प्रतिबिम्बत्वेनैवावगाहाद्, भ्रमत्वस्यैव दुर्वचत्वेन, तत्रावरणादिकल्पनाया एवायोगाच्चेति दिक् । तर्कान्तरमाहुः जीवस्येत्यादि । इन्द्रियाणां जागरणे जाग्रतिस्तेषां लये स्वप्नः, अन्तरिन्द्रियस्यापि लये सुषुप्तिरितीन्द्रियहेतुकमवस्थात्रयं गुणतस्तत्तथा न स्यादित्यर्थः । यद्वा, वृत्तीनां गुणाजन्यत्वे बाधकं तर्कमाहुः । जीवस्येत्यादि । बुद्धिवृत्तयो यदि गुणजन्या न स्युस्तदा जीवस्यावस्थात्रयं भिन्नहेतुकं स्याद्, यदि तथा स्यात्तर्हि, "सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् । प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततमि"ति । "जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः । तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चित" इत्येकादशस्थभगवद्वाक्यं हंसवाक्यं च विरुध्येत । यतो नेदं विरोद्धव्यमतस्तत्तदवस्थासु बुद्धिवृत्तयो गुणव्यत्ययजा एवेति निश्चयः । एवञ्च सत्त्वबाहुल्ये प्रमाणवृत्तिः सत्त्वरजःसाम्ये संशयस्तमोबाहुल्ये अज्ञानं, रजोऽनुवेधे भ्रम इन्द्रियैर्जन्यत इत्याद्यूह्यम् । यत्तु, जाग्रद्भोगप्रदकर्मोद्बोधे जागरणं, तदुपरमे निद्रया स्वप्नसुषुप्ती इति मतम् ।

बुद्धिर्भवति तथैव मन्तव्यमिति। अत एव जीवस्यापि न स्वातन्त्र्यं, गुणाधीनत्वात् ॥१३७॥

आवरणभङ्गः।

तत्रापि कर्मोद्बोधोपरमहेतोरवश्यवाच्यत्वाल्लाघवादीश्वरेच्छानुगृहीतानां परस्परोपमर्दकादिस्वभावानां गुणानामेवावस्थाहेतुत्वं साधीय इति। एवं तर्कसूचितेन प्रमाणेन वृत्तिकारणं निश्चित्य फलितमाहुः अत इति। अतः "इन्द्रियाणामनुग्रह" इति वाक्येन बुद्धेरिन्द्रियाऽनुग्राहकत्वाद्, गुणवशात्=सत्त्वादिगुणाऽनुवेधाद् यथा येन प्रकारेण संशयादिरूपा बुद्धिवृत्तिर्भवति इन्द्रियैर्जन्यते तथैव तत्समानाकारमेव विशिष्टज्ञानं मन्तव्यमङ्गीकार्यम्। तथाच बुद्धेरिन्द्रियाजन्यत्वेऽपि तदवस्थारूपाणां वृत्तीनामिन्द्रियजन्यत्वं सुघटमित्यर्थः। एवञ्च तृतीयस्कन्धोक्ते स्थिरज्ञानपक्षे आधिभौतिकबुद्धिरूपाणां वृत्तीनामेव विशिष्टज्ञानत्वं त्रिक्षणाऽवस्थायिज्ञानपक्षे तु वृत्तिभिन्नत्वमिति बोध्यम्। अत्र नैयायिकादिवत् कार्यज्ञानं भिन्नं स्वीकृतमिति तद्वदेव ज्ञानोत्पत्तिप्रक्रियाऽपि भविष्यतीति शङ्काव्युदासाय भिन्नां प्रक्रियां सूचयन्त आहुः अत एवेत्यादि। अत एव बुद्ध्यधीनत्वादेव। न स्वातन्त्र्यमिति। न ज्ञानजनने कर्तृत्वघटकं स्वातन्त्र्यम्। तथाच आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति प्रक्रिया नासदभिमता, किन्त्व"धिष्ठानं तथा कर्ते"ति। वक्ष्यमाणगीतावाक्यादन्यैवेत्यर्थः। साऽत्रानुक्तापि सूचितत्वाद्बोधनार्थं किञ्चिद् व्युत्पाद्यते। तथाहि—"अधिष्ठानं तथा कर्तेति"। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती"ति गीतावाक्याभ्यां दैवेनान्तर्यामिणा च क्षुब्धगुणयुक्तमनस्तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते। तच्चाण्वमपि सक्षोभमिति तत्तदिन्द्रियेण संसृज्यते। तत्र तत्तदिन्द्रियदेवताऽऽनुकूल्ये विषयसंसृष्टं सत् पूर्वं निर्विकल्पकमुत्पादयति। ततो बुद्ध्यापि तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति। चाक्षुषे तु नयनकिरणसंसृष्टं मनो विषयपर्यन्तं गच्छति। इन्द्रियान्तरे तु किरणाभावादिन्द्रियेण सह विषयं प्राप्नोति। तदा क्रमेण सहैव वा निर्विकल्पकं सविकल्पकं च मनस्युत्पद्यते। ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिकं व्यापारः। स मयाप्रस्थानरत्नाकरे व्युत्पादित इति ततो बोध्यः। तत्र सविकल्पकं प्रमेयाकारानन्त्यादनन्तविधं भवति। तत्रापि कारणान्तरसमवधानेन संशयविपर्याासनिश्चयस्मृतिभेदा जाग्रतौ भवन्ति। यथा सम्भवं स्वप्नेऽपि। तेऽपि तत्रैव लक्षिताः। सविकल्पकजन्यहानोपादानबुद्धौ तु विशेषः। "इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः कामलोभहतं मनः। चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदादि"तिवाक्याद्विषयैरिन्द्रियाकर्षः। ततस्तैर्मनसस्तच्च कामादिहतमिति तत्र कामोत्पत्तावुपादानबुद्धिः। तादृशे मनसि द्वेषोत्पत्तौ तु हानबुद्धिः। यदा मनसोऽनाकर्षस्तदोपेक्षाबुद्धिरिति। नचेमदप्रयोजकम्। कामिनीकुचकुम्भदर्शनादौ चक्षुषः, शीतादिकालेषूष्णादिना त्वचो, रागादियुक्तगीतेन श्रवणस्य, चन्दनादिगन्धेन घ्राणस्य भक्षितस्यापि दध्यादेः पुनरास्वादनेन रसनस्य तैश्च मनस आकर्षस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। एवं ज्ञानक्रमः। अत्र यथासम्भवमन्यदपि शास्त्रेणावगत्योहनीयं यदि न्यूनं भाति ॥ १३७ ॥

एवं ज्ञानस्योत्पत्तिं निरूप्य सुखदुःखयोरपि ज्ञानफलयोरुत्पत्तिं निरूपयति—

सुखदुःखसमुत्पत्तिर्नित्या ब्रह्मसुखात् पृथक् ।
अन्धन्तमःप्रवेशाच्च ह्रीच्छादीनां च सर्वशः ॥ १३८ ॥

सुखदुःखसमुत्पत्तिरिति । नित्या, न विवादास्पदमित्यर्थः । ब्रह्मसुखमपि तथा भविष्यतीत्याशङ्क्याह ब्रह्मसुखादिति । दुःखार्थमाह अन्धन्तमःप्रवेशादिति ।

टिप्पणी ।

ज्ञानफलयोरिति । सुखदुःखयोर्ज्ञानफलत्वं विहितनिषिद्धकृतिद्वारा ॥ १३८ ॥

आवरणभङ्गः ।

ज्ञानफलयोरिति । सुखदुःखयोरनुकूलप्रतिकूलबुद्धिवेद्यत्वेन पूर्वमज्ञस्य पश्चादर्थज्ञाने तस्यार्थस्य स्वरूपेऽपि, एतर्ह्येवेदं सिद्धं भूतमिति भानाज्ज्ञेयत्वस्यापि फलान्तःपातित्वमभिप्रेत्यैवमुक्तम् । न विवादास्पदमिति । ननु यथाऽत्युत्कृष्टस्य धवलरूपस्य मालिन्यतारतम्ययुक्तेष्वनेकेषु दर्पणेषु प्रतिबिम्बे सत्युपाधिमालिन्यतारतम्यात्तत्र तत्र प्रतिबिम्बे धावल्यापकर्षस्तारतम्येनाध्यस्यते । एवं वस्तुतो निरतिशयस्यैकस्यैव स्वरूपानन्दस्य अन्तःकरणप्रतिबिम्बिततया साक्ष्यानन्दभावे प्राक्तनसुकृतसम्पत्त्यधीनविषयविशेषसम्पर्कप्रयुक्तसत्त्वोत्कर्षापकर्षरूपशुद्धितारतम्ययुक्तसुखरूपान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बिततया विषयानन्दभावे च सति तस्मिंस्तमोगुणरूपोपाधिमालिन्यतारतम्यदोषाच्चारतम्येनापकर्षोऽप्यध्यस्यत इति तस्य सातिशयता तेनातृप्तिश्च । विद्योदये तु निखिलोपाधिनिवृत्त्यापकर्षाध्यासस्याऽपि निवृत्तेः कृतकृत्यतेति सांसारिकानन्दब्रह्मानन्दयोर्विशेष इत्येतावतैव निर्वाहे उत्पत्त्यादिविचारस्य व्यर्थत्वात्, कथं न विवादास्पदत्वमिति चेत्, नेदं युक्तम्; दृष्टान्तविरोधात्, आनन्दे रूपानुपधानात्, अन्तःकरणस्य चाशुद्धत्वात्; अन्यथा हृदयनाड्यादिप्रतिबिम्बापातेन तदनुसन्धानापातादित्यादिपूर्वोक्तयुक्तिभिः साक्ष्यात्मकप्रतिबिम्बनिरासेन तदानन्दप्रतिबिम्बस्यापि निरस्तचरत्वात् । वैषयिकानन्दस्यापि वृत्तिविषयसंसर्गोत्तरभावित्वेन विषयसंसर्गरुद्धायां वृत्तौ प्रतिबिम्बस्य च पूर्वं दूषितत्वेन प्रतिबिम्बरूपताया वक्तुमशक्यत्वात्सुखरूपवृत्तिमन्तरेण च तदनभिव्यक्तेस्तस्या आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च त्वदुक्तरीतिकसत्त्वोत्कर्षापकर्षतारतम्यवती अन्तःकरणवृत्तिरेव वैषयिकं सुखम् । सा चोत्पत्तिमती भवताऽप्यङ्गीक्रियत एवेत्यतो न सा विवादास्पदमिति जानीहि । एवमेव वृत्तिरूपदुःखस्याप्युत्पत्तिर्ज्ञेया । नैयायिकादयो ब्रह्मणि सुखं नाङ्गीकुर्वन्तीति ब्रह्मसुखस्याप्युत्पत्तिः सम्भाव्यत इति तन्निरासायाहुः ब्रह्मसुखेत्यादि । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ती"त्यादिश्रुत्याऽऽनन्दमयाधिकरणभूमाधिकरणाभ्यां च तस्य नित्यत्वमेव सिद्धमिति तद्भिन्नमेव सुखमुत्पत्तिमदिति निश्चयः । नन्वन्धन्तमसः कथमुत्पत्तिरहितत्वमित्यत आहुः अन्धन्तम इत्यादि । "मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिमि"ति वाक्यात् । "अन्धन्तमः प्रविशन्ती"तिश्रुतेश्चासुराणामविद्योपासकानां तत्फलम् । तस्य च नित्यानन्दतिरोभावरूपत्वादुत्पत्तिरहितत्वम् । तदग्रे दुःखस्वरूपनिरूपणे व्याकरिष्यते । एवं मनोधर्माणां ज्ञानसुखा-

अन्धन्तमो नित्यमसुराणां फलम् । तथा ह्रीच्छादीनामपि भगवद्धर्मव्यतिरिक्तानामुद्भव एव ॥ १३८ ॥

अनुक्तसमुच्चयार्थमाह—

मनोधर्माश्च ये चान्ये भगवत्सङ्गवर्जिताः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते घटादिरिव नान्यथा ॥ १३९ ॥

मनोधर्मा इति । भगवद्धर्मा मनोधर्माश्च तुल्या भवन्ति, न त्वेकविधाः । नित्या भगवद्रूपा भगवद्धर्माः । अनित्याः कार्यरूपा मनोधर्मा इति । अनेन, सोऽकामयतेत्यत्र दोषः परिहृतः ॥ १३९ ॥

एवं सर्वेषां तुल्यतामुपपाद्य घटादीनामपि ब्रह्मत्वान्नित्यतेति वक्तुं युक्तिमाह—

आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः ।
भक्त्या त्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद्धरौ सदा ॥ १४० ॥

अविर्भावतिरोभावाविति । आविः प्रकटं भावयतीत्याविर्भावः । आविर्भवनं वा धर्मः । तथा तिरोभवनम् । एते भगवतः शक्ती अनन्तशक्तित्वाद्भगवतः ।

टिप्पणी ।

अनेनेति । भगवद्धर्माणां नित्यत्वनिरूपणेन नित्याया एवेच्छायाः प्राकट्याज्जायमानेच्छावत्त्वेन तद्ब्रह्म सगुणं स्यादिति दोषः परिहृत इत्यर्थः ॥ १३९ ॥

आवरणभङ्गः ।

दीनामुत्पत्तिं निरूप्य मनोधर्मान्तरेऽपि तामतिदिशन्ति **तथेत्यादि** । ह्रीस्तु अकर्मणि जुगुप्सा । "जुगुप्सा ह्रीरकर्मस्वि"ति भगवता लक्षितत्वात् । इच्छा अभिलाषरूपा प्रसिद्धैव । आदिपदेन द्वेषयत्नप्रीतिप्रभृतयो नानाऽनुव्यवसायगम्या ज्ञेयाः । "ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे"ति श्रुतौ प्रकारवाचिना इतिशब्देन समुच्चितत्वात् ॥ १३८ ॥

तुल्या इति । समानाकाराः । **दोष इति** । भगवति विकारित्वरूपः, कामे अनित्यत्वविकारत्वरूपश्चेत्यर्थः ॥ १३९ ॥

एवमिति । उत्पद्यन्ते विलीयन्ते इति मूलोक्तेनोत्पादविनाशशालित्वेनेत्यर्थः । **युक्तिमिति** । उत्पत्त्यादिस्वरूपविवेचकतर्करूपां नित्यत्वसाधिकामित्यर्थः । **आविरित्यादि** । आविः प्रकटम्भावयति कारणान्तःस्थं कार्यं बहिः प्रकटीकरोति या शक्तिर्निमित्तगतोपादानगता च सा आविर्भावशब्दवाच्येत्यर्थः । सत्कार्यवादे शक्तस्य शक्यकरणाङ्गीकारात् सा कारणगता । **आविर्भावनं वा धर्म इति** । प्राकट्यरूपो धर्मः कार्यगतः स आविर्भाव इत्यर्थः । तथा तिरोभवनम् । मुद्गरादिगता तिरोभाविका शक्तिर्घटादिगतं तिरोभवनं वा तिरोभावः । एते शक्तित्वेन धर्मत्वेन च व्यवस्थाप्यमाना उक्ताश्चत्वारोऽपि भगवच्छक्तिद्वयाऽवान्तरभेदरूपत्वाद्भगवतः शक्ती इत्यर्थः । एतेषां भगवच्छक्तित्वे प्रमाणं सूचयन्त आहुः अनन्तेत्यादि । "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत" इति श्रुतेरित्यर्थः ।

---

१ क्वचन एवेति नास्ति ।

अन्यथा बीजादिपरिणामानां देहादिभावे को हेतुः स्यात् । तस्माद्भगवच्छक्तिरेव कारण-

टिप्पणी।

अन्यथेति । कारणे लीनस्य पूर्वं सतो यदि नाविर्भावस्तदा वीर्यधान्यमृदादीनां देहवृक्षघटा-दिरूपत्वे हेतोरभावादिति भावः ।

आवरणभङ्गः ।

त्यर्थः । कारणगतशक्तीनां भगवच्छक्तित्वसाधनाय विपक्षबाधनाय च कारणे शक्तिसाधकं तर्क-माहुः । अन्यथेत्यादि । यदि कारणसामान्ये कार्यजननानुकूला तत्तत्कारणविशेषे तत्तदाकारक-कार्यादिजननानुकूला च शक्तिर्न स्यात्तदा तथेत्यर्थः । अत्रैतद्बोध्यम् । कार्यस्य नियतावधिक-त्वदर्शनात्, प्रागभावस्य च पूर्वं दूपितत्वात् सत्कार्यवादस्य शिष्टाहृतत्वम् । तत्र प्रथमपक्षे तन्तुतुरी-वेमादिभ्यः पटोत्पत्त्या मृद्दण्डचक्रादिभ्यश्च घटोत्पत्त्या तस्य तस्य तत्तज्जनने शक्तिर्निश्चीयते । सा च न स्वभावो, नापि स्वरूपम् । तथा सति तस्य सार्वदिकत्वाच्छीर्णेभ्योऽपि तन्त्वादिभ्यः पटाद्यु-त्पत्तिः स्यात् । भर्जिताद् बीजादप्यङ्कुरोत्पत्तिः स्यात् । मणिसमवधानेऽपि वह्निस्तृणादिकं दहेत । स्वभावस्यानपायित्वात् । स्वरूपस्य च सत्त्वात् । अतः सा कालेन भर्जनेन च नाश्या मणिसमव-धानप्रतिबध्या च काचित् स्वभावात् स्वरूपाच्चातिरिक्तैवाङ्गीकार्या । ननु तन्त्वादीनामविशीर्णत्वेन बीजानामप्यभर्जितत्वेन रूपेणैव कार्यजननदर्शनाद्रूपभेदमात्राङ्गीकारेण निर्वाहेऽतिरिक्तशक्तिकल्पनं गुरुभूतम् । एवं वह्निस्थलेऽपि मणेः प्रतिबन्धकत्वेन तदभावस्य प्रतिबन्धकाभावरूपत्वात् तस्य सहकारित्वेन निर्वाहाच्च ज्ञेयम् । यदि च प्रतिबन्धकत्वं नाम कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं, तद-भावस्य च कारणत्वमिति कल्पनाद्वयाद्गौरवं विभाव्यते, तदा शक्तिकारणतावादेऽपि शक्त्यमन्त-रेण स्वरूपतः केवलायास्तस्याः कारणत्वादर्शनात् प्रतिबन्धकत्वस्य च केनचिद्रूपेण भवताऽपि कल्पनीयत्वात् कल्पनाद्वयं भवतोऽप्यापततीति तौल्यमेव । वस्तुतस्तु न मण्यादीनां प्रतिबन्धकत्वं, न वा तदभावस्य कारणत्वं किन्तूत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावविशिष्टस्य वह्नेरेव कारणत्वमित्येकेनैव कार्यकारणभावेन निर्वाहेऽतिरिक्तशक्तिकल्पनाऽजागलस्तनप्रायैवेति चेत्, नेदं युक्तं वक्तुम्, गुरु-शरीरताहक्कारणस्वरूपप्रवेशेन गुरुभूतस्य ताहक्कार्यकारणस्य कल्पनापेक्षया श्रुत्यनुगृहीतस्यातिरिक्त-शक्तिकल्पनस्यैव वरीयस्त्वात् । किमत्र गुरुत्वमिति चेत्, उच्यते, मण्यभावस्य प्रतिबन्धकाभाव-त्वेन प्रवेशे प्रतिबन्धकस्य च पूर्वोक्तलक्षणकत्वेऽत्रापि कार्यकारणभावद्वयकल्पना प्रतिबन्धककल्प-ना चेति कल्पनात्रयापत्तिः । विरुद्धसामग्रीहेतुत्वं प्रतिबन्धकत्वमिति लक्षणकत्वे कल्पनाद्वयाचौ-ल्यम् । वस्तुतस्त्वभावप्रवेशादत्रापि गौरवं प्रतिपत्तेः । तथा सति शरीरगौरवस्याजागलस्तनप्राय-तैव । मण्यभावत्वेन प्रवेशे तु नानाकार्यकारणभावकल्पनाऽत्यन्तमेव गुर्वी । मन्त्रौषधादिनापि दाहाभावदर्शनात् । एवमुत्तेजकानामपि नानात्वात्तत्तत्स्वरूपेण प्रवेशे ततोऽप्यत्यन्तगौरवम् । यत्किञ्चित्त्वेन प्रवेशो यावत्तदभावविशिष्टमण्यभावविशिष्टस्य वह्नेर्दाहं प्रत्यकारणत्वात्ततो दाहाभावा-पत्तिः । तथैव यावत्त्वेन प्रवेशेऽपि यत्किञ्चिद्वैशिष्ट्ये तथा । यथा कथञ्चित्त्वेन प्रवेशेऽपि ताहश-कार्यकारणभावज्ञानस्योत्तेजकतदभावमणितदभावतत्तद्वैशिष्ट्यज्ञानाधीनतया ताहशगुरुशरीरकारणता-

त्वेन वक्तव्या धर्माद् धर्मिसिद्धौ कारणं भवति । (अत्रेदं प्रतिभाति द्वितीयपक्षे आविर्भवनरूपाद्धर्मादेव घटादेराविर्भावरूपधर्मसिद्धौ सत्यामाविर्भावरूपधर्म एव कारणम् । नन्वस्य धर्मरूपत्वाद्धर्म्याश्रयो वाच्यः । तथा सति घटादेरपि पूर्वसत्त्वादाविर्भावतिरोभावयोरपि भगवच्छक्तित्वेन नित्यत्वात् सदैवाविर्भावतिरोभावापत्तेर्नैवं पक्षः साधीयाँस्तत्राह अन्यथेति । इच्छाशक्तिसहकारेणानुपपत्तिपरिहारः । स्वमते उक्तन्यायेन सर्वेषां हरिरूपत्वादद्वैतश्रुतिरत्र साधिका ।) अन्यथोत्पत्तिपक्षेऽपि दोषस्तुल्यः । उत्पत्ति-

---

टिप्पणी ।

धर्माद्धर्मिसिद्धाविति । अत्रेदं भाति, द्वितीयपक्ष आविर्भवनरूपाद्धर्मादेव घटादेराविर्भावरूपधर्मसिद्धौ सत्यामाविर्भावरूपधर्म एव कारणम् । नन्वस्य धर्मरूपत्वाद्धर्म्याश्रयो वाच्यः । तथा सति घटादेरपि पूर्वं सत्त्वादाविर्भावतिरोभावयोरपि भगवच्छक्तित्वेन नित्यत्वात्सदैवाविर्भावतिरोभावापत्तेर्नैवं पक्षः साधीयांस्तत्राह अन्यथेति । इच्छाशक्तिसहकारेणानुपपत्ति-

आवरणभङ्गः ।

स्वरूपज्ञानस्यैव दौर्घट्यमिति तदपेक्षया शक्तिकल्पनमेव सौकर्याज्ज्यायः । बीजानामप्यभर्जितत्वेनैव रूपेण न कारणता । दावदग्धवेत्रबीजेभ्यः कदलीकाण्डजननस्य भामतीनिबन्धे प्रदर्शितत्वात् । अतस्तत्रापि काचिच्छक्तिर्भर्जनेन नाश्यते, अपरा आधीयत इति मन्तव्यम् । किञ्च, कार्यकारणभावपक्षेऽपि प्रसिद्धरूपातिरिक्तरूपान्तरं तूत्पादविनाशशालि कल्पनीयमेवेति नाम्न्येव कलहः पर्यवस्यति, न तु स्वरूपे इति मुधैवायमाग्रह इति दिक् । एवं सिद्धायां शक्तौ बीजादिपरिणामस्थलेऽपि सैव मन्तव्या । ताश्च सर्वत्र भगवत एव । "मयूराश्चित्रिता येने"त्यादिवाक्यात् । "पराऽस्य शक्तिरि"ति श्रुत्यनुगृहीतत्वाच्च । भगवतैव परं तत्र तत्र कार्यार्थं प्रजायेयेतीच्छया विभज्य स्थापिताः । "विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाती"त्यादिवाक्यात् । तदाहुः तस्मादित्यादि । एवं प्रथमपक्षे कारणत्वं व्यवस्थापितम् । अथ द्वितीयपक्षे कथं मृद्दण्डादिषु घटादिकारणताव्यवहार इत्याकाङ्क्षायामाहुः धर्मादित्यादि । तदिदं व्याकुर्वन्ति प्रभवः अत्रेदमित्यादि । धर्मादिति । भगवद्धर्मात् । कारणमिति । आविर्भावजनकत्वाद्घटादिकारणम्, तथाच दण्डमृदादिषु घटादिकारणत्वव्यवहारो भ्रान्त एव, न तु तात्त्विकः । पदार्थमात्रस्य नित्यत्वादित्यर्थः । एवमनेन पक्षेण साङ्ख्योक्ताविर्भावतिरोभाववादस्याप्यैकदेशिकत्वं बोधितम् । उक्तं दृढीकर्तुं प्रतिवन्दीमवतारयन्ति नन्वित्यादि । मूले । अन्यथेत्यादि । अन्यथा धर्माद्धर्मिसिद्धिमनुपगम्य उत्पत्तिपक्षे धर्मिणोऽप्युत्पत्त्यङ्गीकारे दोषः । उत्पत्तेरुत्पत्त्यन्तरानङ्गीकारात् । तस्याः प्राप्तेर्नित्यत्वे घटादिपदार्थानिर्वाच्यत्वरूपो दोषस्तुल्यः=वादिप्रतिवादिनोः समः । तथाच साम्यादेव न वयं पर्यनुयोगार्हा इत्यर्थः । प्रतिबन्दीं व्युत्पादयन्ति । उत्पत्तिरित्यादि । अयमर्थः । उत्पत्तिर्नाम किं प्रागभाव उत कश्चिद्धर्मः ? । तत्र नाद्यः । तस्य घटपूर्वकालवर्तित्वेन इदानीं घटोत्पत्तिरस्तीति प्रत्ययोऽभिलापश्च

---

[1] अयं ग्रन्थः प्रकाशे नास्ति । श्रीमत्प्रभुचरणैः प्रक्षिप्तः । अत एव ( ) इति चिह्नयोरस्माभिरपि पार्थक्येन प्रदर्शितः ।

नाम कश्चन धर्मः । स कस्मिन् धर्मिणि भवेदिति । अनवस्था च स्यात् । कालसम्बन्धोऽपि धर्मः । अतो यः कश्चिन्निरुच्यतां, सोऽवश्यं धर्म एव भवतीति धर्मी पूर्वसिद्धो वक्तव्यः । घटो भवतीति कर्तरि प्रयोगश्चानुपपन्नः स्यात् ।

टिप्पणी ।

परिहारः स्वमते । उक्तन्यायेन सर्वेषां हरिरूपत्वादद्वैतश्रुतिरत्र साधिका । स कस्मिन्नित्यारभ्य वक्तव्य इत्यन्ते । उत्पत्तिधर्मस्य नित्यत्वेऽनित्यत्वे वा घटादेरभावात्कस्मिन् धर्मिणि स भवेत् ? उत्पत्तिस्वीकारे । तत्रानुत्पत्तावुत्पत्तिस्वीकारेऽनवस्था स्यात्; आद्यक्षणसम्बन्धस्योत्पत्तित्वेऽपि तस्य धर्मत्वादाधारकत्वेन धर्मी पूर्वं सिद्धो वक्तव्य इत्यर्थः । घट इति । भवनक्रियां प्रति घटस्य

आवरणभङ्गः ।

स्यात् । कोशादौ तयोः पर्यायता चोच्येत । द्वितीयश्चेत्तस्य साधारत्वनियमादुत्पत्तिदशायामपि धर्मी वाच्य एव । अन्यथा स कस्मिन् धर्मिणि भवेत् ? । नच यथा दश दिनानि व्यतीयुः, षड्भिरहोभिर्गन्तासीत्यादौ भूतभाविषु दिवसेष्वसत्स्वपि दशत्वषट्त्वसङ्ख्यारूपो धर्म उपेयते, तथोत्पत्तिरप्यनुत्पन्नघटाद्याधाराऽभ्युपेयेति वाच्यम् । तेषामपि कालचक्रे सूर्यपरिस्पन्दवशेन तत्तद्वत्सरर्तुमासपक्षगततया पुनः पुनः परिवर्तमानानां सतामेव संस्कारादिनोपनये तत्रापेक्षाबुद्ध्या सङ्ख्याकल्पनस्य शक्यत्वेऽप्युत्पत्तेरकाल्पनिकत्वेनात्र तथा वक्तुमशक्यत्वात् । अथ तत्रापेक्षाबुद्ध्या सङ्ख्या जन्यत एव, न कल्प्यत इति चेत्, न; समवायिनं विना केवलनिमित्तेन कार्यजननस्य क्वाप्यसिद्धत्वेनात्र तथा वक्तुमशक्यत्वात् । चिन्तामण्यादौ निरुपादानकदधिवसनसुवर्णादिजननं सिद्धमिति चेत्, न; अविक्रियमाणानां तेषामेवोपादानत्वात् । योगिवत् सामर्थ्यविशेषेण दध्यादिजनकभूतमेदाकर्षणस्य तत्र वक्तुं शक्यत्वाच्च । अनुपादानकसृष्ट्यङ्गीकारे, समवाय्यसमवायिनिमित्तजन्यत्वं सर्वस्येति नैयायिकादिसिद्धान्तहानेश्च । किञ्च, जन्यत इति पक्षेऽपि सङ्ख्यादिवदुत्पत्तेरपि उत्पत्तिः स्वीकार्या । एवं सति निष्प्रमाणकानवस्थापत्तिस्तत्तत्कारणादिकल्पनागौरवप्रासश्च । उत्पत्तिर्जातेत्यादिप्रत्ययानवरोधादुत्पत्तेरुत्पत्तिमङ्गीकृत्य विशेषाणां स्वतो व्यावर्तकत्ववत् परिसमाप्तौ तु तावतैव निर्वाहाद्धर्मिण उत्पत्त्यङ्गीकारेऽजागलस्तनप्रायं एव । अनेकतत्प्रागभावध्वंसादिकल्पनाग्रस्तं चेत्यनादरणीय एव । एवमेव वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वमुत्पत्तिरित्यप्यसङ्गतम् । प्रागभावस्य पूर्वं दूषितत्वेन तस्यैवाभात् । प्रतियोगित्वस्य स्वरूपसम्बन्धविशेषत्वेन स्वरूपद्वयात्मकत्वात् । घटस्वरूपस्य तदानीमभावेन तस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च । ननु भाविनीं सत्तामादाय तत्र प्रतियोगित्वमुच्यत इति चेत् । न । धर्मिणस्तदानीमसत्त्वेन भाविन्याः सत्ताया अनिश्चयात्, तथा वक्तुमशक्यत्वात् । सूक्ष्मरूपेण वर्तमानामेव सत्तामादायोच्यत इत्यस्यापि वक्तुमशक्यत्वाच्च । नापि प्रथमसमयवर्ति भावविकारत्वं तत् । तस्य कालनिष्ठत्वे उत्पद्यते काल इति प्रतीत्यापत्तेः । भावनिष्ठत्वे तस्य भावस्यापि तदानीं सत्त्वापातेन घटकुट्टीप्रभातात् । आद्यक्षणसम्बन्धः सेति चेत्तदापि सम्बन्धघटकतया घटादिसत्ता आवश्यिकैव । तदेतद्धृदि कृत्वोक्तम् अतो यः कश्चिन्निरुच्यतामित्यादि । एवमुत्पत्तेः पूर्वं धर्मिसत्तां साधयित्वा प्रतिबन्देरनुत्तरत्वाद्धर्मिनित्यत्वसाधनाया नित्यत्वबाधकं तर्कमाहुः घटो भवतीत्यादि । अत्रापादकमनुक्तमेव सिद्ध्यतीति यदि घटः सदा सन्न स्यादिति कण्ठतो नोक्तम् । क्रियाश्रयत्वस्य कर्तृत्वेन भवनक्रियाश्रये

भू सत्तायामिति धात्वर्थश्चासङ्गतः स्यात्। अनुत्पन्नो घटो, नष्टो घट इति व्यवहारश्चासङ्गतः स्यात्। अतो धर्मी सदातनो वक्तव्यः। स भगवानेव भवति, नान्य इति। अद्वैतश्रुतेश्च धर्मिणा भगवत्त्वमङ्गीकर्तव्यम्। तदनु धर्माणामपि तेनैव न्यायेन भगवत्त्वं सेत्स्यति।

टिप्पणी।

कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात्कारणत्वेन पूर्वसत्त्वं वाच्यमित्यर्थः। **भू सत्तायामिति**। उत्पत्तावुच्यमानायां धातुपाठोक्तसत्तारूपार्थत्यागप्रसङ्गाद्घटो भवतीत्यत्र धातुपाठानुरोधाद्विद्यमानत्वमेव वाच्यम्, नोत्पत्तिरित्यर्थः। **अनुत्पन्न इति**। घटाभावेऽनुत्पन्नत्वं किम्वृत्तितया ग्राह्यमित्यर्थः। **अद्वैतश्रुतेरिति**। "एकमेवाद्वयं ब्रह्मे"त्यादेः। **सर्वश्रुतेः**। "पुरुष एवेदꣳसर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्", "स वै सर्वमिदं जगत् स भूतꣳ स भाव्यम्", "ऐतदात्म्यमिदं सर्व"मित्यादेः। **तदन्विति**। धर्मिण इव रूपादीनामपि पाकेन रक्तो भविष्यति रसो भावीत्यादिप्रत्यक्षात्पूर्वोक्तश्रुतेश्च नित्यत्वं भगवत्त्वं च

आवरणभङ्गः।

घट एव आख्याताभिहितलडर्थकालस्य समानपदोपात्तत्वेनान्वयात् तदानीं घटानङ्गीकारे तदनन्वयापत्त्याऽनुपपन्नः स्यादित्यर्थः। नच कालान्वयस्य समानपदोपात्ते व्यापारेऽपि शक्यवचनत्वान्नानुपपत्तिः प्रयोगस्येति वाच्यम्। एवमप्याश्रयवर्तमानत्वमन्तरेण व्यापारवर्तमानताया अनुपपद्यमानत्वेन घटसत्ताया अनुक्तसिद्धत्वात्। पदान्तरोपात्तफलान्वयपक्षेऽपि सत्तारूपस्य फलस्य धर्मत्वेन धर्मिणं विना तदसिद्ध्या तदा धर्मिसत्ताया अर्थादेव सिद्धेः। नचैवं सत्युत्पन्नेऽपि घटे उत्पद्यत इति प्रयोगापत्तिः कालान्वितस्य कर्तुः सत्त्वादिति वाच्यम्। फलं द्वारीकृत्यैवान्वयाङ्गीकारादुत्पत्तिरूपे फले तिरोहिते द्वाराभावेन कालान्वयाभावात्तादृशप्रयोगाभावस्यानायासेन सिद्धेः। ननु घटो भवतीत्यादौ भवतिरुत्पत्त्यर्थक इति चेत् तत्राहुः **भू सत्तायामित्यादि**। फलितमाहुः **अत इत्यादि**। **सर्वश्रुतेरिति**। "इदं सर्वं यदयमात्मा", "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यादिश्रुतेः। तथाचैवं श्रुत्यनुकूलाभिर्युक्तिभिर्धर्मिनित्यत्वे सिद्धे प्रतिबन्देरप्यत्रोत्तरत्वमेवेत्यर्थः। ननु भवतु धर्मी सदातनस्तथापि व्यवहारसिद्ध्यर्थं धर्माद्धर्मिसिद्धिस्त्वङ्गीकृतैवेति धर्मस्योत्पत्त्यादिभिरनित्यत्वेनाभगवत्त्वात् सर्वश्रुतिपीडा तु नापैतीत्यत आहुः **तदन्वित्यादि**। अयमर्थः। निमित्तकारणत्वेनाभिमतेषु कार्यत्वेनाभिमतस्याविर्भाविका या भगवच्छक्तिस्तया समवायित्वेनाभिमते दुर्ज्ञेयरूपेण विद्यमानमेव कार्यमाविर्भाव्यते। स आविर्भाव उत्पत्तिरित्युच्यते। तत्संसर्गेण कार्यस्योत्पत्तिमत्त्वम्। तत्र निमित्तसामग्रीकोटिप्रविष्टस्य क्षणाख्यस्य कालावयवस्य सूर्यपरिस्पन्दान्तरेण तिरोभावे तद्विशिष्टा उत्पत्तिरपि विशेषणतिरोभावात्तिरोहितेति उत्पन्ने कार्ये उत्पद्यते इति न व्यवहारः। सूर्यपरिस्पन्दतिरोभावश्चेश्वरेच्छामर्यादया। "भीषोदेति सूर्य" इत्यादिश्रुतेः। तस्या अपि यद्यपि नित्यत्वं तथापि तदाकारः श्रुत्यविरोधेन तथा तथा कार्यबलात् कल्प्यः। स एव विद्वन्मण्डने प्रदर्शित इति न व्यवहारानुपपत्तिर्न वा धर्मानित्यता। द्वितीयपक्षे तु, वक्ष्यमाणरीतिकभगवदिच्छयैव तथा। तदेतदुक्तं धर्माणामपि तेनैव न्यायेन भगवत्त्वं सेत्स्यतीति। तथाच न सर्वश्रुतिपीडेत्यर्थः। एतदेव, शक्तिसहकारेणेत्यादिना प्रभुभिर्बोधितम्। इच्छाशक्तिसहकारेणेत्यर्थः। एवञ्च प्रथमसमयमात्र-

अतो भ्रान्तानां बालानां विचारसामर्थ्याभावाच्छब्दार्थवुल्लङ्घ्योत्पत्त्यादिनिरूपणं न दूषयामः। सुरवैरिण इति। सुरो दैत्यः पापात्मकस्तन्निवर्तनार्थमाविर्भावो भगवतः। तथा सर्वत्र सर्ववस्तुस्वरूपेण तदनुद्गमे प्राप्तदोषपरिहारार्थं तदुद्गम इति सूचितम्। दुःखं तु निर्वृत्यभाव इति तिरोभावफलत्वान्न व्यभिचारः। एवं सति सर्वसाधनवैयर्थ्य-माशङ्क्य शक्तिद्वयस्य तदधीनत्वं वक्तुमादित आरभ्य निरूपयति। भक्त्या त्वाद्य

टिप्पणी।

सेत्स्यतीत्यर्थः। शब्दार्थाविति। शब्दो वेदः अर्थो व्याकरणादिनिरूप्यः। सर्ववस्तुस्वरूपेणेति। सर्वत्र भगवदस्फूर्तौ प्रतिबन्धपरिहारार्थं भक्त्या भगवान् सर्वत्र स्फुरतीत्यर्थः। दुःखं त्विति। सच्चिदानन्दरूपब्रह्मात्मके जगति दुःखपदार्थाभावाद्भगवति तिरोभावात्सुखतिरोधाने भारापगमे दुःखाभावे सुखाभिमानवत्सुखाभाव एव दुःखव्यवहार इति प्रपञ्चत्वस्य न सच्चिदानन्दात्मकत्वव्यभिचार इत्यर्थः। एवमिति। आविर्भावतिरोभावपक्षे प्रसक्तसाधनेन दोषपरिहारायाविर्भावतिरोभावयोर्भगवदधीनत्वं वक्तुं भगवत आरभ्य सर्वेषामाविर्भावतिरोभावौ निरूपयन्तीत्यर्थः॥ १४०॥

आवरणभङ्गः।

संसर्गी भावविकार उत्पत्तिरिति पक्षो निरस्तः। तेन गौडवार्त्तिकोक्ताः सत्कार्यवाददोषा अपि विकारानङ्गीकारादेव परिहृताः। अत एव च श्रुतिर्विकारस्य वाचारम्भणतां वक्ति, न तु वस्तुनो मिथ्यात्वम्। तथा प्रतीत्यभावोऽन्यथाप्रतीतिश्चाविद्यावलेपादिति न काचित् तदनुपपत्तिः। तदेतद्धृदि कृत्वाऽऽहुः **अतो भ्रान्तानामित्यादि**। भ्रान्ताः श्रुतिसंसर्गरहिता नैयायिकाद्याः। बालाः, श्रुतिमनुसरन्तोऽपि तात्पर्यज्ञानरहिता मायावादिप्रभृतयः। आद्याः शब्दोल्लङ्घनकर्तारः। द्वितीया अर्थस्य। अतो न दूषयाम इत्युपहासः। आविर्भावे प्रयोजनमाहुः **सुरेत्यादि**। **सर्ववस्तुस्वरूपेणेति**। विद्यमानस्येति शेषः। **तदुद्गम इति**। तेन तेन प्रतिनियतस्वरूपेण दर्शनविषयत्वयोग्यतेत्यर्थः। नन्वेवमपि सर्वश्रुतिविरोधो नापैति। भगवत आनन्दरूपत्वेन दुःखे व्यभिचारादित्यत आहुः **दुःखं त्वित्यादि**। तथाच यथा आविर्भावस्य फलं निर्वृतिस्तथा तिरोभावस्य फलं निर्वृतितिरोभाव इति तेन रूपेण तस्यापि भगवदभिन्नत्वान्न भगवत्त्वव्यभिचार इत्यर्थः। एवं सर्वस्य पदार्थजातस्य वास्तवं स्वरूपं सोपपत्तिकं निरूपितम्। **एवं सतीत्यादि**। एवं सति यथा भगवतस्तत्तदभावजदोषनिवृत्त्यर्थं प्रणाड्या अरण्यानीषु नानाऽनोकहादिकार्यरूपेणाविर्भाव एवं दुःखनिवृत्त्यर्थमपि कयाचित् प्रणाड्या मूलरूपेणाप्याविर्भावस्य शक्यवचनत्वे सति सर्वसाधनवैयर्थ्यमाशङ्क्य दोषाभावार्थं बुद्धिपूर्वकं तत्साधनानां कर्मज्ञानभक्तिप्रभृतीनां वैयर्थ्यं, जलाहरणाद्यर्थं च बुद्धिपूर्वं घटादिग्रहस्यापि वैयर्थ्यमिति शास्त्रेऽपि तन्नोपदिश्येत; लोकेऽपि तत्तथा न गृह्येतेति नायं पक्षः साधीयानित्याशङ्क्य **शक्तिद्वयस्य** आविर्भावकतिरोभावकशक्त्योराविर्भावतिरोभावयोश्च **तदधीनत्वं** भगवदधीनत्वं **वक्तुम्, आदित आरभ्य** भगवदाविर्भावादिकं पूर्वावधीकृत्य अन्त्यावयविपर्यन्तमाविर्भावतिरोभावौ **निरूपयति** सार्द्धद्वयेन समादधानः कथयतीत्यर्थः। तत्र पूर्वं मूलरूपाविर्भावतिरोभावयोः प्रणाडीमाहुः **भक्त्येत्यादि**।

इति। भक्त्यैव भगवानाविर्भवति। तच्च यस्य भक्त्याविर्भावः सा भक्तिर्यादृशी देशकालयुक्ता तत्तिरोभावे तिरोभवति, न त्ववतारेष्वप्यन्यः प्रकार इत्यर्थः ॥ १४० ॥

अन्येष्वाह—

सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः।
वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः ॥ १४१ ॥
मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्।
मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तदा।
तिरोभावस्तथैव स्याद् रूपान्तरविभेदतः ॥ १४२ ॥

सर्वाकारस्वरूपेणेति। तत्तदाकारस्वरूपेण घटपटाद्याकारेण यस्मिन् देशे येन प्रकारेण येन साधनेन यथाऽऽविर्भावेच्छा तथा सर्वं सम्पाद्याविर्भवतीत्यर्थः। तत्र निदर्शनमाह मृदादीति। मृदि घटादयो यावन्तो भविष्यन्ति ते सर्वे कारणत्वेन वर्तन्त इत्यङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथा, ततः प्रादुर्भावो नोपपद्येत। ततः सामर्थ्यं भगवत्त्वेन सङ्गच्छते। अतो मृदादिकं भगवद्रूपमेव। घटादिकार्यं च तत्रैव लीनं तिष्ठति। तदपि भगवद्रूपं

टिप्पणी।

कारणत्वेनेति। कारणरूपेणेत्यर्थः। तत्रेति। भगवतीत्यर्थः ॥ १४२ ॥

आवरणभङ्गः।

एवकारेण द्वारान्तरं निराक्रियते। "भक्त्याहमेकया ग्राह्य" इति, "भक्त्या मामभिजानाती"ति। किं बहुना एकादशस्कन्धे स्वाविर्भावो भक्त्यैव तत्र तत्र प्रतिपादितः। तर्हि भक्त्या आविर्भूतः कुतः सर्वदा न तिष्ठतीत्याकाङ्क्षायां तत्रापि विशेषं फलबलेनाहुः तच्चेत्यादि। तच्चेत्याविर्भवनम्। तथाच भगवति प्राकट्यरूपैवाविर्भावशक्तिरिति न कालतिरोभावे तस्यास्तिरोभावः, किन्तु भक्त्यैवेति तस्या विशेषणवैसादृश्ये बहिस्तिरोभवति, हृद्येव प्रकटो भवति। चेतसो वृत्त्यन्तरे जाते भक्तिः संस्कारात् सूक्ष्मरूपेण तिष्ठति तदा ततस्तिरोभवतीत्यर्थः। इदमेव पञ्चाध्याय्याम्—"आत्मा यावत्प्रपन्नोऽभूदि"ति कारिकया निरूपितं ज्ञेयम्। नन्ववतारेषु कालेनाविस्तिरोभावौ दृश्येते इति नायं नियम इत्याकाङ्क्षायामुक्तस्य तात्पर्यकथनमुखेनाहुः न त्वित्यादि। तथाच धर्मग्लानिनिवृत्तये असुरहतयेऽपि कार्यान्तरायापि यदा प्रादुर्भावस्तदापि वचनान्तरबलेन भक्तिरेवाभिव्यञ्जिकाऽवधेया, यथा, भगवतो नृकेसरिणः प्रादुर्भावे प्रह्लादस्य। अत एवोद्धवैः, "स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा। परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निरि"त्यत्र प्रपन्नेऽर्पिता कृपैवावतारहेतुत्वेनोक्तेत्याद्यनुसन्धेयम्। तथाचासुरव्यामोहेऽपि भूमिमातृत्रिविधभक्तनिष्ठभक्तितिरोभाव एव हेतुरित्यपि बोध्यम् ॥ १४० ॥

एवं मूलरूपाद्याविर्भावतिरोभावौ समर्थयित्वा कार्यरूपस्य तौ वक्तुमाहुः अन्येष्वित्यादि। अर्थो निगदव्याख्यात एव। साधनकोटावदृष्टादेरपि प्रवेशेन जीवाविर्भावतिरोभावावप्युक्तप्रायौ ज्ञेयौ। उपादानानुगतां शक्तिमुपादेयेऽपि बोधयितुं तादात्म्यसम्बन्धेन कार्यान्तरानाधारकत्वमेव कार्यस्योत्तरावधित्वप्रयोजकं रूपमिति बोधयितुं चाहुः तत्रेत्यादि। अर्थस्तु स्पष्ट एव।

प्रपञ्चस्थानीयम्। ततः किमत आह मूलेच्छात इति। पुरुषोत्तमेच्छातः। तथा तयैवानुपूर्व्या कार्यरूपहरेरेव प्रादुर्भाव इत्यर्थः। यथा नटः सहस्राणि रूपाणि गृह्णाति क्रमशस्तथात्रापि कटकमुकुटादयः। एवमाविर्भावं निरूप्य तिरोभावं निरूपयति तिरोभाव इति। तिरोभविष्यामीति या इच्छा यथा येन तथा तत्र तिरोभवति, परं तत्र रूपान्तराविर्भावावश्यकत्वम्। इयानेव भगवतः सकाशात् प्रपञ्चे विशेषः। तत्र तिरोभावेन रूपान्तराविर्भावः। दाहशोपादावपि रूपान्तरमिति मतम्। अथवा सर्वथा भगवता तुल्यता। वक्ष्यति चाग्रे—"अखण्डं कृष्णवत्सर्वमि"ति ॥१४१॥१४२॥

वृद्ध्यादीनां स्वरूपमाह—

वृद्धिर्विपरिणामश्च तथाऽपक्षय एव च।
पूर्वरूपतिरोभावो द्वितीयस्यादिमस्तथा ॥ १४३ ॥
उभावेकीकृतौ लोके वृद्ध्यादिभिरुदीरितौ।
परिमाणाधिक्यतश्च वैजात्यान्न्यूनभावतः ॥ १४४ ॥
मनश्चान्नमयं वेदे तदस्माकमथापि वा।
पोषितत्वात्तदन्नेन तद्रूपेणोपवर्ण्यते ॥ १४५ ॥

आवरणभङ्गः।

यथेत्यादि। एतेन, "अज्ञानं नटवद् ब्रह्मकारणं शङ्करोऽब्रवीदि"ति। कल्पतरूक्तमनुमतं ज्ञेयम्। तिर इत्यादि। तथाच तिरोभविष्यामीति मूलेच्छया कार्यनाशकत्वेनाऽभिमतेषु कार्यतिरोभाविका भगवच्छक्तिस्तया बहिःस्थितं कार्यं कारणेऽन्तर्भाव्यते स तिरोभावे नाशादिशब्दैरुच्यते। तत्संसर्गेण कार्यस्य नश्वरत्वम्। तत्र नाशकसामग्रीकोटौ प्रविष्टस्य क्षणस्य तिरोभावो तद्विशिष्टो नाशोऽपि तिरोहित इति न नष्टे नश्यतीति व्यवहारः। वस्तुनि विकाराऽनङ्गीकारादेव निवृत्तेश्चरमसमयसंसर्गिभावविकारत्वम्। शेषं पूर्ववदेव। ध्वंसस्याभावत्वं तु पूर्वमेव निरस्तम्। कार्यस्य लोके पुनरुन्मज्जनाभावस्तु तथेच्छाभावात्। तस्यां सत्यां पुनरुन्मज्जनमपि। आश्रमवासिके तथोक्तेः। तदेतद्विद्वन्मण्डने विस्तृतमिति न कोऽपि शङ्कालेशः। कार्यभगवत्तिरोभावयोर्विशेषं वक्तुमाहुः परमित्यादि। नियमव्यभिचारमाशङ्क्याऽऽहुः दाहेत्यादि। एवञ्च, यथा, "अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः। नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधे"त्याविर्भावशक्तिस्त्रिविधा, तथा नाशनिर्गमाप्राकट्यभेदेन तिरोभावशक्तिरपि त्रिविधा। तत्र जडे कालभेदेन त्रिविधे अपि द्वे, जीवे समागमोऽन्तःप्राकट्यं, निर्गमो बहिरप्राकट्यमिति देशभेदेन द्विविधे द्वे, भगवति त्वेकविधे द्वे इति ज्ञेयम्। न तु विरुद्धधर्माश्रयत्ववदुच्चरोत्तरं ह्रासः। तस्याकारः कमलमुकुलवत्। अनयोस्तु तरुवज्ज्ञेयः। दाहादौ रूपान्तरादर्शनादरुच्या धर्माद् धर्मिसिद्धिपक्षं हृदि कृत्वा पक्षान्तरमाऽऽहुः अथवेत्यादि ॥ १४१–१४२ ॥

ननु कार्यस्य सर्वथा भगवत्तुल्यत्वं चेत् तत्र भावविकाराः कथं दृश्यन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः वृद्ध्यादीनामित्यादि। ननु षट्सु विकारेषु द्वयोः परिहारेऽपि दृश्यमानरूपेण सत्ता अस्ति,

वृद्धिरिति, द्वाभ्याम् । वृद्धावग्रिमरूपं परिमाणतोऽधिकम् । अपक्षये न्यूनम् । विपरिणामे विजातीयमिति विशेषः । एवं कार्यरूपं निरूप्य वेदविरोधपरिहारार्थमाह मनश्चान्नमयमिति । "अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वागि"ति श्रुतेः । अत्र चाहङ्कारकार्यत्वेन मनो निरूपितम् । तत्र सिद्धान्तद्वयं वेदनिरूपणप्रकारादवगम्यते । तदाह तदस्माकमिति । अथवा पञ्चदशोपवासाः कारिता इति । अन्नेन पोषणमेवाभिप्रेतम् ॥ १४३–१४५ ॥

टिप्पणी ।

अथवेति । एकादशेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि, तत्राकाशं विहाय वाय्वन्ताः पञ्चदशैते, उप समीपे वासो येषामित्युपवासाः सन्निहिताः सम्भूय स्वकार्यक्षमा अन्नेन कारिता इत्यर्थः ॥ १४५॥

आवरणभङ्गः ।

सजातीयप्रवाहोत्पत्तिर्वृद्धिः, प्रवाहवैजात्यं विपरिणामः, सजातीयप्रवाहनाशोऽपक्षय इति शेषाणां विद्यमानत्वात् कथं प्रपञ्चस्य प्रापञ्चिकानां च भगवद्रूपता भविष्यतीत्याकाङ्क्षायां वृद्ध्यादीनां स्वरूपमाहेत्यर्थः । वृद्धावित्यादि । तथाच परिमाणाधिक्यप्रयुक्तौ पूर्वस्वरूपतिरोभावद्वितीयाविर्भावौ वृद्धिः । तन्न्यूनत्वप्रयुक्तौ तावपक्षयः । वैजात्यप्रयुक्तौ तौ विपरिणामः । यथा वृक्षसमुदाये वनमिति व्यपदेशो, न तु वृक्षातिरिक्तं वनम् । यथाच सप्तपदार्था इत्यत्र भावाभावसमुदायः पदार्थपदवाच्यस्तथा वृद्ध्यादिपदैस्तावप्युच्येते इति वृद्ध्यादीनामाविर्भावाद्यभिन्नत्वान्न तैः प्रपञ्चस्य भगवद्रूपत्वादिहानिः । सत्तायास्त्वाविर्भावात्मकत्वमेवेति, तयापि न तथात्वमिति । प्रपञ्चादेर्भगवत्तुल्यत्वाद् भगवद्रूपत्वं निराबाधमित्यर्थः । एवं पञ्चानां विकारत्वे निराकृते विशिष्टायाः केवलायाः सत्ताया अपि न विकारत्वं, भगवदतिरेकाभावादिति निर्विकारतया भगवदभिन्नत्वमधीनतया कार्यत्वं च साधितम् । तेन, "प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपः" इत्यादिना पूर्वप्रकरणे उत्पत्त्या निरूपितः शास्त्रार्थोऽस्मिन् प्रकरणे सर्वस्य प्रमेयस्य उपपत्त्या भगवत्त्वकार्यत्वयोः समर्थनेनासम्भावनाविपरीतभावनानिरासाद् दृढीकृतः । वेदादीनां भगवन्माहात्म्यनिरूपणद्वारा भगवत्परत्वमिति च । वेदविरोधमिति । कस्मिंश्चिदंशे वेदविरोधमित्यर्थः । वेदनिरूपणप्रकारादिति । साक्षात्सृष्टिप्रकारेषु "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे"ति श्रुतौ मनसो भिन्नरीत्योत्पत्तिकथनेन, छान्दोग्ये च, "यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीही"ति प्रतिज्ञायाऽन्नमयत्वकथनेन च प्रकारभेदादित्यर्थः । तदस्माकमिति । तथाचाहङ्कारिकव्यतिरिक्तं यदस्मदादिमनस्तदेवान्नमयमिति सिध्यतीत्यर्थः । अस्मदादिमनसोऽन्नमयत्वे मासाद्युपवासिनां निरन्नानाममनस्कतैव स्यादित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवा पञ्चदशेत्यादि । "षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माऽशीः काममपः पिबाऽऽपोमयः प्राणः पिबतो न विच्छेत्स्यत इत्याद्युक्त्वा आरुणिना श्वेतकेतोः कारिता इति तथेत्यर्थः । अत एव काण्डिकासमाप्तौ "यथा सोम्य

एवं सर्वत्र प्रकारभेदे समाधानमतिदिशति—

एवं सृष्टिप्रभेदेषु कल्पेषु च तथैव च ।
प्रकारभेदा दोषाय न भवन्ति तदिच्छया ॥ १४६ ॥

एवमिति । अनेकधा भगवान् कार्यं करोतीति सृष्टिभेदानामुक्तत्वात् तथा वा समाधानम् ॥ १४६ ॥

एवं प्रमेयं निरूप्य प्रत्यक्षबाधनिराकरणार्थं लौकिकप्रत्यक्षादेरप्रमाणत्वमाह—

इन्द्रियाणां प्रमाणत्वं सत्त्वयोगान्न चान्यथा ।
सत्त्वस्य तारतम्येन याथार्थ्यं वस्तुनः स्फुरेत् ।
अतः प्रमाणगणना लोकेषु न विचार्यते ॥ १४७ ॥

इन्द्रियाणामिति । सत्त्वसहिता बुद्धिः प्रमाणम् । सत्त्वप्रवृद्धावन्तःकरणं प्रमितिं जनयति । "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानमि"ति । अन्यथा सत्त्वलये सैव सामग्री भ्रमं जनयति । अतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सत्त्वमेव प्रमाणम् । तत्कार्यमेव प्रामाणिकम् । रजस्तु व्यावहारिकम् । तमस्त्वप्रमाणमेव । अतोऽन्यमिश्रणे तारतम्येन वस्तुयाथात्म्यस्फुर-

---

टिप्पणी ।

सत्त्वसहितेत्यारभ्य कृतेत्यन्ते । "सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते । ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत । सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च । प्रमादमोहौ तमसो भवतो लोभ एव च । यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी । अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता । सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी", "सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् । गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः" इत्यादिवाक्यैः सत्त्वगुणस्य प्रमाजनकत्वम्, रजोगुणस्य आवरणभङ्गः ।
महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तत् तृणैरुपसमाधाय प्रज्वालयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेदेवं सोम्य षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाऽभूत् साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवसी"त्युक्तम् । एतेनैव प्राणवाचावपि व्याख्यातौ ज्ञेयौ । तृतीयं समाधानप्रकारमाहुः अनेकधेत्यादि । तथाच नात्र श्रुतिविरोधगन्धोऽपीत्यर्थः ॥ १४३—१४५ ॥

प्रत्यक्षबाधनिराकरणार्थमिति । यथा तन्त्रान्तरे पञ्चषट्चतुस्त्रिद्व्यादिसङ्ख्याकानि प्रमाणान्यङ्गीक्रियन्ते । तेषां बलाबलं शीघ्रमन्थरगामित्वादिना आद्रियते, प्रत्यक्षस्य सर्वतः प्राबल्यं च, तथाऽत्रापि प्रत्यक्षस्य बलवत्त्वमुपगम्य प्रमाणगणनाऽऽदरणीया । सर्वस्य नित्यत्वादिकं च प्रत्यक्षविरुद्धत्वादनादरणीयमित्याकाङ्क्षायां तस्य दोषत्वनिराकरणार्थमित्यर्थः । प्रमाणत्वे हेतुः सत्त्वप्रवृद्धावित्यादि । व्यावहारिकमिति । व्यवहारोपयोगि । "पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं" "नाना भावानि"ति गीतावाक्यादित्यर्थः । अतोऽन्यमिश्रणेत्यादि । गुणान्तरस्याप्रमाणत्वाद्गुणान्तरमिश्रणे सत्त्वस्योत्तरोत्तरमपकर्षे सति न वस्तुयाथात्म्यस्फुरणं, ज्ञानिवन्नैकरूपा प्रमा, किन्तु रजःसत्त्वानुगृहीतैरिन्द्रि-

णम् । अतो लोके चक्षुषः कदाचित् प्रामाण्यं कदाचिन्नेति व्यवस्थाभावात् लोकेन प्रमाणगणना नैयायिकादिभिरिव नास्माभिः कृता ॥ १४७ ॥

व्यवहारार्थं कर्तव्येति चेन्नेत्याह—

व्यवहारः सन्निपातो गुणानां स च लौकिकः ।
शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्धः प्राणिमात्रस्य सर्वतः ॥ १४८ ॥
तस्य त्रिविधरूपत्वान्नाममात्रेण सा प्रमा ।
तस्माद्वेदादिरेवात्र प्रमाणं तच्च कीर्तितम् ॥ १४९ ॥

व्यवहारः सन्निपात इति । न हि सन्निपातकार्यं प्रामाणिकम् । तर्हि शास्त्रीयमपि सन्निपातकार्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **स च लौकिक** इति । औषधाज्जायमानो भावो न सन्निपातकार्यम् । अतः **शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्ध** एव सन्निपातः । लौकिकत्वं ज्ञापयति **प्राणिमात्रस्य सर्वत** इति । सर्वप्राणिसाधारणो भावो व्यवहारो लौकिक एव । तत्राऽपि सदसद्भेदाः सन्तीत्याह—**तस्य त्रिविधरूपत्वा**दिति । उपसंहरति **तस्मा**दिति । वेदस्यैव, वेदादेरेव प्रामाण्यात्, तदनुसारेणैव प्रमेयस्य निरूपितत्वाल्लौकिकविरोधाभावाच्च सर्वं सुस्थम् ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

टिप्पणी ।

प्रकारांशेऽपि प्रमाजनत्वम् । तमसस्तु भ्रममात्रजनकत्वमिति सत्त्वगुणतारतम्येनैव प्रमातारतम्यान्नासदुक्तेऽर्थे सत्त्वरहितप्रत्यक्षादिभिर्वाधोऽत एव केवलाः प्रत्यक्षादयो लोकानुसारेण नात्र प्रमाणेषु गणिता इत्यर्थः ॥ १४७ ॥

आवरणभङ्गः ।

ग्रैर्व्यावहारिकी प्रमा । रजस्तमोभ्यां सत्त्वोपमर्दे संशयस्तत्रापि तमसो वाहुल्ये भ्रम इत्येवं जाग्रद्वृत्तौ जायन्त इति व्यवस्थाभावात् । एकनियतरूपताऽभावात् । लोकेन लोकानुसरणेन कृतेत्यर्थः ॥ १४७ ॥

व्यवहारः सन्निपात इति । एकादशे पञ्चविंशाध्याये गुणानां केवलानां वृत्तीरुक्त्वा, "सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः । व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियाऽसुभि"रिति कथनात्तथा क्रियमाणस्य व्यवहारस्याप्रामाणिकत्वात्तदर्थमपि नावश्यकीत्यर्थः । तर्हीति । व्यवहारमात्रस्य तथात्व इत्यर्थः । ननु मनोमात्रादिप्रयुक्तत्वं शास्त्रीयेऽपि तुल्यमिति कथं तत्कार्यस्य नाप्रामाण्यमत आहुः औषधादित्यादि । त्रयोदशे भगवता, "अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथे"त्यादिना रजोवेगमोहितमनःकार्यस्यैव तथात्वोक्तेः शास्त्रीयस्य तत्प्रयुक्त्वाभावात्तथेत्यर्थः । तदेतदाहुः लौकिकत्वमित्यादि । "प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठे"त्यादीनां पञ्चविंशाध्यायवाक्यानां तात्पर्यमाहुः तत्रापीत्यादि । एतेन व्यवहारमात्रस्याप्रामाण्यं वदन्तो निरस्ता बोध्याः । मूले, तच्च कीर्तितमिति । पूर्वप्रकरणे शब्द एव प्रमाणमित्यङ्गीकृतम्, तेन तदविरोधि यदेव, तदेव प्रमाणमतो न प्रमाणगणनाभावान्न्यूनतेत्यर्थः ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

वेदस्यापि प्रमेयत्वं वक्तुं प्रपञ्चान्तरमाह—

अपञ्चीकृतरूपं हि सूत्रमात्र हरिः स्वयम् ।
सुषुम्णामार्गतो व्यक्तः शब्दब्रह्म प्रकाशते ॥ १५० ॥

अपञ्चीकृतरूपं हीति । भगवान् पञ्चात्मको रूपप्रपञ्चकर्ता "अधिष्ठानं तथा कर्ते"ति वाक्यात् । कालः, कर्म, स्वभावश्च, माया, भगवांश्चेति । तथा नामप्रपञ्चे नापेक्ष्यते, किन्तु सूत्रमात्रमत्र कारणम् । स एष जीव इति । आसन्यरूपो भगवान् नामप्रपञ्चे

टिप्पणी ।

वेदस्येति । वेदस्य भगवद्रूपत्वं वक्तुं नामप्रपञ्चमाहेत्यर्थः । **किन्त्विति ।** सूत्रं महत्तत्त्वं तत्कार्यपरम्परा प्राणादिरपीश्वरभिन्नत्वाज्जीव एवेत्यर्थः ।

आवरणभङ्गः ।

एवं रूपप्रपञ्चं निरूप्य नामप्रपञ्चनिर्णयार्थं प्रतिजानते **वेदस्याऽपीत्यादि** । बलनिरूपणार्थं वेदस्य प्रमेयत्वं वक्तुमित्यर्थः । मूले, **अपञ्चीकृतरूपमिति** । अपञ्च पञ्च सम्पादितं, न पञ्चीकृतं रूपं येन तादृशं, सूत्रमात्रं महत्तत्त्वे यस्यावतारस्तद् आसन्यरूपमपहतपाप्मत्वात् स्वयं हरिः स्वाभिन्नं तत्स्वरूपं नामप्रपञ्चे कारणमिति शेषः । तदुपपादयितुमाहुः **भगवानित्यादि** । नन्वधिष्ठानमिति गीतावाक्ये शरीरजीवेन्द्रियचेष्टादैवानि सङ्ख्याघटकानि प्रतीयन्त इति अवान्तरसृष्टौ तथाऽस्तु, न तु प्रथमसृष्टावपीति शङ्कायामाहुः **काल इत्यादि** । गीतावाक्येऽधिष्ठानं शरीरम् । आदिसृष्टौ माया । कर्ता जीवः, तत्स्थाने भगवान् । करणमिन्द्रियम्, तत्स्थाने कर्म । चेष्टाः कर्माणि, तत्स्थाने स्वभावः । तृतीयस्कन्धे उनत्रिंशे, "दैवं कर्मविचेष्टितमि"त्यत्र विविधचेष्टायुक्तत्वेन स्वभावस्य व्याख्यानात् । दैवं कालः, देवसम्बन्धित्वात्, एषा रूपप्रपञ्चव्यवस्थेत्यर्थः । तद्वैलक्षण्यं नामप्रपञ्च आहुः **तथेत्यादि** । तत्र प्रमाणमेकादशस्कन्धीयद्वादशाध्यायस्थभगवद्वाक्यमाहुः **स एष जीव इति** । "स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः । मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः । यथाऽनलः खेऽनिलबिन्दुरूष्मा बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः । अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी"ति द्वाभ्यां सर्वोऽपि नामप्रपञ्च उत्पत्त्या निरूपितः । तत्र घोषेण हृदयाकाशं प्रविष्टस्य जीवस्य सृष्टीच्छावशगस्य हरेर्मनोमयसूक्ष्मरूपभवनद्वारा मात्रास्वरादिस्थूलवर्णात्मकतायां प्रलयविशेषेण स्थानविशेषाच्च वह्निदृष्टान्तेन वैखरीत्वमुक्तम् । जीवपदं चात्र जीवस्य मुख्योपाधिभूतो य आसन्यः सूत्रात्मा प्राणस्तत्परम् । "वायुर्वै गोतम तत्सूत्रं वायुना वै गोतमसूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ती"ति श्रुतौ तथा निर्णयात् । "सूत्रं महान्तमिति प्रवदन्ति जीवमि"ति पिप्पलायनवाक्यसुबोधिन्यां च तथोक्तेः । एकविंशाध्याये च, "शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् । अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् । मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणाऽनन्तशक्तिना । भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते । यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् । आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्श-

हेतुरित्यर्थः । तस्य सृष्टिप्रकारमाह । सुषुम्णामार्गेत इति । तस्य व्यक्तस्यापि ब्रह्मत्वमित्याह । शब्दब्रह्म प्रकाशत इति ॥ १५० ॥

तस्यांशानामपि पूर्णतेत्याह—

पञ्चाशद्वर्णरूपश्च सूक्ष्मो नित्यो निरन्तरः ।
सर्वतोऽन्तोऽनन्तरूपो बहुरूपः स्वभेदतः ॥ १५१ ॥

पञ्चाशद्वर्णरूपश्चेति । षोडश स्वराः, स्पर्शाः पञ्चविंशतिः । यादयोऽष्टौ । क्षकारोऽन्तिमः । सन्ध्यक्षरत्वेऽपि पृथगुपादानं भिन्नश्रुत्या । ज्ञाक्षरस्याप्युपलक्षकः । अत्रावान्तरभेदा बहवः सन्ति । क्वचिच्चतुःषष्टिर्वर्णाः, क्वचित् त्रिषष्टिः, क्वचिदेकपञ्चाशद्,

---

टिप्पणी ।

सुषुम्णा । नाडीविशेषः ॥ १५० ॥

अत्रेति । "त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः" इत्यारभ्य शिक्षायामुक्तत्वादित्यर्थः ॥ १५१ ॥

आवरणभङ्गः ।

रूपिणा । छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः । ॐकारव्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषितम् । विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः । अनन्तपरां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयमि"ति सन्दर्भे च घोषवतः प्राणस्य ॐकारद्वारा स्पर्शादिभूषितवाणीस्रष्टृत्वकथनाच्च । एवं सति तृतीयसुबोधिन्युक्तदिशा प्रकाशरूपस्याविर्भूतस्याविकृतस्य भगवद्गुणरूपज्ञानस्यैव उक्तरूपेण वेदशरीरग्रहणमानन्त्यं विराज इव । ततः शब्दशरीरविशिष्टस्य तस्यैव बीजतायां व्यष्टिरूपविकृतनानावाक्योत्पादकत्वमित्यतो न शङ्कांशः कोऽपि । सुषुम्णामार्गेत इति । स एष इति वाक्यस्थविवरपदस्यार्थोऽयम् । तस्य व्यक्तस्येत्यादि । "मे व्यक्तिरि"त्युपसंहारात् । "शब्दब्रह्म सुदुर्बोधमि"ति कथनाच्च तथेत्यर्थः । तथाच सूत्रमात्रो भगवानेव व्यक्तः सन् शब्दब्रह्मात्मा वेदरूप इत्यर्थः । तेन प्रमाणमूर्द्धन्यत्वं सिद्ध्यति । एतद्व्यक्तिमार्गस्य ब्रह्मपथत्वज्ञापनाय सुषुम्णापदम् ॥ १५० ॥

तस्यांशेत्यादि । ब्रह्मत्वदृढीकरणाय विशेषान्तरम् । एतत्सङ्ख्यापूरणार्थमवान्तरोपाधीनाहुः षोडशेत्यादि । अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः—इत्येवं स्वराणां षोडशत्वम् । शेषं स्फुटम् । बहव इति । अनुनासिकादिभेदैर्बहव इत्यर्थः । चकारसूचितं पक्षान्तरमाहुः क्वचिदित्यादि । आद्यौ शिक्षायामुक्तौ । "त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भूमते मताः । प्राकृते संस्कृते चापि स्वयम्प्रोक्ताः स्वयम्भुवा । स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः । यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः । अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵकᳵपौ चापि पराश्रयौ । दुःस्पर्शश्चापि विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव चे"ति । एतद्विवेकश्च अ आ आ ३, इ ३, उ ३, ऋ ३, ऌ १, ए २, ऐ २, ओ २, औ २ । कादयो यादयश्च स्पष्टाः । यमाः—पलिक्नी, चक्खनतुः, अग्निः, घ्नन्तीत्यत्र कखगघाकारास्तत्तदुपरिष्ठा ज्ञेयाः । अनुस्वारादयः प्रसिद्धाः । दुःस्पर्शस्तु, नमो दुन्दु-

आवरणभङ्गः ।

भ्म्याय चेत्यादौ वेदे द्विरोष्ठ्यरूपः प्रसिद्धः । एवं चतुःषष्टिः । ऌकाराऽगणने त्रिषष्टिः । एक-
पञ्चाशत्पक्षश्च पञ्चाशदुपान्ते ळाक्षरस्य निवेशात्, द्विपञ्चाशत्पक्षो ज्ञाक्षरस्य पृथगुपादानात् । एवम-
नेकपक्षेषु पञ्चाशत्पक्षाङ्गीकारे बीजमाहुः तथापीत्यादि । पूर्वप्रतिज्ञातं पूर्णत्वं स्फुटीकर्तुं वैयाकर-
णनैयायिकमताद्वैलक्षण्यं ज्ञापयितुञ्चाहुः वर्णाश्चेत्यादिना । भगवत्त्वेन सर्वस्य नित्यत्वेऽपि व्यव-
ह्रियमाणकादिरूपेण नित्यत्वाय वर्णा इति बहुवचनम् । अत्राव्युत्पादनाच्चग्रान्तरस्थं बोधार्थमुच्यते ।
तत्र शब्दो नित्यो न वा, प्रलयवृत्तिर्न वा, स्वाधिकरणक्षणाधिकचतुर्थादिक्षणवृत्तिर्न वेत्यादिविप्र-
तिपत्तौ तावन्नैयायिका आहुः, शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिविनाशप्रतीतेः । नापि वर्णरूपो नित्यः,
उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार इति प्रतीतेः । नच सोऽयं गकार इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञाबलेन तस्य
नित्यत्वं शङ्क्यम्, तदेवौषधमित्यादौ साजात्यमादाय प्रत्यभिज्ञावदत्रापि वक्तुं शक्यत्वात् ।
नचात्र विनिगमकाभावः । उत्पत्तिनाशप्रतीत्योरेव मानत्वात् । तादृक्प्रतीतिभ्यां विना प्रत्य-
भिज्ञानाऽदर्शनात् । अत एवैतयोः प्रत्यभिज्ञाबाध्यत्वं भ्रान्तित्वं निरस्तम् । एतयोः
प्रत्यभिज्ञाबाध्यत्वकल्पनापेक्षाया प्रत्यभिज्ञाया एवैतद्बाध्यत्वकल्पनायां लाघवाच्च । तस्मा-
दनित्य एव शब्द इति । तदेतन्मीमांसकादयो न क्षमन्ते । तत्र गुरवो, व्योमैकगुणत्वेन भाट्टाश्च
निःस्पर्शद्रव्यत्वेन नित्यत्वं शब्दमात्रस्यानुमाय, सोऽयं गकार इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञाऽन्यथानुपपत्त्या
तस्याप्रयोजकत्वं निरस्यन्ति । एवञ्च, तया पूर्वापरकालीनगकारयोरभेदसिद्धावर्थबलादेव तेषां
नित्यत्वम् । नच गकाराद्युत्पत्तिनाशप्रतीती प्रत्यभिज्ञाया बाधिके, तयोः परम्परया गकारादिव्य-
ञ्जकवाय्वाद्युत्पत्तिनाशविषयत्वात् । नच प्रतीत्योः साक्षाद्गकारादिगतत्वेनैवानुव्यवसायान्नैवमिति
वाच्यम्, तस्य भ्रमत्वात् । प्रत्यभिज्ञया तद्बाधात् । नच गत्वादिजातिगतमेव नित्यत्वं स्वाश्रयस-
मवायरूपेण परम्परासम्बन्धेन गकारे भासत इति प्रत्यभिज्ञाया एव साक्षात्त्वांशे भ्रमत्वमस्तु,
यद्यपि विनिगमनाविरहस्तथापि नाशोत्पत्तिविषयस्य प्रतीतिद्वयस्य भ्रमत्वकल्पनापेक्षया प्रत्यभिज्ञा-
मात्रस्य तथात्वकल्पने लाघवादिति वाच्यम्; अभिव्यञ्जकवाय्वाद्युत्पत्तिविनाशस्योभयवादिसम्म-
तत्वात्, तावतैव निर्वाहे नानावर्णोत्पत्तिनाशकल्पनस्यात्यन्तगुरुत्वेन वैपरीत्यात्, व्यक्त्यभेदग्र-
स्तत्वेन गत्वादौ जातित्वस्याशक्यवचनत्वाच्च । नापि प्रत्यभिज्ञाया आकृतिविषयत्वं शक्यवचनम्,
व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानाद्द्विर्गोशब्द उच्चारित इति प्रतिपत्तेः । द्वौ गोशब्दाविति प्रत्ययाभावाच्चेति
शारीरकभाष्येऽपि व्यवस्थापनात् । नच परस्परविरुद्धानां तारत्वमन्दत्वादीनामेकत्र वक्तुमशक्य-
त्वात्तार-तारतर-मन्दमन्दतरादिरूपविलक्षणप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, वर्णव्यञ्जकध्वनीनां नाना-
त्वात् । तत्तद्गततारत्वादेरेव तदा तदा तत्र भानादुपपत्तेः । वायुव्यञ्जकत्वपक्षे तु वायुना यथाऽभि-
व्यज्यते तथा प्रतीयते । घटादिनाऽऽकाशवदिति तेषामेकव्यक्तिगतत्वेनाङ्गीकारेण विरोधस्यैवाभा-
वाच्छङ्काया एवानुदयाच्च । नच ध्वनिषु तारत्वादिदर्शनाद्वर्णे च द्रव्यत्वपृथिवीत्वयोरिव तेषां
व्याप्यव्यापकभावाभावेन साङ्कर्यात् तारत्वादीनां जातित्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, तेषामखण्डोपा-
धित्वोपगमेनेष्टापत्तेः । नचैवं सति तारात्तारतरोऽन्य इति प्रतीतिर्न स्यादिति वाच्यम्, तादृशप्र-

आवरणभङ्गः ।

तीतौ मानाभावात् । शिखी विनष्ट इतिवत् तत्तद्विशेषणपुरस्कारेण प्रतीत्युपपत्तेश्च । नच वर्णानां नित्यत्वे एकसाक्षात्कारकालेऽपरसाक्षात्कारापत्तिः सर्वेषां श्रोत्रसमवायस्य तुल्यत्वादिति वाच्यम्। तत्र तद्व्यञ्जकविजातीयवायुसंयोगाभावात् तदनापत्तेः भवन्मतेऽप्युत्पादकत्वेन तस्यावश्यकत्वात् । नच विजातीयवायुसंयोगस्य कार्यतावच्छेदके कत्वविषयकप्रत्यक्षत्वयोर्विनिगमनाविरहेण गौरवात् कत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे तदभावेन लाघवाच्छब्दानित्यत्वमेव ज्याय इति वाच्यम्, विप्रतिपत्तौ विनिगमनाविरहस्य दुर्वारत्वात् । विषयतासम्बन्धेन कत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकताया वक्तुं शक्यत्वाच्च । नच कत्वादेरखण्डोपाधित्वाङ्गीकाराज्जातीतरधर्मस्य च किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नस्यैवावच्छेदकत्वनियमादत्राऽपि किञ्चिद्धर्मविशिष्टस्यैव तस्य कार्यतावच्छेदकताया वक्तव्यत्वात् पुनर्गौरवापात इति वाच्यम्, तादृशनियमे मानाभावात् । प्रामाणिकत्वेऽप्यवच्छेदकगौरवाऽपेक्षया नानाशब्दतदुत्पत्तिनाशानां शब्दस्य नाशं प्रति विशिष्य हेतुतायाश्च कल्पनासु गौरवभूयस्त्वेन शब्दानित्यत्वस्य कदर्यत्वात् । नच शब्दवृत्तित्वविशिष्टप्रतियोगितया नाश्यं प्रति विषयतया श्रावणत्वेन नाशकत्वमिति ध्वनिनाशस्थले क्लृप्तानुगतनाश्यनाशकभावादेव वर्णस्यापि नाशोपपत्तेर्न हेतुताऽन्तरकल्पनगौरवमिति वाच्यम्, अश्रूयमाणशब्दे व्यभिचारेणास्य कदर्यत्वात्, ध्वनिनित्यत्वाभ्युपगमेनोक्तनाश्यनाशकभावे मानाभावाच्च । यत्तु, शाब्दबोधं प्रति पदज्ञानं हेतुः । पदं च घोत्तरटादिरूपम् । तच्च स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणत्वे सति स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वरूपाव्यवहितोत्तरत्वघटितमिति वर्णनित्यत्वपक्षे न सम्भवति । सर्वेषामेव क्षणानां वर्णाधिकरत्वात् । स्वस्वपूर्वक्षणानादाय स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वेनाव्यवहितोत्तरत्वस्याप्रवेशात् । नच भवन्मतेऽपि सर्वेषां क्षणानां स्वपूर्वक्षणोत्पन्नघत्वावच्छिन्नयत्किञ्चिद्धाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वादेतदसम्भव इति वाच्यम्, असन्मते तद्धत्वादिना निवेशेन दोषाभावादिति, तन्न; वर्णनित्यत्वपक्षेऽपि घज्ञानोत्तरटज्ञानविषयत्वं तत्त्वमित्युक्तदोषाभावात् । नचाधिकज्ञानाभावप्रवेशो गौरवमिति वाच्यम्, यथा भवन्मते तत्तद्व्यक्तित्वेनैव वर्णनिवेशो, न तु घत्वादिना । असम्भवात् । तथाऽसन्मतेऽपि घज्ञानादीनां तत्तद्व्यक्तित्वेनैव निवेशतः साम्येन लाघवानपायात् । अतः, पुनः पुनरुत्पत्तिनाशादिकल्पनापेक्षया वर्णनित्यत्वमेव ज्याय इति । अन्ये तु—वर्णो नित्यो ध्वन्यन्यशब्दत्वात् स्फोटवदिति प्रयुञ्जते । वैय्याकरणास्तु—स्फोटाख्यमतिरिक्तं शब्दमङ्गीकृत्य तस्यैव नित्यत्वमाहुः । तदेतदन्ये न क्षमन्ते । यथोक्तमुपवर्षमतानुसारेण शारीरकभाष्ये वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः सम्भवात् स्फोटकल्पनाऽनर्थिकेति । शाबरभाष्येऽपि तथा । उचितं चैतत् । वर्णस्फोटस्थले वर्णेनैवार्थप्रतीतेः पदादिस्फोटस्थले पूर्ववर्णगोचरसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भव्यङ्ग्यस्फोटकल्पनापेक्षया । तादृशवर्णेनैवार्थप्रतीत्यङ्गीकारस्य लघुत्वात् । प्रत्यक्षानुरोधित्वाच्च । अनेकेषां वर्णानामेकबुद्धिविषयत्वं च पङ्क्तिवनसेनादिदृष्टान्तेन तत्रैव व्युत्पादितम् । एवञ्च क्रमविशेषविशिष्टा वर्णा एव सामस्त्यैनैकबुद्धिविषयाः पदं स्युरिति तत्तत्पदव्यवस्थया वृद्धव्यवहारादिना तत्तत्पदेभ्यस्तत्तदर्थावबोध इति च आचार्यैस्तु स्फोटो न दूषितो, न वा प्रसाधितः । परन्तु

द्विपञ्चाशदिति । तथापि मुख्यो मातृकाविद्यायां सिद्धः पक्षः परिगृहीतः। वर्णाश्च नित्या व्यापकाः। सर्वेष्वपि देशेषु निरन्तराः। अनभिव्यक्तिस्थानेष्वपि विद्यमानाः। भगवानिव सर्वत्रान्तर्युक्ता अनन्तरूपाश्च। ते च स्वभावत एव बहुरूपाः। रूपतो भगवत्त्वमुक्तम्॥१५१॥

भगवत्त्वप्रतिपादनाय विशेषमाह—

वर्णः पदं तथा वाक्यं तस्य नामत्रयं मतम्।
द्वयं चाविकृतं लोके वेदे सर्वं स्वयं हरिः ॥ १५२॥

वर्ण इति । यथा सच्चिदानन्दभेदास्तथा वर्णवाक्यपदभेदाः । तत्र वर्णा नित्याः,

---

टिप्पणी।

भगवत्त्वेति । रूपविशेषस्येति शेषः । वाक्यमिति । गेहे घट इत्यत्र गेहज्ञानानन्तरज्ञान-आवरणभङ्गः।

दशमस्कन्धे गुणप्रकरणे वसुदेवस्तुतौ, "दिशः खं स्फोट आश्रय" इत्यत्रोक्तस्तेनानुमत एव । अयं च वैयाकरणमताद्भिन्नः । वाग्व्यञ्जकत्वेन वर्णाद्यव्यङ्ग्यत्वात्, अस्य शास्त्रस्य कल्पनाशास्त्रत्वाभावेन शब्दैकशरणत्वात्, सिद्धे वर्णनित्यत्वे इन्द्रियदेवतावत् तस्याप्यादरणौचित्याद्वृत्तिनिरोधे तस्य प्रत्यक्षीभावाच्चेति । सिद्धान्ते त्वेतावान् विशेषः । रूपसृष्टिमध्यपातिनो ध्वनेर्घटादिवच्चिरकालस्थायित्वात् तस्य वायुनाऽन्यत्र नयनमेव । तदस्माभिः प्रस्थानरत्नाकरे उपपादितम् । वर्णस्य तु कण्ठताल्वादिस्थानाभिघातजन्यो वायुः स्वबलानुसारेण व्यञ्जनं करोति । ततो व्यापकं वर्णं व्यञ्जयन्नैव बर्हिर्वायूढो गच्छति । श्रवणं तु ध्वनिवदेव । तत्र वर्णस्य पूर्वोक्तयुक्त्या नित्यत्वे सिद्धे प्रत्यभिज्ञाया उत्पत्तिविनाशप्रतीत्यनन्तरभावित्वं, तेनापि न तस्य विघटनम् । प्रत्यभिज्ञाया वर्णाभिव्यञ्जकानन्तर्यसापेक्षतया तादृशप्रतीत्याऽऽनन्तर्यानपेक्षित्वेऽपि अभिव्यञ्जकप्रतीतेः । सामग्र्यन्तरेण स्थूलरूपतिरोधानादानन्तर्ये तदपेक्षाभिमानात् । तत्क्षणोज्ज्वालितदीपनाशोत्तरं, सोऽयं सर्प इतिप्रत्यभिज्ञानवदव्यवहितोत्तरत्वलक्षणे ध्वंसस्थले तिरोभावपदेनाभिलापः कार्य इति । शेषं त्वनुगुणमेव । प्रकृतमनुसरामः । व्यापकत्वं विवृण्वन्ति सर्वेष्वित्यादि । एवं सिद्धे वर्णनित्यत्वे तेषां व्यापकताप्येककालावच्छेदेनानेकदेशेष्वनेकैरुच्चारणात् सिद्ध्यति । नच तेषां कण्ठादिस्थाननिर्देशात् परिच्छिन्नता, अशरीरिण्या आकाशवाण्याः शब्दे व्यभिचारात् । तदेतदुक्तं—सर्वेष्वित्यादि । स्थाननिर्देशस्त्वभिव्यक्तिनिबन्धनः । व्यापकात्मवादिमते शरीरस्य वृत्तिलाभस्थानत्ववत् । ननु व्यापकत्वे उच्चारणदशायां प्रदेशतोऽभिव्यज्येरन्न तु पूर्णा इति चेत्, तत्राहुः; भगवानिवेत्यादि । अनन्तमूर्तित्वम्, "अनन्तमूर्तयो वर्णा" इत्यत्राग्रे गौणमुख्यभेदेन व्युत्पाद्यम् । उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकाननुनासिकादिसङ्ग्रहार्थमाहुः ते चेत्यादि । एवं षड्धर्मप्रतिपादनतात्पर्यमाहुः रूपत इत्यादि ॥ १५१ ॥

मूले-तस्य नामत्रयमित्यत्र। तस्येति । शब्दब्रह्मण इत्यर्थः । तेन सिद्धान्ते नाद एव शब्द इति बोधितम् । तच्च शब्दब्रह्मवर्णाद्यभिन्नमिति स्फोटवादो नाङ्गीकृतः । ननु सर्वस्यैव वर्णजातस्य भगवद्रूपत्वे लौकिकवैदिकयोरविशेषाद्वेदे आधिक्यं न सिद्ध्येदित्याकाङ्क्षायां स्वरूपे विशेषं प्रतिपादयितुमाहुः भगवत्त्वेत्यादि । इति विशेष इति । वाक्यनित्यत्वेन त्रयाणां भगवद्रूपत्वाद्विशेषः ।

पदानि च। वाक्यं लौकिकमनित्यं, वैदिकं तु नित्यमिति विशेषः। तत्र हेतुः स्वयं हरिरिति ॥ १५२ ॥

टिप्पणी।

विषयत्वं घटस्य गेहोच्चारणानन्तरोच्चारणविषयत्वं वा घटस्यानुपूर्वीति लौकिकज्ञानोच्चारणयोरनित्यत्वेन तद्घटितानुपूर्वीविशिष्टं वाक्यमनित्यम्। वेदे तु, ईश्वरज्ञानघटितानुपूर्वीविशिष्टमिति वैदिकं वाक्यं नित्यमत एव "स्वयम्भूरेष भगवान्वेदो गीतस्त्वया पुरा। शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः। अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा" इत्यादिवाक्यैर्नित्यत्वं वेदस्य श्रूयत इति भावः ॥ १५२ ॥

आवरणभङ्गः।

"मे व्यक्तिरियं हि वाणी" इत्युक्त्या लोकवेदसाधारण्येन वैखरीमात्रस्य भगवत्त्वे प्राप्तेऽपि, "प्रवङ्गदि"रित्यतिदेशाद् वैलक्षण्यमवश्यं वाच्यमित्यत एवमुक्तम्। अत एव च पारमर्षं सूत्रम्-"अत एव च नित्यत्वमि"ति। अखण्डवाक्यरूपत्वेन नित्यभगवद्रूपार्थसम्बन्धस्य सार्वदिकत्वादेव वेदस्य नित्यत्वमित्यर्थः। तेन लौकिकशब्दादुत्कर्षः स्फुटति। नैयायिकास्तु—वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वाद् भारतवदित्यनुमानेन पौरुषेयत्वं वदन्तः शब्दस्याशुतरविनाशित्वेन वाक्यत्वेन चाऽनित्यत्वं वेदस्याहुः। साङ्ख्यप्रवचने तु, "न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः", "न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्", "न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्", "नाऽपौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवदि"ति चतुःसूत्र्यां, "तस्मात्तपस्तेपनात् त्रयो वेदा अजायन्ते"त्यादिश्रुत्या वेदानां कार्यत्वम्। ईश्वरानङ्गीकारान्मुक्तानामसङ्गत्वेन संसारिणां च युगपदुपादानानभिज्ञत्वेन वेदकर्तृत्वायोगाच्चापौरुषेयत्वम्, अङ्कुरादिवदनित्यत्वं चोक्तम्। जैमिनीयदर्शने तु, प्रथमस्य प्रथमपादान्तिमे, "उक्तं तु शब्दपूर्वत्वमि"त्यधिकरणे चिन्तितम्। वेदाः किं पौरुषेया न वेति सन्देहे, पूर्वोक्तरीतिकेन सामान्यतो दृष्टेन वाक्यत्वलिङ्गकानुमानेन सामान्यतः कर्तारमनुमाय, केचिदीश्वरं, केचिद्धिरण्यगर्भं, केचित् प्रजापतिं कर्तृत्वेनाहुः। तद्यदि कर्ता कश्चित् स्यात्, तदायं नानाविधो विवादो नावकल्पेत। मन्वादिवत्कर्तुः स्मर्यमाणत्वात्। न हि मानवे, भारते, शाक्यग्रन्थे वा कश्चिद्विवदते। अतः, स्मर्तव्यत्वे सत्यऽस्मर्यमाणत्वाद्योग्यानुपलब्धिबाधितं सामान्यतो दृष्टं न कर्तृसाधनायाऽलम्भवति। न चातिजीर्णकूपारामादिषु विशेषास्मरणेऽपि यथा सामान्यतो दृष्टेन कर्तृपूर्वकत्वसिद्धिस्तथाऽत्रेति वाच्यम्, विमतं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं, वेदाध्ययनत्वाद्, आधुनिकाध्ययनवदिति प्रतिसाधनसत्त्वेन तथाऽत्र वक्तुमशक्यत्वात्। नच काठकादिसमाख्यातः पौरुषेयत्वमिति बाह्यवचनमपि बाधकम्, समाख्यायाः प्रवचनमूलकत्वात्। अत एव तस्याः शाखाविशेषविषयत्वं युज्यते। तस्मादपौरुषेया एव वेदा इत्युक्तम्। एवञ्च, "तस्मात्तपस्तेपानादि"ति श्रुतिरपि न कार्यत्वं बोधयति, किन्तु प्रादुर्भावमात्रम्। नाप्यङ्कुरादिवज्जन्यत्वम्, निःश्वसितश्रुतिविरोधात्। तस्मादीश्वराऽऽत्मत्वं वेदस्य सर्वप्रमाणाविरुद्धम् ॥ १५२ ॥

अत्र केषाञ्चिन्मते पदान्येवार्थवन्ति, न वर्णा, न वाक्यानि । वाक्यान्यपीति केचित् । अस्मन्मते तु वर्णा अप्यर्थवन्तः । "वेदाक्षराणि यावन्ती"ति वाक्यात् । अतः प्रथममक्षरपदयोरर्थमाह—

वर्णाः पदानि सर्वाणि भगवद्वाचकत्वतः ।
सर्वार्थाण्येव सर्वत्र व्यवहृत्यै तथापि तु ।
शक्तिसङ्कोचतो लोके विशेषख्यापकानि वै ॥ १५३ ॥

वर्णाः पदानीति । सर्वेषां वर्णानां सर्व एव वाच्यः । तथा पदानाम् । तत्र हेतुः भगवद्वाचकत्वत इति । भगवान् सर्वमिति, भगवान् वाच्य इति, सर्वे वर्णाः,

---

टिप्पणी ।

तत्रेति । त्रिषु शब्देषु वर्णानां तुल्यसङ्ख्यावत्त्वेऽप्युकारयोर्वा तुल्यत्वेऽपि नैकार्थप्रतिपादकत्वमि-

आवरणभङ्गः ।

एवं वेदस्य स्वरूपतो लौकिकवैलक्षण्यमुक्त्वा लौकिकशब्दाद्भेदे विशेषान्तरमर्थतोऽपि वक्तुं वर्णाद्यर्थं वदिष्यन्तो मतान्तरानुवादपूर्वकं स्वमतमाहुः अत्रेत्यादि । अत्रेति । त्रिविधशब्दमध्ये । केषाञ्चिदिति । नैयायिकादीनाम् । केचिदिति । एकदेशिनः । वाक्यं तु श्रौतानुष्ठानपद्धतौ प्रसिद्धम् । "वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजोत्तमैः । तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः" इति । अत्राक्षराणां भगवन्नामत्वकथनेन भगवद्वाचकत्वसिद्धेर्वर्णा अप्यर्थवन्त इत्यर्थः । नच वर्णपदेन चादयो ग्राह्यास्तेषामर्थवत्ताया अपि सम्मतत्वादिति वाच्यम्, उक्तवाक्यगतयावत्पदविरोधात् । तेषां प्राधान्येन वाचकत्वे समुच्चयः, शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्य इतिवत् चः शोभनः, चो द्रष्टव्य इति प्रयोगापत्तिरूपदोषस्य मीमांसकैरेव दर्शितत्वात्, गुणत्वेन वाचकत्वस्य द्योतकत्वे पर्यवसानाच्च, व्याख्येयग्रन्थविरोधाच्च । ननु वर्णार्थवत्त्वा तथापि दुर्घटैव, वाक्ये अक्षरपदात्, वर्णाऽक्षरपदयोश्च पर्यायताविरहात्, "घृणिरिति द्वे अक्षरे, सूर्य इति त्रीणि, आदित्य इति त्रीणीति, अष्टाक्षरा गायत्री"त्यादिश्रुतिभिरज्झल्समुदायस्यैवाक्षरत्वप्रतीतेः, समुदायस्य च पदत्वादिति चेत्, न; "आश्रावयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरमि"त्यादिश्रुतिव्याकोपप्रसङ्गात्, "अक्षराणामकारोऽस्मी"ति गीतावाक्याच्च । वर्णत्वं च, न दत्राकारस्य केवलस्याप्यक्षरत्वोक्तेः; केवलव्यञ्जनस्य । वर्णात् कार इत्यस्योदाहरणेन, ककारः पकार इत्यादिरूपेण तथा निश्चयात् । एवञ्चाक्षरत्वं वर्णत्वं च केवलानां व्यञ्जनोपष्टम्भकानां च सिद्ध्यतीति पर्यायता निराबाधैवेति । निरर्थकत्वं च केवलव्यञ्जने पर्यवस्यतीति न वर्णार्थवत्तादौर्घट्यमिति दिक् । अत इति । अबाधितप्रत्यभिज्ञया वर्णपदयोः सर्वत्राभिन्नत्वात् । अर्थं व्याकुर्वन्ति सर्वेषामित्यादि । तत्रेति । सर्वेषां सर्वार्थवाचकत्वे । भगवद्वाचकत्वमेव कथमित्याकाङ्क्षायां शास्त्रस्य श्रौतत्वेन श्रुतेरिति बोधयितुं तात्पर्यमुखेनाहुः भगवानित्यादि । अयमर्थः, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "आत्मा वा इदं सर्वम्," "इदं सर्वं यदयमात्मे"त्यादिश्रुतिसमर्थनेन पूर्वोक्तरीतिकाविर्भावनिरूपणद्वारा सर्वस्य ब्रह्मत्वं

पदानि च सर्ववाचकानीति वस्तुस्थितिः। तथापि व्यवहारार्थं शक्तिसङ्कोचः कृतः। देशकालविभेदेनास्माभिरुच्चार्यमाणोऽयं शब्द इममेवार्थं बोधयतु, न त्वन्यमिति सङ्कोचः। अतो लोके विशेषाख्यापकानि जातानि।—

आवरणभङ्गः।

साधितमिति स एव सर्वम्। किञ्च, माण्डूक्यादौ प्रणवार्थविचारे "ॐमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानमि"त्यनेन प्रणवस्वरूपं सर्वस्य वाङ्मयस्य तद्व्याख्यानत्वमुक्तम्। व्याख्यानव्याख्येययोश्चैकार्थ्यम्। एवं सति व्याख्यानस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थकत्वाद्, योऽर्थः सामान्याकारेण प्रणवेनोच्यते स एव विशेषाकारेण सर्वैरुच्यत इति सिद्ध्यति। तदेव "भूतं भव्यं भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एवे"त्यादिनोक्तम्। द्वादशस्कन्धे च, "समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः। हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते। यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः। द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम्। ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्। यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमेष्ठिनः। शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्। येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः। स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः। स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनमि"ति सूतवाक्ये प्रणवसूक्ष्मरूपस्य नादस्य ब्रह्मवाचकत्वं, वाग्व्यञ्जकत्वं, सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजत्वं, चोक्तम्। बीजशक्तिरेव च, कार्ये, बीजं च ब्रह्मवाचकमित्यतोऽपि वर्णादीनां ब्रह्मवाचकत्वम्। तदेतदुक्तम्—**इति वस्तुस्थितिरि**ति। नन्वेवं वस्तुस्थितौ भाष्यप्रत्याहाराह्निकस्थो वर्णानां स्वभावतः सार्थकानर्थकत्वविभागो विरुद्ध्यते। तथा पदानामपि सर्वार्थकत्वे व्यवहारस्यापि न सिद्धिरिति तदर्थमुपायमाहुः **तथापी**त्यादि। "सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते" इत्यादिश्रुतेः। "वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि। धातुपूर्द्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये" इति वाक्यात्। "यदश्वयत्तदश्वस्याश्वत्वम्", "एतद्वा अपां नामधेयं गुह्यं यदाधावा" इत्यादिषु तथा नियमनदर्शनाच्च ज्ञायते शक्तिसङ्कोचः कृत इति। तस्य स्वरूपमाहुः **आदेशे**त्यादि। आ—सर्वतः। तथाच नैयायिकप्रतिपन्नो यः सङ्केतः, अस्माच्छब्दादयमर्थो बोध्यव्य इत्याकारकेश्वरेच्छारूपः स शक्तिसङ्कोचरूप एव, न शक्तिः। शक्तिस्तु पदपदार्थयोर्नित्यसम्बन्धरूपा पदार्थान्तरमेव, न त्विच्छा। युक्तं चैतत्। अन्यथा शक्तेर्वृत्तिविशेषत्वं न स्यात्। शाब्दबोधानुकूलस्य पदपदार्थसम्बन्धस्य वृत्तित्वेनेच्छायाश्च तद्व्याप्यत्वाभावेन तद्विशेषत्वस्याशक्यवचनत्वात्। किञ्च, परेच्छायाः परेण ज्ञातुमशक्यत्वेनेश्वरेच्छायाः सुतरां तथात्वात्तज्ज्ञापको व्यवहारप्रवर्तकोऽभिलापः सवर्थोऽङ्गीकार्यः। तथा सति स एव सङ्केतोऽस्तु, नेच्छा। स च पूर्वोक्तश्रुत्यादिरूप एवेति सङ्कोचिकैव सा, श्रुत्यन्तरानुरोधात्। अतोऽपि शक्तिरतिरिक्ता फलति। एवञ्च, सङ्कोचेन तस्याः शाब्दबोधानुकूल्ये व्याप्यतायां वृत्तिविशेषरूपत्वं सुघटमिति पदार्थान्तरत्वपक्ष एव मीमांसकाभिमतः साधीयान्। एतदभिसन्धायाहुः **अतो विशेषाख्यापकानि** जातानीति। इयं च ज्ञातोपयुज्यते। तदग्रहे पदैः पदार्थबोधादर्शनात्। तद्ग्रहणं च, "शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य

तत्र सूपः कूपो यूप इत्यत्र वर्णानां तुल्यत्वेऽपि नार्थप्रतिपादकत्वम् । व्यवहारसिद्ध्यै तथाङ्गीकारात् । अन्यथा अच्प्रत्ययादेरर्थो न स्याद्, धातोश्च । नच तयोः पदसञ्ज्ञा । विशिष्टयोरेव तथात्वात् । अतो व्यवहारस्य नियामकत्वान्नातिप्रसङ्गः ॥१५३॥

तत्रापि व्यवस्थामाह—

तत्र व्याकरणादीनां व्यवस्थापकता मता ।
देशे देशे तथाचारो भाषाभेदैरनेकधा ॥ १५४ ॥

टिप्पणी ।

त्यर्थः । वर्णा अप्यर्थवन्त इत्यत्र विपक्षे बाधकमाहुः अन्यथेति । वर्णस्यावाचकत्वे प्रत्ययस्यैकाक्षरस्य धातोश्चार्थो न स्यादित्यर्थः । नचेति । प्रत्ययधात्वोः पदसञ्ज्ञास्तीति पदस्यैव वाचकत्वमिति । भावः । विशिष्टयोरिति । विभक्तिसहितयोरेव तयोः पदत्वसम्भवादित्यर्थः । अतिप्रसङ्ग इति । सर्ववाचकत्वलक्षणोऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ १५३ ॥

व्यवस्थामिति । वाचकत्वे वक्ष्यमाणानां नियामकत्वं न यस्य कस्यचिदिच्छाया एवंरूपामित्यर्थः ॥ १५४ ॥

आवरणभङ्गः ।

वृद्धाः" इत्यभियुक्तोक्तेर्व्याकरणादिभिर्ज्ञेयम् । प्राथमिकशक्तिग्रहप्रकारादिकं प्रस्थानरत्नाकरे मयोपपादितमिति नेहोच्यते । नन्वेवं शक्तिसङ्कोचेऽपि न व्यवहारसिद्धिः । वर्णानां वाचकत्वाङ्गीकारेण पदावयवभूतानामपि वाचकत्वाद्वर्णपदाभ्यां युगपत्स्वार्थबोधने शाब्दबोधदौर्घट्यम् । क्रमेण बोधने च पटादिपदोच्चारणे प्रथमोपस्थितेन पकारेण स्वार्थबोधे, द्वितीयेन च स्वार्थबोधे निराकाङ्क्षतायां पटाऽबोधादन्यार्थमुच्चारितेनान्यार्थबोधनेनातिप्रसङ्गाच्चेत्याशङ्कायां सङ्कोचान्तरमाहुः तत्रेत्यादि । तत्रेति । पदेषु । वर्णानां तुल्यत्वेऽपीति । पदावयवभूतानां केवलवर्णसदृशत्वेऽपि । नन्वेवं वर्णानां क्वचिदर्थवत्त्वं क्वचिन्नेत्यर्द्धजरतीयाद्वर्णानामनर्थकत्वमेव वरमित्याकाङ्क्षायां वर्णार्थानङ्गीकारे बाधकं तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । तथाच यथोत्पलस्याल्पोऽधिको वा सङ्कोच एव तथाल्पवाचकत्वमिवावाचकत्वमपि सङ्कोच एवेति; सङ्कोचे च व्यवहारस्यैव नियामकत्वमिति तथेति भावः ॥ १५३ ॥

ननु व्यवहारार्थं सङ्कोचश्चेत्तदर्थं पदलक्षणमेवान्यद्वाच्यम्, वर्णसमुदायः पदमिति; तथा सत्यर्द्धजरतीयं विनैव प्रत्ययादेरर्थवत्ता सेत्स्यति, व्यवहारोऽपि सेत्स्यतीति चेत्तत्राहुः तत्रापीत्यादि। तत्रेति । सङ्कोचे । तथाच, "शक्तिग्रहं व्याकरणोपमाने"त्याद्यभियुक्तोक्तावपि व्याकरणादीनामेव शक्तिग्राहकत्वमुक्तमिति तान्येव व्यवस्थापकानि । न तु यस्य कस्यापि कल्पनम् । यद्यपीदं नैयायिकलक्षणं विवृतौ प्रविशति तथापि व्याकरणस्याङ्गत्वात्तदपेक्षया लौकिकस्यास्य निर्बलत्वाल्लोकस्य व्याकरणाद्युपजीवकत्वाच्च तद्विरोधेऽनादरणीयत्वम् । अन्यथा, कल्पनैकशरणत्वे शास्त्रविप्लवापत्तिरिति तान्येव व्यवस्थापकानीति न लक्षणान्तरादिभिर्निर्वाह इत्यर्थः । संस्कृतव्यवस्थापकान्युक्त्वा

तत्र व्याकरणादीनामिति । न केवलं कोशादिरेव नियामकः, किन्तूचारो भाषाभेदश्च । अतः सर्वमुपपद्यते ॥ १५४ ॥

इदानीमुत्तरोत्तरबलिष्ठत्वं वक्तुं पदे वर्णानामवाचकत्वम्, वाक्ये पदानामित्याह—

अनन्तमूर्तयो वर्णाः पदे तेनार्थवाचकाः ।
केवलाः कोशतो ज्ञेया वाचकाः पदतोऽथवा ॥ १५५ ॥

अनन्तमूर्तयो वर्णा इति । वर्णानां गौणमुख्यभेदेन नानामूर्तित्वम् । तेन पदावयवभूता गौणा इति नार्थवाचकाः, केवलाश्च वर्णा एकाक्षरनिघण्ट्वादिभिर्व्यवहारेऽप्यर्थवाचकाः । तेषां पदत्वं वा प्रत्ययरहितानामर्थज्ञापकत्वात् ॥ १५५ ॥

तथा वाक्येऽपि पदं न वाचकम्, तर्हि सङ्केतग्रहेऽपि वाक्यार्थज्ञानं स्यात्, गौरवं च स्यादित्याशङ्क्याह—

टिप्पणी ।

गौरवं चेति । पदस्य वाचकत्वे सङ्केतग्रहस्वीकारे गौरवं स्यादित्यर्थः ।—

आवरणभङ्गः ।

भाषाव्यवस्थापकानि वक्तुमाहुः **न केवलमित्यादि** । तेन भाषायामपीश्वरकृतादेव सङ्कोचात्तेऽपि शक्त्यैव बोधका, न तु शक्तिभ्रमेण तत्र बोध इति ज्ञापितम् । वक्ष्यन्ति चाग्रे "अस्मदादिमुखेनापि क्रीडार्थं सर्वतो हरिः । शब्दभेदं वितनुते रूपेष्विव विनिश्चयः" इति । मूलयोजना तु—देशे देशे भाषाभेदैरनेकधोचारस्तथा संस्कृते व्याकरणादिवत् तत्तद्देशिकव्यवहारव्यवस्थापक इत्यर्थः । एवं सति शक्तिसङ्कोचलक्षणे अयं भाषाशब्दोऽस्मिन् देशे इत्यधिकं निवेश्य भाषाया अपि स लक्षणीय इति तात्पर्यम् । तदेतदभिसन्धायाहुः **अतः सर्वमुपपद्यत इति** । अत एव शक्तपदादिव तेभ्योऽपि तत्तद्देश्यानां तेषु गृहीतशक्तिकानामन्यदेश्यानां च पदार्थोपस्थितिदर्शनं युज्यते । नच तत्र शक्तिभ्रमात् पदार्थोपस्थित्यादिकमिति युक्तम्, भ्रमत्वविनिगमकस्याभावात् । पर्यायशब्देष्विव तेष्वपि पूर्वोक्तरीत्या सङ्कोचेन शक्तिसिद्धौ तद्ग्रहस्य प्रमात्वसम्भवे भ्रमत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । अग्रे बाधाभावाच्च । नच तत्र लक्षणा । कुत्रापि शक्त्यभावे शक्यसम्बन्धरूपाया लक्षणाया अप्यसम्भवेनाशक्यवचनत्वात् ॥ १५४ ॥

एवं व्यवहारसिद्धिमुपपाद्य तदर्थमन्यदप्याहुः **इदानीमित्यादि** । **इत्याहेति** । इदं प्रमेयं सार्द्धेनाहेत्यर्थः । ननु केवलानां वर्णानां वस्तुगत्या वाचकत्वमस्तु । परं व्यवहारानुपयोगात्तन्नादरणीयमित्यत आहुः **केवलाश्चेत्यादि** । तथाच न वर्णार्थस्यानादरणीयतेत्यर्थः । ननु ते विभक्तिभाज एव लोके प्रयुज्यन्त इति न तेषां वर्णत्वेन रूपेणार्थवत्त्वमपि तु पदत्वेनेत्यतस्तदुपगम्याहुः **तेषामित्यादि** । **तेषामिति** । निघण्ट्वाद्युक्तानाम् । एतेन वेदे वर्णानामक्षरत्वेन रूपेण भगवद्वाचकत्वम् । अन्यत्र तु पदत्वेनेत्यपि बोधितम् । न च सिद्धान्तभङ्गः, तेषामिति कथनेन तद्भिन्नानामेकाक्षरप्रत्ययादिरूपाणामर्थवत्तानपायसूचनात् । केवलानां पदावयवभावाभावाच्च ॥ १५५ ॥

वाक्यार्थवत्तां साधयितुं वाक्ये पदानां गौणानामेव सत्त्वमिति बोधयन्तोऽवयवभावे पदेऽप्यवाचकत्वमतिदिशन्ति **तथेत्यादि** । **तर्हीत्यादि** । वाक्यस्यावाचकपदघटितत्वे वाक्यावयवभूतानाम-

पदं न वाचकं वाक्ये सादृश्यात् स्मारकं परम् ।
विशिष्टं वाक्यमेवात्र वाक्यार्थस्य च वाचकम् ॥ १५६ ॥

सादृश्यात् स्मारकं परमिति । वाक्यावयवभूतस्य पदस्य स्वतन्त्रपदतुल्यत्वात् पदार्थस्मारकत्वम् । अन्यथा स्वार्थं प्रतिपाद्य कृतार्थत्वे वाक्यार्थो न तैर्जन्येत । आकाङ्क्षादेर्वाक्यशेषत्वात् । प्रकृतिप्रत्यययोरपि नैकार्थवाचकत्वं स्यात् । पदार्थकरणपक्षेऽपि

टिप्पणी ।

अन्यथेति । यदि पदस्य स्मारकत्वेन नोपयोगः, किन्त्वनुभावकत्वम्, तदा स्वार्थं बोधयित्वा पदानां निराकाङ्क्षत्वे वाक्यार्थबोधो न तैर्जन्येत, तथासति, वाक्यार्थबोधोपयुक्तानामाकाङ्क्षायोग्यतासत्तीनामभावे प्रकृतेः प्रत्ययार्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययस्य प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं च न स्यादित्यर्थः । **पदार्थकरणपक्षेऽपीत्यारभ्याहेत्यन्ते** । पदज्ञानं करणम्, पदार्थस्मृतिर्व्यापारो,

आवरणभङ्गः ।

वाचकत्वे भिन्नत्वे च कोशादौ तदनिर्देशेन सङ्केताग्रहेऽपि वाक्यार्थज्ञानं स्यात् । अर्द्धजरतीयमेदाभ्यां कृतं गौरवं च स्यात् । नच यथा प्रभाकरमते द्वेधा पदशक्तिरनुभाविका, स्मारिका च कार्यान्विते, जातौ च स्वीकृता, तथाऽनुभाविकां केवलेषु स्मारिकां वाक्यावयवभूतेषूपगम्यैतेषु द्वितीयस्याः सत्त्वात्तेन द्वारेण वाक्यार्थज्ञानं निराबाधमिति वाच्यम्, तथाऽपि शक्त्यन्तरकल्पनकृतं गौरवं तु स्यादित्याशङ्क्याहेत्यर्थः । सादृश्यादित्यादि । तथाच केवलेषु गृहीतस्य सङ्केतस्य सादृश्यमहिम्नैवैतैः स्मारणात्तद्द्वारा वाक्यार्थज्ञानसम्भवः । शक्त्यन्तराकल्पनाच्च न गौरवमित्यर्थः । नचैवं सति गृहीतविस्मृतशक्तेस्ततः शाब्दबोधो न स्यादिति वाच्यम्, तुल्यत्वात् । शब्दानित्यतावादिमतेऽपि वाक्यार्थबोधावसरे शक्तिग्रहसामयिकपदस्याभावाच्छक्तिस्मारकसंस्कारोद्बोधहेतुत्वेन सादृश्यस्यैव वक्तव्यत्वादनेन तदभावे हेत्वन्तरस्य तेनापि वाच्यत्वात् । नित्यतावादेऽपि स एवायमिति तेन स्वार्थबोधाजनने तत्र हेत्वन्तरस्य तेनापि वाच्यत्वात् । ननु वक्त्रा पदार्थमवगम्य वाक्यार्थमवगमयितुं तानि वाक्ये प्रयुज्यन्ते, यदि तान्यनर्थकानि स्युस्तदा तेषां प्रयोगो नोपपद्येत । नच स्मारकत्वमपि ज्ञात्वा सदृशान्येव प्रयुज्यन्त इति शक्यवचनम्, तस्यासिद्धत्वात् । अत इयं कल्पना व्यवहारं विरुणद्धीत्यतस्तत्साधनायार्थवत्त्वाङ्गीकारबाधकं तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । वाक्यार्थइति । संसर्गरूपो वाक्यार्थः । तथाच स्मारकत्वानङ्गीकारे सकृदुच्चारितानां तेषां सकृत्स्वार्थं गमयित्वा तथात्वे पदान्तराकाङ्क्षाया अभावात्तैर्वाक्यार्थः संसर्गरूपो न जन्येतेत्यर्थः । पदेभ्यश्च पदसमूहो भिन्नः । अन्यथा पदैर्वाक्यार्थबोधने पदेषु युगपद्वृत्तिद्वयापत्तिः । पदार्थवाक्यार्थयोर्बोधिके वृत्ती इति द्वयम् । दूषणान्तरमाहुः । प्रकृतीत्यादि । प्रकृतेः स्वार्थं प्रतिपाद्य कृतार्थत्वे प्रत्ययाकाङ्क्षाया अभावाद्भिन्नार्थतैव स्यान्न त्वैकार्थ्यम् । तथाच "प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येने"ति नियमश्च व्याहन्येतेत्यर्थः । ननु तर्हि भाट्टाभिमतः पदार्थकरणपक्षोऽस्तु, तथा सति पदानां कृतार्थत्वेऽपि पदोपस्थापितपदार्थैरेव वाक्यार्थो भवष्यतीति न कोऽपि दोष इत्यतस्तत्रापि दूषणमाहुः पदार्थेत्यादि । नन्वेवं सति शक्तिमत्पदज्ञानस्यैव शाब्दबोधे करणत्वमस्त्वि-

पूर्वपदानां निवृत्तत्वात् पुनरुपस्थानं केन वा स्यात्। अविद्यमानानां वा कथं बोधकत्वम्। वाक्यार्थसमाख्याविरोधश्च। अतो वाक्यमेव वाचकमित्याह विशिष्टमिति। स्वावयवैः, स्वावयवार्थमिति चकारार्थः ॥ १५६ ॥

टिप्पणी।

वाक्यार्थबोधः फलमिति मुख्यः पक्षः। पदकरणत्वपक्षेऽन्त्यपदार्थानुभवकाले पूर्वपदानामभावात्तदर्थोपस्थित्यभावे विशिष्टार्थान्वयबोधो न स्यात्; अर्थकरणत्वपक्षेऽविद्यमानानामकारणत्वादतीतानागतस्थलेऽन्वयबोधो न स्यादयं वाक्यार्थ इति व्यवहारोऽपि न स्यादतः पदानां स्मारकत्वं वाक्यमेवानुभावकमित्यर्थः ॥ १५६ ॥

आवरणभङ्गः।

त्याशङ्कायां दूषणान्तरमाहुः **वाक्यार्थेत्यादि**। समाख्याया यौगिकशब्दत्वाद्वाक्यस्यार्थाऽभावे योगस्याप्रवृत्तेस्तथेति नायमपि पक्षः साधुरित्यर्थः। चकारेण वाक्यार्थस्याशाब्दत्वं स्यादित्यपि समुच्चीयते। तथा सति चाक्षुपादिशब्दवत् करणोपाधिनिबन्धनः शाब्द इति व्यवहारोऽपि बाध्येतेति च। एवं सति वाक्यावयवानामर्थाङ्गीकारे दोषबाहुल्यात्स्मारकत्वपक्ष एव साधीयान्। एवञ्च, यथा रूपभेदाभावेऽपि ह्रस्वावर्णस्य प्रक्रियादशायां विवृतत्वं, प्रयोगे सम्वृतत्वमनुशासनानुरोधादङ्गीक्रियते शाब्दिकैस्तथा वक्रा वाक्यघटनार्थमर्थवत्तासरणेऽप्युच्चारणदशायां तत्सद्दशानि स्मारकान्येवाभ्युपन्तीति लाघवाद्दोपाभावाच्चाङ्गीकार्यमिति निष्कर्षः। तदेतद्धृदि कृत्वाहुः **अत इत्यादि**। **विशिष्टमिति**। अवान्तरान्वयविशिष्टम्। अन्वयश्च विवक्षितार्थावबोधकः पदादिसम्बन्धः। **स्वावयवार्थमिति**। अवान्तरान्वयम्। एवञ्च, स्वावयवैरवान्तरवाक्यैः स्वावयवार्थमवान्तरान्वयं वदद्वाक्यमेव तत्तत्कारकनिष्ठक्रियान्वयरूपस्य मुख्यवाक्यार्थस्य वाचकमित्यर्थः फलति। वाक्यप्रयोगं विना केवलपदेनान्वयाबोधादन्वयस्य पदलभ्यत्वाभावात्। विशिष्टे शक्तिग्रहः प्रथमं भवतीति पक्षस्तु प्राथमिकशक्तिग्रहस्य नियमतो व्यवहारजन्यत्वनिराकरणादेव निराकृतः। नाप्यन्वयस्यार्थसंसर्गमर्यादालभ्यत्वम्। सन्निहितेऽश्वे गामानयेति वाक्ये तदतिहायाश्वबोधापत्तेः। नापि पदसमभिव्याहारलभ्यत्वम्। तस्य सन्निधिरूपत्वेन दूरान्वये श्लोकादौ तत्सत्त्वेऽप्यन्वयाबोधप्रसङ्गात्। नापि स्मृत्या, तत्रापि पदसमभिव्याहारसम्भवान्न दोष इति वाच्यम्, तथा सति बोधविलम्बादिप्रसङ्गात्, अन्वयबोधस्याशाब्दत्वादिप्रसङ्गाच्च। नचेष्टापत्तिः, पूर्वोक्तदोषाणाभापत्तेः। तस्मादाकाङ्क्षादिमत्पदकम्बरूपवाक्यस्य योजनया परिष्कृतस्यैवान्वयोऽभिधेय इति वाक्यस्यैवार्थ इति सिद्धम्। एवञ्च, शाब्दानुभवत्वावच्छिन्नं प्रति ज्ञायमानवाक्यत्वेनैव कारणत्वमनुगतं बोध्यम्। वृत्तिमत्पदस्मारितपदार्थोपस्थितिः, साकाङ्क्षावान्तरवाक्योक्तान्वयोपस्थितिश्च यथायथमवान्तरवाक्यमहावाक्ययोर्व्यापारभूते ज्ञेये इति दिक्। अत्रैवं क्रमो निष्पद्यते। पूर्वं पदशक्तिं गृहीतवतो वाक्यश्रवणोत्तरं तदवयवभूतैः पदैः शक्तिग्रहजन्यसंस्कारोद्बोधे पदार्थस्मरणम्। ततोऽवान्तरवाक्यैस्तं व्याप्त्याऽवान्तरवाक्यार्थबोधस्ततस्तमपि व्यापृत्य महावाक्येन वाक्यार्थबोधो जन्यत इति ॥ १५६ ॥

वाक्यानामानन्त्यात्सङ्केतग्रहो दुर्लभ इत्याशङ्क्याह—

पदान्तरप्रवेशेन विशिष्टे वाच्यवाचके।
पटवद्वाक्यभेदश्च वाक्यार्थश्चापि भिद्यते॥ १५७॥

पदान्तरप्रवेशेनेति। घटमानयेति वाक्याद् घटं शीघ्रमानयेति भिन्नम्। एवमानन्त्येऽपि न दोषः। तत्र **दृष्टान्तः पटवदिति।** द्वितन्तुकपटात् त्रितन्तुकोऽन्यः।

टिप्पणी।

एवमिति। वाक्ये सङ्केतग्रहप्रयोजनाभावात्पदशक्तिग्रहेणैवोपपत्तेरिति भावः। **आरम्भकवादस्येति।** पञ्चतन्तवः स्वसमवेतं पञ्चतन्तुकं पटं जनयित्वाऽन्यान्तन्तूनासाद्याष्टतन्तुकं पटं स्वसमवेतं जनयन्तीत्यारम्भकवादः, स नाङ्गीक्रियते, पूर्वपटनाशे सति पटान्तरोत्पत्तिरङ्गीक्रियते, मूर्तानां समानदेशताविरोधात्प्रथमतन्त्वपकर्षणे समवायिकारणनाशेन सर्वपटनाशात्पटप्रतीतिर्न स्यादिति भावः॥ १५७॥

आवरणभङ्गः।

वाक्यानामित्यादि। शाब्दज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति शक्तिग्रहस्य सहकारितानियमाद्वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यपि वाक्यशक्तिग्रहस्य सहकारिता वाच्या। तत्र सङ्केतग्रहस्तु दुर्लभः। वाक्यानामानन्त्येन तच्छक्तिग्राहकानुशासनकोशवाक्यशेषाणामभावात्, अर्थस्य काल्पनिकत्वेन पूर्वमदर्शनाद् द्रष्टुराप्तस्याभावेन तद्वाक्यस्याप्यशक्यवचनत्वात्, नानाविधक्रियाकारकविशेषणयोगेन वाक्यानामनन्ततया व्यवहारस्यापि तदग्राहकत्वात्, अत एव विवृतेरप्यभावात्, नाप्युपमानात्, यथा गोसदृशपिण्डदर्शनोत्तरमुद्बुद्धसंस्कारस्यातिदेशवाक्यार्थस्मरणेनाऽयं गवयपदवाच्य इति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिपरिच्छित्तिस्तथात्र प्राथमिकशक्तिग्रहेऽतिदेशस्याशक्यवचनत्वात्, तस्मान्न वाक्यवाचकत्वं युक्तमित्याशङ्क्य सङ्केतग्रहसुलभत्वप्रकारमाहेत्यर्थः। **पदान्तरेत्यादि।** पदान्तरप्रवेशेन कृत्वा वाच्यवाचके वाक्यार्थसहिते वाक्ये विशिष्टे यथायथमर्थान्तरपदान्तराभ्यां सप्रकारके सति पटवदित्यादि। **घटमानयेत्यादि।** अयमर्थः। यद्, वाक्यानामानन्त्यं भवतोक्तं, तदर्थान्तरप्रवेशेन पदान्तरप्रवेशेन वा? तत्राऽऽद्यं तु न शक्यवचनम्। वाक्यावयवभूतैः पदैः पदार्थेषु सारितेषु तेषां चारितार्थ्यात्। पदासारितस्यार्थस्य तत्र प्रवेशे, गौरानीयतामित्यादावध्यक्षसान्निध्यादिवशेनाश्वादिप्रवेशापत्तेः। नच द्वारं द्वारमित्यादौ पदासारिताया एव क्रियायाः प्रवेश इति वाच्यम्, तत्रापि समयादिविशेषवशेन सम्वरणाद्यवगमदशायामपि शब्दस्मरणपूर्वकमेवार्थस्मरणस्यानुभवसाक्षिकत्वात्। अतः क्रियादिवाचकपदान्तरप्रवेशेनैवानन्त्यं वक्तव्यम्। एवमानन्त्येऽपि तु न सङ्केतग्रहदौर्लभ्यमित्यर्थः। कुत इत्याकाङ्क्षायां व्यवहारोपमानाभ्यामिति वक्तुमाहुः **तत्र दृष्टान्त इत्यादि।** तद्विवृण्वन्ति **द्वितन्तुकेत्यादि।** श्रुतौ सत्कार्यवाद इति तदनुयायिभिरारभ्यारम्भकवादानङ्गीकाराद् द्वितन्तुकपटात् त्रितन्तुकः पटोऽन्यः—कारणीभूतावयवसमुदायभेदाद्भिन्न एव भवति। तथा त्रितन्तुकाच्चतुस्तन्तुकादिरपि। तथा तद्वद्वाक्यार्थस्यान्वयरूपस्य पदार्थान्तरसंसर्गेण पूर्ववाक्यार्थापेक्षया नूतनत्वादुत्तरस्य संसर्गस्य पूर्वसंसर्गात्स्वरूपतो भिन्नत्वम्, न तु विजातीयत्वेन भिन्नत्वम्। तथा

तथोत्तरत्राऽपि । आरभ्यारम्भकवादस्यानङ्गीकारात् । तथा अपूर्वत्वाद्वाक्यार्थस्य पूर्वसंसर्गादुत्तरस्य भिन्नत्वम् ॥ १५७ ॥

तथा महावाक्ये अवान्तरवाक्यानामवाचकत्वं, किन्तु, पूर्ववत्स्मारकत्वमेव । एवमवान्तरभेदेन सर्वं निरूप्य सम्पूर्णवेद एकं वाक्यम् , तदर्थोऽप्येक एवेत्याह—

अवान्तराणां वाक्यानां स्मारकत्वं तथा परे ।
वाक्यमेकं हरिश्चैको वेदवाक्यार्थरूपधृक् ॥ १५८ ॥

वाक्यमेकमिति । तात्पर्यवृत्त्या तथात्वं वारयति वाक्यार्थरूपधृगिति ॥१५८॥

अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च ।
त्रयोऽपि वैदिका भिन्ना नानाधर्मयुतास्तथा ॥ १५९ ॥
सादृश्येऽपि न वेदत्वं तादृग्वाक्ये ततोऽन्यतः ।
अधिकारिविभेदेन धर्माधर्मौ तथा मतेः ॥ १६० ॥

तथाऽवान्तरवाक्येषु अवान्तरवाक्यार्थरूपधृक् । एवमुत्तरत्रापि । इदानीं लौकिक-

---

टिप्पणी ।

इदानीमिति । लौकिकवैदिकशब्दयोर्वर्णपदवाक्यानां वैजात्यमाहेत्यर्थः ॥ १५९ ॥

आवरणभङ्गः ।

सति यथैकत्र पटे गृहीतशक्तिकं पटपदमवयवभेदभिन्नान् पटान्तरानपि तयैव शक्त्या पटत्वेन रूपेण बोधयति, तथैकं गोपदयुक्तं वाक्यमेकत्र गवान्विते वाक्यार्थे वृद्धव्यवहारेण तद्वाक्येन वा गृहीतशक्तिकं जातं चेत्, तदा, तद्दृष्टान्तेन पदान्तरप्रवेशकृतवाक्यान्तरमपि नानासंसर्गकान् वाक्यार्थान् बोधयिष्यतीत्युपलक्षणविधया यत्पदयुक्तं यद्वाक्यं तत्तदर्थान्वितं वाक्यार्थं बोधयतीति व्याप्त्या ततोऽभ्यासदार्ढ्येन बोधयिष्यतीति न सङ्केतग्रहदौर्लभ्यमित्यर्थः । एवञ्च, पूर्वं शब्दब्रह्मणो घोषस्यैव वर्णपदवाक्यसञ्ज्ञावत्त्वं, न तु परस्परं भेद इति यत्प्रतिज्ञातमासीत्तदपि दृढीकृतं ज्ञेयम् ॥ १५७ ॥

ननु महावाक्येषु केषाञ्चित् पदानां विस्मरणेऽपि तदर्थावगतिर्दृश्यते । अतः पदार्थकरणपक्ष एव साधुर्न तु वाक्यकरणपक्षः, महावाक्यार्थबोधनापत्तेरिति चेत् तत्राहुः तथा महावाक्येत्यादि। तथाच तादृशस्थले महावाक्यार्थस्य तावतो नावगतिः । विवक्षितशाब्दबोधस्य तदानीमदर्शनात् । घटं शीघ्रमानयेत्यादिषु स्वल्पवाक्येष्वपि शीघ्रपदासरणे शीघ्रानयनाभावस्य सर्वानुभवसाक्षिकत्वेन महावाक्येष्वपि तादृशबोधाभावस्येष्टत्वात्; तस्मान्नायमपि दोष इति भावः । एवं वेदस्य प्रमेयत्वकथनायोपोद्घातेन प्रसङ्गेन चावान्तरं यत्सर्वं निरूपितं तदुपसंहरन्त एव पूर्वप्रतिज्ञाते प्रमेयैकत्वे युक्तिमाहुः एवमित्यादि । वाक्यमेकमिति । तथाचार्थैकत्वादेकं वाक्यं वेदः । एकवाक्यताप्रकारः पूर्वमुपपादितः । लीलार्थत्वेन कर्मज्ञानबोधककाण्डयोः परस्पराकाङ्क्षत्वेन च । भगवत एकत्वं च सर्वात्मकत्वेन । वाक्यार्थरूपत्वं च "सर्वे वेदा" इत्यादिश्रुत्या । एवं लौकिकवाक्यर्थतोऽपि विशेष उक्तः ॥ १५८ ॥

उत्तरत्रापीति । पदे पदार्थरूपो, वर्णे वर्णार्थरूप इत्यर्थः । इदानीमित्यादि । ननु सर्वेषां

वैदिकयोर्वर्णादीनां वैजात्यमाह त्रयोऽपि वैदिका भिन्ना इति । उदात्तादिधर्मयोगा-ल्लोकव्यवहारवर्णादिभ्यो वैदिका भिन्नाः । क्वचित्काव्यादौ वैदिकतुल्यता भासते, तथापि न वेदत्वमित्याह । साहश्येऽपि न वेदत्वमिति । लोकवेदाधिकरणं तु कल्पि-तमेव । जैमिनिना अनुक्तत्वात् । लौकिकानां वैदिकानां चेति भाष्यात् । मयड्वैतयो-र्भाषायाम्, द्व्यचश्छन्दसि, सर्वत्र विभाषा गोरित्यादिसूत्रकरणाच्च । छन्दसि च लोक-वेदयोः पृथङ्निरूपणात् । अतः साहश्येऽपि न वेदत्वम् । शूद्रादीनां वेदबुद्ध्या तथा पाठ एव दोषः ॥ १५९ ॥ १६० ॥

टिप्पणी ।

लोकेति । य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एवामीषामर्था इत्यादीत्यर्थः । लौकिकाना-मिति । "अथ शब्दानुशासनमि"त्यत्रेत्यर्थः । छन्दसि चेति । "साधुभिर्भाषितव्यं नापभ्रंशितवै न म्लेच्छितवै" इति श्रुतौ वेदवेदाङ्गसिद्धाः शब्दाः कर्मसु वाच्या न भाषाप्राकृतसिद्धा इति निरूपणादित्यर्थः ॥ १६० ॥

आवरणभङ्गः ।

शब्दानां भगवद्रूपत्वाद्वेदे को विशेष इत्याकाङ्क्षायामवसरसङ्गत्या पूर्वं वेदे विशेषं वक्तुमाहेत्यर्थः । कुतो भिन्ना इत्याकाङ्क्षायां मूले, नानेत्यादिनोक्तामुपपत्तिं व्याकुर्वन्ति उदात्तेत्यादिना । एतेनो-दात्तादीनां ध्वनिधर्माणां वर्णे सङ्क्रमो लोक एव, न तु वेदेऽपीति ज्ञापितम् । स्वपादिर्हिंसामच्य-निटीत्यादावाद्यादिवर्णानामेवोदात्तत्वादिधर्मयोगकथनात् । नचेदं सङ्क्रमेऽपि तुल्यमिति वाच्यम् । धर्मयोगस्येच्छाविशेषप्रयुक्तोच्चारणाधीनत्वेन विधानवैयर्थ्यस्य दुष्परिहरत्वात् । नचैवमपि कृत्रिम-त्वानपायान्न पूर्वोक्तदोषहानिरिति वाच्यम्, विधानस्य व्युत्पत्तिमात्रार्थत्वेनाव्युत्पत्तिपक्षस्यैव मुख्य-तया तस्य साहजिकत्वेन दोषाप्रसक्तेः । अत एव, "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वे"त्यादिरपि सङ्गच्छते इति नेह विवादलेशः । क्वचिदित्यादि । तथाच धर्मयोगमात्रेण लोकवेदशब्दयोर्भेदो न शक्यवचनः, तादृशानुपूर्वीधर्मादियोगेनोच्चारितस्य लौकिककाव्यादिवाक्यस्यापि वेदत्वापातादित्या-काङ्क्षायां, तत्र तुल्यताया वक्तुरिच्छाधीनत्वेन साहजिकत्वाभावान्न वेदत्वमित्याहेत्यर्थः । ननु, "लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधतः" इत्यादिना लौकिकवैदिकशब्दयोरभिन्नत्वं लोक-वेदाधिकरणे भट्टवार्तिके प्रपञ्चितमिति तयोर्भेदो न प्रमाणपदवीमधिरोक्ष्यतीत्यत आहुः लोके-त्यादि । तत्कल्पितत्वे गमकान्याहुः जैमिनीत्यादि । भाष्यादिति । महाभाष्यात् । छन्दसीति । अत्र लौकिकमिति सूत्रेण छन्दःशास्त्रे इत्यर्थः । तथाच सूत्रकारमहाभाष्यपाणिनिछन्दःशास्त्र-विरोधाद्वार्तिककारोक्तप्रौढिवादमात्रमेवातो भेदो नाप्रामाणिक इत्यर्थः । ननु यदि वेदसाहश्येऽपि न वेदत्वं तदा तादृगानुपूर्वीस्वरादियोगेन तादृग्वाक्यपाठे शूद्रादेः पापं न स्यात् । तथा सत्यपशू-द्राधिकरणं विरुद्ध्येत । अतो जैमिनिनैव तन्मुखेन लोकवेदशब्दयोरैक्यं सूचितम् । अतः शास्त्रा-न्तरविरोधोऽप्यकिञ्चित्कर इति चेत् तत्राहुः शूद्रादीनामिति । तथाचापशूद्राधिकरणस्यैतदभि-प्रायकत्वाद्व्याकरणस्मृतेश्च, "तामिन्द्रो मध्यतोऽपरोध्य व्याकरोदि"ति श्रुत्या श्रुतिसामानाधि-

एवं भेदं निरूप्य, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य इति यथाश्रुतसिद्ध्यर्थं सर्वत्र वेदे भगवानेवार्थ इत्याह—

प्रत्येकं पूर्णता वाक्ये शाखाभेदेषु सर्वतः ।
दर्शादिषु तदङ्गेषु मन्त्रमात्रे तथैव च ।
हरिस्तत्तत्स्वरूपेण तस्मात्सर्वत्र वाचकः ॥ १६१ ॥

प्रत्येकं पूर्णता वाक्य इति । महावाक्यार्थरूप एव हरिः, नाऽवान्तरवाक्यार्थरूप इति निराकरणार्थं पूर्णता निरूप्यते । शाखाभेदेष्विति । शाखाभेदेष्वपि पूर्णता । एवमुत्तरत्रापि । तदङ्गेषु प्रयाजादिषु । इषे त्वेति मन्त्रमात्रे सिद्धार्थेऽपि । तत्र हेतुः तत्तत्स्वरूपेणेति ॥ १६१ ॥

टिप्पणी ।

मूले प्रत्येकमिति सार्धश्लोके । यस्माद्वाक्याद्यर्थरूपो हरिरेव तत्तत्स्वरूपेणास्ति, तस्माद्वाक्याद्यर्थानां पूर्णता । सर्वत्र हरावेव च वेदो वाचक इत्यर्थः ॥ १६१ ॥

आवरणभङ्गः ।

करण्यबोधनाच्छन्दसोऽपि तथात्वाच्चद्विरुद्धं वार्तिककारोक्तमेव दुष्टमिति भावः । मूलयोजना तु—ततस्तस्माद्धेतोः, अन्यतः वैदिकभिन्नात् सदृशवाक्यात् तथा मतेः तत्र वेदबुद्धेः पुंसोऽधिकारभेदेन धर्माधर्मौ शूद्रादेरधर्मो रथकारस्य पल्यादेर्धर्मश्च स्यातामिति ज्ञेया ॥ १५९ ॥ १६० ॥

एवमित्यादि । शब्दमात्रस्य भगवद्रूपत्वेऽपि वेदे यो विशेषस्तद्बोधनाय लौकिकवैदिकशब्दयोर्वैजात्यमुपपादितम् । तदेतत्, स एव जीव इति श्लोके वेदस्य गदेश्च भेदकथनात्सिद्धम् । तन्निरूप्य अर्थेऽपि लौकिकाद्भेदं दर्शयितुं प्रणवविकारस्य वेदस्यावयवानामपि वाचकत्वं च समर्थयितुं गीतावाक्यतात्पर्यं प्रकटयितुं चाहेत्यर्थः । ननु गीतावाक्यस्य यथाश्रुतार्थसिद्धिरतिदुर्घटा यज्ञो वै विष्णुरितिवदवान्तरवाक्याद्यर्थस्वरूपस्य भगवत्त्वाश्रवणादित्याशङ्कायां निवृत्त्यर्थं युक्तिमाहुः महावाक्येत्यादि । पूर्णता निरूप्यते इति । "विजज्ञौ विजज्ञौ इति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्य" इत्यादिषु तावद्वाक्यार्थज्ञानमात्रेण ब्रह्मवित्त्वस्य विद्यासमासेश्च बोधनात्तथेत्यर्थः । तथाच वाक्यपूर्णतैवाऽवान्तरवाक्याऽर्थस्य भगवद्रूपताबोधिकेति भावः । पूर्णतायां गमकान्याहुः शाखेत्यादि । अन्यथा तत्तच्छाखोक्तस्य ज्योतिष्टोमादेः फलजनकत्वापत्तेरित्यर्थः । उत्तरत्रेति । तदवान्तरकाण्डद्वये । तस्याप्यवान्तरे तत्तद्यज्ञतत्तद्विद्यातत्तदुपासनादिवाक्येषु तदवयवेषु चेत्यर्थः । एवञ्चावयवानां तत्तद्रूपभगवद्वाचकत्वेऽपि खण्डशः प्रतिपादकत्वात्तेषां महावाक्यवाच्ये पूर्णे ब्रह्मण्येव तात्पर्यम्, अङ्गप्रतिपादकानां याग इव बोध्यम् । तेन, न श्रुतिगीतासुबोधिन्या अपि विरोधः । एवं पूर्वप्रतिज्ञाताया वाक्यवाचकताया आकारः प्रदर्शितः ॥ १६१ ॥

पुराणानामपि वेदतुल्यत्वमभिप्रेत्याह—

पुराणे च ततोऽन्यत्र वाक्यार्थो बुद्धिकल्पितः।
पदानामानुपूर्वी तु तत्र कल्प्या ह्यनेकधा॥ १६२॥

पुराणे चेति। वेदपुराणव्यतिरिक्तस्थले वाक्यार्थो बुद्धिकल्पितो, न भगवद्रूप इत्यर्थः। अतस्तत्र विश्वासेन पुरुषार्थसिद्धिः। संसर्गस्यापूर्वत्वात्। पदानुपूर्वीनानात्वादिति हेतुः॥ १६२॥

कालिदासवाक्यानामपि बहुकालं स्थितिसिद्ध्यर्थमाह—

सर्वप्रतीतिनाशे तु तन्नाश उपचर्यते।
तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेर्न दूषणमिहाण्वपि॥ १६३॥

सर्वप्रतीतिनाशे त्विति। रूपसृष्टौ क्रियातः स्थितिः। नामसृष्टौ ज्ञानेनेति। तत्र हेतुः। तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेरिति। बुद्ध्या रचनां कृत्वोच्चारयतीति। यथा न्यायमते तदुच्चारितः शब्दस्तदैव नष्टः, सादृश्यभ्रमादेव तदीयव्यवहार इति। तथा सति

टिप्पणी।

तथा सतीति। यदि तृतीयक्षणे शब्दस्य नाशो वेदेऽपि, तदा तदीयशब्दाग्रहणाद्गुरूपदेशस्तव वचनान्ममज्ञानं जातमिति व्यवहारः स्वजन्यशब्दपाठाद्वेदपाठश्च न सम्भवेदित्यर्थः॥ १६३॥

आवरणभङ्गः।

एवं पुराणेष्वतिदेष्टुमाहुः पुराणानामित्यादि। तदर्थस्य भगवद्रूपत्वमाहेत्यर्थः। तथाच शतकोटिप्रविस्तरे अष्टादशसु तत्स्कन्धखण्डसहिताध्यायवाक्येष्वपि पूर्णतादर्शनात्तत्रापि तत्तद्रूपो भगवानेवार्थ इति तान्यपि सर्वत्र वाचकानीति भावः। ननु वाक्यार्थः संसर्गरूपो जन्यत्वान्न भगवत्त्वमर्हतीति कथमेवमुच्यत इत्यत आहुः वेदेत्यादि। तथाच पदानुपूर्व्याः सदैकरूप्यात् संसर्गस्यापि सिद्धत्वेनानुपूर्वीत्वाभावेनाजन्यत्वान्न तत्र भगवत्त्वभङ्गः, किन्तु लौकिक एव जन्य इति स एव तथेति भावः। ननु जन्यत्वेऽपि घटादिवद्भगवत्त्वसिद्धेरभगवत्त्वकथनं नातीवोपयुज्यते इत्यत आहुः अत इत्यादि। पदानामिति। मूलं व्याकुर्वन्ति संसर्गेत्यादि। हेतुरिति। उभयोः कल्पितत्वे हेतुरित्यर्थः॥ १६२॥

कालिदासेत्यादि। एवमर्थसहितयोर्वैदिकलौकिकवाक्ययोर्वैजात्यमुपपाद्य मतान्तरवैलक्षण्यार्थं प्रसङ्गाल्लौकिकवाक्यानां स्थितिप्रकारमाहेत्यर्थः। सर्वप्रतीतीत्यादि। तथाच यावज्ज्ञानं तस्य स्थितिरित्यर्थः। कथमेवमित्यत आहुः रूपेत्यादि। रूपसृष्टौ सत्यपि ज्ञाने पदार्थनाशदर्शनान्नामसृष्टौ च तद्वैलक्षण्यात्तथेत्यर्थः। किमत्र बीजमित्याकाङ्क्षायामाहुः तत्र हेतुरित्यादि। तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेरिति। तथाच बुद्ध्या रचनां कृत्वोच्चारयतीति बुद्धिकृतरचनाप्रकारेण पदानां वाक्यत्वनिष्पत्तेः पदानि बुद्ध्यैव लौकिकवाक्यरूपाणि जायन्त इति तन्नाशे वाक्यनाशोऽप्यु-

तदीयत्वाद्यभावाल्लोके वेदे च महद् दूषणम् । न तथाऽस्मन्मते, नित्यत्वात् । उत्पन्नानां च बहुकालं स्थितत्वाच्चेत्याह, न दूषणमिहाण्वपीति ॥ १६३ ॥

तदेव स्पष्टयति—

अद्यापि तानि जायन्ते घटवज्ज्ञानतः स्थितिः ।
विप्रलिप्सादिमूलत्वादप्रामाण्यं च लौकिके ॥ १६४
अप्रामाण्येऽपि प्रामाण्यं कर्तृविश्वासतः क्वचित् ।
अतो वेदाद्यसम्वादी नार्थो ग्राह्यः कथञ्चन ॥ १६५ ॥

अद्यापीति । परं प्रामाण्ये विवाद इति वक्तुं तद्धेतूनाह विप्रलिप्सादीति । यत्र पुरुषदोषाः सम्भवन्ति तदप्रमाणम् । व्यवहारस्ततोऽपि भ्रान्त इत्याह अप्रामाण्येऽपीति । प्रमाणे वेदे अप्रामाण्यम् । अप्रमाणे प्रतारकवाक्ये प्रामाण्यमिति । एतद्वचनस्य प्रयोजनमाह अतो वेदाद्यसम्वादीति ॥ १६४ ॥ १६५ ॥

टिप्पणी ।

यत्रेति । विप्रलिप्साकरणापाटवभ्रमप्रमादाः पुरुषदोषा यत्र मूलं भवन्ति तद्वाक्यमप्रमाणम् । न च भ्रान्तप्रतारकवाक्ये व्यभिचारः, तत्र तदभाववति तद्बोधनरूपायाः प्रतारणाया एवाभावाज्ज्ञातस्याबोधनाच्चेति भावः ॥ १६४ ॥

आवरणभङ्गः ।

पचर्यत इति बुध्वा स्थितिरिति युक्तमेवेति भावः । ननु वाक्यरूपशब्दानां त्रिक्षणावस्थायित्वाङ्गीकारे को दोषो येन तन्नाद्रियत इत्यत आहुः यथेत्यादि । लोके वेदे च महद्दूषणमिति । लोके राजकीयवाक्योक्तौ तद्वाक्यमनुकरोतीति व्यवहारापत्तिस्तेनानुकरणेन राजदण्डापत्तिर्दूतानां भण्डत्वापत्तिश्चेत्यादि, वेदे च यज्ञाङ्गमन्त्रैः प्रैषादौ च तत्तत्फलनाप्तिप्रसङ्गश्चेत्याद्यूह्यम् । नच वेदे तादृशानुपूर्व्यैव फलसिद्धिरिति वाच्यम्; मानाभावात् । अनेकशब्दकल्पनागौरवप्रसङ्गाच्चेति ॥ १६३ ॥

तदेवेति । उत्पत्तिस्थितिप्रकारं चेत्यर्थः । विवाद इति । लौकिकवैदिकवाक्ययोस्तुल्यं प्रामाण्यम्, प्रबलनिर्बलभावो वेति विप्रतिपत्तिजन्यः स इत्यर्थः । तद्धेतूनिति । अप्रामाण्यहेतून् पुरुषदोषानित्यर्थः । विप्रलिप्सादयस्तु, विप्रलिप्साभ्रमप्रमादकरणापाटवाद्याः । तत्रान्यथाज्ञात्वा परप्रतारणायान्यथाकथनेच्छा विप्रलिप्सा । भ्रमोऽतद्वति तदवगाहि ज्ञानम् । प्रमादोऽन्यमनस्कत्वम् । संश्लिष्टवाक्त्वं करणापाटवम् । एवमन्येऽप्यूह्याः । तेषां सङ्ग्रहायाहुः यत्रेत्यादि । ननु लोकेऽपि विप्रलिप्सादिमूलस्यैव वाक्यस्याप्रामाण्यं सर्वसम्मतं, न तु निर्दुष्टवक्तृकस्यापीति कथं सर्वस्याप्रामाण्यमित्यत आहुः व्यवहार इत्यादि । ततोऽपि भ्रान्त इति । सन्निपातकार्यत्वेन भ्रान्तोऽपि विप्रलिप्सादिमूलकत्वादत्यन्तं भ्रान्त इत्यर्थः । तद्विशदीकुर्वन्ति प्रमाण इत्यादि । बौद्धादिवाक्ये भ्रान्तप्रतारकवाक्ये च लौकिकानां प्रामाण्याभिमानात् तथेत्यर्थः ॥ १६४ ॥

प्रयोजनमाहेति । अस्य प्रासङ्गिकत्वपरिहारायाहेत्यर्थः । एतेन पूर्वोक्तं वेदस्य प्रामाण्यं प्रमेयविचारेण साधितम् ॥ १६५ ॥

नन्वेदेऽपि दोषसम्भवाद्विचारेण तथा क्रियत इत्याशङ्क्याह—

वेदे सर्वत्र नाधिक्यं वाक्ये न न्यूनताऽपि वा।
अतो न वाक्यभेदः स्याल्लोके तन्नैव दूषणम्॥ १६६॥

वेदे सर्वत्र नाधिक्यमिति। अन्येषामपि वादिनां वेदे नान्ये दोषाः, किन्त्वाधिक्यन्यूनते। सृष्ट्याद्यर्थवादा अधिकाः। मायानिरूपणाभावश्च न्यूनः। तदुभयं वेदे नास्ति। अतः पदपरित्यागेनाधिकमेलनेन वा न वेदार्थो वक्तव्यः। अतो वेदवाक्यभेदा अप्रामाणिकाः। लोके तु तन्न दूषणम्। लौकिकानां बहुदोषग्रस्तत्वात्॥ १६६॥

ननु वर्णैर्नित्यैस्तत्त्वाधिक्यं कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह—

भूतसूक्ष्मो ध्वनिर्वर्णो नामसृष्टौ निरूप्यते।
प्रकृतिप्रत्ययो लोके व्युत्पत्त्यर्थं निरूपितौ॥ १६७॥
नैतावता कृत्रिमत्वं शब्दे वक्तुं हि शक्यते।
प्रपञ्चभेदात् तत्त्वानामाधिक्यं वर्णतो न हि॥ १६८॥

भूतसूक्ष्म इति। शब्दतन्मात्रारूपो ध्वनिः। वर्णस्तु नामसृष्टौ। उभयत्रापि शब्दपदप्रयोगः परम्। अतः सृष्टिभेदान्नाधिक्यम्। ननु पदानां कथं नित्यता। प्रकृतिप्रत्ययविभागस्य निरूपितत्वादित्याशङ्क्याह प्रकृतीति। ज्ञानार्थमेव विभागं कल्पयित्वा निरूपिता, न तु तयोर्विभागो वस्तुतः॥ १६७॥ १६८॥

आवरणभङ्गः।

नन्वित्यादि। ब्रह्मवादे वेदस्येश्वरकर्तृकत्वात् पुरुषदोषस्तत्रापि सम्भवदुक्तिक इति तथा क्रियते। यद्यदंशे निर्दोषता तत्तदेवाद्रियते। अतः पूर्वोक्तमनुपपन्नमित्याशङ्क्याहेत्यर्थः। वेदेत्यादि। तथाच वाक्यभेदस्य वैदिकैर्दूषणत्वाभ्युपगमात् तथा निश्चीयते। तत्र पौरुषेयत्वस्यैव दूषकताबीजत्वात् तेषां दोषवत्त्वस्य सम्भावितत्वात्। ननु वाक्यभेदस्य लोकेऽपि दूषणत्वाङ्गीकारान्नेदं निश्चायकमित्यत आहुः लोके त्वित्यादि॥ १६६॥

सिंहावलोकनेन कारणसङ्ख्याप्रतिज्ञाहानिं परिहर्तुमाशङ्कन्ते ननु वर्णैरित्यादि। ननु कारणे शब्दतत्त्वस्याङ्गीकृतत्वात् तेनैव निर्वाहे मुधैवेमौ शङ्कापरिहारावित्याशङ्कायामाहुः शब्देत्यादि। तथाच श्रुतौ नामसृष्टेर्भेदेन कथनान्न शब्दतत्त्वेऽस्यान्तर्भावोऽतो न तौ मुधेति भावः। एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य, वर्णनित्यत्वस्य जैमिन्युपवर्षादिसम्मतत्वात् पदनित्यतामाक्षिपन्ति नन्वित्यादि। समादधते प्रकृतीत्यादि। अव्युत्पत्तिपक्षस्य सूत्रकाराभिमतत्वात्तथा निश्चीयत इति भावः॥ १६७॥ १६८॥

लौकिकवाक्यानां लयप्रकारमाह—

संस्कारमात्रविलयादथ वा तद्विलीनता ।
तदभावाद्वासुदेवे तच्छब्देषु न लीनता ॥ १६९ ॥
अस्मदादिमुखेनापि क्रीडार्थं सर्वतो हरिः ।
शब्दभेदं वितनुते रूपेष्विव विनिश्चयः ॥ १७० ॥

संस्कारमात्रविलयादिति । वस्तुतस्तु न विलयः । अथवा विलयाङ्गीकारश्चेत्संस्कारमात्रविलयात्तद्विलीनतेत्यर्थः । अयमपि पक्षो भगवद्वाक्येषु नास्तीत्याह तदभावादिति । ऋषीणां संस्कारस्य महाप्रलयपर्यन्तमवस्थानात् । एवं व्यवहारमाश्रित्यावान्तरभेदः शब्देषु निरूपितः । वस्तुतस्तु सर्वं वेदतुल्यमित्याह—अस्मदादिमुखेनापीति । सर्वं वाक्यं भगवत्कर्तृकमेव ॥ १६९ ॥ १७० ॥

नन्वेवं सति किञ्चिद्वाक्यं युक्तम्, किञ्चिदयुक्तम्, तत्र चाकाङ्क्षादयो धर्मा इति कल्पना कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह—

वाक्यार्थयोग्यावयवैर्वाक्यं सर्वत्र सम्मतम् ।
आकाङ्क्षा योग्यताऽऽसत्तिः पदे तस्मादुदीरिता ॥ १७१ ॥

वाक्यार्थयोग्यावयवैरिति । रूपसृष्टाविव नामसृष्टावपि योग्याऽवयवैरेव पदार्थनिर्माणम् । तावतैव ते धर्मा अङ्गभावं प्राप्नुवन्ति । एषाऽपि कल्पनैवेत्यर्थः ॥ १७१ ॥

टिप्पणी ।

तावतैवेति । योग्यावयवैर्वाक्यनिर्माणेनैवाकाङ्क्षायोग्यतासत्तयो धर्माः सहकारिणो भवन्तीत्यर्थः ॥ १७१ ॥

आवरणभङ्गः ।

लौकिकेत्यादि । एवं पदानां नित्यत्वं साधयित्वा लौकिकवाक्यस्यानित्यत्वपक्षे तन्नाश आवश्यक इत्यतस्तेषां लयप्रकारमाहेत्यर्थः । तत्र ब्रह्मवादं व्यवहारं चाश्रित्य पक्षद्वयमाहुः वस्तुत इत्यादि । संस्कारस्तु ज्ञानस्य वृत्तेर्वा सूक्ष्मावस्थेति वाक्यविषयकसंस्कारनाशे वाक्यबुद्ध्यावस्फुरणात्तन्नाश उपचर्यत इत्यर्थः । तर्हि व्यवहारे लौकिकस्य वेदात् को विशेष इत्यत आहुः अयमपीत्यादि । ननु तथापि न विशेषे भगवज्ज्ञानस्य नित्यत्वेन लौकिकवाक्यविषयकस्यापि तस्यानाशादिति शङ्कायामाहुः ऋषीणामित्यादि । तथाचान्यविषयकः संस्कार ऋषीणां न तिष्ठतीति तथेत्यर्थः । ब्रह्मवादसिद्धान्तं वक्तुमाहुः एवमित्यादि । अतो विद्वत्तायां सर्वं नित्यमेव प्रमाणमेवेत्यर्थः । एतेन, अथवा सर्वरूपत्वादिति पूर्वोक्तं समर्थितं ज्ञेयम् ॥ १६९ ॥ १७० ॥

एवं सतीति । तुल्यत्वे प्रामाण्ये च सतीत्यर्थः । तत्रेति । वाक्यावयवेषु । आहेति । कल्पनायां बीजमाहेत्यर्थः । पदार्थनिर्माणमिति । लौकिकवाक्यस्य तदर्थस्य च बुद्धिकल्पितत्वात् तदङ्गभूतपदार्थस्यापि नानानुपूर्वीकपदोच्चारणेन कल्पितत्वाऽवधारणात् तथैव वस्तुनिर्माणमित्यर्थः । तावतैवेति योग्यावयवरूपतामात्रेणैवेत्यर्थः । ते धर्मा इति । आकाङ्क्षादय इत्यर्थः । एषाऽपि कल्पनैवेति । वस्तुमात्रस्य भगवद्रूपत्वेन नित्यतया जन्यत्वाभावेन धर्माणामङ्गभावप्राप्तिरपि कल्प-

तदेव साधयति—

मृदा घोटकनिर्माणे न शृङ्गकरणं मतम् ।
तथा युक्तार्थबोधाय नाऽऽकाङ्क्षारहितं पदम् ॥ १७२ ॥

मृदा घोटकनिर्माण इति । यथा यथर्षीणां पुरातनानि वाक्यानि तथाऽऽधुनिकानामपि । अन्यथा वाक्यार्थप्रतीतिर्न स्यात्, न त्वऽपूर्वपदार्थः कश्चित्कल्प्यते ॥१७२॥

उपसंहरति—

अर्थद्वारा पदे धर्मा लोकदृष्टैव कल्पिताः ।
तस्माद्वाक्यं सर्वमेव सा यतो विश्वतोमुखी ॥ १७३ ॥

आवरणभङ्गः ।

नैवेत्यर्थः । प्रसङ्गादाकाङ्क्षादीनां स्वरूपमुच्यते । तत्र व्याकरणपरिष्कृतप्रकृतिप्रत्ययसमभिव्याहारः पदे आकाङ्क्षा । नच विभक्तिविशेषसमभिव्याहारमात्रं सेति वाच्यम् । जल अम्, आनीञ् सिप्—इति वाक्यादपि जलमानयेति बोधापत्तेः । नापि यत्पदं यत्पदेन सह यादृशान्वयबोधजनकं तत्पदस्य तत्पदसमभिव्याहारस्तादृशान्वयबोधे सा । केवलयोः प्रकृतिप्रत्यययोः पदसञ्ज्ञायामनुशासनविरहात् । अर्थवच्छब्दत्वमिति स्वीकृत्य दोषपरिहारेऽपि, घट टा, वारि अम्, आनीञ् सिप्—इतिवाक्यादपि बोधापत्तेर्दुर्वारत्वात् । अनुशासनविरहेऽप्यर्थवत्तया पदतासद्भावात् । पदपरिष्कारायानुशासनापेक्षायां तु तदीयपदसञ्ज्ञानुशासनत्यागस्यानुचितत्वात् । नापीच्छा । तस्याश्चेतनधर्मत्वेन शब्दे तस्या वक्तुमशक्यत्वात् । नापि श्रोतरि पदोच्चारणजसंसर्गावगमप्रागभावः सा । तस्यात्मनिष्ठत्वेन व्यधिकरणत्वात् । प्रागभावस्यैव विप्रतिपन्नत्वेन तद्रूपताया वक्तुमशक्यत्वाच्च । तस्माद् व्युत्पत्तिपक्षे पूर्वोक्तरूपैवाकाङ्क्षेति दिक् । इयं च पदधर्मः । योग्यता तु विवक्षितकार्योऽन्वयानुकूलत्वं बाधकाभावो वा । सा चार्थधर्मः । आसत्तिः, सन्निधिः, अव्यवधानेन स्वप्रतियोगिज्ञानं वा पदस्यैव धर्मः । यत्रापि निपुणतमराजभृत्यादीनां पदसन्निधिविरहेऽपि बोधो दृश्यते तत्र बोद्धा पदसन्निधिरस्त्येवेति न दोषः ॥ १७१ ॥

एतदेव स्पष्टयितुं दृष्टान्तं वदन्त आहुः तदेवेत्यादि । वाक्यस्य युक्तत्वमित्यर्थः । मृदेत्यादि । मूलं त्वेवं योज्यम् । मृदा घोटकनिर्माणे शृङ्गकरणं युक्तार्थबोधाय यथा न मतं तथा आकाङ्क्षारहितं पदमपि तादृशार्थबोधाय न मतमिति । तथाच बोधानुरोधेन आकाङ्क्षादीनामङ्गानां यत्र सद्भावस्तद्युक्तमिति कल्प्यते । यत्र च तदभावस्तदयुक्तमित्युच्यते इत्येषा बोधानुरोधिनी कल्पनेति सिद्धमित्यर्थः । एतस्याः कल्पनायाः परम्पराप्राप्तत्वायाहुः यथायथेत्यादि । तस्यादृष्टानुरोधित्वमाहुः अन्यथेति । घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादिरूपेण वाक्यघटने । अप्रतीतौ हेतुमाहुः न त्वित्यादि ॥ १७२ ॥

एवं वाक्यानां युक्तायुक्तत्वे समर्थयित्वा आकाङ्क्षादीनामङ्गतायाः कल्पितत्वं समर्थयन्त आहुः उपसंहरतीत्यादि । तथाच वाक्यादर्थोपस्थितौ पदजन्यपदार्थस्मृतेर्द्वारत्वात् पदैश्चाकाङ्क्षितयोग्या-

अर्थद्वारेति । लोकदृष्ट्यैव, न तु परमार्थतः । अनेनाकाङ्क्षाद्यभावेऽपि वाक्यत्वं न विरुद्ध्यत इत्युक्तं भवति । दश दाडिमानीत्यपि पदार्थनिरूपकत्वाद्वाक्यं प्रमाणम् । वह्निना सिञ्चतीत्यपि उष्णजलेन सिञ्चतीत्यर्थो भवति । यथा गङ्गायां घोषः । प्रतारकवाक्यमेवासत्यादियुक्तमपि बाधितार्थत्वादवाक्यम् । तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणम् । यतः सा सरस्वती सर्वतोमुखी ॥ १७२ ॥

टिप्पणी ।

लोकदृष्ट्येति । अभिधानपर्यवसानमाकाङ्क्षा, बाधकप्रमाविरहो योग्यता, अविलम्बेनोच्चारणमासत्तिरित्यादीनां शास्त्रकारैः स्वज्ञानेन लोकज्ञानसापेक्षत्वेन वा कृतत्वादित्यर्थः । **अनेनेति** । पुरुषान्तरे तात्पर्यान्तरेण लक्षणया बाधारविशेषानिर्देशे च तस्यैव वाक्यस्य प्रमाजनकत्वादिति भावः एतदेवं स्फुटीकृतं **दशदाडिमानीत्यारभ्य सर्वतोमुखीत्यन्तेन ॥ १७२ ॥**

आवरणभङ्गः ।

सन्नानामेव स्मारणादाकाङ्क्षादयोऽर्थधर्माः श्रोतृवक्तृभ्यां पदेषु कल्प्यन्त इति पदधर्मत्वव्यवहार इत्यर्थः । तदाहुः **लोकेत्यादि** । परमार्थतस्तु ब्रह्मरूपतया सर्वस्य सर्वरूपत्वेन सर्वकारकनिर्वाहः । **सर्वैरिति** । तथेत्यर्थः । एवं परमार्थसूचने यत् सिद्ध्यति तदाहुः **अनेनेत्यादि** । कथमित्यत आहुः **दशेत्यादि** । तथाच पदात् पदार्थप्रमावत् पदसमूहादर्थसमूहप्रमा अपि बाधकाभावादुत्पद्यत इति तथेत्यर्थः । नन्वस्त्वनाकाङ्क्षितपदसमूहस्य प्रामाण्यं, तथाप्ययोग्यवाक्यस्य व्यवहारबाधकत्वात् प्रामाण्यं कथं सङ्गच्छत इत्यत आहुः **वह्निनेत्यादि** । तथाचायोग्यवाक्यमपि सेचकमूर्खत्वप्रतीतिफलकलक्षणया बोधकं सम्भवतीति न तस्यापि व्यवहारबाधकत्वमिति तदपि प्रमाणमित्यर्थः। आसत्तिरहितस्य बोधकत्वं तु चादिव्यवधानेन कालव्यवधानेन च गूढार्थवक्तृषु तादृशसमयबोद्धृषु च प्रमितिजनकत्वेन प्रसिद्धमेवेति प्रामाण्यविचारे तादृशवाक्यमत्र नोदाहृतमिति ज्ञेयम् । नन्वेवमयोग्यस्यापि प्रामाण्ये सति प्रतारकवाक्येऽपि प्रामाण्यापत्तिरित्याशङ्कायामाहुः **प्रतारकेत्यादि** । लोके वाक्यार्थस्य बुद्धिकल्पितत्वेन भ्रान्तस्य च यथादृष्टार्थवादित्वेन तद्वाक्यं नाप्रमाणं, किन्तु तस्य ज्ञानमेवाप्रमाणम् । अत एव लोके तादृशोऽनृतवादी नोच्यते, किन्त्वज्ञ एवोच्यते । अत एव ब्रह्मणा, "नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः । अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे" इत्यनेन नारदवाक्यस्य प्रमाणत्वम्, नारदस्य चाज्ञत्वमुक्तम्। एतेन प्रमत्तवाक्यमपि व्याख्यातम् । एतावानन्योऽपि विशेषः । यत्तादृशवाक्याद्वाक्यसत्यत्ववक्तृभ्रान्तत्वयोरेव प्रमा, न तु वाक्यार्थस्येति । प्रतारकस्तु लोके शास्त्रेऽपि मिथ्यावादित्वेन गर्हित इति तद्वाक्यं वाक्याभास एवेत्यर्थः । एवञ्चाबाधितार्थबोधकपदसमूहत्वं प्रमाणवाक्यत्वमिति लक्षणं ज्ञेयम् ॥ १७२ ॥

---

१ नेदं दृश्यते कांकरोलीपुस्तके.

उपासनार्थमाह—

पदद्वयं सुप्तिङन्तं ताभ्यां चलति वाक्पतिः।
पदानि बहुशः सन्ति सुप्तिङ्मध्यविभेदतः॥ १७४॥
तत्राऽसकारवालादि ते भिन्ना अंशतः परे।
तदुदाहरणे श्लेषस्तत्र योगादिकल्पना॥ १७५॥

पदद्वयमिति। वाग्रूपः पतिर्भगवान्। अधुना विकारवत्पदानामर्थद्वयं निरूपयितुं भगवति भेदानाह पदानीति। सुबन्तावयवे तिङन्तत्वं विपरीतत्वं च क्वचित्। तदेवाह तत्रासकरवालादीति। तत्रेति पृथगपि सम्भवति। करवालशब्दात् करशब्दः पृथगपि। करवामेति तिङन्ते सुबन्तपदद्वयम्। एवं सर्वत्रोह्यम्। तत्र पदभेदः शास्त्रार्थः। तादृशप्रयोगे फलमाह तदुदाहरण इति॥ १७४॥ १७५॥

टिप्पणी।

भगवतीति। वाग्रूप इति शेषः। पदानीति। मूले। मध्यमत्वमवयवभूतत्वम्॥ १७४॥

तत्रासेति मूले। परे तिङन्तेऽवयवभूताः सुबन्तशब्दाभिन्ना इत्यर्थः। तत्रेति। पदभेदो व्याकरणसाध्यः, प्रयोजनं वेत्यर्थः। तत्र योगादिति मूले। अर्थविशेषबोधे पदे योग-योगरूढि-रूढय उपयुज्यन्त इत्यर्थः॥ १७५॥

आवरणभङ्गः।

उपासनार्थमिति। एवं विचारितस्य नामप्रपञ्चस्य भगवद्रूपत्वेनोपासनार्थमित्यर्थः। उपासनायां सुप्तिङन्तयोः पदत्वकथनादन्येषां व्याकरणसिद्धानामङ्गत्वमुपासकैरूह्यमिति बोधितम्, वाचं धेनुमितिवत्। अधुनेत्यादि। एवं शुद्धपदानां स्वरूपे निरूपितेऽपि न नामलीलापूर्तिरिति विकारवत्पदानां यथा मृदादीनां नाना आकृतयो रूपसृष्टौ विकारास्तथा नामसृष्टौ पदानां पदान्तरगर्भत्वमिति तद्वतां पदानाम् अर्थद्वयं वक्तुं भगवति नामप्रपञ्चात्मके विकारानाहेत्यर्थः। मूले बहुश इति। बहूनीत्यर्थः। सुप्तिङ्मध्यविभेदत इति। सुप् सुबन्तं मध्ये यस्येति सुब्मध्यं च तिङ्मध्यं च सुप्तिङ्मध्यं, तत्कृतविभेदादित्यर्थः। एवञ्च सुबन्तेऽपि तिङन्तपदद्वयं कुरु भवेत्यादावूह्यमित्याशयेनाहुः एवमित्यादि। एतत्कथनप्रयोजनमाहुः तत्र पदभेदः शास्त्रार्थ इति। तथाच शास्त्रार्थत्वात् कथनमित्यर्थः। मूले ते भिन्ना अंशतः परे इति। अंशतो भिन्नास्ते शब्दाः परे, विकृतत्वादखण्डपदेभ्योऽतिरिक्ता इत्यर्थः। अग्रिमे मूले तत्र योगादिकल्पनेति। श्लेषस्य नानाऽर्थाश्रयत्वादेकपदे केवलरूढ्या नानार्थता सर्वत्र न निर्वहतीति तदर्थं श्लेषे योगस्य योगरूढेर्वृत्त्यन्तरस्य च कल्पनेत्यर्थः। अत्रादिपदेन तात्पर्यवृत्तेरपि सङ्ग्रहः। "मा मा वैदर्भ्यऽसूयेथा" इत्यस्य सुबोधिन्यां शब्दस्य मुख्या गौणी तात्पर्यवृत्तिश्चेति भेदेन त्रेधा वृत्त्यङ्गीकारात्। नच लक्षणया चतुर्द्धा शङ्क्या। लक्षणागौण्योस्त्वभेद इति तत्रोक्तेः। मुख्यार्थबाधस्योभयत्रापि तौल्यात्। तेन शक्यसम्बन्धो गौण्या एव लक्षणम्॥ १७४॥ १७५॥

वृत्तीनां भेदकमाह—

फलार्थं लक्षणा प्रोक्ता गौणी चाप्युपचारतः।
प्राकट्येषत्तिरोधानतिरोधानैर्हरिर्विभौ ॥ १७६ ॥

फलार्थमिति। रूढिलक्षणा नासत्सम्मता। गौणी च वृत्तिर्न गुणयोगात्। किन्तूपचारत एव। तादृशधर्मिरूपेण धर्मिण एवोपचारात्। धर्मस्फुरणं तु धर्मिज्ञानादेव। एवं त्रैविध्ये हेतुमाह प्राकट्येति॥ १७६ ॥

टिप्पणी।

फलार्थमितीति। शक्यसम्बन्धेन शैत्यादिलाभादित्यर्थः। रूढिलक्षणेति। घटं करोतीत्यत्र घटपदं शक्तितुल्यया निरूढलक्षणया कपालं वदति कृतेर्घटविषयत्वाभावादिति नासत्सम्मतम्; कृतेर्घटानुकूलत्वात्साङ्ख्यमते कारणे घटसत्त्वे न घटविषयत्वाच्चेति भावः। गौणी चेति। अग्निमाणवकयोरेकधर्मवत्त्वसम्बन्धेन लक्षणयैवोपपत्तौ न भिन्ना वृत्तिरङ्गीकार्येत्यर्थः। एवं त्रैविध्य इति। शब्दार्थरूपो हरिः शक्त्या शीघ्रमुपतिष्ठते तात्पर्यज्ञानसहकाराल्लक्षणया विलम्बेन गौण्या तद्धर्मतात्पर्यज्ञानाभ्यां ततोऽपि विलम्बेनेति शक्त्यादयस्तिस्रो वृत्तय इत्यर्थः॥ १७६ ॥

आवरणभङ्गः।

फलार्थेत्यादि। तथाच गौणी फलार्थमाद्रियमाणा लक्षणा प्रोक्ता। चोऽवधारणे। उपचारतः सैव गौणी प्रोक्तेति गौण्या एव फलमुपचारश्चेति भेदकद्वयमित्यर्थः। तात्पर्यं च शक्त्यतिरिक्तत्वे सति बुभुत्सितार्थप्रतीतिजनकत्वमेव, न तु तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्वम्। तेन व्यञ्जनाया अपि सङ्ग्रहः। वस्तुतस्तु, मुख्या तात्पर्यं चेति द्वे एव वृत्ती इति सिद्ध्यति। तात्पर्ये वा अन्तर्भाव इति लक्षणागौण्योरभेदपक्षोत्तरं तत्रैवोक्तेः। विशेषः प्रस्थानरत्नाकरादवगन्तव्यः। ननु रूढिलक्षणाया अपि सद्भावाद्वृत्तीनां भेदः साहजिक एवाङ्गीकार्यो, न तु भेदककृत इत्याशङ्कायामाहुः रूढीत्यादि। कुशलादिपदे कोशेन शक्तेरेव ग्रहणात् पदानां चाकृतौ प्रवाहे वा शक्तत्वेन चित्रतुरगादौ च तदाकृतेः सत्त्वेन सारूप्यनिबन्धनया गौण्या ध्वस्तघटादावपि सूक्ष्मरूपेण धर्मिसद्भावाच्छक्त्यैव निर्वाहात् तथेत्यर्थः। गौण्यामपि कञ्चिद्विशेषमाहुः गौणीत्यादि। "तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसालिङ्गभूमभिः। षड्भिः सर्वत्र शब्दानां गौणी वृत्तिः प्रकल्पिते"ति पूर्वतन्त्रोक्ता गौणी वृत्तिर्न गुणयोगान्न तत्सिद्ध्यादिगुणयोगात्, किन्तु विधेयस्तुत्यर्थोपचारत एव। तत्र हेतुः तादृशेत्यादि। तादृशो, यजमानः प्रस्तर इत्यादौ यजमानादिरूपो यो धर्मिणः प्रस्तरादेरेवोपचारात् तेन रूपेण धर्म्येवोपचर्यते, न तु धर्म इति तथेत्यर्थः। ननु जैमिनीये तत्सिद्ध्यादि सूत्रितमिति तदनङ्गीकारे तस्य का गतिरित्यत आहुः धर्मेत्यादि। वाक्यश्रवणोत्तरं प्रथमतो धर्म्येव ज्ञायत इति पश्चाद्धर्मस्फुरणार्थं तथा सूत्रितमतो न तद्विरोध इत्यर्थः। एवमत्र शक्तिस्तात्पर्यं गौणी चेति तिस्रो वृत्तयः स्वीकृताः। तद्भेदास्तु, शास्त्रान्तरे प्रसिद्धा इति नात्र प्रपञ्चिताः, प्रस्थानरत्नाकरे केचनोक्ताश्चेति ततो ज्ञेयाः। हेतुमिति प्रयोजकम्। प्राकट्येत्यादि। तथाच लीलार्थमेवम्भेद इति लीलैव प्रयोजिकेत्यर्थः॥ १७६ ॥

एवं शब्दगतान् धर्मान् विचार्य तस्य प्रवर्तकत्वमस्ति, न वेति विचार्यते—

प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य, न विध्यर्थस्य कर्हिचित् ।
कार्यतादिपरिज्ञानमुत्पाद्यैष प्रवर्तयेत् ॥ १७७ ॥

प्रवर्तकत्वमित्यादिना । ब्रह्मवादव्यतिरिक्तेषु शब्दश्रवणानन्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ कारणता शब्दस्यावसीयते । तत्र षट् पक्षाः सम्भवन्ति—स्वरूपम्, अभिप्रायज्ञानम्, भावना, अभिधा, आज्ञा, इष्टसाधनताज्ञानमिति । तान् सर्वानेकहेलया स्वमतेन दूषयति कृष्णस्यैव प्रवर्तकत्वं, न विध्यर्थस्येति । काकतालीयतया पूर्वभावो न हेतुत्वसाधकः । अव्यभिचारस्तु विध्यादीनां नास्ति । ननु दृश्यते—ममेष्टं ममैतत्कार्यमित्यादिज्ञानं कृत्वा प्रवर्तनात् कारणत्वमित्याशङ्क्याह कार्यतादीति ॥ १७७ ॥

कुत एतदत आह—

अनिष्टमिष्टं साध्यं वा नासाध्यं किञ्चिदस्ति हि ।
तथापि यतते कश्चित् क्वचिदेव हरीच्छया ॥ १७८ ॥

अनिष्टमिति । इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वं तदा स्याद् यद्यनिष्टसाधनतां ज्ञात्वा निवर्तेत । विषभक्षणे युद्धे द्रुपतने प्रवृत्तिदर्शनात् । तथा पाषण्डमतेऽसाध्येऽपि मोक्षे प्रवृत्तिदर्शनात् । अतो भगवानेव यथेष्टं यथैव प्रवर्तयते तथा ज्ञानमुत्पाद्य प्रवर्तते । वस्तुतस्तु न किञ्चिदिष्टं, न किञ्चित्साध्यमित्यर्थः ॥ १७८ ॥

टिप्पणी ।

तत्र षट् पक्षा इत्यत्र स्वरूपमिति । प्रवृत्तिपरवाक्यस्वरूपमित्यर्थः । अभिप्रायज्ञानमिति । वक्त्रभिप्रायज्ञानमित्यर्थः । भावनेति । कृतिरित्यर्थः । अभिधेति । मीमांसकाभिमतलिङादिवाच्या शब्दशक्तिरित्यर्थः । आज्ञेति । वेदाधीनकार्यताज्ञानमित्यर्थः ॥ १७७ ॥

इष्टसाधनताज्ञानस्येत्यारभ्य न किञ्चित्साध्यमित्यन्ते । अनिष्टसाधनताज्ञानेऽपि विषभक्षणादौ निवृत्त्यभावात् । तथा पाषण्डमतेनासाध्येऽपि मोक्षे च निवृत्त्यभावात्, अनिष्टसाधनता-

आवरणभङ्गः ।

विचार्यत इति । वेदाख्यस्य प्रमेयस्य बलज्ञानार्थं विचार्यत इत्यर्थः । प्रवर्तकत्वमित्यत्र षट्पक्षेषु, स्वरूपमिति—प्रवृत्तिपरवाक्यस्वरूपम् । अभिप्रायज्ञानमिति लौकिकवाक्ये वक्तुस्तात्पर्यज्ञानम् वेदे पुरुषानङ्गीकाराच्छब्दनिष्ठाऽभिप्रायज्ञानम् । भावनेति । आख्यातनिष्ठा आर्थी भावना । अभिधेति । लिङ्निष्ठा शाब्दी भावना भाट्टमते । आज्ञेति । नियोगः प्राभाकरमते । इष्टसाधनता नैयायिकमते । अत्र बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमपि विशेषयन्ति । एवं कार्यतापि वैयाकरणमतसिद्धा ज्ञेया । ननु दृश्यत इत्यादि । तथाच षट्सु पक्षेषु पञ्चानामर्थानां पराहतिसम्भवेऽपि सर्वजनीनानुभवसाहाय्येन षष्ठस्य प्रवर्तकत्वमस्त्वित्यर्थः । एतदुत्तरं तु मूल एवोक्तम् । साध्यमसाध्यं वा नेति मूलयोजना ॥ १७७ ॥

सिद्धान्तितमर्थं द्रढयितुं विपक्षे बाधकं तर्कमाहुः इष्टसाधनतेत्यादि । ननु तत्रेष्टसाधनत्व-

नन्वेवं सत्यर्थवादादीनां वैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह—

मिथ्याप्रलोभनं वेदे न क्वचित् कर्हिचिद्भवेत् ।
तथैव कर्मविज्ञानं धर्मस्तेनैव नान्यथा ॥ १७९ ॥
साधनानि स्वरूपं च सर्वस्याह श्रुतिः फलम् ।
न प्रवर्तयितुं शक्तास्तथा चेन्नरको न हि ॥ १८० ॥

मिथ्याप्रलोभनमिति । वेदे कर्मादिष्वविद्यमानं फलरूपं न कोऽप्यङ्गीकरोति, तेन सार्थकता स्यात् । किन्तु यथास्थितमेवाह । अतः सर्वस्यापि स्वरूपप्रतिपादकत्वा-दैकवाक्यतासिद्ध्यर्थमपि प्रवर्तकत्वमङ्गीकर्तव्यम् । तर्हि अवचनमेवास्त्वित्याशङ्क्याह तथैव कर्मविज्ञानमिति । क्षिप्रकारिणीं देवतां ज्ञात्वैव कर्म कर्तव्यम् । स्तुतिरुत्कर्षा-धायकगुणवर्णनम् । तत्कर्माङ्गमेव प्रकरणात् । "वषट्कारो वै गायत्रियै शिरोऽच्छिनत् । तस्यै रसः परापतत् । स पृथिवीं प्राविशत् । स खदिरोऽभवदि"ति खदिरस्वरूपं तादृश-मेव ज्ञात्वा कर्म कर्तव्यम् । एवं सर्वत्र । अतो वेदे सर्वस्यापि स्वरूपप्रतिपादकत्वान्न प्रवर्तकत्वं, किन्तु सर्वस्यापि साधनं फलं चाह । तावतैव प्रवर्तकत्वं यदि तदोमिति ब्रूमः । फलमुखप्रवृत्तिश्चेत् सर्वानेव प्रवर्तयेत् । ततश्च नरकादिकं न भवेत् । अतो दृष्टा-दृष्टारिष्टदर्शनान्न वेदः प्रवर्तकः ॥ १७९ ॥ १८० ॥

टिप्पणी ।

ज्ञानं कृत्यसाध्यताज्ञानं वा न निवर्तकमिष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वज्ञानेऽपि भक्तिधर्मादौ प्रवृत्त्यदर्श-नाद्वस्तुतो न किञ्चिदिष्टं साध्यं वा प्रवृत्तिनियामकम्, भगवानेव नियामक इत्यर्थः ॥ १७८ ॥

वेद इत्यारभ्याङ्गीकर्तव्यमित्यन्ते । वेदेऽविद्यमानं फलस्वरूपं कोऽपि नाङ्गीकरोति । करोति चेत्, तदा, तव मते प्रवर्तकत्वेनार्थवादानां सार्थकताऽपि स्यात्, किन्तु, द्रव्यदेवतादीनां स्वरूपमाह अर्थवादश्रुतिः, फलार्थं तथा ज्ञानार्थमन्यथार्थवादानां स्वार्थप्रमापणे विधिसा-हाय्यकरणमपि न स्यादप्रमाण्यं च स्यादित्यर्थः । अत इति । दृष्टमरिष्टं राजदण्डादि नरका-द्यदृष्टमरिष्टमित्यर्थः ॥ १७९ ॥

आवरणभङ्गः ।

कृतिसाध्यत्वभ्रमादेव प्रवृत्तिरिति चेत्, सत्यम्; तथापि, स भ्रमः केषाञ्चिदुदेति, केषाञ्चिन्नेत्यत्र किं कारणमिति पृच्छामः, शब्द इति चेन्न, सर्वान् प्रति तुल्यत्वात् । अदृष्टं चेन्न, ईश्वरेच्छयैव निर्वाहात् । यथेदं तथा श्रुतिगीतायां, "अपरिमिता ध्रुवा" इत्यत्रान्यत्र च प्रपञ्चितमिति ततोऽवधेयम् ॥ १७८ ॥

वैयर्थ्यमिति । इष्टाद्यभावे प्ररोचनानुपयोगात् तथेत्यर्थः । प्रवृत्तमिति । प्रलोभनं प्रवृत्तमि-त्यर्थः । तर्हीति । यदि नैकवाक्यतार्थमपि प्ररोचनमभिप्रेयते तर्हीत्यर्थः । कर्मविज्ञानप्रकारं दिङ्मा-त्रेण दर्शयन्ति क्षिप्रेत्यादि सर्वत्रेत्यन्तेन । तदिति । ज्ञानम् । एतेन, "विधिना त्वेकवाक्यत्वा-दि"ति जैमिनीयविरोधः परिहृतो बोध्यः । कर्माङ्गज्ञानविषयप्रतिपादकत्वेनैकवाक्यत्वस्य सूपपादित-

ननु भगवत्प्रवर्तनापक्षेऽपि अयं दोषः स्यात्, परमकृपालुत्वाद्भगवतस्तत्राऽऽह—

लोकेऽपि राजदण्डादेरन्यथाविषयो न हि ।
प्रेरको भगवानात्मा स्वात्मना दोषवर्जितः ॥ १८१ ॥

प्रेरको भगवानात्मेति । सर्वेषामात्मत्वाद्यथासुखं प्रेरयतु, न कोऽपि दोषः, अधिकं तु भेदनिर्देशादित्यत्र विस्तृतमस्माभिः ॥ १८१ ॥

तर्हि भगवान् स्वात्मानमपि कथमेवं प्रेरयति, समतयाऽपि प्रेरणसमर्थस्तत्राह—

न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिँस्तारतम्यं न चैव हि ।
अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत्तु निरूपितम् ॥ १८२ ॥

न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिन्निति । सर्वासु योनिषु सर्वेषु जीवेषु सुखदुःखयोस्तुल्यता । पुरुषः स्वभ्रमादेव तारतम्यं पश्यति । अन्यथा तत्सुखेच्छा कदाचिज्जायमाना न स्यात् । "राज्यान्ते नरकं ध्रुवमि"ति वाक्यानि सङ्गतानि भवन्ति । तस्मात्, फलं सर्वत्र समम् । स्वरूपं च सममिति पूर्वमेवोक्तमित्याह अखण्डं कृष्णवत्सर्वमिति ॥१८२॥

आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥ १८३ ॥

आविर्भावतिरोभावावित्यत्र प्रमाणमाह आत्मैव तदिदमिति ॥ १८३ ॥

टिप्पणी ।

सर्वास्वित्यारभ्य भवन्तीत्यन्ते । सर्वत्र सुखस्य निरुपधीच्छाविषयत्वेन तुल्यत्वादुत्कटरागिणोत एव भाविनरकादिज्ञानमपि न बाधकं भवतीति भावः । तस्मादिति । फलं सर्वत्र स्वानुरूपमित्यर्थः । यद्वा, सर्वत्र ब्रह्मैव फलमित्यर्थः ॥ १८२ ॥

यदि प्रपञ्चो ब्रह्माभिन्न उत्पत्तिविनाशशीलश्च स्यात्तदाविर्भावतिरोभावयोः प्रयोजनाभावात्तयोः स्वीकार एव न स्यात् । प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वे सिद्धे ताभ्यां विना उत्पत्तिनाशप्रतीती न स्यातामिति तयोः प्रमाणत्वेन विश्वस्य ब्रह्मात्मकत्वमुच्यत इत्याशयेनाहुः आविर्भावेति ॥ १८३ ॥

आवरणभङ्गः ।

स्यादिति । तथाचायमर्थः विधिवाक्यादिश्रवणोत्तरं यत्र प्रवृत्तिस्तत्र विध्याद्यर्थबोधनद्वारेण भगवानेव प्रवर्तको, न तु विध्यर्थः प्रवर्तकः । अर्थवादोक्तस्तुत्यादिकं च कर्म तत्सम्बन्धितद्विरुद्धान्यतमस्वरूपं प्रतिपादयत् तद्बोधकतयाऽङ्गभावं भजते, न तु प्ररोचनयेति ॥ १७९–८० ॥

एवं वेदस्य प्रमेयबलं विचार्य निर्णयं वक्तुं किञ्चिदाशङ्कन्ते नन्वित्यादि । अयमिति । नरकादिभवनरूपः । मूले, स्वात्मना प्रेरक इति सम्बन्धः ॥ १८१ ॥

पूर्वमेवोक्तमिति । शास्त्रार्थप्रकरणे, "यत्र येन यतो यस्मे"ति वाक्योपन्यासेन तद्व्याख्यानेन च प्रागेवोक्तमित्यर्थः । एवमत्र, "न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिन्नि"त्यादिकारिकाद्वयेन यथायथं प्रमेयप्रमाणाभ्यां सर्वं भगवानिति निर्णीतम् । "आत्मैव तदि"ति वाक्यं त्वेकादशस्कन्धेऽष्टाविंशाध्याये भगवतोक्तं ज्ञेयम् ॥ १८२ ॥

आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति ।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् ॥ १८४ ॥

एवं पुराणवाक्यानि श्रुतिवाक्यान्यप्युदाहृत्य सञ्जीवान् प्रत्याह इति श्रुत्यर्थमादायेति । एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमिति पूर्वं प्रतिज्ञातत्वात् तच्छास्त्रं ब्रह्मवादः । शिष्टानि मतानि मोहार्थमुत्पन्नानीत्यवोचाम ॥ १८४ ॥

एवं प्रमेयप्रकरणं समाप्य फलं निरूपयितुं न विहितसाधनमात्रेणैव फलं, किन्तु सर्वाङ्गसहितेनेति वक्तुं वहिरङ्गाणि निरूपयति—

टिप्पणी ।

एवमिति । "पुरुष एवेदꣳसर्वम्", "स वै सर्वमिदं जगत्", "स भूतꣳ स भव्यम्", ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादीनि श्रुतिवाक्यानि, "मत्तः परतरं नान्यत्" इति गीतायाम्, विष्णुपुराणे च "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च । नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वो यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य" "अहमेवासमि"त्यादीनि पुराणवाक्यानि । तच्छास्त्रमिति । गीताशास्त्रस्यार्थो ब्रह्मवादो विभूतिविश्वरूपनिरूपणेन भगवता जगतो ब्रह्मात्मकत्वनिरूपणादिति भावः ॥ १८४ ॥

आवरणभङ्गः ।

अतः परं वादिनां वहुत्वाद्भाविभिस्तैः किञ्चिदन्यथा आशङ्क्यैता युक्तयश्चेत् पराभूयन्ते, तदा एतन्मार्गीयैः स्वमतस्थापनं कथं कार्यमित्यपेक्षायां स्थापनप्रकारमुपदिशन्त आज्ञापयन्ति एवं पुराणेत्यादि । ननु पूर्वप्रकरणे, वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानीत्युक्त्वा, उत्तरं पूर्वसन्देहवारकमिति प्रतिज्ञातम्, प्रकृते तु, श्रीभागवतवाक्येन निर्णीतं, न गीतयेति, प्रतिज्ञाविरोध इत्याकाङ्क्षायाम्, अयमेव ब्रह्मवाद इति मूलं विवृण्वन्ति एकं शास्त्रमित्यादि । ब्रह्मवादस्तु तत्र विभूतिविश्वरूपाध्याययोः स्फुटति । तथाचायमपि गीतोक्तनिर्णय इति न प्रतिज्ञाविरोध इत्यर्थः ॥ १८४ ॥

इति प्रमेयप्रकरणम् ।

एवमत्र प्रमेयप्रकरणे स्वतन्त्रप्रमेयनिरूपणेन, ब्रह्मतनुः पर इत्यादिपादोनश्लोकद्वयोक्तं विचारितम् । अतः परं "भजनं सर्वरूपेषु फलसिद्ध्या" इत्यादिनोक्तं पुराणावान्तरप्रमेयभूतसाधनफलतारतम्यं विचारणीयम् । किञ्चोपोद्घातप्रकरणे कर्ममार्गविचारो जघन्याधिकारकत्वात्पूर्वं न कृत इति मोक्षसाधनीभूतस्मृतिविचारोऽपि फलतो न कृत इति सोऽपि करणीय इति तद्वक्तुं फलप्रकरणमारभन्ते एवं प्रमेयेत्यादि । एवं प्रमेयविचारे सर्वस्य भगवदभिन्नत्वेऽपि, "बहु स्यां प्रजायेये"तीच्छया आधिदैविकादिभावात्तेन प्रकारेण तारतम्यबोधनपूर्वकं प्रमेयप्रकरणं समाप्य फलं निरूपयितुं प्रमाणप्रकरणोक्तप्रमाणाऽनुरोधिप्रमेयमध्ये पूर्वकाण्डोक्तप्रमेयस्य धर्मस्य पूर्वतन्त्रे निर्णीतत्वेऽपि अन्यथाव्याख्यातृभिस्तन्निर्णयस्य नष्टत्वेन तदुद्धारस्य प्रतिज्ञातत्वाद्, न विहितसाधनेत्यादिनोक्तरीत्या निर्णयोद्धारं च वक्तुं बहिरङ्गानि स्मृतिपुराणोक्तानि तत्साधनानि निरूपयतीत्यर्थः । मूले,

वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः ।
तथैव विधिवत् कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता ।
आचारो वृत्तिहीनश्चेदर्द्धं फलति नाखिलम् ॥ १८५ ॥

वर्णाश्रमवतामिति । उक्तेनैव प्रकारेण कर्तव्यम् । नतु अनुकल्पैः । तथा सति प्रत्यवायपरिहार एव भवति, न तु फलमित्यर्थः । तथा स्ववृत्त्यन्नेनैव जीवता सर्वं साध्यम् । ननु तावन्मात्र एव वैगुण्यमस्तु, किं सर्वनाशेनेत्यत आह आचार इति ॥ १८५ ॥

टिप्पणी ।

वृत्त्यंशे वैगुण्यमेवास्तु किं विहितसर्वकरणेनेत्याहुः ननु तावन्मात्र इति । यथोक्तसर्वकरणेनेति वक्तव्येऽत्र सर्वनाशपदोक्तिः शिलोञ्छादेर्ब्राह्मणधर्मस्य सर्वनाशतुल्यत्वज्ञापनार्था ॥ १८५ ॥

आवरणभङ्गः ।

वर्णाश्रमवतामिति । तत्र वर्णा नाम, "मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह" इत्यादिषु भगवतो मुखबाहूरुपादेभ्यो जातत्वेन उक्ता ब्रह्मक्षत्रविट्शूद्राः । ते च देवताविशेषा उपनयनादिना देहे समायान्ति, निषिद्धाचरणादिना चापयान्तीति द्वितीयसुबोधिन्याम्, "ब्रह्माननः क्षत्रभुजो महात्मा" इत्यत्र स्थितम् । तन्मया ब्राह्मणत्वादिजातिवादे प्रपञ्चितम् । आश्रमा अपि, "गृहाश्रमो जघनतः" इत्यादिषु जघनहृद्वक्षःस्थलशीर्षभ्य उत्पन्ना गार्हस्थ्यब्रह्मचर्यवनवाससंन्यासाख्या देवताविशेषा एवेति समानन्यायादवसीयते । तत्र वर्णज्ञानमाचारेण । एकादशे वर्णान् प्रकृत्य, "य आत्माचारलक्षणाः" इति भगवद्वाक्यात् । भारत आजगरेऽपि तथा प्रतिपादनाच्च । आचारस्तु स्वभावजं कर्म । "शमो दमस्तपः शौचमि"त्यादिभिरेकादशे गीतायां चोक्तम् । एवमाश्रमज्ञानमप्याचारादेव । "गृहस्थस्य क्रियात्यगो व्रतत्यागो बटोरपि । तपस्विनो ग्रामवासो भिक्षोरिन्द्रियलौल्यता । आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः" इति सप्तमस्कन्धवाक्ये विडम्बकत्वकथनेनाऽऽचारादेव तज्ज्ञानसिद्धेः । तद्वतां धर्मस्तु—इज्याध्ययनदानप्रतिग्रहाध्यापनयाजनानीति षड् ब्राह्मणस्य । इज्यादित्रयं क्षत्रियविशोः । शूद्रस्य द्विजादिशुश्रूषेति । सोऽयं श्रुतिस्मृतिपुराणेषु यथोदितो मुख्ये कल्पे येन प्रकारेणोक्तस्तथैव कार्य इत्यर्थः । तदेतद्व्याकुर्वन्ति उक्तेनेत्यादि । कर्तव्यमिति पाठे, धर्माख्यं कर्मेति शेषो बोध्यः । नन्वनुकल्पानामपि तत्रतत्रोक्तत्वान्मुख्यकल्पे किमित्याग्रहः क्रियत इत्यत आहुः तथा सतीत्यादि । अन्यथा मुख्यफलनिरूपणं वृथैव स्यादिति भावः । नच देशकालबलाद्यपेक्षयाऽनुकल्पानां विधानात्तदनुसारेण करणेऽपि मुख्यफलभवनं शक्यम्, तथापि कालादीनामङ्गानामयथात्वेऽनुकल्पैर्मुख्यफलसिद्धेर्दूरत्वात् । एतेनानुकल्पैरपीदानीं मुख्यफलमङ्गीकुर्वन्तो निरस्ताः । स्मृतिपादे वेदाविरुद्धस्मृतेः प्रामाण्यस्य निर्णीतत्वात्तदुक्ता जीविकाऽपि धर्म उपकरोतीत्यङ्गान्तरभूतां तामाहुः तथा स्ववृत्त्येत्यादि । तत्र वर्णवृत्तयस्तृतीयस्कन्धस्य षष्ठे, "यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुरि"त्यादिभिर्गुरुत्वक्षतत्राणवार्ताशुश्रूषारूपा उक्ताः । "यज्जाताः सह वृत्तिभिरि"त्युपसंहारात् । एवमन्या अपि शास्त्रान्तरादवगन्तव्याः । आश्रमवृत्तीस्त्वेकादशानुसारेणाग्रे स्वयमेव वक्ष्यन्ति । वृत्त्यन्नावश्यकत्वे किञ्चिदाशङ्कते नन्वित्यादि । **सर्वनाशेनेति** । सर्वधर्मवैगुण्यकृतसर्वफलनाशेन । **आचार इति** । आचारो वर्णाश्रमयोः स्वाभाविको

वस्तुतस्तु न फलतीत्याह—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च लङ्घनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ १८६ ॥
शिलोञ्छवृत्त्या सन्तुष्टः श्रौतं कर्माखिलं चरेत्।
तपःस्वाध्यायनिरतो ह्यग्निहोत्रादिपञ्चकम् ॥ १८७ ॥

अनभ्यासेनेति। तर्हि कथं फलतीत्याकाङ्क्षायामाह शिलोञ्छवृत्त्येति। असन्तोषे तदपि व्यर्थम् ॥ १८६ ॥ १८७ ॥

तस्य बहु कर्तव्यं चेत् तदा अशक्यं भविष्यतीति स्मार्तं कृताकृतमित्याह—

टिप्पणी।

आचारः स्ववृत्त्यभावेऽर्धं फलतीत्युक्तम्। दूरविचारे स्ववृत्तित्यागे राजसेवादिना वेदाचारयोरपि त्यागप्रसक्तौ तदपि न फलतीत्याहुः वस्तुत इति ॥ १८६ ॥

आवरणभङ्गः।

धर्मः। वृत्तिश्च तेषां स्वाभाविकी तत्तद्धर्मपोषकत्वेन तदङ्गभूता च। अन्यथा तस्य तस्य सा नोक्ता स्यात्। एवञ्च वृत्त्यभावे स्वाभाविकधर्मव्यञ्जकतायां तस्य कौण्ठ्ये वर्णाश्रमलक्षणहान्या वर्णादिव्यपायेनाधिकारस्य कौण्ठ्यादर्धं फलतीति तदभावार्थं सा आवश्यकीत्यर्थः ॥ १८५ ॥

वस्तुत इत्यादि। तथाच स्ववृत्त्यन्नाभावेऽनभ्यासादिदोषचतुष्टयान्मृत्युरुपैति। स चात्यन्तविस्मरणरूप इति शरीरं पातयन् स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिं नाशयति। बुद्धिं नाशयन्नाचारं फलितुं ददाति। यदि दोषचतुष्टयं कथङ्कारं त्यजति तदा तावन्मात्रवैगुण्येऽर्द्धं फलति। तथापि कालस्य दुष्टत्वेनाऽऽपत्त्यभावेऽप्यनभ्यासादिसम्भवात् फलाभाव एवेत्यर्थः ॥ १८६ ॥

तर्हीत्यादि। यद्यपि कालवशाद्दोषसम्भवस्तथापि "यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते। संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे" इत्यादिवाक्यबलात् फलस्यावाच्यत्वे कथं फलतीत्याकाङ्क्षायां चतुर्भिरुत्तरमाहेत्यर्थः। तदपि व्यर्थमिति। "शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तः" इति। "पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः। सदसस्पतयोऽप्येक असन्तोषात् पतन्त्यधः" इत्यादिवाक्यात्तथेत्यर्थः। अत्र शिलोञ्छवृत्तिपदं स्वस्ववर्णादिमुख्यवृत्त्युपलक्षकम्। मर्यादायां ब्राह्मणदेहं विना मुक्त्यभावस्य मुचुकुन्दप्रसङ्गे साधितत्वाद्, ब्राह्मणवृत्तिमात्रपरं वा। मूले, तपःस्वाध्यायनिरतपदं, "धर्मं महान्तं विरजं जुषाण" इत्यादिविशेषणार्थसङ्ग्राहकम्। अग्निहोत्रादिपञ्चकपदं च कारिकास्थाखिलपदार्थसङ्कोचकं ज्ञेयम्। तेन नित्यकर्मैव चरेदिति सिद्ध्यति। तथाच, यावद्वर्णेति वाक्यमपि न वृत्तिनिरपेक्षं तन्मात्रकरणं वक्ति। अनापत्तौ कलावपि वृत्तित्यागस्यानभिधानात्। अतस्तदभावेऽपि ये फलमङ्गीकुर्वन्ति त एतेन निरस्ताः ॥ १८७ ॥

अत्र किञ्चिदाशङ्कते तस्येति। यथोदितकर्तुः। कृताकृतमिति। सर्वाधानपक्षस्यापि शास्त्रे सत्त्वात्तथेति वृत्त्यपेक्षया तदनावश्यकमित्यर्थः। एतेन तस्यावश्यकतां वदन्तो निरस्ताः। एवमत्र साधनानां श्रुत्यादिपदबोधितप्रमाणप्रमेयाभ्यां, स्ववृत्त्यन्नेनेत्यादिना साधनतश्च निर्णय उक्तः। अत परं, "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" "अथापरे मनीषिणः कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुरि"

स्मार्तं कृताकृतं तस्य सर्वं जानन् हरिं यथा ।
क्रमेण मुक्तिमाप्नोति ब्रह्मलोकं परं गतः ॥ १८८ ॥

स्मार्तमिति । एतादृशस्य फलं ब्रह्मलोकं गत्वा ब्रह्मणा सह मुक्तिः । श्रौतस्योत्तम-निष्ठायामेतत्फलम् ॥ १८८ ॥

तारतम्ये फलाभावमाशङ्क्याह—

एतस्य तारतम्येन मानुषानन्दतो द्विजः ।
अक्षरानन्दपर्यन्तमानन्दान् विन्दते क्रमात् ॥ १८९ ॥

एतस्येति । श्रोत्रियत्वमकामहतत्वं च तारतम्येन जायमानं तत्तत्फलसाधकम् । ब्रह्मानन्दोऽक्षरानन्दः । चतुर्मुखपक्षे ततोऽग्रे गणनाभावात् । एकस्यैव वर्षे वर्षे यदाधिक्यं चेत् क्रमेणैव सर्वमाप्नोति ॥ १८९ ॥

टिप्पणी ।

ब्रह्मानन्द इति । श्रुताविति शेषः । चतुर्मुखपक्ष इति । अग्रे गणनाभावाद्ब्रह्मानन्दोऽनुक्त-एव स्यादिति भावः। एकस्येति । एकस्य पुंसः पदाधिक्यं तत्तद्देवलोकहेत्वाधिक्यं व्यवसायाधिक्यं

आवरणभङ्गः ।

त्याद्यर्थसङ्ग्राहकेन सर्वं जानन् हरिमित्यनेन निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानवदधिकारिसूचनात् तादृशानाम-कृतानां साधनानां फलतो निर्णयं वदिष्यन्तो यथाक्रमेणेत्यादिनोक्तं फलं व्याकुर्वन्ति एतादृशस्ये-त्यादि । तदिदं यत्किञ्चिन्न्यूनतायां नेत्याशयेनाहुः श्रौतस्येत्यादि ॥ १८८ ॥

तारतम्येत्यादि । व्यङ्ग्यत्वे फलाभावस्य पूर्वमुक्तत्वात्किञ्चिन्न्यूनतया तारतम्ये तदाशङ्क्येत्यर्थः । मूले, एतस्येति । सर्वं हरिरिति ज्ञानस्य । अत्र गमकमाहुः श्रोत्रियत्वेत्यादि । श्रुतौ विशेषणद्वयस्य सर्वत्रोक्तत्वात् । फलवैजात्ये विशेषणद्वय एव तारतम्यमवश्यमभ्युपेयम् । तथाच यथा यथा श्रोत्रि-यत्वाधिक्यं तथा तथाऽऽधिक्यं ज्ञानस्य, यथायथा ज्ञानाधिक्यं तथा तथा निष्कामत्वाधिक्यमिति तथेत्यर्थः । एवञ्चाऽकामहतत्वस्य मोक्षलिङ्गत्वमङ्गीकृत्य मुक्तौ तारतम्यं वदन्तो माध्वा अप्येवं व्यवस्थापिता बोध्याः । तदवस्थापरित्यागरूपमोक्षस्य पुराणप्रकरणे व्यवस्थापितत्वेनात्रापि तथा वक्तुं शक्यत्वात्, न तु विश्वमायानिवृत्तिरूपायां परममुक्तौ । लीलास्थेषु तु भगवत्कृतमेव तार-तम्यं, न तु साधनकृतमिति पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थापितमतो न कोऽपि शङ्कालेशः । ननु श्रुतौ प्रजापतिपदेन विराट् त्रैलोक्यशरीरो ब्रह्मा समष्टिव्यष्टिरूपः संसारमण्डलस्थाप्युच्यते । ब्रह्मपदेन तु, यत्रैते प्रजापत्यानन्दा एकतां गच्छन्ति धर्मश्च तन्निमित्तो ज्ञानं चैतद्विषयम् । अकामहतत्वं च निरतिशयं यत्र स एष हिरण्यगर्भ उच्यत इत्यङ्गीकारे अक्षरानन्दपर्यन्ततायां किं गमकमित्या-शङ्कायामाहुः चतुर्मुखेत्यादि । तथाचाग्रे गणनाभावात्तदानन्दस्यान्तिमत्वाङ्गीकारे ब्रह्ममुक्तिबोधिके, वेदान्तविज्ञानेति, ब्रह्मणा सह ते सर्वे इति श्रुतिस्मृती विरुध्येताम् । अतो ब्रह्मानन्दपदेनाक्षरानन्द एव ग्राह्य इत्यर्थः । एवमत्र साधनतारतम्येन फलतारतम्यमुक्तम् । तत्र साधनतारतम्यं द्वेधा—प्रतिज-न्मनि कर्मावृत्त्या, एकजन्मनि प्रतिवर्षं तदावृत्त्या च, तयोर्मध्ये पूर्वत्र क्रमस्य सुगमः पन्थाः । द्वितीये तु कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः एकस्येत्यादि । तथाचास्मिन्नपि पक्षे क्रमस्य न विरोध इत्यर्थः ॥ १८९ ॥

प्रत्येकपक्षे फलगतं दोषमप्याह—

उपान्त्यानन्दपर्यन्तं पुनर्जन्म भवेद्ध्रुवम् ।
तत्तद्रूपेण लोकेषु भोगान् भुक्त्वा तथाविधान् ॥ १९० ॥

उपान्त्यानन्दपर्यन्तमिति । प्रकारमाह तत्तद्रूपेणेति ॥ १९० ॥

वृत्त्यन्तस्य कारणत्वादाश्रमव्यवस्थामाह—

एकाश्रमेण वा तिष्ठेद्विशेद्वा समनन्तरम् ।
आयुर्भागक्रमेणैव चतुष्टयमथापि वा ॥ १९१ ॥

एकाश्रमेण वा तिष्ठेदिति । सर्वत्र फलं तुल्यम् । समनन्तरं ब्रह्मचर्यस्य गार्ह-

---

टिप्पणी ।

वा चेत्तदा तत्तद्देवलोके गत्वा तदीयं सर्वमानन्दं क्रमेण प्राप्नोतीत्यर्थः । यदाधिक्यमिति पाठे यदा पुण्यस्याधिक्यं चेत्तदा क्रमेण सर्वानन्दानाप्नोति, न चेत्तत्तल्लोके तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १८९ ॥

प्रत्येकपक्ष इति । तत्तल्लोकस्थितावित्यर्थः ॥ १९० ॥

आवरणभङ्गः ।

एवं फलतो निर्णीय विवक्षितफलसाधनयोरुत्कर्षबोधनायोपोद्धातेनासिन्नपकर्षं बोधयितुम्, उक्तयो-र्द्वयोरेतदधिकारिणोर्मध्ये द्वितीयस्योत्कृष्टत्वं च बोधयितुमाहुः प्रत्येकेत्यादि । तत्तद्रूपेणेति । तत्त-ल्लोकवासिमनुष्यगन्धर्वादिरूपेण । तेष्वपि तत्तद्ब्राह्मणादिरूपेण वा लोकेषु तथाविधान् भोगान् भुक्त्वोपान्त्यानन्दपर्यन्तं तत्तद्रूपेण ध्रुवं जन्म भवेदिति मूलान्वयः ॥ १९० ॥

तत्र हेतुः वृत्तीत्यादि । तथाच तेन कृत्वाऽदृष्टाकृष्टभूतभेदैस्तादृशमेव शरीरं जन्यते । जातं वा स्वर्गारोहणसामयिकयुधिष्ठिरादिदेहवत् संस्क्रियत इति तथेत्यर्थः । अत एव, "मरुतो वै देवानां विश" इति श्रुतिः । "ब्राह्मणो भगवान् रुद्रः क्षत्रियो विष्णुरुच्यते । ब्रह्मा वैश्यस्तथा प्रोक्तो वासवः शूद्र उच्यते" इति स्कान्दवाक्यं च दृश्यत इति समानन्यायाद्गन्धर्वादिष्वपि तादृग्रू-पत्वं न दुर्घटम् । आश्रमेत्यादि । एवं वैदिकं साधनं निर्णीय तत्साधनभूताश्रमव्यवस्थामाहेत्यर्थः । सर्वत्र तुल्यं फलमिति । "यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम्, गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रत" इत्युपक्रम्य, "एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् । मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः" इति कर्माशयस्यान्तःकरणस्य दाहोक्त्या मुक्तिफलसूचनात् । गृहिणोपसंहार-श्रुतावपि "न स पुनरावर्तते" इति श्रावणाद्, "ऋषिलोकादुपैति मामि"ति वानप्रस्थविषयकवा-क्याद्, "वेदान्तविज्ञाने"ति श्रुतौ—"परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे" इति मुक्तिश्रावणाच्च तथे-

स्थ्यम् । एवमुत्तरत्र । आश्रुर्भोगक्रमेणेति तृतीयः पक्षः । अव्यवस्थया प्रव्राजो वैराग्यस्तावकः सर्वथा वैराग्यमङ्गमिति ज्ञापनार्थः "गृहाद्व्रजेद्वनाद्व्रजेदि"ति । अन्यथाऽयं पक्षो मन्वादिभिरुक्तः स्यात् । तस्मात् त्रय एव पक्षाः ॥ १९१ ॥

संन्यासे साम्प्रतं नानाभावा वर्तन्त इति तन्निषेधार्थमाह—

त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि तत् ।
शास्त्रेऽपि भगवानाह दण्डस्यैकस्य धारणम् ।
प्रतिपत्तिरियं सर्वा देहस्य ज्ञानिनो भवेत् ॥ १९२ ॥

त्रिदण्डं परिगृह्णीतेति । पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय इति, सर्वशास्त्रसारोद्धारत्वाद्भागवतस्य यद्यन्यः पक्षो भवेत् तत्र भगवान् वदेत् । आश्रमाणां साचाराणां ज्ञानशेषत्वमिति सिद्धज्ञानस्य तत्परित्यागमाशङ्क्याह प्रतिपत्तिरियं सर्वेति । ज्ञानिनो देहस्य तत्तदाश्रमस्थितिः प्रतिपत्तिरवश्यं कार्या । तदभावे पुनर्जन्म भवेत् । दाहाभाववत् ॥ १९२ ॥

एवमाश्रमान्निरूप्य स्ववृत्त्यन्नं ज्ञापयितुमाह—

आद्यन्तयोस्तु भिक्षाऽन्नं द्वितीये तु शिलोञ्छनम् ।
तृतीये वन्यभेदाः स्युर्भिक्षायामपि संयमः ॥ १९३ ॥

आद्यन्तयोरिति । ब्रह्मचारिसंन्यासिनोः । द्वितीयो गृहस्थः । चतुर्थे भिक्षायां नियमः । "सप्तागारानसंक्लृप्तानि"ति ॥ १९३ ॥

आवरणभङ्गः ।

त्यर्थः । एवमुत्तरत्रेति । यद्यपि वनवासानन्तर्यं संन्यासस्य, तथापि कलौ वनवासवर्जनात् साम्प्रतं गार्हस्थ्यानन्तर्यं बोध्यम् । नन्वव्यवस्थापक्षोऽपि चतुर्थः श्रूयत इति कथं त्रय एव पक्षा इत्यत आहुः अव्यवस्थयेत्यादि, पक्षा इत्यन्तम् ॥ १९१ ॥

नानाभावा इति । मनःकल्पिता नानाप्रकाराः । त्रिदण्डाऽऽवश्यकत्वे युक्तिमाहुः पाक्षिक इत्यादि । वाग्देहदण्डयोर्मौनाऽनीहयोरभावे विविदिषादशायां तत्कृतदोषस्य सम्भावितत्वात्तथेत्यर्थः । ननु शास्त्रान्तरे एकदण्डपक्षोऽप्युक्त इति कथं स निषेधाऽर्ह इत्यत आहुः सर्वेत्यादि । एवञ्च मूले तत्पदेन श्रीभागवतं परामृष्टं ज्ञेयम् । "सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतमि"ति वाक्यात् । एतदेव पुष्यन्ति यदीत्यादि । तत्परित्यागमिति । आश्रमपरित्यागमित्यर्थः । प्रतिपत्तिरित्यादि । तथाच प्रतिपत्तित्वादाश्रमावश्यकत्वं तस्य च त्रिदण्डेऽपि तुल्यत्वान्नैकदण्डे कोऽपि विशेष इति भगवदुक्तपक्षत्यागोऽनुचित इति भावः ॥ १९२ ॥

स्ववृत्त्यन्नं ज्ञापयितुमिति । वृत्तीनां वर्णाश्रमप्रयुक्तानामनेकविधत्वात् तत्सम्पादितान्नस्यापि तथात्वाद्यादृशमन्नं शीघ्रं फलौपयिकं तज्ज्ञापयितुमित्यर्थः । आद्यन्तयोरित्यादि । इदमेकादशीयसप्तदशाष्टादशाध्याययोः स्पष्टम् ॥ १९३ ॥

न केवलमन्ननियम एव, किन्त्वन्येऽपि नियमाः सन्तीत्याह—

गुरुसेवा कर्मकृतिस्तपः पर्यटनं क्रमात् ।
स्वाध्यायेन तथा कृत्या तपसा मानसा मखाः ।
अत्यावश्यकमेतद्धि चतुर्णां तत्पृथक् पृथक् ॥ १९४ ॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ १९५ ॥

गुरुसेवेति । क्रमेणैव चत्वारश्चतुर्णां मुख्याः । यज्ञाऽतिरिक्तान्येव कर्माणि द्वितीयस्य विपक्षितानि आतिथ्यपरिपालनादीनि । यज्ञास्तु चतुर्णामपि कर्तव्याः, परं प्रकारभेदेनेति । तान् प्रकारानाह स्वाध्यायेनेति । "यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवती"ति ब्रह्मचारिणः स्वाध्याययज्ञाः । क्रियामया द्वितीयस्य । तपोयज्ञास्तृतीयस्य । मानसाश्चतुर्थस्येति । ज्ञानिनस्तदकरणमाशङ्क्याह अत्यावश्यकमिति । एतेषां हीनतामाशङ्क्याह श्रेयानिति ॥ १९४ ॥ १९५ ॥

आयुर्भागक्रमेणेत्युक्तपक्षस्य वैशिष्ट्यमाह—

उत्तरोत्तरधर्मेषु निष्ठायामधिकं फलम् ।
तस्य चेत् परमा भक्तिस्तिरोधानं भविष्यति ।
भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते ॥ १९६ ॥

उत्तरोत्तरधर्मेष्विति । एवमुत्कर्षप्रकरणे स्वाश्रमधर्मसहितज्ञानानां मध्ये चतुर्थस्योत्कर्ष उक्तो भवति । ततोऽप्युत्कर्षमाह तस्य चेत् परमा भक्तिरिति । तिरो-

---

आवरणभङ्गः ।

एकादशे, "गृहिणो भूतरक्षेज्ये"त्यत्रोक्तेज्या यागरूपा भविष्यतीति शङ्कानिरासायाहुः यज्ञातिरिक्तेत्यादि । विवक्षितानीति । कर्मकृतिपदेऽभिप्रेतानि । अत्र बीजमाहुः यज्ञा इत्यादि । ज्ञानिनस्तदकरणमिति । "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" इति वाक्यादित्यर्थः । अन्यथा जरामर्याग्निहोत्रादिकं श्रुतौ विदुषो नोक्तं स्यादिति भावः । अत्यावश्यकत्वे हेतुर्मूले उक्तः । योजना तु—यतस्तद् यज्ञकरणं चतुर्णामाश्रमाणां पृथग्यत एतदत्यावश्यकमिति ज्ञेया । हीनतामिति । ज्ञानापेक्षया हीनताम् ॥ १९४ ॥ १९५ ॥

आयुर्भागेत्यादि । पूर्वं साधनतारतम्येन फलतारतम्यमित्युक्तम् । तत्र व्यङ्गत्वमन्तरेण कथं साधनतारतम्यमित्यपेक्षायां सर्वेष्वाश्रमेषु फलतौल्ये पक्षान्तराणां किं प्रयोजनमित्यपेक्षायां वा तदुपपादयितुमायुर्भागेत्यादिकमाहेत्यर्थः । उत्तरोत्तरेत्यादि । वैराग्यज्ञानयोराधिक्येनेति शेषः । चतुर्थस्येति । संन्यासाश्रमिणज्ञानस्य । अयं चोत्कर्षोऽक्रमेण ब्रह्मणा सह वा, क्रमेण ततः पूर्वं वा मुक्तिसम्पादकत्वरूपो बोध्यः । एवं वैदिकसाधनानां क्रममुक्तिरूपं फलमुपसंहृतम् । ततोऽपीत्यादि । एकादशस्कन्धाद्युक्तरीत्या स्वाश्रमधर्मस्य भक्त्युत्पादकत्वेन भगवद्धर्मत्वे केवलज्ञानसहितात्तस्माद्-

धाननाशो ब्रह्मभावः । भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहितज्ञानसहिताया एव तिरोधाननाश-कत्वमुक्तं भवति । एषा भक्तिर्माहात्म्यज्ञानपूर्वकपरमस्नेहरूपा । तथाभूता सती भगवत्परिचर्या युक्ता भवेत् । स्वतःपुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः स्वतन्त्रेत्युच्यते । अयमर्थः । स्वाऽऽश्रमाचारसहितब्रह्माऽनुभवसहितमाहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहो ब्रह्मभावं करोति । तादृशश्चेत् परिचर्यासहितो भवेत् तदा सा परिचर्या आनन्दरूपा सती त्रयोदशगुणा भवेत् । तदा फलरूपायां तस्यां स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेनानुभवे स्वाश्रमाचारास्त्यक्तव्याः । यथा ब्रह्मभावं गतस्य । अन्यथा कर्तव्या इति निष्कर्षः । एवं फलप्रकरणे तां सामान्यतो निरूप्य विशेषतो निरूपणाभावे हेतुमाह दुर्लभेति न सोच्यत इति । सन्ति ब्रह्मभावं प्राप्ता न त्वेतादृशा भक्ता इति ॥ १९६ ॥

परं भगवच्छास्त्रे सर्वोत्तमत्वेन निरूपितमित्याह—

अयं हि सर्वकल्पानामुत्तमः परिकीर्तितः ।
त्रिषु स्वाश्रमधर्मेषु प्रथमे वा प्रतिष्ठितः ॥ १९७ ॥

अयं हि सर्वकल्पानामिति । यद्ययं भाव उत्पद्येत तदा कस्मिन्नाश्रम इति जिज्ञासायामाह त्रिषु स्वाश्रमधर्मेष्विति । चतुर्थे इन्द्रियाणां दार्ढ्याभावात् । द्वितीयतृतीययोरपि दार्ढ्याभावमाशङ्क्याह प्रथमे वेति ॥ १९७ ॥

आवरणभङ्गः ।

त्कर्षमाहेत्यर्थः । तस्येति मूलस्थपदसूचितमर्थमाहुः भक्तेरपीत्यादि । एवमाश्रमधर्माणां भगवद्धर्मत्वे फलमुक्तम् । अतः परमितोऽप्युत्तमां कक्षां वक्तुं भगवदुक्तमलिङ्गाश्रमपक्षं सङ्ग्रहीतुं प्रथमं विहितभक्तेः स्वरूपं तच्छुद्धत्वस्वातन्त्र्ययोः स्वरूपं चाहुः एषेत्यादि । एषेति विद्यापर्वरूपा । तथाभूतेत्यादि । आद्यन्तयोरित्यादिकारिकाद्वयोक्तवृत्तिचतुष्टयधर्मचतुष्टयमलचतुष्टययुक्ता । एवं द्वादशगुणा सा भगवत्परिचर्या युक्ता भवेत्तदा सती शुद्धा । साऽपि स्वतःपुरुषार्थरूपा सेवा चेत्, सा भक्तिः स्वतन्त्रेत्यर्थः । अत्राधिकारिणं वक्तुमुक्तार्थं सङ्गृह्णते अयमर्थ इत्यादि । त्रयोदशगुणेति । उक्तद्वादशगुणब्रह्मानुभववत्त्वोत्तरमानन्दरूपतया परिचर्या स्वतन्त्रा सती तथेत्यर्थः । फलत्वेनानुभव इति । तादृशपरिचर्याया एव फलत्वेनाऽनुभव इत्यर्थः । निष्कर्ष इति । आयुर्भागक्रमेणेति पक्षेऽयं निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ १९६ ॥

परमित्यादि । यद्येवं दौर्लभ्यं तदोल्लेखेऽपि किं प्रयोजनमित्याशङ्कायां तत्कथने हेतुमाहेत्यर्थः । निरूपितमिति पाठे, भजनमिति शेषः । उत्पद्येतेति । वरणस्य भगवदिच्छाधीनत्वादाश्रमान्तरं उत्पद्येतेत्यर्थः । आश्रम इति । स्थातव्यमिति शेषः । चतुर्थ इत्यादि । भिक्षासंयमाच्चथेत्यर्थः । द्वितीयेत्यादि । क्रियावैयग्र्यवन्यसङ्ग्रहणादिना तथेत्यर्थः । प्रथमे वेति । "अनड्वान् ब्रह्मचारी च दीक्षितश्चेति ते त्रयः । अश्नन्त एव सिद्ध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नतामि"ति वाक्याद् ब्रह्मचारिणो यथेष्टाशनेनेन्द्रियसामर्थ्यात् तथेत्यर्थः । एवमत्र वैदिकमार्गस्य साधनपुरःसरं फलपर्यन्तनिरूपणे

एवं वैदिकमार्गं निरूप्य साङ्ख्ययोगावेकीकृत्य सद्योमुक्तिं क्रममुक्तिश्चाह—

न्यासे सर्वपरित्यागी नष्टाहम्ममताभिदः ।
योगमुत्तममास्थाय लोकातीतो बहिर्दृशिः ॥ १९८ ॥
असम्प्रज्ञातयोगेक्षो देहत्यागे विमुच्यते ।
तादृशस्य बलाद्वापि देहत्यागो विमुक्तिदः ॥ १९९ ॥

न्यास इत्यादिना । प्रथमं सद्योमुक्तिः । अयं चतुर्थाश्रम एव भवति । साङ्ख्यमार्गः । अतो न्यासं कृत्वा मनसाऽपि सर्वं परित्यज्याहङ्कारं ममतां च त्यक्त्वा भगवदाविर्भावार्थमुत्तमं योगमास्थाय अलौकिको भूत्वा अन्तर्निष्ठ एव सन् बहिर्दर्शनसम्भावनायामसम्प्रज्ञातयोगेक्षो भूत्वा तस्यामेव निष्ठायां यावद्देहपातं तिष्ठेत् । तदा देहान्ते विमुच्यते सद्य एव । अत्रैव भगवदाविर्भावात्, कदाचिदाविर्भावस्य बहुकालस्थितिसन्देहे बलाद्वा देहत्यागः कर्तव्य इत्याह तादृशस्येति ॥ १९८–१९९ ॥

टिप्पणी ।

असम्प्रज्ञातयोगेक्ष इति । न विद्यते सम्प्रज्ञातं बहिः सम्वेदनं यस्यां योगेक्षायां तादृशयोगेक्षायोगज्ञानं भगवद्विषयकं यस्य स इत्यर्थः ॥ १९९ ॥

आवरणभङ्गः ।

वैदिकस्य धर्मस्य भक्तिजनकत्वमेव परमोत्कर्षः । वैदिक्या भक्तेश्च धर्मसाहित्य एव तिरोधाननाशकत्वम् । तेन उभयोरङ्गाङ्गिभावः सापेक्षत्वं चेति सिद्धम् । निरपेक्षा तु वैदिकीदानीं दुर्लभेति च । एवं प्रमाणानुरोधिनो वैदिकप्रमेयस्य बलं विचारितम् ॥ १९७ ॥

अतः परं पूर्वप्रकरणे, साङ्ख्यो बहुविध इत्यादिना यौ साङ्ख्ययोगावुक्तौ तयोरेव गीतादावुक्तत्वेन प्रमाणानुरोधिप्रमेयत्वात्तद्बलं विचारयितुं तयोः सापेक्षतायाः "योगसाङ्ख्ये तु ये मुख्ये" इत्यत्र पूर्वमुक्तत्वेऽपि फलपर्यन्तज्ञानं विना बलेयत्तानिश्चयाऽभावात् तयोरपि मिलितयोः केवलयोश्च फलतो निर्णयं वदन्ति एवमित्यादिना । एवमिति । ज्ञानमिश्रभक्तरूपपरमकाष्ठाकथनपर्यन्तम् । प्रथमं सद्योमुक्तिप्रकारनिरूपणे बीजमाहुः प्रथमं सद्योमुक्तिरिति । द्वितीयस्कन्धे, "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे" इत्यादिना सञ्जातभक्तेरुत्तमयोगप्रकारं वदता शुकेन प्रथमं सैवोक्तेत्यतस्तथेत्यर्थः । ननु योगेन सिद्धिराश्रमान्तरेऽपि तुल्याऽस्तु किं संन्यासकथनेनेत्याकाङ्क्षायामाहुः अयमित्यादि । अलौकिको भूत्वेति । त्यक्तलोकव्यवहारत्वादात्मानं लोकभिन्नं भावयित्वा । अन्तर्निष्ठायामुपायस्तु, "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इत्युक्तरीत्या अबहिर्दर्शनम् । तत्राप्युपायो, "वा हरि"त्यादिनोक्तः । यावद्देहपातं तिष्ठेदिति कथनं, "लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्याद्" इत्यस्यार्थः । एवमेकः सद्योमुक्तिप्रकार उक्तः । उक्ताधिकारान्न्यूनेऽधिकारे, "मुनिस्तुः परमेद्व्यवस्थित" इत्यादिना बलाद्देहत्यागः सद्योमुक्त्यर्थमुक्तस्तत्र बीजमुद्घाटयन्ति कदाचिदित्यादि । तादृशस्येति कत्रा सादृश्यार्थकथनान्मूले पूर्वोक्तसजातीयोऽधिकारः परामृष्टो ज्ञेयः । एवं सद्योमुक्तेः प्रकारद्वयमुक्तम् ॥ १९८ ॥ १९९ ॥

क्रममुक्तिप्रकारमाह—

सम्प्रज्ञातसमाधिस्थः साङ्ख्येनात्मविभिन्नदृक् ।
विकृतं प्रकृतेः कार्यं मायेति त्यक्तविग्रहः ॥ २०० ॥
एवं योगं च साङ्ख्यं च समास्थापयति कृती ।
योगेन त्यक्तदेहश्चेत्क्रमान्मुक्तिं स विन्दति ॥ २०१ ॥

सम्प्रज्ञातेति । बहिःसम्वेदनयुक्त एव योगेन भगवन्तं पश्यन् ज्ञाननिष्ठोऽपि भूत्वा परमविरक्तः संन्यासी योगज्ञाने आमरणमभ्यसन् योगेनैव त्यक्तदेहश्चेत्क्रममुक्तिं प्राप्नोति ॥ २००–२०१ ॥

तत्र ब्रह्मलोकपर्यन्तं गत्वा बहुकालं स्थित्वा स्वाधिकारानुसारेण नानामार्गेण गच्छतीति तत्तुमाह—

ब्रह्मलोकप्रवृत्तानां या गतिस्तस्य सा भवेत् ।
भक्ताधिकारिणां मुक्तिरन्यथा प्रकृतौ लयः ॥ २०२ ॥

ब्रह्मलोकप्रवृत्तानामिति । तत्र स्थितानां पञ्चगतयस्ता आह भक्ताऽधिकारिणामिति । ये भक्ताः सन्तोऽधिकारिणो ब्रह्मादयः, तेऽधिकारसमाप्तौ तत्रैव मुक्ता भवन्ति, तथाऽयमपि । पूर्वं तादृश एव केनचिन्निमित्तेन जन्म प्राप्तवाँश्चेत्, तदा दोषस्य विनिवृत्तत्वादयमपि विमुच्यते । अन्यथा, भक्त्यभावे ब्रह्मादीनां प्रकृतौ लयः । तृतीयस्कन्धेऽस्य तथानिरूपणात् । अस्यापि पूर्वोक्तस्य तथा ॥ २०२ ॥

आवरणभङ्गः ।

क्रमेत्यादि । "यदि प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यमि"त्यादिना द्वितीयस्कन्धे क्रममुक्तिरेवोक्ता । तत्र साधनादिकं तु न स्फुटमतस्तत्प्रकारमाहेत्यर्थः । सम्प्रज्ञातसमाधिस्थ इत्यस्य व्याख्यानं–बहिरित्यादि पश्यन्नित्यन्तम् । साङ्ख्येनात्मविभिन्नदृगित्यादेर्व्याख्यानं–ज्ञाननिष्ठ इत्यादि, विरक्त इत्यन्तम् । विकृतमित्यादेर्व्याख्यानं, योगज्ञाने आमरणमभ्यस्यन्निति । एतादृशाधिकारे विग्रहत्यागाय वैराग्योपायत्वेन जगतो मायिकत्वज्ञानं न त्वन्यस्येत्येतदत्र ज्ञापितम् । तेन पुराणेषु मायामात्रत्वकथनमेतादृशाधिकारिणोऽर्थे इति ज्ञेयम् । क्रममुक्तिं प्राप्नोतीति । "अर्चिरादिना तत्प्रथिते"रित्यत्र विचारितेन देवयानमार्गेण प्रजापतिलोकं प्राप्य, ततोऽग्रे परब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २०० ॥ २०१ ॥

अस्य मार्गस्य पूर्वोक्तान्न्यूनत्वज्ञापनायाऽस्मिन्मार्गे सर्वेषां न मुक्तिरिति बोधयन्ति तत्र ब्रह्मलोकेत्यादि । ये भक्ता इत्यादि । अयं प्रकारस्तृतीये द्वात्रिंशे, "ये स्वधर्मान्न दुह्यन्ती"त्यारभ्य, "परस्य परिचिन्तका" इत्यन्तैश्चतुर्भिरुक्तः । स एव, "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणामि"ति निर्णीतो ज्ञेयः । एवं पञ्चसु गतिष्वेका उक्ता । द्वितीयामाहुः अन्यथेत्यादिना । तृतीयस्कन्ध इति । द्वात्रिंशे पूर्वोक्तामुक्त्वा, "क्ष्माऽम्भोऽनिले"ति द्वाभ्याम्, आद्यः, स्थिरचराणां य इत्यादिचतुर्भिश्च तथा निरूपणादित्यर्थः ॥ २०२ ॥

पुनः सृष्टौ तथैश्वर्यं कर्मिणां पुनरागतिः ।
आसन्योपासकानां तु ब्रह्मणा सह मुक्तता ॥ २०३ ॥

पुनः सृष्टौ तथैश्वर्यं सर्वेषां यथा योग्यम् । अश्वमेधेनाऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तिः, परं पुनरागतिः तथा साङ्ख्ययोगनिष्ठोऽपि कर्मत्वेन योगकर्ता चेत्, तथैव पुनरावर्तते । एवमुभौ निरूपितौ । तृतीयमाह आसन्योपासकानामिति । आब्रह्मकल्पं तत्र स्थित्वा ब्रह्मणा सह विमुच्यन्ते ॥ २०३ ॥

अभक्ते पुनरावृत्तिर्योगनिष्ठां गतस्य तु ।
ऐश्वर्यादि हरेर्भक्तो भित्त्वाण्डं प्रविशेद्धरिम् ॥ २०४ ॥

ब्रह्मणः स्वस्य वा अभक्तत्वे पुनरावृत्तिः पूर्ववदनुवादः । चतुर्थमाह योगनिष्ठां गतस्य त्विति । सिद्धश्चेद्योगमार्गः, तदैश्वर्यादिकं तत्रैवाप्नोति । पञ्चममाह हरेर्भक्त इति । द्वितीयस्कन्धोक्तप्रकारेण । अण्डं भित्त्वा हरिं विशेत् ॥ २०४ ॥

एवं साङ्ख्ययोगभक्तीनां मेलने फलमुक्त्वा केवलानां फलमाह—

केवलेन हि साङ्ख्येन विविक्ताध्यात्मसंस्थितिः ।
नैव किञ्चित् करोमीति दृढबुद्धिरसक्तधीः ।
अन्तेऽप्येवं सदा ध्यायन्नविद्यातो विमुच्यते ॥ २०५ ॥

केवलेति । केवले साङ्ख्ये द्वयमङ्गम् । सङ्घाताद्भिन्नतया आत्मज्ञानम्, अहङ्काराभावश्च । एतयोर्निर्वाहः, "नैव किञ्चित् करोमी"ति बुद्धिः, वैराग्यं च । एवं यावज्जीवमेकधारणया स्थितौ अविद्यातो विमुच्यते । जन्मान्तरे ज्ञानी सन्नुत्पद्यत इत्यर्थः ॥ २०५ ॥

टिप्पणी ।

भक्ताधिकारिणामित्यर्धेन (२०२) सामान्यतो गतिर्निरूप्याग्रे विशेषतो निरूपयति पुनरित्यादिना । एवमुभाविति । एकस्यां गतौ कर्मिसदृशः साङ्ख्ययोगनिष्ठः कर्मी चेत्युभावित्यर्थः ॥ २०३ ॥

आवरणभङ्गः ।

इयं गतिः सहस्राश्वमेधयाजिनोऽपि भवतीत्याहुः अश्वमेधेनेत्यादि । आवृत्तितौल्याद् द्वितीय एव निवेश इत्यर्थः । तृतीयमाहेति । "कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानादि"तिसूत्रबोधितं पक्षमाहेत्यर्थः ॥ २०३ ॥

पूर्ववदिति । स्थलद्वये भक्तस्यैव मुक्तिरुक्तेति तदभावेऽत्रापि पुनरावृत्तिरिति बोधनायेत्यर्थः । चतुर्थमिति । एकादशे सिद्धीर्वदता भगवता, "प्राकाश्यं पारमेष्ठ्यं वे"त्यादिनोक्तमित्यर्थः । पञ्चमः प्रसिद्ध एव । अत्राण्डभेदनम्, आद्यात् पक्षाद्विशेषः । आद्यस्याण्डमध्य एव प्राप्तेः ॥ २०४ ॥

केवलानामित्यादि । पूर्वोक्तेभ्यो जघन्याधिकारे केवलयोः साङ्ख्ययोगयोरुपयोग इति फलद्वारा तयोर्निर्णयं वक्तुं केवलानां फलमाहेत्यर्थः । सङ्घाताद्भिन्नतया आत्मज्ञानमिति । एतेन विविक्ते अध्यात्मनि संस्थितिर्यस्येति मूले समासो ज्ञापितः शेषमतिरोहितार्थम् ॥ २०५ ॥

केवलयोगमाह—

केवलेनापि योगेन दग्धकर्ममलाशयः ।
योगवीर्येण जितदृग् लिङ्गं भित्त्वा तथा भवेत् ॥ २०६ ॥

केवलेनापि योगेनेति । यावज्जीवं योगाभ्यासे ज्ञानोदये योगबलेनैव देहं त्यक्त्वा अविद्यातो विमुच्यते । भक्तिसहितश्चेत्, पूर्वमेवोक्तः ॥ २०६ ॥

एवं साङ्ख्ययोगयोः सहितयोः केवलयोश्च फलमुक्त्वा निषिद्धयोः फलमाह—

योगसाङ्ख्ये धर्महीने विमार्गपरिपोषिते ।
नरकायैव भवतः पश्चात्किञ्चित्सुखं भवेत् ॥ २०७ ॥

योगसाङ्ख्य इति । धर्ममार्गाद्भ्रष्टे । तत्सिद्ध्यर्थं कदाचिन्निषिद्धमपि कुरुतः । अपेयपानेन नाडी शुद्धा भवतीति विमार्गे परिपोषिते । पश्चाज्जन्मान्तरे ॥ २०७ ॥

ननु, "यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' इति "अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः । सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसी"त्यादिवाक्यैः साङ्ख्ययोगयोः स्तुतत्वात् कथं विकर्ममात्रेण नरकः ? । 'योगेनैव दहेदंह" इति वाक्याचेत्याशङ्क्याह—

ज्ञानाङ्गे चित्तरोधे च तौ प्रमाणं न सर्वथा ।
पदार्थतत्त्वनिर्द्धारे न प्रमाणं कथञ्चन ॥ २०८ ॥

ज्ञानाङ्ग इति । साङ्ख्ययोगशास्त्रद्वयं पुराणमूलकमङ्गत्वेन निरूपितम् । तदपि परम्परया नित्यानित्यवस्तुविवेकस्य ज्ञानाऽङ्गत्वम् । तथा चित्तनिरोधस्य ज्ञानस्थापकत्वम् । अन्यथा, ज्ञानं स्तुतं भवतीति तयोरङ्गं साङ्ख्ययोगौ, न तु सर्वथा तत्प्रमाणम् । अप्रमाणांशं स्पष्टयति पदार्थतत्त्वनिर्द्धार इति ॥ २०८ ॥

आवरणभङ्गः ।

भक्तिसहित इति । योग इति शेषः । एवमेव साङ्ख्यमपि ज्ञेयम् । एवं साङ्ख्ययोगयोर्विद्यापर्वरूपभक्तिसाहित्ये पूर्वोक्तरीत्या मुक्तिजनकत्वं, तदभावे त्वविद्याविमोचकत्वमिति बलं निर्णीतम् ॥ २०६ ॥

निषिद्धयोरित्यादि । "एतद्विरुद्धं यत् सर्वं न तन्मानं कथञ्चने"ति पूर्वमुक्तत्वेन प्रसङ्गाचाद्दशयोः फलमाहेत्यर्थः । एते वामागमोक्ते ज्ञेये । "छल्योगस्तथा साङ्ख्यं शाक्तो मार्ग" इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । कापिलसाङ्ख्यप्रवचने पातञ्जले योगे च निषिद्धाचरणोक्त्यभावात् । एवं तद्बलं निर्णीतम् ॥ २०७ ॥

अतः परं पुराणादिषु साङ्ख्ययोगयोर्निन्दादेः प्रशंसायाश्च दर्शनात्पूर्वोक्तं बलं निश्चेतुं न शक्यत इति तन्निश्चयार्थं निन्दादेर्व्यवस्थां वदन्ति नन्वित्यादिना । अङ्गत्वेनेति । मोक्षसाधनाऽङ्गत्वेन । तयोरिति । नित्यानित्यविवेकचित्तनिरोधयोः । तदिति । योगादिशास्त्रम् ॥ २०८ ॥

फलांशे तु प्रमत्तस्य शास्त्रमात्रपरस्य हि ।
नरकस्त्वन्यथाभावात्तेन मूले विनिन्दितौ ॥ २०९ ॥

फलितमाह फलांशे त्विति । "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे"ति भगवतोऽन्यथाचिन्तनान्नरकः । तत्र विकर्म सहायभूतम् । अत एव सूत्रकारेण "शिष्टापरिग्रह" उक्तः । भगवद्वाक्यस्य गतिमाह फलांशे तु स्तुताविति । नित्यानित्यवस्तुविवेके चित्तनिरोधे च स्तुतौ तदन्येषां मायावादादीनां साङ्ख्योपजीवकानां सर्वथा व्यर्थता, सत्फलं न किञ्चित् । विकर्मणा अन्यथाभावनाच नरकः ॥ २०९ ॥

फलांशे तु स्तुतौ कृष्णवाक्ये भागवतेऽपि च ।
तदन्येषां मतानां तु सर्वथा व्यर्थता मता ।
न तैरिष्टेन युज्येत मिथ्यार्थाऽभिनिवेशतः ।
तस्माद्वेदोक्तमार्गेषु न स्वल्पोऽपि पतेद्बुधः ।
अतः स एव सद्धर्मैः सेव्यो वर्णिभिरादरात् ॥ २१० ॥

तस्माद्वेदातिरिक्तमार्गाः स्वतन्त्रं न फलसाधकाः । किन्त्वङ्गभावमेव प्राप्य यादृशं

आवरणभङ्गः ।

मूले, फलांशे तु प्रमत्तस्येत्यादि । पूर्वोक्तं फलांशमननुसन्धानस्य मुक्तिशास्त्रत्वप्रसिद्ध्या तन्मात्रनिष्ठस्येत्यर्थः । अन्यथाभावोऽन्यथाभावनम् । णिजन्ताद् घञ् । एतद्विवृण्वन्ति योऽन्यथेत्यादि । मूल इति । श्रीभागवते "येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः", "विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनामि"त्यादौ । नारसिंहे च "विषधरकणभक्षशङ्करोक्तेर्दशबलपञ्चशिखाक्षपादवादात् । महदपि सुविचार्य लोकतन्त्रं भगवदुपास्तिमृते न सिद्धिरस्ती"त्यत्र । इयञ्च निन्दा, न, न हि निन्दान्यायेन विधेयस्तुत्यर्था किन्तु वास्तवीति बोधनायाहुः अत एवेत्यादि । अविरोधे तर्कपादे, "एतेन शिष्टापरिग्रहा व्याख्याता" इति सूत्रेणोक्त इत्यर्थः । भगवद्वाक्यस्येत्यादि । ननु कापिले पातञ्जले च विकर्मोत्त्यभावाद्व्यासपादैर्योगभाष्यकरणाद्भगवद्वाक्येषु पूर्वोक्तेषु स्तुतत्वाच्च नैवं वक्तुं युक्तमित्याकाङ्क्षायां तन्मूलभूतभगवद्वाक्यस्याभिप्रायमाहेत्यर्थः । नित्यानित्येत्यादि । तथाचैतदंशे स्तुतत्वादेव भाष्यकरणं, तत्रापीश्वरवादित्वात् । अत एव न साङ्ख्यस्य । अनीश्वरवादित्वात् । अन्यथा, आनुमानिकादिसूत्रेषु "न साङ्ख्यं दूषयेत्, एतेन योगः प्रत्युक्त" इत्यपि न सूत्रयेत् । अतः फलाऽजनकत्वान्निन्दावि । एकांशेनोपयोगाच्च स्तुत्यादीत्युभयमप्युपपन्नमिति भावः । एवं सर्वेषां सन्मार्गाणां निर्णय उक्तः । अतः परं तदाभासानामाहुः तदन्येषामित्यादि । सर्वथेति । "प्रमाणाभासमूलत्वात् प्रमेयरहितत्वतः । साधनादिविरोधाच्च वैयर्थ्यं तेषु बुध्यतामि"त्यर्थः ॥ २०९ ॥

एवं प्रासङ्गिकनिरूपणेन यत्तेषां बलं सिद्धं तदाहुः तस्मादित्यादि । मूले, न स्वल्पोऽपि पतेदिति । सुतराम् अल्पः साधनकरणे अशक्तोऽपि बुधः—उक्तरीतिकज्ञानवाँश्चेत् तदा न पतेत् ।

प्रमेयं वेदोक्तं तादृशमेव साधयन्तः फलाय भवन्तीति निष्कर्षः । तदभावेऽपि वेदोक्त-
मार्गेण केवलेनापि निस्तार इत्याह अतः स एव सद्धर्मैरिति ॥ २१० ॥

वेदविरोधे नरक इत्याह—

धर्ममार्गं परित्यज्य छलेनाधर्मवर्तिनः ।
पतन्ति नरके घोरे पाषण्डमतवर्तनात् ॥ २११ ॥
अधुना तु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः ।
स्वाध्यायादिक्रियाहीनास्तथाऽऽचारपराङ्मुखाः ॥ २१२ ॥
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते ।
विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता जिह्वोपस्थपरायणाः ॥ २१३ ॥
व्रात्यप्रायाः स्वतो दुष्टास्तत्र धर्मः कथं भवेत् ।
षड्भिः सम्पद्यते धर्मस्ते दुर्लभतराः कलौ ॥ २१४ ॥

धर्ममार्गं परित्यज्येति । तत्र हेतुः—पाषण्डमतवर्तनादिति । पापवेषस्वीकारात्
एवं साङ्ख्ययोगद्वारा सर्वाणि मतानि दूषयित्वा, वेदविरोधाभावेऽपि भक्तिमार्गे ब्राह्मण-
विरुद्धवेषाभावेऽपि प्रकारभेदोऽस्तीति कस्यचिच्छङ्का स्यात् पाषण्डमार्गोऽयमपीति ।
तन्निराकरणार्थं प्रकारान्तरे हेतुं वदन् भक्तिमार्गं प्रपञ्चयति अधुना त्विति, त्रिभिः ।
कालदोषाच्छक्तिह्रासे वेदाभावात् सर्वधर्माभावः ॥ २११–१२–१३–१४ ॥

आवरणभङ्गः ।

“न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छती”ति भगवदुक्तन्यायस्य तत्रापि समानत्वान्न पते-
दित्यर्थः । तद्भाव इत्यादि । ननु योगाद्यभावे चित्तैकाग्र्याद्यभावाद्व्यग्रतायां वैदिकेनापि मार्गेण
न फलसिद्धिरिति शङ्कायां पूर्वार्धे युक्तेरुक्तत्वात् केवलेन वैदिकेन फलसिद्धिमाहेत्यर्थः ॥ २१० ॥

वेदविरोध इत्यादि । ननु वैदिकाभासमार्गे इष्टप्राप्त्यभावेऽपि, “न हि कल्याणे”ति गीतोक्त-
न्यायेनानिष्टनिवृत्तिस्तु भवित्रीत्याशङ्कायां तन्निवृत्त्यर्थं युक्तिपूर्वकं ततो महदनिष्टमाहेत्यर्थः । पाप-
वेषस्वीकारादिति । एतेन ये मूर्खा अनापद्यपि म्लेच्छादिवेषभाषादिकं रोचयन्ते स्वीकुर्वन्ति च
तेऽपि तथेति बोधितम्, अतः परमिदानीं वैदिकमार्गस्योत्सन्नकल्पत्वं वक्तुं गीताद्युक्तस्य प्रमाणानुरोधि-
प्रमेयस्य, कालादिसाधनापेक्षारहित इत्यत्रोक्तं यद्बलं तद्विचारयन्ति एवं साङ्ख्येत्यादिना । प्रकार-
भेद इति । वैदिकविलक्षणः शङ्खचक्रधारणादिरूपः । प्रपञ्चयतीति । उत्कर्षबोधनमुखेन विस्तारयति ।
मार्गस्य बुद्धिस्थत्वाद्वर्तमानः प्रयोगः । त्रिभिरिति पदं, हेतुं वदन्नित्यनेन सम्बद्ध्यते । तत्र “ऽऽचारप्र-
भवो धर्म” इति, “शौचाचारविहीनानां समस्ता निष्फलाः क्रिया” इत्यादिवाक्यात् “यथाकारी यथा-
चारी तथा भवती”ति श्रुतेश्च श्रौतधर्मस्य स्मार्ताचारसापेक्षत्वाद्विरुद्धाचरणेन पापसम्भवाच्चेदानीं क्रिय-
माणस्य तस्याभासतैव, न तु धर्मत्वमिति मूले प्रपञ्चयित्वा तत्र सिद्धमर्थं हेतुपूर्वकमाहुः कालदोषे-
त्यादि । तथाच यत एवमधुनाऽतो वेदोक्तप्रकारस्येदानीं व्यग्रत्वात्स न सिद्ध्यतीति नेदानीं स
बलिष्ठ इति भावः । एतेन प्रकारान्तरादरणे हेतुरुक्तः ॥ २११ ॥ २१२ ॥ २१३ ॥ २१४ ॥

तर्हि किं विधेयमित्याकाङ्क्षायामाह—

अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत्सदा।
श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित्तरिष्यति ॥ २१५ ॥

अथाऽपीति। पाषण्डमतस्वीकारमकृत्वा यथाशक्त्यग्निहोत्रादिकं कुर्वन् सदा कृष्णं भजन् भवति भगवदुक्तेनैव मार्गेण ततो मुख्यधर्माभावान्न फलं, भगवद्भजनाच्च न पातः, किन्तु कथञ्चित् कलिं तरिष्यति। कलिदोषाभिभूतो न भविष्यतीत्यर्थः ॥२१५॥

अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थमाह—

अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात् तथा।
नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते ॥ २१६ ॥

अत्रापि वेदनिन्दायामिति। भगवन्मार्गे स्थित्वा यदि वेदानामप्रामाण्यं वदेत् कथञ्चिदपि, तदा भगवन्नाम्नो नरकविरोधित्वान्न नरके पातः। किन्तु

टिप्पणी।

भगवन्नाम्नो नरकविरोधित्वादिति। "कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युतशङ्ख-
आवरणभङ्गः।

तर्हीत्यादि। नन्वेवं सति स त्याज्य इत्यायाति, तथा सति सर्वथैव पाषण्डत्वसम्भव इति किं विधेयमित्याकाङ्क्षायाम्, एकादशे यो धर्मेण भगवद्भजनप्रकारो भगवतोक्तस्तस्येदानीमशक्यत्वात्तद-नुकल्परूपं यथाशक्तिकरणपक्षमादृत्य भगवदुक्तं कर्तव्यमित्याहेत्यर्थः। पाषण्डेत्यादि। मायावा-दिमतस्य पाषण्डरूपतायाः पूर्वमुपपादितत्वादग्रे वक्ष्यमाणत्वाच्च तन्मतस्वीकारमकृत्वा यथाशक्ति स्वधर्मकरणपक्षस्याग्रे स्थाप्यत्वात् स्ववर्णाश्रमप्राप्तमग्निहोत्रादिकं भक्तिमार्गाङ्गत्वेन कुर्वन्, "यद्य-नीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्। मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचरे"त्यादिसार्धद्वये भगवतोक्तेन भगवदाश्रितस्य निरपेक्षतया सर्वकर्माचरणश्रद्धापूर्वकभगवत्कथाश्रवण—तद्गान—लीलास्मरण—जन्माभिनय—मुहुर्भगवदर्थधर्मकामार्थाचरणरूपेण मार्गेण यो भगवन्तं सदाऽवि-च्छेदेन भजति स उक्तरीत्या धर्मफलस्य पातस्य चाभावे ततो भगवदुक्तकरणात्तथा भविष्य-तीत्येतत्कर्तव्यमिति भावः। एतेन कालादिसाधनापेक्षारहितत्वं विचारितम्। एवञ्च, कलिदोषानभि-भवे कलेः स्वल्पसाधनेन महाफलप्रदत्वस्वाभाव्यादानुगुण्ये, एतादृशस्य फलं जीवन्मुक्तिः प्रति-भाति। तृतीयस्कन्धे पञ्चविंशे, इमं लोकं तथैवामुमिति श्लोकद्वये प्रथमाधिकारिणस्तथाभावप्रति-पादनात्। इतोऽधिकाधिकारे तु तत्रैव, "अथो विभूतिं ममे"त्यादिश्लोकद्वयोक्तो वैकुण्ठे भोगो यः सेवाफलविवरणे सेवौपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्वित्यनेनोक्त इति पर्यवसानं ज्ञेयम् ॥ ११५ ॥

अत्रेत्यादि। ननु यद्येवं तर्हि सर्वथा तरिष्यत्येवेति वक्तव्यं, न तु कथञ्चित्तरिष्यतीत्याश-ङ्कायां बाधकद्वयस्यात्रापि सत्त्वादेवमुच्यत इत्याशयेन श्रीभगवतोक्तमार्गे बाधकद्वयमाहेत्यर्थः। भगवन्मार्ग इत्यादि। वेदनिन्दया नरक इति चतुर्थस्कन्धे भृगुशापे सिद्धम्। भगवन्नाम्नो नर-कविरोधित्वं च षष्ठेऽजामिलोपाख्याने। एवं शास्त्रद्वयविरोधे त्रिशङ्कुन्यायो भवतीत्यर्थः। कथञ्चि-

तृतीयमार्गसाधनत्वाद् हीनेषु जायते। शूद्रादिषु सम्भवति। अतो दृश्यते नीचयोनिषु भगवद्भक्तानां जन्म। तस्मादेतद्द्वयमकृत्वा भगवान् सेव्यः॥ २१६॥

शूद्रादियोनौ जातस्य किं फलमित्याकाङ्क्षायामाह—

पूर्वसंस्कारतस्तत्र भजन्मुच्येत जन्मभिः।
अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् संसारे न भवेत्तदा।
एतावन्मात्रताऽप्यस्ति मार्गेऽस्मिन्मुरवैरिणः॥ २१७॥

पूर्वसंस्कारत इति। संस्कारवशाद्भगवद्भजने जायमाने तस्मिन् देहे वेदादीनां स्मरणाभावान्निन्दाभावे तुष्टः सन् भगवान्मोचयेदित्यर्थः। तत्राप्येकं बाधकमाह अत्यन्ताभिनिवेशश्चेदिति। संस्कारस्य दुर्बलत्वे ज्ञानाभावात्संसारेऽभिनिवेशो भवति। ततो दृढभजनाऽभावान्न मुच्यत इत्यर्थः। अनेन वेदनिन्दया पुनरावृत्तिरुक्ता। पुनः शुद्धसाधनेन जायमानां मुक्तिं न निवारयति। अतो वेदनिन्दाऽभावे भक्तिमार्गः समीचीनः। ननूत्कर्षासहनेन कथं वेदं न निन्देदतः सापाय एवायं मार्ग इत्याशङ्क्याह एतावन्मात्रताऽप्यस्तीति। अनिन्दायां मोक्षः। निन्दायामपि न नरकादिः। वेदातिरिक्त-

---

टिप्पणी।

चक्रपाणे। भव शरणमितीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापान्। यमनियमविधूतकल्मषाणामनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम्। अपगतमदमानमत्सराणां व्रज भट दूरतरेण मानवानाम्। ते मे न दण्डमर्हन्ति" इत्यादिषु, नृसिंहपुराणे नवमाध्याये च भगवन्नाम्नो नरकविरोधित्वं प्रसिद्धम्॥२१६॥

आवरणभङ्गः।

दिति। स्वरूपार्थसाधनफलेषु। तृतीयमार्गसाधनत्वादिति। "यमलोकगमनानुकूलो यो जायस्वे"त्यादिश्रुत्युक्तो मार्गस्तत्साधनत्वादित्यर्थः॥ २१६॥

शूद्रेत्यादि। ननु यदि कदाचिदेवं स्यात्तदा किं मग्नश्चेत् पातालं प्रविशेदुत नेति शङ्कां हृदि कृत्वा तादृशस्य फलमाहेत्यर्थः। मूले जन्मभिरिति बहुवचनेन बहुकालमन्तरायो भवतीत्युक्तम्। जातेऽप्यन्तराये पुनः फलासौ किं बीजमत आहुः संस्कारेत्यादि। तत्रापीत्यादि। तर्हि परिणामसुखदत्वे विलम्बोऽप्यदुष्ट एवेति शूद्रादियोनावपि किं बाधकमिति शङ्कायां शूद्रादियोनौ संस्कारेण भजनेऽपि बाधकमाहेत्यर्थः। कारिकाद्वयसिद्धमर्थमाहुः अनेनेत्यादि। न निवारयतीति। पूर्वजन्मीना वेदनिन्देति शेषः। यद्यपि मूले वाशिष्ठलिङ्गोक्तशाण्डिल्योपाख्यानं हृदिकृत्वाऽधर्मस्याप्यावर्त्तकत्वमुक्तं, तथापि, "अपि चेत् सुदुराचार" इति वाक्याचस्य दौर्बल्यं, "स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट" इति वाक्याच्च बुद्धिपूर्वकमेव तत्करणे पुनरजुगुप्सायां च तस्य तथात्वं न त्वन्यथापीति ज्ञापनाय विवृतौ तदनुल्लेख इति ज्ञेयम्। एवं समीचीनत्वे किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति ननूत्कर्षेत्यादि। उत्कर्षासहनेनेति। भगवन्मार्गापेक्षया वेदमार्गोत्कर्षश्रुतौ तदसहनेन। आहेति। मार्गा-

मतेषु भगवन्मार्गे एतावदपि फलमस्ति, न तु साक्षादाविति तेभ्य उत्कर्षः ॥ २१७ ॥

भक्तिमार्गे मुख्यानां फलमाह—

सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे ।
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम् ॥ २१८ ॥

सर्वत्याग इति । अन्तर्बहिः सर्वत्यागः, स्वामित्वेन कृष्ण एव सर्वदा मनोनिवेशनम् । अभ्यासेन तद्भवति । अन्येषां देवानां तद्विभूतित्वेन तत्सेवकत्वेन वा सन्माननं यदि स्फुरति । एवं देहपातपर्यन्तं कृष्णैकमानसस्य सायुज्यं शीघ्रमेव भवति । कायवाग्विनियोगाभावेऽपि स्वस्नेहाभावेऽपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदित्यर्थः ॥ २१८ ॥

ततोऽपि विशेषमाह—

एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः ।
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा ॥ २१९ ॥

एतादृशस्त्विति । पूर्वोक्तो लोके सम्भवत्यपि । एतादृशस्तु दुर्लभः । योऽग्रे वक्ष्यते ।

टिप्पणी ।

तेभ्य उत्कर्ष इति । भक्तिमार्गस्य कर्मज्ञानयोगादिभ्य उत्कर्षः कृष्णाश्रयप्रकाशे प्रपञ्चित इति नात्र लिख्यते । ननु "भक्त्या त्वनन्यये"ति गीतायां श्रवणादेर्भगवत्प्रापकत्वमुच्यते कथं विशिष्टरूपे फले भगवति साधनं प्रेमैवेत्यत आहुः ॥ २१७ ॥

आवरणभङ्गः ।

न्तरेभ्य उत्कर्षमाहेत्यर्थः । तेभ्य उत्कर्ष इति । ते तु विमार्गपरिपोषिता नरकायैव भवन्त्ययं तु तथात्वेऽपि न तथेति प्रारम्भदशायामस्य सापायत्वेऽपि तेभ्योऽस्य उत्कर्ष इत्यर्थः । प्रारम्भदशा चात्र, "यद्यनीश" इत्यनेनानुकल्पनया कथनेऽपि, "लभते निश्चलां भक्ति"मिति फलोक्त्या ततः पूर्वभावित्वेन तदानीं भक्त्यऽभावाच्च ज्ञेया । गीतायामभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसीति वाक्यद्वयेऽनुकल्पताबोधनादपि तथा ॥ २१७ ॥

भक्तीत्यादि । एवं जघन्याधिकार उत्कर्ष फलत उक्त्वा, "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्ये"त्यादिवाक्यचतुष्टयोक्तमध्यमाधिकारे भगवता, न चिरादुद्धारस्योक्तत्वेनापायशङ्काभावात्फलतो वेदमार्गसाम्यरूपमित उत्कर्षं वक्तुं भक्तिमार्गे अमुख्यानां मध्यमाधिकारिणां फलमाहेत्यर्थः । "ये त्वि"त्यादिगीतावाक्यतात्पर्यमाहुः अन्तर्बहिरित्यादिना । गीतायाम् "अनन्येनैव योगेने"त्यस्यार्थो न स्फुट इति तमाहुः स्वामित्वेनेत्यादि । अभ्यासयोगप्रकारमाहुः अन्येषामित्यादि । ननु भगवता तादृशस्य शीघ्रं स्वप्राप्तिकथनात् फलतो विचारे उत्तमतैव प्रतीयते, न तु मध्यमत्वमित्यत आहुः कायेत्यादि । तथाच मार्गोत्कर्षबोधनायैवं फलं भगवता प्रतिज्ञापूर्वकमवधारणार्थमुच्यते । न तावताधिकारस्योत्तमत्वे भक्तिपदस्याभावादिति भावः ॥ २१८ ॥

ततोऽपीत्यादि । एतद्द्रमकं वक्तुमिति शेषः । तथाच यतो वक्ष्यमाणस्य दौर्लभ्यं, नास्त्येत्यतोऽग्रे

भागवते नारायणपरः प्रशान्तात्मैव लोके दुर्लभ उक्तः। ज्ञानमिश्रो भक्तः प्रेमयुक्तस्तु ततोऽपि दुर्लभः। तत्रापि सदा प्रेमप्लुतः। तस्य भगवत्सायुज्यं भवतीति किं वक्तव्यमित्यर्थः॥ २१९॥

एवं भक्तिमार्गे फलमुपपाद्य सर्वमेव मार्गमुपपादयति—

विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्।
तत्साधनं नवविधा भक्तिस्तत्प्रतिपादिका॥ २२०॥
गीता सङ्क्षेपतस्तस्या वक्ता स्वयमभूद्धरिः।
तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम्।
व्यासः समाधिना सर्वमाह कृष्णोक्तमादितः॥ २२१॥

विशिष्टरूपमित्यादिना, एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तमित्यन्तेन। अत्र प्रमेयं विशिष्ट-

---

आवरणभङ्गः।

मध्यस एवेति भावः। दौर्लभ्यमेव विशदीकुर्वन्ति भागवत इत्यादि। षष्ठस्कन्धे चतुर्दशाध्याये। "देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चामलात्मनाम्। भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते। रजोभिः सह सङ्ख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः। तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः। प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तमाः। मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिद्ध्यति। मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने" इति। इतोऽप्यधिकमाहुः प्रेमयुक्तस्तु ततोऽपि दुर्लभ इति। तृतीये पञ्चविंशे "देवानां गुणलिङ्गानामि"ति द्वयेन या भक्तिर्लक्षिता। सङ्कल्पविकल्परहितं देवरूपं मनो यस्य तादृशस्य पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणां गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिस्तन्निष्ठता या सा भक्तिरिति तत्र सिद्धान्तितम्। ततस्तद्वानप्यग्रे मुख्यो लक्षितः। "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिदि"त्यादिश्लोकत्रये। तत्र, केचिदिति दुर्लभाधिकारसूचनाच्च तथात्वम्। एवं सति यथा स्वयं भगवद्वशो भवति तादृश्या भक्त्यवस्थायाः प्रेमशब्दवाच्यत्वात् पूर्वापेक्षयास्योत्तमत्वेऽपि तथा। इयमेव च निर्गुणा भक्तिरित्युच्यते। तत्रैवोनत्रिंशे, "मद्गुणश्रुती"ति सार्द्धेन लक्षितत्वात्। एतादृशभक्तिमतः फलं पूर्वमेवोक्तम्, "अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते" इति। एतदेव सेवाफले मध्यमफलत्वेनोक्तं सायुज्यमिति। इतोऽप्युत्तमाधिकारमाहुः तत्रापीत्यादि। नवमेऽम्बरीषोपाख्याने, "अहं भक्तपराधीन" इत्यादिवाक्यैस्तादृशस्यालौकिकसामर्थ्यरूपमुख्यफलस्यैव भगवद्दानेन सिद्धेर्मुक्त्यनपेक्षत्वात्तद्भवने कैमुतिकमेवेति मध्यमाधिकारेऽपि यत्र नापायशङ्का, तत्रोत्तमस्य क्व तद्गन्धोऽपीति नायं मार्गः सापाय इति भावः। मुख्यभक्तेर्लक्षणं च तृतीये एकोनत्रिंशे, "अहैतुक्यव्यवहिते"ति सार्द्धद्वयेनोक्तम्। तत्र च, "दीयमानं न गृह्णन्ती"ति मुक्तिफलनात्कर्तृत्वाद्व्रजनानन्दाधिकाररूपमलौकिकसामर्थ्यमेव फलं स्फुटति, तदेव च पुष्टिप्रवाहमर्यादायां पुष्टिभक्तेषु विवेच्यते इति दिक्। एतेन फलतः सर्वतोऽधिकत्वं विचारितम्॥ २१९॥

अतः परं सुगमत्वं वक्तव्यम्, तत्र प्रमाणप्रमेयसाधनफलैर्भक्तिमार्गोत्कर्षं दर्शयितुं "विशिष्टरूप"-मित्यादिसार्द्धत्रयं विवृण्वन्ति अत्र प्रमेयमित्यादि। अत्र प्रमाणापेक्षया प्रमेयस्यैव जीवानुकूल-

रूपम्। यस्यैकैकोंऽशः काण्डद्वयेन प्रतिपाद्यते स ज्ञानक्रियोभययुतः। स एव च फलम्। तत्रापि साधनं च प्रेमैव। तत्साधनं नवविधा भक्तिः। श्रवणादिव्यतिरेकेण संस्कारवशात् फलकामनया वा जायमाना प्रीतिर्गौणी स्यात्। श्रवणादीनां साधनत्वे प्रमाणं गीता। "भक्त्या त्वनन्यया शक्य" इति साधनसाध्यरूपामेकीकृत्याह। गीताया अपि प्रामाण्यम् फलवाक्यात्। कृष्णस्य फलरूपत्वं परमानन्दरूपत्वात्। पुरुषोत्तमत्वाच्च। गीतार्थं सन्दिग्धं मत्वा विस्तरेण कथनार्थं भागवतं तेनैव रूपान्तरेण कृतम्॥ २२०–२२१॥

मार्गोऽयं सर्वमार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः।
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः॥ २२२॥

प्रमाणादीनां चतुर्णामप्येकरूपत्वात् सर्वमार्गापेक्षया अयमुत्तमो मार्गः। तथाहि। प्रमाणं भगवद्वाक्यम्। वाक्येन प्रवृत्तः साधनमसाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते। प्रमेयपरिज्ञानं च फलानुभवरूपम्। साधनं च फलादप्यधिकम्। फलं च ज्ञानकर्मादिसाध्येभ्योऽप्यधिकमिति। अत एवाऽस्मिन् मार्गे पातभयं नास्ति। प्रमाणप्रवृत्तिमारभ्य

टिप्पणी।

भक्त्येति। अत्र साधनसाध्यभक्त्योरेकीकृतत्वात्प्रेमद्वारैव श्रवणादिना भगवान् ज्ञेयो दृश्यः प्राप्यो भवतीति पूर्वोक्ते न विरोध इति भावः॥ २२०॥

प्रमाणादीनामिति। प्रमाणप्रमेयसाधनफलानामेकं रूपं निरूपकं यस्येति भगवदेकनिरूप्यत्वादित्यर्थः। साधनं चेति। अन्यमार्गफलात्प्रेमाधिकमित्यर्थः। फलं चेति। स्वरूपस्य नित्यानन्दरूपत्वा"न्मद्भक्ता यान्ति मामपी"ति वाक्यादिति भावः। अत एवेति। अत्र भगवतो रक्षकत्वमोचकत्वादेर्वक्ष्यमाणहेतोरित्यर्थः॥ २२२॥

आवरणभङ्गः।

त्वाच्चेन फलाभिन्नेनोत्कर्षमुक्त्वा साधनत आहुः प्रेमैवेति। रसपूर्वावस्थात्मकमानन्दसूक्ष्मरूपं यत्तदित्यर्थः। ननु तस्य नित्यत्वेन नान्तरीयकात् संस्कारादेव तदभिव्यक्तिसौकर्ये विहितभक्तीनां न कोऽप्युपयोग इत्यत आहुः श्रवणादीत्यादि। तथाच गौणीत्वपरिहारे तदुपयोग इत्यर्थः। कथमेवं निश्चेयमित्यत आहुः श्रवणादीनामित्यादि। श्रुत्यपेक्षया तद्दौर्बल्यमाशङ्क्याहुः गीताया अपीत्यादि। फलवाक्यादिति भावप्रधानो निर्देशः। फलवाक्यत्वादित्यर्थः॥ २२०॥ २२१॥

गीताविस्तरात्मके श्रीभागवते किमुक्तमित्यपेक्षायां "मार्गोऽयं सर्वमार्गाणा"मित्यस्यार्थमाहुः प्रमाणादीनामित्यादि। कथमित्यपेक्षायां तदुपपादयन्ति तथाहीत्यादि। फलादप्यऽधिकमिति। फलवशीकारकत्वादनुभवाच्च तथेत्यर्थः। अत्रैतद्धृदयम्, गीतायां प्रश्ने, "शाधि मां त्वां प्रपन्नमि"ति वाक्यादात्मनिवेदिनेऽर्जुनाय कर्मयोगं साङ्ख्ययोगादिकं च सपरिकरं द्वितीयादिभिः सप्तभिरुक्त्वा नवमाध्याये, "इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामी"ति प्रतिज्ञाय तादृशं भक्तिमार्गमुक्त्वा, "मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः" इत्युपसंहृत्य तत्रापि गौणधर्मसाङ्कर्यात्पुनर्भक्तेर्दुर्लभत्वबोधनाय दशमे,

भगवतो रक्षकत्वात् । तत्र हेतुः—मोचकः सर्वथा यत इति । स हि सर्वानेव येनकेनचिदुक्तप्रकारेणापि प्रवर्तमानान्मोचयति, मोचकस्वभावत्वात् । तत्र स्ववाक्यानुगतान् कथं न मोचयेत् ॥ २२२ ॥

आवरणभङ्गः ।

"भूय एवे"त्यनेन परमं वचः प्रतिज्ञाय, "भास्वते"त्यन्तेन भजनस्यैव फलपर्यवसायित्वमुक्त्वा विभूतिविश्वरूपाभ्यां प्रासङ्गिकं परिहृत्य द्वादशेऽक्षरोपासनादपि स्वोपासनाया उत्कर्षं भक्त्यनुकूल्यान् भक्तोत्कर्षं च प्रतिपाद्य पुनरग्रिमाभ्यां प्रासङ्गिकं बोधयित्वा पञ्चदशे स्वस्य सर्ववेदवेद्यत्वं पुरुषोत्तमत्वं तच्छास्त्रस्य गुह्यतमत्वं तज्ज्ञाने कृतकृत्यत्वं चोक्त्वा तदग्रेऽधिकारिणं स्वरूपतो निर्णीय प्रासङ्गिकं पुनर्बोधयित्वाऽष्टादशे, "समासेनैव कौन्तेये"ति सन्दर्भेण ज्ञानादप्युत्कर्षं भक्तेर्बोधयित्वा पुनः सर्वगुह्यतमं प्रतिज्ञाय, "मन्मना भवे"त्यनेन पूर्वोक्तां भक्तिं, द्वितीयेन प्रपत्तिं च तथात्वेनोक्त्वोपसञ्जहार । तेन गीतायामुत्कर्षो भक्तिमार्गस्यैव सिद्धः । एवमेव श्रीभागवतेऽपि, "यस्यां वै श्रूयमाणायामि"ति वाक्ये श्रीभागवतस्य भक्त्युत्पादकत्वकथनाद्व्यासेन समाधौ भक्तेरेवानर्थोपशामकत्वानुभवात् । एकादशे भगवदुद्धवसम्वादे भक्तिसाधनान्युक्त्वा, "प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव । नोपायो विद्यते सम्यक् प्रायणं हि सतामहमि"ति चोक्त्वा, "सुगोप्यमपि वक्ष्यामी"ति प्रतिज्ञाय द्वादशाध्याये सत्सङ्गस्य स्वप्रापकत्वमुक्त्वा "केवलेन हि भावेने"त्यादिना मुख्यभक्तेः, "तस्मात्त्वमुद्धवे"त्यादिना प्रपत्तेश्च कथनेन "भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृते"त्यस्योत्तरमाह । ततः श्रीमदुद्धवसंशयानपगमे वेदस्वरूपं प्रतीयमानं वेदार्थं योगं चोक्त्वा प्रासङ्गिकं च परिहृत्य चतुर्दशे पुनर्भक्तिं प्रशस्य, "तस्मादसदभिध्यानं यथास्वप्नमनोरथम् । हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितमि"ति सिद्धान्तमुक्त्वा पुनः प्रश्नानुरोधेन योगं तत्सिद्धीर्विभूतीर्भक्तिजनकं वर्णाश्रमधर्मं चोक्त्वा, ऊनविंशे, ज्ञानिनं ज्ञानं च प्रशस्य तस्यापि भक्त्यङ्गत्वं बोधयन् "तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव । ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः" इति सिद्धान्तमाह । पुनर्ज्ञानभक्त्योः प्रश्ने ज्ञानोत्तरत्वेन मोक्षधर्मानुक्त्वा, "भक्तियोगः पुरैवोक्त" इति तेन प्रश्नं पूरयित्वा पुनर्भक्तिकारणानि वदन्, "एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते" इत्याह । पुनः प्रासङ्गिकं परिहृत्य विंशैकविंशाभ्यां स्वस्य वेदार्थरूपत्वमुक्त्वा पुनः प्रासङ्गिकं प्रश्नानुरोधि चान्यदपि बहूक्त्वाऽञ्जसा सिद्ध्यर्थं पूर्वोक्तस्य सुगोप्यस्य साधनभूतान् स्वधर्मानुक्त्वोनत्रिंशे उपसञ्जहार । सुगोप्यतमं तु पूर्वमेवोक्तमिति मुख्याधिकारित्वात्पुनस्तन्नोवाच । तेनात्रापि भक्तिमार्गस्यैवोत्कर्षः सिद्धः । एवमेव स्कन्धान्तरेऽपि ज्ञायत इति व्यासचरणानामप्ययमेवाशयोऽतो नात्रापायशङ्का । वेदसन्देहवारकत्वाच्च न प्रमाणस्यापि दौर्बल्यमतोऽयमेव मार्गः प्रमाणप्रमेयसाधनफलैरुत्तम इति निष्कर्षः । एवञ्चास्य, "मद्गुणश्रुतिमात्रेलक्षणे"त्युक्तलक्षकत्वेन निर्गुणभक्तिमार्गत्वं फलिष्यति ॥ २२२ ॥

वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु।
क्रियमाणे न धर्मः स्यादतस्तस्मान्न मोचनम्॥ २२३॥

किञ्च, यदा वेदादीनां कालवशादसाधकत्वं ज्ञातं तदाऽयं मार्गो भगवता कथितः। तेनेदानीं नान्यो मार्गः फलाय॥ २२३॥

एवं मार्गस्योत्तमत्वं प्रतिपाद्य सात्त्विकानुपदिशति—

बुद्धिमानादरं तस्मिँश्छले साध्येऽपि दुःखतः।
त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्॥ २२४॥

बुद्धिमानिति। परमादरो बहुषु न सम्भवति। अत एवैकस्मिन् कर्तव्यः तत्र वेदमार्गापेक्षयाऽपि भक्तिमार्गस्योत्तमत्वप्रतिपादनात् साम्प्रतमन्यस्याभावात्। आदरेण भक्तिमार्गे प्रविशेत्। मार्गे प्रवेशमात्रेणैव कृतार्थत्वात्॥ २२४॥

टिप्पणी।

मार्ग इति। भगवदीयत्वसिद्धेः। "स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले। परिहर मधुसूदन प्रपन्नान्प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानामि"त्यादिभिर्यमादिभयनिवृत्तेश्चेति भावः॥२२३॥

आवरणभङ्गः।

अथ प्रस्तुतमुच्यते। ननु मोचकस्वाभाव्ये वेदादिमार्गेभ्योऽपि मोचयिष्यतीति को विशेषो भक्तिमार्गे इत्याकाङ्क्षायां वर्णाश्रमवतामिति कारिकां विवृण्वन्त आहुः किञ्चेत्यादि। अयमर्थः। यथावदुपनयनेन ब्राह्मण्यादिदेवतासंसर्गे देहस्य ब्राह्मणादिरूपता। यद्यपि शूद्रत्वरूपदेवतासंसर्गस्य नोपयनसापेक्षत्वं तथापि वृत्ततो ब्राह्मणत्वस्याजगरे व्यवस्थापनात् समानन्यायेन शूद्रत्वस्यापि तद्गम्यत्वनिश्चयाद्वृत्ताभावेऽसच्छूद्रत्वस्य सर्वसम्मतत्वाच्च सर्वेषां वर्णानां वृत्तादेवावगतिः। नो चेद्वर्णाभासतैव। तथा तत्तदाश्रमोदिताचारकरण एवाश्रमसिद्धिः। अन्यथा तु, "गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो बटोरपि। तपस्विनो ग्रामवासो भिक्षोरिन्द्रियलौल्यता। आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः" इति वाक्यादाश्रमाभासतैव। एवं सति वैदिकधर्मशेषेऽधिकारे नष्टेऽतादृशी क्रियमाणस्य मुख्यत्वाभावात्फलाभाव इति पूर्वमुपपादितम्। तथा सतीदानीं क्रियमाणस्य धर्मनाममात्रधारकत्वाच्छलत्वम्, शब्दभृच्छल इति तल्लक्षणात्। तथा नाममात्रेण कृत्वा क्रियमाणे कर्मण्यपूर्वाभावात्ततो मुक्त्यभाव इति यदैव ज्ञातं तदायं कथित इति नेदानीं मार्गान्तरेण मोचयतीत्ययमेवेदानीमुत्कृष्ट इत्यर्थः। एवं सुगमत्वं सर्वथा फलसाधकत्वं च विमृष्टम्॥ २२३॥

उपदिशतीति। ननु भवत्विदानीमन्योत्कर्षो, न तु सर्वदा, तथा सति कदाचिद्यथोक्तरीतिकधर्मसम्पत्ताविदानीमपि वेदमार्गात् फलसिद्धिरिति शङ्कायां, "गहना कर्मणो गति"रिति, "शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तः" इति, "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामि"त्यादिवाक्यात्तस्य दुःखसाध्यत्वं तु सार्वदिकं, न त्वस्येति नास्य कदाप्युत्कर्षहानिरित्याशयेनोपदिशतीत्यर्थः। तत्र पूर्वमधिकारोऽपेक्षित इति प्रथमतः सामान्यं तमाहुः बुद्धिमानिति। बुद्धेरधिकारिविशेषणत्वं द्वितीयस्कन्धारम्भे, "श्रोतव्यादीनी"त्यत्र साधितम्। तादृशा यत्कर्तव्यं तदाहुः परमादरेत्यादि। मार्गे प्रवेशेत्यादि। "अपि चेत्सुदुराचार" इति वाक्यात्तथेत्यर्थः॥ २२४॥

नन्वेवं पाषण्डानामपि वचनानि भवन्तीत्याशङ्क्याह—

विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुध्यते ।
कल्पितैरेव बाधः स्यादवोचाम प्रमाणताम् ॥ २२५ ॥
सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि ।
तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि ।
कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्ध्येत् कारणमुच्यते ॥ २२६ ॥

विरुद्धकरणं नास्तीति । नात्र श्रुतिस्मृतिविरुद्धाचारो, नापि प्रमेयं वेदविरुद्धम् । अतो नात्र विरुद्धसम्भावनाऽपि । ननु पराश्रया मुक्तिर्मायावादादिभिर्निराकृतेति कथं न प्रमेयविरोधस्तत्राह कल्पितैरेव बाधः स्यादिति । ते हि स्वमात्रं फलत्वेन कल्पयन्ति । तत्त्वप्रामाणिकम् । आत्मशब्दस्य भगवद्वाचकत्वात् । न तु जीवपरत्वं वेदान्तानाम् । नापि जीवस्य फलरूपत्वम् । अतः परमानन्दोऽधिको भवतीति न कदापि मुक्तिः

टिप्पणी ।

पराश्रयेति । भगवदधीना भगवत्प्रवेशरूपा वेत्यर्थः । अतः परमानन्द इति । जीवात्परमानन्दः कृष्णोऽधिक इति तत्प्राप्तिरूपत्वान्मुक्तिर्न स्वाधीना केवलात्मरूपा वेत्यर्थः ।—

आवरणभङ्गः ।

मूले, प्रक्रियापदेन परिपाटी बोध्यते । तां विशदयन्ति नापि प्रमेयमित्यादि । तथाच पाषण्डवैलक्षण्यस्यात्र स्फुटत्वाद् बुद्धिमतस्तज्ज्ञानं सुखेन भविष्यतीति नैष दोष इत्यर्थः । मूले, कल्पितैरित्यादि । वाक्यत्वेन कल्पितैर्वाक्याभासैरेवात्र बाधबुद्धिर्न तु वास्तविको बाधः । "अहं सर्वस्य प्रभवः" इत्यादि । "प्रायेण भक्तियोगेन" इत्यादिप्रमाणानामुक्तत्वादित्यर्थः । ननु भवत्वऽस्य प्रामाणिकत्वं, तथापि स्वाश्रयमुक्तिपक्षस्य कथं कल्पितत्वमत आहुः ते हीत्यादि । आत्मशब्दस्येति । "आत्मलाभान्न परं विद्यते", "तरति शोकमात्मविदि"त्यादिफलवाक्यगतस्य तस्येत्यर्थः । ननु मैत्रेयीब्राह्मणे, आत्मशब्दः शारीरपर एव सिद्ध इति जीवपरत्वमेव वेदान्तानामिति कथं तथेत्यत आहुः न त्वित्यादि । यद्येवं स्याद् व्यासः शारीरजिज्ञासामेव प्रतिजानीयान्न ब्रह्मजिज्ञासाम् । अनुपपत्तेस्तु न शारीर इति च न वदेत् । अतो मैत्रेयीब्राह्मणेऽप्युपसंहारप्राबल्यं निश्चित्याऽऽत्मशब्दो ब्रह्मपर एवानुसन्धेय इति भावः । तदिदं विस्तरतो ब्रह्मसूत्रभाष्यादवगन्तव्यम् । ननु विविक्तात्मज्ञानादपि यावद् दुःखनिवृत्तेः "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य वा हेतोः शरीरमनुसञ्ज्वरेदि"ति श्रुतिसिद्धत्वात् कथं न स्वस्य फलत्वमत आहुः नापीत्यादि । जीवो ह्यंशः प्रदेशो वा । ब्रह्म तु ततोऽधिकम् । अधिकं तु भेदनिर्देशादित्यादिभ्यः । अतः प्राप्तिर्मृग्यैवेति न यावद्दुःखनिवृत्तिमात्रस्य फलत्वम् । उक्तवाक्ये जीवलिङ्गस्यादर्शनाच्च न जीवस्य फलत्वमतस्तथेत्यर्थः । एवं स्वाश्रयमुक्तिपक्षदूषणेन तस्य कल्पितत्वं प्रतिपाद्य पराश्रयमुक्तिपक्षे यत्साधनं पूर्वत्र सिद्धं तदाहुः अत इत्यादि । अस्य प्रमेयस्य पूर्वमुक्तत्वेऽपि पुनः स्मारणस्य

स्वाधीना। अतस्तत्र स्नेह एव तत्प्राप्तिहेतुः। अतो युक्त्याऽपि भगवन्मार्गस्य प्रामाण्यं साधितमित्यर्थः। परमत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः, किन्तु येषु भगवत्कृपा कृपा-परिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते ॥ २२५–२२६ ॥

तत्रादितः साधनान्याह—

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात् ॥ २२७ ॥

कृष्णसेवापरमिति। यो हि गुरुः सेवामुपदेक्ष्यति स स्वयं चेत्तां उत्तमां जानीयात्तदा कथं न स्वयं कुर्यादिति सेवापर एव गुरुः। तत्रापि निमित्तानि वारयति दम्भा-

---

टिप्पणी।

अतस्तत्रेति। "नैष्कर्म्यमि"त्यादिभिर्भगवति स्नेह एव मोक्षप्राप्तिहेतुरित्यर्थः ॥२२५॥२२६॥

तत्रादित इति। उपदेशग्रहणादिसाधनानां मार्गत्वात्साधनान्याहुरित्यर्थः। सेवापर एव गुरुरिति। एतेनाऽवैष्णवो भगवन्मार्गे गुरुर्न भवतीत्यपि सूचितम्। अत एव नारदपञ्चरात्रे, "महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः। सहस्रशाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः" इति।

आवरणभङ्गः।

प्रयोजनमाहुः अतो युक्त्येत्यादि। ननु यद्येवं तर्हि प्रेक्षावतां सर्वेषामेव कुतो नात्र प्रवृत्तिरित्याकाङ्क्षायां दोषाभावस्याप्यधिकारिविशेषणत्वं हृदि कृत्वा तत्साधनं सूचयन्त आहुः परमित्यादि। आनुमानिकमप्येकेषामिति सूत्रे विषयवाक्यविवेचने अव्यक्तपदेन भगवत्कृपा प्रतिपादिता। सा च भगवदधीनाऽतस्तथेति नायं दोष इत्यर्थः। ननु तस्या अव्यक्तत्वे कथमधिकारनिश्चय इत्याकाङ्क्षायामाहुः कृपापरीत्यादि। अत्रोदाहरणमाहुः निश्चीयत इति। अस्माभिरिति शेषः। अन्येषां तु मार्गरुचिपरिज्ञानं वेषवचनाचारैः। "अथ भागवतं ब्रूते"त्यत्र तथासिद्धेः ॥ २२५–२६ ॥

तत्रेत्यादि। ननु यद्येवं तदा कृपयैव फलसिद्धेः साधनवैयर्थ्यमित्याकाङ्क्षायां साधनशास्त्रार्थापत्त्या तद्द्वारैव प्राप्य इति निश्चित्य कृपाया अनुग्रहाख्यधर्मान्तररूपत्वात्तस्य भक्तिकारणताया भक्तिहेतुनिर्णये विवेचितत्वादनुग्रहेण भक्तेः सिद्धावपि तदवस्थारूपस्य प्रेम्णः साधनसापेक्षत्वात् स यथा सिद्ध्येत् तथा साधनान्याहेत्यर्थः। तत्र, "अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपव्रजेदि"ति भगवद्वाक्येषु, "निरालम्बो यथा लोके स्थानभ्रष्टो निगद्यते। हरेः कृपाविशिष्टोऽपि गुरुहीनस्तथैव च। यथा भक्तिः स्वतन्त्रोक्ता गुरुसेवापि तादृशी। जिज्ञासाशेषभावत्वं तथापि विनिगद्यते" इत्येकादशे सुबोधिन्यां प्रबुद्धवाक्येषु सिद्धेः। प्राथमिकं तदेवेति गुरुलक्षणपूर्वकं तां वदन्त आहुः कृष्णेत्यादि। अत्र प्रथमतृतीये गुरुविशेषणे, शाब्दे परे च निष्णातमित्यनेन सिध्यतः। द्वितीयं चोपशमाश्रयपदेन। यद्यपि सन्देहवारणाय वैधदीक्षावद्धृदयप्रवेशाय चोभयनिष्णातत्वं तत्त्वव्याख्यातं, तथापि हृदि भगवत्प्रवेश एव साधनेषु निष्ठा वर्धत इति भगवत्सेवापरत्वं तस्यैव लक्षणम्। तदेवात्राभिप्रेत्याहुः यो हि गुरुरित्यादि। द्वितीयस्य तात्पर्यमाहुः तत्रापीत्यादि। मूले, दम्भा-

दिरहितमिति । सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुपार्थपर्यवसायिनी । अन्यथा मनसान्यद्विधायान्यथा करणे न फलसिद्धिरित्यभिप्रायेणाह श्रीभागवततत्त्वज्ञमिति । जिज्ञासुः, न तु कौतुकाद्याविष्टः । भजनं सर्वभावेन तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या ॥२२७॥

टिप्पणी ।

सेवा चेति । प्रमाणं भगवद्वचनं सत्यरूपो भगवान्वा मूलं हेतुर्यस्यां न धर्मादिकम् । सा स्वतः पुरुषार्थत्वेन भगवदर्थमेव वा कृता सेवा परमपुरुषार्थसाधिका भवतीत्यर्थः । **भजनं सर्वभावेनेति** । भगवतीव गुरावपि भक्तिः कर्तव्येत्यर्थः । अत एव श्रुतिः, "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इति । श्रीभागवते च "यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ । भक्तिर्न स्याच्छ्रुतं तस्य मन्ये कुञ्जरशौचवदि"ति ॥ २२७ ॥

आवरणभङ्गः ।

दीत्यादिपदेन कामलोभपूजाः सङ्गृह्यन्ते **सेवा चे**त्यादि । तथाच श्रीभागवतस्य सर्वप्रमाणसाररूपतायाः, "सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतमि"तिद्वादशीयवाक्ये सिद्धत्वाच्छाब्दनिष्णातत्वं श्रीभागवततत्त्वज्ञत्वरूपमेव बोध्यम् । वीक्ष्येत्यनेन मार्गान्तरादत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम् । ईक्ष दर्शनाङ्कनयोः विना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते । तथाच तन्त्रे, "गुरुः परीक्षयेच्छिष्यमि"ति वाक्याच्छिष्यो यथा परीक्ष्यते तथाऽत्र गुरुः । नो चेदतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात्तादृशोऽनुसरणेऽन्धानुगाऽन्धवदुभावपि पतेताम् । एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम् । अयमप्यर्थः, शाब्दे परे चेत्यादिविशेषणानां ज्ञातानामेव प्रपत्तिप्रयोजकत्वात् सिद्ध्यति । एवं गुरुस्वरूपं निश्चित्य शिष्यस्याहुः **जिज्ञासुरि**त्यादि । यद्यप्यत्र जिज्ञासायां कर्म न निर्दिष्टं, तथाप्युत्तमं श्रेय एव ससाधनं प्रकरणाद् बोध्यम् । तच्च भगवानेतत्सायुज्यं तत्सायुज्यं च । एतज्जिज्ञासा च, "सात्त्विका भगवद्भक्ता" इत्यनेनारम्भदशायामुक्तस्यैव संभवति, तत्राप्युत्कटा गुरुभक्त्यादरजनिका सुतरां तादृशस्यैवेति स एवाऽधिकारी । तेन ब्रह्मसम्बन्धोऽपि फलमुखस्तस्यैवेति सिद्ध्यति । एवमधिकारसूचनेऽनधिकार्यपि व्यावर्तितः । गुरुश्चापृष्टो न वक्ष्यतीति प्रश्न आवश्यकः । सोऽपि गुरौ प्रपन्नस्यैव फलवानिति भजनं विशिंषन्ति **सर्वभावेनेति** । एतेनात्रापेक्षितादरस्य स्वरूपं विवृतम् । सर्वभावश्च निष्कपटतया आत्मनिवेदनम् । तच्चैहिकपारलौकिकयोरात्मना सहार्पणम् । तस्य निदर्शनं च शक्त्यनुसारेण सावधानैः सादरं तदाज्ञाकरणम् । तदपि मात्सर्यं विनेति तत्स्वरूपं तृतीयस्कन्धे त्रयोदशे मनुं प्रति ब्रह्मवाक्ये "प्रीतस्तुभ्यमहं तात"इत्यादिश्लोकद्वयसुबोधिन्यां स्फुटम् । चतुर्विंशे कर्दमं प्रति ब्रह्मवाक्ये, "त्वया मेऽपचितिस्तात"इत्यस्य सुबोधिन्यां चैतदुदाहरणमप्युक्तमिति ततो ज्ञेयम् । यद्वा, देहमारभ्य ईश्वरपर्यन्तं यावन्तो भजनीयास्ते सर्वे भगवानिति वा सर्वभावो बोध्यः । तृतीय एव क्वचनैवं विवरणादिति । तथा प्रपन्नस्याग्रिमं सिद्ध्यतीति । एवञ्च सर्वोत्तमादिपाठोऽपि गुरुभजनस्यैव शेष इति ज्ञेयम् । इदं च फलोपकार्यङ्गम् । "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन" इति श्रुतेः । एवञ्चात्र जिज्ञासया गुरुपरीक्षणं, तथैव तद्भजनं चेति साधनद्वयं क्रमिकमुपदिष्टम् । प्रथमकारिकायां कृपापरिज्ञानस्यात्र

स च दुर्लभ इति। तेनापि वक्तव्यं प्रकारमाह—

तदभावे स्वयं वाऽपि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम् ॥ २२८ ॥

तदभाव इति। क्वचिद्देशविशेषे सत्परिपन्थिनामभावयुक्ते हरेर्मूर्तिं कृत्वा भजेत्। अयमेवाऽस्य मार्गस्य प्रकार उत्तमः। यन्मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति।

आवरणभङ्गः।

जिज्ञासायाश्च कथनादेतदुभयं गुरुणापि परीक्ष्यमित्यपि सूचितम्। अन्यथा, "इदं ते नातपस्काये"ति वाक्यादतादृशाय कथने गुरोरप्याज्ञाभङ्गः प्रसज्ज्येत। एवमेकं सपरिकरमाद्यं साधनमुपदिष्टम्। तदग्रिमं साधनमाहुः तदेत्यादि। तादृशभजनतः प्रसन्नस्य गुरोरुपदेशोत्तरम्। इदं द्वितीयं साधनम् ॥ २२७ ॥

नन्वत्र मूल एव कुठारपात इत्याकाङ्क्षायां कलेर्बलिष्ठत्वेनाग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावमालोच्य स्वसिन्नेवैतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः स चेत्यादि। तदभाव इत्याद्याज्ञापनादिदं ज्ञात्वा करणे, "यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथगि"त्याभासत्वाभावः सेवायास्तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः। स्वयमेव सेवाकरणेऽपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्या इत्यपि सूचितम्। सत्परिपन्थिनामभावयुक्त इति। एकादशे, "देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितानि"ति। सप्तमेऽपि "यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदमि"तिकथनात् यथा भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यतेति निरुक्त्या फलवत्त्वान्नैमिशस्य उत्तमत्वं तथात्रापीति भावः। तेनापत्तौ वङ्गादयोऽपि सङ्गृहीता ज्ञेयाः। हरेर्मूर्तिं कृत्वा भजेदिति। भगवत्स्वरूपं स्वामित्वेन भावयित्वा आत्मानं दासं भावयन् दासकार्यं कुर्यादित्यर्थः। ननु पूर्वमस्य मार्गस्य भगवदुक्तत्वप्रतिपादनादस्मिन् भगवद्धर्मत्वमुक्तं भवति। तल्लक्षणं चैकादशे योगेश्वरवाक्ये, "ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये। अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तानि"-त्युक्तम्। तत्र ये धर्मा वै निश्चयेन भगवत्फला एव, कायवाङ्मनोभिर्व्यस्तैः समस्तैर्भगवद्विषया एव, भगवतैव च प्रोक्ताः, यथा, "मन्मना भवे"त्यादौ ते भागवता इति तत्र स्थितम्। एवं सति योगेश्वरवाक्येषु आत्यन्तिकक्षेमप्रश्ने, "मन्येऽकुतश्चिदि"त्यनेन प्रपत्तिमार्गं तथात्वेनोक्त्वा "धर्मान् भागवतान् ब्रूते"ति प्रश्ने, "ये वै" इति लक्षणमुखेन तानेवोक्त्वा द्वितीये तदुत्कर्षं चोक्त्वा तदग्रे त्रिभिः प्रथमाधिकारिकार्यांस्तान् पञ्चभिस्तदनुकल्परूपाँश्चाह। ततः स्थूलबुद्धीनामपि भगवत्प्राप्त्यर्थं तानेवादितः पुनराह। ऐहिकामुष्मिकफलभोगविरागपूर्वकं गुरुशरणगमनं, ततस्तत्सेवनं सर्वभावेन। ततः कर्मज्ञानमार्गप्रवेशस्ततः सप्तभिर्भक्तिमार्गस्ततस्तस्य फलपर्यवसायित्वमिति क्रमेण। ननु भगवानप्येकादशाध्याये, "श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन्नि"त्यादिना, भगवदाश्रितस्य कथाश्रवणगानस्मरणजन्माऽभिनयभगवदर्थधर्मकामार्थवरणानि भक्तिलाभकारणत्वेनाहेति तं क्रमं विहाय किमिति मूर्तिभजनमेव प्रथमत उच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः अयमित्यादि। तथाच साक्षादुपयोगादेतस्या एव मुख्यतयोपदेश इति भावः। सर्वमिति। एवञ्च समानन्यायेन मूर्तावपराधोऽपि

तत्र मूर्तेर्भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति तद्रूपमिति । वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वा-द्विशेषस्त्वयम्—एनमुद्धरिष्यामीति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो भक्तिमार्गानुसारेणाह तत्र च स्थितमिति । मूर्तौ स्थितम् । परं यत्र हस्तस्तत्र हस्तः । तत्तदवयवेषु तत्तदव-यवा इति ॥ २२८ ॥

तत्र हेतुः—

साकारव्यापकत्वाच्च मन्त्रस्यापि विधानतः ।
श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः ॥ २२९ ॥

व्यापकं साकारं ब्रह्मेति । अतः सर्वे कटकाद्युपचारा भगवदवयवेष्वेव साक्षात्कृतां भवन्ति । उपासनामार्गानुसारेणापि मूर्तावेव भगवद्भजनं भवतीत्याह मन्त्रस्यापि विधानत इति । न्यासादिपूर्वकं सर्वपूजा ।—

आवरणभङ्गः ।

भगवदपराध इति ज्ञापितम् । तत्रेत्यादि । ननु तथापि "सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणा गाव" इति भगवता-ऽन्येषामपि पूजास्थानानां कथनाच्छालग्रामे भगवत्सान्निध्यस्य शास्त्रसिद्धत्वाच्च तानि विहाय किमिति मूर्तावेव भजनमुपदिश्यत इत्याकाङ्क्षायां सात्त्विकानां ज्ञानभक्त्युपासनाप्रधानभेदेन त्रैवि-ध्यात्तत्तद्रीत्या कथने तस्य तस्य बोधो भवतीति तत्तदर्थं त्रेधा निरूपयतीत्यर्थः । तत्र पूर्वं ज्ञान-प्रधानं प्रति भगवत्त्वे हेतुमाहुः वस्त्वित्यादि । यद्येवं तर्हि मूर्तौ को विशेष इत्यत आहुः विशे-षस्त्वित्यादि । तथाच यथा प्रह्लादाद्यर्थं स्तम्भादिभ्यः प्रादुर्भावस्तथात्राप्येतस्यैवोद्धाराय प्रादुर्भावो, न तु साधारणतयेति सूर्यादिभ्यः शालग्रामाच्चात्रायं विशेष इत्यर्थः । एवञ्चेन्द्रद्युम्नोद्धाराय दारु-ब्रह्माविर्भाव इवात्रापि लौकिकी जीवक्रियाऽभिव्यक्तौ व्यापृतापि सती इच्छाशरीर एव प्रविश-तीति न कश्चिच्छङ्कालेशः । भक्तीत्यादि । द्वितीयं प्रति तथाहेत्यर्थः ॥ २२८ ॥

नन्वेवं मूर्तौ भगवत्स्थितिज्ञापनेऽपि भक्तिमार्गीयाणां सर्वतत्त्वनिर्धारानावश्यकत्वस्य द्वितीय-स्कन्धे सञ्जातभक्तिधारणायां व्यवस्थापितत्वान्मूर्तौ भेदबुद्ध्यनपगमेनारम्भदशायां साक्षात्काराभा-वेन च तत्र भगवद्बुद्धिदौर्घट्यात् कथमेवं निश्चय इत्याकाङ्क्षायां तेषां तथा तत्र बुद्धये हेतुमाहुः तत्र हेतुरित्यादि । वैश्वानराऽधिकरणादिषु दामोदरलीलादिषु च साकारस्यैव व्यापकत्वसिद्धेर-न्तर्यामिब्राह्मणे चान्तःस्थस्यैव सर्वान्तरकर्तृत्वसिद्धेः प्रकृते च व्यापकतया प्रवेशानपेक्षणाच्चैव तत्सिद्धेः । "सर्वतः पाणिपादान्तमि"त्यत्रावयवानां परिच्छिन्नत्वसिद्धेश्च तथास्थितिरुपपद्यत एवेति नामभेदबुद्धिदौर्घट्यमित्यर्थः । मूलस्थेन चकारेणात्रापि पूर्वोक्तो विशेषः समुच्चीयते । तेनासाधार-ण्यमपि तादृशबुद्धिसहकारीति हेत्वोः साधारणत्वमप्येतेन निवारित ज्ञेयम् । तृतीयं प्रत्याहुः उपासनेत्यादि । भवतीति । श्रेष्ठं भवतीत्यर्थः । हेतुं विवृण्वन्ति न्यासादीत्यादि । एकादशी-यसप्तविंशाध्याये, "शैली दारुमयी"त्यादिना प्रतिमा उक्त्वा, "कृतन्यासो मदर्चां चे"त्यादिना न्यासादिपूर्वकं सुदर्शनादिपार्षदादीनां सर्वेषां पूजा महता संरम्भेण भगवतोक्ता । तथैव शिवादि-भिश्चेति तथेत्यर्थः । एवमेवैकादशाध्याये ज्ञानिनमुपक्रम्य स्वस्मिन् विरजमनोऽर्पणमुक्त्वा तत्रासा-

मूर्तौ विशेषमाह श्रीकृष्णमिति । मूर्त्यन्तरे द्व्यन्तरितत्वम् । यथावद् मुख्यतया प्राप्तैर्द्रव्यैरुपचाराः कर्तव्याः ॥ २२९ ॥

टिप्पणी ।

मूर्त्यन्तर इति । अन्यमूर्तिभजने श्रीकृष्णस्य मूलभूतत्वात्तदवतारस्य मूर्तौ स्थितत्वाद्भजने श्रीकृष्णस्य द्वाभ्यां व्यवहितत्वमित्यर्थः ॥ २२९ ॥

आवरणभङ्गः ।

मथ्र्ये, यद्यनीश इत्यादिचतुर्भिस्तदर्थं साधनानि तैर्भक्तिलाभं ततस्तयोपासने फलं स्वपदप्राप्तिरूपमुक्त्वा तत्कथनेन तस्य ज्ञानमिश्रभक्तत्वं च बोधयित्वा प्रश्नानुरोधेन साधुलक्षणं चोक्त्वाऽग्रे भक्तिं कथयितुं, "मल्लिङ्गमद्भक्तजने"त्यादिना तं प्रत्यपि मूर्तिभजनमेव महता सन्दर्भेण भक्तिलाभायोक्तम् । तथैवैकोनविंशे "पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परमि"ति प्रतिज्ञाय, "श्रद्धाऽमृतकथायां म" इत्युपक्रम्य, "एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनामि"त्यन्तैर्भक्तिर्मिश्रभक्तं प्रत्यपि पूर्वोक्तान्येव साधनानि, मूर्तिपरिचर्या च प्रत्याहारेण बोध्यत इत्येवं बोधयितुं ज्ञानभक्त्युपासनाक्रमेणाचार्यैर्मूर्तेर्भगवत्त्वबोधनाय हेतव उक्ता इति सर्वेषां मूर्तिपरिचरणमेव भगवदाशयगोचर इति तस्यैवोपदेश इति दिक् । अत एव "परिचर्या चोभयत्रे"ति योगेश्वरवाक्यम् । "परिचर्या स्तुतिप्रह्वे"ति, "ममार्चास्थापने श्रद्धे"ति, "आदरः परिचर्यायामि"त्यादिभगवद्वाक्यानि च । एवं मूर्तौ परिचरणमेव मुख्यमिति स्थापितम् । मूर्तावित्यादि । एवं सर्वासु मूर्तिषु तुल्यतया भजनप्राप्तौ कस्यां कार्यमित्यपेक्षायां कस्याञ्चिन्मूर्तौ विशेषमाहेत्यर्थः । मूर्तौ भगवत्स्थितिर्विहेरयसीवावेशरूपा भवति । एवं सति मूर्त्यन्तरे य आवेशः सोऽवताररूपस्य । तच्च, "एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययमि"ति भगवदंशपुरुषांशभूतमिति द्व्यन्तरितत्वं बोध्यम् । अत्र च श्रीकृष्णपदेन युगलसेवापि सूचिता ज्ञेया । समानन्यायाच्च तत्स्वरूपे तथास्थितिरिति च । अत्रत्यो विशेषो मत्कृतमूर्तिपूजनवादादनुसन्धेयः । एवं मूर्तिं निश्चित्य, "परिनिष्ठा तु पूजायामि"ति वाक्यात् पूजनमावश्यकमिति तत्प्रकारमाहुः यथावदिति । एतस्यैव विवरणं, मुख्यतयेति । राजोपचारैरित्यर्थः । लब्धोपचारकैरित्यस्य विवरणं, प्राप्तैर्द्रव्यैरुपचाराः कर्तव्या इति । पूजनं च समीपे स्थित्वा यथायोग्यं सेवनम् । परिचर्या तु विप्रकर्षे स्थित्वेति विशेषः । उचितः सत्कार उपचारः । उपचाराश्च शक्त्यनुसारेण सहस्रशतषोडशपञ्चान्यतमाः । तत्रोद्वासावाहनेऽत्र न स्त एव । मूर्तौ स्थितेरुपपादितत्वात् । पाद्यं तु स्नानसमय एव साम्प्रदायिकैः क्रियते । दन्तधावनं तु बालभावादेव नेह । अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शाभिषेचनानि तु यथासम्भवम् उत्सवादौ प्रत्यहं विच्छिद्य च क्रियन्त एव । एवमन्येऽपि सम्प्रदायाद् बोध्याः । आश्रयेतेत्यनुवृत्तौ, "देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि चे"ति वाक्यात् ॥ २२९ ॥

तत्रापि भक्तिमार्गानुसारेणोपचारा मुख्या इत्याह—

यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि ।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम् ॥ २३० ॥
भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् ।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत् ।
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः ॥ २३१ ॥

यथा सुन्दरतां यातीति । सप्रेमेत्यनुद्वेगार्थम् । स्थानं मन्दिरम् । तदलङ्कारपूर्वकमेव भगवदलङ्करणं कर्तव्यमित्यर्थः । एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगमाह भार्यादिरनुकूलश्चेदिति । भार्यादिकं गृहम् । विष्णुपराङ्मुखा भार्यादयः, अन्यथा परित्यागे दोष एव । अनेन, अवैष्णवैः सहास्मिन्मार्गे न स्थातव्यमित्युक्तं भवति ॥२३०॥२३१॥

टिप्पणी ।

अनेनेति । न स्थातव्यमित्युपलक्षणमेव, अवैष्णवानां सिद्धान्नमपि न ग्राह्यम् । अत एव पद्मपुराणे, "अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च । अनर्पितं तथा विष्णोः श्वमांससदृशं भवेदि"ति ॥२३१॥

आवरणभङ्गः ।

अनुद्वेगार्थमिति । उद्वेगो द्वेधा, चित्तस्य चाञ्चल्येन खेदेन च । खेदोऽपि देहरोगादिकृतो भगवति दुरुपचारकृतश्च । तत्प्रेम्णा क्रियमाणे शीतोष्णवर्षादिषु जलवसनादीनां यथोचितसमर्पणमेव भवति । चाञ्चल्यादिकं च निवर्तत इति तदर्थं, न तु पुष्टिरूपताज्ञापनार्थं, साधनावस्थात इत्यर्थः । **स्थानं मन्दिरमित्यादि** । "सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः । गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायये"ति भगवद्वाक्यादित्यर्थः । उपलक्षणमेतत् । तेन वितानशयनासनाद्यलङ्करणमपि तत्तदुपयोगावसरात् पूर्वं बोध्यम् । **एवं प्रवृत्तस्येत्यादि** । इदं च सहायसापेक्षमिति ते यादृशा अपेक्षितास्तान् वक्तुं भार्यादिविनियोगमाहेत्यर्थः । एतेन दारादीनां निवेदनोत्तरं विनियोगः प्रदर्शितः । निवेदनाभावेऽपि प्रातिकूल्यस्य सम्भवादिति । तथा "मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन्ति"ति, "मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य चे"ति वाक्यं च समर्थितं ज्ञेयम् । ते चेदनुकूलास्तदा भगवत्येव विनियोज्याः, न स्वार्थमिति । औदासीन्ये तु निर्बन्धेन तेषां क्लेशसम्भवात्, क्लिष्टस्य च भगवताऽनङ्गीकारात् स्वयमेव कुर्यात् । प्रातिकूल्ये तु त एव त्याज्या न तु स्वयं गच्छेदिति बोधयितुं गृहपदार्थमाहुः **भार्यादिकमिति** । तथाच, "न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिद" इति मध्यमाऽधिकारात् तथेति भावः । ननु, "वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः । अप्यन्यायशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीदि"ति स्मृतेस्तत्त्यागोऽनुचितो मध्यमाधिकारे दोषस्यापि सम्भावनादिति शङ्कायां, तत्त्यागे दूषणं नास्तीत्यर्धं विवृण्वन्त आहुः **विष्णुपराङ्मुखा इत्यादि** । ततो "दुःसङ्गमुत्सृज्ये"त्यादौ दुःसङ्गत्यागस्याङ्गत्वेनोपदेशात् स्मृतेरबुद्धिपरत्वात्साध्व्यादिपदयोगेनाबहिर्मुखत्यागपरत्वाद्वा तथेति भावः । एतदेवाहुः **अन्यथेत्यादिना** । "एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदमि"ति वाक्यात्तथात्वेऽपि त्यागे तथेति भावः । एवं द्रव्यवतां सदा भजनप्रकार उक्तः ॥२३०॥२३१॥

जीवने प्रकारमाह—

सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नयेत् ।
पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतमादरात् ॥ २३२ ॥

सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदिति । याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चादनिषिद्धेनोपायेन जीवनं सम्पादयेत् । पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम् । "अचौराणामऽपापानामि"ति वचनात् । जीविकायां चित्तं व्यापृतं पुनर्भगवति योजनार्थमुपायमाह **पठेच्च नियमं कृत्वेति** । अनेनाल्पबहिर्मुखतायामपि श्रीभागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथितः ॥ २३२ ॥

एतद्भजनमान्तरं मुख्यम् । तत्र यथा बहिर्भजने प्रतिकूलपरित्यागस्तथान्तरभजनेऽपि प्रतिकूलपरित्यागमाह—

सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनात् ।
वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत् ॥ २३३ ॥

सर्वं सहेतेति । यथा गृहमव्याकुलं बहिःपूजायां कर्तव्यं, तथैव हृदयम् अव्याकुलं विधेयम् । "तथाऽरिभिर्न व्यथते शिलीमुखैरि"ति वाक्याद् दुष्टानां वचनेन क्षोभो भवति । तत्र तानि वचनानि हितत्वेन ग्राह्याणि । अत्यन्तं विरुद्धानि चेत् प्रकारभेदेन । तत्रोपपत्तिमाह **कृष्णभावनादिति** । कृष्ण एवास्मानुपदिशति, बहिर्मुखतया न स्थात्-

---

आवरणभङ्गः ।

अन्येषां सर्वदा निर्वाहः कथं स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः **जीवन** इत्यादि । **याममात्रे**त्यादि । तथा च योऽर्जकः स एवं कुर्यात् । शेषास्तु पूर्ववदेव कुर्युः । अयमर्थः, "देवोऽसुरो मनुष्यो वे"ति, "सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृपे"ति वाक्याभ्यां, "किरातहूणे"ति वाक्याच्च भगवद्भजनादौ सर्वेषामधिकारेऽपि'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरि"ति श्रुत्याऽऽहारशुद्धये स्ववृत्त्याऽन्नसम्पादनस्यावश्यकतया वृत्तिरपि सङ्कोच्या । "प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् । अन्याभ्यां जीवेते"त्यादिषु तथा दर्शनात् । सप्तमस्कन्धे सर्वेषां वृत्तिं वदता नारदेन, "वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत् । अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेऽवसायिनामि"त्युक्त्वाऽग्रे नैर्गुण्यकथनादिति भावः । इदं यथा तथा वृत्तिवादे व्युत्पादितमस्माभिः । नन्वेवं जीवनोपाये क्रियमाणे पुनर्बहिर्मुख्यापत्तिरिति किं कार्यमित्यत आहुः **जीविकायामि**त्यादि । **व्यापृतमि**ति । तस्येति शेषः । श्रीभागवतपाठस्यैव सहकारी यमुनाष्टकादिपाठो ज्ञेयः ॥ २३२ ॥

एवम् अबहिर्मुखतया भगवद्भजनरूपं साधनमुपदिश्य तस्याधिदैविकत्वाय साधनान्तराण्युपदेष्टुं भजने तारतम्यमुपदिशन्त आहुः **एतद्भजनमि**त्यादि । **आन्तरं मुख्यमि**ति । मनोमात्रस्य सूक्ष्मदेहस्य नान्तरीयकत्वात्तथेत्यर्थः । सर्वसहने युक्तिमाहुः **यथा गृहमि**त्यादि । **कृष्णभावनादि**ति "ल्यब्लोपे पञ्चमी"ति । भावनाप्रकारमाहुः **कृष्ण एवे**त्यादि । एतस्यापि सिद्ध्यर्थं "दयया सर्वभूतेषु संतुष्ट्या येन केनचित् । सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः" इति चतुर्थस्कन्धादाशुभगवत्तोषक उपायो वक्तव्यः । अन्यथा भगवत्यप्रसन्ने किमपि न सिद्ध्येत् अतो

व्यमित्यर्थः । उत्तमगुरुद्वयशिक्षानुसन्धेयेत्याह वैराग्यमिति ॥ २३३ ॥

एवं सहने हेतुभूतं विचारमाह—

एतद्देहावसाने तु कृतार्थः स्यान्न संशयः ।
इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा ॥ २३४ ॥

एतदिति । भृतकः समयमिव देहावसानमेव विचिन्तयेत् । एकापि परिचर्या सकृत्कृता परमपुरुषार्थदेति । परं विद्यमानदेहस्य निष्कृत्यर्थं सदा परिचरेत् ॥ २३४ ॥

टिप्पणी ।

निष्कृत्यर्थमिति । साफल्यार्थमित्यर्थः ॥ २३४ ॥

आवरणभङ्गः ।

वदन्ति उत्तमेत्यादि । उत्तमा गुरुद्वयस्य कपोतपिङ्गलारूपस्य या शिक्षा सेत्यर्थः ॥ वैराग्यमित्यादि । यथा कपोतः कुटुम्ब आसज्य मृत्युवशगोऽभूत्तथाऽस्याप्यासक्तौ भविष्यतीति तदभावाय वैराग्यमावश्यकम् । यथा पिङ्गला सर्वाशां परित्यज्य भगवच्चित्ता सती धनाशां त्यक्त्वा यथालाभेन जीवती संतुतोष तथा करणे चित्ताव्याकुलतायां स्वस्याप्यबाहिर्मुख्यमिति तदप्यावश्यकम् । एतद्द्वयेन पूर्वोक्तं सर्वं सिद्ध्यतीत्यत उक्तं मूले, सर्वथेति । यद्यपि "मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ । वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयमि"ति सप्तमे प्राञ्जलं, तथापि तत्राद्ये धनादेव वैराग्यमुपपादितम् । द्वितीये च परितोषमात्रं, न तु भगवच्चित्तताऽपीत्यतो मयेदमादृतम् । अत उभयमध्ये यदुचितं तद्वा, यथाधिकारमुभयं वा ग्राह्यम् ॥ २३३ ॥

एवं सहने इत्यादि । एवं सहने दुःखभवनादिदमशक्यं मत्वा तन्निर्वाहाय साधनीभूतं विचारमाहेत्यर्थः । मूले, स्यान्न संशय इत्यत्रानुस्वारस्य परसवर्णः । तथा च भृतको यथा कार्यसमाप्तौ फलावश्यम्भावं निश्चित्य कार्यसमाप्तिं तदर्थं चिन्तयति तथाऽयमपि, "यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ती"ति, "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यती"ति श्रुतिस्मृतिभ्यस्तत् त्यक्त्वा देहावसाने कृतार्थं निश्चित्याऽन्तर्बहिश्च यथासंभवं सदा भगवत्सेवामेव कुर्यात् । अयमुपदेशो हीनमध्यमौ प्रति । उत्तमस्य तु सेवाया एव स्वतः पुरुषार्थत्वादिति । ननु सर्वदा सेवाकृतेरशक्यत्वात् कथं कृतार्थतेत्यत आहुः एकापीत्यादि । यद्येवं तर्हि सर्वदा करणस्य किं प्रयोजनमत आहुः परं विद्यमानेत्यादि । नित्यप्रलयपक्षे प्रतिक्षणं तस्यान्यत्वेऽपि स्थूलतया स एवेति प्रत्यभिज्ञानेनैक्याद् बहिर्भजने च तस्योपकारित्वेन तत्प्रत्युपकारस्यावश्यकत्वात्तथेत्यर्थः । यद्वा, निष्कृत्यर्थमिति प्रतिपत्त्यर्थम् । तथा च यथा एकदण्डादिधर्मा ज्ञानिदेयप्रतिपत्तिभूतास्तथेयं भक्तदेहप्रतिपत्तिभूता । अन्यथा तस्यैवास्यापि लौकिकासक्त्या बन्धः स्यादतः सदा कार्येत्यर्थः । एवञ्च पूर्वोक्तविचारोऽपि बहिरङ्गसेवावत् सेवारूप एवेति न सेवाभङ्गः कदापीत्यर्थस्यापि बोधनाय मूले, सदेत्युक्तम् । अन्यथा भावनान्तरेण सेवाकौण्ठ्यादेवं न वदेयुरिति दिक् ॥ २३४ ॥

ननु क्व देशे कथं वा परिचरेदित्याकाङ्क्षायामाह—

सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनः स्थिरम्।
दृढविश्वासतो युक्त्या यथा सिद्ध्येत्तथाऽऽचरेत्।
वृथालापक्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजेत्॥ २३५॥

सर्वापेक्षामिति। सापेक्षमसमर्थं भवतीति मूलं भगवदर्थे स्थापयित्वा साधनाभावाद्वैकल्यं जातमपि निवार्य चित्तं भगवत्येव स्थिरीकृत्य यथा पुत्रः पितरि मातरि वा विश्वासं करोति तथा दृढविश्वासो लौकिकयुक्त्या यथैव पूजा सिद्ध्यति तथैव कर्तव्यमिति लौकिकयुक्तिरेवोपदिष्टा। तद्युक्तिसिद्ध्यर्थं वृथालापादिकं प्राप्तं निषेधति। वृथालापेति। कायवाङ्मनसां स्वभावतः प्रवृत्तां क्रियां त्यजेत्॥ २३५॥

टिप्पणी।

सापेक्षमिति। इतरसापेक्षं भजनं समीचीनार्थसाधकं न भवतीति मूलं मनःप्रवृत्तिकारणमिष्टसाधनत्वं वा भगवत्सम्बन्धिन्यर्थे स्थापयित्वा योगादिना स्थिरीकरणाभावान्मनसो विक्षेपं जातमपि सत्सङ्गादिना निवार्येत्यर्थः। लौकिकयुक्तिरेवेति। लोके शीतोष्णक्षुत्तृषादौ यथा तन्निवारकं सुखदं क्रियते तथा कर्तव्यमित्युपदिष्टमित्यर्थः॥ २३५॥

आवरणभङ्गः।

ननु क्वेत्यादि। एवं सेवोपदेशेऽपि तस्या देशगृहसेवकद्रव्यभाण्डादिसापेक्षत्वात्तदलाभे धर्मादिवदस्या अप्यऽसामर्थ्यं स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं तदपेक्षापरित्यागमाहेत्यर्थः। क्वेति। ग्रामे, गृहे, वने, देवालये वा। कथमिति। गृहसेवकभाण्डादिकं संपाद्यासंपाद्य यथा तथा वा। अत्रोत्तरं विवृण्वन्ति सापेक्षमित्यादि। तथा च सापेक्षस्यासमर्थत्वात् सर्वापेक्षां परित्यज्य। भगवता, मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनमित्युक्तत्वात्। मूलं साधनापेक्षाजनकं फलापेक्षायुक्तं मनस्तद्भगवदर्थे भगवत्कामनायां स्थापयित्वा साधनाभावाद्वैकल्यं बहिःसेवायां जातमपि निवार्य चित्तस्य सहनशीलतासंपादनेन दृढं यच्चित्तं तेन निरस्य चित्तं भगवत्येव स्थिरीकृत्वा, पिता माता यथा पुत्रस्य नाऽपकरोत्यपि तु हितमेव कुरुते तथा भगवानपि मम करिष्यत्येवेति दृढविश्वासं कृत्वा लौकिकयुक्त्या बाहिर्मुख्या जनकेनोपायचातुर्येण यथैव बाहिर्मुख्याभावस्तथैव कार्येत्यर्थः। शेषं स्फुटम्। उपदिष्टेति। "मदर्थेष्वङ्गचेष्टा चे"ति भगवतोक्तत्वात्तत्र कथम्भावाकाङ्क्षायां सैवोपदिष्टेत्यर्थः। तथा च सेवाया आधिदैविकत्वायैकग्र्याय यथा बाहिर्मुख्यं न भवति तथा विधेयमिति भावः। ननु लौकिकोपायचातुरीकरणे बाहिर्मुख्यं प्राप्ताऽवसरमिति तस्य कथमनुद्भव इत्यत आहुः तद्युक्तीत्यादि। तद्विवृण्वन्ति कायेत्यादि। तथा च साभिलाषायाः परस्त्रियाः कामनायाम् ऋतौ तस्यां प्रवृत्तौ न स्वभावतः कामे प्रवृत्तिः, किन्तु शास्त्रेण। तथा सेवार्थं तावन्मात्रकरणेऽपि न स्वभावतस्तथा कृतिरिति तथाकरणे बाहिर्मुख्यमपि न भविष्यतीत्यर्थः। ननु भवत्वेवं तथापि भगवति यत्समर्पणीयं तदुत्तममेव समर्पणीयमिति तदर्थमधिकमपि लोकानुरञ्जनाद्यर्थं प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं च लौकिकचातुर्यप्राप्तौ पुनर्बाहिर्मुख्यप्राप्तिरिति तन्निवृत्त्यर्थमाहुः॥ २३५॥

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेद्ध्रुवम् ॥ २३६ ॥

भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत् । तत्क्लिष्टं त्रिविधं—लोकक्लिष्टम्, आत्मक्लिष्टं, चित्तक्लिष्टं चेति । अतोऽक्लिष्टं निरूप्यते । लोके यद्यदिष्टतमम् आम्रद्राक्षादि आत्मनः अत्यन्तं प्रियं दुग्धादि सन्मार्गोपार्जितं नान्येषां भागरूपं चिरकालमनोरथचिन्तितम् । अन्तःकरणप्रियम् । तेनैव चित्तनिर्वृतिः । इतरनिषेधार्थमेतदुक्तम् ॥ २३६ ॥

सेवा मुख्या, न तु पूजेति मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेदित्याशयेनाह—

स्वयं परिचरेद्भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः ।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत् ॥ २३७ ॥

स्वयं परिचरेदिति । धर्मार्थतां व्यावर्तयति भक्त्येति । वस्त्रप्रक्षालनमतिबहि-

---

आवरणभङ्गः ।

भगवदित्यादि । तथा चैवमक्लिष्टस्य सन्मार्गेणोपार्जने तावदपि तन्न भविष्यतीत्यर्थः । एतदेव बोधयितुमाहुः इतरेत्यादि ॥ २३६ ॥

ननु किमर्थमेतावान् प्रयासः । मन्त्रेण मानसपूजाकरणे सुखेन सिद्धिरिति चेत् तत्राहुः सेवे-त्यादि । "आदरः परिचर्यायामि"त्यादि पृथगादरोपदेशा"द्विना मत्सेवनं जना" इति भक्तिलक्षणवाक्येऽप्युपदेशात्, "सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुरि"ति फलाधिक्योपदेशाच्च सेवैव मुख्येत्यर्थः । एवञ्चात्र साधनेषूपदिश्यमाना पूजापि समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणरूपत्वात् प्रधानसेवात्वेनैव विवक्षिता, न तु वेदतन्त्राद्युक्तपूजात्वेन । प्रकारभेदात् फलभेदाच्च पूजाया भक्तित्वाभावादिति भक्तिहंसे निर्णयात् । न च प्रकारभेदादप्रामाणिकत्वं शङ्क्यम् । एकादशोनविंशे द्वादशाध्यायोक्तां भक्तिं हृदिकृत्य "श्रद्धाऽमृतकथायां म" इत्यादिना भक्तिपरमकारणकथने, "एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनामि"ति साधनदशायामपि आत्मनिवेदनपूर्वकत्वकथनात् "यदात्मन्यर्पितं शान्तं चित्तं सत्त्वोपबृंहितम् । धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते । यदर्पितं तद्विकल्प इन्द्रियैः परिधावति । रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययमि"ति द्वाभ्यां मनस आत्मनि भगवत्यर्पणे गुणस्यात्मविकल्पेष्वर्पणे दोषस्य, "धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्त" इति तृतीये धर्मादिचतुष्कस्वरूपस्य च कथनेन प्रकारान्तराणां विक्षेपकतायाश्चित्तैकाग्र्यस्यैवं सेवोपयोग्यवान्तरफलोपधायकतायाश्च सूचनात् । सल्लक्षणे, "आज्ञायैवं गुणान् दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् । धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत् स च सत्तम" इति सर्वधर्मत्यागपूर्वकभजनकर्तुः सत्तमत्वोक्तेश्च वैधप्रकारातिरिक्तप्रकारस्यैव विवक्षितत्वेनाप्रामाणिकत्वाभावात् । आश्रयेतेत्यनुवृत्तौ, "देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि चे"ति भक्तचरणाश्रयणस्याज्ञापनाच्चथा कृतेरत्युत्कृष्टत्वात् । "तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रति नोदनामि"ति, "जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनामि"ति वाक्याच्च तस्यैव प्रत्युतानादरणीयत्वाच्च । न च, "भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये"त्यत्र नवविधाया अपि भक्तिकारणताबोधनात्तन्मध्यपातिनोऽर्चनस्य

रङ्गमिति तद्ग्रहणम् । प्रधानावृत्तावङ्गान्यावर्तन्त इति प्रधानावृत्तिमाह एककालमिति । अनेन बहुकालमपि पूजनं निरूपितम् ॥ २३७ ॥

अत्र नित्यकर्मादीनामङ्गत्वमाह—

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् ।
इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम् ॥ २३८ ॥

आवरणभङ्गः ।

मन्त्रन्यासादिपूर्वकत्वेऽपि तथात्वानपायात् पञ्चरात्रादिभगवच्छास्त्रसिद्धत्वाद्, जगन्नाथादिषु तदादरदर्शनाच्च तत्प्रकारत्यागोऽनुचित इति शङ्क्यम्। "भक्तियोगः पुरैवोक्त" इत्यत्र व्रजस्थभक्तेरेव मुख्यतयाभिसंहितत्वात् तस्याश्चावैधत्वाद्भगवतापि, "तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्ये"ति श्लोकद्वयोक्तविस्तारत्वस्यात्र बोधनायैव, "पुनश्च कथयिष्यामी"ति प्रतिज्ञायां पुनःपदकथनात् । क्रियायोगान्तर्गतार्चनप्रशंसकस्य, "एतद्धि सर्ववर्णानामि"ति वाक्यस्योत्तरतया, "न ह्यन्तोऽनन्तपारस्ये"ति कथनेनानादरसूचनाच्च भगवतैवोपेक्षितत्वेनानुचितत्वात् । न च तर्हि वैदिकप्रकार एव ग्राह्य इति शङ्क्यम् । "नाहं वेदैरि"ति गीतावाक्ये तपआदीनां पृथगुक्त्या, वेदैरिति बहुवचने तदितरयावत्साधनसङ्ग्रहाच्चेषां सर्वेषां निवृत्तावर्चनस्यापि तथात्वात्तत्प्रकारत्यागस्यापि प्राप्तेः । तस्मादेतत्प्रकारकभजनातिरिक्त एव स्थले तस्य वैदिकप्रकारस्य आवश्यकत्वं, नात्र । ये तु घण्टाशङ्खनादाधिवासनादयस्तेऽपि भक्ताचरितत्वादेव, न तु तन्त्राद्युक्तत्वेनेति न कोऽपि शङ्कालेश इति दिक् । अत्रैतद् बोध्यम् । "शुद्धः कृष्णं भजेदि"ति सिद्धान्ताच्छुद्धिः स्वस्यान्येषां चापेक्षिता । सा च लोके दुर्घटेति भगवता आत्मनिवेदनं पूर्वमुक्तम् । तच्च, "इष्टं दत्तं तपो जप्तं वित्तं यच्चात्मनः प्रियम् । दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनमि"ति विधिपूर्वकमेव सिद्धं योगेश्वरवाक्येषु । एतदेव साक्षाद्भगवतोक्तं सिद्धान्तरहस्ये, "ब्रह्मसंबन्धकरणादि"त्यादिना । तेन समर्पणोत्तरं सर्वत्र दोषाभावात् प्रतीयमानानां चाभासमात्रत्वाद् गङ्गाजलन्यायेन न्यग्भावाच्च दुष्टैरेवार्थैः सहायैश्च सेवा कार्येति तादृश्येवात्र मुख्यतयोपदिश्यत इति । एवञ्च पूर्वोक्तरीतिभिरान्तरशोधनमपि मन्दिरसम्मार्जनरूपमेव । एवमेवात्रत्यमन्यदप्यवगन्तव्यमिति दिक् । एवं सेवामुपदिश्य तदेकदेशभूतायाः पूजाया अपि, "परिनिष्ठा तु पूजायामि"ति वाक्यादावश्यकत्वमिति तस्याः कानिचित् साधनान्युपदेष्टुमाहुः प्रधानावृत्तावित्यादि । प्रधानं पूजा । अङ्गानीति । वैशेषिकाणि शङ्खचक्रधारणादीनि । अनेनेत्यादि । एवञ्च बहुकालपूजने सकृत्कृतेनाङ्गेनैवोपकार इत्यपि सिद्ध्यति ॥ २३७ ॥

अत्रेत्यादि । नन्वेवं सर्वदाकरणे वैदिकादिधर्माणां कालबाधः, तथा च प्रत्यवाय इत्याशङ्कायां तदभावाय तेषामङ्गत्वमाहेत्यर्थः । तथा च, "इष्टं दत्तं हुतमि"ति, "सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि विधिना नोदितानि मे । पूजान्तैः कल्पयेत् सम्यक् सङ्कल्पः कर्मपावन"इति, "धर्मः स्वनुष्ठित" इति, "धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्त" इत्यादिवाक्यैस्तेषामङ्गत्वा"न्मत्कर्म कुर्वता"मिति वाक्यात् प्रत्यवायासम्भवः । सम्भवेऽपि "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामी"ति भगवद्वाक्याच्च भगवानेव रक्षितेति न काचिच्चिन्तेति

स्वधर्माचरणमिति। स्वधर्मा अग्निहोत्रादयः। विधर्मा निषिद्धाः। नात्र शक्त्येति

आवरणभङ्गः।

भावः। स्वधर्मान् व्याकुर्वन्ति **अग्निहोत्रादय इति**। आदिपदेन तत्तद्वर्णाश्रमधर्मा विवक्षिताः। एकादशस्कन्धे तत्तद्वर्णाश्रमधर्मानुक्त्वा, "एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम्। यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परमि"ति भगवद्वाक्यात्। अत्र, "शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायये"त्युक्तः शूद्रस्य वर्णधर्मो द्विगुणीभूयोपयुज्यते, यदि गुर्वादिसेवात्मको भवतीति बोध्यम्। विष्णुपुराणे शूद्रस्य धन्यत्वोपदेशात्। एवमनिषिद्धः स्त्रीधर्मोऽपि तथात्वाद् बोध्यः। तत्करणे विशेषो मूल उक्तः, **स्वधर्माचरणं शक्त्येति**। इदमर्थं तृतीयस्कन्धाष्टविंशाध्यायस्थम्, तत्रैव सुबोधिन्यां व्याख्यातम्। स्वधर्माणां देहधर्माणां वर्णाश्रमाधिकारसिद्धानामाचरणं यथाशक्त्या कर्तव्यं, न तु शक्तावपि सङ्कोचः। शास्त्रमपि यच्छक्नुयात् तत् कुर्यादितीति। तेन ते तथा कर्तव्या इत्यर्थः। एवमेकमङ्गं निरूप्य विहिताकरण इव निषिद्धकरणेऽपि भगवानेव रक्षक इति तत्करणे को दोष इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं, "विधर्माच्च निवर्तनमि"ति द्वितीयं निरूपयन्तो विधर्माणां स्वरूपमाहुः **विधर्मा निषिद्धा इति**। तेऽपि तत्रैव विवृताः। धर्मबाधो विधर्मः स्यात्। यस्मिन् क्रियमाणे स्वस्य धर्मस्य बाधो भवति, स यथाधिकारमवसेयः। यावद्देहोऽयं तावद्वर्णाश्रमधर्मा एव स्वधर्माः। भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्मा वा। यदा पुनरात्मानं जीवं भिन्नं मन्यते सङ्घातव्यतिरिक्तं तदा दास्यं स्वधर्मः। अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः। यदा पुनर्भगवद्भावं प्राप्तस्तदा अलौकिकधर्मा ऋषभादिषु गोचर्यादयः स्वधर्माः, अन्ये परधर्मा इति। एवञ्च निषिद्धा इत्यनेन धर्मबाधरूपाः श्रुत्यादिनिषिद्धा दास्यविरुद्धाः श्रुत्याद्युक्ताश्च परिगृहीताः। विधर्माच्चेति चकारेण परधर्मादयश्चत्वारः सङ्गृहीताः। ते च सप्तमस्कन्ध उक्ताः। "विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः। अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेदि"ति। एतल्लक्षणमपि तत्रैव, "धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः। उपधर्मस्तु पाषण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः। यस्त्विच्छया कृतः पुंभिराभासो ह्याश्रमात् पृथगि"ति। ते च विवृताः श्रीधरीये–धर्मबुद्ध्यापि यस्मिन् क्रियमाणे स्वधर्मो बाध्येत स विधर्मः। अन्यस्य चोदितोऽन्यस्य परधर्मः। यथा ब्राह्मणस्य धर्मः क्षत्रियादेः परधर्मः। उपमेति व्याचष्टे **उपधर्म इति**। स च पाषण्डः, दम्भो वा। शब्दस्य भिद् भेदोऽन्यथा व्याख्यानं यस्मिन् स छलः। यथा दशावरान् भोजयेदित्युक्ते दशभ्यः अवरानिति। शब्दभृदिति पाठे धर्मशब्दमात्रं बिभर्तीति तथा। यथा, गां दद्यादित्युक्ते मरिष्यन्त्या गोदानमिति। स्वरूपमेवं निरूप्य तेभ्यो निवर्तनमनुषङ्गेन शक्त्या प्राप्तं निषेधन्ति **नात्र शक्त्येति**। अधर्मकरणे हीनजन्मनः पूर्वमुक्तत्वेन तत्करणे तत्सम्भवादिति भावः। नन्व"पि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स" इति भगवद्वाक्ये दुराचारस्यापि साधुत्वकथना"द्यथाकारी यथाचारी तथा भवती"ति श्रुतौ कर्माचारयोर्भेदकथनेनाचारपदस्य स्वाभाविकेन्द्रियप्रवृत्तौ पर्यवसानात् तस्य दुष्टत्वेऽप्यनन्यभक्तस्यादुष्टत्वात् तस्मा"न्मद्भक्तियुक्तस्ये"ति वाक्ये वैराग्यस्याश्रेयस्त्वकथनेन

सर्वथा निषिद्धं न कर्तव्यम् । इन्द्रियाण्येवाश्वाः । एतन्निग्रह इष्टदेशप्रापकः । एतत्रयं क्रीडार्थमपि न त्यजेत् ॥ २३८ ॥

आवरणभङ्गः ।

वैराग्यस्यैव प्रत्युत दुष्टत्वाचात्रेन्द्रियविनिग्रहः किमित्युपदिश्यत इत्यत आहुः इन्द्रियाणीत्यादि । अयमर्थः । पूर्वं स्वशक्त्यनुसारेण महाराजोपचारैर्भगवत्पूजाव्यवस्थापनात् ततो भगवत्प्रसादस्य नानाविधस्य भक्तेभ्यो दानं विधाय स्वस्य भोगो यः प्राप्तः सोऽपि नेन्द्रियप्रियत्वेन कर्तव्यः, किन्तु भगवत्प्रसादत्वेन । तत्रापि सामग्रीपरीक्षार्थं यथाग्रे भोगसामग्री न दुष्येत् तथा भगवान् रसात्मकः स्त्रीणां च विशेषत उद्धारकः । किं बहुना, लौकिका अपि गायकास्तदीयामेव कामलीलां विशेषतो गायन्तीति तादृशां गर्तादिसदृशानां सङ्गवशेन स्वस्य कामौत्कट्ये तदिन्द्रियं निग्राह्यम् । योऽप्यनिषिद्धो भोगः सोऽपि सेवाबाधकीभूतकामनिवर्तकत्वेनैव करणीयो, नेन्द्रियप्रियत्वेनेति । अत्र मूले, विनिग्रह इति विशब्देन विवेकधैर्याश्रये, अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनादिति यदुक्तं तत् स्मार्यते । अर्थस्तु यदि स्वयमिन्द्रियकार्याणां त्यागे असमर्थः, "स्वभावविजयः शौर्यमि"त्येकादशे शौर्यलक्षणात् तादृशतदभावेनाशूरस्तदा तेन स्वस्यासामर्थ्यभावनं विधायेन्द्रियकार्यत्यजनं कर्तव्यमिति । तत्प्रकारस्तु—ये समृद्धा महाभोगवन्तः सुरतादिशौण्डास्तद्वन्नाहं, कियन्मत्सामर्थ्यं, को वा मे भोगः, किम् उपकरणं नायिका वा, येन तत्रासज्य स्वपुरुषार्थं नाशयामीत्येकः । सोऽप्येकादशे भगवतोक्तः । "रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः । अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जत" इति । यश्चैवं कर्तुमप्यशक्तः स तु, "जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्नि"त्येकादशोक्तरीत्या स्वस्य तत्त्यागासामर्थ्यं भावयेदित्यपरः । न च पूर्वोक्तगीतावाक्यविरोधः शङ्क्यः । तत्र दुराचारपदस्य पूर्वावस्थाबोधकत्वेन भजनोत्तरं तथात्वस्याऽलाभात् । "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छती"त्युत्तरवाक्येन तथा निश्चयात् । "धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्त" इति लक्षणकस्यैव तस्य तत्र विवक्षितत्वात् । नापि, "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये"ति वाक्यविरोधः । ततः पूर्वस्मिन् सन्दर्भे, "जातश्रद्धो मत्कथास्वि"त्यादिना असमर्थाधिकारमेव प्रस्तुत्य तादृशस्य भजनमेव कर्तव्यत्वेन विधाय ज्ञानवैराग्ययोरभावे कथं फलसिद्धिरिति शङ्कानिवृत्त्यर्थं "प्रोक्तेन भक्तियोगेने"ति द्वाभ्यां तयोः कार्यं भक्त्यैव भविष्यतीति बोधनेन उक्तवाक्येऽपि योगिमदात्मपदाभ्यां निरुद्धचित्तवृत्तिकत्वभगवदेकतानत्वयोर्बोधनेन च सेवापरिकरात्मकविषयवैराग्यस्यैवाश्रेयस्त्वेन दुष्टत्वसिद्ध्या तदतिरिक्तवैराग्यस्य दुष्टत्वासिद्धेः । न च फलप्रकरणे भगवता मिथोभजनं विनिन्द्य, "भजन्त्यभजतो ये वा" इत्यादिश्लोकद्वये सम्भावितापवादस्याभजद्भजनस्य निरपवादधर्मत्वेन कथनाद् द्वितीये भजदभजनकर्तॄणां केषाञ्चिदकृतज्ञत्वगुरुध्रुद्त्वकथनाच्च । यथा छान्दोग्ये वामदेव्यसामोपासकस्य, "न काञ्चन परिहरेदि"ति श्रुत्या सर्वाभिगामित्वमनुज्ञातं तथात्र भक्तविशेषस्य तदनुज्ञैव प्रतीयत इति नात्र दोषसंभव इति वाच्यम् । तत्रापि पूर्वत्र, "करुणाः पितरौ यथे"त्यनेन करुणारूपस्य वैदिकस्य, स्नेहरूपस्य लौकिकस्य बोधनेन धर्मार्थे तस्मिन् प्रत्युपकारसम्भावनाराहित्य एव धर्मोत्पत्त्या तथात्वात् ।

आवरणभङ्गः ।

"ब्राह्मणस्य कामपरवशस्य प्राणत्राणार्थं गमनं धर्मो निरनुबन्ध" इति कामसूत्रे वैशिके वात्स्यायनेनापि कथनाच्च । भारत आनुशासनिके सुदर्शनोपाख्यानेऽपि, "प्राणाश्च मम दाराश्च यच्चान्यद्विद्यते वसु । अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितमि"ति कथनात् । तादृशाभिसन्धिनिर्वाह एव सुदर्शनौघवत्योर्दम्पत्योः सदेहयोः स्वर्गकथनात् । "कूटमुद्गरहस्तस्तु मृत्युस्तं हेतुमभ्ययात् । हीनप्रतिज्ञ इत्येवं वधिष्यामीति चिन्तयन्नि"ति व्रतभङ्गे भृत्यदण्डस्योक्तत्वाच्च । तथाऽतिथिपूजानिर्वाह एव तस्य धर्मत्वावगमात् । साम्प्रतं मृत्युग्रासाभिसंध्यनिर्वाहयोर्दर्शनेन तस्य दोषत्वस्य वज्रलेपायितत्वात् । सुबोधिन्यामपि धर्मार्थे तस्मिन् भजदर्थं प्रतियोगिना प्रायश्चित्तं विधेयमित्युक्तत्वात् टिप्पण्यामपि प्रतियोगिकृतप्रायश्चित्तस्य भजतिफलसाधकताया उपपादनाच्च । स्नेहनिमित्तके तस्मिन् पितृदृष्टान्तेन निरुपधित्वपूर्वजन्मीनसंबन्धयोः सूचनात् प्रत्युपकारसम्भावनाराहित्ये क्रियमाणप्रत्युपकारानङ्गीकारे च सौहृदानुषङ्गेन धर्मस्य गौणतया भवनाङ्गीकाराच्च । तत्रापि निर्वाह एव कथञ्चनादुष्टत्वमिति तस्य दुरवगमत्वेन श्रोत्रियस्य ब्रह्मचारिणो व्रतिनो लिङ्गिनो वा मां दृष्ट्वा जातरासस्य मुमूर्षोर्मित्रवाक्यादानृशंस्याच्च गमनं धर्मोऽधर्मो वेति संशय इति वैशिकवात्स्यायनसूत्रोक्तस्थलवत् संदिग्धतया दुष्टत्वात् । अत्र समाप्तौ, "तेषां स्वच्छन्दचरितं बुद्धिमान्न तदा चरेत् । नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः । विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषमि"तिवाक्याभ्यां निषेधनाशयोर्बोधनेन सुबोधिन्याम् अनीश्वरकृतस्यास्यानिष्टजनकत्वमिति व्याख्यानेन यथैश्वर्यकामनायामनीश्वरो वधमर्हति यथा महाराज्यानधिकारी तदिच्छां कुर्वन्निति मनसापि करणे दण्डव्याख्यानेन ऐश्वर्यज्ञानवैराग्यैर्यत् करोति तत्स्वच्छन्दचरितमित्युच्यते । बुद्धिमाँस्तन्नाचरेदिति च व्याख्यानेन तथात्वावगमाच्च । न च निषेधादिकं रासकरणविषयकमिति वाच्यम् । राजप्रश्नोत्तरत्वात् । प्रश्ने परदाराभिमर्शनस्यैवोक्तत्वात् । न च "यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता" इत्यत्र भक्तयोगिज्ञानिनां स्वैराचरणस्याबन्धकत्वेनानुवादाद्भक्तानां न तद् दोषावहमिति शङ्क्यम् । तत्र पूर्णकाष्ठां प्राप्तानामनुवादेनारम्भदशापन्नेषु तस्योदाहर्तुमशक्यत्वात् । निषेवतृप्ता इति कथनात् । न चैवं सत्यतृप्तकार्यं स्वैराचरणमपि तेषामशक्यवचनमिति वाच्यम् । मार्कण्डेयपुराणोक्तसङ्गनिवृत्तिप्रयोजनकदत्तात्रेयसुरापानादिवत् सुवचत्वात् । अत एव, "कुर्वन्ति ही"त्यत्र नित्यप्रियपदव्याख्याने कालापरिच्छेद्यस्यैव प्रियस्य सेवा कर्तव्येत्युक्तम्, "अन्यथा जारसेवापि धर्मः स्यादि"ति च । "विमोहितोऽयं जन" इत्यत्र मुचुकुन्दस्तुतौ च । "पुन्नाम्नो नरकात्त्रायत" इति वाक्यात् पुरुषशब्देन नरक उच्यते । योषिच्छब्देन च सुतरां नरकम् । "शालावृकाणां हृदयान्येता" इति, "स सोमो नातिष्ठते"त्यादिश्रुतिभिः स्त्रीणां निन्दाश्रवणादित्युक्तम् । सुखानुभवस्तु भ्रान्तानुभवतुल्यः । युक्तिबाधितत्वात् । अग्रे बाधस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । अन्योन्यसापेक्षतया तत्र प्रवृत्तेरन्यतरस्य तदपूर्तौ सुखाभावस्यापि दर्शनाच्च । न च "प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे" इति श्रुत्या वैषयिकानन्दस्य मोक्षदृष्टान्तत्वेनोक्तेर्नेदं साधीय इति वाच्यम् । "इति मानुषीः समाज्ञा" इति मानुषप्रकरणानन्तरम्, "अथ दैवीरि"त्युपक्रमस्य भेदनात् तत्र मानुषसुखस्यानभिप्रेतत्वेन तस्य दृष्टान्तताया अशक्यवचनत्वात् । परप्रसिद्ध्या परो बोधनीय इति लौकि-

सङ्गस्त्रयाणां बाधकः। तत् परित्यजेदित्याह—

एतद्विरोधि यत् किञ्चित्तत्तु शीघ्रं परित्यजेत्।
धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन् ॥ २३९ ॥

टिप्पणी।

सङ्ग इति। दुष्टसङ्गः स्वधर्माचरणनिषिद्धत्यागेन्द्रियनिग्रहाणां बाधक इति तं त्यजेदित्यर्थः।

आवरणभङ्गः।

कानामर्थे दृष्टान्तत्वेन कीर्तनेऽपि वस्तुतस्तदभावात्। तस्या उपासनार्थत्वेनाप्युपपत्तेश्च। ननु "तत्प्रतिष्ठेत्युपासीते"त्यादिनोपासनाया अग्रे वाच्यत्वान्नेदं युक्तमिति चेत्। ओम्। तथा सत्याविर्भूते रसे दैवेषु तदस्तु, रसाविर्भावस्तु न सर्वात्मभावव्यतिरेकेण। तत्र च भगवानानन्दमयोऽनपेक्ष इति जीवानां ततः सुखलाभः। लोके तु परस्परसापेक्षत्वान्न तथा युक्तम्। नन्वयं रसमार्गो भगवान् रसात्मनाऽत्र फलति। ततः स्त्रीभावो न दुष्ट इति स्वस्मिन् स्त्रीत्वानुसन्धानेन भगवन्तं भजतां परस्परं सापत्न्यभावं च बोधयतां परस्परं तथाकृतौ को दोष इति चेत्। भगवद्रससम्बन्धाभाव एवेति वदामः। तथाहि। वेणुगीतारम्भे, "आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृतम्। उद्बोधकं च हरिणा कृतं नान्येन केनचिदि"ति कारिकयाऽन्यकृतोद्बोधकस्य भगवद्भावानुत्पादकत्वं प्रतिपादितम्। यत्र लीलास्थेष्वपि तथा तत्र दूरापास्ता इदानीन्तनाः। किञ्च, "भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगमि"ति वाक्याददेयैव परमभक्तिः। सा, "श्रद्धाऽमृतकथायां मे" इति सन्दर्भोक्तभगवद्धर्मसमाचरणप्रसन्नाद्भगवत एवेति भक्तिहंसादौ निर्णीतम्। तेषु धर्मेषु एतस्यानुक्तत्वादनेन तदभाव एवेति। किञ्च, दोषाभावप्रयोजकं स्त्रीभावानुसन्धानं तेषामुत्कटमनुत्कटं वा?। नाद्यः। पेशस्कृदुद्धकीटस्येवास्यापि तादृग्देहापत्तिप्रसङ्गात्। नरसिंहमहत्तराणां तथा वचनदर्शनात्। ननु तद्वदुत्कटमप्यग्रिमजन्मनि तथात्वोत्पादकम् यथाग्निकुमाराणाम्। "अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुमि"ति टिप्पण्यां पुराणवाक्यात्। अतो नरसिंहमहतामपि भाविदेहज्ञानादेव तथा वचनमतो न दोष इति चेत्। तर्हि तदौत्कट्ये तदर्थं तप एव विधेयमग्निकुमारवत्। न त्विन्द्रियतर्पणम्। दृष्टान्ताभावात्। नरसिंहमहतामपि तथैव बोध्यत्वात्। अत एव न द्वितीयः। कैमुतिकन्यायात्। भावान्तरोपमृद्यमानत्वेनातिकदर्यत्वाच्च। अत एव सेवाफले तद्विवरणे च, "उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्। सविघ्नोऽल्पो घातकः स्यादि"ति। सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य इति चोक्तम्। तच्च स्त्रीणां पुंसां स्त्रीपुंसयोश्च समानम्। अतो भगवल्लीलादृष्टान्तेन लौकिके प्रवर्तकान् प्रवर्तमानाँश्च विमुखान्निश्चित्य तत्सङ्गं परिहृत्य सर्वेन्द्रियनिग्रहः कार्यः। तदेतदुक्तम्—इन्द्रियाण्येवाधा इत्यादि ॥ २३८ ॥

सङ्ग इत्यादि। सङ्ग आसक्तिस्तस्मिन् सति निर्बन्धेन नित्यकर्मकरणप्रयासात् सेवानुरोधेन यथाशक्त्येति न भवति, तथैवाधर्मान्निवर्तनमिन्द्रियनिग्रहश्च न भवतीत्येषामेव त्रयाणामन्येषां च ज्ञानभक्त्युपासनासाधनानां बाधक इति तथेत्यर्थः। नन्वेवं सति सङ्गत्याग एवोपदेष्टव्यः, सामान्य-

एतद्विरोधीति । सामान्यवचनं धर्मादीनामुपलक्षणम् । परार्थमपीन्द्रियनिग्रहाभावसंभवात् । पूजाविरोधि धर्मादिकं तु त्यक्तव्यमेवेत्यत्र विचारमाह । धर्मादीनामिति । भगवद्भजनस्य मोक्षः फलं परोपकारादि सर्वधर्माणामपि क्षयिष्ण्वेव फलम् । अत उभयोरन्तरं ज्ञात्वा परोपकारादिधर्मा न कर्तव्या यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति ॥ २३९ ॥

अत्र मार्गे पूजासाधनानामनुवृत्तौ कारणमाह—

यथा यथा हरिः कृष्णो मनस्याविशते निजे ।
तथा तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धते ॥ २४० ॥

यथा यथेति । श्रवणकीर्तनादिना हरिश्चेद् हृदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहतीत्यर्थः ॥ २४० ॥

अत्र बाधकानां विशेषमाह—

कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना ।
अहङ्कारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत् ॥ २४१ ॥

कृष्णे सर्वात्मके इति । मनसि स्वस्य दीनता भावनीया । सर्वाधिष्ठानेषु सर्वलो-

---

टिप्पणी ।

सामान्यवचनमिति । एतत्रयविरोधित्वेन धर्मादयोऽपि त्याज्यत्वेनोपलक्षिता इत्यर्थः ॥ २३९ ॥

मनसीति । भगवतः सर्वेष्वधिष्ठानेषु भगवदीयेषु च यत्र भगवान् स्वतः स्फुरति तत्र दीनता भावनीया, सर्वत्र च भगवद्बुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः ॥ २४१ ॥

आवरणभङ्गः ।

वचनस्य किं प्रयोजनमत आहुः सामान्येत्यादि । तत्र हेतुः, परार्थमपीत्यादि । यथा कश्यपस्य । "स्त्रीणां वरमनुसरन्नि"ति च । पूजाविरोधीत्यादि । ननु भवत्वेवं तथापि, "एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु । प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेयआचरणं सदे"त्यादिभगवद्वाक्येषु परोपकारस्य स्तुतत्वात्तस्य तादृशामन्येषां वा पूजाविरोधित्वेऽपि कुतस्त्याग इत्याकाङ्क्षायां फलतो जघन्यत्वात्त्याग इति वक्तुं तद्धेतुभूतं विचारमाहेत्यर्थः । भगवद्भजनस्येत्यादि । एतदुक्तमेकादशे, "धर्ममेके यशश्चान्ये" इत्यारभ्य, "मद्भक्तियोगेन भजत्यथो मामि"त्यन्तेन सन्दर्भेण ॥ २३९ ॥

अत्र मार्ग इत्यादि । ननु युक्तमिदं सर्वमुपदिष्टं तथापि फलं पूजानिर्वाहे, स च साधनानुवृत्तौ । सा तु कालादेर्बाधकत्वाद् दुर्घटेत्याकाङ्क्षायां तत्सिद्ध्यर्थं दृष्टं साधनमाहेत्यर्थः । हरिश्चेद् हृदि निविशते । ननु स एव कथं निविशत इत्याकाङ्क्षायां तत्साधनं वदन्तस्तात्पर्यमाहुः श्रवणेत्यादि । "श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा तु पूजायामि"ति भगवता क्रमेण निर्देशात्तथेत्यर्थः ॥ २४० ॥

अत्रेत्यादि । नन्विदमपि युक्तं, तथापि श्रवणादिकर्तॄणामपि हृदीदानीं प्रायो भगवन्निवेशो नानुभूयत इत्यत्रापि किञ्चित् साधनं वक्तव्यमित्याकाङ्क्षायां तत्र बाधकत्यागरूपं साधनमाहेत्यर्थः । सर्वात्मकपदतात्पर्यमाहुः सर्वाधिष्ठानेष्वित्यादि । तथा चाहङ्कारादिः सर्वथैव बाधक इति तन्नि-

केषु च यत्र यत्र भगवद्बुद्धिर्भवति बुद्धिश्च कर्तव्या । अन्यकर्तृकापमानेऽपि नाहङ्कारं कुर्यात् । भगवतः सकाशान्मानापेक्षां च वर्जयेत् ॥ २४१ ॥

एतत्सिद्ध्यर्थमुपायमाह—

सर्वथा तद्गुणालापं नामोच्चारणमेव वा ॥
सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निःस्पृहस्ततः ॥ २४२ ॥

सर्वथा तद्गुणालापमिति । सर्वथा सर्वत्र भगवदुत्कर्षवर्णने पूर्वोक्तं सिद्ध्यति । दैत्यानां सन्निधानेऽपि निर्भयः । फलाभावाय निःस्पृहः । तत इति ॥ २४२ ॥

केवलं नामोच्चारणादेः कदाचिदसाधकत्वमपि भवेदिति मुख्यं साधनमाह—

साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात् ।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः ॥ २४३ ॥

साधनं परमेतदिति । सर्वदा श्रीभागवतकीर्तनेन पूर्वोक्तं सिद्ध्यति ॥ २४३ ॥

टिप्पणी ।

दैत्यानामिति । बहिर्मुखानां सन्निधानेऽपि तेभ्यः फलाभावाय तेभ्यो निःस्पृहो भूत्वेत्यर्थः ॥ २४२ ॥

सर्वदेति । "यस्यां वै श्रूयमाणायां", "धर्मः प्रोज्झिते"त्यादिवाक्यैर्भगवति भक्त्या दीनत्वादिकं सिध्यतीत्यर्थः ॥ २४३ ॥

आवरणभङ्गः ।

वृत्तयेऽत्र दीनभावनोपदिश्यते, न तु पृथक्साधनत्वेनेति भावः । एतेन, "स्तुतिभिः स्तवनं मम", "सर्वाङ्गैरभिवन्दनं", "मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिरि"ति साधनचतुष्टयमेतदर्थमेव भगवतोक्तमिति ज्ञापितम् ॥ २४१ ॥

सर्वथेत्यादिना, "वचसा मद्गुणेरणं", "मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य चे"ति द्वयं संगृहीतं ज्ञेयम् । तत्रापि किञ्चिद्विशेषमाहुः दैत्येत्यादि । तथा च दैत्यानामपि सन्निधाने तथा कृतौ यदि तेऽन्यथा वदन्ति तदा, "कर्णौ पिधाय निरयादि"ति वाक्योक्तेषु ततो निःसरणतज्जिह्वाच्छेदस्वहननेष्वन्यतमं कार्यम् । तत्राप्यशक्तौ तदनुकल्पभूतं गालनादि विधेयमित्याशयेनाहुः फलाभावायेत्यादि ॥ २४२ ॥

एवं करणेऽपि निर्वाहस्य प्रायिकत्वादन्यद् वक्तुमाहुः केवलमित्यादि । इदं च, "श्रद्धां भागवते शास्त्रे" इति योगेश्वरवाक्ये सिद्ध्यति । तेन यथासम्भवमेकादशोक्तं सर्वत्राऽनुसन्धेयम् ॥२४३॥

अत्र वैष्णवमार्गे वेदमार्गविरोधो यत्र तन्न कर्तव्यम्। यद्यनित्यो धर्मो भवेत्। नित्येऽपि वेदविरोधः सोढव्य इत्याह—

शङ्खचक्रादिकं धार्यं मृदा पूजाङ्गमेव तत्।
तुलसीकाष्ठजा माला तिलकं लिङ्गमेव तत्॥ २४४॥

शङ्खचक्रादिकं धार्यमिति। "वह्निनैव तु संयुक्तं चक्रमादाय वैष्णवः। धारयेत् सर्ववर्णानां हरिसालोक्यकाम्यये"ति तप्तमुद्राधारणं काम्यम्। "शङ्खचक्रं मृदा यस्तु कुर्याच्चाऽऽयसेन वा। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मण" इति स्मृतिविरोधश्च। "शङ्खादिचिह्नरहितः पूजां यस्तु समाचरेत्। निष्फलं पूजनं तस्य हरिश्चापि न तुष्यति"। अतो मृदा शङ्खचक्रादिधारणं पूजाङ्गमवश्यं कर्तव्यम्। निषेधस्तु केवल एव, न पाषण्डत्व-

---

टिप्पणी।

अत्र वैष्णवमार्ग इत्यारभ्येत्याहेत्यन्ते। अत्रैवं भाति। तावत्कर्माणि देवर्षिभूतात्मनृणां "यानास्थाये"त्यादिभिर्नित्यकर्मत्यागे प्रतीयमानेऽपि यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति। "अहरहः सन्ध्यामुपासीते"त्यादिवेदविरोधात्स न कर्तव्यो नित्यत्वाभावात् भगवत्पूजाया नित्यत्वेन तदङ्गत्वान्नित्ये शङ्खचक्रादिधारणरूपे भगवद्धर्मे वक्ष्यमाणस्मृतिविरोधे प्रतीयमानेऽपि शङ्खचक्रादिधारणं कर्तव्यम् वस्तुतोऽधिकारभेदाद्व्यवस्थया न विरोध इति। अतो मृदा शङ्खचक्रादिधारणमिति। सत्यतपाः, "गोमतीतीरसंभूतां गोपीदेहसमुद्भवाम्। मृदं मूर्ध्ना वहेद्यस्तु सर्वपापैः प्रमुच्यते"। व्यासः, "जाह्नवीतीरसंभूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्ति यः। बिभर्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय केवलम्। द्वारवत्यां शुभे रम्य" इति च इत्यादिवचनेषु गोपीचन्दनादेः स्तुतत्वात्। गोपीचन्दनव्रजगङ्गादिमृदापूजाङ्गत्वेन शङ्खचक्रादिधारणं पूजायामावश्यकमन्यथा पूजा निष्फला स्यात्। "अङ्कितः शङ्खचक्राभ्यामुभयोर्बाहुमूलयोः। समर्चयेद्धरिं नित्यं नान्यथा पूजनं भवेत्"। शङ्खादिचिह्नरहित इत्यादिभिः। अन्यत्रापि, "नारायणायुधैर्नित्यं चिह्नितो यस्य विग्रहः। पापकोटियुतस्यापि तस्य किं कुरुते यमः। ममावतारचिह्नानि दृश्यन्ते यस्य विग्रहे। मर्त्यो मर्त्यो न विज्ञेयः स नूनं मामकी तनुः" गरुडपुराणे "क्रियाविहीनं यदि मन्त्रहीनं श्रद्धाविहीनं त्वथ कालवर्जितम्। कृत्वा ललाटे यदि गोपिचन्दनं प्राप्नोति तत्कर्म फलं तथा क्षयम्। ग्रहा न पीडन्ति न रक्षसां गणा यक्षाः पिशाचोरगभूतदानवाः। ललाटपट्टे खग गोपिचन्दनं सन्तिष्ठते यस्य हरेः

आवरणभङ्गः।

एवं सेवानिर्वाहोपायमुपदिश्य रामानुजमाध्वादिमार्गादत्र बहिः प्रकारेऽपि वैलक्षण्यं वक्तुमाहुः अत्र वैष्णवेत्यादि। अनित्य इति। नित्यभिन्नः, काम्य इति यावत्। अपि वेदविरोध इति। वेदविरोधोऽपीत्यर्थः। कैमुतिकसूचकमेतत्। एतस्यापि प्रयोजनं कालातिक्रमेऽविहितभक्तौ च दोषाप्रसङ्गः। धारणे उपपत्तिर्मूले उक्ता पूजाङ्गमेव तदिति। यतस्तत् तथा अतः पूजाया न्यङ्गत्वपरिहाराय तदावश्यकमेव। तदेतदुपपादयितुमाहुः वह्निनैवेत्यादि। अत इति। काम्यत्वनिषिद्धत्वाभ्यामपि नित्यत्वानपायात्। ननु तप्तशङ्खाद्यनङ्गीकारे भवतु काम्यत्वाभावस्तथापि निषेधस्य

सम्पादकः। मृदा निषेधमुपक्रम्य तप्तायसे पर्यवसानवचनाच्च । किञ्च । ब्राह्मणस्य धारणं निषिद्धं, वैष्णवस्य च विहितम्। तत्र ब्राह्मणश्चेद्वैष्णवो भवेत्, तत्र पूर्वात् परबलीयस्त्वन्यायेन वचनमिति वैष्णवधर्मोऽनुसरणं कर्तव्यम्। न च पाषण्डत्वसम्भवः। "किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या" इति वाक्यात् प्रमाणप्रमेययोः प्रमेयं बलिष्ठमिति च

टिप्पणी।

प्रसीदनमि"ति। काशीखण्डे, "दूताः शृणुत यद्भालं गोपीचन्दनलाञ्छितम्। ज्वलदिङ्गलवत् सोऽपि दूरे त्याज्यः प्रयत्नतः"। तत्रैव ध्रुवलोकवर्णने, "शङ्खचक्राङ्कितततनुः शिरसा मञ्जरीधरः। गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः। हरिनामाक्षरमुखं भाले गोपीमृदङ्कितम्। तुलसीमालिकोरस्कं न स्पृशेयुर्यमो भटाः"। पद्मपुराणे, "ब्रह्मघ्नो वाऽथ गोघ्नो वा हैतुकः सर्वपापकृत्। गोपीचन्दनसम्पर्कात्पूतो भवति तत्क्षणात्"। स्मृतिसारसमुच्चये, "गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो यं यं पश्यति चक्षुषा। तं तं शुद्धं विजानीयान्नाऽत्र कार्या विचारणा" इत्यादिवाक्यैः पापभयग्रहादिपीडानिवृत्तिशुद्धिभगवत्प्रीतिसाधकत्वेन वैष्णवचिह्नत्वेन स्वसम्प्रदायप्राप्तत्वेन कर्तव्यमेव। **निषेधस्त्विवति**। केवले वैष्णवत्वरहितेऽयं निषेधस्तेन न वैष्णवे पाषण्डत्वसम्पादक इत्यर्थः। तदेवाहुरग्रे, **किञ्चेत्यादि**। **धर्मविरोध इति**। आश्रमधर्मेऽन्याश्रमधर्मविरोधवत् स्मार्तधर्मविरोधो न बाधक इत्यर्थः। तथा **तुलसीकाष्ठजा मालेत्यादि**। प्रह्लादसंहितायां, "निवेद्य केशवे मालां तुलसीकाष्ठसम्भवाम्। वहते यो नरो भक्त्या तस्य नैवास्ति पातकम्। सदा प्रीतमनास्तस्य कृष्णो देवकिनन्दन" इत्यादिवचनेभ्यः। पापाभाव कृष्णप्रसादहेतुत्वात्तुलसीकाष्ठजामाला तूपवीतादिवद्धार्येत्यर्थः। वैष्णवजपेऽपि तुलसीकाष्ठघटितैव माला प्रशस्ता। अत एवोक्तं रामार्चनचन्द्रिकायां, "तुलसीकाष्ठघटितैर्मणिभिर्जपमालिका। सर्वकर्मणि सर्वेषामीप्सितार्थफलप्रदा। पुरश्चरणचन्द्रिकायाञ्च वैष्णवे तुलसीमाला गजदन्तैर्गजा-

आवरणभङ्गः।

का गतिरित्यत आहुः **निषेधस्त्विवत्यादि**। तथा च निन्दास्मृतौ पूजानुल्लेखात्तद्रहिते सङ्क्रामन्निषेधः, पूजाङ्गत्वेन धारकेषु न पाखण्डत्वाधायक इत्यर्थः। एतद्दार्ढ्यार्थं श्रुतिसिद्धं युक्त्यन्तरमाहुः **मृदेत्यादि**। तथा च यथा श्रुतौ, "निर्यासस्य नाश्यं ब्रह्महत्यायै ह्येष वर्ण" इत्युपक्रम्याग्रे, "यो लोहितो यो वा व्रश्चनान्निर्येषति तस्य नाश्यमि"ति पर्यवसानवचनम्। तेन तस्यैव निषेधस्तथाऽत्रापि तप्तायस एव पर्यवसानवचनाद्, वाशब्द एवकारार्थताया अपि शक्यवचनत्वाच्च तत्रैव निषेधसङ्क्रमो, न तु मृदा धारणेऽपीत्यर्थः। ननु भवत्येवं यदि पूजावाक्ये ब्राह्मणपदं भवेत्। तत्र तु, य इति सामान्यवचनम्। तच्च शूद्रादिपरतयापि नेतुं शक्यमतो नेयं युक्तिः साधीयसीत्याशङ्कायां पूर्वोक्तमर्थं न्यायेनोपोद्बलयन्ति **ब्राह्मणस्येत्यादि**। तथा च सिद्ध्यति पूर्वस्मात् कार्ये परविधानवैयर्थ्यापत्तिरिति पूर्वात् परं बलीय एव। तथा सति स्मृतौ द्विजपदात् संस्कारमात्रशालिनो वैष्णवत्वरहिता ये तान् प्रति स्मृतिः सार्थिकेति न वैष्णवधर्मत्वेन शङ्खचक्रधर्तुर्निन्दिकेति तथेति भावः। इममेवार्थं द्रढयन्ति **न चेत्यादि**। तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन वैष्णवं प्रत्यपि निषेधमङ्गीकृत्य पूर्वोक्तं समर्थयन्ति **प्रमाणेत्यादि**। तथा च यथा, वेदं कृत्वा वेदिं करो-

वेदनिषिद्धदेवतापरत्व एव पापण्डत्वमिति स्थितिः। धर्मविरोधो नात्र बाधकः। तत उक्तं शङ्खचक्रादिकं मृदा पूजाङ्गत्वेन धार्यमिति। तथा तुलसीकाष्ठजा मालापि धार्या। तस्या यद्यपि न नित्यत्वं तथापि वैष्णवत्वख्यापिका परम्परासिद्धा। तदुल्लङ्घने पारम्पर्यं बाध्येतेति नित्यतुल्या माला। किञ्च, "धारयन्ति न ये मालां हैतुकाः पापबुद्धयः। नरकान्न निवर्तन्ते दग्धाः क्रोधाग्निना हरेरि"ति वचनान्नित्यत्वमपि। तिलकं च, "दण्डाऽऽकारं ललाटे स्यात् पद्माकारं तु वक्षसि। वेणुपत्रनिभं बाह्वोरन्यद्दीपाकृतिर्भवेदि"ति तिलकं माला च यज्ञोपवीतवद्वैष्णवत्वबोधकम् ॥ २४४ ॥

टिप्पणी।

नने। त्रिपुराया ज पेशस्ता इन्द्राक्षै रक्तचन्दनैः। तुलसीमणिना चैव गणितं चाक्षयं भवेदि"ति। अत एवैतादृक्फलाभावान्नियमादन्यदैवतत्वाच्च न रुद्राक्षादिमाला वैष्णवैर्ग्राह्या। दण्डाकारं ललाटे स्यादिति। ब्राह्मणैर्वैष्णवैः क्षत्रियादिभिरपि ललाटे दण्डाकारं सुशोभनं सच्छिद्रमूर्ध्वपुण्ड्रं

आचरणभङ्गः।

तीत्यत्र वेदकरणोत्तरं क्षुते आचमनेन श्रौतोऽपि वैदिकक्रमो बाध्यते, शुद्धिरूपस्य प्रमेयस्य बलिष्ठत्वात्। तथा प्रकृतेऽपि वचनापेक्षया पूजाया बलिष्ठत्वात् "सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामी"ति भगवद्वाक्याच्च जातेऽपि दोषे निवृत्तिसंभव इत्यर्थः। नन्वेवं सति पाखण्डत्वस्यापि संभव इत्यत आहुः वेदेत्यादि। वेदविरुद्धदेवताऽर्हद्बुद्धादिरूपा ज्ञेया। अत्रेति। ब्राह्मणत्वे। तथा च यदि धर्मविरोधो बाधकः स्याद्दत्तदुर्वासःप्रभृतीनामपि पाखण्डता स्यात्। यदि तत्र योगजधर्मेण समाधेयं तर्ह्यत्र भगवद्धर्मेणेति तुल्यम्। वचनानामुभयत्र तौल्यादित्यर्थः। एतेन तप्तशङ्खचक्रधारणे श्रुतिमुदाहरन्तो माध्वादयोऽपि प्रत्युक्ता बोध्याः। तदुदाहृतश्रुतिषु नित्यलिङ्गस्याभावात्। फलकथनेन काम्यताप्रतीतेश्च। पुराणस्थश्रुतिमालम्ब्य यथाकथञ्चिन्नित्यतासमर्थनेऽपि तप्ततावोधकश्रुतिविरोधस्य कामाधिकारबोधकश्रुतिविरोधवत् सोढव्यत्वात्। एतान्यपि तु कर्माणीतिवत् तप्तनिषेधवचनस्यापि दर्शनात्। एतदेवोक्तं, धर्मविरोधो नात्र बाधक इति। माध्वादिलिखितश्रुतिस्थः शङ्खादीनां तप्तत्वरूपो यो धर्मः सोऽत्र मृदाधारणे बाधको नेत्यर्थः। एवं समर्थयित्वा सिद्धमाहुः तत इत्यादि। एतदखिलं शङ्खचक्रधारणवादे मया सम्यक् प्रपञ्चितमिति विशेषजिज्ञासायां ततोऽवधेयम्। एवं शङ्खचक्रादिधारणस्य नित्यत्वं स्थापयित्वा तुलसीमालायां तदतिदिशन्ति तथेत्यादि। तस्या नित्यत्वं, न बहुवाक्यसिद्धमिति तथात्वाय प्रकारमाहुः। तस्या इत्यादि। तथा च, "साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद्भवेदि"ति ब्रह्माण्डात्तथेति भावः। एवञ्च, "देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि चे"ति वाक्यमप्यनुगुणाभवतीति ज्ञेयम्। अत्रापि विशेषो मालाधारणवादाद् बोध्यः। मार्गान्तरात् तिलके विशेषं वक्तुं प्रकारमाहुः तिलकं चेत्यादि। तिलकमालयोर्बहिरङ्गत्वबोधनाय तत्स्वरूपमाहुः तिलकमित्यादि। तेनान्तरस्यान्तरङ्गानां चाभावे तदकिञ्चित्करमेवेत्यर्थः अत्रत्योऽपि विशेष ऊर्ध्वपुण्ड्रवादादवगन्तव्यः। एवं बहिरङ्गान् भगवता साक्षादनुक्तानपि सूचितत्वान्निश्चित्य भगवता भक्तिकारणेषु, "मदीयव्रतधारणमि"त्युक्तत्वाद्यानि विवक्षितानि बोधयितुं, यात्राबलिविधानं च "सर्ववार्षिक-

एकादश्युपवासादि कर्तव्यं वेधवर्जितम् ।
तथा कृष्णाष्टमी चापि सप्तमी वेधवर्जिता ।
अन्यान्यपि तथा कुर्यादुत्सवो यत्र वै हरेः ॥ २४५ ॥

एकादशीव्रतं च पट्पञ्चाशद्वेधरहितं कर्तव्यम् । पूर्वमन्यथा करणेऽपि भगवन्मार्ग-

---

टिप्पणी ।

कार्यमित्यर्थः । अत एव स्कन्दपुराणे त्रयोविंशाध्याये, "वैष्णवानां ब्राह्मणानामूर्ध्वपुण्ड्रं विधीयते । अन्येषां च त्रिपुण्ड्रं स्यादिति ब्रह्मविदो विदुः । ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजः कुर्याद्दण्डाकारं सुशोभनम् । सच्छिद्रन्तु तथा मन्त्रैर्नमोऽन्तैः केशवादिभिः । ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा शुभ्रं ललाटे यस्य दृश्यते । चाण्डालोऽपि विशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् । पुराणान्तरे च, "ऊर्ध्वपुण्ड्रं तु सर्वेषां न निषिद्धं कदाचन । धारयेयुः क्षत्रियाद्या विष्णुभक्ता भवन्ति ये" । पद्मपुराणे, "द्वारवत्यां शुभे रम्ये वासुदेवप्रिये तथा । तत्रोद्भवां मृदं शुभ्रामादाय द्विजसत्तम । धारयेदूर्ध्वपुण्ड्राणि सर्वकामफलाप्तये । आरभ्य नासिकामूलं ललाटान्तं लिखेन्मृदा । समारभ्य भ्रुवोर्मध्यमन्तरालं प्रकीर्तितम् । ऊर्ध्वपुण्ड्रमृजुं सौम्यं सुपार्श्वं सुमनोहरम् । दण्डाकारं सुशोभाढ्यं मध्ये च्छिद्रं प्रकल्पयेत् । ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य मध्ये तु विशाले सुमनोहरे । लक्ष्म्या सार्धं समासीनो देवदेवो जनार्दनः । तस्माद्येन शरीरे तु ऊर्ध्वपुण्ड्रं धृतं भवेत् । तस्य देहो भगवतो विमलं हरिमन्दिरम्" । नारदपञ्चरात्रे, "सान्तरालमृजुं सौम्यं सुपार्श्वं सुमनोहरम् । यः करोत्यूर्ध्वपुण्ड्रं स ममातीव प्रियो भवेत्" । ऊर्ध्वपुण्ड्रं च निरन्तरालं न कार्यमूर्ध्वपुण्ड्रोपरि त्रिपुण्ड्रं कदाचिदपि न कार्यम् । अत एव पद्मपुराणे, "निरन्तरालं यः कुर्यादूर्ध्वपुण्ड्रं द्विजाधमः । स हि तत्र स्थितं, विष्णुं श्रियं चैव व्यपोहति" स्कन्दपुराणे त्रयोविंशाध्याये "ऊर्ध्वपुण्ड्रे त्रिपुण्ड्रं यः कुरुते स नराधमः । भङ्क्त्वा विष्णुगृहं पुण्यं स याति नरकं ध्रुवम् ॥ त्रिपुण्ड्रं यस्य विप्रस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रे प्रदृश्यते । तं दृष्ट्वाऽप्यथवा स्पृष्ट्वा सचैलं स्नानमाचरेदि"त्यादिभिर्वचनैर्दोषश्रवणादिति । तिलकं माला चेति । अत्र यज्ञोपवीततुल्यत्वबोधनान्मालातिलकधारणयोर्नित्यत्वमङ्गत्वं च बोधितम् । अत एव पद्मपुराणे, "यज्ञो दानं तपश्चर्या जपहोमादिकं च यत् । ऊर्ध्वपुण्ड्रधरः कुर्यात्तस्य पुण्यमनन्तकम् । ऊर्ध्वं हि तिलकं शस्तं हव्यकव्येषु सर्वदा । निराशाः पितरो यान्ति दृष्ट्वा चैव त्रिपुण्ड्रकम्" । ब्रह्मपुराणे च, "योगो दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम् । भस्मीभवति तत्सर्वमूर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम्" । स्कन्दपुराणे त्रयोविंशाध्याये च, "यस्योर्ध्वपुण्ड्रं दृश्येत ललाटे नो नरस्य हि । तद्दर्शनं न कर्तव्यं दृष्ट्वा सूर्यं निरीक्षयेत्" ॥ तिलकविधौ विशेषान्तराणि मदनपारिजातब्रह्माण्डपुराणब्रह्मपुराणपद्मपुराणेभ्योऽवगन्तव्यानि । जन्माष्टमी रामनवमी च प्रभुचरणैर्निर्णीताऽस्तीति नात्र लिख्यते ॥ २४४ ॥

आवरणभङ्गः ।

पर्वसु", "मम पर्वानुमोदनम् । पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् । कारयेन्नृत्यगीताद्यैर्महाराजविभूतिभि"रित्यादिभगवद्वाक्यैरुत्सवादीनामप्युक्तत्वात्तेषामपि दिङ्मात्रेण निर्णयं बोधयितुमाहुः ॥ २४४ ॥

एकादशीत्यादि । अत्रापि मार्गान्तरेभ्यो विशेषमाहुः पूर्वमित्यादि । इदं यथा तथा मया

प्रवेशानन्तरं पञ्चपञ्चाशद्घटिका दशमी चेत्तदैकादशी त्याज्या। जन्माष्टमी तु सूर्योदयानन्तरं सप्तमी चेत्तदा त्याज्या, "उदयादुदयात् प्रोक्ता हरिवासरवर्जिता" इति वाक्यात्। अन्यान्यपि रामनवमीप्रभृतिव्रतानि भगवन्मार्गे कर्तव्यानि । नृसिंहजयन्तीव्रतमुत्सवश्चेत्कर्तव्यम् । तथा वामनजयन्त्युत्सवकरणे एकादश्यामुपोषणमकृत्वापि द्वादश्यामुपोषणं कर्तव्यम् । किं वहुनोत्सवः प्रधानभूतः । भुक्त्वा चोत्सवो निषिद्धः । भगवदावेशाभावात् । एवं पूजामार्गे उत्सवयात्रासहिता पूजा कर्तव्येति निरूपितम् ॥ २४५ ॥

टिप्पणी ।

उदयादिति । एकादशीव्यतिरिक्ता जन्माष्टम्यादयः सूर्योदयात्प्रवर्तमानाः शुद्धा न त्वरुणोदयवेधस्तासु प्रयोजक इत्यर्थः। द्वितीयदिने मुहूर्तमात्रसत्त्वेऽपि नृसिंहचतुर्दशी त्रयोदशीविद्धा न कार्या। तदुक्तं बृहन्नारसिंहे, "केवलं च प्रकर्तव्यं मद्दिनं फलकाङ्क्षिभिः । वैष्णवैस्तु न कर्तव्या स्मरविद्धा चतुर्दशी"ति । गोविन्दार्णवेऽप्युक्तं, "शुक्लपक्षचतुर्दश्यां मासि माधवसंज्ञके । प्रादुर्भूतो नृपं चास्य तस्मात्तां समुपोषयेत् १, अनङ्गेन समायुक्ता न सोपोष्या चतुर्दशी । पूर्णायुक्तां तु तां कुर्यान्नरसिंहस्य तुष्टये २, यः करोति नरो मोहात्कामविद्धां चतुर्दशीम्। धनापत्यैर्वियुज्येत तस्मात्तां परिवर्जयेत्" ३, प्रतापमार्तण्डे, तत्र शुक्ला परायुता । युग्मवाक्यात् । व्यासः, "शुक्ला चतुर्दशी ग्राह्या परविद्धा सदा व्रत" इति । नारदीये, "तृतीयैकादशी षष्ठी पौर्णमासी चतुर्दशी । पूर्वविद्धा न कर्तव्या परं संयुते"ति । कृष्णा तु पूर्वविद्धा ग्राह्या । तथा वामनजयन्तीत्यारभ्यावेशाभावादित्यन्तस्य तात्पर्यं मया श्रवणद्वादशीव्रतनिर्णये विवृतम् ॥ २४५ ॥

आवरणभङ्गः ।

संवत्सरोत्सवनिर्णयप्रताने सम्यग् उपपादितमिति तत एव विभावनीयम् । अत्र नृसिंहजयन्त्यादौ, चेत्पदतथापदाभ्यां तयोः प्रायिकत्वं बोधितम् । तत्र बीजमिदं प्रतिभाति । श्रीभागवते एतयोरवतारत्वेन निरूपणान्नृसिंहतापनीये, "विष्णोर्नु कमि"ति श्रुतौ च पूर्णतानिरूपणादुपासकबाहुल्यात् पुराणेषु व्रतविधायकानेकवचोदर्शनाच्च यस्य पुरुषोत्तमत्वस्फूर्तिस्तेन कार्यम् । "मदीयव्रतधारणमि"ति भगवताऽऽज्ञापनात् । यस्य तु न तथा स्फूर्तिस्तेन न कार्यम् । साक्षाद्भगवद्व्रतत्वस्य तं प्रत्यभावेन तद्व्रताज्ञाया अप्यऽभावात् । तथा सति तत्तदुपासकान् प्रत्येव नित्यत्वं, न त्वन्यान् प्रत्यपीति । अत एव, "सर्वासां तु जयन्तीनां श्रेष्ठा कृष्णाष्टमी मता । यस्मात् सन्निहितात्यन्तं तत्रैवोपवसेन्नरः ॥ सर्वास्वपि जयन्तीषु पूजा कार्या विशेषतः । सान्निध्य एव कर्तव्य उपवासो न दूरग" इति भारद्वाजसंहितावचनं, स्मृत्यर्थसागराख्ये माध्वग्रन्थे दृश्यते । सान्निध्य इति—मूलरूपसन्निधाने । दूरग इति—अंशकलागामी । तथा सति तत्तदुपासकान् प्रत्येव नित्यत्वं तयोर्न त्वन्यान् प्रत्यपीति अधिकारिविशेषमादाय कृताकृतत्वबोधनार्थेयमुक्तिरिति दिक् । एवं सर्वं निरूप्येदमुपसंहरति एवं पूजेत्यादि । पूजाप्रधाने सेवामार्गे । उत्सवा जन्माष्टम्यादयः । यात्रा दोल्यात्रादयः । पर्वाणि दीपावलीनवरात्रादीनि बोध्यानि । यद्यपि पर्वाण्यत्र नोक्तानि तथापि साहचर्यात् संप्रदायाच्च बोध्यानि ॥ २४५ ॥

उपसंहरति—

एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्।
अन्येषां संभवेत्तु स्याद्यतेः पर्यटनं वरम् ॥ २४६ ॥

एतत्सर्वमिति। गृहस्थस्यैतन्मुख्यम्। एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यमश्नुते। ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तावेतत् कर्तव्यम्। अन्यथाऽन्य एवोपायः कर्तव्यः। तमग्रे वक्ष्यति। संन्यासिनस्तु पूर्वापेक्षयाऽप्यग्रिम एवोत्तम एवमित्याह यतेः पर्यटनं वरमिति ॥ २४६ ॥

गृहस्थानामपि पूजायां पञ्चदोपसम्भवे पर्यटनमेव श्रेष्ठमित्याह—

विक्षेपादथवा शक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचित्।
अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसंभवे।
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा ॥ २४७ ॥

विक्षेपादिति। स्वतःप्रवृत्तिरहितानीन्द्रियाणि बलाद्भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि। जरया व्याधिभिर्वा यदा शक्त्यभावो। लोका वा प्रतिबन्धं कुर्वन्ति। स्वस्य वा परम आग्रह उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति। लोकानां वा पीडां कुर्यात्। तत्र पूजा त्यक्तव्या। तदा अन्यत्रापि तथात्वे परदेशे शून्यदेवालये पूजा विधेया। तत्रापि दोपसम्भवे तीर्थपर्यटनं कर्तव्यम्। पापानां प्रतिबन्धकरूपाणां नाशाय। तदा यत्रैव गत्वा सेवा सम्पत्स्यते तत्रैव सेवा कर्तव्या। स्वतन्त्रतया तीर्थाटनप्रकारमाह सर्वेषामिति। विष्णुभक्तिप्रकारत्वात् सर्वाधिकारः ॥ २४७ ॥

टिप्पणी।

स्वस्य वेति। गृहादिष्विति शेपः ॥ २४७ ॥

आवरणभङ्गः।

गृहस्थस्यैतन्मुख्यत्वे बीजमाहुः एवं कुर्वन्नित्यादि। यथा श्रुतौ, "ये देवा यज्ञहनः पृथिव्यामध्यासते ये अन्तरिक्षे ये दिवीत्याहेमानेव लोकांस्तीर्त्वा सगृहः सपशुः सुवर्गं लोकमेती"ति यजमानेन मन्त्रमात्रकथने सपरिकरस्य स्वर्गलोकं उक्तस्तथा भगवता सपरिकरस्य परिचर्यासूचनादत्रापि सायुज्यरूपं मध्यमं सेवाफलं परिकरस्य भवतीत्यर्थः। गृहस्थस्योक्त्वाऽन्येषामाहुः ब्रह्मचारीत्यादि। अत्र बहुवचनं विधुरविधवावीतरागिप्रभृतिसंग्रहार्थम्। अन्यथा गृहस्थस्योक्तत्वेन यतेर्वक्तव्यत्वेन चाश्रमद्वयस्यैव विशिष्टतया तदसंगत्यापत्तेः ॥ २४६ ॥

अथ गृहस्थानामपि कञ्चिद्विशेषं वक्तुमाहुः गृहस्थानामित्यादि। स्वस्य वेत्यादि। यथाऽस्मदादीनाम् उत्कटाद्यावेशात्तथेत्यर्थः। एवं दोपनिवृत्त्युपायत्वेन तीर्थाटनमुक्त्वाऽस्य गौणत्वमात्रतापरिहारायाऽस्य प्रकारं वक्तुमाहुः स्वतन्त्रतयेत्यादि। विष्णुभक्तीत्यादि। "सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृपे"ति स्कान्दात्तथेत्यर्थः। तथात्वं च विदुरतीर्थयात्रादिभ्योऽवगन्तव्यम् ॥ २४७ ॥

वर्णाश्रमयुक्तानामपि वर्णाश्रमधर्मैस्तीर्थानि विकल्प्यन्त इत्याह—

यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः।
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दिनान्नाधिकस्य हि॥ २४८॥
हृतत्रपः पठन्नित्यं नामानि च कृतानि च।
एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत्कृष्णतत्परः॥ २४९॥
देहपातनपर्यन्तमव्यग्रात्मा सदागतिः।
उत्तमोत्तममेतद्धि पूर्वमुत्तममीरितम्॥ २५०॥
गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तन्नियुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः॥ २५१॥
धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः॥ २५२॥

यज्ञा इति। भारते हि यज्ञानां तीर्थानां च तुल्यता निरूपिता। तत्राटनप्रकारमाह अतस्तेष्वप्रतिग्राहीति। तीर्थप्रवेशदिवसे तूपवासः। अग्रिमदिवसे यदन्नमात्रमपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं, न तु ततोऽधिकम्। अटनस्य नित्यत्वान्न चिरकालं स्थितिः। उच्चैर्नामसङ्कीर्तनं तत्राङ्गम्। अन्तर्भगवत्स्मरणं च। एकाकी पर्यटेत्। नात्र, "नैकः प्रपद्येताध्वानमि"ति स्मृतिदोषः। पथि भोगाद्यर्थं स्पृहा न कर्तव्या। शान्तश्च चित्ते भवेत्। एवमधिकाराभावे भिन्नमुपायं वक्ष्यति। कृष्ण एव तात्पर्यम्। न तु तीर्थादौ। देहपातनपर्यन्तं च पर्यटनम्। देहान्ते कृतार्थो भविष्यामीति। सदा शुद्धश्च भवेत्। संध्यावन्दनवत् प्रत्यहं तस्य गमनम्। अस्मिन् पक्षे अन्तः कृष्णः सदा स्फुरतीत्युत्तमोत्तमम्। अत्र संमत्यर्थं भगवदुक्तश्लोकद्वयमाह॥ २४८–२५२॥

टिप्पणी।

यज्ञा इति मूले। हरिणा निमित्तेन कृता यज्ञास्तीर्थानि च समानीत्यर्थः॥ २४८॥
नात्र नैक इति। भिन्नाधिकारत्वादिति भावः॥ २५०॥

आवरणभङ्गः।

अत्र कश्चिद्विशेषमाहुः वर्णेत्यादि। उत्तानमेतत्, तुल्यता निरूपितेति। तथाहि, तीर्थचिन्तामणौ, "ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता वेदेष्विह यथाक्रमम्। फलं चैव यथातत्त्वं प्रेत्य चेह च सर्वशः॥ न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते। बहूपकरणा यज्ञा नानासंभारविस्तराः॥ प्राप्यन्ते पार्थिवैरेव समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्। नार्थन्यूनैरवगणैरेकात्मभिरसंहतैः॥ यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर। तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तन्निबोध युधां वर॥ ऋषीणां परमं गुह्यमिदमुक्तं मयाऽनघ। तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते॥ अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च। अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो जायते नरः॥ अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः। न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यदि"ति। अपरमपि विशेषमाहुर्मूले, हरिणा कृता इत्यनेन। भगवता यज्ञाः कृताः, बलदेवरूपेण तीर्थानि च यतः कृतानि, अतोऽपि साम्यमिति भावः॥ २४८–२५२॥

गृहं, धनमिति पूर्वाधिकारद्वयाभावे तृतीयं पक्षमाह—

अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतमादरात्।
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम् ॥ २५३ ॥
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि।
तदभावे यथैव स्यात्तथा निर्वाहमाचरेत्।
त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णमवाप्नुयात् ॥ २५४ ॥

अथवेति। बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतं, नाम्नि चैकं ततस्त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः ॥ २५३–२५४ ॥

टिप्पणी।

पूर्वाधिकारेति। पूर्वोक्तबाह्यभजनान्तरभजनासम्भव इत्यर्थः। नाम्नीति। श्रीभागवतस्यापि भगवद्रूपत्वात्तेनापि निस्तरेदिति भावः। अत एव स्कन्दपुराणे, "नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः। प्रत्यक्षरं भवेत्तस्य कपिलादानजं फलम्। श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम् ॥ पठन् शृणोति यो भक्त्या गोसहस्रफलं लभेत् ॥ यः पठेत्प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं मुने। अष्टादशपुराणानां फलं प्राप्नोति मानवः ॥ येऽर्चयन्ति गृहे नित्यं शास्त्रं भागवतं कलौ। आस्फोटयन्तीव भान्ति तेषां प्रीताः पितामहाः ॥ येऽर्चयन्ति सदा शास्त्रं श्रीमद्भागवतं नराः। प्रीणितास्तैश्च विबुधा यावदाभूतसम्प्लवम् ॥ श्लोकार्धं श्लोकमेकं वा वरं भागवतं गृहे। शतशोऽथ सहस्रैस्तु किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः ॥ कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ। गृहे न तिष्ठते विप्र श्वपचादधिको हि सः। यत्र यत्र भवेद्विप्र शास्त्रं भागवतं कलौ। तत्र तत्र हरिर्याति त्रिदशैः सह नारद। तत्र सर्वाणि तीर्थानि नदीनदसरांसि च। यज्ञाः सप्तपुरी नित्यं पुण्याः सर्वशिलोच्चयाः। श्लोकं भागवतं वापि श्लोकार्धं पादमेव वा। लिखितं तिष्ठते यस्य गृहे तस्य सदा हरिः" ॥ पद्मपुराणे च, "अम्बरीषशुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु। पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयमि"त्यादि ॥ ५३–२५४ ॥

आवरणभङ्गः।

अथवेत्यादि। अत्र यः पाठ उक्तः स, "वर्णाश्रमवतां धर्म" इत्युपक्रमे वर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राणामित्युक्तत्वाच्चतुर्णां वर्णानां वा त्रैवर्णिकानां वेति प्रसङ्गाद्विचार्यते। तत्र, "भारतव्यपदेशेन आम्नायार्थश्च दर्शितः। दृश्यते यत्र वै धर्मः स्त्रीशूद्रादिभिरप्युते"ति प्रथमस्कन्धे। "विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्। वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्ध्येत पातकादि"ति द्वादशस्कन्धे च धर्मदर्शनश्रीभागवताध्ययनयोर्बोधनात्। "तस्माद्भारत सर्वात्मे"त्यत्राभयेच्छायां सर्वसाधारण्येन कीर्तनविधानाच्च सर्वमेव भागवतं सर्वे पठेयुरिति प्राप्ते, अभिधीयते। ब्रह्मज्ञानभागांशव्यतिरिक्तमेव पठनीयम्। धर्मब्रह्मणोरतीन्द्रियत्वेन प्रथमवाक्ये दृशेर्मुख्यार्थस्य ग्रहीतुमशक्यतया धर्मादिशाब्दज्ञानमात्रार्थकत्वेन पाठप्रापकत्वात्। द्वितीयेऽप्यधीत्येत्यस्य स्मरणाध्ययनसाधारण्यात् स्मृत्वा गुरुमुखाद्वा गृहीत्वेत्यर्थसंदेहेन तथात्वात्। नच स्वाध्यायब्राह्मणश्रुतौ, "प्राङासीनः स्वाध्याय-

आवरणभङ्गः ।

मधीयीते''त्यादौ केवलोच्चारणेऽपि तथा प्रयोगात्तत्प्राप्तिरिति वाच्यम् । विनिगमनाविरहात् । न चेतः पूर्वं, ''य एतां श्रावयेदि''ति सर्वां संहितां, ''पठन्ननश्नन् प्रयत'' इति पाठं च प्रक्रम्य, ''विप्रोऽधीत्ये''ति श्लोककथनादुपक्रम एव विनिगमकोऽस्त्विति वाच्यम् । तत्र श्रावणोत्तरं पठनस्योक्ततया श्रावणानुसारिपाठप्राप्त्या सर्वपाठप्राप्तेः । न चात्र सर्वस्यैव श्रावणमिति वक्तुं युक्तम् । कपिलदेवैः स्वमातुरप्यौपनिषदभागवतज्ञानयोरनुक्तत्वेन स्त्रीशूद्रयोस्तदंशाश्रावणे तयोस्तच्छ्रवणानधिकारे च सिद्धेः । ''शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे । कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहमि''त्युद्योगे सनत्सुजातीयारम्भे विदुरवाक्याज्ज्ञानोत्तरमपि वदनानधिकारे च सिद्धे श्रवणपठनयोः पठन एव वा तावदंशत्यागस्यैवौचित्यात् । अत एव तृतीयस्कन्धनिबन्धे श्रीमदाचार्यैरपि, ''यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा । वर्णिनामेव तद्धि स्यात् स्त्रीशूद्राणां ततोऽन्यथे''ति कारिकया भागवतज्ञानमपि त्रैवर्णिकानामेव । उपासनायाः प्राधान्यात् । यदेव भगवता ब्रह्मणे प्रोच्यते तत् त्रैवर्णिकानामेवेति ज्ञातव्यमिति तत्प्रकाशग्रन्थेन च तथैव निर्णीतत्वात् । न चैकादशस्कन्धेऽपि, ''एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रह'' इति कथनाच्चतुःश्लोकीतुल्यतयोपदेशस्य तत्रापि सत्त्वात् तत्राप्यनधिकारः शङ्क्यः । तदग्रे, ''नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च । अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् । एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च । साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोपिताम''ति कथनात् । कर्मज्ञानादिमिश्रतयोपदेशाच्च तादृशां श्रावणे बाधकाभावेन तत्र तेषां श्रवणाधिकारस्य सिद्धेः । अन्यथा तद्विरोधापत्तेश्च । यत्तु, ''ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः । वैश्यः पठन् विट्पतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियादि''ति चतुर्थस्कन्धीयम् । तत्तु पृथुचरितमुपक्रम्य पठितत्वात् प्रकरणावरुद्धमिति न तेन सर्वपाठः प्रापयितुं शक्यते । न चाऽभयेच्छायां तदर्थं कीर्तनस्य विरोधः शङ्क्यः । तत्र भगवत एव कथनाच्छ्रीभागवतपदाभावाच्चोक्तैकदेशातिरिक्तभागवतकीर्तनादपि तत्परिहारसिद्धेः । न च, ''देवोऽसुरो मनुष्यो वे''ति वाक्यात् सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र, ''विष्णुभक्तौ यथे''ति दृष्टान्तकथनाच्च भगवद्भक्तेः सर्वाधिकारत्वमभिप्रेत्यात्र त्रेधा भक्तिमार्ग उपदिष्टः । तत्र रूपसेवायां बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वेधा उपदिश्य तत्रानधिकारे, ''अथवा सर्वदा शास्त्रमि''त्यादिकारिकाभ्यां नामसेवाप्रकार उपदिश्यत इति तस्य सर्ववर्णसाधारणत्वात् सर्वपठनं शक्यम् । ब्रह्मोपदेशभागव्यतिरिक्तपाठेऽपि तदुपपत्तेः । अन्यथा, ''यदौपनिषदं ज्ञानमि''ति कारिकातद्व्याख्यानयोर्विरोधापत्तेः । पुरुषोत्तमसहस्रनामपाठादपि श्रीभागवतपाठसिद्धेस्तैरेवोक्तत्वात् । तत एव सर्वपाठसिद्धेश्च । ये पुनरेतन्न्यकृत्य ब्राह्मणाद्युत्कर्षासहिष्णवः स्वस्य पाठाधिकारमापादयन्ति तेषां तु मात्सर्यदोषेण श्रीभागवतोक्तधर्मेष्वनधिकारात् तदुक्ते पाठेऽप्यनधिकार एवेति दिक् । नन्वत्र प्रकाराणां बहूनामुक्तत्वात् कथमेको मार्ग इत्यत आहुः बाह्येत्यादि ॥ २५३–२५४ ॥

प्रपत्तिमार्गमाह—

जगन्नाथे विठ्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा ।
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात्तत्र तिष्ठेत तत्परः ॥ २५५ ॥
एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गतिसाधनसंयुतम् ।
कर्ममार्गं प्रवक्ष्यामि भ्रान्तानां बहुशः फलम् ॥ २५६ ॥

जगन्नाथे विठ्ठले चेति । विकल्प एवैषां स्थानानाम् । प्रपत्तौ ब्रह्मास्त्रन्यायस्य बाधकत्वात् । पूजाप्रवाहो भगवत्सान्निध्यप्रबोधकः । एवं वैदिको भक्तिमार्गश्च निरूपित

टिप्पणी ।

प्रपत्तिमार्गमिति । भगवानेव ममैहिके परलोके च गतिरहं भगवद्दास इति निश्चयेन भगवत्परतया भगवन्महास्थाने स्थितिः प्रपत्तिमार्ग इत्यर्थः । तत्र तिष्ठेतेति मूले । त्वद्दासोऽहं सर्वार्थे त्वामेवाश्रित इत्याद्यभिप्रायं प्रकटयन् तिष्ठेदित्यर्थः । प्रकाशनस्थेयाख्यायोश्चेत्यात्मनेपदम् ॥२५५॥

प्रपत्ताविति । एकत्रावस्थाने चैकं भगवद्रूपमाश्रित्य रूपान्तरे वचनेनापि नावज्ञा कार्येति भावः । ब्रह्मास्त्रन्याय "एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचिदि"त्येवंरूपः । एवं वैदिक इति । वैदिकमार्गस्य ज्ञानान्तत्वाद्योगसाङ्ख्ययोर्ज्ञानाङ्गत्वात्प्रपत्तिमार्गस्य भक्तिमार्गान्तर्गतत्वात्फलसाधनसहितं मार्गद्वयमेवोक्तमित्यर्थः ॥ २५६ ॥

आवरणभङ्गः ।

प्रपत्तीत्यादि । अत्राप्यनधिकारे उपायान्तरं तदनुकल्पभूतमाहेत्यर्थः । सर्वधर्मानित्यत्रैकपदादन्याश्रयः सर्वथा बाधक इति बोधयितुं तत्परपदस्य तात्पर्यमाहुः प्रपत्तावित्यादि । तत्परस्तिष्ठेदित्यर्थः । स्थानान्तरस्यापि संग्रहार्थमाहुः पूजेत्यादि । एतस्यैव शेषौ विवेकधैर्याश्रयकृष्णाश्रयौ ज्ञेयौ । प्रपत्तिश्च शरणागतिः, आश्रय इति यावत् । तत्प्रथमतो मानसं, पश्चात् कायिकं वाचनिकमित्यक्रूरस्तुतावुक्तं सुबोधिन्यां तदुपपादितं शरणागतिप्रकरण इति च । तदेव विवेकधैर्याश्रये विवेकधैर्ययोर्निरूपणेन कायिकम्, आश्रयनिरूपणेन मानसं, वाचनिकं चोक्तम् । अत्रापि कारणं भगवदनुग्रह एवेति, "सोऽहं तवाङ्घ्री"त्यत्राक्रूरस्तुतौ प्रतिपादितमनुभवेन शरणागतिसिद्धिलक्षणं च तत्रैवोक्तम्, "यदि सङ्घातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्यमि"त्यारभ्य, "सत्सेवारुचिः,भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा,भगवच्छास्त्रपरत्वं चान्तिमजन्मज्ञापकमि"त्यन्तेन । एतत्सिद्ध्यर्थमेव कृष्णाश्रयस्तोत्रं चेति ज्ञेयम् । अनुगुणपक्षे सङ्घाताऽऽनुगुण्यं प्रसन्नचेतसा सेवाकरणानुकूल्यमेव प्रपत्तेः सामर्थ्यमऽलौकिकद्रष्टृत्वमिति सुदाम्नो मालाकारस्य स्तुतौ, "पुंसोऽत्यनुग्रह" इत्यत्र स्पष्टम् । तच्च भगवदिच्छाज्ञानरूपमेव, इदमेव पञ्चाध्याय्यामपि,"तव पादरजः प्रपन्ना"इत्यादिषु ज्ञापितम् । एवञ्च भक्तिवर्धिनीग्रन्थ एतस्यैव सेवाकरणस्य प्रपञ्चो ज्ञेयः । नवरत्नमप्यस्यैव प्रकरणस्य शेषः । नवरत्नशेषोऽन्तःकरणप्रबोधः, सिद्धान्तरहस्यसेवाफलनिरोधलक्षणान्यपि तथा । एवमन्येऽपि ज्ञेयाः । अथवेत्यादिनोक्तप्रकारे यदाऽनधिकारस्तदा सहस्रनामस्तोत्रं नामावली च । सिद्धान्तमुक्तावली तु शास्त्रस्य संग्रहरूपा । पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थो भक्तिहंसश्च मार्गस्वरूपादिविवेचकतयाऽस्यैव प्रकरणस्य शेषौ । बालबोधोऽपि तथा ।

इत्याह एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तमिति। सर्वत्रैव जगति फलं वर्तत इति सर्वत्र फलं साधनं चाह कर्ममार्ग इति ॥ २५५-२५६ ॥

आवरणभङ्गः।

संन्यासनिर्णयस्तु त्यागशेषः स्फुट एवेति सर्वाण्येव प्रकरणान्येवं बोध्यानि। अत्रायं क्रमः प्रतिभाति। पूर्वं भगवत्कृपाङ्कुरस्य स्वतः संस्कारेण भगवन्मार्गीयसङ्गादिना वा उद्बोधे मार्गेऽस्मिन् रुचिस्ततोऽस्मिन् प्रवेशेच्छा। तत्राप्यङ्कुरस्य दृढत्वेऽस्मिन् मार्गे पूर्वोक्तरीत्या दृढं सर्वोत्तमत्वभानं प्रवेशश्च। द्वारभूतगुरुद्वारा शरणागतिः। ततः सतां द्वारभूतगुरोर्वा सङ्गेन शिक्षया वा श्रीमदाचार्यचरणेषु भगवदभेदबुद्धिः। सर्वोत्तमादिभिस्तद्भजनम्। तत एतन्मार्गीयसङ्गे पूर्वोक्तरीत्या भगवद्भजनं, ग्रन्थावलोकनश्रवणादिना च तत्तत्प्रतिबन्धनिवृत्तौ दोषनिवृत्तिः। सेवोपयोगिगुणोपचयश्च। तत एतदावर्तने सकुटुम्बस्य भगवत्प्राप्तिस्तत्राप्युदासीनप्रतिकूलयोर्न। चर्षणीशब्दवाच्यानां तु यत्किञ्चित् फलं परं परिभ्रमणमेव। पञ्चदोषसंभवे तु तीर्थाटनं, दोषनिवृत्तौ पुनः सेवया पूर्वोक्तरीतिकं फलम्। सेवाधिकारे तु श्रीभागवताश्रय उक्तरीत्या। तत्राप्यनधिकारे सहस्रनामनामावल्योर्यथोक्तरीतिक आश्रयः। उत्तमाधिकारे तु पर्यटनम्। अत्राप्यनधिकारे भगवत्प्रपन्नतया अदूरे विप्रकर्षे वा स्थितिः सहस्रनामाद्यावर्तनसहायस्य। एवं करणे एतन्मार्गीयफलोन्मुखत्वं फलं च। आरम्भदशायां पापादिना पुनरावृत्तिः। पाकदशायां यथाकथञ्चित् पापे तु पापस्यैव नाश इति सिद्ध्यति। वेदस्तु कालेन निर्बल इति तन्मार्ग इदानीमसिद्ध्यन्न फलायाऽलमिति भगवन्मार्गाङ्गतयाऽत्रैव प्रविशतीति। गुरुणावेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां चावगत्य प्रश्नानन्तरं सेवादिकमुपदेष्टव्यमिति। यस्तु नामाद्युपदेशोऽधिकाराभावेऽपीदानीन्तनैः क्रियते, सोऽपि जानता कृतः स्वगृह्यमाणद्रव्यशुद्धौ तेन बन्धाभावे च पर्यवस्यति। अजानता कृतस्तु स्वस्मिन् दोषादोषयोः सन्देहे पर्यवस्यतीति। इदं यथा तथा उपदेशवादे वृत्तिवादे च विवेचितमिति ततोऽवधेयमिति दिक्। प्रकृतमनुसरामः। मूले, एतन्मार्गद्वयमित्यत्र द्वित्वं मुख्यापेक्षया बोध्यम्। प्रपत्तिमार्गस्य भक्तिमार्गानुकल्पत्वादिति। गतिसाधनसंयुतमित्यत्र गतिशब्दः फलवाची। "सा काष्ठा सा परा गति"रिति श्रुतौ तथासिद्धेः। एवं फलप्रकरणे प्रमाणानुरोधिना मुख्यप्रमेयस्य बलं विचारितम्। अतः परं धूमादिमार्गस्य तृतीयमार्गस्य च, "को हि तद्वेद यदमुष्मिँल्लोकेऽस्ति न वे"ति, "यामिमां पुष्पितां वाचमि"ति, "कर्मण्यनाश्वास"इति यथायथं श्रुतिगीताश्रीभागवतेषु निन्दितत्वेऽपि प्रमाणानुरोधितायां सत्त्वेन तद्बलविचारस्यावश्यकत्वात् गुरुभूतस्य तस्य बलं वैराग्यार्थं विचारयन्ति। सदंशसंभिन्नसर्वत्रैवेत्यादि। "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती"ति श्रुतेः। सदंशभूतेषु लोकेषु सुखरूपं फलं तद्धर्मभूत आनन्दः फलं, तत् सर्वत्र जगति वर्तते इति सर्वेषु सदंशभूतेषु लोकेषु सुखरूपं फलं तत्साधनभूतं वैदिकं कर्म च तद्वाञ्छानिवृत्त्यर्थं पूर्वोक्ताजघन्यरूपतया स्फुटीकरोतीत्यर्थः। ननु ज्ञानं विना कर्मासंभवाज्ज्ञाने सति कर्मणां कथं भ्रान्तत्वमित्याशङ्कायामयथाज्ञानत इत्यादि व्याकुर्वन्त आहुः ॥ २५५ ॥ २५६ ॥

अयथाज्ञानतः कर्म कुर्वाणास्त्रिविधा मताः ।
सात्त्विकादिविभेदेन कर्म चाऽपि त्रिधा भवेत् ॥ २५७ ॥
सात्त्विकः सात्त्विकं कर्म यथाश्रुतिपरः कृती ।
स्वर्गलोकस्तस्य सिद्ध्येद्विमानस्त्रीभिरावृतः ॥ २५८ ॥
पुण्यस्य तु तिरोधाने पतत्यर्वाक्शिरास्ततः ।
पुण्यशेषं समादाय समीचीनेषु जायते ॥ २५९ ॥
राजसं कर्म कुर्वाणो मेर्वादिसुखभाग् भवेत् ।
तामसं कर्म कुर्वाणः पाताले सुखभाग् यथा ॥ २६० ॥
राजसः सात्त्विकं कुर्वन् दैत्यस्वर्गेषु जायते ।
राजसं कर्म कुर्वाणश्चन्द्रलोके सुखी भवेत् ॥ २६१ ॥
वृष्टिद्वाराऽन्नरूपः सन् रेतोयोनिषु जायते ।
तामसं कर्म कुर्वाणो यक्षलोके सुखी भवेत् ॥ २६२ ॥
तामसः सात्त्विकं कुर्वन् पितृलोके महीयते ।
राजसं कर्म कुर्वाणो भूतादिसुखमाप्नुयात् ।
तामसं कर्म कुर्वाणः सर्पादिसुखभुग् भवेत् ॥ २६३ ॥
सर्वेषां पुनरावृत्तिस्तथा कर्म पुनर्भवः ।
एवं त्रयीधर्मपरा गतागतमवाप्नुयुः ॥ २६४ ॥

कर्मणो नानामार्गत्वं स्वभावगुणभेदात् । तामसः कदापि न सात्त्विकं कर्म करोति । कुर्वन् वा तामसप्रकारेण करोति । अतो नव भेदा गीतायां निरूपिताः । "कर्ता सात्त्विक

आवरणभङ्गः ।

कर्मणो नानामार्गत्वमित्यादि । गीतायां, "ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाते"त्यत्र ज्ञानपदेन करणमुच्यते । तद्विमर्षे, येनेति वेत्तीत्यादिनिर्देशात् । ज्ञेयपदेन तादृक्करणैर्ज्ञायमानं लौकिकं वस्तूच्यते । तच्चैकविधमेव । "यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य तदि"त्याद्येकादशवाक्ये तस्यैकरूपताभिधानात् सात्त्विकानां तथानुभवादत्र त्रैविध्यानुक्तेश्च । परिज्ञाता त्वन्तःकरणमेव वृत्त्यधिकरणत्वात् । करणकर्मपदाभ्यां च कर्मेन्द्रियचेष्टे उच्येते । कर्तृपदेन चोपाधितो भिन्नमन्तःकरणमेवोच्यते । गुणा अपि नोदासीना बन्धकाः, किन्तु तत्तच्चित्तजा एव तथा । "सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे । चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबद्ध्यते" इत्येकादशे भगवद्वाक्यात् । सात्त्विककरणैश्च जायमानमपि ज्ञानं प्रकृतिकैवल्यमेवावगाहते, न तु ब्रह्मकैवल्यम् । "यस्तु यस्यादिरि"ति पूर्वोक्तवाक्यात् अतस्तदप्यऽयथाज्ञानमेव । एवं सति तादृशज्ञानेन तादृशैर्द्विविधकरणैस्तादृशान्तःकरणाभिमन्तारो यत् कुर्वन्ति तस्य कर्मणो यज्ञदानजपादेर्यन्नानात्वं तत्, चित्तस्वभावभूतानां जीवनानाविधत्वापादकानां गुणानां भेदादित्यर्थः । तर्ह्ययथाज्ञानादेव कर्मनानात्वसिद्धेः कर्तृकर्मणोः किमिति त्रैविध्यमुक्तमित्याकाङ्क्षायां तत्तात्पर्यमेव विशदयन्ति । **तामस इत्यादि** । एवं सिद्धे तेषां

उच्यते", "यत्तत् सात्त्विकमुच्यते" इत्यादिना। "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था" इति वाक्यात् कर्मणस्त्रैविध्ये सात्त्विक एवोर्ध्वादिषु गच्छति। तथा राजसोऽपि दक्षिणमार्गे गच्छन् दैत्यस्वर्गेषु चन्द्रलोके यक्षलोके च सुखमनुभवति। सर्वेषां सङ्ग्रहार्थं सत्त्वादितारतम्येन फलकल्पना। पितृलोको भूतलोकः सर्पलोकश्चेति। तामसानां फलं नवविधं निरूप्य भगवद्वाक्येनोपसंहरति एवं त्रयीधर्मपरा इति ॥ २५७-२६४ ॥

प्रकीर्णकानां फलं वक्तुं नानादेवोपासकानां फलमाह—

तत्तद्देवोपासकानामाजन्मोपासने फलम्।
तत्तत्सायुज्यरूपादि वेदोक्तानामनेकधा।
पौराणिकानां च तथा निषिद्धेतरभावतः ॥ २६५ ॥

तत्तद्देवोपासकानामिति। वेदोक्तानामग्न्यादीनां देवोपासनाबुद्ध्या अग्नि-

---

टिप्पणी।

सर्वेषामिति मूले। 'आब्रह्मभुवनादि'ति वाक्यात्ते सर्वे पुनरावर्तन्ते पूर्ववासनया पुनस्तादृशमेव कर्म कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ २६४ ॥

आवरणभङ्गः।

भ्रान्तत्वे यदर्थमेवं नवधा निरूपणं तदाहुः ऊर्ध्वमित्यादि। गच्छतीति। उत्तरमार्गेण गच्छतीत्यर्थः। तावतापि न तस्योत्तमत्वमिति ज्ञापयन्ति मूले, सात्त्विक इत्यादिना। इदं चैकादशस्कन्धीयदशमाध्याये, "अन्तरायैरविहतो यदि धर्म" इत्यादिपञ्चश्लोकेषु स्फुटम्। शेषं च न्यायादेव सिद्ध्यति। एवं सात्त्विकस्योक्त्वा राजसस्येतो हीनत्वं बोधयितुं लोकावृत्त्यादिकमतिदिशन्ति तथेत्यादि। एवं कल्पनायां बीजमाहुः सर्वेषामित्यादि। सर्वेषामिति। लोकानामित्यर्थः। यमलोकमार्गसंग्रहार्थं तामसानां फलमाहुः। पितृलोक इत्यादि। उपसंहरतीति। मूले "तथा कर्मपुनर्भव" इत्यनेन पूर्वकर्मशेषभूतेन कर्मणा बीजेन स्वसजातीयकर्मान्तरोत्पत्तिः पुनः पुनः फलतारतम्यायोच्यते। अतः श्रुत्युक्तोऽपि मार्ग एवम्भूतश्चेत् फलतो जघन्य एवेति निगमयतीत्यर्थः ॥ २५७—२६४ ॥

प्रकीर्णकानामिति। ज्ञानकाण्डैकदेशादिप्रतिपादितानामुपासनानाम्। यद्यप्युपासनानां मानसकर्मत्वेन कर्मण्येवान्तर्भावस्तथापि तस्यां देवताप्राधान्येन फलेऽपि प्रकारभेदाद्भिन्नतया कथनम् उपास्यानां स्वतन्त्रप्रमेयात्मकत्वेन तद्बलनिरूपणार्थं ज्ञेयम्। तत्तद्देवेत्यादि। अध्यायचतुष्टयात्मकं जैमिनिप्रणीतं संकर्षणकाण्डं देवताकाण्डमित्युच्यते। तदप्युपासनाख्यकर्मप्रतिपादकत्वात् कर्ममीमांसान्तर्गतमेव। तद्रीत्या देवोपासने तदुपासकानां तथेत्यर्थः। एते च देवास्तत्त्वपर्यन्ताः कालपर्यन्ता वा ज्ञेयाः। एतदेव विशदयन्ति वेदोक्तानामित्यादि। मूलेऽतिदिष्टोपासनाविषयाणां

होत्रादिकरणे भेदबुद्धेर्विद्यमानत्वात् तत्तद्देवतासायुज्यम् । पौराणिका दुर्गागणपति-प्रभृतयः ॥ २६५ ॥

विष्णुं परित्यज्य तद्भजनं न कोऽपि करिष्यतीत्याशङ्क्य भगवद्वाक्यमाह—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ २६६ ॥
विहितानेककर्तॄणां देहान्ते यदुपासनम् ।
तत्सायुज्यादिसिद्धिः स्यात्तत्पोषोऽन्यस्य वै फलम् ॥ २६७॥

यजन्ते सात्त्विका देवानिति । एकदा बहुदेवोपासनायां कर्मप्राधान्यात् कर्ममार्गीयमेव फलं नोपासनाफलम् । क्रमेण भक्त्या तत्तद्देवतोपासनायां फलमाह विहितानेकेति । अन्तिमस्य शीघ्रप्रसादे पूर्वेषामभ्यनुज्ञाहेतुः ॥ २६६–२६७ ॥

एवमुपासनायां नियतं फलमुपपाद्य कर्ममार्गे फलस्यानियतत्वमाह—

कर्मणां गहना रीतिर्ब्रह्मणापि न बुध्यते ।
ईश्वरत्वात्तदिच्छायाः प्रधानत्वादनेकधा ।
तदुद्रेकोऽवसाने स्यात् कृपाक्रोधविभेदतः ॥ २६८ ॥

कर्मणामिति । कर्माणि विध्वंशे निषिद्धानि सहस्रं पतन्ति, तथा निषिद्धे विहितानि । तेन कस्य फलं भवेदिति सर्वेषामेव शङ्का । तत्र हेतुमाह ईश्वरत्वादिति । कर्मस्वरूपी भगवानीश्वरः स्वेच्छया किंरूपोऽभिव्यक्तो भवेदिति न ज्ञायते । अतो विधिर्व्यर्थ इति न फलं नियतम् । यतोऽनेकधा तदुद्रेकः । तत्रापि देहावसाने यत् कर्म तदेव

टिप्पणी ।

भेदबुद्धेरिति । ब्रह्मत्वेन सर्वज्ञानाभावादित्यर्थः ॥ २६५॥

आवरणभङ्गः ।

स्वरूपमाहुः पौराणिका इत्यादि । पञ्चायतनरूपा विशिष्टशेषा इत्यर्थः । तदपि फलं दक्षिणरीत्यैवेति बोधयितुं मूले, निषिद्धेतरभावत इत्युक्तम् ॥ २६५ ॥

विष्णुमित्यादि । बहुषु पुराणेषु विष्णोरुत्कर्षप्रतिपादनादुक्तरीत्या आशङ्क्य अधिकारिभेदेन तत्तद्भजनोपपादकं भगवद्वाक्यमाहेत्यर्थः । प्रासङ्गिकमाहुः एकदेत्यादि । "तत्पोषोऽन्यस्य वै फलमि"ति मूलोक्तेऽर्थे बीजमाहुः अन्तिमेत्यादि । एवमुपासनाफलनिरूपणमुखेन स्वतन्त्रप्रमेयभूतानां देवानां बलं विचारितम् ॥ २६६ ॥ २६७ ॥

अतः परं कर्मणो बलं विचारणीयम् । तस्य स्वाविर्भावे प्रमाणानुरोधित्वेऽपि अक्षरात्मत्वेन फलदानांशे स्वतन्त्रप्रमेयरूपत्वात् । तद्विचारयन्ति एवमुपासनायामित्यादिना । ननु कथमेव कर्मणां गहनतेत्याकाङ्क्षायां तामुपपादयन्ति कर्माणीत्यादि । स्वातन्त्र्यं प्रकटयन्ति कर्मस्वरूपीत्यादि ।

फलदायकम् । तत्रेश्वरेच्छया किंरूपोऽभिव्यक्तो भवेदिति न ज्ञायते । यदि जीवे कृपा तदा शुभरूपेण, क्रोधे त्वशुभरूपेणेति निर्णयः ॥ २६८ ॥

तदेवोपपादयति—

कृपयाऽधमतां प्राप्य भक्तं वै मोचयेत् क्वचित् ।
अनियुक्ततपस्यानां पीडया क्रोधतः क्वचित् ।
हीनभावं नयत्येष तुष्टं वा मोचयेत् क्वचित् ॥ २६९ ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ २७० ॥
अतश्च सुतरामेव कर्ममार्गो दुरत्ययः ।
अतोऽपि भजनं कार्यं भजनेन हि तादृशम् ॥ २७१ ॥

कृपयेति । अधमतां प्राप्य स्थितं भक्तं कृपया क्वचिन्मोचयेत् । इति निषिद्धस्यान्ते सद्रूपेणाविर्भावः । विहितस्यान्ते निषिद्धरूपेणाविर्भावमाह अनियुक्ततपस्यानामिति । आज्ञाव्यतिरेकेण ये तपः कुर्वन्ति तेषामन्ते भगवतः पीडया क्रोधो भवति । "मां चैवान्तःशरीरस्थमि"ति वाक्यात् । तदा हीनभावं नयति, नरकं, श्वादियोनिं वा । भगवदिच्छया तुष्टश्चेत् तमपि क्वचिन्मोचयेत् । अत ईश्वरचर्या दुर्विभाव्या । अत एव भगवान् स्वाभिप्रायं कर्ममार्गे निरूपयतीत्याह कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यमिति । विहितेऽपि विचारः कर्तव्यः । किं भगवदिच्छाऽस्ति । तथा सति कर्तव्यं, नो चेन्न कर्तव्यमिति । तथा विकर्मणस्तूष्णीम्भावादपि । कलावग्निहोत्रादिकं न कर्तव्यमिति । अत्रापि विचारः कर्तव्यः । किमीश्वरेच्छा करणेऽकरणे वेति । तथा निषिद्धेऽपि विचारः कर्तव्यः । किं ब्राह्मणः हन्तव्यो न वेति । भगवदिच्छायां हननमेव हितकारि । यथा द्रोणादीनाम् । अत एव कर्मणो गतिर्गहना । फलं दुर्निरूपमित्यर्थः । उपसंहरति अतश्च सुतरामेवेति । तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह अतोऽपि भजनं कार्यमिति । ननु भजनेऽप्येवं चेत् को

टिप्पणी ।

आज्ञाव्यतिरेकेणेति । शास्त्राद्याज्ञां विनेत्यर्थः ॥ २६९ ॥

तथा विकर्मण इत्यारभ्य द्रोणादीनामित्यन्ते । भगवदिच्छां वेदाद्यतो वा ज्ञात्वा यत्कृतं तदिष्टसाधनमेवात एव श्रुत्या यावज्जीवमग्निहोत्रविधानात्कलौ स्मृत्या निषिद्धमप्यग्निहोत्रादि कर्तव्यमेव । तथा "आततायिनमायान्तमि"ति वाक्याद्ब्राह्मणवधे प्राप्तेऽपीश्वरेच्छायां हननमेव वरं, तदभावे हननाभाव एवात एवार्जुनेन द्रोणादीनां हननमश्वत्थाम्नोऽहननं च । यथा स्मृत्याद्यपेक्षया वेदाज्ञा

आवरणभङ्गः ।

अक्षरस्यैव रूपान्तरं कर्मेति पूर्वं साधितम् । अक्षरं चेशितृ । एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत" इत्यादिश्रुतेः । अतस्तदभिन्नत्वात् कर्मरूपी भगवानीश इत्यर्थः । तदेव फलदायकमिति । अन्ते या मतिः सा गतिरिति तादृशमतिजनकतया तदेव तथेत्यर्थः ॥ २६८ ॥

विशेषः स्यादत आह भजनेन हि तादृशमिति। भगवदिच्छाभावेऽपि भजने भजनमेव परं न निर्वहेत्, न त्वनिष्टं किञ्चित् ॥ २६९–२७१ ॥

न केवलमीश्वरेच्छैव कर्मफले प्रतिबन्धिका, किन्त्वन्यदप्यस्तीत्याह—

अन्योन्यनाशकत्वं च कर्मणां भवति क्वचित्।
कर्ममार्गे फलं तस्मान्न निरूप्यं हि सर्वथा ॥ २७२ ॥
जायस्वेति म्रियस्वेति तृतीयो यदुदाहृतः।
प्रकीर्णकानां सर्वेषां तत्फलं परिकीर्तितम् ॥ २७३ ॥

अन्योन्यनाशकत्वमिति। अनवसरे नमस्कारादर्धं पुण्यं विनश्यति। "अजारजः खररजो हन्ति पुण्यं पुरा कृतमि"ति। बहुनाशकं कर्मफलं स्यात्। तथा वेधोपवासे गान्धार्याः पुत्रशतं नष्टम्। "अतिथिर्विमुखो यातः पुण्यमादाय गच्छति"। उपसंहरति कर्ममार्गे फलं तस्मादिति। इदानीमुपासनामार्गस्य फलमाह जायस्वेति। वेद एव तृतीयो मार्गो निरूपितः। कर्ममार्गेऽपि देवताप्राधान्ये इदमेव फलम् ॥२७२–२७३॥

टिप्पणी।

बलिष्ठा तथा मदाज्ञा सर्वापेक्षया बलिष्ठेति भावः ॥ २७०–२७१ ॥

ननु जायस्वेति म्रियस्वेति प्रवाहमार्गे किं फलं किं वा प्रमाणमित्यत आहुः वेद एवेति। वेदे यस्तृतीय उपासनामार्गो ज्ञानकाण्डान्तर्गत उदाहृतः स एव प्रवाहमार्गो त एव त्रिविधानां जीवानां भगवता देवाद्युपासनं प्रतिपादितमत एव प्रकीर्णकानां यज्ज्ञानिभक्तातिरिक्तानामुपासनामार्गीयं फलं प्रकीर्तितमित्यर्थः ॥ २७३ ॥

आवरणभङ्गः।

शेषमित आरभ्य कर्ममार्गो दुरत्यय इत्यन्तं स्फुटम्। एवं स्वातन्त्र्यमुपपादितम्। आहेति। भक्तिमार्गस्येतो वैलक्षण्यमाहेत्यर्थः। अग्रे स्फुटम् ॥ २६९—२७१ ॥

अतः परं स्वभावबलविचारं हृदि कृत्वा आहुः इदानीमुपासनेत्यादि। लोके बहूनां कर्मठानां पर्यनुयोक्तृत्वात् कर्ममार्गस्य संदिग्धफलत्वे निर्बलत्वे च प्रतिपादितेऽपि नियतफलायामुपासनायां तु नाऽयं दोष इति स्वभावतः कृतस्य, "यजन्ते सात्त्विका देवानि"त्यादिनोक्तस्य तस्य कर्ममार्गादुत्तमत्वं भविष्यतीत्याकाङ्क्षायां तस्यापि मार्गस्य फलतो जघन्यत्वं वक्तुमाहेत्यर्थः। वेद एवेत्यादि। तथा च छान्दोग्ये पञ्चाग्न्युपासनोत्तरं कर्मिज्ञानिनोर्धूमार्चिरादिमार्गावुक्त्वा, "अथैतयोः पथोर्नैकतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानमि"त्यनेन ज्ञानिकर्मिव्यतिरिक्तानां तृतीय एव मार्गो निरूपित इति नास्य तत उत्तमत्वमित्ययमपि तथेत्यर्थः। ननु पूर्वं तत्तद्देवतोपासने तत्तत्सायुज्यस्योक्तत्वादग्निहोत्रादीनामुपासनात्वेन करणे त्वित उत्तमत्वं भविष्यतीति शङ्कामपि प्रसङ्गादपाकुर्वन्ति कर्ममार्ग इत्यादि। वेदे "इष्टापूर्तं दत्तमित्युपासत"इति कर्मप्राधान्य एव धूममार्गस्योक्तत्वात् तदभावे स नेति तथेत्यर्थः ॥ २७२–२७३ ॥

प्रसङ्गाद्योगसांख्ययोः फलमाह—

ईश्वरालम्बनं योगो जनयित्वा तु तादृशम् ।
बहुजन्मविपाकेन भक्तिं जनयति ध्रुवम् ॥ २७४ ॥
सांख्येऽपि भगवच्चित्ते फलमेतन्न चान्यथा ।
समर्पणात् कर्मणां च भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥ २७५ ॥

ईश्वरालम्बनमिति । योगसांख्यकर्माणि भगवदिच्छया कृतानि भक्तिं जनयन्तीत्यर्थः । एतन्नियतफलम् ॥ २७४–२७५ ॥

इदानीं निषिद्धयोगमार्गादेः स्वरूपं फलं चाह—

योगेन तु निषिद्धेन यदि देहः प्रसिद्ध्यति ।
तदा कल्पान्तपर्यन्तं भावनातस्तु सत्फलम् ।
अन्यथा नरके पातो दृढभूमौ तु संस्थितिः ॥ २७६ ॥

योगेन त्विति । निषिद्धो योगः कापालिको महादेवेनोर्ध्वमुखेनोक्तः ।

टिप्पणी ।

भगवदिच्छयेति । भगवद्विषयिण्येत्यर्थः ॥ २७४ ॥

आवरणभङ्गः ।

प्रसङ्गादित्यादि । प्रसङ्गादिति । स्वभावप्रसङ्गात् । तथा च भगवता गीतायां योगसांख्यकर्मार्पणानामप्युपदिष्टत्वात् तेषां भक्तिमार्गसाम्यं फलतो भविष्यतीत्याकाङ्क्षायां तेषामपि जघन्यत्वं बोधयितुमाहेत्यर्थः । "मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तदि"ति भगवद्वाक्यात् कर्मार्पणस्यापि सात्त्विकत्वं ज्ञेयम् । मूले, तादृशमिति । योग्यदेहम् । योगसांख्येत्यादि । तथा च, "नैवं पापमवाप्स्यसि", "कर्मबन्धं प्रहास्यसि", "शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैरि"त्येव सांख्ययोगकर्मार्पणानां फलमुक्तं भगवता, न तु स्वप्राप्तिरूपम् । पापाभावे च, "जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते"इति भक्तिरेव फलत्वेनोक्तेति तथेति भावः । एवं फलमुक्त्वा पूर्वोक्तकर्मोपासनाद्यपेक्षयाऽस्योत्तमत्वं बोधयितुमाहुः एतन्नियतफलमिति । अतोऽपि पूर्वोक्तादुत्कृष्टमित्यर्थः । एवं सात्त्विकस्वभावबलमुक्तम् ॥ २७४—२७५ ॥

इदानीमित्यादि । एवं प्रमाणादित्रयेणोत्कृष्टानामपि भक्तिमार्गादपकृष्टत्वं प्रकारविशेषे त्वङ्गत्वमिति स्थापयित्वाऽन्येषां प्रमाणादिभिरपकृष्टत्वेऽपि प्रलोभकत्वादपक्वदशायां तत्र प्रवृत्तिर्माभूदिति तेषां त्याज्यत्वं वक्तुमाहेत्यर्थः । निषिद्धो योगः कापालिक इत्यादि । स प्रायः पाशुपताख्यतन्त्रोक्त इति प्रतिभाति । तत्र हि पशुपतिना पशुपाशविमोक्षणाया"ऽथातः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्याम" इत्यादिनाऽध्यायपञ्चकेन उक्तः । तत्र कार्यरूपो जीवः पशुः, कारणं पशुपतिरीश्वरः । योगः पशुपतौ चित्तसमाधानम् । विधिर्भसना त्रिषवणादिर्निरूपितः, दुःखान्तसंज्ञो मोक्षश्च प्रयोजनम् । तत एव कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ता इति तदध्याया आख्यायन्त इति तत्स्वरूपबोधनायोक्तम् । "शैवान् पाशुपतान् दृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् । विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा

तदुक्तप्रकारेण यदि देहः सिद्धस्तदा कल्पान्तपर्यन्तं भगवद्ध्यानात् सदैव फलम्। आदावल्पं निषिद्धं ध्याने हन्यते। देहनाशे तु नरके पातः। दृढभूमौ योगारम्भे सिद्धे जन्मान्तरे पुनः पूर्ववासनया योगाभ्यासान्मुच्यते। अतः पाक्षिकापायो मार्गः ॥२७६॥

शाक्तमार्गस्तु सर्वथैव निषिद्ध इत्यभिप्रायेणाह—

छलयोगस्तथा सांख्यं शाक्तो मार्गोऽभिधीयते।
सिद्धान्ताश्च तथा कौला लोकातीतविभेदतः ॥ २७७ ॥
सांख्ये भेदद्वयं तत्र द्वितीयेऽनुग्रहादिकम्।
आद्ये लोकस्य सन्मानमन्ते तुल्यं तमस्तयोः ॥ २७८ ॥
लोके व्यामोहकं शास्त्रं सप्तानां बोधकः शिवः।
कलौ जनिष्यमाणानामसुराणां क्षयाय हि ॥ २७९ ॥
वामाः शाक्ताश्च योगे तु प्रकटाप्रकटे भिदा।
प्रकृतिस्तत्र संराध्या साध्यो योगश्च तुष्टये ॥ २८० ॥

छलयोगस्तथा सांख्यमिति। सांख्ययोगौ मिलितौ धर्ममार्गविरोधेनामेध्यभक्षणसुरापानादिपोषितौ। शाक्तो मार्गः, तत्र सप्तभेदाः—वैदिकाः, वैष्णवाः, शैवाः, शाक्ताः, वामाः, सिद्धान्ताः कौलाः। अतः परं नेति तेषां ग्रन्थः। तत्र स्वरूपं फलं चान्तिमयोराह सिद्धान्ताश्च तथा कौला इति। सिद्धान्त आसुरं सर्वं मिथ्येति। कर्म सर्वथा त्यक्तव्यं बाधकमिति। तथा भक्तिरपि। केवलं वाचःपेशैर्मोहयन्ति ये ते सांख्याः। तेषां लोकसंग्रहो नियामकः। कौलानां तु लोकानपेक्षेति भेदः। पत्नीत्वदीक्षया रण्डाश्चण्डा अपि भजन्ति हि, "दिगम्बराश्चर्मचिह्नाः सुरामांसपरायणाः। पापरूपा दुराचारास्ते कौलाः परिकीर्तिताः" तेषाम् अनुग्रहनिग्रहादि दृष्टैकफलं भवति। तन्मार्गसेवितया दुष्टतामसशक्त्या सिद्धान्तस्य लोके सन्माननं फलम्, ततो व्यामोहो लोकस्य

टिप्पणी।

दृढभूमाविति। योगारम्भे दृढसंस्कारो यदि जायेत तदा जन्मान्तरे पूर्वसंस्कारेण योगाभ्यासान्मुच्यत इत्यर्थः ॥ २७६ ॥

साङ्ख्ययोगाविति। छलरूपौ साङ्ख्ययोगावित्यर्थः ॥ २७७ ॥

आवरणभङ्गः।

जलमाविशेदि"ति मिताक्षरादौ प्रायश्चित्तबोधनाच्च निषिद्धत्वमवगम्यते। चतुर्थस्कन्धस्थोपाख्यानाच्च। अन्यो वा कश्चिदेवञ्जातीयः। एवं स्वरूपमुक्त्वा फलादिकं वदिष्यन्त आहुः। तदुक्तेत्यादि। "उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः। ऊचिवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः" ॥ इति मोक्षधर्मवाक्यादिभिस्तस्य मोक्षमार्गताप्रतिपादनादुक्तरीत्या सापायत्वाच्च तस्य निषिद्धकल्पत्वं बोधितम् ॥ २७६ ॥

शाक्तो मार्ग इत्यादि। अन्येषां शिवोक्तानां स्वरूपं बोधयितुमाहेत्यर्थः। ग्रन्थ इति। संग्रह

भवति। सप्तानां मूलमाह बोधकः शिव इति। प्रयोजनमाह कलाविति। असुराणामेवाऽत्र रुचिः। तेन तेषामेव क्षय इति न काप्यनुपपत्तिः। चतुर्थपञ्चमावाह वामाः शाक्ता इति। तयोरपि पूर्ववत् प्रकटाप्रकटे भिदा। तत्र त्रिपुरसुन्दर्यादिशक्तयः सेव्याः। योगश्च साध्य इति बुद्धिः॥ २७७–२८०॥

शैवश्च वैष्णवश्चैव उपास्ये भेदकद्वयम्।
कर्मासक्तास्तु ये तत्र वैदिकाः समुदाहृताः॥ २८१॥
सप्तापि सर्वथा त्याज्या भगवन्मार्गवर्तिभिः।
बौद्धाश्चतुर्विधाः पूर्वमन्तरानन्तमार्गिणः॥ २८२॥

तत्रानधिकारे शैववैष्णवौ। तस्याः शक्तेः पादत्वेन पञ्चप्रेतमध्ये निरूपितौ। न शब्दमात्रेण किञ्चिद् दुष्यति, पदार्थस्त्वन्य एव। अतो भूतादेरेव विष्णुशिवादिनाम

आवरणभङ्गः।

इत्यर्थः। अग्रे स्पष्टम्। प्रकृतिपदस्यात्र विवक्षितमर्थं स्फुटीकुर्वन्ति त्रिपुरसुन्दरीत्यादि। मूले, तुष्य इत्येवं पदच्छेदः। तासां शक्तीनां तोषार्थमित्यर्थः। एतेन फलमुक्तम्॥ २७७—२८०॥

पञ्चप्रेतमध्ये निरूपिताविति। "ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः। एते पञ्च महाप्रेताः पादमूले व्यवस्थिताः" इति तत्तन्त्रवाक्ये तथात्वेनोक्तावित्यर्थः। तत्र समाधिमाहुः नेत्यादि। त्यागप्रसङ्गादेतदवान्तराणि चतुःषष्टितन्त्राणि प्रतिपाद्यार्थसहितानि लिख्यन्ते। तत्र, महामायाशम्बरतन्त्रम्। अन्यस्मिन् पदार्थे अन्यथा प्रतिभानरूपमायाप्रपञ्चरचनोपायप्रतिपादकमैन्द्रजालिकविद्यारूपम्। १। योगिनीजालशम्बरतन्त्रम्। योगिनीजालदर्शनोपायप्रतिपादकम्। २। तत्त्वशम्बरम्, इन्द्रजालविद्याविशेषः पृथिव्यादितत्त्वानामन्यत्राऽन्यबोधोपायप्रतिपादकम्। ३। सिद्धिभैरवतन्त्रम्। ४। मायिकभैरवतन्त्रम्। ५। कङ्कालभैरवतन्त्रम्। ६। कालाग्निभैरवतन्त्रम्। ७। शक्तिभैरवतन्त्रम्। ८। योगिभैरवतन्त्रम्। ९। महाभैरवतन्त्रम्। १०। भैरवनाथतन्त्रम्। भैरवाष्टकमिदं कापालिकमतप्रतिपादकम्। ११। बहुरूपा शक्तिस्तत्प्रतिपादकतन्त्राणां गणो बहुरूपाष्टकम्। यथा, ब्राह्मीतन्त्रम्। १२। माहेश्वरीतन्त्रम्। १३। कौमारीतन्त्रम्। १४। वैष्णवीतन्त्रम्। १५। वाराहीतन्त्रम्। १६। इन्द्राणीतन्त्रम्। १७। चामुण्डातन्त्रम्। १८। शिवदूतीतन्त्रं चेति। १९। यामला नाम सिद्धाऽम्बा तत्प्रतिपादकानि तन्त्राणि रुद्रयामलादीन्यष्टौ। शाक्ततन्त्रतया चतुःषष्टितन्त्राणामपि यामलतया व्यवहारः। २०–२७। चन्द्रज्ञानतन्त्रम्। कामेश्वर्यादिषोडशनित्याप्रतिपादकम्। तिथिनामधेयं नित्येति कापालिकमतदर्शकं च। २८। मालिनीतन्त्रम्। समुद्रयानोपायप्रतिपादकम्। २९। महासंमोहनम्। जाग्रतामपि निद्रितोपायप्रतिपादकम्। ३०। वामजुष्टं वामकेश्वरतन्त्रम्। चतुःशतीत्यपि कथ्यते। ३१। महादेवतन्त्रम्। वटुकादिसिद्धिकुलाचारमद-

धृत्वा तथोपासत इति निर्णयः। तत्र वैदिकानां लक्षणमाह कर्मासक्ता इति। लोक-संग्रहार्थं पूर्वोक्तानां सन्माननार्थं च तत्सेवकास्तथा भवन्ति। एतन्निरूपणस्य प्रयोजन-माह सम्प्रापि सर्वथा त्याज्या इति। महापातकिसंसर्गेऽपि महापातकित्वश्रवणात्। एवं निषिद्धान् शाक्तान्निरूप्य बौद्धान्निरूपयति बौद्धाश्चतुर्विधा इति। माध्य-मिकाः, सौत्रान्तिकाः, विज्ञानवादिनः, चार्वाकाश्चेति। तेषामवान्तरभेदाः कोटिशः सन्ति ॥ २८१ ॥ २८२ ॥

टिप्पणी।

महापातकिसंसर्गेऽपीति। अत एव ब्रह्माण्डपुराणे, "शैवान्पाशुपतान्स्पृष्ट्वा लोकायतिकना-स्तिकान्। विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलमाविशेत्।" अनेन तेषां स्पर्शे सचैलं स्नान-मुक्तम् ॥ २८२ ॥

आवरणभङ्गः।

र्शकम्। ३२। वातुलम्। ३३। वातुलोत्तरम्। ३४। कामिकं चेति। त्रीण्येतानि तन्त्राणि क्षेत्रकर्षणादिविधिप्रतिपादकानि। ३५। हृद्भेदतन्त्रम्। कापालिकाचारप्रदर्शकम्। ३६। तन्त्रभे-दगुह्यतन्त्रयोः प्रकाशं रहस्यं वा परकृतमन्त्रतन्त्रप्रयोगाणां परावृत्त्युपायाः प्रदर्शिताः। ३७। ३८। कलावादं कामशास्त्रं वात्स्यायनादिमतम्। ३९। कलासारं रूपादिवृद्ध्युपायप्रतिपादकम्। ४०। कुण्डिकामतम्। गुटिकासिद्धिप्रदर्शकम्। गुटिका पानपात्रम्। ४१। मतोत्तरतन्त्रम्। रससिद्धि-प्रकाशकम्। ४२। वीणातन्त्रम्। वीणा नाम योगिनी। संभोगयक्षिणीत्यस्या नामान्तरम्। तस्याः साधनोपायप्रदर्शकम्। ४३। त्रोतलतन्त्रं, गुटिकाऽञ्जनपादुकासिद्धिः। ४४। त्रोतलोत्तरतन्त्रं, चतुःषष्टिसहस्रयोगिनीनां दर्शनोपायः। ४५। पञ्चामृततन्त्रं, पृथिव्यादिपञ्चभूतानां साधनेन मर-णाभावप्रतिपादकं कापालिकतन्त्रम्। ४६। रूपभेदादिपञ्चतन्त्राण्युच्चाटनादिप्रतिपादकानि।४७–५१। सर्वज्ञानादितन्त्रपञ्चकं कापालिकसिद्धान्तैकदेशिदिगम्बरमताचारप्रदर्शकम्। ५६। पूर्वतन्त्रादिदेवी-मतपर्यन्तं तन्त्राष्टकं दिगम्बरैकदेशिक्षपणकमताचारप्रदर्शकम्। ६४। एवमेतानि त्यागार्थं ज्ञेयानि। प्रस्तुतमुच्यते। बौद्धान्निरूपयतीति। त्याज्यत्वायेति शेषः। माध्यमिका इति। शून्यवादप्र-स्थानाः। सौत्रान्तिका इति ज्ञानाकारानुमेयक्षणिकबाह्यार्थवादप्रस्थानाः। विज्ञानवादिन इति। क्षणिकविज्ञानवादप्रस्थानाः। त एव गोचरा इत्युच्यन्ते। प्रत्यक्षस्वलक्षणक्षणिकबाह्यार्थवादप्र-स्थाना वैभाषिकास्ते एवार्हताः स्याद्वादिनश्चोच्यन्ते। तेऽप्येष्वेवान्तर्भवन्ति। चार्वाका इति। देहात्मवादप्रस्थानाः। त एव लोकायतिकाः। देहातिरिक्तदेहपरिमाणात्मवादप्रस्थाना दिगम्बरास्ते चार्वाकस्यैकदेशिनः। एवं षड्बाह्यप्रस्थानानि प्रसिद्धत्वाल्लिखितानि ॥ २८१ ॥ २८२ ॥

तेषां मूलभूतानाह—

तेषां बृहस्पतिमुखाः कर्तारो हरिरद्य तु।
कृष्णसङ्गोपनार्थाय स्वयमेव जगाद ह॥ २८३॥
वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि।
ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः॥ २८४॥
सर्वेषां नरके वासस्तमोऽर्वाक्प्रतिपादके।
नरकात् पुनरावृत्तौ नानायोनिषु सम्भवः॥ २८५॥

तेषां बृहस्पतिमुखाः कर्तार इति। लोकायतं शास्त्रं बृहस्पतिना प्रणीतम्। तथान्येऽपि शुक्रमायाविमोहिताः। सांप्रतं हरिरेव बुद्धरूपेणावतीर्णो वेदनिन्दालक्षणं शास्त्रं कृतवान्। अतः सामान्येन पाषण्डमतमाह वेदमार्गविरोधेनेति। अलौकिक-वेषान् संपाद्य लोकव्यामोहनार्थं तिष्ठन्तीत्यर्थः। तेषां फलमाह सर्वेषां नरके वास इति। तत्रापि शास्त्रार्थत्वेन निरूप्य मार्गप्रवृत्तिकर्तॄणां तम एव। नरके गतानां पुनरा-वृत्तिः। तमसि प्रविष्टानां न। पुनरावृत्तौ च शूकरादियोनिषु सम्भवः॥ २८३–२८५॥

एवं निषिद्धानां दुःखं फलत्वेन निरूप्य, किं दुःखमित्याकाङ्क्षायामाह—

आनन्दस्य तिरोभावः सर्वथा दुःखमुच्यते।
तस्य स्थानं तु सर्वत्र यमलोको विशेषतः॥ २८६॥
शुद्धं तमो दुःखरूपं सहजासुरसंश्रयम्।
सर्वत्र नरकश्चैव तमश्चेति त्रिधा तु तत्॥ २८७॥

आनन्दस्य तिरोभाव इति। ईषत्तिरोभावे पदार्थान्तरत्वम्। तदग्रे वक्ष्यते। सर्वथा तिरोभावो दुःखम्, अनिर्वृतिरूपत्वात्। अन्यथा सच्चिदानन्दरूपातिरिक्तपदार्था-

---

आवरणभङ्गः।

एतेषां नामान्युक्त्वा तदप्रामाणिकत्वस्य तत्र लोकप्रवृत्तेश्चोपपादनायाहुः तेषामित्यादि कृतवानि-त्यन्तम्। तथा च मायामोहितकर्तृकत्वादप्रमाणाभासत्वम्। ऋषिप्रणीतत्वाल्लोकप्रवृत्तिश्चेत्यर्थः। अत इत्यादि। अतो मोहार्थं मोहितैश्च प्रणीतत्वात् सामान्येन प्रसिद्धानामप्रसिद्धानाञ्च लक्षणतौल्येन पाषण्डमतमाह, एवं प्रसिद्धाँस्त्याज्यत्वाय निरूप्याप्रसिद्धानपि त्याजयितुं पाषण्डिनां लक्षणबोधनाय तन्मतमाहेत्यर्थः वेदेत्यादि। तथा च विहिततया वेदविरुद्धकृतिमत्त्वं तदभिमतमिति तेन लक्षणेन ते बोध्याः। तत्र दुर्वेषास्तु त्यज्यन्त एव, परं ये ईदृशास्तेषां वेषं दृष्ट्वापि न भ्रमितव्यम्। तत्संसर्गेण विष्णुपुराणप्रसिद्धकृतिरातशतधन्वनोरिव स्वस्यापि तादृक्फलसंभवादिति भावः॥ २८३–२८५॥

किं दुःखमिति। स्वतन्त्रप्रमेयनिरूपणप्रस्तावे दुःखपदार्थस्यानिरूपितत्वात् किं दुःखमित्यर्थः। मूले, सर्वथापदस्य प्रयोजनं न स्फुटमिति तद्विवेक्तुमाहुः ईषदित्यादि। स्वरूपात्मकस्यानन्दस्येष-त्तिरोभावे पदार्थान्तरत्वमित्यर्थः। ननु तर्हि सर्वथा तिरोभावोऽपि पदार्थान्तरमस्त्वित्यत आहुः अन्यथेत्यादि। ननु प्रतिकूलबुद्धिवेद्यत्वस्य तल्लक्षणत्वात्तदतिरिक्तमेवास्त्वित्यत आहुः

भावात् किं दुःखं स्यात् । आत्मनः प्रतिकूलं भगवद्वैमुख्यमेव भवति । ईषत्तिरोभावो दुःखाभावः । सर्वथोद्भवः सुखमिति विवेकः । एवं दुःखसुखे निरूप्य तयोर्देशविशेषे नियतत्वमाह तस्य स्थानमिति । जगति भगवानीषत्तिरोहितस्तिष्ठति । अतः सर्वत्रं दुःखम् । यमलोके सर्वथा तिरोहितः प्राणिनामुपद्रवस्थानत्वात् । अतः सर्वात्मा परमदयालुस्तत्र सुतरां तिरोहितो भवति, शुद्धे तमसि तु दैत्यानां निवासात् सर्वथा तिरोभावः । एवं त्रैविध्यमुपपाद्यानुवदति सर्वत्रेति । सर्वत्र यद् दुःखं नरकश्च तमश्चेति दुःखत्रयम् ॥ २८६ ॥ २८७ ॥

सर्वत्र स्वर्गलोकश्च वासुदेवस्त्रिधा सुखम् ।
सुखधर्मस्तथेच्छा स्यात् किञ्चिदुद्गम एव सः ॥ २८८ ॥
सर्वथा ह्युद्गमः कामो धर्मिणस्तु सुखं स्मृतम् ।
द्वेषक्रोधस्तथा दुःखं पूर्ववद् दुःखधर्मतः ॥ २८९ ॥

सर्वत्र यत्सुखं स्वर्गलोकश्च ब्रह्मानन्दश्चेति सुखत्रयम् । तथा सुखेऽप्युपपादनम् ।

आवरणभङ्गः ।

आत्मन इत्यादि । तथा चैवमप्यानन्दतिरोभावान्न तदतिरिच्यत इत्यर्थः । एवं दुःखस्वरूपं निरूप्य, वक्ष्यत इति प्रतिज्ञां पूरयितुमीषत्तिरोभावादेः स्वरूपमाहुः ईषदित्यादि । अयमर्थः । सच्चिदानन्दा द्विविधाः—स्वरूपात्मका धर्मात्मकाश्च । एवं द्विविधा अप्याधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकभेदेन त्रिविधाः । तत्र स्वरूपात्मकाधिदैविकसच्चिदानन्दरूपो भगवान् पुरुषोत्तमः । आध्यात्मिकतद्रूपमक्षरं द्वितीयः । आधिभौतिकतद्रूपं क्षरं प्रथमः पुरुषः । धर्मात्मकाधिदैविकसच्चिदानन्दरूपो लीलापरिकरः । तादृशाध्यात्मिकसच्चिदानन्दरूपो वैकुण्ठादिपरिकरः । तादृशाधिभौतिकसदंशात्मकानि अष्टाविंशति तत्त्वानि । तादृशाधिभौतिकचिदंशभूतं तत्त्वनिष्ठं ज्ञानम् । तादृशाधिभौतिकानन्दरूपं तत्त्वनिष्ठं सुखम् । एवमेव यथायथं तत्तिरोभावो ज्ञेयः । एवं सति स्वरूपात्मकस्याधिदैविकाध्यात्मिकानन्दस्येषत्तिरोभावो दुःखाभावः । स एव मोक्ष इति लोकैरुच्यते । वैदिकसाधनस्य यज्ञादेतदेव फलम् । स्वरूपात्मकस्यानन्दस्यैव सर्वथोद्भवः सुखमित्यर्थः । एवं लोकेऽपि धर्मात्मकतत्त्वादिनिष्ठाधिभौतिकानन्दस्येषत्तिरोभावो लौकिकदुःखाभावः, सर्वथोद्गमो लौकिकसुखमित्यादि बोध्यम् । नन्वेवं सति व्यापको भगवान् सर्वत्रेति सर्वत्र सुखमेव स्यात् । तिरोभावे च दुःखमेव स्यान्न तु द्वन्द्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः एवमित्यादि । तस्य स्थानमिति । स्वरूपानन्दतिरोभावस्य स्थानमित्यर्थः । नन्वेवं सति तिरोभावस्य सुखस्य च परस्परविरोधात् कथं क्वचिदुभयस्थितिरित्याकाङ्क्षायामाहुः जगतीत्यादि । तथा च धर्मरूपसुखाकारेण प्रकटः स्वरूपसुखाकारेणाप्रकट इतीषत्तिरोहितस्तस्माज्जगति द्वन्द्वात्मकं दुःखम् । यमलोके तु धर्मरूपसुखाकारेणापीषदेव प्रकटो नारकीयनिर्वृतिरूपेण नरकेऽपीति तत्र दुःखबाहुल्यम् । शुद्धतमसि नैकेनापि रूपेणेति तत्र तथेत्यर्थः । इदं च छायातमोऽन्धतमसवज्ज्ञेयम् । तदेवाहुः एवं त्रैविध्येत्यादि ॥ २८६ ॥ २८७ ॥

नन्वेवं दुःखत्रैविध्यमस्तु सुखे तत्कथमित्यत आहुः तथा सुखेऽपीत्यादि । ईषदनुपद्रवात्यनुपद्रवसर्वथानुपद्रवैर्धर्मरूपसुखस्याविर्भावकाविर्भावसर्वथाऽऽविर्भावतः सुखेऽपि त्रैविध्यमित्यर्थः ।

इच्छादीनां स्वरूपमाह सुखधर्म इति । धर्म आकारः । तावन्मात्रप्रकटने इच्छात्वं, तत्रापि किञ्चित्प्राकट्ये इच्छात्वं, बहुप्राकट्ये कामत्वमिति । एवमेव द्वेषादयोऽपि तत्तद् दुःखस्य ॥ २८८ ॥ २८९ ॥

लोभोऽतिकिञ्चिदुद्भेदो धर्मयोः सुखदुःखयोः ।
मोहस्तु द्विविधः प्रोक्तो धर्मवत् सुखदुःखयोः ॥ २९० ॥
मदे सुखसमुद्भेदो मात्सर्येऽन्यस्य केवलः ।
अन्येषां सर्वधर्माणां तद्धर्मोद्गम एव च ॥ २९१ ॥

लोभस्तु सुखदुःखधर्मयोरुभयोरपि किञ्चिदुद्भेदः । मोहस्तु द्विपत्रवदेकमूलो द्विरूपो

टिप्पणी ।

लोभोऽतिकिञ्चिदिति मूले । सुखदुःखयोरत्यन्तमुद्भेदः किञ्चिदुद्भेदश्च लोभ इत्यर्थः । मोहस्त्विति । एकः स्नेहमूलको मोहः सुखसुखवद्विषयकः सुखरूपो दुःखदुःखवद्विषयको दुःखरूप इत्यर्थः । अन्येषामिति मूले । अन्येषां सच्चिदानन्दरूपाणां ये धर्मास्ते तत्तद्रूपा एवेत्यर्थः ॥२९०-२९१॥

आवरणभङ्गः ।

इच्छादीनामित्यादि । नन्वेवं सति जगति सर्वेषां सुखं दुःखं च तुल्यमेवास्तु, न तु प्रतिनियतो न्यूनाधिकभाव इत्याकाङ्क्षायां तत्समाधानाय सर्वत्र तयोस्तौल्यमेव तदीयाकाराणामेव परं हेतुवशान्न्यूनाधिकभाव इत्यादि वक्तुमिच्छादीनां स्वरूपमाहेत्यर्थः । धर्म आकार इत्यादि । तथा चैवमाकारप्राकट्ये इच्छाकामौ, तयोर्धर्मिणस्तु य उद्गमस्तत्तु सुखमित्यर्थः । एवञ्च विषयाशंसारूपेणेषदभिव्यक्तः सुखाकार इच्छा । स एवाधिकोद्गतः कामः । आशास्यविषयानुभवेऽनुकूलतयाभिव्यक्तो मानस आनन्दः सुखमिति सिद्ध्यति । एते त्रयोऽप्यनुकूलबुद्धिवेद्याः । एवं सुखस्य तद्धर्माणां च स्वरूपमुक्त्वा दुःखस्य तद्धर्माणां च वदन्तोऽतिदिशन्ति एवमित्यादि । तद् दुःखस्येति । दुःखस्य तद्धर्माणां च तत्–उद्गमनमेव द्वेषादय इत्यर्थः । एवञ्च विषयानाशंसारूपेणेषदभिव्यक्तो दुःखाकारो द्वेषः । स एवाधिकोद्गतः क्रोधः । अनाशंस्यविषयानुभवे प्रतिकूलतयाऽभिव्यक्तो मानससुखतिरोभावो दुःखम् ॥ २८८ ॥ २८९ ॥

एते त्रयोऽपि प्रतिकूलबुद्धिवेद्याः । लोभस्वरूपमाहुः लोभस्त्वित्यादि । तथा च विषयात्यन्ताभिलाषरूपेणाभिव्यक्तस्य सुखाकारस्य परसा अनाशंसारूपेणेषदभिव्यक्तदुःखाकारस्य चैक्यं सः । कामद्वेषयोरेकीभाव इति यावत् । अयं च मेऽस्त्वन्यस्य माऽस्त्वित्याकारादुभयविशिष्टबुद्धिवेद्यः । मोहस्वरूपमाहुः मोहस्त्वित्यादि । यथा कश्चिद्वृक्षविशेष एकस्मादेव मूलात् पत्रद्वयमन्योन्याकारमुत्पद्यते तद्वदेकस्माद्रागादुत्पद्यमानो द्विरूपः कश्चिद् धर्मयुक्तसुखस्येषदुद्भेदरूपः । यथा पुत्रवात्सल्यादौ । स च साशंसतयाऽनुकूलबुद्धिवेद्यः । अपरस्तु धर्मयुक्तदुःखस्येषदुद्भेदरूपः । यथा

धर्मयुक्तः सुखदुःखयोः किञ्चिदुद्भेदरूपः। मदमात्सर्ययोः स्पष्टम्। अधर्माभासे धर्माभासे च तानि फलानीत्येतदर्थं निरूपितानि ॥ २९० ॥ २९१ ॥

कदा भवन्तीत्याकाङ्क्षायामाह—

विपाकः कर्मणां येषां प्राग्देहविनिपाततः।
प्राप्तस्तानीह भुज्यन्ते ततोऽन्यानि भवान्तरे ॥ २९२ ॥

विपाकः कर्मणामिति। अल्पफलानि बहुकाले पक्वानि भवन्ति। उपचितावयवत्वमेव पाकः। ऊष्माधिक्यात्। एवं कर्मणामपि विपाको ज्ञेयः।

आवरणभङ्गः।

पुत्रक्लेशादौ। स त्वनाशास्यतया प्रतिकूलबुद्धिवेद्यः। अन्ययोराहुः मदमात्सर्ययोः स्पष्टमिति। चेतःप्रसादो हर्षः। हर्षोत्कर्षो मदः। परोत्कर्षासहनं मात्सर्यम्। एतयोर्यथायथमनुकूलप्रतिकूलबुद्धिवेद्यत्वात् सुखदुःखरूपत्वं स्फुटमित्यर्थः। एवं केषाञ्चित् स्वरूपं निरूप्यानुक्तानां संग्रहार्थं मूल आहुः अन्येषामित्यादि। अन्येषां रागभयह्रीप्रभृतीनां सर्वमनोधर्माणां यथासंभवं सुखदुःखोद्गम एव स्वरूपं ज्ञेयमित्यर्थः। तथा च सूक्ष्मा सुखपूर्वावस्था रागः। तादृशी दुःखावस्था भयम्। तथा अकर्मजुगुप्सा दुःखधर्मस्यातिसूक्ष्मोद्भेदरूपा ह्रीरित्येवं ज्ञेयम्। उत्साहस्तु निश्चयविशेषः। धृतिस्तु जिह्वोपस्थजयः। विषयाभिलाषोपमर्दिका मानसी क्रिया विपरीता अधृतिः। यत्नोऽपि यदाकदाचिच्चेष्टानुकूलमानसक्रियैवेति तु प्रसङ्गादुक्तम्। एवमन्यदप्यूह्यम्। एवमेतेषां स्वरूपमुक्त्वा एतदुद्गमे हेतू आहुः अधर्माभासेत्यादि। तथा च सुखदुःखयोः प्रतिनियतन्यूनाधिकभावो धर्माधर्मतत्तदाभासैः कृत इत्यर्थः। यद्यपि ज्योतिःशास्त्रे, "परिणमति फलोक्तिः स्वप्नचिन्तास्ववीर्यैरि"ति निर्बलसबलग्रहैः सुखादिकमुक्तं, तथापि तेषां सूचकत्वादिव्यवस्थापनाद्भिक्षुगीतायां ग्रहनिमित्ततादूषणाच्च पूर्वोक्त एव निश्चय इति ज्ञेयम् ॥ २९० ॥ २९१ ॥

ननु यदि धर्माधर्माभ्यामेव सुखदुःखादयस्तर्हि तदव्यवहितोत्तरमेव ते स्यातां, न तु विलम्ब्य। कर्मणस्त्रिक्षणावस्थायित्वेन विरम्य व्यापारस्याशक्यवचनत्वात्। अथाऽपूर्वेणान्यदा तद् भवतीत्युच्यते, कस्तर्हि तदुद्बोधसमयो यदैते भवन्तीति हृदि कृत्वाऽऽहुः कदेत्यादि। ननु कर्मणां तौल्यात् कथं केषाञ्चिदत्र विपाकोऽन्येषां जन्मान्तर इत्याकाङ्क्षायां तेषां तारतम्यं स्फुटीकुर्वन्ति अल्पफलेत्यादि। तथा च महाफलान्यत्र पच्यन्त इत्यस्मिन्नेव तत्फलं भुज्यते, शेषाणि परत्रेत्येवं ज्ञेयम्। "अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुत" इत्यादिवाक्येभ्य इत्यर्थः। एवं कर्मणां स्वभावो बोधितः, कोऽत्र पाक इत्यतो विवक्षितपाकपदार्थं विवृण्वन्ति उपचितेत्यादि। ऊष्माधिक्येन सजातीयसंवलन उपचितावयवत्वमेव पाकः। रूपरसादिविपर्यासरूपं कार्यं च फलादौ तद्गमकम्। एवं पाकपदार्थं निश्चित्यातिदिशन्ति एवमित्यादि। त्रिक्षणावस्थायित्वपक्षेऽप्यपूर्वसमुदायस्तादृशस्थले वाच्य एव। अन्यथा परमापूर्वस्यैवासिद्धेः। किञ्चैवं जातेऽपि परमापूर्वे तदानीं फलाभावात् कालादेर्दृष्टसामग्र्याश्च सहकारिताऽपि वाच्या। तदैव फलसिद्धेः स एव पाकपदार्थः। अस्माकं तु कर्मस्वरूपस्य भगवतः सार्वदिकत्वाचेन पुंसा विहितेन स्वकर्मणाऽन्यदीयेन वा कर्मणा यादृशोऽभिव्यञ्जयितुमारब्धस्तं

इदानीमविपक्वानि कालान्तरे पक्वानि भवन्ति। स्वरूपनाशस्तु प्रायश्चित्तादिनापि भवति। कर्मक्षयस्तु भोगेनैव॥ २९२॥

अत्र भोक्तारं निरूपयति—

एते सर्वे विशेषेण जीवसंनिधिमात्रतः।
स्फुरन्त्यन्यस्याभिमानाज्जीवो दुःखी निगद्यते॥ २९३॥
अग्रपश्चाद्भावतश्च कर्मणा स्फुरितो हरिः।
अग्रोद्गमानुद्गमनैः सुखदुःखे तनोति हि॥ २९४॥

एते सर्वे इति। अन्तःकरणधर्मा एवैते जीवसांनिध्यात् स्फुरिताः। स्वाश्रयाविवेकिनम्। अन्तःकरणाविवेकेन प्रवर्तमानं मिलिताः। स्वव्यपदेशं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। तदा जीवः सुखी दुःखीति वा लोके व्यवहारो भवति। नन्वेते आत्मधर्माः कुतो न

टिप्पणी।

क्रमक्षय इति। क्रमेण क्षय इत्यर्थः॥ २९२॥

स्वाश्रयाविवेकिनमिति। सुखाद्याश्रयविवेकरहितं तेनैव सुखार्थं दुःखाभावार्थं वा प्रवर्तमानं जीवं संयुक्तं समवायेनान्तःकरणाध्यासेन वा मिलिताः सुखादयः स्वव्यपदेशं स्वसम्बन्धिशब्दप्रयोगं प्राप्नुवन्ति। न तु तं विहाय स्वविशिष्टबुद्धिं तस्मिन् जनयन्तीत्यर्थः॥

आवरणभङ्गः।

प्रति तादृशैः कर्मान्तरैः स पूर्णो यदाभिव्यक्तो भवति तदा पूर्णतया भोगयोग्यो भवति। तथा सति तदवयवभूतानां कर्मणां यदुपचितावयवत्वं कराङ्गुल्यादीनां स्थूलतेवाऽधिकाभिव्यक्त्या पोषः। स एव विपाकपदार्थो ज्ञेय इत्यर्थः। तेन सिद्धमाहुः इदानीमित्यादि। तथा च यानि सूक्ष्माण्यभिव्यक्तानि तानि पोषापेक्षीणि तदानीमविपक्वानि कालान्तर उक्तरीत्या पुष्टानि फलन्तीति तारतम्याददस्त्ययं कालभेद इत्यर्थः। ननु यद्येवं कर्मणामवश्यफलत्वं तदा प्रायश्चित्तादिशास्त्रवैयर्थ्यापात इत्यत आहुः स्वरूपनाश इत्यादि। आदिपदेन कीर्तनादेः संग्रहः। "धर्मः क्षरति कीर्तनादि"ति। स्वरूपनाशः फलाऽनुकूलाकारनाशः। कर्मक्षयस्तु तत्स्वरूपतिरोभावः। भोगेनेत्युपलक्षणम्। तथा च, "कर्मणां कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते। अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्। केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः। अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः"। "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथे"त्यादिषष्ठस्कन्धगीतादिवाक्यैरेतदन्यतमेन कर्मक्षय इत्यर्थः॥ २९२॥

अत्र भोक्तारमित्यादि। एवं कर्मणां फलं तद्भोगावसरादिकं चोक्त्वा भोगः कस्येत्याकाङ्क्षां पूरयितुं सुखादिधर्मिणं च निर्धारयितुं तत्फलभोक्तारं निरूपयतीत्यर्थः। मिलिताः स्वव्यपदेशं प्राप्नुवन्तीत्यर्थ इति। स्वपदमात्मीयार्थकम्। तथा च उक्तविधं संसारिणं जीवं प्राप्ताः सन्तः स्वयं जीवधर्मत्वव्यपदेशं दधतीति यावत्। अत्र वैशेषिकमतेन द्विधा शङ्कन्ते नन्वित्यादि। समा-

1 कर्मक्षय इत्यत्र टिप्पणीकारैः क्रमक्षय इति पाठमादृत्य व्याख्यातम्।

भवन्ति। अन्तःकरणधर्मत्वे वा किं प्रमाणम्। तत्राह—अग्रपश्चाद्भावत इति। कर्मस्वरूपो भगवानन्तःकरण एव प्रकटो भवति, नात्मनि। अतः सुखदुःखादयोऽन्तःकरणस्यैव धर्मा इत्युच्यते। स च कर्मात्मा विधिनिषेधप्रकारेण स्फुरितः पूर्वोक्तन्यायेन सुखदुःखे तनोति॥ २९३॥ २९४॥

एवं फलं निरूप्य साधनं निरूपयितुं भगवत्प्राप्तौ किं साधनमित्याकाङ्क्षायां ज्ञानं

टिप्पणी।

अग्रपश्चाद्भावत इत्यारभ्य तनोतीत्यन्ते। "परार्ध्याग्रप्राग्रहरे"ति कोशादग्रशब्दस्य श्रेष्ठवाचकत्वादग्रभावतो धर्मरूपेण पश्चाद्भावतः पापरूपेण विधिनिषेधप्रकाराभ्यामन्तःकरण एव स्फुरितः कर्मस्वरूपो भगवान्मनस्येव सुखदुःखे तनोति, यतो मनसि मे हर्षो मनो मे दुःखितमित्याद्यनुभवात्पुराणप्रामाण्याच्च। सुखादीनां मनोधर्मत्वे सिद्धे जातेष्टिन्यायेन धर्माधर्मयोरपि फलसमानाधिकरणत्वं कल्प्यत इति भावः। मूले बहुवचनं धर्माधर्मयोरीषदादिभेदेन प्राकट्येऽनेकविधत्वज्ञापनार्थम्॥ २९४॥

आवरणभङ्गः।

दधते अग्रेत्यादि। उभयत्रोपपत्तिमाहुः कर्मेत्यादि। अयमर्थः। कर्मणः कार्यं जन्मेति स्वभावस्य कार्यं परिणाम इति द्वितीयस्कन्धे स्थितम्। तथा च कर्म यत्रैव प्रकटीभवति तत्रैव जनयति तत्रान्तःकरणे प्रकटः सुखादिकं जनयति, तदा स्वभावेनान्तःकरणं परिणमते तस्मात्तथोच्यते। अत एककर्मफलभोगे लिङ्गापेक्षा। आत्मधर्मत्वे अशरीरस्यापि प्रियाप्रिये स्पृशेताम्। ततश्च, "अशरीरं वा व सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत" इति श्रुतिर्विरुध्येत। अतो मनोमात्रात्मकलिङ्गशरीरान्वयव्यतिरेकानुविधानादन्तःकरणस्यैवेते धर्मा इत्यर्थः। नन्वन्तःकरणे प्रकटश्चेत् स्यात्तर्ह्यनुभूयेतेति चेत् तत्राहुः स चेत्यादि। तथा चैवंस्फुरणरूप एव तस्य प्रकटीभावो, न तु विशेषाकारेण वृत्तिगोचरः स इत्यर्थः। न च, "कर्मणां परिणामित्वादाविरञ्चादमङ्गलमि"ति भगवतापि दुःखस्वरूपः कर्मणां परिणाम उक्त इति तद्विरोधः शङ्क्यः। कर्मणां पूर्वोक्तरीतिकविपाकात्मपरिणामशालित्वाद्विरञ्चिपर्यन्तममङ्गलं दुःखमन्तःकरणे भवतीत्यर्थात्। अत एव द्वितीये, "यच्चित्ततोदः कृपयाऽनिदंविदामि"ति चित्ततो दुःखमुक्तम्॥ २९३—२९४॥

इति फलप्रकरणम्।

एवं फलप्रकरणे ज्ञानसमुच्चितात् कर्मणो मोक्षः फलं, योगसांख्यभक्तीनां मेलनेऽपि मोक्षः। केवलयोगसांख्ययोरविद्यानिवृत्तिधर्महीनयोस्तयोरन्येषां च नरकः फलम्। भ्रान्तप्रतिपन्ने धूमादिमार्गे धर्मरूपं भौतिकं सुखं तत्तिरोभावरूपं दुःखं च द्विविधकर्मणां फलम्। तथैवोपासनायां सुखं प्रकीर्णकानां प्रवाहप्रवेशो भगवदीययोगसांख्यकर्मार्पणानां कालविलम्बेन भक्तिः, कापालिकयोगविपाके मोक्षोऽन्यथा नरकादि, नानाविधशाक्तादीनां नरक इत्येवं सर्वेषां फलनिरूपणेन वैदिकमुख्यमार्गभगवदुक्तभक्तिमार्गातिरिक्तानां जघन्यता फलतः प्रतिपादिता। अतःपरं ज्ञानभक्त्योर्मध्य एकतरस्याधिक्यं वा द्वयोः साम्यं वेति विचारणीयम्। तथा, "पश्चाद्वक्ष्ये तयोर्गतिमि"ति

साधनमिति लोकप्रसिद्ध्या प्राप्तं ज्ञानं वेदविचारेण, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती"ति दुःखाऽतिक्रममेव फलत्वेन मन्यते । परमानन्दानुभवस्तु भक्त्यैवेत्यग्रे वक्ष्यते । एतदेव साधनद्वयं तारतम्येन यथा फलं निरूपयति तथोच्यते । तत्र ज्ञानं दुःखं दूरीकरोति निश्चितम् । तदाऽऽपातत एव दूरीकरोति, मूलतस्तु भक्तिरेवैतदपि करोति । "अनर्थोपशमं साक्षादि"ति वाक्यात् । अतो ज्ञाने परम्परया दुःखदूरीकरणं वक्तव्यम् ।

आवरणभङ्गः ।

प्रतिज्ञातत्वात् पूर्वमीमांसानिर्णयो, "वर्णाश्रमवतां धर्म" इत्यादिना कृत इत्युत्तरमीमांसानिर्णयः शिष्टत्वात् करणीयः । तथा, "ज्ञानेऽपि सात्त्विकी मुक्तिरि"ति, "तत्त्वमस्यादिवाक्यसे"त्यारभ्य, "भजनं सर्वथा मतमि"त्यन्तं पूर्वप्रकरणोक्तं च विमर्पणीयमिति पूर्वोक्ते प्रमाणादिप्रकरणत्रये सर्वेषां प्रमेयाणां बलमपि विचारितमतः परं सर्वनिर्णयोऽवसरतः प्राप्त इति तदर्थं साधनप्रकरणमारभन्ते **एवं फलं निरूप्येत्यादि** । फलान्तरस्य जघन्यताप्रतिपादनद्वारा भगवत्प्राप्तिरूपं फलं मुख्यत्वेन प्रतिपाद्य तत्र साधनं भक्तिरूपं निश्चाययितुं भगवत्प्राप्तौ किं साधनं, "योगास्त्रयो मये"ति भगवद्वाक्योक्तेषु सभेदेषु त्रिषु लोकप्राप्तेष्वन्येषु च साधनेषु किं मुख्यसाधनमित्याकाङ्क्षायां, "ज्ञानादेव हि कैवल्यमि"ति श्रुत्या ज्ञानं साधनमिति हेतोर्लोकप्रसिद्ध्या प्राप्तं ज्ञानं, षोडशपदार्थतत्त्वज्ञानान्मोक्षः, द्रव्यादिषट्पदार्थसाधर्म्यवैधर्म्यज्ञानान्मोक्षः, प्रकृतिप्राकृतविविक्ताऽऽत्मज्ञानान्मोक्षः, ब्रह्मत्वेनात्मज्ञानान्मोक्षः, ब्रह्मज्ञानान्मोक्ष इत्यादिरूपेण तेषु तेषु तन्त्रेषु प्रस्थानेषु च प्राप्तं ज्ञानं वेदविचारेण वेदे आत्मज्ञानाद् ब्रह्मज्ञानाच्च मोक्षस्योक्तत्वान्मतान्तरनिरासपूर्वकतद्विचारेण, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती"ति श्रुतावतिक्रान्तो मृत्युम् अतिमृत्युरिति यौगिकातिमृत्युपदेन दुःखातिक्रमस्यैवोक्तत्वादिदं वाक्योक्तं ज्ञानं दुःखातिक्रममेव फलत्वेन मन्यते । षड्बुद्धयः षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः सुखं दुःखं शरीरं चेत्येकविंशतिदुःखध्वंसस्य, अशेषविशेषगुणोच्छित्तेः, आधिदैविकादित्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तेः शोकतरणस्य च तेषु तेषु तन्त्रेषु प्रस्थानेषु च प्रतिपादनाद् दुःखात्यन्ताभावमेव विषयीकरोति । न च नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मोक्षः । अविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशाखण्डानन्दस्वरूपस्यात्मनः स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः । अखण्डानन्दरूपे परमात्मनि जीवात्मनां लयो मोक्ष इत्यपि बहुभिराद्रियते । स चानन्दानुभवो ज्ञानेनैव भवतीति कथं दुःखाभाव एव फलमिति वाच्यम् । यतः परमानन्दानुभवो भक्त्यैवेत्यग्रे वक्ष्यते, एवं चैकं दुःखाभावसाधकमेकं परमानन्दानुभवसाधकमुतोभयमुभयसाधकमित्यादिविचारे यथा एतस्यैव साधनद्वयस्य यथा फलनिरूपकत्वं तथोच्यत इत्यर्थः । **निश्चितमिति** । ज्ञाने सति दुःखाभावानुभवस्यानुभवसाक्षिकत्वान्निश्चितम् । तत्रापि विशेषः, **तदापातत इत्यादि** । दूरीकरणं आपाततोऽनुभवः विषयत्वनिवृत्तिः । इति वाक्यात्= साक्षात्पदघटितादस्माद्वाक्यात् । **अत इति** । ज्ञानवाक्यं साक्षात्पदाभावेन ततो दुःखात्यन्ताभावस्य

तद्यथा प्रनाड्या भवति तामाह—

ज्ञाने यर्हि मनोराज्यं शोकस्तेनापि नो भवेत् ।
त्रिविधं दुःखमेतद्धि भवत्येव न संशयः ॥ २९५ ॥

ज्ञाने यर्हीति । ज्ञानस्वरूपं शब्दाच्छ्रुतं मनसा मनोराज्यवद्यदा भावयति । तदापि शोको निवर्तते । अतो यादृशेनापि तादृशेन ज्ञानेन लोके जायमाना अन्तःकरणक्लेशा निवर्तन्ते, व्याध्यादिकस्तु न निवर्तते । तथा नरकदुःखम् । सहजासुराणां तमोदुःखं च । तदाह त्रिविधमिति ॥ २९५ ॥

तस्यापि निवृत्त्युपायमाह—

सर्वाध्यासनिवृत्तौ हि सर्वथा न भवेद्व्यथा ।
सा च विद्योदये सा च न शब्दात् सुविचारितात् ॥ २९६ ॥

सर्वाध्यासनिवृत्तौ हीति । व्यथा पीडा । सर्वाध्यासनिवर्तकं तु ज्ञानं नेदानीन्तनानां, नेदानीन्तनशास्त्रानुसारेणेति निरूपयति सा चेति । अविद्यानिवृत्तिर्विद्योदये, विद्या च शब्दान्न जायते । सङ्घातस्थितो ह्यात्मा सदानुभूयते । श्रुतिः पुनः सङ्घातव्यतिरिक्ततां बोधयन्ती अननुभूतब्रह्मात्मभावं वा बोधयन्ती पूर्वज्ञानेन बाधिता

टिप्पणी ।

अननुभूतब्रह्मात्मभावमिति । अननुभूतस्य ब्रह्मण आत्माभेदमित्यर्थः ।—

आवरणभङ्गः ।

साक्षाद्वक्तुमशक्यत्वात् । तामाहेति । "ज्ञाने यर्ही"त्यादिसार्धैकादशभिस्तामुपपाद्याहेत्यर्थः । ज्ञानस्वरूपमित्यादि । अयमर्थः । दुःखध्वंसं प्रति या ज्ञानस्य कारणता सा केन रूपेणेति विचारणीयम् । न तावज्ज्ञानत्वेन रूपेण । शोकज्ञानेनापि शोकनिवृत्त्यापत्तेः । नापि यथाकथञ्चिच्छास्त्रसिद्धेन रूपेण । नैयायिकादिशास्त्रज्ञानेन दुःखध्वंसे उदाहरणाभावात् । किन्तु श्रुतिस्मृतिसिद्धेन श्रुत्यविरुद्धशास्त्रसिद्धेन वा रूपेण वाच्या सद्भिः । तदपि रूपमनाहार्यतायामेव फलसाधकम्, आहार्यतायां तु न तथा । किन्तु यत्किञ्चिदेव शोको निवर्तत इति । ननु, "तरति शोकमात्मविदि"ति श्रुतौ शोकनिवृत्तेरेव फलत्वेन श्रावणात्तावतैव सिद्धिरिति चेत् तत्राहुः अत इत्यादि । अत इति भावनात् । तथा च संसारानित्यत्वस्य दुःखादेरदृष्टाधीनत्वस्य तत्तदवश्यम्भावित्वादेश्च भावनया शोकनिवृत्तः पुनर्भवनस्य च दर्शनान्न तेन यावच्छोकतरणमतः सर्वदुःखानिवृत्तेराहार्यं तदप्रयोजकमेव, किन्त्वनाहार्यमेव तद् यावद् दुःखध्वंसायाऽपेक्षितमित्यर्थः । व्याध्यादीत्यादि । अत एव । "रयिकस्य पामा, सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाण" इति श्रुतेः । एवमन्यदपि ज्ञेयम् । तदेतदाहेत्यर्थः ॥ २९५ ॥

सर्वाध्यासनिवर्तकमित्यादि । तर्हि तादृशज्ञानार्थं यतनीयमित्याकाङ्क्षायामुक्तरीत्या तदसिद्धिं निरूपयतीत्यर्थः । शब्दात् कुतो न जायत इत्याकाङ्क्षायां तत्र शब्दस्य केवलस्य सहकारि-

दुर्बला भवति । अतो वैराग्यादिसाधनैः सहिता मनननिदिध्यासनाभ्यां युक्ता अभ्यासेन बलिष्ठा मनसि ब्रह्माहमस्मीति वृत्तिमुत्पादयति । तदाऽनुभवपरम्परया पूर्वानुभवो बाध्यते । तत्र शब्दस्य सहकारित्वं, मनसस्तादृशस्य करणत्वम् । ये तु पुनः शब्दस्य करणत्वमाहुस्ते भ्रान्ता एव । न ह्यात्मविषयकेषु ज्ञानेषु मनोऽतिरिक्तं करणं भवति । बहिरिन्द्रियाणां ग्राहकाणां बहिर्विषय एव सामर्थ्यात् । अत आत्मनो धर्मो ब्रह्मत्वलक्षणो, न बाह्यः । दशमत्वादिवत् । स च देहधर्मो देहेष्वेवापेक्षाबुद्ध्या जन्यते । अतो दशमोऽहमिति देहरूपमात्मानं शब्दाज्ज्ञानतोऽपि न ब्रह्मरूपानुभवस्तदेति सिद्धान्तः । किञ्च दशमोऽहमिति चाक्षुषज्ञानं शब्दे युष्मच्छब्दप्रयोगात् । न हि शब्दः पदस्मारितपदार्थोल्लङ्घनेन वाक्यार्थं जनयति । अतो युष्मच्छब्देनास्मच्छब्दज्ञानं जनयिष्यति ।

टिप्पणी ।

न बाह्य इति । दशमत्वादिसङ्ख्यावन्नबहिरिन्द्रियग्राह्य इत्यर्थः । स चेत्यारभ्य सिद्धान्त इत्यन्ते । अथाग्रेस्त्विति शेषः । दशमत्वादिधर्मो देहविषयिण्या नानैकत्वावगाहिन्या बुद्ध्या जन्यते परात्मनोऽप्रत्यक्षत्वादिति दशमत्वसाक्षात्कारवन्न ब्रह्माभेदसाक्षात्कार इत्यर्थः । शब्द इति । दशमस्त्वमसीति वाक्य इत्यर्थः । अत इति । यतः पदस्मारितार्थान्वितं स्वार्थं शब्दो बोधयति,

आवरणभङ्गः ।

संपन्नस्य चाकरणत्वं व्युत्पादयन्ति सङ्घातेत्यादि । दुर्बला भवतीति । तथा च केवलः शब्दो न कारणमित्यर्थः । तर्हि सहकारिसंपन्नः सुविचारितः कारणमस्त्विति चेत्तत्राहुः । अत इत्यादि । तादृशस्येति । शब्दसहकृतस्य वैराग्यादिसंपन्नस्य । अत उभयथापि शब्दस्य न ब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वमित्यर्थः । ननु दशमस्त्वमसीत्यादिलौकिकवाक्यदृष्टान्तेन शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वं सिद्धान्तमुक्तावल्यां पञ्चदशप्रकरण्यां च विद्यारण्यादिभिर्व्युत्पादितमस्तीति कथमकरणत्वमुच्यत इति चेत्तत्राहुः ये तु पुनरित्यादि । कथं भ्रान्ता इत्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तवैषम्येण तेषां तथात्वं व्युत्पादयन्तस्तदुक्तमभ्युपगम्य दूषयन्ति न हीत्यादि । दशमत्वादिवदिति । वैधर्म्ये दृष्टान्तः, ब्रह्मरूपानुभव इति । ब्रह्माकारकवृत्तिरूपोऽनुभवो यस्य तादृशो न । अयमर्थः । दशमस्त्वमसीति वाक्यदृष्टान्तेन यः शब्दाद् ब्रह्मत्वेनात्मसाक्षात्कार आपाद्यते स न संभवति । दशमत्वस्य बाह्यत्वेन शब्दतो घटादीनामिव तद्विषयज्ञानस्यापि संभवदुक्तिकत्वात् । ब्रह्मत्वस्य त्वान्तरत्वेन तद्ग्रहणे मनोऽतिरिक्तानां निकटवर्तिनामिन्द्रियाणामप्यसामर्थ्यमिति बहिरिन्द्रियग्राह्यस्य शब्दस्य कुतस्तरां सामर्थ्यं स्यादिति तस्य सुदूरनिरस्तत्वात् । अथात्मनिष्ठमान्तरमेव दशमत्वं शब्दाद्भासत इत्युपेयते, तदाप्यसंगतमेव । दशमत्वस्यापेक्षाबुद्धिजन्यत्वात्तस्यां संख्याघटकानां सजातीयानामात्मनां वाच्यस्य विषयीभावस्यैव ग्राहकाभावेन दौर्घट्यात् । परात्मनां परेणाग्रहणात् । अतो नवत्वादिवद्दशमत्वमपि तया जनितं बाह्यमेव सेत्स्यतीति तस्यान्तरत्वासिद्धेः । कृशोऽहमितिवद्दशमोऽहमिति प्रत्यभिज्ञयापि देहस्यैव वेद्यत्वाच्च । अत एवमुपगमेऽपि दृष्टान्तवैषम्यान्नाभीष्टसिद्धिः । तदेतदुक्तम्, इति सिद्धान्त इति । अथानभ्युपगम्य दूषयन्ति किञ्चेत्यादि । असच्छब्दज्ञानमिति । अस्

तथा जायमानं चक्षुषा मनसा वा जायते इत्यङ्गीकर्तव्यमित्याह न शब्दात् सुवि-चारितादिति ॥ २९६ ॥

दूषणान्तराण्याह—

मर्यादाभङ्ग एव स्यात् प्रमाणानां तथा सति ।
गजानुमानं नैवं स्यात् साङ्कर्यं वा तथा भवेत् ॥ २९७ ॥

मर्यादाभङ्ग एव स्यादिति । ज्ञानं तु प्रमाणाधीनं, न प्रमेयाधीनम् । मानाधीना मेयसिद्धिरिति । अन्यथा लोके मर्यादाभङ्गः स्यात् । तं घटमानयेत्यत्र वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यक्षं स्यात् । चीत्कारेण गजानुमानं च न स्यात् । प्रत्यक्षत्वं जातिः, परोक्षत्वं च ज्ञानम् । तयोरप्यनुभवात् । अतः साङ्कर्यं च भवेत् ॥ २९७ ॥

टिप्पणी ।

न प्रकारान्तरोपस्थितार्थान्वितम्, अतो दशमस्त्वमसीति वाक्यं युष्मच्छब्देनास्मच्छब्दार्थज्ञानं जनयिष्यति किं, न जनयिष्यत्येव । तर्हि कथं जायते तत्राहुः तथेति । शाब्दज्ञानसहकृतेन चक्षुषा मनसा वा जायत इत्यर्थः । ननु दृष्टानुसारिणी कल्पनेत्युक्तस्थले शब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्ष-जनकत्वमेवास्तु प्रत्यक्षसहकारेण वा को दोषस्तत्राहुः ॥ २९६ ॥

प्रत्यक्षत्वमित्यारभ्य भवेदित्यन्तम् । प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोर्योग्यव्यक्तिवृत्तिजातित्वेन योग्यत्वा-च्छब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्षजनकत्वे तत्र साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षसहकारेणेति चेत्कार्यतावच्छेदजात्योः सत्त्वात्साक्षात्करोम्यनुमिनोमीत्याद्यनुव्यवसायप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ २९७ ॥

आवरणभङ्गः ।

च्छब्दसारितार्थज्ञानम् । ननु तथा ज्ञानदर्शनेन प्रत्यक्षबाधितमिदं दूषणमकिञ्चित्करमित्याकाङ्क्षायां तथात्वपरिहाराय कार्यस्यान्यथासिद्धत्वमाहुः तथेत्यादि । एवमेतेन संदर्भेण—केवलस्य शब्द-स्याकरणत्वं, "शान्तो दान्तो मन्तव्य" इत्यादिश्रुतिविरोधः, सहकारित्वादप्यकरणत्वम्, असा-मर्थ्यं, दृष्टान्तवैषम्यं, पदस्मारितपदार्थोल्लङ्घनं चेति षड् दूषणान्युक्तानि ॥ २९६ ॥

मर्यादाभङ्ग इति । अत्र शब्दादपरोक्षे सत्यन्यत्र प्रत्यक्षाच्छाब्दमेवमन्यस्मादप्यन्यत् स्यादि-त्यर्थः । अथेदं ज्ञानं शब्दसहकृताद्विषयादेव जायते इत्यङ्गीक्रियेत तदाप्यसंगतमित्याहुः ज्ञानं त्वित्यादि । प्रमेयाधीनत्वे चाक्षुषं शाब्दमनुमितिरिति करणनिबन्धना या ज्ञाने व्यवहारमर्यादा सा भज्येतेत्यर्थः । भङ्गमप्यङ्गीकृत्य तथाङ्गीकारे शब्दान्तरात् प्रत्यक्षं स्यादनुमितिश्च न स्यादि-त्याहुः तमिति । चीत्कारेणेति च । दूषणान्तरमाहुः प्रत्यक्षत्वमित्यादि । इन्द्रियकार्यतावच्छेद-कतयाऽनुमानादिकार्यतावच्छेदकतया च सिद्धे प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वे जाती इदं ज्ञानं प्रत्यक्षत्वेनेदं परोक्षत्वेन जानामीत्यनुव्यवसायादनुभवगोचरे नापह्नोतुं शक्ये । एवं सत्यपि यदा दशमवाक्याद् प्रत्यक्षमङ्गीक्रियते तदा सांकर्यात्तयोर्जातित्वापह्नवप्रसङ्गः । यत्र प्रत्यक्षत्वाभावोऽनुमित्यादौ तत्र परोक्षत्वम् । यत्र परोक्षत्वाभावो घटादिसाक्षात्कारे तत्र प्रत्यक्षत्वम् । उभयसमावेशो दशमस्त्वमिति वाक्यजन्ये शाब्दापरोक्षे इति सांकर्यमतस्तदप्रयोजकमित्यर्थः । एतावता ग्रन्थेन,

दशमवाक्यमन्यथासिद्धमिति । भ्रान्तानां मतेन दृष्टान्त इत्याह—

दशमस्त्वमसीत्यादौ देहादिविषयत्वतः ।
शब्दस्य साहचर्येण चक्षुषैव भवेन्मतिः ।
स्मारकत्वमतो वाक्ये संख्याज्ञानं पुरा यतः ॥ २९८ ॥

दशमस्त्वमसीति । दशमोऽहमिति देहाभिन्नज्ञानम् ॥ २९८ ॥

प्रकृते तदभावमाह—

अध्यासस्यानिवृत्तत्वान्न विविक्तात्मदर्शनम् ।
मनसा शक्यते कर्तुं नान्यथा सर्वदा भवेत् ॥ २९९ ॥

अध्यासस्येति । प्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरमेव हि कार्योदयः । अतोऽध्यासस्य प्रतिबन्धकत्वान्न शब्दाज्ज्ञानमप्युदेतीति भावः ।—

टिप्पणी ।

दशमोऽहमित्यारभ्य भाव इत्यन्ते । दशमोऽहमित्यत्र देहाभिन्नात्मज्ञानं जायते, तत्त्वमसीत्यत्र केवलात्मनो ब्रह्माभेदज्ञानमपेक्षितं तद्देहाध्यासादेर्विद्यमानत्वात्केवलात्मनोऽनुपस्थितत्वाच्छब्देन तत्सहकृतेन मनसा वा न जनयितुं शक्यमित्यर्थः ॥ २९८ ॥

अध्यासस्येति मूले । अन्यथेत्यस्यावृत्तिर्ज्ञेया, तेनाऽन्यथापदस्याग्रेऽप्यन्वयः । अन्यथा शब्देन विविक्तात्मदर्शनं कर्तुं न शक्यं, मनसा च कर्तुं न शक्यमित्यर्थः । श्रीमद्विठ्ठलमित्यत्रेव चकाराप्रयोगः ॥ २९९ ॥

आवरणभङ्गः ।

"तत्त्वमस्यादि"वाक्यस्य शोधितस्यापि युक्तितः, "न विद्याजनने शक्तिरि"ति पूर्वोक्तं विचारितम् । तेन, "अन्यार्थं तच्च कार्तितमि"त्यन्यार्थत्वं यदुक्तं तद् दृढीकृतम् । अतः परम्, "अलौकिकं तत्प्रमेयमि"त्यादिकं विमृपन्ति ॥ २९७ ॥

दशमवाक्यमित्यादि । तथाच मास्तु तयोर्जातित्वं, धर्मत्वेनैव तयोरनुभवेन जातित्वानवगाहात् । तथा सति भवतु सांकर्यं, को दोष इत्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तस्यासंगतत्वमाहेत्यर्थः । मूलस्थस्य मतिपदस्य व्याख्यानं, दशमोऽहमित्यादि । तथा च सांकर्यं तदाऽङ्गीकार्यं स्याद्यदा केवलदशमवाक्यादुक्तविधप्रत्यक्षं निश्चीयेत । तदेव तु दुर्घटम् । दशसंख्याज्ञानस्य पूर्वं सत्त्वाद्विस्मृते संख्याघटके शब्देन तत्स्मारणाद्वाक्यस्य स्मारकत्वमेव तत्सहकृतस्य चक्षुष एव करणत्वमतो दशमवाक्यं स्मरणे गृहीतकारणताकत्वादन्यथासिद्धमिति व्यर्थं सांकर्याद्यङ्गीकारप्रयासेन भ्रान्तानां दृष्टान्तसमर्थनमित्यर्थः ॥ २९८ ॥

प्रकृत इत्यादि । ननु मास्तु शब्दात् प्रत्यक्षं, तथापि दशमवाक्यसहकृतचक्षुषेव तत्त्वमस्यादिवाक्यसहकृतमनसैव विविक्तात्मदर्शनमस्तु, को दोष इत्याकाङ्क्षायां प्रतिबन्धकाभावान्नैवमपीत्याहेत्यर्थः । अथ नव्यनैयायिकवत् प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वं नोपेयते, तदापि तदभावविशिष्टत्वं कारणे वाच्यमेवेत्यध्यासाभावविशिष्टमनसो विविक्तात्मदर्शनं प्रति कारणत्वं, न त्वविशिष्ट-

अत एव महता साधनेन तज्जन्यते। अतः शब्दसाहचर्येण मनसापि तज्जनयितुं शक्यं नेत्यर्थः। विपरीते बाधकमाह अन्यथेति। शब्दश्रवणमात्रेणैव तज्ज्ञाने जाते सर्वं साधनवैयर्थ्यमिति ॥ २९९ ॥

मुख्यज्ञानेनाऽप्यध्यासनिवृत्तिर्नास्तीत्याह—

प्रत्यक्षेणापि विज्ञानं मायया ज्ञानकाशया।
स्वप्नप्रबोधरीत्या हि किमु शाब्दं निवारयेत्।
सर्वज्ञत्वं सर्वभावज्ञानं चापाततः फलम् ॥ ३०० ॥

प्रत्यक्षेणापीति। स्वप्नप्रबोधो यथा न निद्राव्यावर्तकस्तथा जीवप्रलयसाध्यो न कदाप्यविद्यानिवर्तकः। मायाधीनत्वात्तेषाम्। यथा सा नानाऽवस्थाः संपादयति तथा ज्ञानावस्थामपि सम्पादयतीति यैव मायानिवर्तिका सैवाध्यासं निवर्तयति, नान्येत्यर्थः। "ज्ञानिनामपि चेतांसी"त्यादिवाक्यानि च बाधकानि। किञ्च, जीवस्यात्मनो ब्रह्मत्वेन ज्ञानं ब्रह्मस्वरूपज्ञानानन्तरमेव। अन्यथा रजतज्ञानरहितस्यापि शुक्तिकायां रजतभ्रमो भवेत्। अतः पूर्वं ब्रह्मज्ञानमपेक्षितं, तेनैव कार्यसिद्धावात्मज्ञानं व्यर्थम्।

टिप्पणी।

अध्यासनिवृत्तिरिति। सवासनाध्यासनिवृत्तिरित्यर्थः। स्वप्नप्रबोध इत्यारभ्य बाधकानीत्यन्ते। जीवानां मायाधीनत्वान्माया स्वत एव ज्ञानप्रकाशिकया मायया नानावस्थावज्ज्ञानमपि जायत इत्यविद्यामूलसत्त्वाद्यथा निद्रायां एवं स्वप्नानन्तरं जातः प्रबोधो न निद्रानिवर्तकस्तथा जीवप्रयत्नसाध्योऽनुभवो नात्यन्तमविद्यानिवर्तकः पुनरुद्भवादतो मायानिवर्तिकेश्वरप्रपत्तिरेव सर्वथा निवर्तिका "ज्ञानिनामपी"त्यादिवाक्यानां विपक्षबाधकत्वादिति भावः। जीवस्येत्यारभ्य व्यर्थमित्यन्ते। "अहं ब्रह्मास्मी"ति विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानत्वेन ब्रह्मज्ञानस्य कारणत्वाज्जाते तस्मिन् जीवात्मज्ञानं व्यर्थं स्यात्। ब्रह्मज्ञानेनैव सर्वाज्ञाननिवृत्तेस्तदभावविशिष्टज्ञानमपि दुर्लभमिति

आवरणभङ्गः।

स्यापीति नेदानीन्तनमनसोऽपि कारणत्वमित्याहुः अत एवेत्यादि। महतेति। "शान्त"इत्यादिश्रुतिबोधितेन ॥ २९९ ॥

मुख्येत्यादि। ननु भवत्वेवं, तथापि ससाधनमनसा जातं मुख्यज्ञानं त्वध्यासं निवारयिष्यति। तदा यावद्दुःखनिवृत्तिर्भविष्यत्येवेति शङ्कायां तदानीमपि सात्त्विकमेव ज्ञानमिति तन्निवृत्तिर्नास्तीत्याहेत्यर्थः। साध्य इति। मनोव्यापारो विद्यारूपः। एतेन, "ज्ञानेऽपि सात्त्विकी मुक्तिरि"त्युक्ताया मुक्तेः स्वरूपमुक्तम्। यैव मायानिवर्तिकेति। मायाया निवर्तिका या सामग्री सेत्यर्थः। तथा च भगवत्प्रपत्तिरेवाध्यासनिवर्तिका, नेतरदिति भावः। प्रपत्त्यभावे ज्ञानस्याप्रयोजकत्वं यदुक्तं तदुपोद्बलयन्ति ज्ञानिनामित्यादि। तथाच साक्षात्कारस्यापि चेन्नाध्यासनिवर्तकत्वं तदा कुतस्तरां शाब्दस्येति भावः। अथ तुष्यतु दुर्जनन्यायेन प्रपत्त्यभावेऽपि चेज्ज्ञानस्य तथात्वमङ्गीक्रियते तदापि तद्वैयर्थ्यरूपं दूषणमाहुः किञ्चेत्यादि। अत इति। तत्त्वेन ज्ञाने तज्ज्ञानस्य प्रयोजकत्वात्। कार्य-

अपरोक्षत्वाय तथात्वेऽप्येकदेश एव तथा भानमनर्थमेव निवारयेत्, न फलं साधये-दिति। ब्रह्मज्ञानं पूर्वं जातं निष्फलं भवेत्। सर्वज्ञत्वं च तस्य लक्षणम्॥ ३००॥

तत्रापि केचिन्मन्दमतय आत्मज्ञानमेव सर्वज्ञानमिति वदन्ति। तन्निराकरोति—

सर्वो न ब्रह्म सर्वं तु वामदेवस्तथा जगौ।
अवयुत्या गर्भवासी सूर्याद्यनुवदन्मुहुः॥ ३०१॥
ज्ञानदुर्बलवाक्यत्वात् पाषण्डवचनं मतम्।
सत्ये युगेऽतिमहतां भवत्येतन्न चान्यथा॥ ३०२॥

सर्वो न ब्रह्मेति। तु पुनः सर्वमेव सर्वशब्देनोच्यते। यतो वामदेवः अगर्भस्थितो

टिप्पणी।

भावः। ननु यद्विषयकमज्ञानं तद्विषयकज्ञानेन निवर्तते साक्षात् करिभ्रमे साक्षात्कारि-विशेषदर्शनं विरोधीतीवरभिन्नत्वेन ब्रह्मत्वेनात्मसाक्षात्कारोऽपेक्षितः, स चेश्वरसाक्षात्कारं विना न भवति, "स हि तत्त्वतो ज्ञातः स्वात्मसाक्षात्कारस्योपकरोती"ति श्रुतेरित्यत. आहुः अपरोक्षत्वायेति। एवमपि सत्यात्ममात्र एव ब्रह्मज्ञानाच्छोकनिवृत्तिरेव भवेन्नाधिकं फल-मित्यर्थः॥ ३००॥

तत्रापीति। केचित्सर्वे आत्मानो ब्रह्मरूपाः प्रतिबिम्बस्वीकारादन्यत्सर्वं ज्ञानं विलासमात्रमत आत्मनि ब्रह्मत्वेन ज्ञानमेव सर्वब्रह्मज्ञानमिति वदन्तीत्यर्थः। सिद्धान्तकथनेन तेषां मन्दमतित्वमाहुः तु पुनरिति। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "स वै सर्वमिदं जगदि"त्यादिश्रुता-

आवरणभङ्गः।

सिद्धाविति। ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वादेकत्वाच्च तज्ज्ञानेनैवात्मनोऽपि ज्ञानसिद्धौ। तथा च धनार्थं धावमानस्य संचितनाशापात इति भावः। ननु, "स हि तत्त्वतो ज्ञातः स्वाऽऽत्मसाक्षात्कारस्योप-करोती"तिश्रुतेर्ब्रह्मज्ञानस्य सहकारित्वमेवेति नाऽऽत्मसाक्षात्कारस्य वैयर्थ्यमिति चेत्तत्राहुः अपरोक्षे-त्यादि। तथा चैवं ब्रह्मज्ञानस्य सहकारित्वे ब्रह्मैकदेशे शारीर एव साक्षात्त्वमिति तेनापरोक्षेण शोकनिवृत्तिरेव भवित्री, न तु "ब्रह्मविदाप्नोति परमि"ति श्रुत्युक्ता परप्राप्तिरपीति ब्रह्मज्ञानवैफल्याच्चु-न्दिलक्षुरतापत्तिरित्यर्थः। एतेन तस्यां मुक्तावनादरः समर्थितः। ननु ब्रह्मज्ञानस्येदमेव फलमस्त्वतो न वैफल्यमिति चेत्तत्राहुः सर्वज्ञत्वेत्यादि। फले आपातत्वमवान्तरत्वमेव। तथा च "यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती"त्यादिषु फलान्तरस्यापि श्रावणान्नेदमेव फलमिति मुख्यफलाभावाद्वैफल्यं दुर्वारमित्यर्थः। न च तदपि जायत इति शक्यवचनम्। तथा सति सर्वभावज्ञानस्यापत्तेः। तस्या-प्यङ्गीकारे तु प्रत्यक्षविरोधः। तथाच यत्रेदानीन्तनानामवान्तरफलमपि न, तदा कुत्र मुख्यफला-शेति भावः॥ ३००॥

पुनः किञ्चिदनूद्य परिहरन्ति तत्रापीत्यादि। इदानीन्तनेष्वपि ज्ञानलक्षणीभूतं सर्वज्ञत्वं योज-यितुं सर्वज्ञत्वेऽपि, "तदात्मानमेवाऽवेदहं ब्रह्मासीति तस्मात् तत्सर्वमभवदि"ति श्रुत्यर्थमापाततो ज्ञात्वा तथा वदन्तीत्यर्थः। सर्वे इत्यादि। "सर्वमभवदि"त्यत्र सर्वशब्दवाच्यः प्रपञ्च एव, नात्मेत्यर्थः।

ह्यहं मनुरभवं सूर्यश्चेति सर्वशब्दार्थरूपान्मन्वादीननुवदति । अतस्तथावक्तारो ज्ञान-दुर्बलवादिन इति मन्तव्याः। ज्ञानस्य दुर्लभत्वमाह सत्ये युग इति ॥३०१॥३०२॥

भक्त्युत्कर्षार्थमाह—

स्वप्नो जागरणं चैव यथा ह्यन्योन्यवैरिणौ ।
विद्याविद्ये तथा स्यातां न तु सर्वात्मना लयः ॥ ३०३ ॥

स्वप्न इति ॥ ३०३ ॥

टिप्पणी।

विदं-जगत्-शब्दयोः सर्वपदसामानाधिकरण्यात्सर्वमेव जगत् सर्वशब्देनोच्यते नात्ममात्रमित्यर्थः। मन्दमतयः कुतः कथं च वदन्तीत्याकाङ्क्षायां सप्रकारं प्रसिद्धं हेतुं निर्दिशन्ति यत इत्यारभ्य मन्तव्या इत्यन्तेन । कश्चिद्वामदेवः स्वस्य ब्रह्मामेदज्ञानेन सर्वरूपोऽहमित्यहमगर्भेस्थित एव मनुरभवं सूर्यश्चेत्येवं पृथक्कृत्य स्वस्य सर्वरूपत्वानुवादं कृतवान् । भ्रान्तास्तु तादृशं ज्ञानेनैव तथा व्यवहार इति निरूपितवन्त इति तथा वक्तारो वादिनो ज्ञानदुर्बला भ्रान्ता इत्यर्थः । सत्य इति । सत्ययुगसाधनसदृशे साधने सतीत्यर्थः ॥ ३०१ ॥ ३०२ ॥

आवरणभङ्गः।

तत्र हेतुः, यत इत्यादि । अनुवदतीति । अवयुत्यानुवदति । तथा चाहमभवमित्यात्मविध्वंसं पृथक्कृत्य सर्वशब्दार्थभूतमन्वाद्यनुवादादात्मज्ञानं न सर्वज्ञानं, किन्तु प्रापञ्चिकसर्वज्ञानमेव सर्वज्ञान-मित्यर्थः । ज्ञानदुर्बलेत्यर्थं व्याकुर्वन्ति अतस्तथेत्यादि । तथा च सर्वज्ञत्वं ज्ञानवतो लक्षणमिति तदभावेऽपि ये आत्मानं ख्यापयन्ति ते पाखण्डा एवेत्यर्थः। ज्ञानस्येत्यादि । ननु भवत्विदं लक्षणं तथापीदानीन्तनेषु कुतो नेदमित्यकाङ्क्षायां, "विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेश" इति पूर्वोक्तं समर्थयन् विद्याया दुर्लभत्वमाहेत्यर्थः । सत्य इत्यादि । तथा च ज्ञानेन या दुःखनिवृत्तिः सा मनसि ब्रह्माऽहमस्मीति साक्षाद्वृत्त्युत्पत्तौ । सा च शमदमादिसहितमनननिदिध्यासनयुक्ताभ्यासबलिष्ठश्रुत्या भवति । सत्य-युगे शान्तदान्तप्रजासंभवात्तत्रातिमहतां मुख्याऽधिकारिणां संभवात् क्वचित् केवलश्रुत्या भवति नान्यथेति सर्वदुःखहरं ज्ञानमिदानीं दुलभमित्यर्थः । भक्त्युत्कर्षार्थमाहेति । ननु भवत्वेवं ज्ञानस्य दुर्लभत्वं, तथापि जाते तादृशे विद्याचरमवृत्तिरूपे ज्ञाने दुःखं सर्वथा निवर्त्स्यत इति तदानीम-प्यापाततो निवृत्त्यङ्गीकारो न युज्यत इत्याशङ्कायां तत्रासावपि नो मुक्तिरित्यादि पूर्वोक्तं समर्थ-यन् भक्तिं विना वृत्तेश्चरमत्वमेव दुर्घटमिति तदर्थमपि भक्तिरपेक्षितेत्युत्कर्षबोधनार्थं विद्याया अप्रयोजकत्वमाहेत्यर्थः ॥ ३०१ ॥ ३०२ ॥

स्वप्नेत्यादि । तथा च गौडवार्तिके, "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते" इति कथना-द्विद्याविद्ये स्वप्नप्रबोधवत्तव मते सिद्धे । तथा च ताविवैते अपि भविष्यत इति वृत्तिचारम्यमेव दुर्लभमतो भक्तिं विनाऽऽपाततो निवृत्तिर्युक्तैवेत्यर्थः । एतेन, "जीवन्मुक्तिरथापि वे"त्यनादरः समर्थितः ॥ ३०३ ॥

प्रमाणमाह—

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत् ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ३०४ ॥
एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह हि ।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा ।
विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः ॥ ३०५ ॥

इदमेवेति । ज्ञानी त्वात्मैव मे मत इति ज्ञानप्रशंसावाक्यं भक्तेरुत्कर्षार्थमेव । तपस्विभ्योऽधिको योगीत्यत्र तथा निरूपणात् । न तथा मे प्रियतम इत्यत्र स्पष्टमेवात्मनोऽपि माहात्म्यं भक्तस्य । अन्यथा गुह्यत्वेन ज्ञाना-

---

टिप्पणी ।

ज्ञानीत्यारभ्य निरूपणादित्यन्ते । अत्र ज्ञानिन आत्मतुल्यत्वनिरूपणेऽपि "तपस्विभ्यो", "योगिनामपी"ति श्लोकाभ्यां भगवताऽर्जुनं प्रति तपस्विज्ञानिकर्मिभ्योऽधिकत्वेन निरूपितयोगिनोऽपेक्षया भजतोऽधिकत्वेन निरूपणादित्यर्थः न तथेति । न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः । न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवानित्येकादशे श्रीकृष्णेनोद्धवं प्रति सर्वापेक्षयाऽऽत्मापेक्षयापिप्रियतमत्वोक्तेर्भक्तस्य माहात्म्यं स्पष्टमेवेत्यर्थः । अन्यथेति । "समासेनैवे"त्यारभ्य, "इति ते ज्ञानमाख्यातमि"ति श्लोकान्तेन ज्ञानं निरूप्य "सर्वगुह्यतमं भूय" इति प्रतिज्ञाय "मन्मना भव", "सर्वधर्मान्परित्यज्ये"ति श्लोकाभ्यां निरूपितज्ञानाद्गुह्यत्वेन भगवानर्जुनं प्रति भक्तिं न वदेदित्यर्थः ।—

आवरणभङ्गः ।

प्रमाणमाहेति । ननु भक्तेश्चारम्यसंपादकत्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायां, "ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः पर" इति, भजनं सर्वथा मतमिति च पूर्वोक्तं दृढीकर्तुं प्रमाणमाहेत्यर्थः । नन्वस्मिन् वाक्ये कथं वृत्तिचारम्यसंपादकभक्त्युत्कर्षस्य लाभ इत्याकाङ्क्षायामुपपादयन्ति ज्ञानीत्यादि । तथा निरूपणादिति । तपस्विभ्य इति षष्ठाध्यायस्थसंदर्भे ज्ञानिनोऽप्यपेक्षया योगिन उत्कर्षमुक्त्वा, योगिनामपि सर्वेषामित्यनेन भक्तस्य ततोऽप्युत्कर्षकथनेन ज्ञान्यपेक्षया भक्त्युत्कर्षस्य नितरां बोधनादित्यर्थः श्रीभागवतस्य गीताविस्तारत्वादुक्तोपष्टम्भाय तत्संमतिमाहुः न तथेत्यादि । तथा च तत्र ज्ञानी त्वात्मा उक्तः । भक्तस्तु ततोऽप्यधिकोऽत्रोक्त इति माहात्म्यं स्पष्टमतः पूर्वोक्तं निर्विवादमित्यर्थः । नन्विदं न युक्तम् । तथाहि, "मामेवे"ति वाक्यं सप्तमाध्याये । तत्रारम्भे, "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्यामी"त्युपक्रमात् "ते विदुर्युक्तचेतस" इत्युपसंहाराच्च मध्येऽपि ज्ञानमेवोच्यते । अत एव, "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत" इति प्रपत्तिमुक्त्वा तस्याकारमाह, "वासुदेवः सर्वमि"ति एवं सति, "मामेव ये प्रपद्यन्त" इत्यत्रापि प्रपत्तिशब्दो ज्ञानमेव वक्ति, "न तु भक्तिमि"ति पूर्वोक्तमयुक्तमिति चेत्तत्राहुः अन्यथा गुह्यत्वेनेत्यादि । ज्ञानानन्तरं गुह्यत्वेनेति संबन्धः । तथा च यद्येवं स्यात्तदा सप्तमाष्टमाभ्यां सपरिकरं ज्ञानमुक्त्वा ततो नवमाध्याये, "इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्या-

नन्तरं भक्तिं न वदेत् । तदाह । एवकारेण सर्वेषामिति । फलितमाह ज्ञानादीनामिति ॥ ३०४ ॥ ३०५ ॥

ननु भक्तस्याप्यन्ते ज्ञानं पश्चान्मोक्ष इति कुतो न कल्प्यते । न ह्यात्मनोऽन्य आत्मीयः प्रियो भवितुमर्हतीत्याशङ्क्याह—

न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन् कृष्णमनामयम् ।
न मुक्तः सर्वथा यस्माद् गोप्यो गावस्तथाऽभवन् ॥ ३०६ ॥

न दृष्ट इति । श्रुतपूर्वोऽपि नास्ति । दृष्टोऽपि नास्ति । अनामयं तमसः परं, भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति तादृशी मुक्तिः सर्वथापदेनोच्यते । तत्र दृष्टान्तमाह

टिप्पणी ।

एवकारेणेति । "मामेव ये प्रपद्यन्त" इत्येवकारेणेत्यर्थः ॥ ३०४ ॥ ३०५ ॥

न ह्यात्मन इति । "यो मद्भक्तः स मे प्रिय" इति वाक्याद्भक्तस्य प्रियत्वेऽप्यात्मीयाद्भक्ता- "ज्ज्ञानी त्वात्मैव मे मत" इति वाक्याज्ज्ञान्येवोत्कृष्ट इति ज्ञानमेवान्ते कल्प्यमिति भावः ॥३०६॥

आवरणभङ्गः ।

मी"ति प्रतिज्ञाय गुह्यतमे ज्ञानविज्ञाने पापमोक्षाय वदता, "मया ततमि"त्यारभ्य, "शुभाशुभैरेवं मोक्ष्यस" इत्यन्तेनोक्त्वा राजविद्यातोऽपि यद्राजगुह्यं बुद्धिस्थं प्रवक्ष्यामीत्यनुषङ्गेन द्वाभ्यां प्रतिज्ञातं तदाह, "समोऽहं सर्वभूतेष्वि"त्यारभ्य, "मन्मना भवे"त्यन्तेन। अत एव, "मामेवैष्यसी"ति पृथक् फलसंबन्धः। राजविद्याराजगुह्ययोग इत्यध्यायनाम च युज्यते। अष्टादशे च, "सर्वगुह्यतमं शृण्वि"ति प्रतिज्ञाय, "मन्मना भव", "सर्वधर्मान् परित्यज्ये"ति कथितम् । अतो मामेवेत्यत्र प्रपत्तिपदेन सर्वथा भगवत्सम्बन्ध एवोच्यते । स त्वन्यथानुपपद्यमानोऽत्र प्रकरणसहकारेण विद्यापर्वरूपां भक्तिमाक्षिपति । सत्यां च तस्यां वृत्तेश्वरमत्वं सिद्ध्यतीति सा सर्वत उत्कृष्टैव । यदीदं नाभिप्रेयात्तदैवं न वदेदित्यर्थः । फलितमाहेति । पूर्वोक्तप्रनाड्या ज्ञाने विद्यारूपे जाते यदा तदभेदेन प्रियत्वस्य स्फूर्तिस्तदा भक्तिरूपचरमवृत्त्या साक्षात्कारस्तदा भगवता मुक्तिर्दीयते इति प्रनाडीघटकमारभ्य फलपर्यन्तानां सर्वेषां भगवदधीनत्वात् साधनान्तरं त्यक्त्वा तमेव भजेदित्याहेत्यर्थः । मूले, तदधीनत्वत इति । भगवदधीनत्वादित्यर्थः ॥ ३०३–३०५ ॥

अतः परम्, "आदिमूर्तिः कृष्ण एवे"त्यादिनोक्तं दृढीकर्तुं किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति ननु भक्तस्येत्यादि । भक्त्यारभ्यसिद्ध्यर्थं भक्त्यपेक्षणे भक्त्यनन्तरं ज्ञानमायातीति तथाऽऽशङ्क्येत्यर्थः । न दृष्ट इत्यादि । तथा च प्रनाड्यन्तरं दृष्टश्रुतविरोधे कल्प्यम् । तदत्रैकमपि नास्ति, तेन कल्प्यत इत्यर्थः। ननु केषाञ्चिद् गोपालोपासकानां सम्भाव्यत इत्यत आहुः अनामयमित्यादि । तथा च सगुणोपासकानां भवतु तथा, न तु गुणातीतभक्तानामित्यर्थः । तत्र गमकमाहुः भूयश्चान्त इत्यादि । तथा चैतादृशी मुक्तिर्भगवत्सम्बन्धाज्जायत इति श्रूयतेऽतस्तथेत्यर्थः । इयं श्वेताश्वतरोपनिषत्प्रथमाध्याये दशमी ऋक् । "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः । तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरि"ति । तदर्थस्तु क्षरशब्द-

गोप्यो गावस्तथाऽभवन्निति । "मत्स्वरूपाविदोऽबलाः, ब्रह्म मां परमं प्रापुरि"ति वाक्यात् ॥ ३०६ ॥

नन्वेवं सति, तमेव विदित्वेति विदित्वैवेत्यर्थस्य विवक्षितत्वाज्जीवपक्षनिराकरणस्यानङ्गीकाराच्च कथमेवमुच्यत इत्याशङ्क्याह—

आपाततस्तु सर्वेषामुपायत्वं मयोदितम् ।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत् ॥ ३०७ ॥

आपातत इति । येऽस्माभिर्ज्ञानादय उपायत्वेनोक्तास्ते लोकानां प्ररोचनार्थं निरूपिताः, तथापि न बाधितार्थत्वम् । भगवत्कृपायुक्तत्वे तेषामपि फलसाधकत्वात् । वचनं तु प्ररोचनार्थम् । वस्तुतस्तु कृपैव साधनम् । तमेव विदित्वेत्येवकारो नान्यथा

टिप्पणी ।

नान्यथेति । विदित्वैवेति न व्याख्येय इत्यर्थः । ननु तमेव विदित्वेति व्याख्याने जीवपक्षनिराकरणादात्मलाभा"न्न परं विद्यत" इत्यादिषु जीवज्ञानस्य पुरुषार्थसाधकत्वं विरुध्येतेत्याशङ्क्य न

आवरणभङ्गः ।

वाच्यं यत्प्रधानं प्रकृतिः, अमृतशब्दवाच्यं यदक्षरं पुरुषः, तदुभयं हरः सर्वाविद्यानिवर्तको भगवान् । अथवा क्षरं सर्वे जीवाः, प्रधानं प्रकृतिः, अक्षरं चेति त्रयमनूद्य तेषां हरैक्यमाह । न च हरादिपदानामुपनिषदि दर्शनाच्छिवपरत्वमुपनिषदः शङ्क्यम् । एवमद्वैतं निरूप्य अन्यं विशेषमाह । क्षरात्मानौ पूर्वोक्तौ तत्प्रत्याहारेण प्रधानमपि देवः क्रीडापरः सन् ईशते ईष्टे नियमयति । एको मुख्यः सन् तेनाभेदेऽपि नियम्यनियामकभावः क्रीडया उपपादितः । एवं कथनस्य प्रयोजनमाह । तस्य पूर्वोक्तस्याभिधानात् पूर्वोक्तरीतिकचिन्तनात्, योजनात् संबन्धविशेषात्, तत्त्वभावात् स्वस्य तद्भावभावनात्, भूयश्च पुनरपि, अन्ते प्रारब्धसमाप्तौ साधनपूर्णतायां वा, विश्वमायानिवृत्तिः प्रपञ्चोत्पादकमायायाः स्वसंबद्धाया निवृत्तिः संबन्धहानिः । तथा च पूर्वमध्यासनिवृत्त्या ब्रह्मभावस्ततः पुनः सायुज्यमित्यर्थः । तत्रेत्यादि । नन्वत्र श्रुतौ संबन्धेन मुक्तिकथनं भाक्तमस्त्विति चेन्नैवम् । दृष्टान्तस्य सत्त्वादित्याशयेन तत्र दृष्टान्तमाहेत्यर्थः । गोप्य इत्यादि । तथा चात्र वाक्ये स्वरूपाज्ञानस्य मुक्तेश्च कथनेन दृष्टान्तस्य सत्त्वान्मुक्तिसिद्धौ भाक्तत्वकल्पनं नोचितमित्यर्थः ॥ ३०६ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वेवं सतीत्यादि । एवं सति, "मामेवे"त्येवकारेण प्रपत्त्यतिरिक्तानामनुपायत्वेऽङ्गीकृते, सति तमेवेति श्रुतावपि तुल्यत्वान्मूलज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वसिद्धिः । "तं विदित्वे"त्यत्र ब्रह्माभिन्नं शारीरमिति व्याख्याने जीवेत्यादिनोक्तहेतोरात्मज्ञानस्य तथात्वसिद्धिश्चकारेण ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तावित्यादिकं पूर्वोक्तं समुच्चीयते । अतः कथमनुपायत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याहेत्यर्थः । येऽस्माभिरित्यादि । तथाच नास्माभिरनुपायत्वमुच्यतेऽपि तु तेषां सापेक्षत्वात तथा फलवचनं स्वर्गकामादिवत् प्ररोचनार्थमित्युच्यते । अतो नास्माकं श्रुतिविरोध इत्यर्थः । तथा च कामादिवज्ज्ञानमपीति भावः । तर्हि जीवपक्षव्याख्यानमप्याद्रियतामित्याकाङ्क्षायां नान्यथा भवेदिति मूलस्थं व्याकुर्वन्ति तमेवेत्यादि । अन्यथेति । जीवपरत्वेन । तर्ह्यात्मलाभादि-

व्याख्येयः । अतो नात्मज्ञानं मुख्यफलसाधकम् । आत्मलाभान्न परं विद्यते । "तरति शोकमात्मवित्" । "अथ योऽन्यां देवतामुपास्त" इत्यादिवाक्येषु आत्मशब्दो भगवद्वाचको, न जीववाचकः । अभेदोपासना च श्रूयते । न हि निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तत इति न्यायात् । "नाऽसोमयाजी संनयेदि"ति वाक्यात्, "एकत्वेन पृथक्त्वेने"ति भगवद्वाक्यात् । अतो मूलज्ञानं साधनं भवदपि, तावता न भवतीति प्रादुर्भावकरणात् प्रेमैव साधनमिति निश्चीयते ॥ २०७ ॥

टिप्पणी ।

तेष्वात्मपदं जीववाचकं किन्तु भगवद्वाचकमित्याहाऽऽत्मलाभादित्यारभ्य न जीववाचक इत्यन्तेन । अभेदोपासनेत्यारभ्य निश्चीयत इत्यन्ते । "अथ योऽन्यां देवतां" इत्यत्राभेदोपासना स्तूयते न तु भेदोपासना सर्वथा निन्द्यते । न हि निन्द्यमर्थं निन्दितुं वाक्यं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयमर्थं स्तोतुम् । यथा "नाऽसोमयाजी संनयेदि"त्यत्र सोमयाजित्वं स्तोतुं वाक्यप्रवृत्तिः, नत्वसोमयाजित्वं सर्वथा निन्दितुं, सर्वथा निन्दया निषेधपरत्वे "नाऽसोमयाजी संनयेत्संनयेद्वे"ति सूत्रं विरुध्येत । "एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखमि"ति गीतायां भेदाऽभेदाभ्यामुपासनानिरूपणात् भगवज्ज्ञानमेव साधनं भजनार्थं, परन्तु साक्षात्कारोऽपेक्षणीय इति तदर्थं प्रेमापेक्षणीयमित्यर्थः ॥ २०७ ॥

आवरणभङ्गः ।

श्रुतीनां विरोध इत्यत आहुः आत्मेत्यादि । तथा च तस्य प्रकरणविरुद्धत्वात्तथेति न विरोध इत्यर्थः । नन्वस्त्वात्मशब्दस्य भगवद्वाचकत्वं, तथापि भेदोपासननिन्दाश्रुतिबलाद् अभेदज्ञानाभावे भक्तेरपि निर्बलत्वमायातीति न शङ्कानिरास इत्यत आहुः अभेदेत्यादि । तथा च तस्याः श्रुतेर्भेदोपासनानिन्दायां तात्पर्याभावान्न भक्तेर्नैर्बल्यमित्यर्थः । एतद्विनिगमनाय दृष्टान्तमाहुः नेत्यादि । तथा च यथायं न नित्यानुवादः, "नाऽसोमयाजी संनयेत् संनयेद्वे"ति सूत्रात् । किन्तु विकल्पपर्यवसायी । तथा निन्दापि विकल्पपर्यवसायिनीत्यर्थः । ननु तत्र कल्पो यथा विकल्पगमकस्तथा नात्र गमकमिति भ्रमप्राप्तस्येयं निन्दा सती प्रसज्यप्रतिषेध एव पर्यवस्यत्विति चेन्नेत्याहुः एकत्वेत्यादि । तथा चैतद्वाक्यं ज्ञात्वा प्रवृत्तं प्रतीतिविकल्प एव पर्यवस्यतीति न तथेत्यर्थः । फलितमाहुः अत इत्यादि । तथा च ज्ञानस्य या साधनता सा नाभेदज्ञानत्वेन रूपेणापि तु साक्षात्कारत्वेन रूपेण । साक्षात्कारस्त्वाविर्भावाधीन, आविर्भावश्च, "यमेवैष" इति श्रुत्या वरणाधीनो, वरणं च भगवदधीनं, भगवाँश्च प्रेमाधीन इति प्रेमैव साधनम् । "केवलेन हि भावेने"ति वाक्यादिति भावः ॥ २०७ ॥

अन्येषामसाधनत्वे प्रमाणमाह—

यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥ ३०८ ॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥ ३०९ ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम् ॥ ३१० ॥
इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयमुक्तवान् ।
आत्मानं हि स्वयं वेद तस्मादन्यवचो मृषा ॥ ३११ ॥

यन्न योगेनेति । वाक्यत्रयम् । सांख्यं ज्ञानशास्त्रम् । ननु विहितविनिषिद्धत्वाद्विकल्पो भवतु, न त्वसाधकतेत्याशङ्क्याह इत्येकादशसर्वस्वमिति । भगवानेव फलमिति । स चेत् स्वोपायं, तन्न भवतीति निषेधति तदाऽन्यवाक्यं मुधा । तुल्यबलत्वे हि विकल्पः । भगवतश्च फलत्वं भगवद्वाक्यादेवावसीयते । "मत्तः परतरं नान्यदि"-त्यादिभिः । तस्माज्ज्ञानादीनां न साधकत्वम् ॥ ३०८-३११ ॥

ननु वेदा अपि भगवद्वाक्यमेवेति श्रुतिस्मृतिविरोधे श्रुतिर्बलिष्ठेति कथं ज्ञानस्य साधकत्वं तत्राह—

कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः ।
उदासीनतयोद्भेदान्न हि सर्वात्मना फलम् ॥ ३१२ ॥
भक्तावत्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः ।
आत्मानं च ततो दद्यात् सुखे का परिदेवना ॥ ३१३ ॥
सहनं खननं गङ्गातीरस्थितिवदेव तत् ।
साङ्ख्यो योगस्तथा भक्तिस्तत्र प्रेमातिसौख्यदम् ॥ ३१४ ॥

कर्मयोगादय इति । भगवान् स्ववाक्यसत्यत्वाय कर्मयोगादिष्वपि प्रकटो भवति, परं निर्बन्धेन, यथा महान् लौकिकः । अत उदासीनतयोद्भेदात् सर्वथा मुख्यं फलं न प्रयच्छति । भक्तौ विशेषमाह भक्ताविति । सुखे स्वरूपानन्दे द्दश-

---

आवरणभङ्गः ।

अन्येषामित्यादि । ननु भवत्वेवं तथाप्यन्येषामसाधनत्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायां तदाहे-त्यर्थः । विकल्पो भवत्विति । "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती"त्यादौ तथा निर्णयादित्यर्थः । इत्यादिभिरिति । युक्तात् संदर्भरूपादिति शेषः ॥ ३०८-३११ ॥

न प्रयच्छतीति । तथा च प्रमाणविचारेण ज्ञानस्य साधकत्वेऽपि प्रमेयविचारेणासाधकत्व-मेवेति तथोच्यत इति भावः । भक्तौ विशेषमाहेति । तर्हि भक्तौ कथं पूर्णं फलं दास्यतीत्या-

न्त्वेन तारतम्यं बोधयति सहनमिति। ज्ञानमार्गे दुःखे समागते तन्निवृत्तिः सहनप्राया। यथा तृषायां सहनम् उपायः। योगस्तु खननप्रायः। भक्तिस्तु गङ्गातीरस्थितिरूपा। दुःखनिवर्तकस्य प्रकटत्वात्। तत्रापि प्रेमसम्भवे गङ्गा स्वयमुद्यम्य पाययति। तथा भगवान् ॥ ३१२–३१४ ॥

ननु हीनभावं फलात्मा महान् कथं गच्छेत्। तत्राह—

पिता चरेद्यथा बाले सुखं भक्ते तथा हरिः।
प्रेम्णैव सर्वतोऽत्यर्थं गोपीनां कामदो यतः ॥ ३१५ ॥
अच्छिद्रसेवनाच्चैव निष्कामत्वात् स्वयोग्यतः।
द्रष्टुं शक्यो हरिः सर्वैर्नान्यथा तु कथञ्चन ॥ ३१६ ॥
दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येनकेनचित्।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥ ३१७ ॥
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाऽम्बुजम् ॥ ३१८ ॥
अन्तर्बहिःसाधनयोः स्वरूपं परिकीर्तितम्।
प्रकारश्चाप्ययं प्रोक्तो दर्शनेनान्यथा तु तत् ॥ ३१९ ॥

पिता चरेदिति। स्नेहमार्गे हीनभावो न दोषाय। लौकिकपरमेतदिति न मन्तव्यम्। यतो भगवान् प्रेम्णा गोपीभ्यः अदेयमपि कामं दत्तवान्। न च लौकिकन्यायस्तत्र, पूर्णकामत्वात्। न हि स्वत इच्छारहितः कोऽप्येवं प्रयच्छति। ननु प्रेम दृष्टे भवति। सर्वथा अदृष्टे कथं प्रेमेत्याशङ्क्य दर्शनोपायमाह अच्छिद्रसेवनादिति। सेवनं स्वयोग्यानुसारेण। न त्वल्पं बहु वा प्रयोजकम्। तत्र बहिःसाधनमाह दययेति। विशेषोपायमाह शृण्वन्तीति। श्लोकत्रयस्यार्थमाह अन्तर्बहिरिति ॥ ३१५–३१९ ॥

आवरणभङ्गः।

काङ्क्षायां तत्र दास्यत्येवेति हेतुपूर्वकमाहेत्यर्थः। अग्रिमं निगदव्याख्यातम् ॥ ३१२–३१४ ॥

हीनभावमिति। साधनभावम्। एतदिति। हीनभावाश्रयणम्। मूले, अच्छिद्रेत्यादि। निष्कामत्वात् स्वयोग्यतश्चाच्छिद्रसेवनादेवेति योजना। स्वयोग्यप्रकारं बोधयितुं स्वयोग्येति व्याकुर्वन्ति सेवनमित्यादि। बहुकरणे भगवति भारेणाल्पकरणे कापट्येन छिद्रसंभवादित्यर्थः। तत्रेत्यादि। दर्शने बहिरङ्गं साधनमाहेत्यर्थः। दययेति वाक्यं चतुर्थस्कन्धसमाप्तौ नारदेनोक्तम्। विशेषोपायमिति। अत्राशुप्रसादमात्रस्योक्तत्वेनाशुदर्शनस्यानुक्तत्वात् तदर्थमाहेत्यर्थः। इदं वाक्यं प्रथमस्कन्धे कुन्तीस्तुतौ। अन्तरित्यादि। अन्तरङ्गबहिरङ्गयोः साधनयोरित्यर्थः। अत्राच्छिद्रसेवनरूपमन्तरङ्गं साधनं प्रथमे इति क्रमेण ज्ञेयम् ॥ ३१५–३१९ ॥

इतोऽप्युत्तमं दर्शनोपायमाह—

सर्वापेक्षापरित्यागात् पौरुषस्य सभाजनम् ।
आसक्त्या भगवद्भक्तैः परं दर्शनसाधनम् ॥ ३२० ॥
कपिलादिर्महायोगी पूर्वं येनोपलब्धवान् ।
तं प्रकारमिहोवाच पाक्षिकं तद्धि साधनम् ॥ ३२१ ॥
राजवत् कुत्रचित् कृष्णः कस्यचित् केनचित् फलम् ।
ददाति तावता नित्यं सर्वत्रेति न निश्चयः ॥ ३२२ ॥
प्रेम्णा सेवा तु सर्वत्र सेव्यवश्यत्वसाधनम् ।
किञ्चिद्भक्तियुतश्चेत् स्याद्योगादिः साधनं क्वचित् ॥ ३२३ ॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं जानन् कर्म चाऽपि तथाऽऽचरन् ।
पञ्चकर्मविधानेन षोढाऽपि प्रकटः सदा ।
निर्बन्धेन फलत्येष न च भक्त्या यथा तथा ॥ ३२४ ॥

सर्वापेक्षेति । "येऽन्योऽन्यतो भगवतः प्रसङ्गे"त्यत्र निरूपयिष्यते । ननु कपिलेन भगवदवतारेण निरूपितः कथं नोपायस्तत्राह कपिलादिरिति । न ज्ञायते भगवाँस्तत्र केन हेतुनिमित्तेन देवहूत्यै मुक्तिं दत्तवान् । परं लोके तत्साधनं प्रकटितवान् । पुष्टिमार्गप्रकारेषु तस्या अपि प्रवेशः । परं पाक्षिकं साधनम् । कथं पुष्टिमार्ग इत्याकाङ्क्षायां तन्निरूपयति राजवदिति । राजा कदाचिद्भार्यामपि सेवकेन मारयति । नैतावता सा महतामपि धृष्या भवति । तथा प्रेमापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह प्रेम्णा सेवेति । लोके वेदे च प्रेम्णा सेवायां क्रियमाणायां सेव्यो वश्यो भवति, किञ्च, योगादीनां साध-

---

आवरणभङ्गः ।

इतोऽपीत्यादि । तृतीयस्कन्धानुसारेण साधनान्तरमाहेत्यर्थः । ये इत्यादि । अत्रापि, "मत्पादसेवाभिरता मदीहा" इति पूर्वार्धादस्मिन्नप्युपाये सेवानुसीव्यतीति प्रतिभाति । कपिलादिरिति । महायोगी पूर्वं येनोपलब्धवान् तं प्रकारं कपिलादिरिहोवाचेति संबन्धः । अत्र गमकमाहुः न ज्ञायत इत्यादि । केन हेतुनिमित्तेनेति । अष्टभिरध्यायैर्मताष्टकमुक्त्वाग्रे मुक्तिकथनात् केन साधनेन केन प्रयोजनेनेत्यर्थः । प्रयोजनस्यापि प्रयोजकतया निमित्तत्वमविरुद्धम् । तस्या इति । मुक्तेरित्यर्थः । तथेत्यादि । राजभार्यावत् प्रेमापि साधनान्तराभिभाव्यं भविष्यति । तथा च तस्यापि पाक्षिकत्वमित्याशङ्क्येत्यर्थः । एतेन "तीर्थादावपि या मुक्तिरि"त्यादिनोक्ते युक्तिरुक्ता । सर्वत्रेत्यस्यार्थमाहुः लोके वेदे चेति । महावाक्ये माहात्म्यं प्रतिपाद्याऽभेदप्रतिपादनेन निरुपधिस्नेह एवाभिप्रायात् "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन" इत्यत्रापि तथोक्तत्वाल्लोकेऽपि तथा दर्शनादिति न प्रेम्णि

कत्वं च प्रेमसम्बन्धात् । सम्पूर्णेन वेदमार्गेणाप्येतन्न भवतीति वक्तुं काण्डद्वयार्थम-नुवदति सर्वं ब्रह्मात्मकमिति । तथापि निर्बन्धेनैव फलति । वाक्यानुरोधात् । लोकोऽत्र नियामकः ॥ ३२०–३२४ ॥

षट्पदार्थषोडशपदार्थज्ञानान्निःश्रेयसाऽधिगम इत्यादिऋषिवाक्यानां का गतिरि-त्याह—

कणादादिमुनिश्रेष्ठाः शुक्रमोहितबुद्धयः ।
वृथाशास्त्रकलापं हि जगुस्तेन न चान्यथा ॥ ३२५ ॥

कणादादिमुनिश्रेष्ठा इति । दैत्यानामर्थे शुक्रेण ऋषयो विमोहिताः । मोह-दशायां च शास्त्राणि कृतवन्तः । अतो वेदविरुद्धत्वाद् भ्रान्तकृतत्वाच्च न तानि प्रमा-णानि ॥ ३२५ ॥

एवं सर्वं निरूप्य प्रेमभक्तिमार्गमुपसंहरति—

प्रेम्णोऽन्यत् साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत् ।
श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम् ॥ ३२६ ॥
अधिकारमभिप्रायं ज्ञात्वा भक्तमुखेन हि ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण कृष्णे प्रेम भवेद् ध्रुवम् ॥ ३२७ ॥
विरक्तो विपरीतादिभावनारहितः सुहृत् ।
लीलामात्रश्रुतौ तस्य भवेत् प्रेमाऽखिले किमु ॥ ३२८ ॥
श्रीभागवततत्त्वार्थमतो वक्ष्ये सुनिश्चितम् ।
यज्ज्ञानात् परमा प्रीतिः कृष्णं शीघ्रं फलिष्यति ॥ ३२९ ॥

प्रेम्णोऽन्यदिति । रुच्यादिना जातं प्रेम दोषदर्शनान्निवर्तते । दोषश्च शास्त्राभावे लोकदृष्ट्या भवति । अतः श्रीभागवतमेव सर्वशास्त्राऽर्थनिर्धारकं सर्वमाहात्म्यज्ञापकं प्रेमो-त्पादकं भवति । "यस्यां वै श्रूयमाणायामिति", "लोकस्याजानत" इति वाक्यात् । तत्र

आवरणभङ्गः ।

पाक्षिकस्त्वशङ्केति भावः । प्रेमसंबन्धादिति । केचित् स्वदेहान्तरित्यादौ द्वितीयस्कन्धं तथा निर्ण-यात्तथेत्यर्थः । लोक इत्यादि । स्ववाक्यानुरोधे क्रियमाणे लोकप्रवाहः कर्मयोगादयः सर्वं इत्यत्रो-क्तरीत्या नियामक इत्यर्थः ॥ ३२०–३२४ ॥

इत्याहेति । इत्याकाङ्क्षायामाहेत्यर्थः । दैत्यानामर्थ इति । दैत्यानां हितार्थे । तदिदं शुक-मोहितत्वं पुराणान्तरादवधेयम् । पद्मपुराणे तेषां शिवकृतमोहकथनात्तेषु प्रकारान्तरेऽपि मोहित-त्वानपायात् । तदुक्तमधस्तात् ॥ ३२५ ॥

यदि प्रेमैव साधनं तर्हि लौकिकप्रबन्धादिभ्योऽन्यतोऽपि वा तद्भविष्यति । श्रीभागवतोक्तरीतौ किमित्याग्रह इत्याकाङ्क्षायां पूर्वोक्तं स्मारयितुमाहुः रुच्यादिनेत्यादि । व्यभिचारमाशङ्क्य परिहर्तु-माहुः तत्रेत्यादि । अत्र तात्पर्यज्ञानस्याज्ञता, "तस्माद्भारते"त्यत्रोक्ता । भक्तमुखाच्छ्रवणस्य शुक-

लोके श्रीभागवतश्रोतॄणां प्रेमाभावं दृष्ट्वा न श्रवणं साधनमित्याशङ्क्य विशेषमाह अधिकारमिति। श्रवणस्याङ्गत्रयं—भागवतस्य सम्यक्कृतात्पर्यज्ञानं, भक्तमुखाच्छ्रवणं, श्रोतुश्च वैराग्यमिति। एतदभावे न फलतीत्यर्थः। इतोऽप्युत्तमाधिकारे भागवतैकदेशेनापि भक्तिर्भवतीति कैमुतिकन्यायेनाह विरक्त इति। सर्वथा लोकेषु विरक्तः, भागवतोक्ते असंभावनाविपरीतभावनारहितः। तीर्थादिना शुद्धान्तःकरणो विदुरतुल्यः। ततोऽप्यधिको वा उद्धवतुल्यः। तस्य लीलामात्रश्रुतावपि भक्तिर्भवति। अतो मुख्याधिकारे संपन्ने भागवतश्रवणे भक्तौ न कोऽपि संदेहः नन्वेवं सति भवतः कोपयोगः, तत्राह श्रीभागवततत्त्वार्थमिति। भागवतार्थे अज्ञाते, अन्यथाज्ञाते च भक्तिर्न भवतीति। अधिकारेऽपि जाते फलं न भविष्यतीति मयोपायः क्रियते, तत्त्वार्थो विविच्योच्यते। यस्मिन् ज्ञाते सर्वथा भक्तिर्भवत्येव। नापि जाता भक्तिस्तूर्ष्णीं तिष्ठति।

आवरणभङ्गः।

सूतादिवक्तृनिरूपणात् सिद्ध्यति। वैराग्यस्य च राजशौनकादिभ्यः शेषं निगदव्याख्यातमिति शुभम्। अत्रैतद् बोध्यम्। उत्तरतन्त्रे साधनाध्यायप्रथमपादे रहत्यधिकरणमारभ्याऽऽन्तं पूर्वजन्मशुद्धिपितृशुद्धिविचारपूर्वकं ज्ञानाधिकारिणः शरीरनिष्पत्तिर्विचारिता। तादृशशरीरनिष्पत्तिरिदानीं दुर्घटा। अन्नाद्यशुद्ध्या तपोऽभावेन वेदानां यातयामतया च रेतःसिग्योन्योः शुद्ध्यभावात्। तथा द्वितीयपादे मुक्तियोग्यतां विचार्य ज्ञानविषयो य उभयलिङ्गाद्यधिकरणैर्विचारितस्तदवधारणमपि पूर्वोक्तदेहादिकं विना दुर्लभम्। न चेदमप्रयोजकम्। प्रथमपादेन तथाऽवधारणात्। अन्यथा द्वितीयेऽध्याये नामरूपव्याकर्तृत्वादिविचारोत्तरमेवोभयलिङ्गाद्यधिकरणानि भगवान् व्यासो वदेत्। अतो न पूर्वोक्तयोग्यतां विना विद्योदयः। तदेतदुक्तं, "सत्ये युगेति महतां भवत्येतन्न चाऽन्यथे"ति, "न शब्दात् सुविचारितादि"ति च। तथा तृतीयतुरीयपादयोरन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनं विचारितम्। तेन विद्योदयेऽपि तदभावे सर्वात्मना नाऽविद्यानाशः। तदेतदुक्तं, स्वप्नो जागरणं चेत्यादि। एवं सति, "तत्त्वमस्यादि"वाक्योक्ताभेदज्ञानमात्रे शास्त्रस्य न पर्यवसानं, किन्तु साधनान्तरे। तच्च भक्तिरूपमेव, नेतरदिति गीतैकादशस्कन्धस्थभगवद्वाक्यैरेवावसीयते। अतः सूत्राणामपि तत्रैव तात्पर्यम्। तदेव लिङ्गभूयस्त्वाद्यधिकरणेपूपपादितम्। तदेतदुक्तम्—इदमेवेत्यारभ्याऽन्यवचो मृपेत्यन्तेन। किञ्च, पूर्वाध्यायद्वये सर्वसामर्थ्यवत्त्वं भगवतः स्थापयित्वा मतान्तराणि चापाकृत्य तृतीये यत् साधनं वैदिकं विचारितं तेन वैदिकसाधनादेव मुक्तिर्नेतरैः स्मार्तैः। वैदिके च कालादिवैगुण्यात् कुण्ठे तन्निरपेक्षा गीताश्रीभागवतयोरुक्ता भक्तिरेव साधनमिति जिज्ञासाशास्त्रादिप्रणयनोत्तरं श्रीभागवतकारणादवसीयते। इदं च प्रथमस्कन्ध एव स्फुटम्। ततश्च जिज्ञासाशास्त्रस्याप्येतदनुरोधित्वमेव। तदेतत् सर्वं तृतीयस्य तुरीयपादे उपपादितम्। आर्त्विज्यसूत्रे उक्तं च, "भक्तिमार्गप्रचारैकहृदयो बादरायणः। मानं भागवतं तत्र तेनैवं ज्ञेयमुत्तमैरि"ति।

तादृशी भविष्यति या लतावत् प्रत्यहं वृद्धिमायान्ती शीघ्रं कृष्णाख्यं फलं फलिष्यति। अतो भक्तेच्छीया सर्वथैतदनुसंधेयमिति ग्रन्थारम्भः समर्थितः ॥ ३२६–३२९ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिते श्रीभागवततत्त्वदीपे सर्वनिर्णयकथनं नाम द्वितीयं प्रकरणम् ॥

टिप्पणी

* श्रीकृष्णगोकुलपतेर्निजपालनैकनानाचरित्ररुचिनिर्जितमीनकेतो ।
भक्तानुरागपरिभावितभावमूर्तेः दासः कदापि कृपया सकृदीक्षणीयः ॥
इतिश्रीकल्याणरायविरचिता निबन्धसर्वनिर्णयटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

आवरणभङ्गः ।

तदिदमुक्तं कर्मयोगादय इत्यारभ्य, न च भक्त्या यथा तथेत्यन्तम् । एवमत्रोत्तरमीमांसानिर्णयोद्धारप्रतिज्ञा पूरिता । अतः परमेका प्रतिज्ञाऽवशिष्यते । गुणानामपि त्रैविध्ये हेतुरत्रे वक्तव्य इति । सा श्रीभागवतार्थनिबन्धे पूरणीयेति सर्वं निष्कलङ्कमिति शुभम् ॥३२६–३२९॥

स्निग्धं सितं रसघनं हृदयं स्वकीयं वक्तुं निजेषु नवनीतमयं दधानः ॥
प्रेङ्खश्रितोऽतितरले जनमानसेऽपि ह्यासे दयालुरिति तस्य गुणं व्यनक्ति ॥ १ ॥
यस्तस्य पूर्णैः करुणाकटाक्षैः पूर्णोऽभवत् सर्वविनिर्णयेऽपि ॥
अत्यर्थगम्भीरविशुद्धतत्त्वदीपप्रकाशाऽऽवरणस्य भङ्गः ॥ २ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाऽऽचार्यचरणनखचन्द्रचन्द्रिकानिरस्तहार्दतमसस्तद्दासदासस्य गोस्वामिश्रीपीताम्बरसुतस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ तत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गे सर्वनिर्णयप्रकरणं द्वितीयं संपूर्णम् ॥ २ ॥

समाप्तं सर्वनिर्णय प्रकरणम् ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु.

---

* श्रीहरिशंकरशास्त्रिणां संस्करणे अमुद्रितोयमंशः कासुचन मातृकासु उपलभ्यते इति अस्माभिः निवेशितः ।

परिशिष्टम्

साधनदीपिका ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

ता नः श्रीतातपत्पद्मरेणवः कामधेनवः ।

नाकस्य तरवोन्येषां स्युः कल्पतरवो यथा ॥ १ ॥

श्रुतिस्मृतिशिरोरत्ननीराजितपदाम्बुजम् ।

यशोदोत्संगललितं वन्दे श्रीनन्दनन्दम् ॥ २ ॥

भक्तिमार्गवितानाय योवतीर्णो हुताशनः ।

स एव नः परं मानं शेषमस्य प्रमान्तरम् ॥ ३ ॥

वेदत्रयीशिरोभागसूत्रव्याख्यानसंमतम् ।

भक्तिशास्त्रानुसारेण कुर्वे साधनदीपिकाम् ॥ ४ ॥

आत्मा वार इतिश्रुत्या दर्शनैकफलो विधिः ।

श्रवणाद्यैः प्रतिज्ञातस्तं भजेत्तं रसेदिति ॥ ५ ॥

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान्हरिरीश्वरः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ ६ ॥

[२]पुरुषस्याविशेषेण संसारं प्रजिहासतः ।

हरेराराधने मुक्तिस्तत्प्रकारो निरूप्यते ॥ ७ ॥

माहात्म्यज्ञानपूर्वो हि सुदृढः सर्वतोधिकः ।

स्नेहो भक्तिरितिप्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥ ८ ॥

माहात्म्यज्ञानपनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।

शास्त्राणामुपयोगोत्र तत्राकांक्षा गुरोर्भवेत् ॥ ९ ॥

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम् ।

श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात् ॥ १० ॥

---

१. एतावानेव ग्रन्था मीलति अस्मिन्नध्याये । २. पुमांतस्येत्यादर्शद्वये । ३. प्रोक्तितादित्यादर्शद्वये ।

देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः ।
गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः ॥ ११ ॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१२॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
इतिश्रुत्या तथास्मृत्या प्रपत्त्यादेशमादितः ॥ १३ ॥
प्रेम्णोपदेशश्रवणात्प्रपत्तेः प्रेम कारणम् ।
अतो मूलाभिषेको हि कार्यस्तेनास्य सेवने ॥ १४ ॥
न हि देहभृता शक्यं कर्म त्यक्तुमशेषतः ।
अतः स्वधर्माचरणं भारद्वैगुण्यमन्यथा ॥ १५ ॥
स्वधर्माचरणं शक्त्या ह्यधर्मात्तु निवर्तनम् ।
इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयं ॥ १६ ॥
इति भागवतो धर्मः श्रीमदाचार्यसंमतः ।
भक्तिशास्त्रानुकूल्येन स्वधर्माचरणं भवेत् ॥ १७ ॥
गर्भाधानादिसंस्कारैर्द्विजैर्मौञ्ज्यंतसंभवैः ।
देहः संशोधनीयो हि हरिभावो न चान्यथा ॥१८॥
शौचाचारविहीनस्य आसुरावेशसंभवात् ।
ततः स्वाह्निकधर्माणामाचारोपि प्रसज्यते ॥ १९ ॥
स्नानं संध्या जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम् ।
वैश्वदेवकदेवार्चा इतिषट्कर्मकृद्भवेत् ॥ २० ॥
यथा हि स्कन्दशाखानां तरोर्मूलाभिषेचनम् ।
तथा सर्वार्हणं यस्मात्परिचर्याविधिर्हरेः ॥ २१ ॥
अतस्तदनुरोधेन नित्यकर्मकृतिर्वरा ।
अन्यथा तु कृतिर्व्यर्था त्रैवर्ग्यविषया यतः ॥ २२ ॥
गर्भाधानादिसंस्कारैः स्वशाखोक्तैर्द्विजो युतः ।
गुरुं प्रपद्येदन्यस्तु सदाचारोऽस्य संश्रयात् ॥ २३ ॥
लब्धानुग्रहमाचार्याच्छ्रीकृष्णशरणं जनः ।
धारयेत्तिलकं मालां वैष्णवाचारतत्परः ॥ २४ ॥
सर्वस्वं हरिसात्कार्यं त्यजेत् सर्वमवैष्णवम् ।
हिंसकाम्यान्यदेवार्चां यदि नित्यं च लौकिकम् ॥२५॥

पूर्वभांडादिकं सर्वं परित्यज्य विशुद्धितः ।
श्रवणादिपरो नित्यं हरेः प्रेमास्पदो भवेत् ॥ २६ ॥
हरेर्गुणानां श्रवणं ज्यायोभ्यः शृणुयात्सदा ।
जातशिक्षः यवीयोभ्यः कीर्तयेदन्यथैकलः ॥ २७ ॥
अतिसुंदररूपाणि लीलाधामानि संस्मरेत् ।
पादसेवा हरेः कार्या सर्वसंपन्निकेतनैः ॥ २८ ॥
अर्चनं प्रत्यहं तस्य विधिना नियमेन च ।
वन्दनं चरणाम्भोजे तस्य भावनयाखिले ॥ २९ ॥
दास्यं तदेकशरणं तत्प्रसादैकभोजनम् ।
एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेत् ॥ ३० ॥
पूर्वविद्धं परित्याज्यं व्रतं तद्विष्णुपञ्चकम् ।
जयन्ति तूदयेऽन्येन दुष्टान्याप्यरुणोदयात् ॥ ३१ ॥
वर्षाश्रितान्युत्सवानि स्वाश्रितान्यपि यान्युत ।
तानि सर्वाणि हरयेऽनुकूलानि चार्पयेत् ॥ ३२ ॥
श्राद्धानि चोत्तमान्येव वैश्वदेवं च दैवकम् ।
हरेः प्रसादतः कुर्यात्ततस्तृप्तिरनुत्तमा ॥ ३३ ॥
प्रासादोऽपि बलिः कार्यः स्वात्मसंस्कार एव सः ।
अन्नस्य चात्मनश्चापि तत्संस्कारेण [१]तत्परः ॥ ३४ ॥
विप्रा गावो हरेर्भक्ताः सदा पूज्या हरेः प्रियाः ।
गृहस्थस्यातिथिर्यस्मात् पूज्यो दीनो दयास्पदः ॥ ३५ ॥
जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले ।
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात्तत्र तिष्ठेच्च तत्परः ॥ ३६ ॥
गंगादितीर्थवर्येषु यथा चित्तं न दुष्यति ।
श्रवणाद्यैर्भजेदेवं श्रीभागवततत्परः ॥ ३७ ॥
ऊर्ध्वपुंड्राणि मृन्मुद्रास्तुलसीकाष्ठजापि स्रक् ।
बाह्यांकान्यान्तराणि स्युः भक्ते शान्तिविरक्तयः ॥ ३८ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
दया दानं च विज्ञानं श्रद्धा दैवात्मसंपदः ॥ ३९ ॥
दैवात्मसंपदः पुंसः भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ।
यया सर्वात्मभावाख्या परा सिद्धिः स्वयं भवेत् ॥ ४० ॥

१. तत्संस्कारे न तत्परे इत्यादर्शे ।

सर्ववस्तुषु वैराग्यं दोषदृष्ट्या विभावयेत् ।
दमनादिन्द्रियाणां च संतुष्ट्यापि च सिध्यति ॥ ४१ ॥
सर्वत्रैव विरक्तस्य रागः स्यान्नन्दनन्दने ।
तेनासक्तिश्च व्यसनं प्रपंचास्फुरणं भवेत् ॥ ४२ ॥
एवं निरुद्धचित्तस्यानुगृहीतस्य चेशितुः ।
लीलाप्रवेशोऽपीष्टश्च तस्मान्मच्छरणोक्तितः ॥ ४३ ॥
न पापं स करोत्येव प्रमादे त्वाशु निष्कृतिः ।
अज्ञातस्खलितानां च हरिरेव परा गतिः ॥ ४४ ॥
हरिभक्तापराधेषु दययैव प्रसीदति ।
दोषेषु न गतिस्तस्मान्दोषान् संपरिवर्जयेत् ॥ ४५ ॥
अशून्या दिवसा यामाः मुहूर्त घटिका लवाः ।
भगवद्भजनैः कार्या संसारासक्तिरन्यथा ॥ ४६ ॥
गुरुसेवा गुरोराज्ञा गुरौ श्रीहरिभावना ।
गुरौ भयं गुरौ सिद्धिः प्रपन्नः परिभावयेत् ॥ ४७ ॥
भक्तवृंदान्नभेदर्चेद्दृष्ट्या हर्षं समानयेत् ।
भक्तेष्वेवं हरिं साक्षात्प्रसादेन व्यवस्थितम् ॥ ४८ ॥
विना भक्तप्रसंगेन सद्गुरोः कृपया विना ।
श्रीभागवतशास्त्रेण विना भक्तिः कथं भवेत् ॥ ४९ ॥
विना गद्गदकंठेन द्रवता चेतसा विना ।
विना नृत्येन गानेन हरिप्रीतिः कथं भवेत् ॥ ५० ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ५१ ॥
क्रीडार्थमसृजत्पूर्वं स्वात्मना स्वात्मकं जगत् ।
तत्र कायभवा पुष्टिः लीलासृष्टिरनुत्तमा ॥ ५२ ॥
वामांशसंभवानां तु भजनानन्दलब्धये ।
विसृष्टानां ततोऽन्येषां नान्या साधनपद्धतिः ॥ ५३ ॥
यस्यायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदेच परिनिष्ठिताम् ॥ ५४ ॥
अनुग्रहो नियोज्योतः संग्रहः श्रुतिसंमतः ।
महतां समयो मानं महांतोऽत्र हरेः प्रियाः ॥ ५५ ॥

अतस्तदनुरोधेन रतिरासो यथा भवेत् ।
तदर्थं वरणं कार्यं श्रीगोपालमहामनोः ॥ ५६ ॥
नायमात्मा प्रवचनैर्न धिया न बहुश्रुतैः ।
लभ्यते वरणं हित्वा ह्येतं संवृणते श्रुतेः ॥ ५७ ॥
स्मृत्वा स्वीयवियोगाग्निं तापदाहो भवांबुधौ ।
ततः सर्वं समर्प्यैव श्रीगोपालमनुं श्रयेत् ॥ ५८ ॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान्गृहान्प्राणान्यः परस्मै निवेदनम् ॥ ५९ ॥
इति भागवताद्धर्मांच्छिक्ष्यन्भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामंजस्तरति दुस्तराम् ॥ ६० ॥
एवं योगीश्वरोक्तेन भक्तिमार्गेण यो यजेत् ।
स एवातीत्य कलिजान्दोषान् गच्छेत् परं पदम् ॥६१॥
नावैष्णवैः सह वसेन् न तैः संसर्गमाचरेत् ।
प्रसंगेषु हरिं ध्यायेत् स्नायात्कर्मणि मन्त्रतः ॥ ६२ ॥
देहशुद्धिः सदा कार्या करशुद्धिर्विशेषतः ।
स्वपात्रं भगवत्पात्रं स्नानपात्रं न मेलयेत् ॥ ६३ ॥
एवं वस्त्रेपि विज्ञेयं शुद्धाशुद्धिं स्ववैष्णवैः ।
गोपयेत् स्वागमाचारं पाकसेवां हरेरपि ॥ ६४ ॥
सौवर्णैः राजतैस्ताम्रैः पात्रैर्व्यवहरेत्परैः ।
पाके स्वीयान् सतीर्थ्यांश्च सवर्णान् संनियोजयेत् ॥६५॥
समर्प्यैव शुचिः पूर्वं हरयेऽन्यत्र योजयेत् ।
द्विमुखं तु शुचि पात्रमंशुकं लोमजं शुचिः ॥ ६६ ॥
कार्पासमाहतं शुद्धं नवकौसुंभयुक् शुचिः ।
विप्रैर्व्यवहृतं तीर्थमारामं च गृहं शुचिः ॥ ६७ ॥
नान्यदेवं व्रजेन्नैव प्रशक्तो ह्यपमानयेत् ।
तीर्थेषु तीर्थदेवानां भूदेवानां समर्चनम् ॥ ६८ ॥
संन्यासश्चाग्निहोत्रं च कलौ नैव यथाविधि ।
संदिग्धधर्मसेवापि क्लेशायैवाल्पमेधसाम् ॥ ६९ ॥
समर्थस्तु तयोः कुर्याद्विद्वान् स्मार्ताग्निधारणम् ।
न्यासाश्रमात्पतन्मर्त्य आरूढपतितोऽगतिः ॥ ७० ॥

यद्यप्येवं हि गार्हस्थ्यं वर्णधर्मेण दुःकरम् ।
तथाप्यायातपतितं तद्वच भ (?) देहयात्रया ॥ ७१ ॥
न गार्हस्थ्यं विना देहयात्राधर्मोपि सिध्यति ।
अतस्तस्मिन्स्थितस्यैव यत्किंचित्सिद्धिसंभवः ॥ ७२ ॥
आश्रमो द्विविधः कौर्मे तत्रोदासीनको गृही ।
आद्येपि नैष्टिकश्चांत्ये वैष्णवोधिकृतस्ततः ॥ ७३ ॥
शूद्रस्तु हिंस्रकार्येण निषिद्धस्याशनेन च ।
निवृत्त्यासौ भजेत्कृष्णं महद्भिरनुकंपितः ॥ ७४ ॥
सहितं हरिभक्तानां ब्राह्मणानां चरेद्व्रतम् ।
पादसेवा च महतां यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥ ७५ ॥
दानं व्रतं पैतृकं च शौचं शांतिमथाश्रयेत् ।
हरिमेव भजेत्प्रेम्णा तेन सिध्यति सत्वरम् ॥ ७६ ॥
न वेदश्रवणं कार्यं स्पर्धासूयादिनान्यतः ।
न्यग्भावेन प्रपन्नोसौ भवेद्दासो हरेर्गुरौ ॥ ७७ ॥
सधवा भर्तृभावेन विधवा पुत्रभावतः ।
श्रीकृष्णं संश्रयेत्साध्वी जितचित्तेंद्रिया शुचिः ॥ ७८ ॥
पतिपुत्रादिबंधूनामानुकूल्येस्य सेवनम् ।
तदभावे भजेद्भक्त्या कीर्तनैः श्रवणैः स्मृतः ॥ ७९ ॥
तेषामेव तथात्वे तु परिचर्या समंदिरात् ? ।
हरेर्गुरोः संभवति ह्यस्वतंत्राः स्त्रियो यतः ॥ ८० ॥
स्वतंत्रतायां दोषो हि स्त्रीणां सर्वत्र जायते ।
अतस्तया तथा भूत्वा हरिः सेव्यस्तादिच्छया ॥ ८१ ॥
चित्रमात्रेपि सेवा स्यात्प्रतिबंधे गुरोर्गिरा ।
छलेनापि भजन्कृष्णं मुच्यते गोपिकादिवत् ॥ ८२ ॥
पुरुषापेक्षया स्त्रीणां हृदयं मृदु दृश्यते ।
अतस्तदनुरागोत्र सद्य एवाभिषज्यते ॥ ८३ ॥
कामदोषो हि नारीणां कनकानां यथा रजः ।
तज्जये विजितः कृष्णः कृष्णः स्त्रीणां प्रियो यतः॥८४॥
उदकी च प्रसूता स्त्री अशुचिश्च तथा पुमान् ।
दर्शनस्पर्शनादीनि सेव्यमूर्तेर्विवर्जयेत् ॥ ८५ ॥

चित्रमूर्तिरविज्ञानां पराधीनात्मनामपि ।
शुचिश्लक्ष्णामपीच्यां च गुरुदत्तां भजेद्बुधैः ॥ ८६ ॥
तीर्थतोयैर्निजैर्मंत्रैः संस्कृतां सुमनोहराम् ।
लघ्वीमेव भजेन्मूर्तिं यथा लब्धोपचारकैः ॥ ८७ ॥
नात्र प्राणप्रतिष्ठादि व्यापकत्वादजीवतः ।
स्थानशुद्ध्यर्थमेवैतच्छन्दार्थमपि सद्गुरोः ॥ ८८ ॥
अशुचिस्पर्शने तस्यास्तथापंचामृतैरपि ।
होमैर्दानेन संशोध्या वैदिकेन निजात्मवत् ॥ ८९ ॥
गुरुदत्तां स्वयंलब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम् ।
व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाध्यते ॥ ९० ॥
प्रातरारभ्य मध्याह्नावधिश्चैवापराह्णके ।
तत्तल्लीलानुभावेन भजेत्स्वगुरुसंमताम् ॥ ९१ ॥
वस्त्रैश्च भूषणैर्गंधैर्नैवेद्यैर्व्यंजनैः शुभैः ।
देशकालविभूतीनामनुसारेण सेवनम् ॥ ९२ ॥
प्रेम्णा परिचरेत्साधुर्यावज्जीवं समाहितः ।
तेनास्य भावनासिद्धिः यया स्यात्कृतकृत्यता ॥ ९३ ॥
प्रातः पाश्चात्ययामेऽसौ समुत्थाय शुचिर्धिया ।
स्मरेत्भगवतो लीलां गायेत्तस्य गुणान्गिरा ॥ ९४ ॥
प्रातः कृत्यं ततः कार्यं बहिर्गत्वा यथोदितम् ।
मुखशुद्धिस्ततो नित्यं सौगंधाभ्यंजनं भवेत् ॥ ९५ ॥
मलस्नानं गृहे कार्यं तप्तोदकपरोदकैः ।
तस्योपरि श्रीयमुनाजलैः स्नानं स्तवैश्च वा ॥ ९६ ॥
तीर्थस्थाने मलस्नानं कृत्वा तीरेऽभिमज्जनम् ।
ततस्तु धारणं शुद्धकौशेयांबरयुग्मयोः ॥ ९७ ॥
पादुकाभिर्गृहे यानं स्पर्शनं नैव कस्यचित् ।
कुंकुमस्योर्ध्वपुंड्राणि द्वादशांगेषु नामभिः ॥ ९८ ॥
शंखचक्रादिमुद्राश्च गोपीचंदनमृत्स्नया ।
चरणामृतपानं च लेपश्चापि विशुद्धये ॥ ९९ ॥
ततस्तु तुलसीमालां धृत्वा संध्यां समाचरेत् ।
परिचर्या हरेः कार्या परिवारजनैः सह ॥ १०० ॥

गत्वा हरिपदं पद्मयां स्तुत्वा द्वारं प्रणम्य च ।
प्रविश्य मार्जनैर्लेपैः पात्राणां शोधनं चरेत् ॥ १०१ ॥
संभृत्य सर्वसंभारं प्रातराशादिपूर्वकम् ।
प्रबोध्य श्रीहरिं प्रेम्णा मुखशुध्यंशुकादिभिः ॥ १०२ ॥
अलंकृत्य ततः सिंहासने समुपवेशयेत् ।
हैयंगवीनपक्वान्नैः तांबूलैः सुजलैर्यजेत् ॥ १०३ ॥
ततो नीराजनं कार्यं मंगलं गीतवाद्यकैः ।
अभ्यंगान्मर्दनैः स्नानं गृहस्नानविधानतः ॥ १०४ ॥
स्तुत्वा कालिंदिनीस्नानं कुर्यात्संप्रोंछनांशुकम् ।
शृगारं रंजितैर्वस्त्रैश्चित्रैराभरणैरपि ॥ १०५ ॥
माथुरमुकुटै रम्यैर्वेणुवेत्रैः सुमाल्यकैः ।
वितानैः प्रसरैः शुभ्रैः प्रतिसारैर्नवैर्नवैः ॥ १०६ ॥
जलक्रीडोपस्करैश्च तांबूलामोददर्पणैः ।
व्यजनैर्जलभृंगारैर्देशकालानुसारिभिः ॥ १०७ ॥
अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान्भक्तान्प्रदर्शयेत् ।
तौर्यत्रिकेन तत्रापि धूपदीपादिनार्तिकम् ॥ १०८ ॥
ततो नानाविधैः शुद्धैश्चतुर्विधसुभोजनैः ।
संभृतं स्वर्णपात्रं तु हरेरग्रे निवेदयेत् ॥ १०९ ॥
तुलसीशंखतोयेन गायत्र्यास्मिन्निधाय च ।
एतत्समर्पितं देव भक्त्या मे प्रतिगृह्यताम् ॥ ११० ॥
राजभोगं समर्प्यैवं बहिर्गोग्रासमाचरेत् ।
ततोवशिष्टं जाप्यादि माध्याह्निकमिहाचरेत् ॥ १११ ॥
ततस्त्वाचमनं दत्वा तांबूलं माल्यजां स्रजम् ।
अपसार्य विशोध्यात्र नैवेद्यं जलमानयेत् ॥ ११२ ॥
ततो राजविभूतीनामादर्शैश्चामरैर्भजेत् ।
गीताद्युत्सवतो ह्येनं नीराज्य च प्रणम्य च ॥ ११३ ॥
हृदिकृत्वा पिधायास्य मंदिरं बहिराव्रजेत् ।
स्रग्गंधादि शिरो धृत्वा प्रणम्यैव गृहं व्रजेत् ॥ ११४ ॥
माध्याह्निकं समाप्यैव श्रीमद्भागवतं पठेत् ।
ततो भक्तजनेभ्योऽस्य प्रसादं शक्तितो भजेत् ॥११५॥

समागतेभ्यो विप्रेभ्यो दीनेभ्यश्च यथायथम् ।
स्वीयजनैर्भुक्तिः वैश्वदेवोपि तत्र वै ॥ ११६ ॥
ततो वार्ता स्वकीयानां बहुपापैरनाकुलाम् ।
यात्रार्थमेव सेवेत नाभिवेशोत्र संचरेत् ॥ ११७ ॥
संपन्नवृत्तिर्भक्तानां शास्त्राणि परिभावयेत् ।
सर्वथा वृत्त्यभावे तु याममात्रं भजेद्धरिम् ॥ ११८ ॥
दरिद्रश्च कुटुंबार्तः विद्वान् भागवतं पठेत् ।
अविद्वानस्य सेवायां साहाय्यं श्रवणं च वा ॥ ११९ ॥
सायंसंध्याथ पुंड्राणि धृत्वा तांबुलतो मुखम् ।
संशोध्याचम्य शुद्धोसौ प्रभोरुत्थापनं चरेत् ॥ १२० ॥
कंदमूलैः फलैर्गव्यैः सुमाल्यैः सुजलैरपि ।
संतोष्य मुरजादीनां संगीतेनापि तोषयेत् ॥ १२१ ॥
गायेद्भक्तकृतैः पद्यैः हृद्यैर्लीलारहस्यकैः ।
ततो नीराजयेन्नाथमायांतं व्रजमंडले ॥ १२२ ॥
सायंकालेपि नैवेद्यं यथाविभवविस्तरः ।
नीराजनं च शयनं यथायोग्यं विभावयेत् ॥ १२३ ॥
सायंसंध्याहुतिश्चापि कृत्वा भुक्त्वा निवेदितम् ।
कथयेच्छृणुयाद्वापि लीलां भगवतोऽन्वहम् ॥ १२४ ॥
ततः शयीत शुद्धोसौ भावयन्भगवत्पदम् ।
सुतार्थिनी स्वपत्नी चेत् व्रजेत्तां जेतुमिंद्रियम् ॥ १२५ ॥
इत्येवं यस्य दिवसा यान्ति भक्तस्य भूतले ।
स एव कृतकृत्योस्ति हरिस्तमनुश्लिष्यति ॥ १२६ ॥
इत्येवं भक्तिशास्त्रेषु यदाचारो निरूपितः ।
तदाचारं भजेदत्र नान्यथा गतिरिष्यते ॥ १२७ ॥

शुभम् ।

इतिश्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीवल्लभदीक्षिततनुजगोपीनाथ-
दीक्षितविरचितं साधनदीपकं समाप्तम् ॥



तत्त्वार्थदीपनिबन्धे शास्त्रार्थप्रकरणे श्लोकानां पादसूची ।

तत्त्वार्थदीपनिबन्धे सर्वनिर्णयप्रकरणे श्लोकानां पादसूची ।

आवरक चित्र

चंपारण्यमें सद्योजात शिशुके रूपमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा उनके माता-पिता इल्लमागारु एवं श्रीलक्ष्मणभट्ट एक प्राचीन चित्रकी अनुकृति

चित्रकार

श्रीरामदास प्रभु

अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत्तु निरूपितम् ।
आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ॥
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव [illegible] तथा ।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं [illegible] यथामति
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् ॥

—महाप्रभु [illegible]वल्लभाचार्य